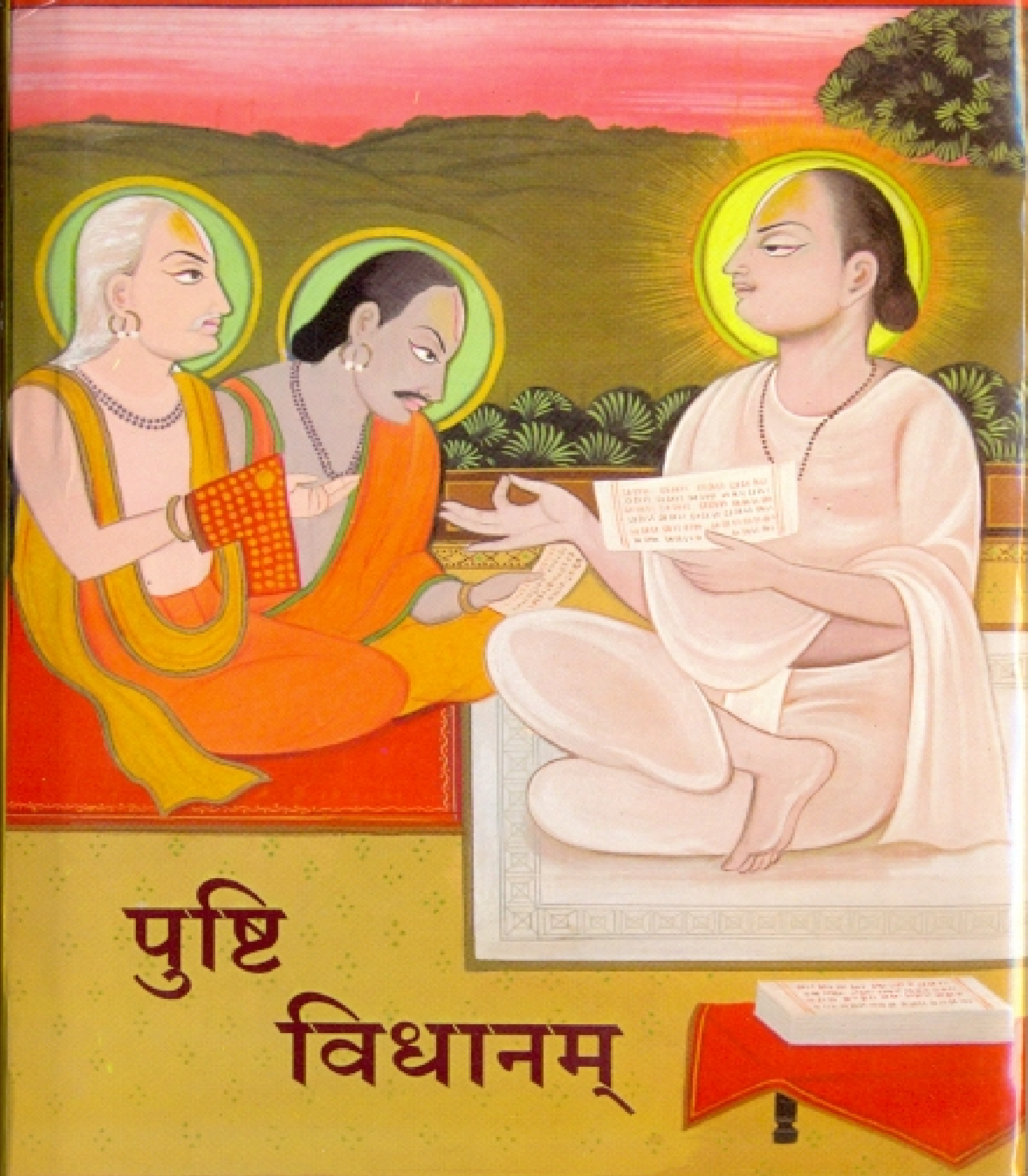

पुष्टि विधानम्

पुष्टिविधानानुक्रमणिका

सम्पादक :
श्रीश्याम मनोहर गोस्वामी (पार्ला-किशनगढ)
श्रीशरद् गोस्वामी (मांडवी-हालोल)

प्रकाशक:
श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट,
कंसारा बजार, माण्डवी, कच्छ, गुजरात 370 465.

॥श्रीकृष्णाय नमः॥
॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

Contents

पुष्टिविधानानुक्रमणिका
प्राक्कथन
॥ मङ्गलाचरणम् ॥
॥ सर्वोत्तमस्तोत्रम् ॥
॥ श्रीवल्लभाष्टकम् ॥
(श्रीहरिरायजीकृतव्रजभाषाटीकोपेत)
॥नामरत्नाख्यस्तोत्रम्॥
श्रीयमुनाष्टकम् ग्रन्थ-परिचय
॥श्रीयमुनाष्टकम्॥
बालबोध ग्रन्थ-परिचय
॥बालबोधः॥
सिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थ-परिचय
॥ सिद्धान्तमुक्तावली ॥
पुष्टि-प्रवाह-मर्यादाभेद: ग्रन्थपरिचय
॥ पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः ॥
सिद्धान्त-रहस्यम् ग्रन्थ-परिचय
॥ सिद्धान्तरहस्यम् ॥
नवरत्नम् ग्रन्थ-परिचय
॥ नवरत्नम् ॥

अन्तःकरणप्रबोधः ग्रन्थ-परिचय

॥ अन्तःकरणप्रबोधः ॥

विवेकधैर्याश्रयः ग्रन्थ-परिचय

॥ विवेकधैर्याश्रयः ॥

कृष्णाश्रय ग्रन्थ-परिचय

॥ कृष्णाश्रयः॥

चतुःश्लोकि ग्रन्थ-परिचय

॥चतुःश्लोकीः॥

भक्तिवर्धिनी ग्रन्थ-परिचय

॥ भक्तिवर्धिनी ॥

जलभेद ग्रन्थ-परिचय

॥जलभेदः॥

पञ्चपद्यानि ग्रन्थ-परिचय

॥ पञ्चपद्यानि ॥

सन्यासनिर्णय - ग्रन्थ - परिचय

॥ सन्यास निर्णयः ॥

॥ निरोधलक्षणम् ॥

सेवाफलम् ग्रन्थ-परिचय

॥सेवाफलम् सविवरणम्॥

॥ पञ्चश्लोकी ॥

॥ साधनप्रकरणम् ॥

॥ शिक्षाश्लोकी ॥

॥साधनदीपिका॥

(नित्यसेवाके स्वरूपके उपदेशको उपक्रम)

(ग्रन्थको उपसंहार)

॥ श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचिता चतुःश्लोकी ॥

॥पादानुक्रमणिका॥

प्राक्कथन

'पुष्टिविधानम्' के प्रथम भागमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण तथा उनके आत्मज प्रभुचरण श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीविट्ठलनाथजी के कर्तव्योपदेशपरक ग्रन्थनकु संकलित कियो गयो हतो. साथ ही साथ इनके कर्तव्योपदेशपरक ग्रन्थनकी पृष्ठभूमिमें रहे प्रारूपनकु , गद्यमें जैसे, पेरेग्राफ और शीर्षकन् के द्वारा ग्रन्थाशय स्फुट कियो जाये, वैसी पद्धति अपनाके श्लोकनके अनुच्छेदविभाजन तथा शीर्षक और तदन्तर्गत संख्या और ककारादि वर्णके चिह्नांकनको न्यास श्लोकमें कियो गयो हतो. यामें एकमात्र प्रयोजन व्याख्याविस्तारके बिना ग्रन्थाशयकूं सुबोध बनानो ही हतो. ये विधा अपनायवेमें प्राचीन व्याख्याकारनके द्वारा व्याख्यातार्थकूं संकलित कियो नहीं गयो हतो. ये स्पष्टीकरण अब आवश्यक हो जाय है. विशेषतः यालिये कि अब तृतीय भागमें जिन ग्रन्थनकी प्राचीन व्रजभाषा उपलब्ध भयी उनकूं तो उन्हीं व्याख्यानके साथ परन्तु जिन ग्रन्थन्पे प्राचीन व्याख्या उपलब्ध होवे नहीं है उनपे मैंने अपनी मतिके अनुसार व्याख्या लिखी है. यामें सिद्धान्तमें तो अन्तर नहीं पड़तो होयगो परन्तु ग्रन्थके

प्रारूप तथा पांक्तालापन में तो सहज ही अन्तर पड़ सके है और पड़्यो भयो मिलेगो भी. या अन्तरकूं, परन्तु, प्राचीन व्याख्यानमे उपलब्ध होते प्रस्थानभेद तथा पांक्तालापनभेद के न्यायसूं लेवेपे ही असंमजसता दूर पायेगी. अन्यथा अध्ययनार्थीनकु व्यर्थ ही मतिभ्रम होयवेकी पूरी सम्भावना है. अतः ये स्पष्टीकरण जान रखनो आवश्यक है.

द्वितीय भागमें पुष्टिविधानान्तर्गत संकलित ग्रन्थनकी व्याकरणाश्रित मीमांसा प्रकट भयी. यासूं अपने ग्रन्थनके अध्ययनके साथ-साथ संस्कृतभाषाके व्याकरणको भी सामान्य अध्ययन सम्पन्न हो पावेगो. मूल व्याकरणके अध्ययनार्थ जो समय निकाल न पाते होंय उनकूं अपने उपदेशात्मक ग्रन्थनके अध्ययनद्वारा ही संस्कृतभाषाके व्याकरणको भी स्थूल परिचय कथञ्चित् प्राप्त हो जाये ये उद्देश्य यामें रख्यो गयो है. अपने सम्प्रदायमें या तरहको प्रयास इदम्प्रथमतया भयो है और याके लिये श्रीधर्मेन्द्र झाला (मुंबई) तथा गोस्वामी श्रीपंकज बावा (गोकुल) और गोस्वामी श्रीभूषण बावा (गोकुल) कूं जितने अभिनन्दन दें वो कम पड़ेंगे! आज जब कि संस्कृतके अध्ययनाध्यापनकी सुविधा दिनानुदिन क्षीणसू क्षीणतर होती जा रही है वा समय ये प्रयास निश्चय ही स्वयंशिक्षककी अपेक्षा कुछ अंशनमे पूर्ण करेगो, यामें सन्देहको कोई अवकाश नहीं है.

तृतीय भागरूपेण प्रकाश्यमान ये 'पुष्टिविधान', प्रारूप तथा व्याकरण की मीमांसाके बाद, अब उपदिष्ट प्रत्ययनकी मीमांसाके रूपमें प्रकट होयवे जा रह्यो है. यामें षोडशग्रन्थनको श्लोकान्वयार्थ तो श्रीरमानाथ शास्त्रीजीके द्वारा विरचित है तथा पांक्तव्याख्या श्रीनृसिंहलालजी महाराजकी व्रजभाषा**टीका** के रूपमें संकलित भये हैं. निबन्धान्तर्गत साधनप्रकरणपे जहां कोटावाले मुखियाजीकी **टीका** ली गयी है वामें एकरूपताके निर्वाहार्थ मैंने श्लोकान्वयार्थ-प्रकाशार्थ योजित कियो है. अवशिष्ट ग्रन्थमें भी जहां प्राचीन व्याख्या उपलब्ध नहीं भयी वहां अपनी मतिके अनुसार व्याख्यान लिख्यो है. इन सारी बातनको खुलासा तत्तद् ग्रन्थनकी इतिश्रीके अवलोकन करवेपे मिल जायेगो.

आज जबकि अपने पुष्टिधर्मके प्रति अपन पुष्टिमार्गीयनकी सन्निष्ठाको बाह्य तथा आभ्यन्तर मार्गद्वेषीनके द्वारा निरन्तर अपहार हो रह्यो है, वामें ये तीनों ग्रन्थ पुष्टिमार्गानुगामीनकु अपने कर्तव्यबोधके वास्तविक स्वरूपके निर्धारणार्थ उपकारक होंयगे. यों महाप्रभु एवं प्रभुचरणन् के अनुग्रहसूं सभी पुष्टिसम्प्रदायी अपने पुष्टिप्रभुके बारेमें निरुपाधिक पुष्टिभावसूं मण्डित हो पावें ऐसी शुभकामनाके साथ...

वल्लभाब्द:526 गोस्वामी श्याममनोहर

॥ मङ्गलाचरणम् ॥

(1)

चिन्ता-सन्तान-हन्तारो यत्पादाम्बुज-रेणव:।
स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहु:॥1॥

अन्वयार्थ :

यत्पादाम्बुजरेणव:=जिनकेचरणकमलकीपराग
स्वीयानां=निज-जननकी
चिन्तासन्तानहन्तार:=चिन्ताकी सन्ततिको नाश करिवेवारी हे
तान्=तिनकों
निजाचार्यान्=निजाचार्यचरणकों
मुहु:-मुहु:=पुनः-पुनः
प्रणमामि=प्रणाम करत हों

भावार्थ : पुष्टिमार्गीय जीवनकी भगवद्भक्ति किंवा भगवत्प्रपत्ति सम्बन्धी एक चिन्तामेंते प्रकट होयवेवारी दूसरी चिन्ता यों चिन्तानकी सन्ततीकों जिनके चरणकमलनके रेणु=पराग हरिवेवारे हें एसे पुष्टिमार्गाचार्य श्रीमहाप्रभूनको मैं बारंबार प्रणाम करत हों॥1॥

टीका : अपनो पुष्टिमार्ग कछु विश्वधर्म तो हे नाहिं क्यों जो पुष्टिजीव हें तिनकोही धर्म हे. तासों पुष्टिजीवनकीही भक्ति-प्रपत्तिसम्बन्धी चिन्तानको श्रीमहाप्रभु निवारत हें. तासों मङ्गलाचरणमें निजाचार्य अर्थात् पुष्टिजीवनके काज भूतलपे आचार्यरूप धरिके प्रकट भये भगवन्मुखारविन्दरूप श्रीमहाप्रभूनकी वन्दनरूप शरणागति करत हें. सो काहेते जो ताके बिना पुष्टिप्रभूनकी पुष्टिभक्ति करिवेकों पुष्टिजीव निश्चिन्त होय सकत नाहिं. तातें मङ्गलाचरणद्वारा आचार्यशरणागति प्रथमोपाय हे सो श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण समझावत हें॥1॥

यदनुग्रहतो जन्तु: सर्वदु:खा-तिगो भवेत्॥
तमहं सर्वदा वन्दे श्रीमद्वल्लभ-नन्दनम्॥2॥

यदनुग्रहतो=जिनकी कृपासों
जन्तुः=जीवनके
सर्वदुःखातिगो=सर्व दुःखनको-
पार करवेवारे , भवेत्=होय हें
तं=विन्
श्रीमद्वल्लभनन्दनम्=श्रीमहाप्रभुजीके पुत्र श्रीगोपीनाथजीकों
अहं=में
सर्वदा=सदा
वन्दे=वन्दन करत हों

भावार्थ : जन्म लेयके सांसारिक दु:खनके सागरमें डूबवे जाय रह्यो जीव जिनके अनुग्रहतें सर्व दु:खन्तें बचि जात हे एसे श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुके आत्मजकों मैं सर्वदा वन्दन करत हों॥2॥

टीका : ये श्लोक श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणने अपने ज्येष्ठ बन्धु श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणकों वन्दन करिवेकों लिख्यो हे, परन्तु आधुनिक पुष्टिजीवनको दोनों बन्धूनमे अभेदभाव राखिके श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीविट्ठलनाथजी एसे दोन्योनको स्मरण करिके वन्दन करनों॥2॥

अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन-शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम:॥3॥

येन=जिनके द्वारा
अज्ञानतिमिरान्धस्य=अज्ञानरूपी
अन्धकारसूं अन्धभयेकी
(मम=मेरी)चक्षु:=आंखकों
ज्ञानाञ्जनशलाकया=ज्ञानरूपि
अञ्जनशलाकासों ,उन्मीलितं=खोली हे
तस्मै=विन
श्रीगुरवे=गुरुकों ,नम:=नमन होउ

भावार्थ : जिनने अज्ञानरूपी अन्धकारतें आंधरे भये मेरे जेसेनकी आंखनको ज्ञानाञ्जनकी उपदेश-शलाकातें उघारि दीनि हे विन गुरूनको मेरे नमस्कार!॥3॥

टीका : या पुष्टिसम्प्रदायमें निखिल पुष्टिजीवनके आद्यगुरु मूलाचार्य पितापुत्रनको नमन करिके तत्तद् पुष्टिजीवनके जो पुष्टिमार्गोपदेष्टा गुरु होंय तिनके स्वरूपको हृदयमें ध्यान धरिवेकों तथा तिनकों वन्दन करिवेकों ये श्लोक हे.

पुष्टिमार्गोपदेष्टा गुरुकी फलमुखयोग्यताको लक्षण हे: "श्रीकृष्णकी सेवामें तत्पर होनो, दम्भादिरहित होनो; अरु श्रीभागवतके भक्तिमार्गीय गूढ़ रहस्यनको ज्ञाता होनो" एसे श्रीमहाप्रभु**ननें** सर्वनिर्णयनिबन्धमें समझायो हे. पुष्टिमार्गोपदेशान्तर्गत अष्टाक्षरमन्त्र अरु गद्यमन्त्र-पञ्चाक्षरमन्त्रकी दीक्षादानके अधिकारको स्वरूपलक्षण—— "भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्" नामतें श्रीप्रभुचरणने श्रीमद्वल्लभवंशजनमे मान्य अरु स्थापित कियो हे. तातें विवाहित किंवा अविवाहित पुत्री, दौहित्र, शास्त्री अरु प.भ. बापा माजी आदिनमे स्वरूपलक्षणके अधिकारको राहित्य जाननों. श्रीमद्वल्लभवंशज पुत्रनमे हु फलमुखयोग्यताके लक्षणसों वैपरीत्य दृष्टिगत होवे तब तो श्रीमहाप्रभूनमे ही गुरुबुद्धि राखनी॥3॥

नमामि हृदये शेषे लीला-क्षीराब्धि-शायिनम्।
लक्ष्मी-सहस्र-लीलाभि: सेव्यमानं कलानिधिम्॥4॥
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा।
षड्भिर् विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम॥5॥

शेषे=शेषमें
हृदये=हृदयमें
लक्ष्मीसहस्रलीलाभि:=हजारन् लक्ष्मी ओर लीलान्सूं
सेव्यमानं=सेवित होते
लीलाक्षीराब्धिशायिनं=लीलारूपी क्षीरसागरमें शयन करते
कलानिधिं=कलाके निधिकों
नमामि=नमन करत हों
य:=जो(श्रीमद्भागवत्-दशमस्कन्धान्तर्गताद्यै:=श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके अन्तर्गतजो-)
चतुर्भि:=चारसों (अध्यायै:=अध्यायन्सों)
च=ओर(पञ्चमाद् आरभ्य सप्त-सप्ताध्यायात्मकै:=पांचवेसूं लेयके सात-सात अध्यायात्मक-)
चतुर्भि:=चारसों(तामस-प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल-रूपप्रकरणै:= तामस-प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूप प्रकरणन्सों)
च=ओर(षट्त्रिंशाध्यायाद् आरभ्य सप्त-सप्ताध्यायात्मकै:=36वें अध्यायसूं लेयके सात-सात अध्यायात्मकसों-)
चतुर्भि:=चारसों(राजस-प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल-रूपप्रकरणै:=राजस प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलरूप प्रकरणन्सों)
च=ओर(चतु:षष्ठितमाध्यायाद् आरभ्य सप्त-सप्ताध्यायात्मकै:=64वें अध्यायसूं लेयके सात-सात अध्यायात्मकसों-)
त्रिभि:=तीनसों(सात्त्विक-प्रमेय-साधन-फलरूपप्रकरणै:=सात्विक-प्रमेय-फलरूप प्रकरणन्सों)
तथा=ओर(पञ्चाशीतितमाध्यायाद् आरभ्य आस्कन्धसमाप्ति:=85सूं लेयके स्कन्धकी समाप्ति पर्यन्त)
षड्भि:=छेसों (अध्यायै:=अध्यायन्सों)
असौ=ये
पञ्चधा=पांच प्रकारसों
मम=मेरे
हृदये=हृदयमें
विराजते=बिराजे हें(तं नमामि=विनकुं नमन करुं हुं)

भावार्थ : शेषशय्यापे अरु हृदयमें; अथवा शेषरूप हृदयमें, लक्ष्मीकी अपरिगणित लीलान्सों सेव्यमान; अथवा सहस्रावधि लक्ष्मीरूप पुष्टिभक्तनके द्वारा करी जाती लीलान्सों सेव्यमान, लीलामें अरु क्षीराब्धिमें बिराजमान; अथवा लीलारूप क्षीराब्धिमें बिराजमान, चोंसठ कलानके निधि एसे दशमस्कन्धोक्त-लीलाविहारी प्रभूनको नमन करत हुं. तहां दशमस्कन्धके आरम्भके चार अध्यायनको प्रथम 'जन्मप्रकरण' कह्यो जात हे. पांचवें अध्यायतें प्रारम्भ करिके पेंतीसवें अध्यायतक द्वितीयप्रकरणमें तामसप्रमाण, तामसप्रमेय, तामससाधन तथा तामसफल के चार उप-प्रकरण हें. छत्तीसवें अध्यायतें प्रारम्भ करिके तिरसठवें अध्यायतक तृतीय प्रकरणमें राजसप्रमाण, राजसप्रमेय, राजससाधन तथा राजसफल के चार उपप्रकरण हें. चोंसठवें अध्यायतें चोरासीवें अध्याय तक चतुर्थप्रकरणमें सात्त्विकप्रमेय, सात्त्विकसाधन अरु सात्त्विकफल के तीन उपप्रकरण हें. पिच्चासीवें अध्यायतें नब्बे अध्यायतक पञ्चम गुणप्रकरण हे. एसे पांच प्रकरणनमे वर्णित लीलानको करिवेवारे प्रभु मेरे हृदयमें बिराजत हें, तिनकों मैं नमन करत हुं॥4-5॥

श्रीगोवर्धननाथ-पाद-युगलं हैयङ्गवीन-प्रियं
नित्यं श्रीमथुराधिपं सुखकरं श्रीविट्ठलेशं मुदा।
श्रीमद्द्वारवतीश-गोकुलपति-श्रीगोकुलेन्दुं विभुं
श्रीमन्मन्मथ-मोहनं नटवरं श्रीबालकृष्णं भजे॥6॥

1श्रीगोवर्धननाथपादयुगलम्=प्रथम निधि श्रीगोवर्धननाथजीके दोनों चरणकमलनको
2हैयङ्गवीनप्रियम्=ताजो माखन जिनकों प्रिय हे एसे श्रीनवनीतप्रियजी द्वितीय निधिकों
3श्रीमथुराधिपम्=तीसरे निधि श्रीमथुराधीशकों
4श्रीविट्ठलेशम्=चोथे निधि श्रीविट्ठलनाथजीकों
5श्रीमद्द्वारवतीश(म्)=पांचवें निधि श्रीद्वारकाधीशजीकों
6गोकुलपति(म्)=छठे निधि श्रीगोकुलनाथजीकों
7श्रीगोकुलेन्दुम्=सातवें निधि श्रीगोकुलचन्द्रमाजीकों
8श्रीमन्मन्मथमोहनम्=आठवें निधि श्रीमदनमोहनजीकों
9नटवरम्=नवमें निधि श्रीनटवरजीकों
10श्रीबालकृष्णम्=दसवें निधि श्रीबालकृष्णजीकों
सुखकरं=सुख करवेवारे
विभुं=प्रभुकों
मुदा=आनन्दसों

नित्यं=सदा (अहं=में)
भजे=भजुं हुं

भावार्थ :
1.श्रीगोवर्धननाथजी 2.श्रीनवनीतप्रियजी 3.श्रीमथुराधीशजी
4.श्रीविट्ठलनाथजी 5.श्रीद्वारकाधीशजी 6.श्रीगोकुलनाथजी
7.श्रीगोकुलचन्द्रमाजी 8.श्रीमदनमोहनजी 9.श्रीनटवरलालजी
10.श्रीबालकृष्णलालजी
——इतने स्वरूपनने प्रभुचरण श्रीगुसांईजीके घरमें एक साथ बिराजिके सातों बालक-बेटीजी-बहुजीनके समेत श्रीप्रभुचरणनको अलौकिक सेवासुख दियो हतो सो मैंहुं मुदित होय नित्य इन स्वरूपनको ध्यानात्मक भजन करत हुं॥6॥

टीका : इन स्वरूपनको वर्णन क्रमतें कियो होयवेतें कोउ-कोउ अज्ञानी जीव स्वरूपनमे हु तारतम्य बतावत हें. ताकों अज्ञानमात्र समझनो. सो काहेते जो श्रीगुसांईजीके वचनामृत हें “जो स्वरूपमें छोटो-बड़ो कहा?” (द्र.: श्रीवल्लभजी-वचना. 20) तातें श्रीमहाप्रभूनके सेव्य (1-8) तथा श्रीप्रभुचरणनके सेव्य (9-10) भगवत्स्वरूपनमे लौकिक बुद्धि करिके तारतम्य न जाननो(द्र:श्रीवल्लभजी-वचना.20).

तहां शङ्का होत हे जो श्रीमहाप्रभूनके तथा श्रीप्रभुचरणनके अन्यहु अनेक निधिस्वरूप बिराजत हें तिनको नामोल्लेख न करिके केवल इतने ही स्वरूपनको नामोल्लेख कियो ताको कारण कहा? तहां यह समाधान हे जो अन्यहु श्रीमहाप्रभूनके तथा श्रीप्रभुचरणनके निधिस्वरूपनमे न्यूनताबुद्धि न लावनी. सो काहेतें जो अन्य स्वरूपनमे पुष्टिपुरुषोत्तमता अथवा पूर्णपुरुषोत्तमता को अन्तर यदि होय तो महाबाधक अन्याश्रयको अपराध पड़े. अरु सभी सेव्यस्वरूपनमे पुष्टिपुरुषोत्तमता इकसार होयवेपे काहु स्वरूपकी सेवा सात बालकनके वंशमे छूटभैया करत होंय अथवा कोई वैष्णव करत होंय तातें स्वरूपके माहात्म्यमें कछु अन्तर पड़त नाहिं. श्रीहरिरायजीने तो याहीतें श्रीमहाप्रभुप्रभृतीनके सेव्य तथा आधुनिक वल्लभवंशज

अथवा वाल्लभ वैष्णवन् के जो सेव्य प्रभु हें तिनमेंहु तारतम्य न जाननो एसो प्रतिपादन 'स्वरूपतारतम्यविमर्श' ग्रन्थमें कियो हे. तातें पुष्टिस्वरूपनमे लौकिक बुद्धितें तारतम्य मानिवेवारे भगवत्स्वरूपापराधी, आचार्यापराधी तथा मार्गापराधी होत हें॥6॥

श्रीमद्वल्लभ-विट्ठलौ गिरिधरं गोविन्दरायाभिधं
श्रीमद्बालककृष्ण-गोकुलपती नाथं रघूणांस्तथा।
एवं श्रीयदुनायकं किल घनश्यामं च तद्वंशजान्
कालिन्दीं स्वगुरुं गिरिं गुरुविभुं स्वीयप्रभूंश्च स्मरेत्॥7॥

श्रीमद्वल्लभ-विट्ठलौ=श्रीमहाप्रभुजी ओर श्रीगुसांईजी को

गिरिधरं=श्रीगिरिधरजीको
गोविन्दारायाभिधं=श्रीगोविन्दरायजीको
श्रीमद्बालककृष्ण-गोकुलपती=श्रीबालकृष्णजी ओर श्रीगोकुलनाथजी को
तथा=ओर
रघूणां नाथम्=श्रीरघुनाथजीको
श्रीयदुनायकं=श्रीयदुनाथजीको
घनश्यामं=श्रीघनश्यामजीको
एवं=अरु
किल=एसे ही प्रकारसों
तद्वंशजान्=विनके वंशजको
च=ओर, कलिन्दीं=श्रीयमुनाजीको
स्वगुरुं=अपने गुरुको
(गोवर्धन)गिरिं=श्रीगिरिराजजीको
गुरु(सेव्य)विभुं=गुरुके सेव्यप्रभुको
स्वीयप्रभून् च=अरु खुदके माथे बिराजते प्रभूनको
स्मरेत्=स्मरण करनो

भावार्थ : श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभु, श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण, श्रीगिरिधरजी, श्रीगोविन्दरायजी, श्रीबालकृष्णजी, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीरघुनाथजी, श्रीयदुनाथजी, श्रीघनश्यामजी; तेसेंई इनके वंशज, श्रीयमुनाजी, अष्टाक्षरमन्त्र तथा ब्रह्मसम्बन्धमन्त्र प्रदान करिववारे गुरु, श्रीगोवर्धनगिरि, अपने दीक्षादाता गुरुनके सेव्यस्वरूप तथा निज सेव्यस्वरूपको स्मरण करनो॥7॥

टीका : कछु मार्गद्वेषी स्वार्थी अज्ञानी जीव एसे कहत हें जो पूर्वश्लोकमें वर्णित भगवत्स्वरूपनमे पूर्ण पुरुषोत्तमको भाव होयवेतें विनको परिगणन् एक ठोरपे कियो. परि वैष्णवनके माथे बिराजते सेव्यस्वरूपमें पुरुषोत्तम भाव न होयवेतें अथवा गुरुत्वोपहित पुरुषोत्तमभाव होयवेतें विनको स्मरण गुरुदेवके साथ कीनो हे. परन्तु ये बात स्वार्थ-अज्ञान-मूलक मोह मात्र हे. सो काहेते? जो या सूचीमें वैष्णवके माथे बिराजते सेव्यस्वरूपको जेसे उल्लेख हे तेसेही अपने दीक्षादाता गुरूनके मस्तकपर बिराजमान स्वरूपकोहु उल्लेख हे. सो वेहु पुरुषोत्तमभावात्मक सिद्ध न होवेंगे. किञ्च पूर्व श्लोकमें वर्णित निधिस्वरूपनमे ते कोऊ स्वरूप अपने गुरुनके मस्तकपर बिराजत होंय तो वेऊ पुरुषोत्तमभावात्मक न रहिके गुरुभावात्मक ह्वै जावेंगे. ओर कछुक लोग कहत हें जो निजगुरुकों मनुष्यबुद्धितें देखनो शास्त्रनिन्दित होयवेतें आधुनिक गुरुनमे हु पुरुषोत्तमभाव राखनो. तब तो अपने माथे बिराजते सेव्यप्रभुमे गुरुभाव राखिवेपेहु पुरुषोत्तमभाव कछु निवृत्त होत नाहिं. तातें वैष्णवनके माथे बिराजते स्वरूपकी पूर्ण पुरुषोत्तमतामें रञ्चकहु न्यूनता न जाननी.

अरु स्वमार्गीय दीक्षा प्रदान करिवेवारे आधुनिकनमे “कृष्णसेवापरता, दम्भादिरहितता, भागवततत्त्वज्ञता” लक्षणको अखण्डित दर्शन होत होय तब गुरुभाव अरु ता करि पुरुषोत्तमभाव अर्थात् भगवत्सेवासम्बन्धी तिनकी आज्ञाकों साक्षात् पुरुषोत्तमवचनके बराबर प्रामाण्य जाननों. परन्तु या लक्षणको अखण्डित दर्शन न होत होय तो गुरुभाव केवल श्रीमहाप्रभु-प्रभुचरणमें सीमित करिके आधुनिकनमे गुरुद्वारता ही केवल जाननी. तासों गुरुद्वारताके कारण पुरुषोत्तमभावकी अनिवार्यताहु रहत नाहिं॥7॥

बर्हापीडं नटवरवपु: कर्णयो: कर्णिकारं
बिभ्रद्वास: कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै:
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्ति:॥8॥

बर्हापीडं=मोरमुकुटकुं
(बिभ्रद्=धारणकरिवेवारे)
नटवरवपु:=नटको ओर वरको सो-
स्वरूप(बिभ्रद्=धारणकरिवेवारे)
कर्णयो:=दोनों काननपे
कर्णिकारं=कनेरके फूलनकु (बिभ्रद्)
कनककपिशं=सुवर्ण रंगके
वास:=वस्त्रकुं (बिभ्रद्)च=ओरवैजयन्तीं=पांच प्रकारके फूलन्सूं बनी वैजयन्तिकुं
मालां=मालाकुं
बिभ्रद्=धारण करिवेवारे
अधरसुधया=अधरामृतसूं
वेणो:=वेणुकों
रन्ध्रान्=छिद्रनको
पूरयन्=पूरित करतेभये
गोपवृन्दै:=ग्वालनके समूहके द्वारा
गीतकीर्ति:=जिनकी कीर्तिको गान-
कियोजाय हे एसे
स्वपदरमणं=अपने चरणन्तें
रमणीय बनावते, वृन्दारण्यं=वृन्दावनमें
प्राविशद्=प्रवेश कियो

भावार्थ:श्रीमस्तकपे मयुरपिच्छको स्तबक धारण करिके, नटको ओर वरको सो वपु धारण करिके, कर्णन्पें कनेरके पुष्पनको धारण करिके, कनक वर्णके वस्त्र धारण करिके अरु वैजयन्ती वनमाला धारण करिके, अपने अधरनमे बिराजमान सुधातें वेणुके रन्ध्रनको पूरत-पूरत संग-साथी गोपबालक जिनकी कीर्तिको गान करत हें एसे प्रभु अपने भक्तिरूप चरणकमलन्तें वृन्दावनकों रमणीय बनावत तहां वृन्दावनमें प्रविष्ट भये॥8॥

टीका:भागवतके दशमस्कन्धमें तामस-प्रमेयप्रकरणके अन्तर्गत प्रभुके प्रमेयरूपको वर्णन या श्लोकमें हे. यामें वर्णित प्रभुके रूप, गुण तथा लीला व्रजस्थ भक्तनको अलौकिक प्रकारसों दृष्टि-श्रुतिगोचर भये. सो केसे जो ब्रह्मविद्यारूप वेणुनाद द्वारा हृदयमें स्फुरित भये. तासों श्रुत्येकसमधिगम्य ब्रह्मको श्रौत स्वरूप जेसें श्रुतिवचनते हृदयङ्गत होत हे तेसें वृन्दावनस्थित भगवानके मधुर रूप-गुण-लीलाको साक्षात्कार वेणुनादतें व्रजस्थ भक्तनके हृदय अरु इन्द्रियन् में भयोसो यामें वर्णित हे. तासों या वर्णनकु दिव्य प्रमेयको निरूपण समझनो.

मयुर अपनी मस्तीमें होयवेपे नाचिवेकों अपनी पुच्छकों फेलायके स्तबक जेसो बनावत हे, तेसें प्रभु**नने** हु अपने श्रीमस्तकपे मयुरपुच्छस्तबककु धारण कियो हे. तासों भगवानको हु यह स्वरूप उद्‌बुद्ध रसात्मक हे एसे जाननो.

कुशल नट जेसे शृङ्गाररसको नाटन करत हे अरु वर (पति) जेसे प्रत्यग्र भोग करत हे तेसें भगवानकेहु उभयविध रूप हें. ज्ञानीनको अपने अन्तरमें जेसें परमात्मानुभूति होत हे तेसें इन उभयविध रूपनकी अनुभूति होत हे एसे न जाननो. सो काहेते?जो भक्तनको सुखदानार्थ तो प्रभु बाह्य वपु धारण करिके प्रकट होतहें.

कर्णन्पें धारण किये कनेरके पुष्पनके शृङ्गारकोंहु रसको उद्बोधक जाननो. शृङ्गाररस जेसें संयोग-विप्रयोगके भेदतें द्विविध होत हे तेसेंई प्रभून्के दोय कर्ण हें. तासों संयोगकी नांई विप्रयोगमेंहुं भक्तके भावोद्‌गार प्रभु सुनि सकत हें.

रस तो गुप्त होयवे पेही रसरूप होत हे अन्यथा रसाभास. तातें प्रभुने अपने रसात्मक वपुकु गुप्त राखिवेकों पीताम्बर धारण कियो हे. पीताम्बरहु फेरि कनक जेसी व्यामोहिका मायाके आवरणकी नांई होत हे.

फेरि कीर्तिमयी वनमाला अर्थात् वैजयन्तीमालाहु आप धारण किये हें.

भगवानके लोभात्मक अधरन्पे स्थित होयवेतें ये अधरसुधा सर्वाभोग्या हे. तासों वेणुनादके श्रवणतेंही या सुधाको पान होय सकत हे अन्यथा नाहिं. सो काहेतें? तहां ये जाननो जो जेसे वेणुवादनद्वारा भगवत्स्वरूपानन्दके उपभोगोचित भोक्तृभाव भगवा**नने** व्रजभक्तनमे प्रकट कीनो सो अन्यथा सम्भव नाहिं. तासों आत्मरमणैकस्वभाववारे भगवान् जाके काज आत्मभोग्यता प्रकट करत हें तामें स्वरूपानन्दभोक्तृताको भाव प्रकट होत हे. तासों भगवत्कृत वेणुनादके स्वर कर्णद्वारा हृदयमें प्रविष्ट होयके भगवत्स्वरूपानन्दकी भोक्तृताको भाव प्रकट करत हें. विषयानन्दके भोक्ता अथवा मोक्षानन्दके भोक्ता को भोक्तृत्व भगवत्स्वरूपानन्दके भोक्तृत्वके आगे तो अति तुच्छ अरु अति क्षुद्र करि जाननों. भगवत्स्वरूपानन्दको उपभोक्ता प्रपञ्च अरु प्रापञ्चिक विषयनको भूलिके भगवत्स्वरूपमें आसक्त अर्थात् निरुद्ध ह्वे जात हे. तासों वेणुनादद्वारा आपने व्रज भक्तनको निजस्वरूपानन्दके उपभोगोचित भोक्तृभावको दान कियो.

भगवानके चरणारविन्द भक्तिरूप होयवेतें सर्वप्रथम चरण किंवा भक्ति की स्थापनातें वृन्दारण्य किंवा वृन्दावृन्द कों भगवत्स्वरूपानन्दमें निरुद्ध होयवेको अधिकार प्रदान भयो जानिये. सो काहेते जो निरुद्ध (प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवत्स्वरूपासक्त) जीवही भगवत्स्वरूपानन्दके स्वच्छन्द उपभोगार्थ भोक्तृभाववारे होत हें. एसे भक्तनके आधीन होयकें भगवान् अपने भीतर गूढ़भावतया अवस्थित भोग्यभाव प्रकट करत हें. तासों या श्लोकमें प्रमेयरूप भगवानको परमकाष्ठापन्न वर्णन यहां भयो जानिये॥8॥

सौन्दर्यं निजहृद्गतं प्रकटितं स्त्रीगूढभावात्मकं
परूपञ्च पुनस्तदन्तर्गतं प्रावीविशत् स्वप्रिये।
संश्लिष्टावुभयौ बभौ रसमय: कृष्णो हि यत् साक्षिकं
रूपं तत् त्रितयात्मकं परमभिध्येयं सदा वल्लभम्॥9॥

निज=अपने
(कृष्ण)हृद्गतं=हृदयमें रहेभये
स्त्रीगूढभावात्मकं=गूढ स्त्री भावात्मक
प्रकटितं=प्रकट
सौन्दर्यं=सौन्दर्य, पुन:=फेरि
तद्=वो-(स्वामिनी)
अन्तर्गतं=अन्दर रह्योभयो
पुंरूपं=पुरुषरूप
(प्रकटितं सौन्दर्यं=प्रकट भयो सौन्दर्य)
च=अरु, स्वप्रिये=अपने प्रियमें
प्रावीविशद्=प्रविष्ट करायो(इति)
उभयौ=दोनोंनको
संश्लिष्टौ=संयोग भयेसूं
(सन्तौ पुन:)
रसमय:=रसात्मक
कृष्ण:=श्रीकृष्ण
बभौ=शोभायमान भये
हि=यासूं
(तस्मात् कारणात्=जा कारणसूं)
यद्=जो, रूपं=रूप
साक्षिकं=साक्षी(आसीत्=हतो)
तत्=वो
त्रितयात्मकं=तीनों रूपवारो
(भूत्वा=होयके)
सदा=सदा, वल्लभं=श्रीमहाप्रभुजीको
परम्=आछीभांतिसों
अभिध्येयं=ध्यान करनों
(प्रकटितम् अभवत्=प्रकट भयो)

भावार्थ : सर्वरसभोतीकृष्णके भीतर अपने स्वरूपानन्दके दानार्थ एक गूढ़ भोग्यभावात्मक सौन्दर्यहु हे—— तेसेंई अपने स्वरूपानन्दके उपभोगार्थ प्रकट किये स्वामिनीरूपमेंहु भगवत्स्वरूपानन्दके उपभोग करिवेके भाववारो एक गूढ़ भोक्तृभावात्मक सौन्दर्यहु हे. सो ये भगवानमे रह्यो गूढ़ भोग्यभावात्मक सौन्दर्य अरु स्वामिनीमें रह्यो गूढ़ भोक्तृभावात्मक सौन्दर्य आत्यन्तिक रसोद्बोधनकी अवस्थामें कबहुक प्रकट (उच्छलित) ह्वे जात हे. अन्यथा गूढ़ ही रहत हे. सो उभयत्र स्थित गूढ़ सौन्दर्य कबहुक उच्छलित ह्वे के अपनी एसी रसात्मिका लीलाके परिकर एसे साक्षीभूत स्वरूपको पात्रतया अवलम्बन करत हे. सो या रसलीलामें उच्छलित गूढ़ भावात्मक, भगवत्सौन्दर्य तथा स्वामिनीसौन्दर्य के मिश्रणसों प्रकट रसात्मक कृष्णके प्रिय पात्र बनिवेके कारण

(1) गूढ़ स्त्री(भोग्य)भाव
(2) गूढ़ पुं(भोक्तृ)भाव तथा
(3) साक्षिभाव

——यों त्रितयात्मक रूप सर्वदा ही पुष्टिजीवनको
निरतिशय प्रिय होयवेतें सर्वोत्कृष्टतया अभिध्यान करिवे
योग्य हे॥9॥

टीका : "बर्हापीडं नटवरवपु:..." श्लोकमें भगवानको जेसो प्रमेयरूप निरूपित कियो ताके प्रमाणरूप (साक्षिरूप) स्वयमेव महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण हें. सो या श्लोकमें महाप्रभुके एसे स्वरूपको वर्णन श्रीगोपीनाथप्रभुचरणने कियो हे. सो काहेतें जो प्रमाणके बिना प्रमेय सिद्ध होत नाहिं. तेसें महाप्रभु यदि प्रकट न होवते तो पुष्टिभक्तिभावको अवलम्बन बनिवेवारे श्रीकृष्णको एसो गूढ़ सौन्दर्यहु पुष्टिजीवनके काज प्रकट न होतो.

कछुक पाखंडी जीव या श्लोकमें वर्णित महाप्रभुकी त्रितयात्मकताके व्याजतें श्रीकृष्णकी अनन्यभक्तिके महाप्रभूनके उपदेशसों अपनो प्रच्छन्न द्वेष प्रकट करि देत हें:जो श्रीकृष्णको मूलरूप तो एकात्मक हे अरु त्रितयात्मक होयवेतें भजनार्थ उत्कृष्टतर स्वरूप तो श्रीमहाप्रभुनको हे. सो एसे श्रीमहाप्रभूनके प्रच्छन्न द्वेषी जननके पाखण्डको खण्डन याही श्लोकतें ह्वे जात हे जो त्रितयात्मक रूप तो केवल ध्यान करिवेके काज हे सेवाके काज नाहिं!

लोकमें जेसे कोउ कछुक धर्माचरण किंवा अधर्माचरण करत होय तहां जो साक्षी बनि ठाड़ो रहे ताकोंहु धर्म अथवा अधर्म को कछु फललेश होत हे. परि मुख्य फल तो धर्मकर्ता अथवा अधर्मकर्ता कोंहि मिलत हे. परि वाके धर्माचरण किंवा अधर्माचरण को जो साक्षी बनत हे सो प्रमाण तो मान्यो जात हे. तेसेई स्वामिनीजीमें प्रकट-भोग्यभाव अरु गूढ-भोक्तृभाव अंशीभूत हे ताके अंशभूत प्रकट-भोग्यभाव अरु गूढ़-भोक्तृभाव सबहि पुष्टिजीवनको प्रभुने प्रदान किये हें. ताकों प्रमाणित करिवेके काज लीलापरिकरमें साक्षीभूत प्रमाणस्वरूपकों प्रभूनने भूतलपे पुष्टिभक्तिमार्गके आचार्य बनायके प्रकट किये हें. सो प्रकट होयके आपनेहु प्रकटमें भोक्तृभावात्मक परि गूढ़तया भोग्यभावात्मक श्रीकृष्णके स्वरूपानन्दको दान करिवेवारे पुष्टिभक्तिमार्गको उपदेश कियो.

तब श्रीकृष्णकी पुष्टिभक्तिके आपके उपदेशसों द्वेष करिवेवारेनकी ओर कछु तो चली नाहिं. तब श्रीकृष्णभजनते पुष्टिजीवको विमुख करिवे श्रीमहाप्रभूनकी त्रितयात्मकताकी बातको उलटो अर्थघटन करि त्रितयात्मक रूप धारण करिवेवारे श्रीमहाप्रभूनकी सेवा करनी, मूलस्वरूप श्रीकृष्णकी सेवा नाहिं करनी——एसे पाखण्डको प्रचार करि देत हें. सो तो रूपदर्शनार्थ विधाताने नेत्र दिये सो तिन नेत्रन्सों रूपदर्शन न करिके दर्पणमें स्वनेत्रदर्शन ही करते रहिवेकी सी मूढता जाननी. तासों सिद्ध होत हे जो गूढ-भोग्य-भोक्तृ-रूपन्सों उभय-भावात्मक रसमय श्रीकृष्ण तो अपने पात्रस्थानीय महाप्रभूनके हृदयमेंहु गूढ़भावतयाही बिराजत हें. अरु प्रकटमें तो आप ता गूढ़भावनके साक्षीरूप-प्रमाणरूप ही हें कछू अर्धनरनारी जेसे रूपते आप प्रकट नाहीं भये हें. सो “दैवोद्धारप्रयत्नात्मा... भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डः... अङ्गीकृत्यैव गोपीशवल्लभीकृतमानवः... सान्निध्यमात्रदत्तश्रीकृष्णप्रेमा... भक्त्याचारोपदेष्टा... भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्... तत्कथाक्षिप्तचित्तः तद्विस्मृतान्यः” नामन्तें सिद्ध होत हे जो आप पुष्टिभक्तिमार्गाचार्य हें. तासों जो जीव आपके उपदेशानुसार श्रीकृष्णभक्ति नाहिं करत हें तिनकों दैवी न जाननो. सो काहेते जो सूर्योदयको प्रकाश होतही कमलको फूल तो खिलि जात हे परि रात्रीके अन्धकारमें खिलिवेवारे फूल मुरझावन् लागत हें. तेसें महाप्रभूनके उपदेशतें दैवीजीवनके हृदयकमल तो श्रीकृष्णभक्तिके रूपमें खिलि जात हें परि आसुरीनके अन्धकारी फूल मुरझावन् लागत हें. सो काहेतें जो आप जा जीवको अङ्गीकार करत हें वाकों तो आपको सान्निध्य मिलत हे. अरु जाकों आपको सांचो सान्निध्य मिलत हे तामें अविलम्ब श्रीकृष्णप्रेमहु प्रकट ह्वे जात

हे. सो वोहु जीव गोपीपति श्रीकृष्णकों वल्लभसम लागत हे. याही प्रयोजनतें तो आपने अपनी वाणी अरु वंशजहु प्रकट किये जो पुष्टिजीव पुष्टिप्रभुके स्वरूपानन्दके अनें सेवा-कथाकी प्रणालीसों आक्षिप्तचित्त होयके अन्य सब कछुकों विस्मृत करि देवें. तासों जो जीव आपके उपदेशानुसार पुष्टिभक्तिमार्गपे चलत नाहिं ताकों श्रीमहाप्रभुहु बिसारी देत हें, यह दृढ़ करि जाननों. यामें नादसृष्टि अथवा बिन्दुसृष्टि को कछु भेदभाव नाहिं हे॥9॥

श्रीवल्लभ-प्रतिनिधिं तेजो-राशीं दयार्णवम्।
गुणातीतं गुणनिधिं श्रीगोपीनाथम् आश्रये॥10॥

तेजोराशीं=तेजके भंडार
दयार्णवं=दयाके सागर
गुणातीतं=गुणन्सों अतीत
गुणनिधिं=गुणनके निधि
श्रीवल्लभप्रतिनिधिं=श्रीवल्लभके प्रतिनिधि
श्रीगोपीनाथम्=श्रगोपीनाथजीकों
(अहं=में)
आश्रये=आश्रय करुं हुं

भावार्थ : अलौकिक पुष्टिभक्तिके कमलको खिलायवेकों श्रीमहाप्रभूनकी नांई श्रीगोपीनाथजीहु तेजोराशी भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड हें. आप दयाके समुद्रहु होयवेतें भक्तिकमलकों खिलायवेकों प्रकट होयवेमेंहु आधार बनत हें. प्राकृत गुणन्सों अतीत-अस्पृष्ट अरु अलौकिक पुष्टिभक्तिमार्गीय गुणनके निधिरूपहु हें. एसे विरुद्धधर्मनके आश्रय हें सो काहेते? तहां कहत हें जो श्रीवल्लभके प्रतिनिधि "आत्मा वै जायते पुत्रः" होयवेतें एसे हें. एसे श्रीगोपीनाथजीको मैं आश्रय लेत हुं॥10॥

टीका : प्राचीन भाषासाहित्यमें कहुं-कहुं श्रीगोपीनाथजीके मर्यादामार्गीय होयवेको उल्लेख मिलत हे. परि श्रीमहाप्रभुहु तो "अङ्गीकृतौ समर्याद" हें! तातें या मर्यादाकों पुष्टिबाह्य मर्यादा न जानिके पुष्टिमार्गान्तर्भूता मर्यादा जाननी. तासों श्रीपुरुषोत्तमजीने यह स्तुतिश्लोक प्रकट कियो हे. श्रीगोपीनाथजीके विरचित 'सेवाश्लोक' तथा 'साधनदीपिका' ग्रन्थनमे पुष्टिभक्तिको निरूपण मिलत हे, कछु मर्यादाभक्तिको नाहिं. तातें अन्यथाभाव न लावनो॥10॥

सायं कुञ्जालयस्थासनम् उपविलसत् स्वर्णपात्रं सुधौतं
राजद्-यज्ञोपवीतं परितनु-वसनं गौरम् अम्भोजवक्त्रम्।
प्राणानायम्य नासा-पुट-निहित-करं कर्ण-राजद्-विमुक्तं
वन्देऽर्धोन्मीलिताक्षं मृगमद-तिलकं विट्ठलेशं सुकेशम्॥11॥

सायं=संजाके समय
कुञ्जालयस्थासनम्=कुंजमें जिनको आसन है
उपविलसत्-स्वर्णपात्रं=समीपमें रहेभये सोनेके पात्र
सुधौतं=आछी भांतिसूं धोये भये
परितनुवसनं=वस्त्रनकु धारण करे भये
राजद्यज्ञोपवीतं=यज्ञोपवीत धरणकरे भये
गौरम्=गौर वर्णवारे
अम्भोजवक्त्रं=कमल समान मुखवारे
प्राणानायम्य=प्राणायाम करीके
नासापुट-निहित-करं=नासिकापे हाथ रखेभये
कर्णराजद्विमुक्तम्=कानमें मोति धारण करेभये
अर्धोन्मीलिताक्षं=आधे नेत्र मिचेभये
मृगमदतिलकं=कस्तूरीको तिलक धारण करेभये
सुकेशं=सुन्दर केशवारे
विट्ठलेशं=श्रीविट्ठलनाथजीकों
वन्दे=वन्दन करुं हुं

भावार्थ : सायंकालमें कुञ्जभवनमें आसनपे बिराजिवेवारे, सक्ध्यावन्दनार्थ स्वर्णपात्र जिनके सम्मुख सजे भये हें, कटिमे सुन्दर धोती धारण करि राखी हे, यज्ञोपवीतहु श्रीअङ्गपे शोभायमान ह्वे रही हे, उपरनाहु आपने ओढ़ि राख्यो हे, आपको मुखारविन्द गौरवर्ण हे, प्राणायामके काज नासापुटन्पे श्रीहस्त धरि राख्यो हे, कर्णपुटनमे विशिष्ट मुक्तिका शोभायमान ह्वे रही हें, आपके नेत्र ध्यानमें अर्धोन्मीलित ह्वे रहे हें. ललाटपे मृगमदको तिलक धारण करि राख्यो हे. श्रीमस्तकपे सुन्दर केशावली बिराजमान हे, एसे श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणकों मैं वन्दन करत हुं॥11॥

टीका : या श्लोकतें श्रीरघुनाथजीने श्रीगुसांईजीके आचार्यभावोचित स्वरूपकोंही ध्यानात्मक वन्दन कियो हे, जेसें “सौन्दर्यं...” पद्यमें श्रीगोपीनाथजीने श्रीमहाप्रभूनके गूढ़ रसमयभावात्मक परि प्रकट साक्षिभावात्मक आचार्यभावोचित रूपकोही ध्यान बतायो तेसें.

तासों जेसे गूढ़ पुंभावात्मिका श्रीस्वामिनीजी अरु गूढ़ स्त्रीभावात्मक श्रीप्रभूनके स्वरूपनमे कछु भेद नाहिं तोउ श्रीस्वामिनीजीकों केवल तनिया धरायके कोउ दर्शन खोलत नाहिं अरु श्रीठाकुरजीकेहु लहंगा चोली अरु सारी में दर्शन होत नाहिं तेसेई श्रीमहाप्रभु तथा श्रीप्रभुचरण में गूढ़ पुरुषोत्तमभावकों प्रकट करिके भक्तिरीतिमें रसाभास करिवेवारी बैठकजीनमे गेंद-छड़ी-चोपड़ धरिके प्रदर्शन करिवोहु उचित नाहिं. आचार्याभावतें जब आप दोउ प्रकटे हें तब आचार्यभावोचित वस्त्र आभूषण साज सेवा ही उचित हे. तातें तुलसीकी कंठी, तिलक, गोमुखी, सक्ध्याको साज, श्रीमद्भागवतकी पोथी, धोती-उपरणाके वस्त्राभूषण अरु साजकोही आचार्यभावोचित जाननों॥11॥

॥ एसे गोस्वामी श्रीदीक्षितात्मज श्याम मनोहर द्वारा विरचित मङ्गलाचरणकी व्याख्या सम्पूर्ण भई ॥

॥ सर्वोत्तमस्तोत्रम् ॥

(2)

श्रीगोकुलनाथजी कृत विवृतिके संक्षिप्त भाषानुवाद सहित

श्रीगुसांईजी, श्रीमहाप्रभुजीके अष्टोत्तरशत नाम जाके भीतर हें, एसे सर्वोत्तमस्तोत्रको निरूपण करत हें. सो ताकी **टीका** श्रीगुसांईजीके पुत्र श्रीगोकुलनाथजी करत हें.

नत्वा पितृपदाम्भोजं सर्वाभीष्टप्रदायकम्।
तत्प्रोक्ताचार्यनामानि विवरिष्ये यथामतिः॥

श्रीगोकुलनाथजी कहत हें :हम श्रीगुसांईजीके चरणारविन्दकों नमस्कार करत हें. आपके चरणारविन्द केसे हें? भक्तनको भगवद्भक्तिमें उपयोगी, या लोकसम्बन्धी वस्तु, देहसम्बन्धी वस्तु जो स्त्री-पुत्र-धनादिक; अरु परलोकसम्बन्धी वस्तु जामें परलोक सिद्धि होई, तिन सकलके देनवारे चरणारविन्दकों हम नमस्कार करत हें. सो श्रीमहाप्रभुजीके नामनकी **टीका** जेसी बुद्धि हे ता भांति हम करत हें.

यद्यप्ययोग्यएवाहं तन्नामविवृतौ स्वतः।
स्वीयत्वेनैव कृपया योग्यतामपि दास्यति॥
इति विश्वासतो नूनं वर्तेऽहं नच अन्यथा।
अतस्तएव शरणं नमः सर्वार्थसिद्धये॥

श्रीगोकुलनाथजी कहत हें:यद्यपि श्रीमहाप्रभुजीके नामनकी **टीका** करिवेकी मेरेमें तो योग्यता नाहिं हे परि श्रीमहाप्रभु मोकुं अपनो जानिके कृपा करिके अपने नामनकी **टीका** करिवेमें योग्यता देइंगे, या विश्वासतें **टीका** करिवेमें प्रवृत्त भयो हुं, अन्यथा नाहिं. तातें श्रीमहाप्रभुजीके चरणारविन्द ही मेरी गति हें. सो वस्तुकी सिद्धि होयवेके विषे अब कहत हें.

श्रीगुसांईजी श्रीमहाप्रभुजीको स्वरूप अरु स्वरूपके प्राकट्यके विषे कारण कहिवेकेलिये प्रथम श्रीपूरनपुरुषोत्तम स्वरूपकी स्तुति तीन श्लोकन् करि करत हें, मङ्गलकेलिये.

प्राकृत-धर्मानाश्रयम् अप्राकृत-निखिल-धर्मरूपमिति।
निगमप्रतिपाद्यं यत् तत् शुद्धं साकृति स्तौमि॥1॥

अन्वयार्थ :

यत्=जो
प्राकृतधर्मानाश्रयम्=प्रकृतिके धर्मन्सूं पर
अप्राकृतनिखिलधर्मरूपम्=अप्राकृत
सर्वधर्मरूप, इति=एसो
निगमप्रतिपाद्यं=वेदमें निरूपित
तत्=वो, शुद्धं=शुद्ध
साकृति=साकारकी
स्तौमि=स्तुति करुं हुं

भावार्थ : जिनमें प्राकृत धर्म कोऊ नाहिं परि निखिल अप्राकृत धर्म ही हें, एसो प्रतिपादन वेदादि शास्त्र करत हें, एसे मायादिदोष रहित, शुद्ध आकृतिवारे श्रीकृष्णकी स्तुति मैं करत हुं॥1॥

टीका : श्रीठाकुरजी केसे हें? प्राकृत धर्म जेसे सत्त्वगुण, रजोगुण ओर तमोगुण तिन करिके रहित हें. कदाचित् कोई कहे के तब तो श्रीठाकुरजी निराकार होय गये! तहां कहत हें, नहीं! श्रीठाकुरजी अप्राकृत हें. अलौकिक आनन्दमय देह-इन्द्रियादिक ताकरि सहित हें. ओर याही भांति वेदहु निरूपण करत हे. सो एसे शुद्ध आनन्दमात्र-कर-पाद-मुखोदरादि साकार श्रीपूरनपुरुषोत्तमकी हम स्तुति करत हें॥1॥

तहां ये पूर्वपक्ष होय जो एसो स्वरूप तुम कहत हो सो सांचो होय तो शास्त्रनके जानिवेवारे पण्डित क्यों न कहे? तहां पण्डितनके अज्ञान विषे कारण कहत हें :

कलिकाल-तमश्छन्न-दृष्टित्वाद् विदुषामपि।
सम्प्रत्यविषयस् तस्य माहात्म्यं समभूद् भुवि॥2॥

तस्य=वाको, माहात्म्यं=माहात्म्य
कलिकालतमश्छन्नदृष्टित्वाद्=
कलिकालरूपी अन्धकारसूं दृष्टिके-
ढंक जायवेसूं
विदुषामपि=विद्वाननकु भी
भुवि=पृथ्वीपे
सम्प्रति=अभी
अविषय:=अविषय/दृष्टि अगोचर
समभूद्=होय गयो हे

भावार्थ : एसे शुद्ध साकार परब्रह्मको माहात्म्य कलिकालके अन्धकारसों आंधरेसे होय जायवेके कारन, भूतलपे वर्तमानकालमें, विद्वानहु कोउ जानि सकत नाहिं॥2॥

टीका : कलिकालके कारण अज्ञानरूपी अन्धकारसों पण्डितनकी बुद्धि छाय रही हे. तातें पण्डितनको श्रीभागवत-वेद इन करिके जिनको निरूपण करियत हे सो श्रीपूरनपुरुषोत्तमको माहात्म्य जान्यो नाहिं जात हे. सो कोन भांतिसों? जेसे अन्धकार करिके ढांपी दृष्टितें वस्तुको ज्ञान न होइ. सो काहेते? जो पण्डितनको ज्ञान नाहिं सो तासों जो वे तो भूलोकमें स्थित हें ओर श्रीपुरुषोत्तमको स्वरूप तो वैकुण्ठमें स्थित हे. सो तासों पण्डितनको श्रीपुरुषोत्तमके स्वरूपको वेसो ज्ञान नाहिं होत हे जेसो वैकुण्ठवासीनको ज्ञान होत हे॥2॥

तहां पूर्वपक्ष होय जो तिहारोहु प्रागट्य तो भूलोकमें ही हे तासों तुमकों क्यों माहात्म्यको ज्ञान हे? सो तहां प्रकार कहतहें :

दयया निजमाहात्म्यं करिष्यन् प्रकटं हरिः।
वाण्या यदा तदा स्वास्यं प्रादुर्भूतं चकार हि॥3॥

यदा=जब, हरि:=श्रीकृष्ण
निजमाहात्म्यं=अपने माहात्म्यकों
वाण्या=वाणीतें
प्रकटं=प्रकट
करिष्यन्=करिवेकी इच्छावारे भये
तदा=तब
स्वास्यं=अपने मुखारविन्दस्वरूप
हि=ही
प्रादुर्भूतं=प्रकट
चकार=कियो

भावार्थ : जब हरिने आपुने माहात्म्यकों वाणीतें प्रकट करिवो चाह्यो तब आपुने मुखारविन्दकोंही प्रादुर्भूत करत भये॥3॥

टीका : ठाकुर कबहुंक दया करि अपनो माहात्म्य कहे हें. एसो महातम अपने वचनद्वारा सेवकनकेलिये प्रगट करिवेकी इच्छा भई तब अपने मुखारविन्दरूप श्रीमहाप्रभु तिन भीतर अपने सब धर्म राखीके प्रगट भये. सो, यदि श्रीमहाप्रभूनके भीतर आप प्राकट्य न करते तो आपुके स्वरूपको ज्ञान काहुकों न होतो. तब सब सेवकनको दु:ख होतो जो हमकों पुष्टिमार्गीय भगवत्स्वरूपको ज्ञान नाहिं. सो तब ठाकुर 'हरि' ही न कहवावते! तातें आपुन् जा भांति 'हरि' ही कहवावें ताकेलिये श्रीमहाप्रभुजीको प्रागट्य किये. सो श्रीमहाप्रभु**नने** जतायो सो श्रीठाकुरजीके स्वरूपको हमकुं ज्ञान भयो. सो या भांति अपने ज्ञान विषे कारन कहें.

अब ओर अर्थ कहत हें. श्रीआचार्यजी सत्वगुण-रजोगुण-तमोगुण तिन करिके रहित हें. तथा वेदहु या भांतिसों विनको वर्णन करत हे. सकल वेद श्रीपुरुषोत्तमस्वरूपको वर्णन करते हे सो विनके मुखारविन्दस्वरूप श्रीआचार्यजीकोहु वर्णन करत हे. सो एसे साकार आनन्दमात्र-कर-पाद-मुखोदरादिरूप जो श्रीमहाप्रभु तिनकी हम स्तुति करत हें.

तहां यह पूर्वपक्ष होय जो श्रीमहाप्रभुजीकों तुम जा भांति कहत हो वा भांति कोई ओर क्यों नहीं जानत है? सो तहां कहत हें, कलिकाल विषे अज्ञानरूप जो अन्धकार ता करिके सबनकी बुद्धि=दृष्टि आच्छादित हे. तातें ओरनको श्रीमहाप्रभुजीके स्वरूपको ज्ञान नाहिं होत हे. सो काहेते? जो वे लोकमें स्थित हें अरु श्रीमहाप्रभु वैकुण्ठलोकमें स्थित जो पूर्णपुरुषोत्तम तिनके मुखारविन्दरूप हें, सो तासों उन(पण्डितन्)कों ज्ञान नाहिं.

तहां पूर्वपक्ष होय जो तुमकों श्रीमहाप्रभुजीके स्वरूपको ज्ञान क्यों हे? सो तहां कहत हें जो हमकुं तो पूर्णपुरुषोत्तम कृपाकरिके अपने वचनद्वारा अपनो माहात्म्य जनायवेकेलिये श्रीमहाप्रभुजीकों प्रगट किये तब श्रीआचार्यजी आप अपनो स्वरूप जताये तब हम जाने॥3॥

तदुक्तमपि दुर्बोधं सुबोधं स्याद् यथा तथा।

तन्नामाष्टोत्तरशतं प्रवक्ष्याम्यखिलाघहृत् ॥4॥

दुर्बोधम्=कष्टसूं जाको बोध होवे एसो
अपि=हु तदुक्तं=विनको कह्यो
यथा=जेसे
सुबोधं=सुबोध
स्यात्=होय
तथा=तेसे
अखिलाघहृत्=सब पापनके हरिवेवारे
तन्नामाष्टोत्तरशतं=विनके 108 नाम
प्रवक्ष्यामि=कहुं हुं

भावार्थ : श्रीमहाप्रभूनके वचननको गूढ़ाशय तो जानि सकिवो सरल नाहिं परि इन अष्टोत्तरशत नामके पाठ कियेते दुर्बोधहु वचन सुबोध ह्वे जात हें॥4॥

टीका : तहां कहत हें जो श्रीमहाप्रभुजीके कहेतें ओर कोई क्यों माने? तहां कहत हें : श्रीभागवत नामात्मक भगवत्स्वरूप हे, तासों भगवत्स्वरूपको ज्ञान तो श्रीठाकुरजीकुही होय. श्रीमहाप्रभुजी जे हें ते पुरुषोत्तम जो श्रीभागवत् ताको निरूपण करनवारे हें. निरूपण तो वचनरूपही, ताके करनवारे श्रीमहाप्रभु प्रगट होयकें श्रीसुबोधनीजी आदि ग्रन्थ प्रगट किये. तेहु अति गूढ़ार्थ, तिनको ज्ञान ओर कोनकों होय! सो सेवकनकोहु दुर्बोध हे. ओर सेवकनको जब तांई ज्ञान न होय तब तांई कृतार्थता नाहिं. ताकेलिये सबनको जा भांति ज्ञानसिद्धि होय ताकेलिये ओर उपाय नाहिं होयवेसुं श्रीमहाप्रभुजीके एकसो आठ नामनको निरूपण करत हें.

सो श्रीमहाप्रभुजीके नाम हें सो नित्य हें. प्रागट्यतें पहिले हु हें, जेसें श्रीपूर्णपुरुषोत्तमके नाम पहिले हु हें ता भांति. तासों विन नामनकु प्रगट मात्र करत हें. ये नाम सुबोधिनी आदि ग्रन्थनको जानिवेमें प्रतिबन्धरूप पापकों दूरि करनवारे हें सो अष्टोत्तरशत नामनको प्रकट करत हें॥4॥

अब श्रीमहाप्रभुजीके एकसो आठ नामनको अलौकिक आनन्दमयत्व कहत हें. जो सब ठोर जहां नामनको प्रागट्य कह्यो हे तहां
मन्त्र, ऋषि, छन्द, देवता ये होत हें. सो श्रीमहाप्रभुजीके नाम हें सो तो अलौकिक आनन्दमय हें तासों इनको प्रगट करनवारे ऋषिको निरूपण करत हें :

ऋषिरग्निकुमारस्तु नाम्नां छन्दो जगत्यसौ।
श्रीकृष्णास्यं देवता च बीजं कारुणिकः प्रभुः॥5॥

(मन्त्ररूपाणां=मन्त्ररूप)
नाम्नां=नामनके
जगति=जगतमें
(द्रष्टा)ऋषि:=ऋषि, तु=तो
अग्निकुमार::हें, असौ=ये
(अस्मि**नने** व पद्ये प्रयुक्तं=या श्लोकमें ही प्रयुक्त)
छन्द:=छन्द, देवता=देवता
श्रीकृष्णास्यं=श्रीकृष्णको मुख
बीजं=बीज, च=भी
कारुणिक:=दयालु, प्रभु:=श्रीकृष्णहें

भावार्थ : मन्त्ररूप इन अष्टोत्तरशत नामनके भूतलपे मन्त्रद्रष्टा ऋषि तो अग्निकुमार श्रीप्रभुचरण हें, छन्द तो पद्यमें प्रयुक्त (अनुष्टुप्) छन्द हे, देवता श्रीकृष्णको मुखारविन्द अरु बीज महाकारुणिक प्रभु हें॥5॥

टीका : या सर्वोत्तम स्तोत्रके ऋषि अग्निकुमार हें. तहां पूर्वपक्ष होत हे जो सहस्रनामादिकनको प्रागट्य करनवारे वैषम्पायनादि जे ऋषि हें सो इनके समान होयेंगें! सो ये आशङ्का दूरि करिवेकों 'तु'शब्द कहे. तासों यह जनावत हें जो एकसो आठ नामनको प्रगट करनवारे ओर(=अन्य) ऋषिनकी अपेक्षा अलौकिक जाननों. सो काहेतें? श्रीमहाप्रभूनके एकसो आठ नाम वेद-पुराणनमे प्रसिद्ध नाहिं ओर अब ताइं कोउ जानेहु नाहिं. तातें विनके जानन्वारे जे ऋषि हें—श्रीगुसांईजी वे सब ऋषिन्तें अधिक हें, अलौकिक हें. सो याहीते इनको नाम 'अग्निकुमार' हे.

श्रीगुसांईजीके प्रगट किये ये नाम तिनको जो कोउ पाठ करे ताकों पहले तो सेवाकी सिद्धि होइ, आगे श्रीठाकुरजीके अधरामृतको आस्वादन होइ. सो ये फल सिद्ध होय. सो जेसे रासक्रीडामें अग्निकुमार गुणातीत तिन भीतर श्रीस्वामिनीजीकों राखिकें उनकों श्रीपूर्णपुरुषोत्तम आप लेयके पधारे तब ता समें अग्निकुमार स्वामिनीजी रूप भये. सो उपरि अग्निकुमारिकारूप अरु भीतर श्रीस्वामिनीजीरूप हें. सो प्रगट अर्थ ये हे जो भक्तिमार्गके विस्तारार्थ ब्राह्मणवेषसों अग्निरूप श्रीआचार्यजी तिनके पुत्ररूप आपु गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी हें सो तासों 'अग्निकुमार' कहे. अरु भीतर अग्निकुमार सदृश श्रीस्वामिनीजी रूप हें. सो या भांति ऋषिको रूप कहिके छन्दको निरूपण करत हें.

छन्द तो ओरहु सहस्रनामनको ओर अष्टोत्तरशतनामनको जो जगत्में प्रसिद्ध हे सो सर्वोत्तमस्तोत्रहु को छन्द हे. ये निरूपण करि अब देवताको निरूपण करत हें:

सर्वोत्तमस्तोत्रके देवता-फलदाता तो प्रत्यक्ष दर्शन देयवेवारे श्रीकृष्णास्य श्रीमहाप्रभुजी हें. सो फलके दाता अरु पुष्टिमार्गीय फलको भोग करनवारेहु हें.

तहां अब पूर्वपक्ष होय जो पुष्टिमार्गीय फल तो श्रीठाकुरजीके अधरामृतको आस्वादन हे सो तो ब्रह्मादिकनकोहु दुर्लभ हे. ताको दान अपने सेवकनको क्यों करत

हें? सो तहां बीजस्वरूप कहत हें जो श्रीमहाप्रभुजी कारुणिक हें. सो अपने सेवकन्पे महा दयावन्त हें. सो कोन भांतिसों? तहां कहत हें जो ओर आचार्यनकी नांइ अपने सेवकनको मुक्तिको दान करें तो पुष्टिमारगको फल काहुको होतो नाहिं, तब कोउ 'पुष्टिमार्गी'हु न कहवावते. सो अपने सेवकनको श्रीमहाप्रभुजी सब जीवन्ते न्यारे करि स्वयं प्रगट कियो जो पुष्टिमारग ताको फलदान करि सब जीवन्तें बड़े किये. सो एसे दयावन्त श्रीमहाप्रभुजी हें.

तहां पूर्वपक्ष होय जो पुष्टिमारगको फल तो कोउ जानत नाहिं. ओर श्रीठाकुरजीनेहु या फलकुं अपने अन्तरङ्ग भक्तन् ही में प्रगट कियो हे. सो ताकों देयवेकी सामर्थ्य श्रीमहाप्रभूनमे केसे सम्भवे? तहां कहत हें जो आप 'प्रभु' हें. आप प्रभु हें तासों अत्यन्त असाधारण सामर्थ्यवारे हें. जो फल श्रीठाकुरजी दान करें सो ही फल आचार्यजीहु दान करत हें॥5॥

सो या प्रकार श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रको बीज आदिको उपपादन करीके अब या स्तोत्रको विनयोग कहत हें :

विनियोगो भक्तियोग-प्रतिबन्ध-विनाशने।
कृष्णाधरामृतास्वाद-सिद्धिरत्र न संशय:॥6॥

भक्तियोग-प्रतिबन्ध-विनाशने=भक्तियोगमें
आवते प्रतिबन्धनको विनाश-करिवेमें
(अस्य स्तोत्रस्य=या स्तोत्रको)
विनियोग:=उपयोग हे
(तेन=तासूं)
कृष्णाधरामृतास्वादसिद्धि:=श्रीकृष्णके
अधरामृतके आस्वादकी सिद्धि
अत्र=यामें, नसंशय:=संशयनाहीं

भावार्थ : इन अष्टोत्तरशत नामनके पाठको विनियोग भक्तियोगमें आवते प्रतिबन्धनको विनाश करिवेमें हे. तातें श्रीकृष्णके अधरामृतास्वाद (स्वरूपानन्दके भोक्तृभाव)की सिद्धि होवत हे तहां संशय नाहिं॥6॥

टीका : श्रीठाकुरजीकी सेवामें आवते जितने प्रतिबन्ध हें तिनकों दूरि करिवेमें सर्वोत्तमस्तोत्रको प्रयोजन हे. ओर परमफल तो श्रीठाकुरजीको अधरामृतको आस्वादन हे. सो कोन भांतिसों? सो जाको जेसो अधिकार हे ता भांतिके फलको अनुभव होयगो. जेसे जब श्रीठाकुरजी वेणुनाद किये तब वेणुनादद्वारा सब वृक्ष लता सबनकु ता भांतिको अनुभव दियो. सो जाको जेसो अधिकार ताकों ताही भांति सर्वोत्तमस्तोत्रके पाठते फल होयगो॥6॥

आनन्दः परमानन्दः श्रीकृष्णास्यं कृपानिधिः।
दैवोद्धारप्रयत्नात्मा स्मृतिमात्रार्तिनाशनः॥7॥

आनन्दः
श्रीआचार्यजी आनन्दस्वरूप हें.

या भांति फलपर्यन्त निरूपण करि जब श्रीगुसांईजी श्रीमहाप्रभूनके नामनको निरूपण करन लागे तब स्वरूपको स्मरण भयो तब पहले यह जान्यो जो श्रीमहाप्रभुजी आनन्दरूप हें तासूं आपकु 'आनन्द' कह्यो.

परमानन्दः
श्रीआचार्यजी परमानन्दस्वरूप हें.

पाछे अगलो नाम विचारन लागे. सो तब मनमें विचारे जो आनन्द तो अक्षरमें हे ओर पूर्णपुरुषोत्तममेंहु हे तातें सन्देह होय जो श्रीमहाप्रभुजी कहा अक्षरके आनन्दरूप होंयगे? सो यह सन्देह दूरि करिवेकेलिये नाम कहत हें 'परमानन्दः'.

यद्यपि श्रीआचार्यजी श्रीपूर्णपुरुषोत्तमानन्दरूप हें तथापि भूलोकमें प्रगट होयवेसों तद्रूप केसे कहे जायें ताके सामाधानार्थ कहत हें:

श्रीकृष्णास्यम्

श्रीआचार्यजी श्रीकृष्णके श्रीमुखस्वरूप हें.

श्रीस्वामिनीजी तथा व्रजभक्त तिन सहित कृष्ण सच्चिदानन्द फलरूप शुद्धपुष्टिमार्गीय परमात्म वस्तु श्रीपूर्णपुरुषोत्तम तिनके श्रीमुखस्वरूप आप हें.

तहां यह सन्देह होय जो श्रीमहाप्रभुजी श्रीठाकुरजीके मुखारविन्दरूप हें सो श्रीपूर्णपुरुषोत्तमके समान भये. एसे श्रीमहाप्रभुजीको प्रागट्य जेसे श्रीकृष्णको प्राकट्य अलौकिक व्रजमें भयो हतो एसे स्थलमें होनो चहिये. परि आपको प्राकट्य तो अन्यत्र भयो. सो ताको कहा कारण? सो यह सन्देह दूरि करिवेकेलिये यह नाम कहतहें:

कृपा-निधि:
श्रीआचार्यजी कृपाके निधि हें.

श्रीमहाप्रभुजी अलौकिककृपा-सहित हें. सो जिन जीवनके ऊपर कृपा करिवो चाहत हें वे तो या लोकमें प्रकटे हें तासों आपहु यहां प्रकट न होवते तो तिनको उद्धार न होतो. सो तब श्रीमहाप्रभुजी आप 'कृपानिधि' न कहेवावते. तातें आपहु या लोकमें प्रगट भये. निधि तो अगाध होयवेतें सबनको परिपूर्ण करत हे. तासों श्रीमहाप्रभुन् द्वारा प्रकटित भक्तिभार्गमें अङ्गीकृत सबहिनको यथाधिकार भजनानन्द (रूप फल) होयगोही.

तहां शङ्का होत हे जो वे कोन जीव हें जिनके काज श्रीमहाप्रभुनको भूतलपे प्रकट होनो पर्यो? सो आगेके नामते जनावत हें:

दैवोद्धार-प्रयत्नात्मा
दैवी जीवनके उद्धारविषे प्रयत्नयुक्त हे अन्त:करण जिनको एसे श्रीमहाप्रभुजी हें.

तहां दैवी सृष्टिके जीव दोय भांतिके हें. सो कितनेक तो एसे हें जिनको साधनरीतिसों उद्धार हे. जो साधन करें तो उद्धार होइ. ते तो वेद-पुराणमें जो साधन कहे हें तिनको करिवेते कृतार्थ होंइगे. तिनके अर्थ श्रीमहाप्रभूनको प्रागट्य नाहिं हे. दैवीजीवनमे दूसरे पुष्टिमार्गीय जीव हें. तिनको उद्धार श्रीठाकुरजी मर्यादामारगके साधन बिना ही करेंगे. सो उन जीवनको तो साक्षात् श्रीठाकुरजीसों स्वरूपसम्बन्धही फल हे. ता फलके साधन वेद-पुराणनमे तो प्रसिद्ध हे नाहिं, सो (साधन) तो शुद्ध पुष्टिमार्गीय होय

ताहीकुं ज्ञान होय, ओरनकु न होय. यदि श्रीमहाप्रभुजी आप प्रगट न होते तो पुष्टिमारग वृथा होय जातो. ताकेलिये श्रीमहाप्रभुजीको प्रागट्य हे. सो यह जतायवेकेलिये 'दैवोद्धारप्रयत्नात्मा' यह नामकहे.

अब कहत हें जो पुष्टिमारगीय जीवनके मनमें अन्य मारगको फल तो आवत नाहिं. ओर अपने पुष्टिमारगीय साधन-फल इनकों ज्ञात नाहिं हें. तातें श्रीआचार्यजी महाप्रभूनके प्रागट्यतें पहिले सेवकनको उद्धार केसे भयो होयगो? सो काहेते जो पुष्टिमारगको साधन-फल तो जानत नाहिं. तातें जब श्रीमहाप्रभुजी आप प्रगट भये तब इनके चरणारविन्दके स्मरणमात्रतें सेवकनको साधन-फलको ज्ञान भयो. तब उद्धार भयो. आरती-क्लेश दूर भये. सो यह जतायवेकेलिये कहत हें जो श्रीमहाप्रभुजी आप केसे हें?
स्मृति-मात्रार्ति-नाशन:
आपको स्मरणमात्र करत हें तिन सेवकनकी आप आरति दूरि करनवारे हें.

सो तहां जो कोउ अन्यमारगीहु श्रीआचार्यजी महाप्रभूनको माहात्म्य जानिके स्मरण करे तो वाहुकी आरति दूर ह्वै जात हे जो एसो श्रीआचार्यजी महाप्रभूनको स्वरूप हे॥ 7॥

अब कहत हें जो श्रीआचार्यजी महाप्रभूनको स्वरूप जे जानत हें ते तो पुष्टिभक्तिमारगकु प्रमाण कहें, परि जे पण्डितजन आपको स्वरूप नाहिं जानत हें तिनके मनमें सन्देह होत हे जो पुष्टिमारगमें मूल कहा. तिनको सन्देह दूरि करिवेकेलिये श्रीआचार्यजी महाप्रभूनको नाम कहत हें:

श्रीभागवत-गूढार्थ-प्रकाशन-परायण:।
साकार-ब्रह्मवादैक-स्थापको वेदपारग:॥8॥

श्रीभागवत-गूढार्थ-प्रकाशन-परायण:
श्रीभागवतके गूढ-गुप्त अन्यकरिके अज्ञात एसे अर्थकु प्रगट करिवेमें आप परायण-तत्पर हें.

या नाममें ओर शास्त्रनको नाम नाहिं लिये, मात्र श्रीभागवतको नाम लिये हें तातें या पुष्टिमारगको मूल श्रीभागवत ही हे. क्यों जो? वामें पुष्टिमारग कह्यो हे. तहां ये पूर्वपक्ष होय जो श्रीभागवतको तो सब कोउ व्याख्यान करत हे. यदि उहां पुष्टिमारग होइ तो ओरहु कोउ जानें! तहां अब ओरहु आगे कहत हें जो सब कोउ श्रीभागवतको व्याख्यान करत हें परि वामें गुप्त फलरूप जो पुष्टिमारग हे ताको ज्ञान काहुकु हे नाहिं, सो श्रीआचार्यजी महाप्रभून्कु हे तातें आपु प्रगट कियो. तहां ये पूर्वपक्ष होय जो श्रीभागवतमें तो मुक्तिकों फलरूप कह्यो हे, पुष्टिमार्गको फल कहां कह्यो हे? तहां अब कहत हें जो श्रीभागवतमें मुक्तिको फल भक्तिरसही कह्यो हे. ओर यों कह्यो हे जो भक्तिरसके आगे मुक्ति आदि सब तुच्छ हे. ये सब निरूपण श्रीमहाप्रभुजी आप किये हें ताहीतें यह नाम कहे हें. श्रीभागवतको गूढ़ार्थ ताके प्रकाश करिवे विषे विचारयुक्त श्रीमहाप्रभुजी आप हें.

सो अब यह पूर्वपक्ष होय जो पुष्टिमार्गको फल तो श्रीठाकुरजीके स्वरूपको अनुभव हे. श्रीठाकुरजीको स्वरूप तो 'निराकार' कह्यो हे, ताको अनुभव केसे होय? यह सन्देह दूर करिवेकेलिये अब श्रीआचार्यजी महाप्रभून्को ये नाम कहत हें:

साकार-ब्रह्म-वादैक-स्थापक:
श्रीमहाप्रभुजी साकार ब्रह्मवादको स्थापन करनवारे हें.

श्रीमहाप्रभुजी आप केसे हें? जो साकार=सर्व इन्द्रियन् करिकें अनुभव करिवे योग्य ओर आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादि एसे जो श्रीपूर्णपुरुषोत्तम तिनको युक्तिसहित स्थापन करनवारे हें. तातें पुष्टिमार्गीय फलको अनुभव भलीभांतिसों होयगो यह जाननो.

अब यह पूर्वपक्ष होय जो अन्य हु आचार्य**नने** ब्रह्मकु साकार तो कह्योही हे तामें श्रीमहाप्रभून्को वैशिष्ट्य कहा? या शङ्का को समाधान करिवेके अर्थ आगेको श्रीआचार्यजी महाप्रभून्को नाम कहत हें:
वेद-पारग:
आचार्यजी सम्पूर्ण वेदके ज्ञाता हैं.

श्रीठाकुरजीको स्वरूप (आकार) लौकिक नेत्रन्सूं तो देख्यो न जाइ. तासों जा भांति वेदमें कहे हें ताही भांतिसूं जाननो. ओर निराकार स्वरूप, सोहु वेदही कहत हे. परि

सम्पूर्ण वेदको ज्ञान अन्यनको नाहिं हे, याहीतें थोरी श्रुति जानिके अपने मनके आग्रहसूं निराकार स्वरूपको निरूपण करत हें. तातें उनको कह्यो प्रमाण न माननो ओर श्रीआचार्यजी महाप्रभूनकु तो वेदकी सगरी शाखानको अरु उपनिषदनको ज्ञान हे, सो तासों विचार करत जो साकार-निराकार उभय स्वरूपको निश्चय भयो सो निरूपण किये. तातें प्रमाण माननो. तातें यह नाम कहे 'वेदपारगः'॥8॥

मायावादनिराकर्ता सर्ववादिनिरासकृत्।
क्तिमार्गाब्जमार्तण्डः स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः॥9॥

माया-वाद-निराकर्ता

सब कछु मिथ्या-मायिक हे एसो निरूपण करिवेवारो जो मायावाद ताको आप निवारण करिवेवारे हें.

यद्यपि आगे जो दो नाम कहे जो आप साकारब्रह्मवादको स्थापन करिवेवारे हें अरु आप वेदपारग हें तासों ही मायावादको निराकरण तो होइ गयो तथापि पुनः ये नाम कहिवेको आशय ये हे जो मायावाद सर्वथा वेद विरुद्ध हे. तासों ताको निराकरण अवश्य करनो चहिये. तासों भिन्न नाम कहे. माया वादी कहत हें जो मायाते प्रकट होयवेसूं सब कछू मिथ्या हे. सो ये वाद वेदविरुद्ध हे. सो काहेते? जो वेदमें सब वस्तुकों सत्य कहे हें, तातें यह वेदविरुद्ध वाद हे. ताहुकों दूरि किये. सो श्रीमहाप्रभुजी आप एसे हें यह जतायवेकेलिये यह नाम कहें.

सर्व-वादि-निरास-कृत्

वेदविरुद्ध अर्थ करिवेवारे सर्व वादिनको खण्डन करिवेवारे श्रीआचार्यजी हें.

अब कहत हें जो मायावादसे (सदृश) ओर हु जे वेदविरुद्ध वाद हें. सो कौन भांतिसों? जो उन शास्त्रन्(वादन्)में कह्यो हे जो ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न ये धर्म ईश्वरमें हें परि आनन्दस्वरूप नाहिं कहे. सो तासों न्यायशास्त्रको मत वेदविरुद्ध हे. ओर कर्ममार्गी कर्मकुंही मुख्य करि मानत हें, ईश्वरकुं मानतही नाहिं. सांख्यवादी प्रकृति-पुरुषहीकुं मुख्य मानत हें. सो तासों इतर बहुत मत वेदसूं विरुद्ध हें. विन सब मतनको श्रीमहाप्रभुजी आप निरास कियेहें.

अब कहत हें जो आप सर्व वादनको निरास किये हें, तब कोन धर्मको आचरण करत हें? सो यह सन्देह दूरि करवेकेलिये यह नाम कहत हें:

भक्ति-मार्गाब्ज-मार्तण्डः
भक्तिमारगरूप जो कमल ताके 'मार्तण्ड' सो सूर्यरूप=प्रकाशके करनवारे हें.

या करिके यह जताय जो भक्तिशास्त्र, जे श्रीभागवत-गीता, में जे धर्म कहे हें तिनको आचरण करनवारे हें. श्रीआचार्यजी महाप्रभू**नने** भक्तिशास्त्र ग्रहण कियो हे. ओर भक्तिमारगकु 'कमल' कहे तातें कमल जेसे महासुखको देनवारो हे ता भांतिसूं भक्तिमारगकुं ओर मारगकी अपेक्षा महासुखरूप जाननो. ओर श्रीआचार्यजी महाप्रभूनको सूर्यरूप कह्यो सो तासों कमलको प्रकाशन जेसें सूर्य करे हे तेसें भक्तिमारगको प्रकाशन करनवारे श्रीमहाप्रभुजी हें; ओर कोउ नाहिं हे. ओर सूर्य करि प्रकाशित जे कमल ताके रसभोक्ता भ्रमर हें, सो ता भांति श्रीआचार्यजी महाप्रभूनके द्वारा प्रगट कियो जो भक्तिमारग तामें रसके भोक्ता(जे जीव) सो जिनको श्रीमहाप्रभुजी अङ्गीकार किये हें ते जीव ही हें ओर नाहिं हें. जेसे सूर्य ओरनको तापको कारण हे परि कमलके भीतर जो भ्रमर हें तिनकों आनन्द उपजावनवारो हे, या भांति श्रीमहाप्रभुजी हें. सो अन्यमारगीयनको ताप उपजावनवारे हें. सो यह जतायवेकेलिये 'भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड' यह नाम कहे.

अब कहत हें जो श्रीआचार्यजी महाप्रभूनके प्रागट्यके पहिले मर्यादामार्ग हतो, ओर कोउ मार्ग हतो नाहिं. अतएव श्रीठाकुरजीके प्रत्यक्ष दर्शनतेंहु मुचुकुन्द राजाकों मुक्ति नाहिं भई. काहेतें? जो वो क्षत्रीय हतो. याहीतें आगे जायके मुचुकुन्द राजा ब्राह्मणको जन्म पाइके कृतार्थ भयो. यासुं मर्यादामारगमें ब्राह्मणकुंही मुक्ति होवे हे, ओरकुं नाहिं. श्रीमहाप्रभुजी ब्राह्मण-क्षत्रीय-वैश्य-शूद्र-स्त्री सबनको पुष्टिमार्ग प्रगट करी तामें अङ्गीकार किये ओर सबनको उद्धार किये हें. ओर मुक्तिहुते अधिक फलको दान किये. सो एसे श्रीमहाप्रभुजी हें. सो यह जतायवेकेलिये यह नाम कहतहें:

स्त्री-शूद्राद्युद्धृति-क्षमः
श्रीआचार्यजी स्त्री-शूद्रादिक सकल जीवनको उद्धार करिवेवारेहें.

अपने सामर्थ्य करि सब जीवनके उद्धार करिवेमें श्रीमहाप्रभुजीही समर्थ हें. तातें स्त्री-शूद्रादिक सकलको उद्धार किये हें॥9॥

अङ्गीकृत्यैव गोपीश-वल्लभीकृत-मानवः।
अङ्गीकृतौ समर्यादो महाकारुणिको विभुः॥10॥

तहां यह पूर्वपक्ष होय जो पुष्टिमारगको फल तो व्रजभक्तनको सिद्ध भयो हे. तहांहु साधन देखियत हें. सो कहा? जो घरको परित्याग करि सर्वरूप श्रीठाकुरजीकों जाने तब फलकी सिद्धि भई. सो ता भांति तुम तो यहां कहत हो जो श्रीमहाप्रभुजी आपु जा जीवको अङ्गीकार करें ताकों पुष्टिपुरुषोत्तम दान करे हें. सो बिना साधन यह केसे सम्भव हे? सो यह सन्देह दूरि करिवेकेलिये यह नाम कहत हें:

अङ्गीकृत्यैव गोपीश-वल्लभीकृत-मानवः
अङ्गीकारमात्र करिकें साक्षात् श्रीठाकुरजीके प्रिय करे हें जीव जिननें एसे श्रीआचार्यजी हें.

व्रजभक्तनकु सर्वात्मभावादि साधन करिके श्रीठाकुरजी आप जे-जे फलदान किये हें वामें श्रीठाकुरजीकी कृपाही कारण हे. ओर इहां श्रीआचार्यजी महाप्रभूनके अङ्गीकारमात्रतें श्रीठाकुरजी प्रसन्न होयके फलदान करत हें तब ओर साधन काहेकों करिये!

तहां यह पूर्वपक्ष होय जो श्रीआचार्यजी महाप्रभूनके अङ्गीकारमात्रतें श्रीठाकुरजी क्यों प्रसन्न होंय? तहां कहत हें जो श्रीठाकुरजी आप जेसे व्रजभक्तन्सूं लीला करत परवश भये हें ताही भांतिसों लीला भीतरके (जिन जीवनको) श्रीमहाप्रभुजी आप अङ्गीकार किये हें ते जीवहु श्रीठाकुरजीकुं बहोत प्रिय होत हें. तातें श्रीठाकुरजी उनकुं फलदान करिवेमें साधन नाहिं देखत हें, साधन बिना ही फलदान करत हें.
अब कहत हें जो श्रीमहाप्रभुजी आप अङ्गीकार करे हें तब श्रीठाकुरजी फलदान करत हें. जो श्रीमहाप्रभुजी आप कौन भांतिसों अङ्गीकार करत हें? तहां कहत हें:

अङ्गीकृतौ समर्यादो
श्रीमहाप्रभुजी भक्तिमार्गकी मर्यादा सहित जीवको अङ्गीकार करिवेवारे हें.

जो अङ्गीकार विषे भक्तिमार्गकी मर्यादा केसी हे? सो कहत हें जो श्रीआचार्यजी महाप्रभूनके अङ्गीकारतें पहले जीव यों जाने जो कहा मैं मुक्तिहुते अधिक श्रीआचार्यजी महाप्रभूनको साक्षात् सम्बन्ध पायके कृतार्थ होउंगो! ओर कहा मेरो एसो मनोरथ सिद्ध होयगो! सो यह जानिके पहले आपसों प्रार्थना करे जो "तुम मोंको अपनो करो". सो या भांति प्रार्थना करि जब आपकी शरण आवे तब आपु कृपा करि अपने निकट बुलायके श्रीठाकुरजीके सन्मुख बेठायके मारगकी रीतिसूं उपदेश करि पाछे श्रीठाकुरजीकों सोंपिके पाछे अपनो जानि स्वीकार करे हें जो"यह मेरो हे". तब श्रीठाकुरजी आप फलदान करें. सो या रीतिसों अङ्गीकार करत हें.

अब कहत हें जो जीव तो अपने उद्धारकेलिए बहुतेरो जतन करत हे ओर करेगो परि आप मुक्तिहुते अधिक फलको दान क्यों करत हें? तहांकहतहें:

महाकारुणिक:
जितने वैष्णवाचार्य हें तिननें अपने सेवकनकु मर्यादाभक्तिको उपदेश करी मुक्तिको दान किये. सो वे सब कारुणिक दयाशील कहवाये. ता भांति यदि श्रीमहाप्रभुजी आपहु दान करते तो उनजेसे आपहु 'कारुणिक' कहवावते. परि आपु तो मुक्तिहुते अधिकसाक्षात् पुष्टिभक्तिमार्गसों सम्बन्ध सिद्ध करत हें तातें 'महाकारुणिक' कहेहें.

अब यह सन्देह होय जो पुष्टिमार्गके फलकों सिद्ध करनवारो अब तांइ न कोउ देख्यो न सुन्यो. तो एसो फलदान आप केसे करि सकत हें? तब आगे आपको यह नाम कहत हें:

विभु:
श्रीमहाप्रभु सर्वसमर्थ हें.

अब कहत हें जो पुष्टिमार्गको फल ओर कोउ नाहिं दे सके हे. ताके देवेमें तो मात्र श्रीमहाप्रभुजीही समर्थ हें. अन्य जो आचार्य हें ते मर्यादाभक्तिमार्गके साधन ओर फल कोही विचार किये हें, तातें वा फलहीको दान करत हें. विनने ओर कछु तो विचार कियो नांही तो देवेको सामर्थ्य कहांते होय? श्रीआचार्यजी महाप्रभूनको सबन्ते अधिक सामर्थ्य हें सो यह जतायवेकेलिये 'विभु' यह नाम कहे॥10॥

अदेय-दान-दक्षश्च महोदार-चरित्रवान्।

अप्राकृतानुकृतिव्याज-मोहितासुर-मानुषः ॥11॥

अब कहत हें जो या पुष्टिमार्गको फल तो वेदहुकों दुर्लभ हे. सो ताको दान श्रीमहाप्रभुजी आप क्यों करत हें? सो यह सन्देह दूरि करिवेकेलिये यह नाम कहत हें:

अदेयदानदक्षः
श्रीठाकुरजीके अतिरिक्त ओर कोउ देय न सकें एसो दान देयवेवारे श्रीआचार्यजी हें.

मर्यादामार्गके साधन श्रवण-मननादिको फल मुक्तिलों होत हे. सो तो ओर आचार्य**नने** हु दान कियो हे. ता भांति श्रीमहाप्रभुजीहु मुक्तिको दान करें तो ओर सब आचार्यनकी बराबर आपहु न भये! तब तो आपको प्रागट्य वृथा होय जातो! अतः आप केसे हें जो श्रीठाकुरजी सिवाय ओर काहुसों जो फलदान कियो न जा सके ताकुं देवेमें सामर्थ्यवान हें. यह जतायवेकुं यह नामकह्यो.

अब कहत हें जो दाता होय सो तो पात्र देखिके दान करे. श्रीआचार्यजी यदि जीवनकी योग्यताको बिचार करें तब तो जीवनको कहां ठिकानो लगे! सो सन्देह दूरि करिवेकों कहतहें:

महोदारचरित्रवान्
श्रीआचार्यजी महान् उदार चरित्रवारे हें.

श्रीमहाप्रभुजी केवल दाता होंय तब तो पात्र देखिके दान करें, परि आप तो उदारता सहित दाता हें. केवल दाता ओर उदार-दाता में इतनो अन्तर हे जो केवल दाता होय सो तो दानमें तीर्थको विचार करे, फलकु विचारे, पात्र-अपात्र विचारिके दान करे; ओर उदारदाता तो अपनो सहज उदारताके धर्म करिपात्रको विचार किये बिना दान करे. (सो आप एसे सामर्थ्यवान् हें जो जाकु दान करे सोही पात्र बनि जाय) यह जतायवेकेलिये यह नाम कहे.

अब कहत हें जो तुम यह कहे जो उदारता विषे आप तो पात्र-अपात्र विचारे बिना दान करत हें, तो यह सामर्थ्य तो श्रीपूर्णपुरुषोत्तममें सम्भवे ओर श्रीमहाप्रभुजीको प्रागट्य तो लौकिक प्रपञ्चमें हे ओर लौकिक सब धर्महु दीसत हें. सो कहत हें जो आप श्रीपूर्णपुरुषोत्तम हें. सो यह जतायवेकेलिये यह नाम कहत हें:

प्राकृतानुकृति-व्याज-मोहितासुर-मानुष:
श्रीआचार्यजी लौकिक मनुष्य जेसो आचरण करिके आसुरी जीवनकु मोह उपजावत हें.

श्रीमहाप्रभुजी केसे हें? जो साधारण लौकिक जीवनकी नांई आचार करत हें. ता करिके आसुरी जीवनकु मोह(भ्रम) उपजावत हें. तासों वे यह जानत हें जो आप साधारण मनुष्य हें.

तहां यह पूर्वपक्ष होय जो लौकिकनकी नांई आचरण देखिके दैवी जीवनकु हु क्यों मोह न होय? तहां कहत हें जो आसुरी अथवा आसुरावेशी जीवनकु ही मोह होत हे. सो कोन भांतिसों? जेसे जब श्रीठाकुरजी श्रीदेवकीजीके गर्भमें पधारे तब यह देखिके कंसने जान्यो जो मेरे मारिवेकेलिये श्रीपूर्णपुरुषोत्तम गर्भमें आये हें. ता पाछें पूतनाकुं पठायी. पूतना उहां जायके लौकिक बालककी नांई जानिके स्तनपान करवायो. जो यह सब मोह आसुरी जीवनकु भयो. ओर दैवी जीव तो श्रीठाकुरजीकुं गर्भमें देखिके यह जाने जो यह तो श्रीपूर्णपुरुषोत्तम हें, कहा भयो जो गर्भमें आये! जो यह इनकी लीला हे ओर यह तो हमारे रक्षक हें यह जानिके स्तुतिही किये हें. तेसेही दैवी जीव जानत हें जो श्रीमहाप्रभुजी श्रीपूर्णपुरुषोत्तमरूप हें ओर हमारो उद्धार करनवारे हें. ओर जे असुर हें ते आपके लौकिकवत् आचरण देखिके मोहित होत हें. सो यों कहत हें जो आप ओर सब लोगनकी नांई लौकिक हें. जो योंही जानत हे. यह जतायवेकेलिये यह नाम कहे॥11॥
21वैश्वानरो 22वल्लभाख्यः 23सद्रूपो 24हितकृत् सताम्।
25जन-शिक्षा-कृते कृष्ण-भक्ति-कृन् 26निखिलेष्टद:॥12॥

अब ये शङ्का होत हे जो दोषन्सूं प्रचूर जीवनको उद्धार आप केसे करत हें? तहां यह कहत हें:

वैश्वानरः
श्रीमहाप्रभुजी अलौकिक अग्निरूप हें.

श्रीठाकुरजीको मुख हे सो अग्निरूप हे. ओर श्रीमहाप्रभुजी आप वा अलौकिक मुखारविन्दरूप अग्निको अवतार हें, सो अलौकिक अग्निरूप हें. तासों दोषवारे

जीवनके सब दोषनकु आप अलौकिक अग्नितें भस्म करि डारत हें. तासों यह नाम कह्यो.

अब शङ्का होत हे जो श्रीमहाप्रभुजी आप अलौकिक अग्निरूप हें सो इनको तेज भक्तन्सों केसे सह्यो जात होयगो? तब भक्तन्सों सेवाहु भलीभांतिसों करि न जाति होयगी! यह सन्देह दूरि करिवेकेलिये यह नाम कहत हें:

वल्लभाख्य:
श्रीआचार्यजी भक्तनकु प्रिय हें.

लौकिक अग्निके तेजमें घटती-बढती होत हे. सो तासों शीतकालमें सुखद लागत हे परि उष्णकालमें सह्यो नाहिं जात. परि श्रीमहाप्रभुजी तो अलौकिक अग्निरूप, श्रीपूर्णपुरुषोत्तमके मुखारविन्दरूप, आनन्दरूप हें. सो सदा प्रिय हें, कबहु अप्रिय नाहीं हें. आप अलौकिक अग्निरूप होयवेपरहु सदा प्रिय होत हें यह जतायवेकेलिये यह नाम कहे.

अब शङ्का होत हे जो लोकमें जो प्रिय पदार्थ हे वो कबहुक कोउ निमित्त पाइके अप्रिय होत हे. सो यह सन्देह दूर करिवेकुं कहत हें:

सद्रूप:
लोकमें प्रिय तो सुख हे. ओर स्त्री-पुत्रादिक जे प्रिय होत हें सो कबहुक सुख उपाजावत हें ताहीते प्रिय होत हें पर सुखरूप तो नाहिं हें. ताहीते कबहुक अप्रियहु होत हें. ओर श्रीमहाप्रभुजी तो श्रीठाकुरजीके मुखारविन्दरूप सच्चिदानन्द सुखरूप हें. ताहीतें श्रीमहाप्रभुजी आप सदा प्रिय हें. यह जतायवेकुं यह नाम कह्यो.

अब कहत हें जो सेवकनकु अपने-अपने भाव करिके भांति-भांतिके मनोरथ उपजत होंइगे, तब जा सेवकको मनोरथ पूर्ण भयो न होइगो ता सेवककुं श्रीआचार्यजी महाप्रभूनमे प्रीति घटती होयगी? यह सन्देह दूरि करिवेकों नाम कहत हें:

सतां हितकृत्
श्रीआचार्यजी सभी भक्तनको हित करिवेवारे हें.

आपके जितने सेवक हें ते जे-जे भाव करिके जे-जे मनोरथन्सूं सेवा करत हें तिनके सगरे मनोरथ सिद्ध करि उनकी सेवाको अङ्गीकार करत हें. परि उनके मनोरथ पूर्ण करिवेमें कबहु विलम्ब नाहिं सहि सकत हें. तातें सबनकु प्रीतिही होत हे. यह जतायवेकुं यह नाम कह्यो.

अब कहत हें जो श्रीमहाप्रभुजी अपनो स्वरूप, पुष्टिमार्गको फल आदि सबनकु कहिके बताये परि श्रीठाकुरजीकी सेवाको स्वरूप नाहिं बताये. सो क्यों? जो वो तो वचनसूं बतायो नाहिं जा सके. ताहीतें आपुन श्रीठाकुरजीकी सेवा करिके सेवकनकु सिखावत हें. सो नाम कहत हें:

जन-शिक्षा-कृते कृष्ण-भक्ति-कृत्

यद्यपि पुराण-आगममें सेवाप्रकार कहे हें परि वहां तो पूजामार्गकी रीतिसूं श्रीपूर्णपुरूषोत्तमके अंश-विभूतिकी सेवाको प्रकार कह्यो हे. सो कौन भांतिसों? जो उहां जो देवता हें सो तो मन्त्रके आधीन हें ओर श्रीपूर्णपुरुषोत्तम तो मन्त्रके आधीन नाहिं हें, केवल भक्तिके आधीन हें. ताहीतें उन शास्त्रनमे श्रीपूर्णपुरुषोत्तमके सेवाको प्रकार नाहिं कह्यो हे. तासों यदि श्रीमहाप्रभुजी आपुन सेवा करिके पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवाको प्रकार न सिखावते तो सेवकनकु पुष्टिमार्गकी सेवाको ज्ञान नाहिं होतो. तब सेवक पूजामार्गकी रीतिसों सेवा करते, तब 'पुष्टिमार्गीय' न कहवावते, पूजामार्गीय होइ जाते. ताहीतें आपुन सेवा करि बताय; ओर पूजामार्गतें तब न्यारी रीति जताये. वाको प्रकार सेवकनकु जताये तब पुष्टिमार्गीय भये हें. सो यह जतायवेकुं यह नाम कहे.

आप सेवा करिके सबनकु सिखाय सो इतनो आपकु कहा प्रयोजन हतो? सो सन्देह दूरि करिवेकु यह नाम कहत हें:

निखिलेष्टदः

श्रीआचार्यजी सकल इष्ट-वाञ्छितके देयवेवारे हें.

यदि आप इतनो श्रम करिके सेवा प्रकार नाहिं सिखावते तो कोउ जानतो नाहिं. ओर या मार्गमें श्रीठाकुरजीको सम्बन्ध ही फलरूप हे सो वो सिद्ध न होतो, तब

'निखिलेष्टदः' न कहवावते. तातें याहीकेलिये आपुन इतनो श्रम कियो हे. यह जतायवेकेलिये 'निखिलेष्टदः' यह नाम कहे हें॥12॥

सर्वलक्षण-सम्पन्नः श्रीकृष्णज्ञानदो गुरुः॥
स्वानन्दतुन्दिलः दलायतविलोचनः॥13॥

भक्तिमार्ग तो भजनको मार्ग हे. तामें अनेक भावन्सों भजन हे. सो जब तांई सब भावन् सहित भक्तिको दान न करें तब तांई 'निखिलेष्टदः' न कहवावें. सो कहत हें:

सर्वलक्षणसम्पन्नः
श्रीआचार्यजी सर्वदान करिवेके सामर्थ्यसों पूर्ण हें.

तिन भावनको दान तो जब श्रीठाकुरजीके जितने लक्षण हें ते सब लक्षण होंइ तब होय सके. श्रीमहाप्रभुजीमें सो सब श्रीठाकुरजीके लक्षण हें यह जतायवेकुं यह नाम कहे.

अब श्रीमहाप्रभुजी जो दान करत हें सो कहत हें:

श्रीकृष्ण-ज्ञानदः
रसरूप व्रजभक्तन् सहित पुष्टिमार्गके फलरूप जो श्रीपूर्णपुरुषोत्तम तिनके स्वरूपको ज्ञान देनवारे हें.

तहां यह पूर्वपक्ष होय जो श्रीठाकुरजीके ज्ञानके प्रकार तो श्रीगीता-श्रीभागवतादिकमें कहे हें, तिनसुं ज्ञान होय, तातें श्रीमहाप्रभुजी
आप कहा ज्ञान देत हें? तहां कहत हें जो गीता-भागवतमें जो ज्ञान प्रगट कह्यो हे तहां कहुं "श्रीठाकुरजी जगत्में व्यापि रहे हें, ज्ञानरूप हें" या भांतिसों कह्यो हे. परि 'रसरूप' प्रगट नाहिं कह्यो हे. ताहीते जो श्रीमहाप्रभून्के सेवक हें तिनके मनमें वे बातें आवत नाहिं.

तहां यह पूर्वपक्ष होत हे जो श्रीशुकदेवजी, श्रीकपिलदेवजी, श्रीनारदजी इत्यादिक ज्ञानके देनवारे हें तो श्रीमहाप्रभुजीमें कहा विशेष हे? तहां कहत हें जो श्रीशुकदेवजी, श्रीनारदजी, श्रीकपिलदेवजी ये जे हें सो तो मर्यादामारगीय हें; ओर श्रीआचार्यजी

महाप्रभु तो पुष्टिमारगीय हें. सो इनको दियो ज्ञान सो पुष्टिमारगीय हे यह जतायवेकुं यह नाम कहत हें.

तहां यह सन्देह होत हे जो श्रीमहाप्रभुजी ज्ञान देत हें तहां कारण कहा? सो कहत हें:

गुरुः
श्रीआचार्यजी पुष्टिभक्तिमार्गके गुरु हें.

मार्गको जो उपदेश करनवारो होय, मार्गको जो फल देनवारो होय सो मार्गको 'गुरु' कहवावे. जेसे श्रीकपिलदेवजी सांख्यमार्गके गुरु हें ताही भांतिसों श्रीमहाप्रभुजी पुष्टिमार्गको उपदेश करनवारे हें ओर फलके देनवारे हें. ताहीतें या पुष्टिमार्गके गुरु श्रीमहाप्रभुजी आप हें यह जतायवेकुं यह नाम कहे.

अब कहत हें जो श्रीकपिलदेवजीने अपने मातृचरणके प्रति योगमार्गको उपदेश करते समय मर्यादाभक्तिमार्गकोहु उपदेश कियो. परि श्रीआचार्यजी तो एक पुष्टिभक्तिमार्ग छांडिके ओर भक्तिमार्गको निरूपण किये नाहिं! सो कहत हें:

स्वानन्दतुन्दिलः
श्रीमहाप्रभुजी अगणित आनन्दसूं पुष्ट हें.

श्रीमहाप्रभुजी आप केसे हें? जो श्रीपूर्णपुरुषोत्तम जे अगणित आनन्द तासूं पुष्ट हें. यातें अन्य मारगको फल ओर बात सब आपकुं तुच्छ लागत हे. ओर आपुनमे जो आनन्द हे सो सब वस्तुकों भुलावनवारो हे, याहीतें ओर वस्तुको स्मरण आपकुं नाहीं होत हे. याहीतें पुष्टिमार्ग छांड़िके अन्य भक्तिमार्गनको निरूपण आप नाहिं किये. यह जतायवेकुं 'स्वानन्दतुन्दिलः' यह नाम कहे.

अब ओरहु आगे कहत हें जो श्रीमहाप्रभुजी आप आनन्दसूं पुष्ट हें यह जानि केसे पड़े? तहां कहत हें:

पद्म-दलायत-विलोचनः
कमलकी पंखुड़ीकी नांइ बड़े हें नेत्र जिनके एसे श्रीमहाप्रभुजी हें.

नेत्रनको कमलकी उपमा दीनि तातें यह जाननो जो जेसे कमलकुं देखिवेवारेकुं कमल सुखरूप होइ, सीतल होइ, लाल रेखान्करि सहित होइ ओर सुगन्धयुक्त होइ. ताही भांतिसों श्रीमहाप्रभुजीके नेत्रनको दर्शन जो भक्त करत हें तिनकों परम सुख देनवारे हें, सो सीतल ओर लाल रेखाके सहित हें. ओर आपके हृदयमें जो आनन्द हे सो नेत्रकमलमें जानि पड़त हे. यह जनायवेकुं यह नाम कहे॥13॥

कृपा-दृग्-वृष्टि-संहृष्ट-दासदासीप्रियः पतिः॥
रोषदृक्पातसम्प्लुष्ट-भक्तद्विट् भक्तसेवितः॥14॥

अब कहत हें जो श्रीमहाप्रभुजीके कटाक्षनको भक्तनमे कहा कार्य हे? तब कहत हें:

कृपा-दृग्-वृष्टि-संहृष्ट-दास-दासी-प्रियः

सो कहत हें जो श्रीमहाप्रभुजी आप केसे हें! जो अपने सेवकनके ऊपर कृपा-कटाक्षनकी वर्षा करत हें. तासों जो अति आनन्दित दास-दासी हें तिनकुं आप अतिप्रिय हें.

पतिः

पति वो कह्यो जाय जो स्वयं निर्भय होय अरु अपने शरणागतकुहु निर्भय करि सके. सो एसे पति श्रीआचार्यजी हें. आपु स्वयं काल-कर्म-स्वभावादिके भयसों रहित हें अरु आपुके शरणागत शिष्यनकु हु कालादिके भयसों मुक्त करिवेवारे हें तासों यह नाम कह्यो हे.

अब कहत हें जो लोकमें आसुरी जीव हें सो दैवी जीवनके शत्रु हें. वे श्रीमहाप्रभूनके सेवकनको द्वेष करत हें. सो इन असुरन्तें सेवकनको भय हे. सो श्रीमहाप्रभुजी आपु यह भय दूरि करनवारे हें. सो कहत हें:

रोष-दृक्पात-सम्प्लुष्ट-भक्त-द्विट्

श्रीमहाप्रभुजी आप केसे हें जो भक्तनके जे द्वेषी हें तिनके ऊपर क्रोध सहित कटाक्ष डारि तिनकों भस्म कीने हें. सो तासों यह जताये जो जे भक्तनको द्वेष करत हें तिनको आप भस्म करतहें.

भक्त-सेवितः

अब कहत हें जो जब श्रीमहाप्रभुजी भक्तको अलौकिक कार्य सिद्ध करत हें तब भक्तनकु जो आनन्द होत हे तासूं भक्त श्रीआचार्यजीकी सेवामें एक क्षणमात्रहुको विलम्ब सहि सकत नाहिं, निरन्तर सेवा करत हे यह जतायवेकुं यह नाम कहे॥14॥

सुखसेव्यो दुराराध्यो दुर्लभाङ्घ्रिसरोरुहः।
उग्रप्रतापो वाक्सीधु-पूरिताशेष-सेवकः॥15॥

अब कहत हें जो आपके सेवक तो बहोत हें ओर उनके भावन् करिके मनोरथहु बहोत हें. सो जा सेवकको मनोरथ आप पूरण नाहिं करत होइंगे सो वो सेवक भलीभांति सो आपकी सेवा नाहिं करत होइगो! सो कहत हें:

सुखसेव्यः

यद्यपि श्रीमहाप्रभुजीनके सेवक बहोत हें परि भक्त जा भाव करि जा रीतिसों सेवा करिवेकी इच्छा करत हें ता भांतिसों आप वाके सर्व मनोरथ पूर्ण करि वाको अङ्गीकार करत हें. सो एसे आप परम दयाल हें. याहीतें सब भक्तन् करिके सुखसूं सेइवेकुं योग्य हें. याते यह नाम कहे.

अब कहत हें जो जेसे भक्तनकु सुखकरिके सेइवेकुं योग्य हें ताही भांतिसों ओरनकु सेइवे योग्य होंयगे! तहां अब आपको अगलो नाम कहत हें:

दुराराध्यः

भक्त-सेवकनकी देखादेखी श्रीमहाप्रभुजीकी बड़ाई सुनिके जो सेवा करत हें तिनकुं आप कबहुंक सन्तोष मात्र उपजावत हें; परि भलीभांतिसों वाको निर्वाह नाहिं होत हे. यह जतायवेकेलिये यह नाम कहे हें 'दुराराध्यः'.

तहां यह पूर्वपक्ष होय जो तुम भक्तकों 'सुखसेव्य' कहत हो जब ओरनको कष्टहुसों सन्तोषमात्र उपजे परि सेवे नाहिं जाईं, सो क्यों? तहां अब कहत हें:

दुर्लभांघ्रि-सरोरुहः

अभक्तनकु दुःख करिके पाइवेकुं योग्य हें चरणकमल जिनके एसे श्रीमहाप्रभुजी आप हें.

अब कहत हें जो भक्तन्हुकुं आपके चरणारविन्दकी प्राप्ति आर्तिरूप दुःख करिके होत हे तहां अभक्तनकु आपके चरणारविन्दकी प्राप्ति कहांते होई! यह जतायवेकुं यह नाम कहे जो अभक्तनकु दुःख करिके पाइवेकुं योग्य हें चरणकमल जिनके एसे श्रीमहाप्रभुजी आप हें. तासों अभक्तनकु प्राप्ति नाहीं होत हे.

उग्र-प्र-तापः

अभक्तन्सों असह्य हे तेज जिनको एसे श्रीमहाप्रभुजी आप हें. सो अभक्तन्सों निकट रह्योहु न जाय तो सम्बन्ध कहांते होय! यह जतायवेकुं यह नाम कहे.

अब कहत हें जो आपके तेजकु असह्य कहे तो भक्तन्हुकों असह्य होइगो! यह सन्देह दूरिकरिवेकेलिए यह नाम कहत हें:

वाक्सीधु-पूरिताशेष-सेवकः

श्रीमहाप्रभुजी अपने वचनामृत करि बाहिर-भीतरसूं अपने सेवकनकु पूर्ण किये हें एसे आप परम दयाल हें.

वचनकों अमृत जो कहे ताकरि जेसे अमृत सब इन्द्रियनकु सुख उपजावनवारो होइ, सब ताप दूरि करे ता भांति श्रीमहाप्रभून्के वचनहु सबनको सुख उपजावनवारे होइ ताप दूरि करनवारे हें. याहीसों सेवकन्तें श्रीमहाप्रभुजीनको तेज सह्यो जात हे. क्यों जो वचनामृतसों पूर्ण हे. ओरन्सों नाहिं सह्यो जात॥15॥

श्रीभागवत-पीयूष-समुद्र-मथन-क्षमः॥
तत्सारभूत-रास-स्त्री-भाव-पूरित-विग्रहः॥16॥

अब आगे कहत हें, श्रीमहाप्रभुजी आप श्रीभागवतके अर्थको निरूपण करिके अपने सेवकनको ताप दूरि करनवारे हें. यह जताइवेकुं आगेको नाम कहत हें:

श्रीभागवत-पीयूष-समुद्र-मथन-क्षमः

श्रीमहाप्रभुजी आप श्रीभागवतरूपी अमृतसमुद्रके भीतर जो सार हे ताके मथिवेमें समर्थ हें.

आपके सेवकनकु जो ताप हतो जो या मार्गमें आइकेहु श्रीभागवतको अर्थ न जानें. सो तासों श्रीसुबोधिनीजी आदिके वचनामृत आपु किये. ता करिके सबनकु श्रीभागवतके अर्थ जतायके ताप दूरि किये.

तत्सारभूत-रास-स्त्री-भाव-पूरित-विग्रहः
श्रीभागवतरूपी समुद्रमें साररूपी व्रजभक्तनको जो भाव तासों पूरित हें स्वरूप जिनको एसें श्रीमहाप्रभुजी आप हें.
दूधतें अमृत उत्तम हे ताहीतें दूधके समुद्रमें मथन करत अमृत निकस्यो हे. इहां तो श्रीभागवत हे सो अमृतसमुद्ररूप हे. सो भागवतरूपी अमृतसमुद्रको सार व्रजभक्तनको भाव हे. क्षीरसमुद्रमेंते प्रगटे अमृतको भोग करनवारे जेसे देवता हें ताही भांतिसों श्रीभागवतरूपी अमृतसमुद्रमेंते प्रकटे व्रजभक्तनके भावको अनुभव करनवारे आप श्रीमहाप्रभुजी हें. ओर कोई एसो नाहिं. ओर देवतानके तो अमृत भीतरही रह्यो हे ओर श्रीमहाप्रभुजी आप तो बाहर ओर भीतर सम्पूर्ण हें. यह जतायवेकुं यह नाम कहे॥16॥

सान्निध्य-मात्र-दत्त-श्रीकृष्ण-प्रेमा विमुक्तिदः॥
रासलीलैक-तात्पर्यः कृपयैतत्-कथा-प्रदः॥17॥

अब कहत हें जो क्यों जानिये जो भाव सम्पूर्ण हे! तहां आगे ओरहु आपको नाम कहत हें:

सान्निध्य-मात्र-दत्त-श्रीकृष्ण-प्रेमा
श्रीआचार्यजी अपुने सान्निध्य मात्र करि श्रीकृष्णप्रेमको दान करिवेवारे हें.

जो वस्तु स्वयं सम्पूर्ण होई सो वस्तु ओरनकु आप देइ सके. श्रीमहाप्रभुजी आप तो भावरससों पूर्ण हें तासों ओरन्हुकों अपने सान्निध्यमात्र करि श्रीठाकुरजीके प्रेमको दान करत हें, नाहिं तो न होई. सो यह जतायवेकुं यह नाम कहे जो व्रजभक्तन् सहित फलरूप श्रीपूर्णपरुषोत्तम हें तिनमें प्रेमरसको दान करत हें.

तहां कहत हें जो श्रीकृष्णके प्रेमरसको दान करत हें तामें कहा कारण हे? यह सन्देह दूर करिवेकुं यह नाम कहत हें:

विमुक्तिदः

श्रीठाकुरजीको साक्षात् सम्बन्ध, जो पुष्टिमार्गीय मुक्ति हे, ताके देनवारे हें.

तहां कहत हें जो जेसे मर्यादामारगमें सायुज्य मुख्य फल हे ता भांति पुष्टिमारगमें श्रीठाकुरजीको सम्बन्ध मुख्य हे. ओर जे मुक्त भये तिनकुं फेरि संसार न होइ ताही भांति साक्षात् सम्बन्ध जे पाये तिनकों फेरि संसार कबहु नहीं होय हे यह जताये.

अब कहत हें जो श्रीआचार्यजी पुष्टिमार्गके फलको सर्व मार्गनके फलतें अधिक प्रमाणपूर्वक निरूपण किये हें सो कहत हें :

रास-लीलैक-तात्पर्यः

रासलीलामें ही मुख्य अभिप्राय हे एसे श्रीआचार्यजी हें.

यदि मुक्ति पुष्टिमारगके फलतें अधिक होई तो श्रीठाकुरजी पहले रासक्रीड़ा करि पाछें ब्रह्मानन्दको अनुभव करावते अरु श्रीभागवतमेंहु तेसें ही वर्णन करते. परि एसो नाहीं किये. तासों स्वरूपानन्दको अनुभव करनो ब्रह्मानन्द अरु मुक्ति तेंहु अधिक हे. तातें येही मुख्य-अधिक फल हे. तातें रासलीलामेंही श्रीमहाप्रभुजीको मुख्य अभिप्राय हे यह जतायवेकुं यह नाम कहे.

अब श्रीआचार्यजी ओर प्रकारतें हु पुष्टिमार्गको फल अधिक जताये हें ताकेलिये अगलो नाम कहत हें:

कृपया एतत्-कथा-प्रदः

कृपा करिके आप रासलीलाकी वार्ताको अनुभव करावनवारेहें.

जिन सेवकनके ऊपर कृपा करि आप रासलीलाकी वार्ताको अनुभव करावत हें तिनको अनुभव होइ. ओर जहां कृपा बिना कहत हें तहां अर्थानुभव नाहिं होत हे. तो सेवकनको जब रासलीलाको अनुभव कहत हें तब यों जानत हें जो पुष्टिमारगको फल बड़ो हे. तब सेवकनको संयोग ओर वियोग दोऊ रसनको अनुभव होत हे॥17॥

विरहानुभवैकार्थ-सर्वत्यागोपदेशकः॥
भक्त्याचारोपदेष्टा च कर्ममार्गप्रवर्तकः॥18॥

रासलीलाके अनुभवके दानसों प्रभुके संयोग-वियोग दोउ रसनको अनुभव यद्यपि भक्तनको होत हे तथापि केवल विप्रयोगमें वाकी भांति-भांतिकी अवस्था जो कबहुक विकलता होइ, कबहुक भगवद्रूप होइ विलाप करे इत्यादिको अनुभव भक्तनको करायवेके तांई "सब वस्तुनको त्याग करो" एसे उपदेश करत हें:

विरहानुभवैकार्थ-सर्वत्यागोपदेशकः

जा पुष्टिमार्गीतें घरमें भगवत्सेवा नाहीं बनी सकत वाकों भगवद्विप्रयोगानुभवमें प्रतिबन्धक एसे गृहादिकनको त्याग करिवेको उपदेश करिवारे श्रीआचार्यजी हें.

सो काहेतें? जो (प्रतिबन्ध करिवेवारे) घरमें रहेते तो सो अवस्था नाहिं होयगी. ताहीतें त्यागको उपदेश करत हें. ओर श्रीमहाप्रभुजी आपु जो मर्यादा बांधी हे ताही रीतिसों जो रहे तो एसो भाव होय यह हु जताय.

अब भक्तिमार्गके सेवकनमे स्थिरता होइ ताकेलिये भक्तिमार्गको उपदेश देत हें यह जतायवेकेलिये नाम कहत हें:

भक्त्याचारोपदेष्टा

भक्तिमार्गके आचारको उपदेश करिवेवारे आप हें.

भक्तिमार्गको आचार कहा? जो श्रीठाकुरजीसूं कछु फलवाञ्छना नाहिं करनी ओर श्रीठाकुरजीकु ही फलरूप जानिके सेवा करनी इत्यादि जो भक्तिमार्गको आचार हे तिनको उपदेश करनवारे हें. ओर उपदेशहु आप स्वयं आचरण करिके करनवारे हें यह जताइवेकुं यह नाम कह्यो.

कर्म-मार्ग-प्रवर्तकः

श्रीआचार्यजी कर्ममार्गकेहु प्रवर्तक हें.

अभिप्राय यह हे जो यदि आप अपने सेवकनकु केवल भक्तिमार्गको ही उपदेश करते, वर्णाश्रमधर्म छुड़वाइके, तो सेवकनको तो फल होइ जातो परि जे बहिर्मुख हें तिनकों या मार्गमें दोषबुद्धि आवती जो "ब्राह्मण या मार्गमें आयेते अपनो धर्म छांड़िके शूद्र होइ जात हें"——या भांतिसो बहिर्मुखनकु दोषबुद्धि आवती. परि भक्तिमार्ग तो

निर्दोष हे. परि जेसे काहुकु दोषबुद्धि न आवे तेसें कर्ममार्गकोहु आपु उपदेश कियो जो सब कोइ अपनो कर्म करो; ओर छांड़ो मति. यह जतायवेकुं यह नामकहे॥18॥

यागादौ भक्तिमार्गैक-साधनत्वोपदेशकः॥
पूर्णानन्दः पूर्णकामो वाक्पतिर् विबुधेश्वरः॥19॥

अब कहत हें जो श्रीमहाप्रभुजीने अपने सेवकनके भक्तिमार्ग सम्बन्धि सब अपराध दूरि करिवेके अर्थ अरु अपने सेवकनको यागादिके वास्तविक स्वरूपको ज्ञान करायवेके अर्थ यज्ञ किये. सो नाम कहत हें:

यागादौ भक्तिमार्गैक-साधनत्वोपदेशकः

यज्ञ-यागादि कर्म भक्तिमार्गमें आवते प्रतिबन्धनको दूरि करिवेवारे हें (ऐसं विनके साधनपनेको उपदेश करिवेवारे).

भक्तिमारगमें दोइ बड़े अपराध हें: एक तो श्रीठाकुरजीकुं छांड़िके ओर देवताको सम्बन्ध ओर 2.पुष्टिमारगके फलके पायवेमें प्रतिबन्ध जाते फलसिद्धि न होइ. सो श्रीमहाप्रभुजी आप यज्ञ किए सो कोन भांतिसों जो यज्ञमें सब देवतानकु श्रीठाकुरजीकी विभूति जानिके ओर अंश-सेवक जानिके यज्ञभाग दिये हें. तातें आगेहु जो कोउ यज्ञ करे सो इन्द्रादिक जे यज्ञनमे देवता हें तिनकुं श्रीठाकुरजीकी विभूति अंश-सेवक जानिके आदर सन्मान करे, परि स्वतन्त्र न जानें. या करिके अन्याश्रय दूरि किये. ओर आपु यज्ञादिको फल येही विचारे जो भक्तिमार्गकों पाइवेमें जितनो प्रतिबन्ध हे सो सब दूरि होइगो. ताकरिके सेवकनकोहु शिक्षा दिये जो तुम यज्ञ-दानादि करिवेमें ओर फल विचारोहु मति. यही विचार्यो करो जो भक्तिमार्गको फल पाइवेमें यातें प्रतिबन्ध दूरि होंइगे. यह जतायवेकुं यह नाम कहे.

यद्यपि श्रीआचार्यजी यज्ञादिकर्म स्वीय शिष्यनकु शिक्षा देयवेके अर्थ करे तथापि कोई बहिर्मुखकुं एसी शङ्का होय जो वेदमें यज्ञको फल तो स्वर्गलोककी प्राप्ति कही हे तो आप जो यज्ञ किये सो स्वर्गलोकके पाइवेकेलिये किये होइंगे? सो एसी शङ्का दूरि करिवेकों यह नाम कहत हें:

पूर्णानन्दः

आप पूर्ण-अगणित आनन्दवारे हें.

आप तो पूर्णपुरुषोत्तमके आनन्दसों सम्पूर्ण हें. सो स्वर्गादिकमें जो आनन्द हे सो तो पुरुषोत्तमके आनन्दको अंश मात्र हे. ताहीतें आपकुं वाकी वाञ्छना नाहिं हे. तातें आपने यज्ञादि स्वर्गलोक पाइवेकुं नाहिं किये.

तहां कोइ कहे जो स्त्री-पुत्रादिक पाइवेकुं यज्ञादिक किये होंइगे? यह शङ्का दूरि करिवेकुं यह नाम कहे:

पूर्णकामः

लोकमें वाञ्छित जो पुत्रादिकनको सुख सोऊ श्रीमहाप्रभुजीकों सबतें अधिक प्राप्त हे.

सो कौन भांति? जो श्रीअक्काजी सरिखे पत्नि ओर श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी सरीखे आपके पुत्र हें. तातें लौकिक
सुखकेलिये यज्ञ-यागादि नाहिं किए किन्तु भक्तनको शिक्षा देयवेकेलिये यज्ञ-यागादि किये हें. शिक्षा कहा? जो यज्ञादि तो करो परि भक्तिमार्गकि फलमें आवते प्रतिबन्ध हें तिनकुं दूरि करिवेकुं करो.

श्रीआचार्यजी जब ओरन्हुकी कामना पूरण करनवारे हें तो आपुहु पूर्णकाम होइंगेही वामें कहा कहनो! यह जतायवेकुं यह नाम कहे.

वाक्पतिः

श्रीमहाप्रभुजीके सेवक दोइ भांतिके हें. कितनेकनकु सेवा-कथा करत कर्ममेंहु मनवारे हें ओर कितनेक एसे हें जो तिनकों केवल सेवा-कथामें ही मन हे. श्रीमहाप्रभुजी विन सबनको मनोरथ पूरण करत हें. जे सेवक यज्ञादिक करत हें तब सब होमद्रव्यको अङ्गीकार आप करिके सेवकके मनोरथ सिद्ध करत हें. काहेतें? जो आप प्रभुके मुखारविन्दस्थानी अग्निस्वरूप हें. याहीतें जब ओरनके मनोरथ पूरण करत हें तब आपुन पूरण मनोरथ होइगें वामें कहा कहनो!

तहां अब ओरहु आगे कहत हें जो जिन सेवकनको ज्ञानमें मन हे तिनहुकुं फल आपही देत हें. यह जताइवेकुं अब यह नाम कहत हें:

विबुधेश्वरः

भक्तिमारगीय जे ज्ञानी हें तिनकुं श्रीठाकुरजीके स्वरूपको ज्ञान देनवारे श्रीमहाप्रभुजी हें यह जताइवेकुं यह नाम कहे॥19॥

कृष्णनामसहस्रस्य वक्ता भक्तपरायणः॥
भक्त्याचारोपदेशार्थ-नानावाक्यनिरूपकः॥20॥

अब कहत हें जो श्रीठाकुरजीके स्वरूपको ज्ञान श्रीआचार्यजी कौन रीतिसों देत हें? सो कहत हें:

कृष्ण-नाम-सहस्रस्य वक्ता

कृष्ण जे मूलरूप पूर्णपुरुषोत्तम तिनके सहस्रनामके प्रगट करनवारे आप हें.

तहां यह पूर्वपक्ष होय जो श्रीठाकुरजीके हजार नाम तो वैशम्पायनादिकहु किये हें? तहां कहत हें, परि वेद पुराणनमे प्रसिद्ध नाम ते कहे हें; ओर आप तो फलरूप, श्रीभागवतमें जिनको निरूपण हे एसे, पूरणपुरुषोत्तमके लीलासहित नामनको निरूपण किये हें; ओर कोऊ नाहिं किये. यासूं यह नाम कहे.

दशविधलीलान्सों विशिष्ट श्रीकृष्णके हजार नामनको कथन क्यों आवश्यक हतो सो कहत हें:

भक्त-परायणः

यदि श्रीआचार्यजी श्रीकृष्णके हजार नाम प्रगट न करते तो सेवकनको श्रीभागवतके अर्थको ज्ञान न होतो! तब आप जीवनके हित करनवारेहु न कहवावते. ओर जब यह हजार नाम प्रगट किये तब सब सेवक श्रीभागवतको अर्थ जाने. ता पाछें भक्तकुं ज्ञान भयो ओर फल सिद्ध भयो हे. यह जतायवेकुं यह नाम कहे.

तहां अब ओर हु आगे स्वप्रकटित भक्तिमार्गको आचरण जताइवेकुं आपको नाम कहत हें:

भक्त्याचारोपदेशार्थ-नाना-वाक्य-निरूपकः

भक्तिमारगको आचरण जो सेवादिक ताके उपदेशकेलिये नवरत्न, भक्तिवर्धिनी इत्यादिक ग्रन्थ प्रगट किये हें एसे श्रीमहाप्रभुजी आप हें.

पूर्वमें यद्यपि “भक्त्याचारोपदेष्टा” नाम कह्यो हे परि वहां मात्र आचारके उपदेश करिवारे कहे हें. या नाममें वासूं अधिक आचारके निरूपण करिवारे ग्रन्थनके उपदेशक आपकु कहे हें. तासूं पुनरुक्ति दोष नहीं बिचारनो॥20॥

स्वार्थोज्झिताऽखिलप्राण-प्रियस्तादृशवेष्टितः॥
स्वदासार्थकृताऽशेषसाधनः सर्वशक्तिधृक्॥21॥

अब कहत हें जो आपके सेवक**नने** भक्तिमारगके आचार जानिके, आनन्दयुक्त होइके कहा किये? सो कहत हें

स्वार्थोज्झिताखिल-प्राण-प्रियः
श्रीआचार्यजीकी सेवाके काज अरु अपने उद्धारकेलिये भक्तिमार्गसों विरोधी सब पदार्थ जे छांडे हें एसे सेवकनकु आप प्राणहुते प्रिय हें.

श्रीआचार्यजी अपने सेवकनके प्राणप्रिय हें यह क्यों जानि पड़े? सो जतायवेकुं यह नाम कहत हें:

तादृश-वेष्टित:
श्रीआचार्यजीकी सेवाके काज सब वस्तु छांडि हे एसे जे सेवक हें तिनसों आप सदाही घिरेही रहत हें एसे आप हें.

अब कहत हें जो ब्राह्मणादिक सेवक जब आसक्ति करिके प्रभुसेवा करत हें तब तिनकुं कर्म करिवेकुं समय तो नाहिं सधतो होइगो! तहां कहत हें जो वे दोष आपुही दूरि करि देत हें. यह जताइवेकुं कहत हें:

स्व-दासार्थ-कृताऽशेष-साधनः
जे सेवक प्रभुसेवामें आसक्त होइके सेवा करत हें तिनकुं अपने कर्मको समय तो नाहिं सधत हे, तब दोष लगत हे. सो आपही कर्मको समय साधत हें. ता करिकें वे

दोष दूरि करतहें.

अब कहत हें जो भगवद्भक्तकुं कर्म करिवेको कहा काम? काहे कर्म न छांडि देनो? सो यह सन्देह दूरि करिवेकुं कहत हें जो आपुन कर्म किये हें ता करि यह जताय जो मेंहु कर्म करत हुं. यातें कोउ कर्म छांड़ो मति. सेवा करिके जब अवकास पाओ तब कर्म करो, यह उपदेश करत हें.

तहां यह पूर्वपक्ष होइ जो श्रीआचार्यजी कर्मको समय साधिके जीवनके दोष केसे दूरि करत होइगें? तहां कहत हें:

सर्व-शक्ति-धृक्

श्रीआचार्यजी सर्वशक्तिमान् हें तासों सर्व शक्तिनको निग्रह करिवेमें समर्थ हें

आप साधन करिके सेवकनके दोष केसे निवृत्त करत होंइगे एसी शङ्का नाहिं करनी. क्यों? जो आप सर्वशक्तिमान् हें तासों सर्वशक्तिनको निग्रह करिवेमें समर्थ हें॥21॥

भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत् पिता॥
स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्यः स्मयापहः॥22॥

अब कहत हें जो आप विचार किये जो अपनी प्रागट्यदशामें सबनकु उपदेश करिके भक्तिमार्गको प्रचार तो किये हें परि आगे मेरी परोक्षदशामें भक्तिमार्गको प्रचार जीवनमे क्यों कर होइगो?यह बिचारिके श्रीगोपीनाथजी ओर श्रीगुसांईजी कुं प्रगट किये. सो कहतहें:

भुवि भक्ति-प्रचारैक-कृते स्वान्वय-कृत्

आगे भूमिपें भक्तिमार्गके प्रचारकेलिये अपने पुत्र श्रीगोपीनाथजी ओर श्रीगुसांईजी के प्रगट करनवारे हें. सो एसे आप परम दयालुहें.

विद्यादाता, आश्रयदाता, भयमुक्त करिवेवारे हु पितातुल्य कहवावत हें. सो एसे प्रकारान्तके पितृत्वको वारण करिवेकों आगेको नाम कहत हें:

पिता

श्रीआचार्यजी श्रीगुसांईजी-श्रीगोपीनाथजीके जनक पिता हें.

तहां यह पूर्वपक्ष होय जो पिताके समान यदि पुत्र न होइ तो पिताको काज पुत्रसूं केसे कियो जाइ? सो श्रीगुसांईजी आप पितातुल्य न होइ तो आगे भक्तिमार्गको प्रचार केसे होइ? तासों अब कहत हें:

स्व-वंशे स्थापिताऽशेष-स्व-माहात्म्यः

श्रीआचार्यजी आप केसे हें? जो अपनो सब माहात्म्य——सब धर्म अपने पुत्रनमे राखे हें. तातें जेसे श्रीआचार्यजी आप हें तेसेइ आपके पुत्र हें. तिनमें भेद नाहिं जाननो.

अब कहत हें जो श्रीआचार्यजी आपने-अपने पुत्रनमे अपनेसब धर्म राखे यह बड़ो आश्चर्य हे! यह सन्देह दूर करिवेकुं कहतहें:

स्मयापहः

सब आश्चर्यके दूरि करनवारे श्रीआचार्यजी आप हें. तातें आश्चर्य नाहिं करनो. तातें यह नाम कहे॥22॥

पतिव्रतापति पारलौकिकैहिकदानकृत्।
निगूढहृदयोऽनन्यभक्तेषु ज्ञापिताशयः॥23॥

पतिव्रतापतिः

तहां सन्देह होइ जो आश्चर्य नाहिं करनो इहां कारण कहा? तहां कहत हें जो लोकमें पुत्रके गुणनमे पिता-मातातें जो घटती देखियत हें सो पिता-माताके दोषसूं. क्वचिद् पिता निर्दुष्ट होय किन्तु माता दुष्ट होइ तोहु पुत्रमें दोष होत हे. परि इहां तो श्रीआचार्यजी आप श्रीठाकुरजीके मुखारविन्दरूप हें ओर आनन्दरूपहु हें. ताही भांति श्रीअक्काजीहु आनन्दरूप हें. तातें इनतें प्रगट भये श्रीगोपीनाथजी ओर श्रीगुसांईजी हु श्रीआचार्यजीके समान हें यह जाननो. ओर लौकिकमें पिता-माता उत्तम रहतहु क्वचित् पुत्र बुरो होइ एसो देखिवेमें आवत हे. तहां जीवको अदृष्ट निमित्त जाननो. सो तो श्रीगोपीनाथजी अरु श्रीगुसांईजी में सम्भवे नाहिं. सो काहेतें? जो अदृष्ट तो जीवकुं लगे परि ईश्वरकुं नाहिं लगे. श्रीगोपीनाथजी अरु श्रीगुसांईजी तो ईश्वर हें. ताहीते श्रीगोपीनाथजी ओर श्रीगुसांईजी पिताके समान हें, विनमें भेद नाहिं.

अब कहत हें जेसे लोकमें पतिव्रता पत्नीको पति अपनी पत्नीपे अनुराग राखत हे वेसेही श्रीमहाप्रभुजी आपु भक्तिमारगको आचरण करवेवारे पतिव्रताके पति हें ओर विनके ऊपर अनुराग राखत हें.

या तरहसूं श्रीआचार्यजीके वंशकी श्रीआचार्यजीके सङ्ग तुल्यताको निरूपण करिके स्वीय जननको ऐहिक-पारलौकिक सर्व फल देयवेवारे हु आप ही हें सो कहत हें:

पार-लौकिकैहिक-दान-कृत्

भगवत्सम्बन्ध जासूं सिद्ध होय एसो ऐहिक ओर पारलौकिक फलको दान करिवेवारे श्रीआचार्यजी हें.

अदृष्ट आदिसूं (अथवा भगवत्सम्बन्ध रहित लौकिक विचारसूं करे जाते धर्मादि पुरुषार्थसूं) जो स्त्री-पुत्र-धनादिक प्राप्त होत हें ते श्रीठाकुरजीके सम्बन्धी नाहिं होत हें. ओर श्रीमहाप्रभुजी आप (भक्तिमार्गीय पुरुषार्थको चतु:श्लोकी, भक्तिवर्धिनी, निरोधलक्षण, निबन्धादि ग्रन्थन्द्वारा बोध कराइके अलौकिक-भगवत्सम्बन्धि धर्मादि पुरुषार्थसूं) जो दान करत हें सो तिनको विनियोग श्रीठाकुरजीमें होत हे, सो भगवदीय होत हें. ओर जो कोइ यों कहे के उत्तम अदृष्ट(पुण्य)सूं तीर्थवास होइके वा तीर्थमें ही मरण होयवे पर उत्तम पारलौकिक फल मिलत हे, एसे ही उत्तम अदृष्टसों पशु-पुत्रादिरूप ऐहिक फल हु मिलत हे. सो ताको समाधान ये जाननो जो भगवत्सम्बन्ध जासूं सिद्ध होय एसो ऐहिक ओर पारलौकिक फल तो श्रीआचार्यजी ही देइ सके हें.

एसो फल श्रीआचार्यजी आप कब देइंगे? ओर कोन प्रकार देइंगे? यह सन्देह दूरि करिवेकुं कहत हें:

निगूढ-हृदयः

श्रीआचर्यजीको हृदय अत्यन्त गूढ हे.

श्रीआचार्यजी आप ईश्वर हें. ताहीते इनको हृदय जानिवो अशक्य हे. परि आप परमदयाल हें. तातें फलदानमें सन्देह नाहिं करनो. परि फल कब देइंगे यह जानि नाहिं परत हे.

तहां यह सन्देह होइ जो श्रीआचार्यजी अपनी इच्छा कोउ सेवकसों नाहिं कहत हें के कोउकों जतावत हें? तहां कहत हें:

अनन्य-भक्तेषु ज्ञापिताशयः

पद्मनाभदास प्रभृति सरिखे अनन्य अन्तरङ्ग भक्तमें अपनो अन्तःकरण जिन जतायो हे एसे श्रीआचार्यजी आप हें॥23॥

उपासनादि-मार्गाति-मुग्ध-मोह-निवारकः॥
भक्तिमार्गे सर्वमार्ग-वैलक्षण्यानुभूतिकृत्॥24॥

अब कहत हें जो कबहुक श्रीआचार्यके सेवक पूजामार्गीयनको सङ्ग करिके जानें जो पूजामार्ग ओर भक्तिमार्ग एक हे. सो काहेतें? जो सेवा दोउ ठोर हे. सो तासों पूजामार्गमें भ्रमित भये जीवकुं आप अपने मार्गको निरूपण करिके वा मार्गमेंते काढिके फेरि अपने मार्गमें लावत हें. सो कहत हें:

उपासनादि-मार्गाति-मुग्ध-मोह-निवारकः

पूजामार्ग आदि मार्गनकु विनमार्गके लोगनके सङ्गतें भक्तिमार्ग समजिके जो स्वमार्गीय शिष्य विन मार्गमें प्रवृत्त होत हें तिनकुं आप भक्तिमार्गको निरूपण करि फेरि अपने मार्गमें लावत हें.

तहां पूर्वपक्ष होय जो भक्तिमार्गको निरूपण मात्र करिके सेवकनको अज्ञान केसे दूरि होत हे? तहां कहत हें:

भक्ति-मार्गे सर्व-मार्ग-वैलक्षण्यानुभूतिकृत्

श्रीआचार्यजी अपुने सेवकन्सों भक्तिमार्गको निरूपण करत हें ओर दूसरे मार्गनकी अपेक्षा भक्तिमारगकी न्यारी रीत अरु उत्तमता को अनुभव करावत हें.

सो कोन भांति? जो पूजामार्गमें जा देवताकी पूजा करियत हें सो देवता मन्त्रके आधीन होत हें, वे श्रीठाकुरजीकी विभूति हें, पूरणपुरुषोत्तम नाहिं. ओर भक्तिमार्गमें सेव्य श्रीपुरुषोत्तम हें सो मन्त्रके आधीन नाहिं हें केवल भक्तिके अधीन हें. तातें “तू भक्तिमारग छांडिके पूजामारगमें क्यों गयो? फेरी भक्तिमारगमें आउ!” सो या भांति सेवकनकु अपने मारगमें लावत हें. सो यह जतायवेकुं यह नाम कहे॥24॥

पृथक्-शरण-मार्गोपदेष्टा श्रीकृष्ण-हार्दवित्॥
प्रतिक्षण-निकुञ्जस्थ-लीला-रस-सुपूरितः॥25॥

अब कहत हें जो शरणमार्गको पर्यवसानहु पुरुषोत्तममें बतायो हे सो कहा शरणमार्ग ओर भक्तिमार्ग एक ही हे? सो कहतहें:

पृथक्-शरण-मार्गोपदेशष्टा

न्यासादेश आदि ग्रन्थन् द्वारा भक्तिमार्गसूं पृथक् शरणमार्गको उपदेश करिवेवारे श्रीआचार्यजी हें.

शरणमार्गहु दोइ भांतिको हे: एक पुष्टिमारगीय ओर दूसरो मर्यादामारगीय. तब पुष्टिमारगीय कोनसो? सो कहत हें जो इन्द्र व्रजमें वर्षा किये तब व्रजवासी श्रीठाकुरजीकी शरणमें आये सो वह शरणमार्ग पुष्टिमार्गीय हे. तब जे शरण आये तिनको आप अङ्गीकार करि श्रीगोवर्धन धारण करि रक्षा किये ओर सात दिन तांइ स्वरूपानन्दको अनुभव कराये. ओर जे शरणमार्गको फल मुक्ति मिलत हे सो मर्यादामार्गीय शरणमार्ग कह्यो जाता हे. तातें श्रीआचार्यजी महाप्रभु या भांतिसो न्यारे-न्यारे शरणमार्गको उपदेश करे हें यह जतायवेकुं ये नाम कहे.

शरणमार्ग पुरुषोत्तम पर्यवसायी होयवे पर हु वाको भक्तिमारगसों भिन्न निरूपण क्यों किये? सो कहत हें:

श्रीकृष्ण-हार्द-वित्

फलात्मक एसे श्रीकृष्णके अभिप्रायकुं जानिवेवारे श्रीआचार्यजीहें.

श्रीठाकुरजी जीवको अधिकार देखिके मारगको उपदेश करत हें. अतएव अर्जुनको मर्यादापुष्टिमें अधिकार हतो तातें उपदेशहु वेसो किये. सो कौन भांति? जो अर्जुनसों यों कहे जो “तू मेरी शरण आव, में तेरे पापनकु दूरि करूंगो” सो ये मर्यादामारगको अंश हे. सो काहे? जो शरण आयेको कछु (अधिक) फल नाहिं, केवल पाप दूरि होइंगे, तातें मर्यादाको अंश. ओर या पापको फल जो शोक; वाकों दूरि करिवेमें साधन आपु ही बनेंगे एसे कही अपनी शरण बुलाये सो यह पुष्टिमार्गको अंश हे. तातें अर्जुनको जेसो अधिकार देखें तेसो उपदेश किये. ओर व्रजवासीनको उत्तम अधिकार देखि उनकों अपनी शरण बुलाइ स्वरूपानन्दको अपनो अनुभव कराये ओर अर्जुनकों युद्ध करिवेकी प्रेरणा दीनी. यह सब श्रीठाकुरजीके अभिप्रायके जाननवारे श्रीमहाप्रभुजी हें तातें यह नाम कहे.

श्रीमहाप्रभुजी यह जानें जो श्रीपूरणपुरुषोत्तमको मन तो व्रजभक्तन्सों लीलारसमें मग्न रहत हे तातें आपहु लीलारसमें मग्न रहत हें. यह जतायवेकुं यह नाम कहत हें:

प्रति-क्षण-निकुञ्ज-स्थ-लीला-रस-सुपूरित:

प्रतिक्षण निकुञ्जस्थ जे श्रीपूरणपुरुषोत्तम तिनकी जो व्रजभक्तनके साथ लीला ताके रससूं बाहिर-भीतरसों जे पूर्ण हें एसे श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप हें॥25॥

तत्कथाक्षिप्तचित्तस् विस्मृतान्यो व्रजप्रिय:॥
प्रियव्रजस्थिति: पुष्टि—लीलाकर्ता रहःप्रिय:॥26॥

तहां यह सन्देह होइ जो रस यदि हृदयमें पूरण होइगो तो भक्तनको बाहिर केसे जानि पड़ेगो? यह सन्देह दूरि करिवेकुं यह नाम कहे:

तत्-कथाक्षिप्त-चित्त:

रासलीलाकी रसवार्तामें भलीभांति पिरोयो हे मन जिनको एसे श्रीआचार्यजी आप हें.

एसी भगवत्कथामें चित्तवारे होइवेसों निरन्तर अपने निज सेवकन्सों रसवार्ता कहत हें. तातें सेवक जाने हें जो आप लीलारससों पूरण हें. ओरहु कहत हें जो पूर्णपुरुषोत्तमकी एक संयोगलीला हे ओर एक वियोगलीला हे. सो जब आप संयोगसूं पूर्ण होत हें तब बाहिर-भीतर सम्पूर्ण हें ओर लीलाको अनुभव करत चेनसूं बैठे रहत हें. ओर वियोगलीलारससूं जब पूर्ण होत हें तब रह्यो न जाय. तातें रसवार्ता सबन्सों कहि कालनिर्वाह करत हें. तब सेवक जानत हें जो आप वियोगरससों पूर्ण केवल आनन्दरूप हें.

अब कहत हें जो आप रसकी कथा कहत हें तो कहा ओरवार्ता करत नाहिं? सो यह सन्देह दूरि करवेकुं यह नाम कहतहें.

तद्विस्मृतान्य:

रासलीलाकी रसवार्ता करि भूले हें रसविरुद्ध सगरे पदार्थ जिननें एसें श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप हें.

या करि यह जताये जो जिन वस्तून्सूं लीलाकी सुधि न आवे सो आपकों वस्तु प्रिय नाहिं.

सो क्यों जानिये सो कहत हें:

व्रज-प्रिय:
व्रज हे प्रिय जिनकों एसे आप हें. या करि यह जताये जो व्रजकों देखिके लीलाकी बहोत सुध आवति हे. तातें व्रज प्रिय लागत हे.

अब कहत हें जो व्रज प्रिय हे यह क्यों जानि परे? सो कहत हें:

प्रिय-व्रज-स्थिति:
प्रिय हे व्रजमें स्थिति जिनकुं एसे आप हें.

व्रज यदि प्रिय न होइ तो उहां स्थिति न करें. या करि यह जताये जो व्रज बहोत प्रिय हे.

तहां यह सन्देह होइ जो व्रज प्रिय हे परि उहां स्थिति करिवेको प्रयोजन कहा हे? यह सन्देह दूरि करिवेकेलिये आपको यह नाम कहत हें:

पुष्टि-लीला-कर्ता
श्रीठाकुरजी जे रासलीला किये सो व्रजहीमें किये. यह जानि श्रीआचार्यजी महाप्रभु व्रजहीमें रहे. आपहु रासलीलाको अनुभव करत हें ओर सेवकनकोहु रासलीलाको प्रकार जनावत हें. यह जनाइवेकुं यह नाम कहे.

रह:-प्रिय:
एकान्त हे प्रिय जिनकों एसे श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप हें.

काहेतें? जो रासलीलाको अनुभव एकान्तहीमें होइ. यातें एकान्त बोहोत भावत हे॥ 26॥

भक्तेच्छापूरकसर्वा—ज्ञातलीलोऽतिमोहन: ॥
सर्वासक्तो भक्तमात्रासक्त: पतितपावन:॥27॥

अब कहत हें जो सेवकनको कबहुंक श्रीठाकुरजीकी पुष्टिलीला जानिवेकी आर्ति देखिके आपुनही उनसों पुष्टिलीला कहि उनकी आर्ति दूरि करत हें. यह जतायवेकेलिये यह नाम कहत हें:

भक्तेच्छा-पूरक:
भक्तनकी इच्छा पूरन करनवारे श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप हें.

अब कहत हें जो पुष्टिलीला जानिवेकी भक्तनकी आरतिकुं देखिके जेसे पुष्टिलीला कहि विनकी आरति दूरि करत हें ता भांति आपुनको होवते रसको अनुभवहु सेवकन्सों कहत होइंगे? तहां कहत हें:

सर्वाऽज्ञात-लील:
सर्व भक्तन् करिहु न जानी जात हे लीला जिनकी एसे श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप हें.

या करि यह जाननो जो आपुनको जा रसको अनुभव होत हे सो अपने सेवकन्हुसों नाहिं कहत हें, ओर प्रकार कहत हें.

अब कहत हें जो काहु सेवककों भाग्य करि यह मनोरथ होय जो आपु जा रसको अनुभव करत हें सो मेंहु जानुं तब वा सेवकहुको मनोरथ पूर्ण करत हें. यह जतायवेकुं यह नाम कहत हें.

अतिमोहन:
सेवककों कहिवे योग्य जे श्रीठाकुरजीकी लीला होंय सो वा भांतिसों कहत हें जो सुनत मात्रही रसको आवेश होत हे. ता करिके एसे मोहयुक्त होत हें जो यों जानत हें जो श्रीआचार्यजी महाप्रभु वार्ता कहि मेरो मनोरथ पूर्ण किये. सो या भांति सेवकनको अनुभव करावत हें.

तहां यह शङ्का होत हे जो पुष्टिभक्तनको रसानुभव करावत हें ओरसों नाहीं करावत हें तामें कहा हेतु? तहां कहत हें:

सर्वासक्त:
अपने सेवकन्तें जे ओर हें वे वा रसको अनुभव करिवे योग्य नाहीं हें तातें नाहिं करावत हें, विनकी उपेक्षा करत हें यह जतायवेकुं यह नाम कहें.

भक्त-मात्रासक्त:

केवल पुष्टिमारगीय भक्तनमे अतिकृपायुक्त हें. ताते उनकों रसको अनुभव करवावत हें, ओरनको नाहिं करवावत हें.

अब अपने सेवकन्पे अतिकृपा करत हें सो एक अन्य प्रकारतें कहत हें:

पतित-पावन:
अपने पुष्टिमार्गीय जे पतित तिनकों पवित्र करनवारे आप हें.

तहां यह पूर्वपक्ष होइ जो पुष्टिमार्गमें पाप कहा हे? सो कहत हें जेसे मर्यादामार्गमें वर्णधर्म-आश्रमधर्मसों विरुद्ध आचरण करे सो 'पतित' कहवावे ता भांति पुष्टिमार्गमेंहु जो आचरण कहे हें तासूं विरुद्ध आचरण करे तथा ओर(अन्य) मारगको आचरण करे सो 'पातकी' कहवावे. तातें एसेनकु आप कहे हें जो "अरे! भक्तिमार्गके आचरणको छांड़िके तू ओर आचरण क्यों करत हे?" या भांतिसो उपदेश करिके फेरि भक्तिमार्गको आचरण करवाइ पतितनको उद्धार करत हें. तासों यह नाम कहे॥27॥

स्वयशोगानसंहृष्ट-हृदयाम्भोज-विष्टर:॥
यश:पीयूषलहरी-प्लावितान्यरस: पर:॥28॥

अब कहत हें जो अपवित्रनको पवित्र करिवेको सामर्थ्य हे यों कहे सो क्यों जानि पड़े? तहां कहत हें:

स्व-यशोगान-संहृष्ट-हृदयाम्भोज-विष्टरः
श्रीआचार्यजी महाप्रभुके यशको गान करि अति आनन्दित जे भक्त, तिनके भक्तिमार्गीय हृदयकमल आसन हें जिनके एसे श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप हें.

याको अभिप्राय यह हे जो आप भक्तनके पाप दूरि करत हें तासों भक्तनके मनमें आपको यश आवत हे. तब सब सेवक आनन्दयुक्त होत हें. एसे सेवकनके हृदयमें आप सदा बिराजे हें.

तहां यह पूर्वपक्ष होइ जो यह क्यों जानिये जो आपकी सेवकनके हृदयमें स्थिति हे? तहां कहत हें:

यश:-पीयूष-लहरी-प्लावितान्य-रसः
अपने यशरूपी अमृततरङ्गतें प्लावित करी न्यून करि दिये हें अन्य रस जिननें एसे श्रीआचार्यजी हें.

यदि सेवकनके हृदयमें आपकी स्थिति न होइ तो आप अपने रसरूपी अमृतके तरङ्गसों सेवकनके हृदयमें ओर रस भुलाय डारत हें सो बात न होइ. ओर याकों अमृत करिके कहे सो क्यों? तहां कहत हें जो जेसे स्वर्गमें देवतानको अमृतही जीवेको कारण हे ता भांति पुष्टिमार्गमें आपको यश भक्तनके जीवेको कारण हे.

तहां यह पूर्वपक्ष होइ जो आप अपने यश करि ओर सब यश भुलावत हें सो क्यो? तहां कहत हे:

पर:
श्रीआचार्यजी महाप्रभु केसे हें? अक्षरहुते पर हें, पुरुषोत्तमरूप हें. यातें अपने रस करि ओर रस भुलावत हें॥28॥

लीलामृत-रसार्द्रार्द्री-कृताखिल-शरीरभृत्॥
गोवर्धन-स्थित्युत्साहः तल्लीला-प्रेम-पूरित:॥29॥

अब कहत हें जो आप श्रीठाकुरजीकी लीलारूपी अमृतसों सेवकनके मनोरथ भलीभांति पूर्ण करत हें. यह जतायवेकुं यह नाम कहत हें:

लीलामृत-रसार्द्रार्द्री-कृताखिल-शरीरभृत्
श्रीठाकुरजीको लीलारूपी जो अमृतरस तासों भीजेहुते भक्तनको अति भीजे किये हें जिननें एसे आप हें.

तहां दोइ बार 'भीजे' कहे ताको अभिप्राय यह जो श्रीआचार्यजी महाप्रभूनकी कृपासों लीलारससूं भीजे जो सेवक हें वे अपने पास जे बैठत हें तिनहुंकों भगवद्ररससों आद्र करि देत हें. जेसे भीज्यो वस्त्र होय सो सूखे वस्त्रकों भीज्यो करे ता भांति. सो आपु अपने सेवकनको बाहिर-भीतरसों लीलारससों परिपूर्ण करत हें.

अब कहत हें जो श्रीआचार्यजी अपने सेवकनको अपनो प्रिय स्थल हु जनावत हें सो कहत हें:

गोवर्धन-स्थित्युत्साह:

श्रीगोवर्धन पर्वत समीप रहिवेको सदा उत्साह हे जिनको एसे आप हें.

श्रीगोवर्धन पर्वत समीप रहिके पर्वतको स्वरूपहु जताये जो रत्नमय गैरिकादिधातु(गेरु-सुवर्ण)मय लीलासृष्टिको स्वरूप एसो श्रीगोवर्धन पर्वत हे यह जताये. नाहिं तो पहेले कोउ जानत न हतो.

तल्लीला-प्रेम-पूरित:

गोवर्धनोद्धरणलीलाके रसतें आप पूर्ण हें.

श्रीठाकुरजी जब गोवर्धन धारण किये, तब इन्द्रके भयतें व्रजवासी शरणि आये तिनकों सब जीवन्तें न्यारे, अपने करि सात दिन तांइ भूख-प्यास सब दूरि करि स्वरूपानन्दको दान करि रक्षा किये. यह लीला करि प्रगट भये प्रेमसूं पूर्ण हें॥29॥

यज्ञभोक्ता यज्ञकर्ता चतुर्वर्गविशारद:॥
सत्यप्रतिज्ञ: त्रिगुणातीतो नयविशारद:॥30॥

यज्ञ-भोक्ता

श्रीआचार्यजी महाप्रभु आपु प्रभुके मुखारविन्दावतार अग्निस्वरूप हें तासों यज्ञीय हविको भोग करनवारेहु आपही हें. तातें 'यज्ञभोक्ता' पहले कहे.

तहां यह पूर्वपक्ष होइ जो पहले याग किये बिना यागको भोग क्यों सम्भवे? तहां कहत हें:

यज्ञ-कर्ता

जो गोवर्धनयज्ञ करवेकी आज्ञा ठाकुरजीके श्रीमुखतें प्रगट भइ हे ओर श्रीठाकुरजीके मुखारविन्दस्वरूप श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप हें ताते 'यज्ञकर्ता' यह नाम कहे.

तहां अब कहत हें जो श्रीगोवर्धनपूजामें सब व्रजवासीन्सूं पूजा कराय जो "तुम सब या गोवर्धनकी पूजा करो" ताकरिके सबनको सब पुरुषार्थ सिद्ध कियो. सो जताइवेकुं

यह नाम कहे:

चतुर्वर्ग-विशारद:
श्रीआचार्यजी पुष्टिभक्तिमार्गीय धर्मार्थ-काम-मोक्षके ज्ञाता हैं.

यद्यपि लोकमें तो चतुर्वर्ग करि 'धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' कहियत हें. परि व्रजवासीनको यह पुरुषार्थ चहिये नाहिं, एक श्रीठाकुरजीके स्वरूपको आनन्द चहिये, सो व्रजवासीनको स्वरूपानन्दको अनुभवकराये.

तहां अब कहत हें जो अपने सेवकनको पुष्टिमार्गीय धर्मार्थकाममोक्ष सिद्ध किये. ते धर्मादिक कोनसे? सो कहत हें—धर्म तो श्रीठाकुरजीकी सेवा, अर्थ तो श्रीठाकुरजीको स्वरूप, कामना तो श्रीठाकुरजीहीकी, मोक्ष तो अलौकिक देह पाइके व्रज भक्तनकी नांइ भजनानन्दको अनुभव करनो. जो ये पुरुषार्थको दान करत हें.

सत्य-प्रतिज्ञ:
यथार्थ हे प्रतिज्ञा जिनकी एसे आप हें.

जब श्रीआचार्यजी महाप्रभु श्रीठाकुरजीकी आज्ञातें पुष्टिमार्गको प्रागट्य किये तब श्रीठाकुरजी यह कहे जो या मार्गमें मेरे शरण आवे तिनको मैं पुष्टिमार्गीय पुरुषार्थ दान करि उद्धार करूंगो. यह जताइवेकुं यह नाम कहत हें.

तहां यह पूर्वपक्ष होइ जो अब तांइ सत्यप्रतिज्ञा तो काहुकी न देखी तो श्रीआचार्यजी महाप्रभुकी प्रतिज्ञा क्यों सत्य होइगी? यह सन्देह दूरि करिवेकुं यह नाम कहत हें:

त्रिगुणातीत:
श्रीआचार्यजी प्राकृत गुणन्तें रहित हें.

याको अभिप्राय यह जो जितने मनुष्य हें तिनकों मायाको सम्बन्ध हे, तातें दोषयुक्त हें. तातें उनकी प्रतिज्ञा सिद्ध नाहिं होत हे. ओर श्रीआचार्यजी महाप्रभु तो मायाके गुन करि रहित हें, यातें निर्दोष हें. तातें इनकी प्रतिज्ञाहु निर्दोष हे. यातें सत्य प्रतिज्ञा भई.

तहां अब कहत हें जिन जीवनके उद्धारकेलिये प्रतिज्ञा किये तिन जीवनको अपने मार्गकी रीति-मर्यादा जताइवेकेलिये अपने सिद्धान्तको जिनमें निरूपण हे एसे ग्रन्थहु

आपने किये यह जतायवेकुं यह नाम कहत हें:

नय-विशारद:

अपने सिद्धान्तनको शास्त्र, तिनके करिवेमें महानिपुन एसे श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप हें॥30॥

स्वकीर्तिवर्धन: तत्त्व-सूत्रभाष्यप्रदर्शक:॥
मायावादाख्यतूलाग्नि: ब्रह्मवादनिरूपक:॥31॥

स्व-कीर्ति-वर्धन:

श्रीआचार्यजी अपने सेवकनमे कीर्तिके बढ़ावनहारे हें.

अपने मार्गके ग्रन्थनको निरूपण किये तब सेवक बड़ाई करन लागे जो आपकी बराबरि कोउ नाहिं. तातें अपने सेवकनमे कीर्तिके बढ़ावनहारे एसे श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप हें.

अब कहत हें मायावादादि जो मतवाद, तिनके प्रगट करनवारे जो पण्डित तिनमेंहु अपनि कीर्ति बढ़ाये. सो नाम कहत हें:

तत्त्व-सूत्र-भाष्य-प्रवर्तक:

व्यासजीके जे सूत्र हें तिनके अर्थको निरूपण जामें हे एसो 'अणुभाष्य' ग्रन्थ ताके निरूपण करनवारे आप हें.

तहां पूर्वपक्ष होइ जो व्याससूत्रके अर्थ तो शमराचार्यादिकहु किये हें तो श्रीआचार्यजी महाप्रभुनमे अधिकता कहा हे? तहां कहत हें जो वेदमें श्रीठाकुरजीको रसात्मक साकार स्वरूप कह्यो हे. ता भांति व्याससूत्रको अर्थ शमराचार्यादिक नाहिं किये हें, आपुनेही मार्गकी रीतिसों निराकार स्वरूपको निरूपण किये हें, सो तो वेदविरुद्ध हे. ओर श्रीआचार्यजी महाप्रभु उत्तम रीतिसों निरूपण किये हें. यह जतायवेकुं यह नाम कहे. या करि पण्डितनमे हु अपनी कीर्ति बढ़ाई.

तहां कोइ कहे जो आज कलियुगमें मायावादके आगे सब शास्त्र दूषित होइ गये हें ता भांति अणुभाष्यहु दूषित होइ गयो? यह सन्देह दूरि करिवेकुं यह नाम कहत हें:

माया-वादाख्य-तूलाग्नि:
मायावादरूप रुइकी ढेरीके भस्म करनवारे अग्निरूप आप हें.

या करि जताये जो जेसे रुइकी बड़ी ऊंची ढेरी होइ सो रंचकहु अग्निके सम्बन्ध करि भस्म होइ जात हे ता भांति श्रीआचार्यजी महाप्रभु हें. सो अग्निरूप श्रीआचार्यजीके आगे मायावाद रंचकहु ठहरी सकत नाहीं.

तहां यह सन्देह होइ जो मायावाद कोन वाद लेके दूरि कियो? सो कहत हें:

ब्रह्म-वाद-निरूपकः
ब्रह्मवाद, जो जामें सब वस्तुकों सत्य (ब्रह्मात्मक) कह्यो हे, ता वादकों लेके मायावाद, जामें सब वस्तुनको मिथ्या कह्यो हे, ताकों दूरि किये॥31॥

अप्राकृताखिला-कल्प-भूषित: सहजस्मित:॥
त्रिलोकीभूषणं भूमि-भाग्यं सहजसुन्दर:॥32॥

अप्राकृताखिलाकल्प-भूषित:
अलौकिक जे आभूषण तिन करिके श्रीआचार्यजी भूषित हें.

सो अलौकिक आभूषण कौन? जो व्याससूत्रके चारि अध्याय हें प्रमाण, प्रमेय, साधन ओर फल. तिनमें जो चोथो अध्याय फलरूप, तामें भगवद्भावरूप अलौकिक आभूषण, तिन करि विभूषित हें श्रीआचार्यजी महाप्रभु. तहां कोइ कहे जो शमराचार्यादिकनेहु व्याससूत्रके चोथे अध्यायमें अपने मार्गकि फल कहे हें, परि जेसो कछू श्रीआचार्यजी महाप्रभु फलको निरूपण किये हें ता भांति ओर कोउ निरूपण नाहिं किए. तातें अलौकिक आभूषण करि आप युक्त हें. सो यह नाम कहे.

अब यह सन्देह होइ जो सेवकनको केसे जानि पड़े? सो जताइवेकुं अगलो नाम कहत हें:

सहज-स्मित:
भगवद्भावरूप अलौकिक आभूषण आप धारण किये हें तातें भावको जब स्मरण होत हे तब सहज मन्दहास्ययुक्त होत हें. ता करिके सेवकनको जानि पड़त हे जो आप अलौकिक भावयुक्त हें.

अब कहत हें जो श्रीआचार्यजी महाप्रभु सेवकनको शोभा करनवारे हें. यह जतायवेकुं ये नाम कहत हें:

त्रिलोकीभूषणम्

'त्रिलोकी' पद करि सत्वगुण, रजोगुण ओर तमोगुण सहित जे सेवक ते कहियत हें. त्रिलोकमें एसे सेवकनकी शोभा श्रीआचार्यजी महाप्रभुके सम्बन्ध करि हे, ओर भांति नाहिं. यह जतायवेकुं यह नाम कहे.

अब कहत हें जो श्रीआचार्यजीके चरणारविन्दके सम्बन्धतें भूमिहुको उत्कर्ष सिद्ध भयो. यह जतायवेकुं यह नाम कहत हें:

भूमि-भाग्यम्

भूमिके पूर्वपुण्य-फलरूप श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप हें.

याको अभिप्राय यह जो भूमिपे जो भक्त हें तातें ताविषे श्रीआचार्यजी महाप्रभु भक्तिमार्गकों प्रगट किये तब भूमिको परम आनन्द भयो जो मो ऊपर श्रीआचार्यजी महाप्रभुकी स्थिति हे. सो यह नाम कहे.

अब कहत हें जो या भांति अपने दर्शन देयकें सेवकनके भाग्यकुं बढायवेवारे श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप हें यह जतायवेकुं यह नाम कहत हें:

सहज-सुन्दर:

सेवकनकु श्रीआचार्यजी महाप्रभु अपने सहज स्वरूपके दर्शनकों उपजावनहारे हें, कृत्रिम नाहिं. या करि यह कहे जो भक्तनके भाग्यरूप श्रीआचार्यजी महाप्रभु हें॥32॥

अशेष-भक्त-सम्प्रार्थ्य-चरणाब्ज-रजो-धन: ॥

अब कहत हें जो भक्तनको श्रीआचार्यजी महाप्रभुकी चरणरेणु यहलोक सम्बन्धी ओर परलोक सम्बन्धी पदार्थ तिनकी सिद्धि करनवारी हे. यह जतायवेकुं यह नाम कहत हें:

अशेष-भक्त-सम्प्रार्थ्य-चरणाब्ज-रजोधन:

जिनकी चरणरेणु अशेषभक्तनको यहलोक तथा परलोक सम्बन्धी पदार्थकी सिद्धि करनवारी हे एसे श्रीआचार्यजी हें.

सेवकनके यहलोक सम्बन्धी पदार्थ कोन? जो सेवाकेलिये स्त्री-पुत्र-धनादिक. परलोक सम्बन्धी पदार्थ कोन? जो श्रीठाकुरजीको सम्बन्ध. तिनके सिद्ध होइवेकेलिये जतायो जो सब वस्तु सिद्धि होइवेके विषे जो मांगनो सो तो श्रीआचार्यजी महाप्रभुनके चरणारविन्दकी रज मांगनी ओर कछू न मांगनो.

या भांति श्रीआचार्यजी महाप्रभुनके एकसो आठ नाम कहि अब उपसंहार करत हें.

इत्यानन्द-निधे: प्रोक्तं नाम्नाम् अष्टोत्तरं शतम्॥33॥

इति=या प्रकारसूं
आनन्दनिधे:=आनन्दकी निधिके
अष्टोत्तरं शतम्=एकसो आठ
नाम्नाम्=नामनकु
प्रोक्तम्=कहे

टीका : आनन्दसमुद्ररूप श्रीआचार्यजी महाप्रभु, तिनके एकसो आठ नाम हम श्रीविट्ठलनाथजी, प्रकर्ष करि निरूपण किये. तहां श्रीआचार्यजी महाप्रभूनको आनन्दरूप समुद्र हे सो अगाध होई, सदा जलपूर्ण होई, निरन्तर उच्छलित तरङ्गवत् होई ता भांति आपहु भांति-भांति रससम्पूर्ण हें. ओर जिनमें भावनके तरङ्ग निरन्तर उठत हें एसे हें. ओरसमुद्रमें जेसे रत्नके समूह होइ ता भांति आपके भावनमे हे॥33॥

अब श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रके पाठको फल कहत हें.

श्रद्धा-विशुद्ध-बुद्धिर् य: पठत्यनुदिनं जन:।
स तदेक-मना सिद्धिम् उक्तां प्राप्नोत्यसंशयम्॥34॥

श्रद्धा-विशुद्ध-बुद्धि:=श्रद्धासूं विशेष
करिके शुद्ध हे बुद्धि जाकीएसो
तदेकमना=एक मात्र विनमें मनवारो

जन:=व्यक्ति, य:=जो
अनुदिनं=प्रतिदिन
पठति=पाठ करे हे
स:=वो, असंशयम्=संशय रहित
उक्तां=कही भयी
सिद्धिं=सिद्धिकुं
प्राप्नोति=प्राप्त करे हे

टीका : जो श्रीआचार्यजी महाप्रभुनमे श्रद्धा करि शुद्ध हे. अर्थात् दु:सङ्गादिकन् करि दुष्ट न होइ एसी बुद्धिवालो भगवदीय होइ, जो निरन्तर पाठ करे तो पहले आपुनमे एकमन होइ, पाछे श्रीठाकुरजीके अधरामृतको आस्वादनरूप जो सिद्धि ताकी प्राप्ति होइ यह फल सर्वोत्तमके पाठतें होइ यामें सन्देह न करनो. यह प्रतिज्ञा श्रीगुसांईजी करत हें॥34॥

अब कहत हें जो पुष्टिमार्गको फल मुक्तिहुते अधिक हे यह जताइवेकुं कहत हें:

तदप्राप्तौ वृथा मोक्ष: तदाप्तौ तद्गतार्थता॥
अत: सर्वोत्तमं स्तोत्रं जप्यं कृष्णरसार्थिभि:॥35॥

तदप्राप्तौ=वो प्राप्त नहिं होवे तो
मोक्ष:=मोक्ष
(प्राप्तोपि=प्राप्त होयवेपेहु)
वृथा=व्यर्थ हे
तदाप्तौ=वाकी प्राप्तिमें
तद्गतार्थता=वाकी गतार्थता हे
अत:=यासूं
कृष्णरसार्थिभि:=कृष्णरसकी इच्छावारेनकु
सर्वोत्तमं=सर्वोत्तम
स्तोत्रं=स्तोत्रकुं, जप्यम्=जपनो

टीका : श्रीआचार्यजी महाप्रभूनके सेवकनको यदि पुष्टिमार्गके फलकी प्राप्ति भई तो सायुज्यादिक जे मुक्ति ते वृथा हें. क्यों जो पुष्टिमार्गको फल सबतें अधिक हे. सो

सर्वोत्तमके पाठतें सिद्ध होई. तातें जिनकों श्रीआचार्यजी महाप्रभुकी कृपातें श्रीठाकुरजीके अधरामृतकी वांछना हे तिनकरि सर्वोत्तमस्तोत्रको जप करनो. ताको यह अर्थ जो जब तांइ सन्देह बिना पाठ न आवे तब तांइ पुकारिके पाठ करनो ओर जब भलीभांति आवे तब गुप्त करि जप करनो. ओर यह स्तोत्र पुष्टिमार्गके फलकों सिद्ध करनवारो हे याहीते याको नाम सर्वोत्तम हे. सो निरन्तर जपनो. या भांति अग्निरूप श्रीआचार्यजी महाप्रभु तिनके कुमार श्रीगुसांईजी यह ग्रन्थ प्रगट किये हें॥ 35॥

एवम् आचार्यनामानि विवृतानि यथामतिः।
पितृपादाब्जकृपया नान्यसाधनतो मया॥

अब श्रीगोकुलनाथजी कहत हें जो या भांति जेसी मेरी बुद्धि हती ता भांति श्रीगुसांईजीके चरणकमलकी कृपातें श्रीआचार्यजी महाप्रभूनके एकसो आठ नामनकी **टीका** मैं कीनी; ओर मोंको कोउ साधन न हतो. सो श्लोक अब कहत हें:

यद्यत्र बुद्धिदोषेण विवृतावन्यथाकृतिः।
क्षमन्त्वाचार्यचरणा मद्भृत्योयमिति स्वतः॥

श्रीगोकुलनाथजी कहत हें जो कदाचित् बुद्धिके दोषकरिके **टीका**में हम अन्यथा किये होंय तोहु श्रीआचार्यजी महाप्रभुके चरणारविन्द हमारी रक्षा करो!

॥एसें श्रीगोकुलनाथजीकृत सर्वोत्तमस्तोत्र**टीका**की
व्रजभाषा सम्पूर्ण भई॥

॥ श्रीवल्लभाष्टकम् ॥

(3)

श्रीगोकुलनाथजीकृत **टीका**को व्रजभाषानुवाद

यत्पादरजमागत्य मनो मे चञ्चलीकृतम्।
तत्कृताचार्यपद्यानि विवृतौ यत् प्रवर्तते॥
विवृतेः सफलत्वाय नत्वा पितृपदाम्बुजम्।

विवृति: कर्तुमारब्धान् अतिविश्वासतो मया॥

श्रीगोकुलनाथजी कहत हें, श्रीगुसांईजीके चरणारविन्दकी रजने मेरे मनकों आयके चञ्चल कर्यो, याहीतें श्रीगुसांईजीके किये श्रीआचार्यजी महाप्रभूनके आठ श्लोक तिनकी **टीका** करिवेकुं मैं उद्यत भयो हुं. तहां कहत हें जो यह **टीका** पूरी होय यातें हम श्रीगुसांईजीके चरणकमलकों नमस्कार करत हें. या नमस्कारके विश्वासतें ही मैं **टीका** करिवेको आरम्भ कियो हुं.

अब कहत हें जो श्रीआचार्यजी महाप्रभुको स्वरूप, धर्म ओर आपके सेवक सब यद्यपि अलौकिक हें परि इनको जन्म लोकमें हे. तहां यह सन्देह होत हे जो लौकिक जन्मादिक तो कर्मके अधीन हें, सो सामान्य लोकनकी नांइ श्रीआचार्यजी ओर सेवकन् के जन्मादिक क्यों देखियत हें? सो सन्देह दूरि करिवेकुं श्रीगुसांईजी श्रीआचार्यजी महाप्रभूनको स्वरूप जेसो हे तेसो कहत हें. ओर जा भांति इनको प्रागट्य हे सोउ कहत हें. ओर श्रीआचार्यजी महाप्रभु प्रगट होयके जो-जो कार्य किए ते सब अपने सेवकन्सों कहत हें.

श्रीमद्-वृन्दावनेन्दु-प्रकटित-रसिकानन्द-सन्दोहरूप-
स्फूर्जद्-रासादि-लीलामृत-जलधि-भराक्रान्त-सर्वोऽपि शश्वत्॥
तस्यैवात्मानुभाव-प्रकटन-हृदयस्याज्ञया प्रादुरासीद्
भूमौ यः सन्मनुष्याकृतिरति-करुणस् तं प्रपद्ये हुताशम्॥1॥

अन्वयार्थ :

शश्वत्=निरन्तर
श्रीमद्-वृन्दावनेन्दु-प्रकटित-रसिकानन्द-सन्दोहरूप-स्फूर्जद्-रासादि -लीलामृत - जलधि-भराक्रान्त-सर्वः= श्रीवृन्दावनके चन्द्रके द्वारा प्रकटित रसिक भक्तनके आनन्दके सन्दोहरूपसों विस्तरित होती रास आदि लीलाके अमृतसमुद्रसों आप्लावित सब होयवेसों
अपि=हु
सन्=होयवे पर
आत्मानुभाव-प्रकटनहृदयस्य=
अपने अनुभवकुं प्रकट
करिवेके मनवारे

तस्य=विनकी एव=ही
आज्ञया=आज्ञासों
भूमौ=भूतलपे
य:=जो
अतिकरुण:=अति दयावान
मनुष्याकृति:=मनुष्यकीआकृतिवारे
तं=विनकुं
हुताशं=अग्निकुं
प्रपद्ये=शरणागत होउं हुं

भावार्थ : श्रीमद्-वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णने भक्तिरसिकनके काज जो आनन्दके समूह जेसी रासादि लीलानके अमृतसिन्धुकों प्रकट कियो तातें सर्वदा जिनको अङ्ग-प्रत्यङ्ग आप्लावित होयवेपे हु, जा तरहके रूप धारण करि जेसी लीला करनी हे ताके अनुभव करावनके आशयवारे श्रीकृष्णकी ही आज्ञातें जो अति करुणा करि भूमिपे मनुष्याकृति धारण करिके प्रकटे एसे, अग्निकी शरणमें मैं जातहूं॥1॥

टीका : श्रीआचार्यजी महाप्रभु केसे हें सो कहत हें. अखिल शोभायुक्त जो श्रीवृन्दावन, जहां लक्ष्मीजीको सदा वास हे अथवा व्रजभक्तन् सहित जो वृन्दावन ताके चन्द्रमारूप जे पूर्णपुरुषोत्तम. याहीतें वृन्दावन अलौकिक हे. काहेतें? लौकिक वनको अधिपति लौकिक चन्द्रमा जेसे लौकिक वनकों आनन्द उपजावे ता भांति या अलौकिक वृन्दावनके चन्द्रमारूप जो रसात्मक पूर्णपुरुषोत्तम सो या वनकुं आनन्दके उपजावनहारे हें. ओर वेणुनादद्वारा सब ठोर स्वरूपामृतको प्रवेश करि सदा रस प्रकट करनवारे एसे चन्द्रमारूप जो पूर्णपुरुषोत्तम तिन करि प्रगट कियो जो व्रजभक्तनके काज आनन्दसमूह तासों श्रीआचार्यजी महाप्रभुनको अङ्ग-प्रत्यङ्ग भीतर-बाहिरसूं आप्लावित हे.

"रासादिक लीला" कहि जे 'अमृतसमुद्र' कह्यो सो यातें जो अमृतरस होइ सो मीठो होइ अरु मरणादिक सब दोषनको दूरि करि; ओर जे स्वर्गमें होंइ तिनहुंकों पावन करिवेकों योग्य हे. या भांति ये लीला हु महा मीठी हे. ओर जीवनके लौकिक देह दूरि करि अलौकिक अमर देहकी प्राप्ति करावनवारे हें. ओर समुद्र जेसे अथाह होइ ओर उच्छलित तरङ्गवत् होइ ता भांति रासादिक लीला हु अथाह हे; ओर जिनमें भावनके

तरङ्ग उठत हें, यातें समुद्र हे. ता रासादिक लीलारूपी जो अमृतको समुद्र ताको जो ज्वार तासों जटित हे सब अङ्ग जिनके एसे श्रीआचार्यजी महाप्रभु हें. या करि सदा रसरूप स्वरूपको निरूपण किये.

तहां यह पूर्वपक्ष होय जो एसे रसरूप श्रीआचार्यजी महाप्रभूनको लोकमें तो प्रागट्य न सम्भवे! तहां कहत हें जो कर्मके आधीन श्रीआचार्यजी नाहीं, जो ये तो श्रीठाकुरजीकी इच्छाके आधीन हें. तातें श्रीठाकुरजीकी आज्ञातें प्रगट भये हें. सो कहत हें, श्रीपूर्णपुरुषोत्तमकी यह इच्छा भइ जो मेरी लीला जानिके सब जीव लीलासृष्टिमें आवेंगे. तब लीलानकु तो सोई प्रगट करे जो लीलाके भीतरको होई, जाकुं लीलाको अनुभव होइ. सो एसे तो श्रीआचार्यजी ही हें. तातें इनहीकों आज्ञा दिये. तब जेसे पूर्णपुरुषोत्तम प्रगट भये ता भांति श्रीआचार्यजी महाप्रभुहु प्रगट भये. तातें लौकिक पुरुषकी नांइ प्रागट्य न जाननो. ओर भूमिमें ब्राह्मणभेषसों प्रगट होयवेकी आज्ञा भइ सो यातें जो ब्राह्मण सब वर्णनमे उत्तम हे. जो भक्तिमार्ग तिनमें प्रशंसनीय होइ यातें ब्राह्मणमें प्रगट भये.

तहां यह पूर्वपक्ष होय जो एसो रस छांडिके श्रीआचार्यजी महाप्रभु भूतलपे प्रगट भये सो क्यों? तहां कहत हें, श्रीआचार्यजी महाप्रभु अति कारुणिक हें. ताको यह अर्थ हे जो ठाकुरकोंहु जीवऊपर इतनी इच्छा भइ जो सब जीव मेरी लीला जानिके लीलासृष्टिमें आवें. यातें श्रीआचार्यजी अपनो रसहु छांडिके जीवके उद्धारकेलिये प्रगट भये. तातें श्रीठाकुरजीतेंहु श्रीआचार्यजीमें अति दया हे, तातें प्रगट भये.

तहां यह पूर्वपक्ष होय जो स्वरूप जाने बिना शरण क्यों जाइ? ताकेलिये स्वरूप कहत हें. अलौकिक ठाकुरके मुखारविन्दके अधिष्ठाता जो अग्नि ता रूप आनन्दमय श्रीआचार्यजी महाप्रभुको स्वरूप जाननो. सो श्रीगुसांईजी कहत हें जो एसे श्रीआचार्यजी तिनकी हम शरण जात हें. या करि यह जताये जो सब सेवक नित्य श्रीआचार्यजीकी शरण जाऊ, जो सब वस्तुकी सिद्धि होई. यह उपदेश किये॥1॥

या भांति श्रीआचार्यजी महाप्रभुको स्वरूप-प्रागट्य विषे कारण, श्रीठाकुरजीकी आज्ञासों; ओर प्रागट्यको प्रकार कहिके अब श्रीआचार्यजी महाप्रभु प्रगट होयके असाधारण काज किये सो काज काहुसों सिद्ध न होइ सो निरूपण करत हें:

नाविर्भूयाद् भवांश्चेद् अधि-धरणि-तलं भूतनाथोदितासन्-
मार्गध्वान्तान्धतुल्या निगमपथगतौ दैवसर्गेऽपि जाता:॥

घोषाधीशं तदेमे कथमपि मनुजा: प्राप्नुयुर् नैव दैवी
सृष्टिर् व्यर्था च भूयान् निजफलरहिता देव! वैश्वानरैषा॥2॥

देव!=हे देव
वैश्वानर!=हे वैश्वानर
चेद्=यदि, भवान्=आप
अधिधरणितलं=भूतलपर
न=नाहिं
आविर्भूयाद्=प्रकट होते
निगमपथगतौ=वेदके मार्गपे चलिवेमें
दैवसर्गे=देवसर्गमें, अपि=हु
जाता:=जनमेभये
इमे=ये
मनुजा:=मनुष्य
भूतनाथोदिताऽसन्मार्गध्वान्तान्धतुल्या:प्रचारित असन् मार्गरूप
अन्धकारसों अन्धेसे होय जाते
कथमपि=काहु प्राकारसों
घोषाधीशं=व्रजके अधिपतिकुं
नैव=नहिंही
प्राप्नुयु:=प्राप्त कर सके होते
निजफलरहिता=अपने फलसों रहित
एषा=ये, सृष्टि:=सृष्टि
व्यर्था=अर्थ बिनाकी, च=ही
भूयात्=होय जाती

भावार्थ : हे देव, हे अग्निस्वरूप! यदि आप या भूतलपे प्रकट न होते तो वेदोक्तमार्गकी सरणीमें दैवसर्गमेंहु प्रकट भये, किन्तु श्रीमहादेवके कहे असन्मार्गके अन्धकारते अन्धेनकी तरह भये ये जीव, श्रीनन्दनन्दन श्रीकृष्णकुं कोउ तरहसूं हु प्राप्त नाहीं होते और अपने श्रीहरिरूप फलसूं रहित भई यह दैवी सृष्टि हु व्यर्थ होय जाती॥ 2॥

टीका : अब श्रीगुसांईजी कहत हें, यदि श्रीआचार्यजी भूमिपे प्रगट न होते तो ये दोय भांतिकी दैवी सृष्टि, मर्यादारूप ओर पुष्टिरूप सो व्यर्थ होइ जाती. सो काहेतें! जो प्रगट न होते तो ये दोय कार्य सिद्ध न होते : पुष्टिमार्गके साधन ओर फलन् को ज्ञान काहुकों न होतो. तहां यह पूर्वपक्ष होय जो मर्यादामार्ग तो वेदने कह्यो हे ताके साधन वेदमें कहे हें तो वेदके साधन सब कोउ करेंगे, तासूं मुक्ति होयगी. तो श्रीठाकुरजी मर्यादामार्गके साधन ओर फल कहे हें, ता भांतिको ज्ञान काहुको होय तो फलसिद्धि होय ता भांतिको ज्ञान नाहीं तो फल हु नाहीं तहां संदेह हु नाहीं. तहां यह सन्देह होत हे जो ओर काहुको ज्ञान क्यों नाहीं? तहां कहत हें जो मर्यादामार्गके साधन जिनमें कहे हें एसे जो वेदवाक्य तिनको सब कोउ अपने मनके अनुसार अर्थ करिके कहन लागे, तातें साधनहु अनेक भांतिके कहन लागे. तहां कहत हें जो अनेक मतनको मूल कहा? सो कहत हें जो श्रीमहादेवकरि प्रगट किये सो मोहशास्त्र तिनमें अपने-अपने मनके अनुसार अर्थ करि मर्यादामार्गके साधन ओर फल कहन लागे. तातें एक भांतिके साधन ओर फल न कहे. ते साधन-फल वेदमार्गसों विरुद्ध हें. कहा भांति? जो गीतामें तो यों कह्यो हे “भक्त्या माम् अभिजानाति” (भग.गीता18।55) जो भक्तिसों ठाकुरके स्वरूपको जब ज्ञान होइ तब ठाकुरमें जाइके प्रविष्ट होइ. आनन्दको अनुभव होइ. सो यह फल वेदमें कह्यो हे.

परि मायावादी शास्त्रविरुद्ध कहे हें जो एक निराकार ब्रह्म सत्य हे ओर सब मिथ्या हे. सो कल्पित गुरु जब उपदेश करत हें जो “अरे! तू तो निराकार ब्रह्म हे. जीव तो कल्पित हे” सो या भांति जब कहत हें तब उपदेशकों लेवनवारो कहत हे: “में ब्रह्म हुं ——में ब्रह्म हुं”. या भांति जब कहत हे तब जीवको नाश होत हे. याको नाम मुक्ति जो कहत हें सो न बने. काहेते? जो मुक्ति तो पुरुषार्थ हे. तो जीवको नाश भयो तब फलको अनुभव कोन करेगो? तातें उनको मत वेदसूं विरुद्धहे.

यातें विरुद्ध न्यायशास्त्रको मत हे. वे तो यों कहत हें जो सोलह पदार्थ हें: 1.प्रमाण 2.प्रमेय 3.संशय 4.प्रयोजन 5.दृष्टान्त 6.सिद्धान्त 7.अवयव 8.तर्क 9.निर्णय 10.वाद 11.जल्प 12.वितण्डा 13.हेत्वाभास 14.छल 15.जाति 16.निग्रहस्थान. इन सोलह पदार्थनको ज्ञान सो मुक्तिमें साधन हे. ओर मुक्तिकों सुख-दु:खको अत्यन्ताभाव करि मानत हें. वेदमें तो मुक्तिको स्वरूप आनन्दरूप निरूपण कियो हे. तातें ये मतहु वेदसों विरुद्ध हे.

ओर कर्मवादी कहा कहत हें जो स्वर्गके आनन्दको कोउ अनुभव करे ताको नाम 'मुक्ति'. सो वेदसों विरुद्ध हे. काहेतें? वेदमें ब्रह्मानन्दके अनुभवकों ही मुक्तिरूप मान्यो हे. ओर स्वर्गलोकमें तो कछू ब्रह्मानन्दको अनुभव हे नाहीं. तातें इन मार्गनके अनुसरण करिवेपे वेदमें कह्यो जो मुक्तिमार्ग तामें प्रतिबन्ध आवत हे.

तातें इन मार्गनको अन्धकाररूप मानियत हे. सो काहेते? जो अन्धकार जब होत हे तब काहुको जा मार्गपे चलनो होय सो मारग सूझत नाहीं. तेसेई असत् शास्त्रनके कारणहु सांचो मुक्तिमार्ग सूझत नाहीं. ता करि असत् शास्त्रनको अनुसरण करिवेवारेनको अन्धतुल्य जाननो. सो काहेतें? आसुरी जीवनको प्रवृत्ति-निवृत्तिको ज्ञान सर्वथा होत नाहीं. तातें स्वाभाविक अन्धत्व हे. परि दैवी जीवनको तो मुक्तियोग्य मान्यो हे तोऊ असत् शास्त्रनके अनुसरण करिवेपे तो वेहु अन्धतुल्य बनि जात हें. परि सत्सङ्गतें उनको अज्ञानान्धकार जब दूरि होत हे तब मुक्तिमार्ग फेरि सूझ परत हे. तातें श्रीगुसांईजी श्रीआचार्यजी महाप्रभून्सों कहत हें जो तुम प्रगट होयके मर्यादामार्गको साधन ओर जो फल हतो सो निरूपण किये. तातें यदि तुम न प्रगट होते तो मर्यादामार्गको फलहु न होतो. सो कहत हें जेसे पुष्टिमार्गीय जीव हें तिनकों हु पुष्टिमार्गके साधनको ज्ञान न होवतो तो विनकों साक्षात् ठाकुरको सम्बन्धरूप फलकी प्राप्ति न होवती.

अहो देव! तुम क्रीड़ा करिवेकेलिये प्रगट भये हो; ओर अहो वैश्वानर! अलौकिक अग्निरूप यों कही यह जताये जो तुममें मार्गनके फल देवेको सामर्थ्य हे. तातें तिहारे प्रागट्यते पहले कोउ साधन जानत न हतो. सो तुम प्रगट होय साधन सबनकु जताय फलदान किये. तातें तुम जो प्रगट न होते तो मर्यादारूप ओर पुष्टिरूप जो दोनों भांतिकी दैवीसृष्टि सो वृथा होय जाती॥2॥

तहां पूर्वपक्ष होइ जो उत्तम मार्ग जितने हें ते तो वेदमें कहे हें. वेदमार्गके जाननवारेनको हु वेदके अर्थको ज्ञान तो होइगो. सो मर्यादामारग तथा पुष्टिमार्ग वेदमें कहे होंय तो उनको हु ज्ञान होयगो. तो श्रीआचार्यजी महाप्रभु प्रगट होयके कहा किये? तहां कहत हें जो वेदके व्याख्यान करनवारे हें तिनकुं वेदको तात्पर्यज्ञान नाहीं. काहेतें? जो वेद श्रीआचार्यजी महाप्रभुनके आगे ही अभिप्राय प्रगट करत हें, तातें श्रीआचार्यजी महाप्रभु ही वेदके तात्पर्यको जानत हें ओर कोउ जानत नाहीं. सो कहत हें:

न ह्यन्यो वागधीशाच् छ्रुतिगणवचसां भावम् आज्ञातुम् ईष्टे
यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयति वधूर् अग्रत: पत्युरेव॥
तस्माच् छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनाद् अन्यथा रूपयन्ति
भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगा: ॥3॥

वागधीशाद्=वाणिके अधीशसों
अन्य:=दूसरे श्रुतिगणवचसां=श्रुतिगणकी वाणीके
भावं=भावकों
आज्ञातुं=आछीभांतिसों जानिवेमें
नहि=नाहिं
ईष्टे=समर्थ हें
यस्मात्=क्योंके
पत्युरेव=पतिकेही
अग्रत:=अगाड़ी
साध्वी=सत्
वधू:=पत्नि
स्वभावं=अपुने भावकों
प्रकटयति=प्रकट करे हे
तस्मात्=तासों
श्रीवल्लभाख्य!=हे श्रीमहाप्रभु!
ये=जो
त्वदुदितवचनाद्=तुम्हारेकहेवचनन्सों
अन्यथा=ओर तरहसों

रूपयन्ति=निरूपण करें हें
ते=वे
निसर्गत्रिदशरिपुतया=स्वभावसोंही
दैवनके प्रति दुष्मतिके कारण
भ्रान्ता=भ्रमित
केवलान्धतमोगा:=मात्र-
अन्धन्तम-नरककुं प्राप्त होंय हें

भावार्थ : वाणीके पतिके सिवाय दूसरो कोऊ श्रुतिगणनके वचनके भावकुं जनायवेमें समर्थ नाहीं हे. क्यों जो पतिव्रता स्त्री अपने पतिके आगे ही अपने आशयकुं प्रकट करे हे. तासूं हे श्रीवल्लभाचार्य! जो लोग आपके कहे वचनन्सूं अन्यथा वेदनको अर्थ कहे हें, वे स्वभावसूं ही असुरप्रकृति होयवेसूं भ्रान्त होयवेतें केवल अन्धतमकूं प्राप्त होत हें.

टीका : श्रीगुसांईजी कहत हें, श्रीआचार्यजी महाप्रभून्तें अन्य कोऊ वेदको अभिप्राय जानिवेमें समर्थ नाहीं. सो काहेतें? जेसे पतिव्रता स्त्री होई सो अपनो अभिप्राय पतिहीके आगे प्रगट करे हे ता भांति वेद हु वाक्पति श्रीआचार्यजीके सन्मुख ही अपनो अभिप्राय प्रकट करे हें. सो काहेतें? वेदवचन ठाकुरके हें. श्रीआचार्यजी महाप्रभु ठाकुरके मुखारविन्दरूप हें. सो वचनको पति तो मुख ही होत हे. तातें श्रीआचार्यजी महाप्रभु वेदके पति हें. अतएव पुरुषोत्तमको ही मुख्य करि निरूपण करत हें; दूसरे देवतानको ठाकुरके अंश करि, विभूति करि, सेवक करि निरूपण करत हें. तातें पति ही पतिव्रता स्त्रीको अभिप्राय जानत हे. ता भांति श्रीआचार्यजी महाप्रभु ही वेदको अभिप्राय जानत हें, ओर कोउ जानत नाहीं. तासों श्रीआचार्यजी महाप्रभु वेदको जो अर्थ किये तासूं जो विरुद्ध कहत हें ते भ्रान्त हें, विनकों आसुरी जीव जानने. ओर विनको कह्यो जे करत हें तेऊ आसुरी जीव हें. सो आसुरी जीवनको तो मायाकी उपासना हे. ताको फल अन्धन्तम ही मिले. स्वर्गादि लोकनकी प्राप्तिमें यद्यपि दु:ख नाहीं परि आनन्दहु नाहीं. सो श्रीआचार्यजी महाप्रभुनके प्रागट्यको एक कारण दैवी सृष्टीकुं सार्थक किये सो कहे॥3॥

अब कहत हें जो श्रीआचार्यजी या मार्गके प्राकट्यको जो कार्य किये तासूं श्रीठाकुरजीहु प्रसन्न भये.

प्रादुर्भूतेन भूमौ व्रजपति-चरणाम्भोज-सेवाख्य-वर्त्म-
प्राकट्यं यत् कृतं ते तदुत निजकृते श्रीहुताशेति मन्ये॥
यस्माद् अस्मिन् स्थितो यत्किमपि कथमपि क्वाप्युपाहर्तुम् इच्छ-
त्यद्धा तद् गोपिकेश: स्ववदनकमले चारुहासे करोति॥4॥

श्रीहुताश!=हे अग्नि!, भूमौ=भूमिपे
प्रादुर्भूतेन=प्रकट होयकें
ते=वो, यत्=जो
व्रजपतिचरणाम्भोजसेवाख्यवर्त्मप्राकट्यं=
व्रजपतिके चरणकमलकी सेवाके-
नामवारे मार्गको जो प्राकट्य
कृतं=कियो हे, तद्=वो
उत=निश्चितरूपसूं निजकृते=निजभक्तनके अर्थ कियो हे
इति=एसो
मन्ये=मानुं हुं
यस्माद्=क्योंके
अस्मिन्=यामें
स्थितो=रह्यो भयो
यत्किमपि=जोकछुभी
कथमपि=कोईभी तरहसूं
क्वापि=कहुंभी
उपाहर्तुम्=देयवेकुं
इच्छति=इच्छा करे हे
अद्धा=निश्चितरूपसूं
तद्=वाकुं
गोपिकेश:=गोपीनके ईश
चारुहासे=हंसते भये
स्ववदनकमले=अपने मुखकमलमें
करोति=करे हें

भावार्थ : हे अग्निस्वरूप! भूतल पर प्रगट होयके आपने श्रीहरिके चरणकमलकी सेवा करिवेको मार्ग जो प्रकट कियो हे सो निश्चय करके अपने तथा भक्तनकेलिये ही प्रकट कियो हे. यह मैं मानुं हुं. क्यों जो या मार्गमें स्थित भक्त कोउ वस्तु, केसी हु तरहसूं, कहुं हु रहिके अर्पण करनो चाहे तो वा वस्तुकुंश्रीगोपीजन- वल्लभ अपने सुन्दर हास्यवारे मुखकमलमें अङ्गीकार करे हें॥4॥

टीका : श्रीगुसांईजी श्रीआचार्यजी महाप्रभून्सों कहत हें जो तुम प्रगट होयके व्रजपति जे श्रीपूर्णपुरुषोत्तम तिनके चरणकमलकी सेवा करिवेको ये जो सेवामार्ग भूमिपे प्रगट किये हे सो अपने सन्तोषकेलिये हे. काहेतें? पहिले यद्यपि पूजामार्ग हतो परि वामें श्रीआचार्यजी महाप्रभूनको सन्तोष न भयो. क्यों जो सेवामार्गमें पूर्णपुरुषोत्तम सेव्य हें ओर पूजामार्गमें विभूतिरूप सेव्य हें. सेवामार्गमें भावसूं सेवा होत हे अरु पूजामार्गमें समयकों नियामक कह्यो हे जो सब कर्म करिके मध्याह्नमें पूजा करनी. ओर सेवामें तो समयको नियम नाहीं. जब मनमें आवे सेवा करे. ओर पूजामार्गमें नैवेद्य ठाकुरजीके विभूतिके आगे धरेतें वह विभूति प्रसन्न होई. तातें अदृष्ट होत हे जो तासूं फल होई, बहोत तो मुक्ति होत हे. ओर सेवामार्गमें तो समर्पित वस्तुकों पूर्णपुरुषोत्तम साक्षात् आरोगिके फलतेंहु अधिक जो फल, जे व्रजभक्तनको भयो, ताको दान करत हें. तातें सेवामार्गमें पूजामार्गसों बड़ी विलक्षणता हे. तातें श्रीआचार्यजी महाप्रभुकोंहु पूजामार्गमें सन्तोष न भयो. तातें भक्तिमार्ग प्रगट किये.

तहां श्रीगुसांईजी कहत हें अहो हुताश! अग्निरूप कहे. जेसो भक्तिमार्ग प्रगट करिवेको सामर्थ्य हे तेसे तुम हो. ओर हमकों हु तुममें बहोत विश्वास हे. सो काहेतें? तुम करि प्रगट कियो जो मार्ग तामें जो कोउ कार्य वामें मन करि स्थिति होई. सो कोन भांति? शरीरको विनियोग ठाकुरकी सेवामें करे ओर वचनसूं ठाकुरके गुणगान गावे, मन ठाकुरहीमें राखे. या भांति जो रहनवारो हे सो या मारगमें अपने होइ आवे सो कछु वस्तु शास्त्रके विधि विनाहु जो ठाकुरकों समर्पिवेकी इच्छा करे तो साक्षात् रुचिसूं हंसत व्रजभक्तन् सहित पूर्णपुरुषोत्तम अपने मुखारविंदसूं आरोगिके जीवनको पुष्टिमार्गको फलदान करत हें. तो श्रीगुसांईजी श्रीआचार्यजी महाप्रभुसों कहत हें जो तुम यह मारग प्रगट न करते तो जीव कृतार्थ क्यों करि होतो॥4॥

अब कहत हें कदाचित् कोउ यों कहे जो श्रीआचार्यजी महाप्रभु रुद्ररूप जे अग्नि हे ता-रूप होंइगे? सो सन्देह दूरि करिवेकों कहत हें जो लौकिक अग्निके धर्म ओर

श्रीआचार्यजी महाप्रभूनके धर्म विरुद्ध हें:

उष्णत्वैक-स्वभावोऽप्यति-शिशिर-वचः-पुञ्ज-पीयूष-वृष्टीर्-
आर्तेष्वत्युग्र-मोहासुर-नृषु युगपत् तापमप्यत्र कुर्वन्॥
स्वस्मिन् कृष्णास्यतां त्वं प्रकटयसि च नो भूत-देवत्वमेतद्-
यस्माद् आनन्ददं श्रीव्रजजन-निचये नाशकं चासुराग्नेः॥5॥

उष्णत्वैकस्वभावोऽपि=उष्णत्व ही स्वभाव
होयवे पेहु, आर्तेषु=दुखीजनन्पें अतिशिशिरवचःपुञ्जपीयूषवृष्टिः=
अत्यन्त-शीतल वचनरूप अमृत-
की वृष्टि समान हें
उग्रमोहासुरनृषु=उग्रमोहवारेअसुरन्पे
तापं=तापकुं अपि=भी
अत्र=यहां युगपत्=एकसाथ
कुर्वन्=करते भये
त्वं=तुम/आप
स्वस्मिन्=अपनेमें
कृष्णास्यतां=श्रीकृष्णकी मुखारविन्दताकुं
प्रकटयसि=प्रकटकरोहो, च=ओर
भूत-देवत्वं=महादेवपनों
नः=नहीं
यस्माद्=क्योंके
एतत्=ये, श्रीव्रजजननिचये=
व्रजजन्देंय हें
आसुराग्नेः=आसुरी अग्निके
नाशकं=नाश करिवेवारे हें
च=भी

भावार्थ : उष्णत्वको हे एक स्वभाव जिनको एसेहु, दीननके ऊपर शीतल वचनरूप अमृतवृष्टिकुं करो हो ओर सङ्ग ही सङ्ग बड़े मोहवारे आसुरन्पें ताप हु करत आप-अपनेमें श्रीकृष्णास्यपनेकुं प्रकट करो हो; किन्तु अग्निपनो प्रगट नाहीं करो हो. कारण के यह आपको स्वरूप व्रजजनसमूहमें तो आनन्द देवे हे ओर आसुराग्निको नाशहु करे हे॥5॥

टीका : श्रीगुसांईजी कहत हें जो तुम ऊग्रप्रतापवारे हो तोउ उष्णता सहित नाहीं हो. ओर लौकिक अग्नि जो उष्णता सहित होत हे ताके तुम घातक हो. लौकिक अग्निरूप कोउ कहे सोऊ न कहनो. काहेतें? लौकिक अग्निकी उष्णता कबहुक बहोत होई कबहुक थोड़ी होई. ओर श्रीआचार्यजी महाप्रभु तो अलौकिक आनन्दरूप जे अग्नि हे ता रूप हें. तातें आपमें उष्णता न्यारी हे यह जाननो. ओर श्रीआचार्यजी महाप्रभूनमे न्यारी ही रीति हे सो कहत हें जो आप अपने सेवकनकी आर्ती देखिके जे वचन कहत हें सो वचन सेवकनमे तो शीतल अर्थात् तापकों दूरि करनवारे अमृतरूप होत हें ओर विन वचनकों जब असुर सुनत हें तब उनकों बुरो लगत हे. तासों यदि श्रीआचार्यजी महाप्रभु रुद्राग्नि होंइ तो रुद्र तो असुरनके पक्षपाती हें—— असुरनके सेव्य हें—— असुरनके दूरि करनवारे नाहीं! परि श्रीआचार्यजी महाप्रभु तो अपने वचन करि सेवकनको आनन्द उपजावत हें ओर असुरनको दूरिहु करत हें. जेसें पूर्णपुरुषोत्तमको मुखारविन्द व्रजभक्तनकी आर्ति दूरि करनवारो हे ओर आसुर दावाग्निको पान करनवारो हे. तातें श्रीआचार्यजी महाप्रभूनमे अरु लौकिक अग्निमें बड़ी न्यारी रीतिहे॥5॥

अब कहत हें जो श्रीआचार्यजी महाप्रभु अलौकिक कार्य करनवारे हें ताते अलौकिक आनन्दमय हें. सो कहत हें:

आम्नायोक्तं यदम्भो भवनमनलतस् तच्च सत्यं विभो! यत्-
सर्गादौ भूतरूपाद् अभवद् अनलत: पुष्करं भूतरूपम्॥
आनन्दैकस्वरूपात् त्वदधिभु यद् अभूत् कृष्णसेवारसाब्धिश्-
चानन्दैक-स्वरूपस् तदखिलम् उचितं हेतुसाम्यं हि कार्ये॥6॥

विभो=हे विभु!
आम्नायोक्तं=वेदको कह्यो
यद्=जो, अनलत:=अग्निसों

अम्भ:=जलको, भवनं=होनो
तत्=वो, सत्यं=सत्य
च=ओर, यत्=जो
सर्गादौ=सृष्टिके आरम्भमें
भूतरूपाद्=भूतरूपसों
अनलत:=अग्निसों
भूतरूपं=भूतरूप, पुष्करम्=जल
अभवद्=भयो, यद्=जो आनन्दैकस्वरूपात्=आनन्दमात्र स्वरूप
त्वद्=आपसूं
अधिभु=पृथ्विपर
कृष्णसेवारसाब्धि:=
श्रीकृष्णसेवारूपि रसके सागर
आनन्दैकस्वरूप:=आनन्दमात्रस्वरूप
अभूत्=भये, तत्=वो
कार्ये=कार्यमें
हेतुसाम्यं=हेतुको समानपनो
हि=ही, अखिलम्=सब
उचितम्=योग्य हे (एव)

भावार्थ : वेदमें अग्निसूं जलको होनो कह्यो हे सो सत्य हे. हे प्रभो! सृष्टिके आदिमें जेसे भूतस्वरूप अग्निसूं भूतस्वरूप जल भयो तेसें या भूतलपे आनन्दस्वरूप आपसूं ये श्रीकृष्णसेवारूप रससमुद्र हु आनन्दस्वरूप ही भयो हे. यह उचित हु हे क्यों जो कार्यमें कारणको सादृश्य आवे ही हे॥6॥

टीका : वेदमें जहां सृष्टिकी उत्पत्ति कही हे तहां पहले आकाश उपज्यो, आकाशते वायु, वायुते अग्नि, अग्निते जल सो या भांति उत्पत्ति कही हे. सो आधिभौतिक पदार्थकी उत्पत्ति कही हे. सो श्रीगुसांईजी कहत हें, उहां जो अग्नि कह्यो हे तातें जलको प्रागट्य हे. सो लौकिक जलको प्रागट्य हे. काहेतें? जेसो कारण होई तेसोई कार्य होइ. तो कारण लौकिक प्रगट भयो. ओर श्रीआचार्यजी महाप्रभु आपु तो

आनन्दाग्निरूप हें तातें विनते प्रगट भयो जो भूमिपे श्रीठाकुरजीकी सेवारूपी परमानन्दको समुद्र सोऊ अलौकिक हे॥6॥

अब ओरहु धर्मन्करि अलौकिक अग्निरूप श्रीआचार्यजी महाप्रभु हें सो निरूपण करत हें:

स्वामिन् श्रीवल्लभाग्ने! क्षणमपि भवत: सन्निधाने कृपात:
प्राणप्रेष्ठ-व्रजाधीश्वर-वदन-दिदृक्षार्ति-तापो जनेषु॥
यत् प्रादुर्भावमाप्नोत्युचिततरमिदं यत्तु पश्चाद् अपीत्थं
दृष्टेऽप्यस्मिन् मुखेन्दौ प्रचुरतरम् उदेत्येव तच्चित्रम् एतत्॥7॥

स्वामिन् श्रीवल्लभाग्ने!=
हे स्वामि अग्निस्वरूप श्रीवल्लभ!
भवत:=आपके क्षणमपि=क्षणहु
सन्निधाने=सन्निधान होयवे पे
कृपात:=कृपासों
जनेषु=लोगनमे
प्राणप्रेष्ठव्रजाधीश्वरवदनदिदृक्षार्ति-
तापो=प्राणन्सूंहु प्रिय व्रजके
अधिपतिके वदनकों देखिवेकी
आर्तिको ताप, यत्=जो
प्रादुर्भावम्=प्रकट
आप्नोति=होय हे
इदम्=ये
उचिततरं=उचिततर
यत्तु=जो तो, अस्मिन्=ये
मुखेन्दौ=मुखरूप चन्द्रकों
दृष्टेऽपि=देखिवे
पश्चाद्=पीछे, अपि=भी
इत्थं=या तरहसूं
प्रचुरतरम्=अतिशय तीव्रतासों
एव=ही, उदेति=प्रकट होय हे

तद्=वो, एतत्=ये
चित्रम्=आश्चर्यजनक हे

भावार्थ : स्वामिन्! अग्निस्वरूप आचार्यवर्य! आपके क्षणभर सन्निधानसूं, कृपा करके भक्तनके प्राणन्सूंहु प्रिय श्रीहरिके मुखकमलकों देखवेकी इच्छाको ताप होय हे, सो उचितही हे. परन्तु पीछे श्रीहरिके मुखकमलकुं देखिकेहु विशेषतर ताप होय हे ये आश्चर्य हे!॥7॥

श्रीगुसांईजी कहत हें, अहो श्रीवल्लभ! अहो अग्निरूप! हमारे स्वामी! तिहारे पास एक क्षणहु बेठेतें तिहारी कृपातें प्राणहुतें प्रिय जो श्रीपूर्णपुरुषोत्तम तिनके मुखारविन्दको दर्शन जो साक्षात् होत नाहीं तातें तिहारे सेवकनमे तिहारे पास रहेते ताप होत हे यह बात तो उचित हे. काहेते? जेसे लौकिक अग्निहुके पास रहेते ताप होत हे ओर अग्निमें ज्यों-ज्यों इंधन अधिक होई त्यों-त्यों तापहु अधिक होत हे तेसे श्रीठाकुरजीकी कृपा अधिक होई त्यों-त्यों तापहु अधिक होइ, यह बात तो उचित हे. परि यह बड़ो आश्चर्य हे जो तिहारो एक बार जो पहले नैकट्य भयो ताके पाछे नैकट्य विनाहु सेवकनको ताप उदय होई. काहेतें? लौकिक अग्निमें नैकट्य बिना तो ताप होत नाहीं ओर यहां तो नैकट्य विना हु अलौकिक ठाकुरके मिलिवेको ताप होत हे यह बड़ो आश्चर्य हे. ओर कहत हें जो चन्द्रमाके देखेतें तापको निवर्तन होई. यहां तो श्रीआचार्यजी महाप्रभुनके मुखचन्द्रके दर्शनतें अलौकिक ताप प्रगट होत हे. तातें तुम अलौकिक अग्निरूप हो॥7॥

अब ओर हु धर्मनको निरूपण करि श्रीआचार्यजीको अलौकिक स्वरूप ओर पूर्णपुरुषोत्तम स्वरूप प्रमाण करि निरूपण करत हें:

अज्ञानाद्यन्धकार-प्रशमनपटुता-ख्यापनाय त्रिलोक्याम्
अग्नित्वं वर्णितं ते कविभिरपि सदा वस्तुत: कष्णएव॥
प्रादुर्भूतो भवान् इत्यनुभव-निगमाद्युक्त-मानैर् अवेत्य
त्वां श्रीश्रीवल्लभेमे निखिलबुधजना: गोकुलेशं भजन्ते॥8॥

त्रिलोक्यां=तीन लोकनमे
कविभि:=विद्वाननने
अपि=हु, ते=वो
अग्नित्वम्=अग्निपनों
अज्ञानाद्यन्धकार-प्रशमन-पटुता-ख्यापनाय=
अज्ञान आदि अन्धकारको
आछि भांतिसों शमन करिवेकी
चतुराइकों प्रकट करिवेके अर्थ
सदा=सदा
वर्णितं=वर्णन कियो हे
वस्तुत:=सत्यमें तो, भवान्=आप
कृष्ण=श्रीकृष्ण, एव=ही
प्रादुर्भूत:=प्रकट भये हें
इति=ये
अनुभवनिगमाद्युक्तमानै:=अनुभव वेद
आदिमें कहे प्रमाणन्सूं
अवेत्य=जानिके
श्रीश्रीवल्लभ=हे श्रीवल्लभ!
त्वां=आपकुं इमे=ये
निखिलबुधजना=सब ज्ञानिलोग
गोकुलेशं=गोकुलके ईशुकुं
भजन्ते=भजे हें

भावार्थ : या भूतलपे पण्डितनने आपको अग्निपनो केवल अज्ञानरूप अन्धकारके दूर करवेको चातुर्य प्रकट करवेकेलिये ही कियो हे. वास्तवमें तो आप श्रीकृष्णही प्रकट भये हो एसे अनुभव ओर शास्त्रादिके प्रमाणनसूं जानिके, हे श्रीवल्लभाचार्य! सर्व विद्वान् आपकुं गोकुलेश जानिके ही भजे हें.

टीका : अब श्रीगुसांईजी कहत हें जो तुम केसे हो? काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सरादि भगवन्मार्गकों जानिवेमें प्रतिबन्धरूप दुर्गुणनको दूर करिवेवारे हो. जेसे लौकिक अन्धकार मारगमें जाइवेको प्रतिबन्ध करे सो लौकिक अग्नितें दूरि होय ता

भांति काम-क्रोधादि रूपी अन्धकार ताके दूरि करिवेको तिहारो ही सामर्थ्य हे. सो तुम अलौकिक अग्निरूप हो. याते जे बड़े-बड़े ज्ञानी हें ते तुमकुं 'अग्नि' कहत हें. परि जो तिहारो स्वरूप विचारि देखियें तो अलौकिक आनन्दमय तुम हो. तातें श्रीकृष्ण पूर्णपुरुषोत्तम तेई प्रगट भये हो. तहां प्रमाण कहा? तहां श्रीगुसांईजी आपु कहत हें जो एक तो अनुभव प्रमाण हे. हम तुमकुं पूर्णपुरुषोत्तम ही देखत हें.

ओर श्रीआचार्यजी महाप्रभु पूर्णपुरुषोत्तम हे इहां कृष्णदासने प्रथम पृथ्विपरिक्रमामें श्रीआचार्यजी महाप्रभूनकी सेवा बहोत कीनि तब आप प्रसन्न होइके कहे जो तू कछु मांगि, में देउंगो. तब कृष्णदासने तीन वस्तु मांगी: एक तो पूर्ण अपने मार्गके सिद्धान्तको ज्ञान होई. दूसरो मुखरतादोष निवृत्त होई. ओर तीसरो मेरे गुरुके घर पधारो. तब दोय वस्तु तो दीनि ओर गुरुके घर पधारिवेकी नाहीं करी. पाछें कृष्णदास अपने गुरुके घर गयो तब गुरुने पूछ्यो जो तेने मोकुं छांडिके ओर गुरु कीनो हे? तब कृष्णदास कहे जो गुरु तो मेरे तुम ही हो परि तिहारी कृपातें मेंने पूर्णपुरुषोत्तम पाये हें. तब गुरुने कही पूर्णपुरुषोत्तम क्यों जानिये? तब कृष्णदासने जरती अग्नि हाथमें लेके कहे "यदि श्रीआचार्यजी महाप्रभु साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम होंय तो यह अग्नि मोकुं भस्म मति करियो, नातर मेरे हाथ भस्म होय जैयो". सो यह कहिके दोय घरी तांइ वा अग्निकुं अपने हाथमें लिये रहे. तब गुरुने डरपिके वह अग्नि कृष्णदासके हाथमेंते डरवाय दीनो. ओर यह सत्य मान्यो जो श्रीआचार्यजी महाप्रभु साक्षात् श्रीपूर्णपुरुषोत्तम हें. या ठोर कृष्णदासको अनुभव प्रमाण.

ओर जे सेवक श्रीआचार्यजी महाप्रभुनके स्वरूपको अनुभव करत हें तिनको अन्त:करण प्रमाण हे. वे यों जानत हें जो आप पूर्णपुरुषोत्तम हें. ओर वेदहु प्रमाण हे. काहेतें? वेदमें साकार स्वरूपको निरूपण किये हें तो मुखारविन्दरूप श्रीआचार्यजी महाप्रभु हें तातें वेदहु आपके स्वरूपको पूर्णपुरुषोत्तम कहत हें. सो श्रीगुसांईजी इतने प्रमाण करि कहत हें जो श्रीआचार्यजी महाप्रभुनको पूर्णपुरुषोत्तम जानिके सेवकनको भजन करनो॥8॥

अब श्रीगोकुलनाथजी कहत हें

पितृपादाब्जकृपया विवृतं वल्लभाष्टकम्।
क्षमयन्तु सदाचार्या भृत्ये मयि श्रीवल्लभे॥
इति श्रीपितृपादाब्ज-परागारक्तचेतसा।
श्रीवल्लभेन विवृतम् अखिलं वल्लभाष्टकम्॥

श्रीगुसांइजीके चरणकमलकी कृपा करि श्रीवल्लभाष्टकी **टीका** हम किये. तातें श्रीआचार्यजी महाप्रभु मोकों अपनो सेवक जानी हम ऊपर कृपा करो. ओर जो मैं यह **टीका** कीनी सो श्रीगुसांइजीके चरणकमलको जो पराग तासूं रंग्यो हे चित जाको एसो होईके कीनी हे. तातें यह **टीका** भलीभांति पूर्ण भई.

॥इति श्रीगोकुलनाथजी विरचित श्रीवल्लभाष्टकम्की **टीका**को
व्रजभाषानुवाद सम्पूर्ण भयो॥

॥श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम्॥
(4)

(श्रीहरिरायजीकृतव्रजभाषाटीकोपेत)

पुष्टिसम्प्रदायके प्रवर्तक गुरुरूप श्रीवल्लभको सप्तधा वर्णन—— धर्मिस्वरूप1 तथा ऐश्वर्यादि छ गुणधर्मनके रूपमें2-7

तहां श्रीहरिरायजी श्रीआचार्यजीसों-श्रीगुसांईजीसों विनन्ती करत हें जो मोंको प्रेमामृतकी **टीका** करिवेमें योग्यता देउ. सो काहेते? जो प्रेमामृतग्रन्थ श्रीआचार्यजीकी कृपातें श्रीगुसांईजी वर्णन किये हें. तामें पूर्णपुरुषोत्तम धर्मसहित जैसे श्रीकृष्ण हें, ताही स्वरूप करिके श्रीआचार्यजीको वर्णन किये हें. ऐसे श्रीआचार्यजीकों मैं बारंबार नमस्कार करत हूं. सो एक श्लोक करि मङ्गलाचरण कहत हें——

नमो आचार्यलीलाब्धि-प्रेमसीधुमहीधरः।
पाणिपीयूषसर्वकृत् श्रीविट्ठल! नमोऽस्तु ते॥

अब श्रीआचार्यजी आप केसे हैं? तहां कहत हें, जो जितनी श्रीठाकुरजीकी लीला हे सो परम गम्भीर समुद्रवत् हें, सो श्रीआचार्यजीके हृदयविषे स्थापित हें, सो अमृतरूपी लीलारस हे, तिनके पानकर्ता श्रीगुसांईजी आप हें. ताते जितनी श्रीठाकुरजीकी लीला हे सो सब श्रीआचार्यजी आप अनुभव करिके अपने हृदयमें राखत हें. एसे श्रीआचार्यजीकों मैं बारंबार नमस्कार करत हों. ओर श्रीआचार्यजीके हृदयके भीतर

जो रस हे तिनके पानकर्ता श्रीगुसांईजी हें, तिनकों मैं बारंबार नमस्कार करत हों. जो मो ऊपर प्रसन्न होऊ. मेरे जो मनोरथ हें प्रेमामृतग्रन्थकी **टीका** करिवेमें सो पूर्ण होयवेकी योग्यता मोकों देऊ. या प्रकार मङ्गलाचरण करिके विनती कीनी. अब प्रेमामृतको श्लोक कहत हें——

(पुष्टिसम्प्रदायप्रवर्तक गुरुरूप श्रीवल्लभको स्वरूपलक्षण : "श्रीकृष्णलीलारूप-सेवाकथामें परायण रहत हें" सो ही धर्मिस्वरूप1 कहावतहें)

स्फुरत्-कृष्ण-प्रेमामृत-रस-भरेणाति-भरिता
विहारान् कुर्वाणा व्रजपति-विहाराब्धिषु सदा॥
प्रिया गोपीभर्तुः स्फुरतु सततं 'वल्लभ' इति
प्रथावत्यस्माकं हृदि सुभगमूर्तिः सकरुणा॥1॥

स्फुरत्कृष्णप्रेमामृतरसभरेण=स्फुरायमान होते कृष्णप्रेमरूप अमृतरसके भरसों
अतिभरिता=प्रचूर भरी भई
व्रजपतिविहाराब्धिषु=
व्रजपतिके विहाररूप समुद्रमें
सदा=सदा
विहारान्=विहारनकु
कुर्वाणा=करती भई
गोपीभर्तुः=गोपीजननके पति
प्रिया=प्रिय
'वल्लभः'=वल्लभ
इति=एसी
प्रथावती=प्रसिद्धि वारी
सकरुणा=करुणावान्
सुभगमूर्तिः=सुन्दर मूर्ति
अस्माकं=हमारे
हृदि=हृदयमें, सततं=सतत
स्फुरतु=स्फुरायमान् होउ

भावार्थ : स्फुरित होते कृष्णप्रेमरूप अमृतरससों अतीव भरी भई, व्रजपति श्रीकृष्णके विहाररूप सागरमें सदा विहार करिवेवारी गोपीपतिकों प्रिय 'वल्लभ' नामसों विख्यात

करुणासों भरी भई सुन्दर मूर्ति हमारे हृदयमें स्फुरित होवे॥1॥

टीका : अब श्रीपूर्णपुरुषोत्तम जे श्रीकृष्ण हें तिनके हृदयमें——अङ्ग-अङ्गमें प्रेम भर्यो हे. सो प्रेम परममिष्ट हे, जेसे अमृत परममिष्ट हे, सो श्रीअङ्गमें एसो भर्यो हे जो तहां समात नाहिं हे.

तब श्रीठाकुरजी मनमें विचार किये जो यह रस कोन-कोनकों दान करों? तब यह मनमें बिचार किये जो या रसके पात्र तो व्रजभक्त हें, तिनकों दान करों. ता पाछें फेरि विचार किए जो कौन प्रकार दान करों? ओर कौनद्वारा दान करों? तब एकान्त समय बांसुरी बजाई गोपीजनकों बुलाईके तिनकों भजनानन्दरसको दान दियो. तेसेई श्रीआचार्यजी आप परम कृपा करिके दैवीजीवनके उद्धारार्थ प्रगट होइके पृथ्वी परिक्रमा किये. तहां जीवनको संसारमें बहोतही मोहित देखे. पाछे आप गोकुल पधारे तहां जीवनके उद्धारको बिचार करत हते ताही समय श्रीपूर्णपुरुषोत्तम प्रगट होइ कहे जो "जाकों ब्रह्मसम्बन्ध कराओगे ताके सकल दोष दूरि होइगें, तिनकों मैं अङ्गीकार करूंगो". तब श्रीआचार्यजी आप प्रसन्न होईके पवित्रा पहराये.

सो श्रीआचार्यजी आप केसे हें? जो जेसे पूर्णपुरुषोत्तमके सम्पूर्ण श्रीअङ्गमें रस भर्यो हे सो व्रजभक्तनके हृदयमें वेणुद्वारा दान किये हें, तेसें ही श्रीआचार्यजीके श्रीअङ्गविषे श्रीठाकुरजीको लीलारूप जो रस हे ताकों दैवीजीवनको दान करत हें. सो जा प्रकार श्रीठाकुरजी वेणुद्वारा अपने व्रजभक्तनको रसदान किये तेसें ही श्रीआचार्यजी दैवी जीवनको नामसमर्पणद्वारा रसको दान किये हें.

"करत कृपा निज दैवी जीवन पर श्रीमुखबचन सुनाई,
वेणुगीत पुनि युगलगीतकी रसबरखा बरसाई"

या प्रकार अपने सेवकनके संग कथारूपी जो अमृत तिनकी वर्षा करत हें, जीवनको ब्रह्मसम्बन्ध करावत हें ओर तिनके घर स्वरूपसेवा पधरावत हें. सो तहां श्रीआचार्यजी सब वस्तुको भोग करावत हें. यातें जो वैष्णव सामग्री करिके श्रीठाकुरजीके आगे धरिके या प्रकारसों बिनती करत हें जो "महाराजाधिराज श्रीआचार्यजीकी कानीतें अङ्गीकार करियें" तब श्रीठाकुरजी श्रीआचार्यजीकी कानीतें सामग्री आरोगत हें.

जब श्रीठाकुरजी वृन्दावनमें वेणु बजावत हें तब वृजमें जो जीव हें पशु-पक्षी तिनमें जाको जेसो अधिकार हे तिनको ताही भांतिसो रसदान करत हें. तेसेंही श्रीआचार्यजी आप नाम-समर्पणको दान जो जीव शरण आवत हें तिनको करत हें. तहां ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-स्त्री सबनको दान करत हें. परि जो जा प्रकारको पात्र हे तिनको ता प्रकारको दान करत हें. तासों श्रीयशोदाजीके घर जो अद्‌भुत बालक हे वामें काहूको मन लागत हे. जाको श्रीठाकुरजीमें सख्यभावकी वांछना हे ताकों सख्यभाव ही सिद्ध करत हें. जो भाव गोविन्दस्वामीको सिद्ध भयो तेसें सिद्ध होई. जाको अधिकार शृङ्गाररसमें होई ताको वेसो दान करत हें. ताते आप जा वैष्णवको अधिकार जेसो हे ताही प्रकारको दान करत हें.

ओर जेसें व्रजभक्त श्रीठाकुरजीकों देखिके प्रेमसों मोहित होत हें एसे ही श्रीआचार्यजी महाप्रभु सहजहीमें परम सुन्दर हें; अरु परम करुणावन्त हें. जो जा जीवके ऊपर करुणादृष्टिसूं देखत हें ताके सकल मनोरथ पूर्ण होत हें. ओर आप परम विरक्तदशामें रहत हें. (तातें) जापर कृपा करत हें तिनको विरक्तदशा प्राप्त होत हे. सो काहेतें?

जो एक दिन श्रीआचार्यजीके इहां भण्डारमें कछू सामग्री नाहीं हती. तब भण्डारीने आपसों कही जो आज भण्डारमें कछु सीधो-सामान नाहीं हे. तब श्रीआचार्यजीने श्रीठाकुरजीकी एक सोनाकी कटोरी काढीके दीनि. ताकों गहने (गिरवी) धरिके सीधो-सामान लाये. सो मङ्गलासों शयनपर्यन्त सामग्री सिद्ध करिके श्रीठाकुरजीकों भोग समर्पे, परन्तु तामें आप घरमें श्रीअक्काजी सहित रंचकहु महाप्रसाद न लिये. वह प्रसाद गायनको खवाइ दियो. ता पाछे वैष्णव भेटकी मोहोर ले आयो तब श्रीआचार्यजीने भण्डारीकों बुलाइके कह्यो जो कटोरी छुडाइ लावो ओर सीधो-सामग्री ले आवो. ता पाछें दूसरे दिन जब श्रीठाकुरजीकी सेवासूं पहोंचे तब आप सबनने भोजन किये. ता पाछें सब सेवक टहलुवा वैष्णवन् ऊपर प्रसन्न होइके शिक्षा दिये जो या प्रकार सेवामें सावधान रहियो. सो एसे श्रीआचार्यजी आप श्रीठाकुरजीकी सेवा करते॥1॥

या प्रकार प्रथम श्लोकमें यह सिद्धान्त भयो जो जेते धर्म श्रीठाकुरजीमें हें ते सर्व धर्म श्रीआचार्यजीमें हें तातें श्रीकृष्णरूप ही जानिके श्रीआचार्यजीको भजन करनों. अब दूसरो श्लोक
कहत हें——

(पुष्टिसमप्रदायमें गुरुरूप श्रीवल्लभको ऐश्वर्य2रूप गुण : श्रीभागवततत्त्वज्ञता हे)
श्रीभागवत-प्रतिपद-मणिवर-भावांशु-भूषिता मूर्तिः॥
'श्रीवल्लभा'भिधा नस् तनोतु निजदासस्य सौभाग्यम्॥2॥

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषिता=
श्रीभागवतके मणि जेसे प्रत्येक
पदके भावरूप किरणन्सों शोभित
श्रीवल्लभाभिधा='श्रीवल्लभ'नामसोंप्रसिद्ध मूर्तिः=मूर्ति, नः=हम
निजदासस्य=निज दासनके
सौभाग्यं=सौभाग्यको
तनोतु=विस्तार करो
भावार्थ : श्रीभागवतके प्रत्येक पदरूप उत्तम रत्नके भावरूप किरणन्सूं विभूषित 'श्रीवल्लभ' नामवारी मूर्ति हमारे काज निजदास्य-सौभाग्यकुं बढावें॥2॥

टीका : अब श्रीभागवत केसो हे? जो भगवत्स्वरूप ही है. सो काहेतें? जो जेसे श्रीठाकुरजी ब्रह्माण्ड विषे अपनो सूक्ष्मरूप करिकें व्यापि रहे हें, श्रीठाकुरजीके बिना कोई पदार्थ नाहीं हे, तेसें ही श्रीभागवतमें सर्ववस्तूनके वर्णन हें सो सब श्रीभागवतमें प्रगट हें. सो काहेतें? जो श्रीठाकुरजी अवतार लिये हें सो चोबीस अवतारनको वर्णन श्रीभागवतमें हे. जो श्रीठाकुरजीके भजनतें ज्ञान होत हे. सो जा जीवको जेसो अधिकार होई ताकों तेसोई अनुभव होई. काहेतें? जो शेषनागजी सदा श्रीभागवत कहत हें, ओर श्रीभागवत विदुर-मैत्रेयजी परस्पर कहत हें——सुनत हें, ओर क्षीरसागरमें नारायणजी कहत हें ओर श्रीलक्ष्मीजी सुनत हें. याहीतें श्रीभागवत भगवत्स्वरूप हे. सो एसी भागवत या पृथ्विपर जीवनके उद्धारकी नौका हे. ताकी **टीका** करिवेमें श्रीआचार्यजी आपु (ही समर्थ हें. क्यों? जो) साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम हें. सो काहेतें? जो श्रीभागवतरूपी पर्वत हे, जो पर्वतमें अनेक प्रकारके वृक्ष-घास होंय ओर मणिहु होई. तेसें श्रीभागवतरूप जो पर्वत हे तामें श्रीठाकुरजीकी बाललीला-रसलीला हे सो मणि हे. सो पर्वतमें जो जात हे ताहीकों मणि मिले. सो श्रीभागवतमें लीलारूप मणि हे ताकुं श्रीआचार्यजी आपु जानत हें सो आप श्रीसुबोधिनी इत्यादिक प्रगट किये हें तामें नाना प्रकारके भाव प्रगट किये हें. सो श्रीभागवतमेंजो मणि हेवोही आभूषण श्रीआचार्यजीके अङ्ग-अङ्गमें परम शोभा देतहें.

ओर श्रीभागवत केसो हे? जो महागम्भीर समुद्र हे जेसे क्षीरसमुद्र हे. ताको श्रीआचार्यजी महाप्रभु मन्थन करिके तामेंते जो चौदहमो रत्न हतो भगवल्लीलारूप जो अमृत ताकों निकारे. ओर उहां समुद्र मन्थन करिके रत्न निकासे जो सुर-देवतानको श्रीठाकुरजीने दिये ओर अमृतहु देवतानको पान कराये तेसे इहां श्रीआचार्यजी आप श्रीभागवतरूप समुद्रकों मथिके पुरुषोत्तमरूप अमृत निकासे सो अपने दैवी सेवकनको अनुभव कराये हें. ओर जो कर्मजड हते तिनकों कर्म बताये. सो काहेतें? जो उनकों श्रीपुरुषोत्तमकी लीलाको अधिकार नाहीं हे. जेसे उहां राक्षसनको वारुणी दीनि हे तेसे इहां कर्मजडनको सोई दीनि हे. ओर उहां लक्ष्मीजी आप राखे तेसें इहां श्रीआचार्यजी आप सब अवतारनकी लीला छोडिके श्रीकृष्ण पूर्णपुरुषोत्तम हें तिनकी लीलाके भाव हें तिनकों हृदयमें राखत हें.

ओर श्रीभगवान् मोहिनीरूप धरिके असुरनकु मोह किये हें तेसें इहां श्रीआचार्यजी मनुष्यरूप धरिके पृथ्वीऊपर नाना प्रकारकी क्रीडा किये हें सो जो आसुरीजीव हें वे नाहीं जानत हें. ओर दैवीजीव हते सो तो पूर्णपुरुषोत्तम जानिके भावसहित भजन करत हें. तिनकों आप शरण लेत हें. ओर उहां मोहिनीरूप देखिके महादेव आदि मोहकुं प्राप्त होत हें तेसें श्रीआचार्यजीकों देखिके बड़े-बड़े ऋषि-मुनी पण्डित, मायावादी सो सब मोह पावत हें. ताहीते वाद करिवेको आवत हें. तब आप ब्रह्मवाद करिके सबनके वादनको खण्डन करत हें. एसे श्रीआचार्यजी अपनो माहात्म्य प्रगट करि पृथ्वीऊपर प्रगट भये हें सो श्रीभागवत वेद-पुराणकों मथिके श्रीपूर्णपुरुषोत्तमकी लीलारूपी जो अलौकिक आभूषण हें तिनकरिके श्रीआचार्यजी आप परम शोभायमान होत हें.

और श्रीआचार्यजी केसे हें? मूर्तिवन्त हें. ताको अर्थ यह जो स्वरूपात्मक हें. यह जो स्वरूपात्मक कोन कहिए? सो कहत हें जो जाको स्वरूप अलौकिक होइ सो काहूकी बुद्धिमें, मनमें तथा चित्तमें आवे नाहीं. काहेतें? जो श्रीआचार्यजीके स्वरूपको निर्धार वेदादिकहु नाहीं करि सकत हें, “नेति नेति” करिके स्तुति करत हें. जो एसो अद्‌भुत स्वरूप अखण्ड हे जो सदा एकरस होत हे. तातें स्वरूपवन्त हें.

एसे श्रीआचार्यजीकों ‘वल्लभ’ कहिए. जो सबनको आनन्ददायक हें. सर्व प्राणिमात्रके हितकर्ता हें. काहेतें? जो आप परम कारुणिक हें, परम दयाल हें, ताते

‘वल्लभ’ कहियत हें. ओर श्रीआचार्यजी आप श्रीठाकुरजीकों अत्यन्त प्रिय हें, प्राणवल्लभ हें. जिनके विना श्रीठाकुरजी एक क्षण रहि सकत नाहीं तातें ‘वल्लभ’ एसो नाम हे.

सो श्रीभागवतमें निरूपित श्रीपूर्णपुरुषोत्तमकी लीलारूप आभूषण तिनके अङ्ग-अङ्गमें जटित हें, तिनसों आप परम अलौकिक मूर्तिवन्त हें, प्राणिमात्रके वल्लभ हें, सबनके पोषणकर्ता हें ओर आप दैवीजीव जे आपके सेवक हें तिनके परम सौभाग्यरूप हें॥2॥

(पुष्टिसम्प्रदायमें गुरुरूप श्रीवल्लभको वीर्य3रूप गुण : भगवत्सेवामें प्रतिबन्धक वादनको निराकरण करिके श्रीकृष्णसेवाके प्रेरक होनो हे)
मायावादतमो निरस्य मधुभित्-सेवाख्य-वर्त्माद्भुतं
श्रीमद्-गोकुलनाथ-सङ्गमसुधा-सम्प्रापकं तत्क्षणात्॥
दुष्प्रापं प्रकटीचकार करुणा-रागाति-सम्मोहनः
स श्रीवल्लभ-भानुरुल्लसति यः श्रीवल्लवीशान्तरः॥3॥

यः=जो, मायावादतमो=मायावादरूप-
अन्धकारको, निरस्य=नाश करिके
दुष्प्रापं=कठिनतासों प्राप्त होय सके एसी श्रीमद्गोकुलनाथसङ्गमसुधासम्प्रापकम्=
श्रीकृष्णके सङ्गमकी सुधाकों सहजतासों प्राप्त करायवेवारे
अद्भुतं=अद्भुत
मधुभित्-सेवाख्य-वर्त्म=मधुद्वैतके
संहारककी ‘सेवा’नामको मार्ग
प्रकटीचकार=प्रकट कियो
करुणा-रागाति-सम्मोहनः=करुणा अरु-
अनुराग सों अतिशय सम्मुग्ध
सः=वो, श्रीवल्लवीशान्तरः=
गोपीजननके ईश जिनके अन्तरमें बिराजत हें एसे
श्रीवल्लभभानुः=श्रीवल्लभरूप सूर्य
उल्लसति=शोभायमान् होत हें

भावार्थ : पुष्टिजीवन्पें दयाके भावसों तथा पुष्टिप्रभुमें अनुरागके भावसों मुग्ध होयके आपने मायावादरूप अन्धकारको निवर्तन करि सहजतया काहूकों मिलि न सके एसी, श्रीगोकुलनाथके सङ्गमकी सुधाकों तत्क्षण प्राप्त करायवेवारो अद्भुत श्रीकृष्णसेवाको मार्ग जिनने प्रकट कियो एसे आप श्रीकृष्णरूप श्रीवल्लभरूप सूर्य उल्लसित होत हें॥3॥

टीका : अब श्रीआचार्यजी आप केसे हें? मायावादरूपि अन्धकार ताकों निवारण करत हें. जो जेसें अंधियारो घर होय तहां जब दीपक करिये तब सगरो अन्धकार दूरि होई. ओर जेसें सूर्यके उदय भये पृथ्वीको अन्धकार बिना श्रमही दूरि होत हे. ओर जो ये मायावाद पृथ्वीपर प्रगट्यो हे सो काहेतें? जो ये मायावाद हे सो महा अन्धकाररूप ही होइ जीवनको परम मोह उपजावे हे. सो वेद-पुराणनके तात्पर्यविषयीभूत अर्थको निरूपण करिके अरु दशमी-विद्धा एकादशी जीवनको कराय ओरहु बहिर्मुख करावत हें. एसे जीवनको अन्याश्रयहु करवाय देत हे. तातें सब जीव मायावादके भ्रममें होई वेद-विरुद्ध आचरण किए तब श्रीठाकुरजी विचारे जो अब पृथ्वीऊपर मायावाद बहोत प्रवृत्त भयो हे, ता करिके दैवीजीव हें सोऊ मायावादके भ्रममें होइ रहे हें, या प्रकार विचारीके श्रीआचार्यजीकों आज्ञा दिये जो तुम पृथ्वीपर प्रगट होई मायावादको खण्डन करी ब्रह्मवादको स्थापन करो ओर दैवी जीवनको शरण लेयके विनके मनमें जे नानाप्रकारके सन्देह होत हें तिनकों दूरि करो, तब विनकों मेरी प्राप्ति होयगी. तातें तुम पृथ्वीपर पधारो. यह कार्य तुम्हारे बिना ओर काहूसों सिद्ध होत नाहीं हे. तातें तुमही यह कार्य करिवेमें समर्थ हो. तब श्रीआचार्यजीकों जीवनपर परमकृपा आई. काहेतें? जो आप परम दयाल हें. अपने दैवीजीवनके दु:ख रंचकहु देखि सकत नाहीं. तातें श्रीआचार्यजी आप पृथ्वीऊपर प्रगट भये. तब पृथ्वी-परिक्रमाको मिस करिके पधारे. तब आपने अनेक वेद-पुराण-स्मृतिको दृष्टान्त(प्रमाण) देयके मायावाद खण्डन किये.

एक समय आप काशी पधारे. तहां अनेक मायावादी वाद करन आवत हते. तब श्रीआचार्यजीकुं भोजन करनकु संजा होय जाती, तब तांइ सब सेवक जलहु न लेते. तब आप विचार किये ओर 'पत्रावलम्बन' ग्रन्थ किए. पाछें सब वादी विश्वेश्वरनाथके दर्शनकों नित्य आवते तहां आप 'पत्रावलम्बन'को आरोपण किए. तहां सब वादी

ग्रन्थकों देखिके निरुत्तर होई जाते. या प्रकार मायावादको खण्डन भयो. तब सब सेवकनको परम आनन्द भयो.

काहेतें? जो मायावादरूपी तिमिरको नाश भयो. तब दैवी जीव श्रीआचार्यजीकी शरण आई परम सुख पाये. काहेतें? जो पहिले मायावादके कारण जीवनको सन्देह रहेतो तातें दृढ आश्रय करिके श्रीठाकुरजीको भजन होत नाहीं. ओर जब आप परम तेजवान सूर्य प्रगट भये तब मायावादरूप अन्धकारको नाश भयो, वैष्णवनको सन्देहरूप अन्धकारको नाश भयो. तातें एक दृढ आश्रय करिके एक श्रीठाकुरजीको भजन करन लागे. काहेतें? जो जहां तांई मनमें सन्देह रहे तहां तांई फलप्राप्ति न होई. ताहीते भगवद्गीतामें अर्जुन प्रति भगवान कहे हें "संशयात्मा विनश्यति" (गीता4।40) ओर जब दृढ आश्रय-अनन्यता होई तहां सर्व फल सिद्ध होई. तातें जब सेवकनको सन्देह निवृत्त भयो तब श्रीठाकुरजीको भजन करन लागे.

ता पाछें श्रीआचार्यजी आप भगवत्सेवा पुष्टिमार्गकी रीतिसों प्रगट किये जामें साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तमकी सेवा होत हे. तामें समय-स्थानानुसार भगवत्सुखको विचार करिके वस्त्र-आभूषण-सामग्री श्रीठाकुरजीकों अङ्गीकार करावत हें. सो सेवा केसी हे? जो गोकुलके पति श्रीठाकुरजीको साक्षात् दर्शन-सम्बन्ध होत हे. सो काहेतें? जो ओर मार्ग हें यथा ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, उपासनामार्ग, योगमार्ग सो तामें साधन न्यारे अरु फल न्यारे हें. काहेतें? जो साधन करे तब कोइको फल होई. सोउ फल लौकिक होई ओर सोउ कलिके दोष करिकें काहूको सिद्ध होत नाहीं. तातें श्रीआचार्यजी आप श्रीपूर्णपुरुषोत्तमकी लीला एसी श्रीठाकुरजीकी सेवा बताये. तामें साधनहु फलरूप हे. जामें कदाचित् भूलहु पडे तो श्रीठाकुरजी अप्रसन्न न होई, फल देवेमें अन्तराय न करें. सो काहेतें? जो आप परम दयाल हें. जीवकी करी भई रंचकहु सेवाकों बहोत करि मानत हें.

ओर श्रीआचार्यजी आपु श्रीठाकुरजीके मुखारविंदरूप जो अग्नि हे तारूप हें, तेसोई आपको तापात्मक पुष्टिमार्ग हे. तातें या मार्गमें फलप्राप्तिमें तहां तांइ ढील होइ जहां तांइ हृदयमें ताप न होय. तहां तांइ जीव शरीरकोही सुख चाहत हे. तातें वैष्णव जे हें तिनकों महाप्रसाद लेनो सो श्रीठाकुरजीकी उच्छिष्ठ जानिके लेनों, अपने शरीरको पोषण नाहीं जाननो. काहेतें? जो शरीरको भोग विचारे तो विषयासक्ति होई. ओर महाप्रसाद उच्छिष्ट जानिके ले तो भगवद्भजनमें मन लागे. ओर वस्त्रहु ठाकुरजीकु

प्रसादी करिके पहेरनो. काहेतें? जो दासको धर्म हे जो उत्तमवस्तु प्रथम श्रीठाकुरजीकु समर्पनी पाछे प्रसादी होइ ताहीते निर्वाह करनों.

सो एसी भांति श्रीआचार्यजी आप अपनो महात्म्य जगतमें प्रगट कियो हे, पुष्टिमार्गको प्रकाश किये, अपने सेवकनको पुष्टिमार्गको फल दिये. तातें श्रीआचार्यजी अलौकिक सूर्यरूप करि बिराजत हें तेसेई पुष्टिमार्गहु अलौकिक सूर्यरूप प्रगट बिराजत हे. सो पृथ्वीपर प्रकाश भयो हे तातें दैवी जीव हते ते आपके शरणि आय कृतार्थ भये॥3॥

(पुष्टिसम्प्रदायके गुरुरूप श्रीवल्लभको यशो4.रूप गुण : पाण्डित्य, वेदादिशास्त्रपारङ्गतता, शास्त्रानुकूल आचरण, वैष्णवमार्गीयता अरु श्रीव्रजपतिमें रतिमान् होनो हे)
क्वचित् पाण्डित्यं चेत् न निगमगतिः सापि यदि न
क्रिया सा सापि स्यात् यदि न हरिमार्गे परिचयः॥
यदि स्यात् सोपि श्रीव्रजपति-रतिर् नेति निखिलैः
गुणैरन्यः को वा विलसति विना वल्लभवरम्॥4॥

क्वचित्=कहुं, पाण्डित्यं=पण्डिताई
चेत्=होय, निगमगतिः=शास्त्रनमे प्रवेश
न=न, यदि=जो
सा=वो(निगमगतिः=शास्त्रनमे प्रवेश)
अपि=हु (चेत्=होय)
सा=वो, क्रिया=आचरण
न=न, यदि=जो
सा(क्रिया)=वो आचरण होय अपि=हु, स्याद्=होय
हरिमार्गे=भगवन्मार्ग विषे
परिचयो=ज्ञान
न=न होय, यदि=जो
सः(हरिमार्गे=वो भगवन्मार्ग विषे)
परिचयः=परिचय, अपि=हु
स्याद्=होय
श्रीव्रजपतिरतिः=व्रजपतिमें भक्ति
न=नाहीं (अस्ति)=हे

इति=एसें
निखिलैः=सकल
गुणैः=गुणन्सों
वल्लभवरं=वल्लभवर
विना=विना, अन्यः=दूसरो
कः=कोन, हे!

भावार्थ : कोऊ-कोऊ विद्वानमें पाण्डित्य तो होय सके परि वेदादि शास्त्रनमे गति होत नाहीं. तेसेंही कोऊ-कोऊ वेदादि शास्त्रनकी समज रखिवेवारे विद्वान होत हें परि तिनको आचरण वेदादि शास्त्रनके अनुसार होत नाहीं. कोउनको वेदादि शास्त्रनके अनुसार आचरण होत हे तिनको वैष्णव मार्गसों परिचय होत नाहीं. कोउनको वैष्णवमार्गसों परिचय होत हे तिनकों व्रजपतिमें आसक्ति होत नाहीं. तातें इन निखिल गुणन्सों श्रीवल्लभवरके विना अन्य कोन विलसि सकत हे!॥4॥

टीका : अब कहत हें जो श्रीआचार्यजी महाप्रभुको स्वरूप केसो हे? जो स्वरूप काहूसों जान्यो न जाय. काहेतें? जो केसोहु पण्डित होउ निगम-वेद पुराण शास्त्र जानिवेमें चतुर होउ, ओरनके सन्देहकुं निवृत्त करत होय ओर जगतमें बड़ी बड़ाई होय एसो बुद्धिवन्त पण्डित होउ सोउ श्रीआचार्यजीके स्वरूपकों जानिवेमें समर्थ नाहीं. सो काहेतें? जो पण्डितनको अपनी पण्डिताइको बल हे. तातें वे पण्डित अहङ्कार के वश होयके श्रीआचार्यजीके स्वरूपकों जानत नाहीं. अपनी योग्यता बहोत ही जगतमें मानि रहे हें तातें अभिमानरूपी जो मद हे तामें मत्त होयके जो श्रीआचार्यजी महाप्रभु आपु पूर्णपुरुषोत्तम हें तिनके स्वरूपको ज्ञान विनकों होत नाहीं हे. श्रीआचार्यजीके स्वरूपको ज्ञान तब होई जब श्रीठाकुरजी आप अनुग्रह करिके अपनो स्वरूप जतावें. नातर कोटि-कोटि साधन करो परन्तु श्रीआचार्यजीको स्वरूप जान्यो न जाय.

जो श्रीआचार्यजीकी शरण आवत हें तिनकुं आप नाम-समर्पण करावत हें तिनहीकों अपने स्वरूपको अनुभव करावत हें. तातें श्रीआचार्यजी तथा श्रीठाकुरजी के स्वरूपको अनुभव कछु पढेते होत नाहीं. जब निःसाधन होय दीनता करि विनती करिके शरण आवे तब परम दयाल, करुणानिधान साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम जा जीवको

अनुभव करावें वाकुं फल सिद्ध होय. तातें पुष्टिमार्गको फल कृपासाध्य हे, साधनसाध्य नाहीं हे.

ओर श्रीमहाप्रभु केसे हें? निगम जो वेद ताके हार्दकों आपु जानिवेवारे हें. ओर आप वेदके कर्मकुंहु करत हें. त्रिकालसक्ध्या, यज्ञादिक, होम, दान सब करत हें. सो कोन भांतिसों जो प्रथम श्रीठाकुरजीकी सेवामें पहोंचके पाछे करत हें. तातें सेवा तो अवश्य ही करनी, तामें अवकाश होय तब कर्मादिक करनो. सो काहेतें? जो कर्मादिक सो तो लौकिकमें दिखायवेकेलिए करत हें ओर वेदकी मर्यादा राखिवेकुं करत हें परन्तु सेवा तो मनपूर्वक परम प्रीतिसों करत हें. आप तो पूर्णपुरुषोत्तम हें सो वेदकी मर्यादा आप न राखे तो ओर कोन राखे? परि मनपूर्वक तो श्रीगोवर्धननाथजीकी सेवा करत हें.

व्रजके पति जो श्रीकृष्ण हें तिनकों देखिके कोटि कामदेव लज्जाकों पावत हें. ओर जिनके स्वरूपको ज्ञान वेदादिकनकोहु अगम्य हे. वेदहु “नेति नेति” करिके श्रीठाकुरजीको गुणगान करत हें. सो काहेतें? जो श्रीठाकुरजीमें तो अनेक गुण हें. सो एक श्रीआचार्यजी आप हें तिनके चरणारविन्दके आश्रय विना व्रजपति श्रीकृष्णकी लीलाको भाव नाहीं होत हे. केसेऊ पण्डित वेद-पुराण सबकों जानत होंय परन्तु आपके आश्रय बिना या संसारसमुद्रको तरि नाहीं सकत हें तो लीलाको अनुभव कहांते होइ? सो या श्लोकमें ये सिद्धान्त भयो॥4॥

(पुष्टिसम्प्रदायमें गुरुरूप श्रीवल्लभको श्री5.रूप गुण : श्रीकृष्णसेवामें प्रतिबन्धक एसे वादनको निराकरण करि प्रमाणचतुष्टयकी एकवाक्यता करि स्वसिद्धान्तको उपदेशक होनो, स्वयं श्रीकृष्णकी सेवामें परायण होनो अरु भगवत्सेवोचित निरुपधिस्नेहको उद्बोधक होनो हे)
मायावादि-करीन्द्र-दर्प-दलनेनास्येन्दु-राजोद्गत-
श्रीमद्-भागवताख्य-दुर्लभ-सुधा-वर्षेण वेदोक्तिभिः॥
राधावल्लभ-सेवया तदुचित-प्रेम्णोपदेशैरपि
‘श्रीमद्वल्लभ’-नामधेय-सदृशो भावी न भूतोऽस्त्यपि॥5॥

वेदोक्तिभिः=वेदके वचनन्सों
मायावादि-करीन्द्र-दर्पदलनेन=मायावादी-
सदृश हाथीके घमण्डकों चूरकरिके
आस्येन्दुराजोद्गत-श्रीमद्भागवताख्य-दुर्लभ-

सुधा-वर्षेण=भगवन्मुखरूप चन्द्रसों-
प्रकटभईप्रसिद्ध‘श्रीमद्भागवत’रूप-
दुर्लभ रसकी वर्षा करिके
राधावल्लभ-सेवया=श्रीराधाजीकों-
प्रिय एसे श्रीकृष्णकी सेवा करिके
तदुचित-प्रेम्णा=विनकों-
उचित निर्गुण प्रेम करिके
उपदेशैः अपि=उपदेश करिके हु
‘श्रीमद्वल्लभ’-नामधेय-सदृशो=
‘श्रीमद्वल्लभ’जिनकोनामहेएसो
न=न, भूतो=भयो (न)=न
अस्ति=हे
भावी अपि=होयगो हु

भावार्थ : मायावादीरूप गजेन्द्रके दर्पके दलन करिवेके कारण, वेदनकी श्रुतिके अनुसार श्रीकृष्णमुखेन्दुराजसों उद्गत श्रीमद्भावतरूप दुर्लभ सुधाके बरसावेके कारण, राधावल्लभ श्रीकृष्णकी सेवाके कारण, उपदेशनके तथा सेवोचित प्रेमके कारणसोंहु ‘श्रीवल्लभ’ नामवारेनके जेसो न कोइ भयो, न हे अरु न होयगो हु॥5॥

मायावादरूपी जो मत्त हाथी हे तिनके दर्पकों दलनहारे एसे श्रीआचार्यजी आप प्रगट भये हें. सो काहेतें? जो भगवानकी आज्ञा श्रीमहादेवजीकों भई जो मायावाद तुम पृथ्वीऊपर प्रगट करो ओर जीवनकु मोह उपजावो. तब श्रीमहादेवजी प्रगट भये सो वेदतें विपरीत शास्त्र बहोत किए. ओर सब देवतानके ईश्वर जो श्रीभगवान् जिनको शिव-ब्रह्मादिक भजन करत हें, तिनको भजन छुडायके शिवहीकों मुख्य ईश्वर निरूपण किये. या भांति श्रीशमराचार्यजी वेदतें विरुद्ध एसो मायावाद प्रगट किये. तातें सब जीवनके संग दैवी जीवहु मायावादको सङ्ग करि भ्रष्ट भये. श्रीठाकुरजीको दृढ आश्रय छूटि गयो. तब श्रीठाकुरजीकों दया आई जो में तो या मायावाद प्रगट करिवेकी आज्ञा शिवकों दई सो तो आसुरी जीवनको मोह उपजावेकेलिए परि यातें तो दैवी जीवहु मेरो माहात्म्य भूलि गए हें. तातें विचारे जो मेरी लीलाको अनुभव जीवनको केसें होयगो? पाछे विचारे जो लीलाको अनुभव करायवेमें तो एक श्रीआचार्यजी समर्थ

हें. जो उनको प्रागट्य पृथ्वीऊपर होय तब मायावादको खण्डन करिके दैवी जीवनको अनुभव करायके मेरे पास ले आवें. तब आपने श्रीआचार्यजीतें आज्ञा कीनी जो दैवीजीवनको उद्धार करीके मेरे निकट लावो. सो आप पृथ्वीऊपर प्रगट भये. ता पाछे आप पृथ्वी-परिक्रमा किये. सो देखे जो दैवी जीवहु मायावादके भ्रममें होइके वेसोई आचरण करन लागे हें. सो विचार करत ठकुरानी घाटपे बिराजत हते तब अर्धरात्रिको श्रीठाकुरजी प्रगट होई ब्रह्मसम्बन्धकी आज्ञा किए. पाछें आपने वैष्णवनको ब्रह्मसम्बन्ध समजाइवेकेलिए 'सिद्धान्तरहस्य' ग्रन्थ प्रगट कियो.

ता पाछें आचार्यजी मायावादकों देखें जो जेसे मत्त हाथी काहूकों गिने नाहीं तेसें विचरी रह्यो हतो. तब आचार्यजी आप सिंहरूप ब्रह्मवाद करि मायावादको विदारण किये. पाछें आप श्रीभागवतमें जो पूर्णपुरुषोत्तमरूप जो दुर्लभ अमृत तिनकी वर्षा अपने सेवकनके ऊपर किये हें. सो काहेतें? जो जीव अनादिकालतें बिछुरे हते तामें फेरि मायावाद करिके बहोत मलिन भये हते. सो या भांति जब मायावाद खण्डन भयो तब सेवक परमानन्द पाईके शरणि आवन लागे. तिनकों पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण तिनकी सेवाको उपदेश आप करत हें. आप सेवा करिके जीवनको यह बतावत हें जो या भांति सेवा करो. सो सेवामें ऊपर तो नन्दरायजीके घरकी रीति हे परि भीतर 'राधावल्लभसेवया' यातें श्रीस्वामिनीजी सहित श्रीठाकुरजीकी सेवा हे.

जो एसे श्रीकृष्ण जो सारस्वत कल्पमें प्रगट भये सो पूर्णपुरुषोत्तम हें "कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ" अन्य कल्पमें पूर्ण अवतार नाहीं हे. सो सेवनीय कीर्तनीय एक श्रीकृष्ण ही हें सो श्रीगोवर्धननाथजी हें. सो केसे हें? सो दक्षिण श्रीहस्तकी मुठ्ठि बांधी हे तामें अङ्गुष्ठको दर्शन करावत हें. तामें यह भाव जाननो जो भक्तनको हरिके दर्शन करवावें ता पाछें अङ्गुष्ठ दिखावत हें "अब तुम कहां जाओगे?" ओर वाम भुजा उठाइके व्रजभक्तनको बुलावत हें "जो तुम बेगी आओ". आप निकुञ्जके द्वारे ठाड़े हें. जामें श्रीआचार्यजीसों यह जतावत हें जो जब तांइ में यहां ठाडोहुं तब तांइ मेरे दैवी जीव हें तिनको तुम्हारेद्वारा अङ्गीकार करनो हे. तातें वैष्णवनकु एक क्षणहु श्रीगोवर्धननाथजीकों भूलनो नाहीं जो आपु तो जीवकेलिए निकुञ्जके द्वारे ठाड़े हें ओर जीव जहां-तहां भटक्यो डोलत हे!!! तातें एसो भाव करिके श्रीठाकुरजीसों मिलिवेकों भजन करनो. ताहीतें पुष्टिमार्ग श्रीआचार्यजीने प्रगट कियो जो साक्षात पुरुषोत्तमको

सम्बन्ध होइ. तातें पुष्टिमार्गकी रीति कोउ कहा जाने! जो सेव्यस्वरूप नाना प्रकारकी लीलाके स्वरूप हें. तिन स्वरूप-लीला-सहित सबनको प्रकाश किये हें.

प्रथम श्रीयशोदाजीके इहां श्रीकृष्ण जो बाललीला करी हे सो स्वरूप श्रीनवनीतप्रियाजीको हे. जो नवनीत श्रीहस्तकमलें लियो हे अरु श्रीयशोदाजीके आंगनमें रिंगनलीला करत हें.

ओर श्रीयशोदाजीके इहां बड़े भये तब गोचारण लीला किये हें सो स्वरूप श्रीमथुरानाथजीको हे. सो गोपिकानके घर माखनचोरिकों जात हें तासमय उहां श्रीस्वामिनीजी आईं. विनने कह्यो जो "में श्रीनन्दरायजी-श्रीयशोदाजीके पास ले जाउंगी" तब आप ओर दो भुजा प्रगट करि बिनती किये जो "में तो तुम्हारे वश हों, तुमकों पास ही राखत हों, मेरी चारोंउ भुजा तुम्हारे आभूषण अरु अङ्ग समान हें तातें मोकों छोडि देउ". तब छोडी दिये सो एसी लीलाको भाव श्रीमथुरानाथजीको हे.

कात्यायनी व्रत किये तब चीरहरणकी लीला किये सो स्वरूप श्रीविट्ठलेशरायजीको हे. सो श्रीस्वामिनीजीके भावमें मग्न हें सो तातें गौर स्वरूप प्रगटे हें.

अब रासपञ्चाध्यायीमें मुरली बजाईके प्रथम सब व्रजभक्तनको बुलायके पुलिनमें बेठारे सो स्वरूप श्रीद्वारिकानाथजीको हे. सब गोपिका जो पुलिनमें बैठी हें ता मध्य श्रीस्वामिनीजी हें तहां श्रीठाकुरजी अचानक पधारे ओर दोइ श्रीहस्तसों श्रीस्वामिनीजीके नेत्रकमल मूंदे अरु दोइ श्रीहस्तसों वेणुनाद किये हें सो ये लीला श्रीद्वारकानाथजीके इहां प्रगट हे.

अब श्रीगोकुलनाथजी हें सो श्रीगोवर्धन धारण किये हें. सो वाम श्रीहस्तसों श्रीगोवर्धनकों उठायो हे तातें श्रीगोकुलनाथजीको दर्शन करत येही लीलाभाव स्फुरत हे.

अब श्रीगोकुलचन्द्रमाजीको स्वरूप हे सो साक्षात् मन्मथमन्मथ जो गोपिकाननें रासपञ्चाध्यायीमें श्रीठाकुरजीको अन्तर्ध्यान भयो ता पाछे गोपीजननें रुदन कियो हे तब प्रगट भये हें. या भांति श्रीगोकुलचन्द्रमाजीके इहां रासादिक लीला ताको प्रादुर्भाव होत हे.

अब श्रीमदनमोहनजीके स्वरूपको भाव यह हे जो निकुञ्जादिकके भीतर नाना प्रकारकी लीला करत हें.

अन्य गोदके श्रीठाकुरजी हें तहां भांति-भांतिकी लीला हे. अब श्रीद्वारकानाथजीकी गोदके ठाकुर श्रीबालकृष्णलालजी (वर्तमानमें सुरतस्थ) हें तिन सकटभञ्जन लीला करि हे. ओर श्रीमथुरानाथजीकी गोदके श्रीनटवरजी (वर्तमानमें राजनगरस्थ) हें सो तृणावर्तके प्रसङ्गकी लीला प्रगट किये हें. याही भांति श्रीनवनीतप्रियाजीके पास श्रीबालकृष्णजी हें तथा श्रीमदनमोहनजी हें सो जृम्भणलीला करि हे. ओर श्रीगोकुलचन्द्रमाजीके पास श्रीबालकृष्णजी हें सो उलूखललीला करी हे. ओर ये श्रीआचार्यजी तथा श्रीगुसांईजीके सब स्वरूप हें सो या भांति सब स्वरूपनकी सेवा हे. सो श्रीआचार्यजी आप प्रगट किए हें जामें पुष्टिलीला प्रगट हे.

ताहीतें श्रीआचार्यजीने पुष्टिमार्ग प्रगट कियो जामें साक्षात् पुरुषोत्तमको सम्बन्ध हे एसे श्रीआचार्यजी आप हें. सो एसो कृपाको समुद्र न कोइ भयो, न हे अरु न होईगो. सो काहेतें? जो कोटानकोटी युग बीते, बडे-बडे अवतार भये हें, ऋषि-मुनि-भगवदीयहु भये हें परि पुष्टिमार्गकी रीतिकों कोइ जानत न हतो. तातें काहूसों पुष्टिमार्ग प्रगट कियो न गयो. सो श्रीआचार्यजी आप प्रगट किए हें जामें पुष्टिलीला प्रगट हे. तातें श्रीआचार्यजी समान न कोई हे न भयो न होईगो॥5॥
(पुष्टिसम्प्रदायमें गुरुरूप श्रीवल्लभको ज्ञान6.रूप गुण : कलिके बलवान् होयवेकी भीति मिटायके भगवत्प्रीतिकर सेवामार्गके प्रवर्तक
होनो हे)
यदङ्घ्रि-नख-मण्डल-प्रसृत-वारि-पीयूष-युग्-
वराङ्ग-हृदयैः कलिस्तृणमिवेह तुच्छीकृतः॥
व्रजाधिपतिरिन्दिरा-प्रभृति-मृग्य-पादाम्बुजः
क्षणेन परितोषितः तदनुगत्वमेवास्तु मे॥6॥

यदङ्घ्रि-नख-मण्डल-प्रसृत-वारि-पीयुष-युग्-वराङ्ग-हृदयैः=जिनके दोउ चरणके नखन्सों प्रसृत अमृतजलकों अपने मस्तक एवं हृदयमें धारण करवेवारेन्सों
तृणम्=घास
इव=जेसें इह=या
कलिः=कलिकाल
तुच्छीकृतः=तुच्छबनायोहे(च=अरु)
इन्दिरा-प्रभृति-मृग्य-पादाम्बुजः=
लक्ष्मीजी आदि जिनके

चरणकमलकों खोजत हें वे
व्रजाधिपतिः=व्रजके अधिपति
क्षणेन=क्षणमात्रमें
परितोषितः=प्रसन्न करे हें
तदनुगत्वम्=विनको अनुसारिपनों
एव=ही मे=मोकों
अस्तु=प्राप्त होउ

भावार्थ : जिनके चरणनके नखमण्डलसों निकरवेवारे चरणामृतसों जिनके मस्तक अरु हृदय अभिषिक्त भये हें वे तो या कलिकालकों तृणके तुल्य तुच्छ करि जानत हें. लक्ष्मी आदिहु जिनके चरणकमलनको खोजत रहत हें एसे व्रजाधिपतिकुं जिनने क्षणभरमें प्रसन्न करि राखें हें एसे आचार्यचरणनको में अनुगामी (सदा) ही बन्यो रहूं॥ 6॥

टीका : सो श्रीआचार्यजीके नखचन्द्रमा जो हें सो मेरे मनमें जो नाना प्रकारके अज्ञानरूप अन्धकार हें ताके दूरि करनहारे हें. सो श्रीआचार्यजीके नखचन्द्रमें बडो प्रताप हे. लौकिक चन्द्रमामें यह हे जो रात्रिको प्रकाश करे ओर पूर्णमासीकी रात्रिकों पूर्ण होई पाछे घटे-बढे ओर सूर्यके आगे प्रकाश मन्द होइ जाय. ओर श्रीआचार्यजीके नखचन्द्र केसे हें? जो सदा एकरस जिनको प्रकाश हे सो जिनके नखचन्द्रमा ऊपर कोटि-कोटि चन्द्रमा वारि डारिये. जिनके नखचन्द्रको प्रकाश जो श्रीआचार्यजीके सेवक हें तिनके हृदयमें प्रकाश करत हें. तहां एकरस ही सदा रहत हे. काहेतें? जो अलौकिक अमृतरूप हें, तिनकों जो सेवक अपने हृदयमें राखत हें तिनको हृदयकमल एसो निर्मल निर्विकार होत हे. जो कलिके दोष हें जो संसारके सुख-दु:खकों तुच्छ करि डारत हें. काहेतें? जो जहां चन्द्रमा होत हे तहां अन्धकार आय नाहीं सकत हे. जो जा सेवकके हृदयमें रहत हे तिनको हृदय शुद्ध होय जात हे. काहेतें? जो जहां श्रीआचार्यजी महाप्रभुनके नखचन्द्र हृदयमें प्रकाश करे हें तहां तो श्रीठाकुरजीकी लीलाको प्रगट अनुभव होन लागत हे. तहां कलिके धर्म संसारके सुख-दु:खकी कोन कहे! याहीतें श्रीभागवतमें श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षितसों कहत हें जो जीवकों संसारसुख तहां तांई प्रिय लागत हे जहां तांइ श्रीठाकुरजीके चरणारविंदको सुख नाहीं पायो. याहीतें भगवद्गीतामें अर्जुनके प्रति भगवान कहे हें —— “हे अर्जुन! जहां तांइ यह जीव मेरे चरणकमलके सुखकों नाहीं जानत हे तहां

तांइ संसारसुख, जो दु:खरूप हे, ताकों सुख मानिके भोग करत हे ओर जब मेरे चरणारविन्दको माहात्म्य हृदयमें आवत हे तब संसारसुख तुच्छ जानिंके छोडि देत हे"(?).

सो श्रीठाकुरजीके चरणारविन्द केसे हें? जो जिनकों श्रीलक्ष्मीजी अपने हृदयसों लगायके परमप्रेमसों सेवन करत हें. सो जो श्रीआचार्यजीकी शरण आयके दृढता करिके चरणकमलको सेवन करत हें तिनके हृदयमें श्रीआचार्यजी लीलाको अनुभव करावत हें. जो केसोहू होई साधनरहित होय, स्त्री होय, शूद्र होय पर श्रीमहाप्रभुजीके चरणकमलके दृढ आश्रयतें सगरी लीलाको अनुभव होई. एसे श्रीआचार्यजी परम-दयाल हें॥6॥

(पुष्टिसम्प्रदामें गुरुरूप श्रीवल्लभस्यको वैराग्य7रूप गुण : पुष्टिमार्गीयनके सकल कलिकालदोषनकु मिटायवेके सिवाय अन्य सगरे विषयनमे विरक्त होनो हे)

अघौघ-तमसावृतं कलि-भुजङ्गःमासादितम्
जगद्-विषय-सागरे पतितमस्वधर्मे रतम्॥
यदीक्षण-सुधा-निधिः समुदितोऽनुकम्पामृताद्
अमृत्युम् अकरोत् क्षणादरणमस्तु मे तत्पदम्॥7॥

॥इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचितं श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रं सम्पूर्णम्॥

अस्वधर्मे=अपनो नहीं एसे धर्ममें
रतम्=रचे-पचे
अघौघतमसावृतं=पापरूप अन्धकारसों
ढंक्यो भयो
कलिभुजङ्गःमासादितं=कलिरूपसर्पद्वाराग्रसित
जगद्विषयसागरे=जगद्रूप विषयके सागरमें
पतितम्=पड़्यो भयो
समुदित:=आछी भांतिसों उदित
यदीक्षणसुधानिधिः=जिनकी
देखिवेरूप अमृतनिधि
अनुकम्पामृतात्=
कृपारूप अमृतसों

क्षणाद्=क्षणवारमें
अमृत्युम्=अमरपनेकों
अकरोत्=कियो, तत्पदं=वो पद
(मे=मेरो)अरणम्=शरण,अस्तु=होउ

भावार्थ : पापनके समूहरूप अन्धकारसों आवृत्त कलिकालरूप काले नागसों ग्रस्त, जागतिक विषयनके सागरमें पड्यो भयो अरु जो अपनो धर्म नाहीं एसे कर्ममें निरत जीवकुं, जिनकी अनुकम्पाके अमृतसों प्रकट भयो ईक्षणरूप चन्द्रमा क्षणमात्रमें मृत्युरहित बनाय देत हे, तिनके पद मोकों आश्रयरूप हें!॥7॥

टीका : अब जीव हे सो केसेहु अघकी खान होय ओर तामें तामस क्रोधादिकहु हें, ओर कलि जो हे सो महामारी सर्प हे. सो या जीवकों नाना प्रकारके नाच नचावत हे. जगतमें विषयादिक जो संसार तामेंहु जीव डूबि रह्यो हे, जाको नाम 'महापतित' कहिये ताको उद्धार वेदहूमें नाहीं हे, धर्ममें रंचकहु ताकी गति नाहीं हे, एसो पापी जाको नाम कोऊ लेत नाहीं, एसो दुष्ट जीव होय सोऊ जो श्रीआचार्यजीकी शरणी आवे तो ताकेहु सकल दोष तत्काल दूरि होत हें. ताकोंहू पुष्टिमार्गको जो फल हे ताको दान श्रीआचार्यजी आप करत हें. एसे श्रीआचार्यजी आप पतितपावन परमदयाल हें. दैवी जीवनके उद्धारार्थ जिनको प्रागट्य हे. सो जो वैष्णव आचार्यजीके चरणकमलको दृढ आश्रय करि अपने हृदयकमलमें राखत हें तिनके, महासर्परूप यह कलिकाल सगरो संसारको जो ग्रास करत हे सो एसो जो काल हे, सो निकटहु नहीं आय सकत. एसे श्रीआचार्यजी महाप्रभुनके चरणारविन्द हें जो जिनको दृढ आश्रय करिके जीव यह लोक परलोकमें दोनों ठोर सुख ही पावत हे. या प्रकार 'स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत' हे सो श्रीगुसांईजी वरणन किये ताकी **टीका** श्रीहरिरायजी किये हें. अब या ग्रन्थको फल कहत हें.

मयि चेदस्ति विश्वास: श्रीगोपीजनवल्लभे
तदा कृतार्था यूयंहि शोचनीयं न कर्हिचित्॥

जो एकविश्वास श्रीगोपीजनवल्लभहीको राखत हे सो कृतार्थरूप ही हे. सो काहेतें? जो श्रीगोपीजनवल्लभ श्रीगोवर्धनधर हें तिनके चरणकमलको दृढ विश्वास जब जीवकों भयो तब वाके कृतार्थतामें सन्देह कहा रह्यो? कृतार्थरूप ही हे. सो जीव उद्धारको शोच नाहीं करत हे.

काहेतें? जो सतत श्रीठाकुरजीको भजन करत रहे तो श्रीठाकुरजी तो सर्वसामर्थ्यसंयुक्त हें. सबके अन्त:करणकों जानत हें, तातें आपुही करिके फल देइंगे. तातें श्रीठाकुरजीसों कोई वस्तुकी वांछना नाहीं करनी. काहेतें? जो आपुही फल देइंगे. तातें दृढ विश्वासतें स्मरण करनो. सो काहेतें? जहां तांइ जीवको विश्वास न होय तहां तांई कोई क्रिया करो परन्तु कछु फलकी सिद्धि नाहीं हे. ओर विश्वास होय तो श्रीठाकुरजी फलमें ढील नाहीं लगावत हें. सो केसे? जो चातकको एक स्वातिजलको विश्वास हे सो यद्यपि मेघ जड हे तोहु वाको मनोरथ पूर्ण करत हें. ओर मीनको यही स्वभाव के जो जलहीके आश्रय रहत हे. जो वाको जल ही जीवन हे. ताहीते जल वाकी रक्षा करत हे. तेसेंई अपनो जीव जानींके श्रीठाकुरजीकी सेवा करनी. क्षण एक श्रीठाकुरजीके चरणारविन्दको भजन छोडनों नाहीं, भूलनो नाहीं ताको नाम दृढ विश्वास. ओर अविश्वासतें सर्वनाश होय. जेसें पाण्डवनको विश्वास हतो तातें श्रीठाकुरजी उनकी रक्षा किए ओर दुर्योधनको अविश्वास हतो तातें वाको सर्वनाश भयो. तासों जो क्रियामें विश्वास नाहीं सो सब श्रम ही जाननों. तहां कछूहु फलकी सिद्धि नाहीं हे. तातें जाके हृदयमें श्रीठाकुरजीको मिलवेकी चाहना होय ताकों जब दृढ विश्वास होय तब सर्वफलकी प्राप्ति होय. सो दृढविश्वास श्रीआचार्यजीके चरणकमलको कोन प्रकार होय? सो ताकेलिये श्रीगुसांईजी स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत ग्रन्थ श्रीआचार्यमहाप्रभुनको जामें स्वरूपवरणन हे सो प्रगट किये. या ग्रन्थको पाठ वैष्णवनको नेमपूर्वक करनो. ता करिके श्रीआचार्यजीके चरणकमलमें दृढ विश्वास आवे ओर हृदय शुद्ध होय. जिनको रंचक अन्याश्रय होय सो दूर होय. ओर श्रीठाकुरजीकी नाना प्रकारकी जो लीला हे विनको अनुभव होय. सो पुष्टिमार्गको फल हे सो पावे.

अब श्रीहरिरायजी कहत हें जो में यह 'स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत' ग्रन्थकी **टीका** कियोहुं सो श्रीआचार्यजी ओर श्रीगुसांईजीकी कृपाते कियोहुं. जो प्रेमामृत ग्रन्थ केसो हे? सर्व वेद-पुराण श्रीभागवतमें जो सार हे, फलरूप अमृत हे, ताहीको निरूपण भयो हे. ओर या ग्रन्थमें पुराणपुरुषोत्तम श्रीमहाप्रभुजीको ही वरणन हे, तातें जो वैष्णव 'स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत'की **टीका**को बांचे-सुने-कहे ताके हृदयमें सर्वथा श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप बिराजें. तातें वैष्णवनको या ग्रन्थको पाठ भावसहित नित्य-नेमपूर्वक करत रहनो. ओर तादृशी वैष्णव होय तिनसों मिलिके या ग्रन्थको **भावार्थ** तत्त्व

विचारनो. अन्य मार्गीयके आगे या ग्रन्थको पाठ न करनो. सो काहेतें? जो अपनो मार्ग हे सो गोप्य मार्ग हे. ओर यह ग्रन्थ फलरूप हे तातें गोप्य राखनो.

॥ इति श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतम् की व्रजभाषा **टीका** समाप्त भई ॥

ये **टीका** श्रीहरिरायजीविरचित संस्कृत **टीका**सूं कछूक भिन्न स्वतन्त्र भाषा**टीका** लगे हे. क्योंके याको संस्कृत **टीका**सूं कहुं-कहुं पार्थक्य स्पष्ट हे. अथवा कोई ओरके द्वारा विरचित श्रीहरिरायजीके नामसूं प्रचलित हो गई लगे हे. विषय सुन्दर होयवेसूं कहीं-कहीं संक्षिप्त भी करके प्रकाशित कर रहे हें (सम्पादक).

॥नामरत्नाख्यस्तोत्रम्॥

(5)

श्रीदेवकीनन्दनजी श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणनके 108 नामनके विवरणको आरम्भ करिवेसूं पहिले मङ्गलाचरण करत हें.

निजैकशरणं श्रीमद्-गोकुलं सर्वतो भयात्॥
रक्षितं येन तं नित्यम् आश्रये गिरिधारिणाम्॥1॥

जिननें अपने शरणमें आये गोकुलकी सब ही तरहके भयन्सूं रक्षा कीनि हे एसे श्रीगोवर्धनकुं धारण करिवेवारे श्रीगिरिधारीनको मैं नित्य आश्रय करूं हुं.

यदुदित-पथवर्ति-देहभाजां भवति वशे किल नन्दगोपसूनुः॥
अतिकरुणमुपास्य-विट्ठलेशात्मज-रघुनाथम् अहर्निशं नतोऽस्मि॥2॥

जिनकेद्वारा उपदिष्ट पुष्टिभक्तिमार्गको अनुसरण करिवेवारेनके वश नन्दगोपकुमार श्रीकृष्ण निश्चय ही होत हें एसे अतिकरुणावारे श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणनके पुत्र श्रीरघुनाथजीकों मैं अहर्निश

प्रणाम करूं हुं.

विविध प्रकारके पापनके तापसों सन्तप्त होवते ओर अनेक जन्मन्सों भूतलपें फिरवेवारे सभी दैवीजीवनके उद्धारको सुगम उपाय श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणनके 108 नामनको निरूपण करिवेवारो ये स्तोत्र हे. सो विन नामनको निरूपण करिवेमेंहु विन नामरत्ननको ही आश्रय करते भये श्रीरघुनाथचरण मङ्गलाचरण करें हें:

यन्नामार्कोदयात् पाप-ध्वान्त-राशिः प्रशाम्यति॥
विकसन्ति हृदब्जानि तन्नामानि सदाश्रये॥1॥

यन्नामार्कोदयात्=जिनकेनामरूपसूर्यकेउदयसों
पाप-ध्वान्त-राशिः=पापरूपीअन्धकारको समूह
प्रशाम्यति=सम्पूर्ण नष्ट होय जात हे
हृदब्जानि=हृदयरूपी कमल
विकसन्ति=खिलवे लगत हे
तन्नामानि=विननामनको
सदा=सदा
आश्रये=आश्रय करूं हुं

भावार्थ : जिनके नामरूपी सूर्यके उदयसों स्वीय जननके भक्तिमार्गीय साधन-फलके आड़े आवते दोष-प्रतिबन्धादि रूप अन्धकार पूर्णरूपसों नष्ट होत हे ओर सूर्योदयसों जेसें कमल खिलि जात हे तेसें जिनके नामके कीर्तन-श्रवणादिसों स्वीय जननके हृदयकमल भगवद्भक्तिके सञ्चारसों प्रफुल्लित होय जात हें एसे श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणनके नामनको मैं आश्रय करूं हुं.

(या स्तोत्रके छन्द1 ऋषि2 देव3 विनियोग अरु फलसिद्धि4 को निरूपण)
आनुष्टुभमिहच्छन्दः1 ऋषिरग्निकुमारजः2॥
सर्वशक्तिसमायुक्तो देवः श्रीवल्लभात्मजः3॥2॥
विनियोगः समस्तेष्टसिद्ध्यर्थे विनिरूपितः4॥

इह=यामें

आनुष्टुभम्=अनुष्टुप्
छन्दः=छन्द, अग्निकुमार-जः=अग्निकुमार
श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणके पुत्र ऋषिः=मन्त्रके द्दष्टा ऋषि
सर्वशक्तिसमायुक्तः=
सर्वतरहकीशक्तिवारे
श्रीवल्लभात्मजः=श्रीवल्लभाचार्यचरणके
आत्मज एसे श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण
देवः=देवता
समस्तेष्टसिद्ध्यर्थे=सबप्रकारकीइष्टकी सिद्धिके अर्थ, विनियोगः=उपयोग
विनिरूपितः=निरूपित कियो हे.

भावार्थ : या नाममन्त्र-स्तोत्रको छन्द अनुष्टुप् हे. अग्निकुमार श्रीविट्ठलनाथ-प्रभुचरणके आत्मज श्रीरघुनाथजी या नाममन्त्रके द्दष्टा ऋषि हें. सभी प्रकारके सामर्थ्यवारे श्रीगुसांईजी या मन्त्रके अधिष्ठाता देव हें. ओर सर्व पुष्टिभक्तिमार्गीयनके सर्व प्रकारके मनोरथनकी सिद्धि करिवेमें ही या नाममन्त्रको विनियोग हे.

अब श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणके 108 नाम कहत हें:

श्रीविट्ठलः1 कृपासिन्धुर्ञ्इ2 भक्तवश्यो3ऽतिसुन्दरः4॥3॥

श्रीविट्ठलः

कर्म, ज्ञान, उपासना आदि मार्गनमे फंसे भये, भगवत्स्वरूपके ज्ञान अरु भगवद्भक्तिके ज्ञानसूं रहित दैवी पुष्टिजीवन्पेहु कृपा करिके आप विनको पुष्टिभक्तिमार्गमें अङ्गीकार करे हें तासूं आप 'विट्ठल' कहावत हें. आपके सभी नाम शुभ हें तासूं नामके आगें प्रारम्भमें ही 'श्री' कह्यो हे. आप ऐश्वर्यादि षड्गुणयुक्त हें. जेसें भगवान् भक्तनके उद्धारार्थ प्रकटे एसें आपहु दैवी पुष्टिजीवनके उद्धारार्थ भूतलपे प्रकट भये.

कृपा-सिन्धुः

भक्तोद्धारके अर्थ आपकुं प्रकट होयवेकी कहा आवश्यकता हती? तहां दूसरो नाम कहत हें:श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण कृपाके सागर हें. समुद्र जेसें रत्नन्सूं भर्यो भयो हे ओर अगाध हे तेसें आपहु भक्तिभावरूपी रत्नन्सूं भरे भये ओर अगाध गुणवारे हें. नदी,

सरोवर आदि तो अधिक जल बरसवेसूं छलकि जात हें ओर जल नहीं बरसे तो सूकि हू जात हें परि सागर तो सदा पूर्ण ही रहत हे, अपनी मर्यादाको कबहु उल्लंघन नाहिं करत हे. आपकु कृपाके सागर कहिके यह जताय जो जेसें समुद्र सदा परिपूर्ण रहत हे तेसें आपुकी कृपाहु पुष्टिजीवन्पें सदा पूर्ण रहत हे. आप कृपालु हें तासों पुष्टिजीवनके उद्धारार्थ प्रकट भये हें.

भक्त-वश्य:

उपर कह्यो जो आप मर्यादाको कबहु उल्लङ्घन नाहिं करत हें. तहां शङ्का होत हे जो मर्यादा कोनसी मर्यादा? तहां कहत हें:आप भक्तनके वश हें अथवा भक्तनकु अपने वशमें राखत हें. तासों मर्यादा भक्तिरूप जाननी. आशय ये हे जो आप कबहु भक्तिमार्गकी मर्यादाको उल्लङ्घन नाहिं करत हें.

अति-सुन्दरः

आपके स्वरूपको वर्णन करत हें:आप अत्यन्त सुन्दर हें. अर्थात् जितनी सुन्दर वस्तु हें तिन सबन्सों आप सुन्दर हें. क्यों जो आप आनन्दमय हें.

कृष्णलीलारसाविष्टः5 श्रीमान्श्च्इ6 वल्लभ-नन्दनः7॥
दुर्दृश्यो8 भक्तसन्दृश्यो9 भक्तिगम्यो10 भयापहः11॥4॥

कृष्ण-लीला-रसाविष्टः

तहां शङ्का होत हे जो आपको आनन्द केसो हे? सो कहत हें:पूर्ण आनन्द ही जिनको स्वरूप हे एसे श्रीकृष्णकी लीलारससों आप परिपूर्ण हें.

गीतामें भगवा**नने** कह्यो हे जो “जो जाके उपर श्रद्धावारो होय हे सो तद्रूप होत हे”. श्रद्धामात्रसों जो तद्रूप होत होय तहां जाकों साक्षात् स्वरूप-लीलको सदा आवेश रहतो होय वाकी आनन्दरूपतामें कहा कहनो! सो जेसें श्रीकृष्णको स्वरूप ओर लीला अलौकिक हें तेसें वा स्वरूप-लीलारससों परिपूर्ण आनन्दहु आपमें अलौकिक ही हे.

श्रीमान्

तहां कहत हें जो रसावेशको अनुभव तो अन्त:करणमें ही होत हे. सो केसे जान्यो जाय? तहां नामान्तर कहत हें:भगवद्रसावेश होयवेपें जो रोमाञ्च होत हे सो आपमें बाहर हु प्रकट होत हे. एसी शोभावारे होयवेसूं आपकों ‘श्रीमान्’ कहे हें. ओर हु कहत

हें जो जेसें पात्रमें रस अन्दर पूर्ण भरि जाय तापाछें बाहर उच्छलित होतही हे तेसें आपमें पूर्णानन्द अन्त:प्रविष्ट होयवेसूं वाको बाहरहु प्रकट होनो युक्त ही हे.

वल्लभ-नन्दनः

अब आपके प्राकट्यके विषे कहत हें:महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके घर प्रकट होयके आप विनकों ओर सबनके मनोरथ पूर्ण करिके आनन्द देत हें.

दुर्दृश्य:

सबनके मनोरथ पूर्ण करत हें तब सब ही आपको भजन क्यों नहीं करत हें? तहां नामान्तर कहत हें:भक्तजननकु छांड़िके अन्य कोउ आपके अलौकिक स्वरूपको दर्शन कष्टसूंहु करि सकत नाहिं. क्यों जो अलौकिक स्वरूप तो लौकिक इन्द्रियन्सूं देख्यो जासके एसो होत नाहिं. सो वा इन्द्रियातीत स्वरूपको दर्शन तो आप स्वयं इच्छा करें तबही होइ सकत हे.

भक्त-सन्दृश्य:

तहां शङ्का होत हे जो इन्द्रियातीत स्वरूपको दर्शन भक्तजन हु केसे करत होइंगे? तहां कहत हें:भक्त तो आपुके दर्शन अनायास ही करी सकत हें. क्यों जो दर्शन आपकी इच्छाके अधीन हें. भक्तनके विषे आपकी इच्छा अनुकूल होइवेसों भक्त आपके दर्शन करी सकत हें.

भक्ति-गम्य:

दर्शन तो इन्द्रियन्सों होत हे. इन्द्रियनमे ही अलौकिक स्वरूपके दर्शनको सामर्थ्य नहीं होय तब आपके दर्शन केसे होइ सकें? तहां नामान्तर कहत हें:भक्तिसों आपको ज्ञान ओर दर्शन होइ सकत हें एसें आप हें. अर्जुनकुं जब भगवानके अलौकिक स्वरूपको दर्शन करिवेकी इच्छा भई तब भगवा**नने** वासों कह्यो जो तेरे या लौकिक चक्षुसों मेरो दर्शन तोकों होइ नहीं सकेगो. तासों में तोकों दिव्य चक्षु देत हों. यों कहीके भगवानने अर्जुनकों भक्तिरूपी दिव्य-अलौकिक द्रष्टि दीनी. तासों अर्जुनने भगवानके विश्वरूप स्वरूपको दर्शन करे. क्यों जो भगवान् स्वयं गीतामें आज्ञा करत हें जो “भक्तिसूं मोकु आछी भांतिसूं जाने हे” “अनन्य भक्तिसूं ही मेरे एसे स्वरूपको

दर्शन होइ सकत हे". एसें ही श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणके अलौकिक स्वरूपके दर्शनहु आपमें भक्ति होयवेपे होइ
सकत हें.

भयापहः

तहां शङ्का होत हे जो जेसें कालदोषसूं रात्रिके अन्धकारमें चक्षु विद्यमान् वस्तुकुं हु देखी नाहिं सकत हे तेसें भक्तकों हु आपके दर्शनमें कलिकालादिकके प्रतिबन्ध आय सके हें. तब भक्त आपके दर्शन नाहिं करि सकेगो. तहां दूसरो नाम कहत हें:आप काल, कर्म, स्वभाव आदि कृत सर्व प्रकारके प्रतिबन्धनको दूर करिवेवारे हें.

अनन्यभक्तहृदयो12 दीनानाथैकसंश्रयः13॥
राजीवलोचनो14 रासलीलारसमहोदधिः15॥5॥

अनन्य-भक्त-हृदय:

बहारके भय तो जानिवेमें आय सकत हें तासों विनकुं दूर करि सकत हें परि अन्दरके प्रतिबन्धको ज्ञान होइ सकत नाहिं. सो केसे निवृत्त होइंगे? तहां एक ओर नाम कहत हें? जो श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य काहुको भजन नाहिं करत हें एसें अनन्यभक्त आपके हृदय हें. अथवा अनन्यभक्तनके हृदयमें आप बिराजे हें. तासों विनके अन्दरके प्रतिबन्धनकु जानिके नाश करत हें. भागवतमें कह्यो हे जो "साधु पुरुष मेरो हृदय हें ओर में साधु पुरुषनको हृदय हुं". तासोंहु आप भगवदीयनके आन्तर्दोषनकु जानि सकत हें.

दीनानाथैक-संश्रयः

आप तो ईश्वर हें, जीवन्सों समानता आप क्यों करत हें? आप सर्वसाधनसों हीन एसे दीन ओर जिनको अन्य कोउ आश्रय नाहिं हे एसे अनाथ जीवनके एकमात्र आश्रय हें. जो जाको आश्रय बनत हे सो यदि आश्रितके सङ्ग सदाही नहीं रहे तो वो 'आश्रय'ही नाहिं कहावत हे. 'संश्रय' कहीके ये सूचित कियो जो श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण जो आश्रित होत हें विनके सदा सङ्ग ही रहत हें.

राजीव-लोचन:

अब कहत हें जो आधुनिक जीव भक्तिमार्गमें होयवेपेहु संसारमें पड़े भये होयवेसूं विनके तापकुं मिटानो कठिन हे. तहां आगेको नाम कहत हें:कमलपत्रके जेसे आपके नेत्र हें सो कृपापूर्ण दृष्टि करिवेमात्रसों भक्तनके त्रिविध तापनको दूर करिदेत हें.

रास-लीला-रस-महोदधिः

कमल तो जहां तांई जलमें रहत हे तहां तांई सरस होत हे तासों तापहारक होत हे जलसों बाहर निकासिवे पाछें तो नीरस होइ जात हे. सो नीरस कमल जेसें ताप दूरि नाहिं करि सकत हे तेसें कमलतुल्य होवेसों आपकी दृष्टिहु कदाचित् ताप दूर करि न सके? तहां नामान्तर कहत हें? आप रासलीलाके रसके महान् समुद्र हें. 'महान्' वो कहात हे जाकु नापी नाहिं सकात. सरोवरमें होते प्राकृत कमल कदाचित् तापसों सूकी सकत हें परि रससमुद्र श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणके श्रीअङ्गमें रहे भये नेत्रकमल तो सदा रससों परिपूर्ण होइवेसों कबहु निरस नाहिं होत हें. तासों आपके नेत्रकमल भक्तनके तापकुं निश्चय ही हरत हें.

धर्मसेतुर्ङ्इ16 भक्तिसेतुः17 सुखसेव्यो18 व्रजेश्वरः19॥
भक्तशोकापहः20 शान्तः21 सर्वज्ञः22 सर्वकामदः23॥6॥

धर्म-सेतु:

यदि समुद्र उच्छलित होय तो वाको जल सर्वत्र फेल जाय. आप हु रासलीलारसके समुद्र हें तब सर्वत्र वा रसकु प्रकट क्यों नाहिं करत हें? तहां नामान्तर कहत हें:श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण धर्म, अर्थ, काम ओर मोक्ष इन चार्यों पुरुषार्थनको पालन करिवारे हें. यदि सर्वत्र वा रसकुं प्रकट करि दें तो अन्य पुरुषार्थनकु कौन पूछेगो! तासूं आप एसो नाहिं करत हें.

भक्ति-सेतुः

भक्तिमार्गीनकु यदि धर्मादि पुरुषार्थन्सूं कोउ प्रयोजन नाहिं हे तब धर्मादि पुरुषार्थ विनकुं कर्तव्यहु नाहिं हें. तब आप विनके पालक केसे कहवावेंगे? तहां नामान्तर कहत हें:श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण पुष्टिमार्गीय फलरूप भक्तिके पालक हें. साधनरूपा भक्तिमें वर्णाश्रमादि धर्मनको परित्याग कर्तव्य नाहिं हे. तासों भक्तिमागीहु विनको आचरण करत हें. आप तो धर्म ओर भक्ति दोउनके पालक हें. तासों जाको जा मार्गमें अङ्गीकार होय वाको वा मार्गकी रीति अनुसार पालन करत हें.

सुख-सेव्यः

तहां कहत हें जो भक्तिमार्गमेंहु क्वचित् धर्मादिको त्याग देखिवेमें आवत हे. सो क्यों? आप सुखसों सेवाकरिवे योग्य हें. भगवदीयनकोतो सबही काल सेवार्थ ही होत हे. तासों भगवत्सेवाके कालमें यदि अन्य कर्तव्य प्राप्त होते होंय तो भगवदीयजन वे कर्तव्य सेवाके अनवसरमें करत हें. या बातको विवेचन श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण**ने** "आदराद् अलोपः" या ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें विस्तारसों कियो हे. तासों आपकुं 'सुखसेव्यः' कहे हें.

व्रजेश्वरः

तहां कहत हें जो अब तांई जिन नामनको निरूपण कियो सो नामनमे वर्णित गुण तो केवल पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें ही होय सके हें. ओर श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण तो वेसे दीसत नाहिं हें. आप तो अन्य अवतारनकेसे दीसत हें. तब पूर्वोक्त गुण आपमें केसे सङ्गत होइंगे? तहां नामान्तर कहत हें:आप व्रजके ईश्वर हें. इतनें, प्रभूनको साक्षाद् आविर्भाव तो व्रजमें ही हे सो "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्नः"की सुबोधिनीमें श्रीआचार्यचरण**ने** निरूपण कीनो हे. श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणहु स्थिररूपसों सदा व्रजमें व्रजेश्वरकी न्याइं बिराजे सो व्रजेश्वर हें सो आपको यह नाम यथार्थ ही हे.

भक्त-शोकापहः

श्रीकृष्ण तो भक्तनके भयकूं हरिवेके अर्थ व्रजमें पधारे हते. श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणन् हु कहा वाही हेतुसों व्रजमें पधारे हते? तहां आगेको नाम कहत हें:भक्तनके शोक इतनें आर्तिकूं दूरि करिवेवारे आप हें. जेसें भगवान् श्रीकृष्णको आविर्भाव भक्तनके भयकूं हरिवेके अर्थ भयो हतो तेसें आपको प्राकट्यहु समझनो.

शान्तः

भगवान् तो भक्तके अनिष्टनको निवारण समर्षणव्यूहद्वारा करत हें, आपु तो भक्तको इष्ट ही करत हें. परि श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण भक्तके अनिष्टनको वारण करत हें तब आपमें क्रोधादिकहु सम्भवते होईंगे, सो कहा वे भगवानके समर्षणव्यूहरूप हें? तहां नामान्तर कहत हें:आप शान्त हें, इतनें क्रोधसों रहित हें. तासों आपकों समर्षणरूप न जानने. अथवा जेसें-जेसें भक्तकों इच्छा होत हे तेसें-तेसें विनकी

इच्छानकी पूर्ति करत हें. शान्त कहीके आप भक्तनके इष्टको सम्पादन करिवेवारे हें एसें जतायो.

सर्व-ज्ञः

तहां शङ्का होत हे जो इच्छा तो मनमें होत हे, ताकोज्ञान आपकों केसे होत हे? तहां दूसरो नाम कहत हें:अन्दर-बाहरसबकछु आप जाने हें. आप भगवान् हें तासों आपमें सबकछु उपपन्नहे.

सर्व-काम-दः

आप सर्वज्ञ भले होउ परि विविध प्रकारके भक्तनकी विविध प्रकारकी इच्छानकु पूर्ण करनो तो अत्यन्त कष्टसूं साध्य हे सो आप केसें करत हें? यह शङ्का होय तहां दूसरो नाम कहत हें:आप भक्तनको अभिलषित सब देवेवारे हें.

रुक्मिणीरमणः24 श्रीशो25 भक्तरत्नपरीक्षकः26॥
भक्तरक्षैकदक्षः27 श्रीकृष्णभक्तिप्रवर्तकः28॥7॥

रुक्मिणी-रमणः

प्रकारान्तरसों हु श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणको भगवान्सों साम्य अन्य दो नामन्सों कहत हें:आप श्रीरुक्मिणीजीके पति हें.

श्रीशः

आप श्रीलक्ष्मीजी स्वरूप श्रीपद्मावतीजीके पति हें.

भक्त-रत्न-परीक्षकः

अब शङ्का होत हे जो पुष्टिभक्त अरु साधारण मनुष्य एक सरिखे ही दीसत हें तब विनमेंते पुष्टिभक्तनको आप केसें जानत होईंगे? तहां आगेको नाम कहत हें:आप भक्तरूपी रत्ननके परीक्षक हें. इतनें, जेसें जौहरी रत्न जेसे भासित होते काचादिककूं अलग करिके विनमेंसूं रत्ननकु पृथक् जानि लेत हे तेसें आप उत्तम पुष्टिभक्तनको अन्य साधारण मनुष्यन्सूं जुदे जानि सकत हें.

भक्त-रक्षैक-दक्षः

जाके पास रत्न होत हे सो वाकी रक्षामें सदा तत्पर रहत हे; भक्तहु रत्नरूप हें तासों कहा आपहु विनकी रक्षामें सदा तत्पर रहत होईंगे? तहां नामान्तर कहत हें:आप भक्तनकी रक्षा करिवेमें प्रवीण हें. इतनें, आप जो कछु करत हें सो भक्तकी रक्षाके काज ही करत हें एसें मूलमें 'एव'कारसों जतायो हे.

श्रीकृष्ण-भक्ति-प्रवर्तकः

एसें करिवेको कारण नामान्तरसों कहत हें:फलरूप श्रीकृष्णमें सर्वात्मभावरूपा भक्तिके आप प्रवर्तक हें. भक्तकों जब तांई फलरूप भक्ति सिद्ध नाहिं होत हे तब तांई वाके भगवद्भावकी रक्षा करनी आवश्यक होत हे. सो श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण जेसें भक्तिमार्गके प्रवर्तक हें तेसें रक्षकहु हें.

महासुरतिरस्कर्ता29 सर्वशास्त्रविदग्रणीः30॥
कर्मजाड्यभिदुष्णांशुः31 भक्तनेत्रसुधाकरः32॥8॥

महासुर-तिरस्कर्ता

इतर मार्गनको प्रतिपादन करिवेवारे अनेक विद्वाननके उपेदेशनको श्रवण करिवेसूं सबनके चित्त भ्रान्त होय रहे हें तामें निर्गुण पुष्टिभक्तिमार्गमें प्रवृत्ति केसें होयगी? तहां नामान्तर कहत हें:भागवतोक्त मार्गसों भिन्न मार्गको प्रतिपादन करनो सो असुरपनों जाननो. तामेंहु भक्तिमार्गको विरोध तो महा असुरपनों हे. एसे महा असुरनको आप तिरस्कार करिवेवारे हें. इतनें, जिन प्रमाणन्सों इतरमार्गीय पण्डितें स्वमार्गको प्रतिपादन करत हें वा ही प्रमाणन्सों विनके मार्गनके अप्रामाण्यको आप प्रतिपादन करत हें.

सर्व-शास्त्र-विदग्रणीः

इतर मार्गीय पण्डितहु शास्त्र जाने हें, वे श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणके आगें केसें चुप होइ जात हें? तहां नामान्तर कहत हें:सर्व शास्त्रनके ज्ञातानमे आप अग्रणी हें इतनें अधिक ज्ञानवान् हें. तासों आपके आगें अन्य पण्डित चुप होइ जात हें सो युक्तही हे.

कर्म-जाड्यभिदुष्णांशुः

श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणकी सर्वाधिक ज्ञानवत्तामें प्रमाण कहत हें:कर्म, ज्ञान आदि मार्गनकी जड़ताकों दूर करिवेवारे सूर्यरूप हें. इतनें, यद्यपि, अग्नि आदि द्वारा हु

रात्रिके समय शीतादि जन्य जड़ताको वारण होइ सकत हे तथापि सूर्य सर्वाधिक तेजस्वी होत हे तासों सूर्यसों जेसें जड़ताको सर्वत्र नाश होत हे तेसो अन्य कोउ प्रकारसों नाहिं होत हे. तेसें आप सर्वाधिक ज्ञानवान् हें तासों कर्मादिमार्गनमे जड़ताके कारण फंसे भये दैवी जीवनकी जड़ताकों आप ही दूरि करि सकत हें तासों सूर्यरूप कहे हें.

भक्त-नेत्र-सुधाकरः

आपकों सूर्य कहे हें सो कहा भक्तनको आप तापरूप नाहिं होईंगे? तहां नामान्तर कहत हें:श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण भक्तनके नेत्रनको अपने स्वरूपामृतको दान करिके विनके तापको हरण करिवेवारे सुधाकर इतनें चन्द्ररूप हें.

महालक्ष्मी-गर्भरत्नं33 कृष्ण-वर्त्म-समुद्भवः34॥
भक्त-चिन्तामणिः35 भक्तिकल्पद्रुम-नवामुरः36॥9॥

महा-लक्ष्मी-गर्भ-रत्नम्

श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणके प्राकट्यको प्रकार कहत हें:आप श्रीमहालक्ष्मीजीके गर्भसों प्रकट भये रत्नके सामान् हें. जेसें रत्न खानमें होत हे परि कोउ भाग्यवानको ही प्राप्त होत हे तेसें आप सदाही विद्यमान् हें परि भक्तनके भाग्योदयके काज प्रकट भये.

कृष्ण-वर्त्म-समुद्भवः

भूतलपें प्रकट होईके आपने कहा कीनो सो कहत हें? आपनें कृष्ण सम्बन्धी निर्गुण पुष्टिभक्तिमार्गको प्राकट्य कियो. अथवा 'कृष्णवर्त्म'को अर्थ अग्निहु होत हे. तासों वैश्वानरस्वरूप श्रीवल्लभाचार्यचरणन्सों आपको प्राकट्य हे अतः आपको अग्निकुमारपनों हु सिद्ध होत हे.

भक्त-चिन्तामणिः

पुष्टिभक्तिमार्गीनके भगवान् विषयक मनोरथ तो अनेकविध होत हें सो सब भक्तनके सब मनोरथ केसें पूर्ण करत होईंगे? तहां नामान्तर कहत हें:श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण भक्तनके चिन्तामणिरूप हें. इतनें, जेसें चिन्तामणि चिन्तित विषयकों प्राप्त करावत हे तेसें, प्रार्थना विना ही आप भक्तनके चिन्तित विषयकों उपलब्ध करि देत हें.

भक्ति-कल्पद्रुम-नवामुरः
आप केवल चिन्तित अर्थकों ही देत हें, प्रार्थित अर्थकों कहा नाहिं देत हें? तहां नामान्तर कहत हें:आप भक्तिरूपी कल्पद्रुमके नवीन अमुररूप हें. यहां यह भाव जाननो जो भक्तिरूपी कल्पद्रुमके अमुरित होयवे मात्रसों भक्तके सर्व अर्थ सिद्ध होई जात हें तहां भक्ति जब सिद्ध होय तब कहा अर्थ प्राप्त न होय! तासों चिन्तामणिरूप होईवेसों चिन्तित अर्थकों देत हें अरु कल्पवृक्षरूप होईवेसों प्रार्थित अर्थकोंहु देत हें, एसें आपमें दोउगुणहें.

श्रीगोकुल-कृतावासः37 कालिन्दी-पुलिन-प्रियः38॥
गोवर्धनागमरतः39 प्रियवृन्दावनाचलः40॥10॥

श्रीगोकुल-कृतावासः
आपके बिराजवेके स्थान विषे कहत हें:श्रीयुक्त गोकुलमें जिननें निवास कियो हे एसे आप हें. जेसें श्रीकृष्णके जन्ममात्रसों व्रज सर्व सौभाग्ययुक्त होइ गयो एसें श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण हु लक्ष्मीजी सहित गोकुलमें बिराजत हें.

कालिन्दी-पुलिन-प्रियः
आपके गोकुलमें ही बिराजवेको कारण कहत हें:आपकों श्रीयमुनाजीको तट अत्यन्त प्रिय हे. श्रीयमुनाजीके तटपें आपकों अभीष्ट भगवल्लीलाको सुख प्राप्त होत हे.

गोवर्धनागम-रतः
श्रीगोवर्धन पधारिवेमें आप सदा उत्सुक रहत हें.

प्रिय-वृन्दावनाचलः
श्रीगोवर्धन पधारिवेको कारण जनावत हें:श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणकों वृन्दावन अरु अचल=श्रीगोवर्धन प्रिय हें. अथवा आप वृन्दावनमें अचल प्रीतियुक्त हें एसो हु अर्थ हे.

गोवर्धनाद्रि-मखकृन्त्र्इ41 महेन्द्र-मद-भित्-प्रियः42॥
कृष्णलीलैक-सर्वस्वः43 श्रीभागवत-भाववित्त्र्इ44॥11॥

गोवर्धनाद्रि-मख-कृन्
श्रीगोवर्धन पधारिकें आप कहा करत हें? श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण गोवर्धन सम्बन्धी यज्ञके करिवेवारे हें. जेसें भगवान् श्रीकृष्णनें अवतारकालमें 'गोसव' नामको यज्ञ कियो

हतो तेसें आपहु प्रतिवर्ष ताही प्रकारसों गोवर्धनमें यज्ञ करत हें.

महेन्द्र-मद-भित्-प्रियः

श्रीकृष्णावतारमें गोवर्धनयज्ञके बखत तो साक्षात् श्रीगोवर्धननें सब सामग्रीनको अङ्गीकार कियो हतो, आप जो यज्ञ करत हें तबहु कहा एसे ही अङ्गीकार करत हे? तहां नामान्तर कहत हें:इन्द्रके अभिमानकों दूरि करिवेवारे श्रीकृष्णचन्द्र आपकों अत्यन्त प्रिय हें. इतनें, जो जाको प्रिय होत हे सो अपने कार्यके करते अपने प्रियके कार्यकों अधिक मानत हे. तासों श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणके कार्यकों श्रीकृष्ण अधिक मानिके अङ्गीकार करत हें.

कृष्ण-लीलैक-सर्वस्वः

आपकी कृष्णप्रियता तो अनिर्वचनीय हे, वाको ज्ञान अन्य भक्तनको केसें होई सकत हे? तहां नामान्तर कहत हें:श्रीकृष्णकी लीलाही आपको सर्वस्व हे. आप निरन्तर कृष्णलीलाको ही स्मरण, कथन, श्रवण आदि करत हें. याहीतें आपकी कृष्णासक्तिको ज्ञान होई जात हे.

श्रीभागवत-भाव-वित्

श्रीकृष्णलीलाको स्मरणादि आप केसें करत हें? तहां नामान्तर कहत हें:श्रीभागवतके भावकों जानिवेवारे हें. श्रीभागवत भक्तिशास्त्र हे या तत्त्वकूं जो जानत हें विनकों ही श्रीभागवतके अध्ययनसों भगवदासक्ति होत हे अन्यकों नाहिं होत हे.

पितृ-प्रवर्तित-पथ-प्रचार-सुविचारकः45॥
व्रजेश्वर-प्रीति-कर्ता46 तन्निमन्त्रण-भोजकः47॥12॥

पितृ-प्रवर्तित-पथ-प्रचार-सु-विचारकः

आप तो सर्वज्ञ हें तासों भक्तिशास्त्रके विषे सब कछु जानत हें परि अन्य तो सर्वज्ञ नाहिं हें सो वे लोग केसे समजें? तहां नामान्तर कहत हें:श्रीवल्लभाचार्यचरणद्वारा प्रवर्तित पुष्टिभक्तिमार्गके प्रचारके विषे आप बहुत विचार करिवेवारे हें. इतनें जो मार्गमें आयो भयो हे सो सामान्य व्यक्ति हु भक्तिमार्गके सिद्धान्तकों आछी भांतिसों समुझी सकत हे. अरु कोई पण्डित हु होय परि मार्गमें यदि आयो न होय तो कछु समुझी सकत नाहिं हे यह जाननो.

व्रजेश्वर-प्रीति-कर्ता

पुष्टिभक्तिमार्गको ज्ञान कराईके आप कहा फल देत हें? तहां नामान्तर कहत हें:व्रजके ईश्वर श्रीकृष्णमें सर्वात्मभावरूपा भक्ति करावत हें. इतनें, सर्वात्मभावरूपा भक्तिसों अधिक पुष्टिभक्तिमार्गमें ओर कोउ फल नाहिं हे. तासों ये मार्ग स्वयं ही फलरूप हे तहां या मार्गतें कहा फल होत हे ये शङ्का ही अप्रस्तुत हे.

तन्-निमन्त्रण-भोजकः

भक्तिमार्गमें कोऊ जीव अधिकारी हे. तासों शूद्रादि हीन योनिके जीव भक्तिमार्गमें आयके प्रभूनको भोगादिक समर्पें तो कहा प्रभु विनद्वारा समर्पित भोगको अङ्गीकार करत होईंगे? तहां नामान्तर कहत हें:आपके निमन्त्रणके वश श्रीकृष्ण सर्व पुष्टिभक्तिमार्गीनिके वहां भोगादिको अङ्गीकार करत हें. इतनें, शास्त्रमें कह्यो हे जो ब्राह्मण हु यदि भक्त नाहिं हे तो वाके द्वारा समर्पितकोहु भगवान् अङ्गीकार नाहिं करत हें. ओर शूद्र हु यदि भक्त हे तो वाके द्वारा समर्पितको भगवान् प्रेमसों स्वीकार करत हें. तासों श्रीवल्लभाष्टकमें कह्यो हे "या पुष्टिभक्तिमार्गमें स्थित जो कोउ भक्त कोउ वस्तुको कहुंहु केसेंहु प्रभूनको समर्पण करत हे वाको गोपीपति भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्नतासों अङ्गीकार करत हें".

बाल-लीलादि-सुप्रीतो48 गोपी-सम्बन्धि-सत्कथः49॥
अति-गम्भीर-तात्पर्यः50 कथनीय-गुणाकरः51॥13॥

बाल-लीलादि-सु-प्रीतो

श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण प्रभूनकी बाल, पौगण्ड तथा किशोर लीलामें अतिशय प्रीतिवारे हें.

गोपी-सम्बन्धि-सत्कथः

एसें श्रीभागवत पुराणके दशमस्कन्धके प्रमाण, प्रमेय तथा साधन प्रकरणमें निरूपित भगवल्लीलामें आपकी आसक्तिको निरूपण करिके अब फल प्रकरणमें निरूपित भगवल्लीलामें आपकी विशेष आसक्ति अगले नामसूं जतावत हें:श्रीगोपीजननकी उत्तम लीलाकथाकों कहिवेवारे हें.

अति-गम्भीर-तात्पर्यः

आप जो भगवत्कथा कहत हें ताको तात्पर्य अत्यन्त गम्भीर होत हे. यों कहिके यह जताय जो भक्त विना अन्य कोउ आपके तात्पर्यकों जानि सकत नाहिं हे.

कथनीय-गुणाकरः

श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण उत्तम प्रकारसों वर्णन करिवे योग्य अनन्त गुणनके भंडार हें.

पितृ-वंशोदधि-विधुः स्वानुरूप-सुतप्रसूः53॥
दिक्चक्रवर्तिसत्कीर्तिर्ऋइ54 महोज्ज्वल-चरित्रवान्ऋइ55॥14॥

पितृ-वंशोदधि-विधुः

श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण पिताके वंशरूप समुद्रमेंसों चन्द्रके जेसें प्रकट भये हें. चन्द्रोदय होयवेपें समुद्रमें वृद्धि होत हे एसें आपके प्राकट्यसोंहु पितृवंशकी वृद्धि भई हे.

स्वानुरूप-सुत-प्रसूः

श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण अपने तुल्य पुत्रनको प्रकट करिवेवारे हें.

दिक्चक्रवर्ति-सत्कीर्तिः

आपकी उत्तम कीर्ति सर्व दिशानमे व्याप्त हे.

महोज्ज्वल-चरित्रवान्

श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण महान् उज्वल चरित्रवारे हें. इतनें, दिशा जेसें परिमित होत हे तेसें आपकी कीर्तिमेंहु काहुकों परिमितताकी शङ्का होय सो ताके वारणके अर्थ कहत हें जो आपको चरित्र महान् इतनें अपरिमित गुणन्सों पूर्ण निर्दोष चरित्र हे.

अनेक-क्षितिप-श्रेणी मूर्धासक्त-पदाम्बुजः56॥
विप्र-दारिद्र्य-दावाग्निः57 भूदेवाग्नि-प्रपूजकः58॥15॥

अनेक-क्षितिप-श्रेणी-मूर्धा-सक्त-पदाम्बुजः

आपके चरणारविन्द अनेक राजानके मस्तकउपर हें. इतनें आपके अलौकिक प्रभावसों राजा जोतसिंह, राजा आसकरण, राजा टोडरमल, अकबर, पीरजादी, बीरबल जेसें अनेक राजपुरुष आपकों मानत हते.

विप्र-दारिद्र्य-दावाग्निः

दानादिकरिकें ब्राह्मणनकी दरिद्रताको नाश करिवेवारे हें.

भूदेवाग्नि-प्रपूजकः

यज्ञादिकद्वारा आप पृथ्वी, देवता अरु अग्नि को सत्कार करत हें. शास्त्रमर्यादाके रक्षणार्थ द्वारकामें भगवान् जेसें यज्ञ-दान-तीर्थ-तर्पणादि शास्त्रीय कर्म करत हते तेसें श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणहु लोकमें शास्त्रमर्यादाके रक्षणार्थ यज्ञादि
करत हें.

गो-ब्राह्मण-प्राण-रक्षा-परः59 सत्य-परायणः60 ॥
प्रिय-श्रुतिपथः61 शश्वन् महा-मखकरः62 प्रभुः63॥16॥

गो-ब्राह्मण-प्राण-रक्षा-परः

आप गाय अरु ब्राह्मण के प्राणनकी रक्षा करिवेवारे हें.

सत्य-परायणः

आप सत्य इतनें परब्रह्ममें परायण रहिवेवारे भगवदीय हें. अथवा आप सत्य इतनें उत्तम ज्ञानवान् हें.

प्रिय-श्रुति-पथः

आपकों वेदमार्ग अति प्रिय हे. कृष्णावतारमें श्रुतियें गोपीरूपसों प्रकट भई हती. तासों विन श्रुतिरूपा गोपीजननको मार्ग आपकों अति प्रिय हे एसोहु भाव या नामको हे.

शश्वन् महा-मख-करः

आप निरन्तर सोमादि महायज्ञ करिवेवारे हें. इतनें, अन्य जन तो स्वर्गलोकादिककी प्राप्तिके अर्थ यज्ञ करत हें परि आप तो प्रभुकों यज्ञरूप जानिके विनकी प्रीतिके अर्थ यज्ञ करत हें तासों मूलमें 'महा'पद कह्यो हे.

प्रभुः

आप सर्वसमर्थ हें.

कृष्णानुग्रह-संलभ्यो64 महा-पतित-पावनः65॥
अनेकमार्ग-संक्लिष्ट-जीव-स्वास्थ्यप्रदो महान्ञ्इ66॥17॥

कृष्णानुग्रह-संलभ्यो
आपके द्वारा श्रीकृष्णको अनुग्रह सुलभ होत हे.

महा-पतित-पावनः
श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण महापतित जीवनकोहु पावन करिके उद्धार करिवेवारे हें.

अनेक-मार्ग-संक्लिष्ट-जीव-स्वास्थ्य-प्रदो महान्
आप कर्म-ज्ञान-उपासनादि अनेक मार्गनमे भटकिके क्लेश पायवेवारे जीवनको स्वस्थता प्रदान करिवेवारे हें.

नाना-भ्रम-निराकर्ता67 भक्ताज्ञानभिदुत्तमः68॥
महा-पुरुष-सत्ख्यातिर्ङ्इ69 महा-पुरुष-विग्रहः70॥18॥

नाना-भ्रम-निराकर्ता
अनेक प्रकारके मार्गनके उपदेशकों श्रवणकरिकें भ्रान्त भये जीवनके भ्रमको निराकरण करिवेवारे आप हें.

भक्ताज्ञानभिदुत्तमः
आप स्वकीय भक्तनके सर्वविध अज्ञानकों दूरि करिवेवारे उत्तम आचार्य हें.
महा-पुरुष-सत्ख्यातिर्
आपकी ख्याति महापुरषनमे हु हे. अथवा आपके कारण महापुरुषनकी ख्याति हे. अथवा आपकी ख्याति महापुरषन्सों हु अधिक हे.

महा-पुरुष-विग्रहः
आपको विग्रह महापुरुषनके काज हे. जो भगवत्सम्बन्धि होत हें वे ही 'महापुरुष' कहवावत हें. एसे महापुरुषनके काज आप प्रकट भये हें. अथवा भगवदीय आपके विग्रह-अङ्गःरूप हें एसो हु अर्थ होत हे.

दर्शनीयतमो71 वाग्मी72 मायावाद-निरास-कृत्ङ्इ73॥
सदा प्रसन्न-वदनो74 मुग्ध-स्मित-मुखाम्बुजः75॥19॥

दर्शनीय-तमो

आप अत्यन्त दर्शनीय-सुन्दर हें.

वाग्मी

आपकी वाणी मनोहर. आप प्रमाण-युक्ति पुरस्सर जेसें सर्वजननको बोध होय तेसें प्रतिपादन करत हें.

माया-वाद-निरास-कृत्

आप मायावादको निरास करिवेवारे हें.

इतनें जगत मायासों बन्यो हे एसे जा मायावादको श्रीशमराचार्यने प्रतिपादन कियो वाको निरास करिवेवारे हें. यह कहिके यह हु जतायो जो शास्त्रसों विरुद्ध जितने मत-वाद हें विन सबके आप निरासकर्ता हें.

सदा प्रसन्न-वदनो

आप सदा प्रसन्नतासों बिराजत हें. आपके कारण आपके सेवकहु सदा प्रसन्न रहत हें.

मुग्ध-स्मित-मुखाम्बुजः

आपको मुखारविन्द सुन्दर हास्ययुक्त हे.

प्रेमार्द्रदृग्-विशालाक्षः76 क्षितिमण्डलमण्डनः77॥
त्रिजगद्-व्यापि-सत्कीर्ति-धवलीकृत-मेचकः78 ॥20॥

प्रेमार्द्र-दृग्-विशालाक्षः

प्रेमसों भीजे नेत्रवारे भक्तन्पें आप कृपायुक्त विशाल नेत्रन्सों देखत हें.

क्षिति-मण्डल-मण्डनः

आपसों 'क्षितिमण्डल' इतनें पृथ्वी शोभायमान् भई हे.

त्रिजगद्-व्यापि-सत्कीर्ति-धवलीकृत-मेचकः

तीनों लोकनमे व्याप्त कीर्तिसों आपने दैवी पुष्टिजीवनको पवित्र किये हें.

वाक्सुधाकृष्ट-भक्तान्तः-करणः79 शत्रु-तापनः80॥
भक्त-संप्रार्थित-करो81 दासदासीप्सितप्रदः82॥21॥

वाक्सुधाकृष्ट-भक्तान्तः-करणः

अपने वचनरूपी अमृतसों श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणनें भक्तनके अन्त:करणकों वश किये हें.

शत्रु-तापनः

शत्रुकों अपने प्रतापतें दाह करत हें. भक्तिमार्गसों विरोधि भावकूं शत्रुभाव जाननो. एसे भावनको जीवमेंते नाश करत हें.

भक्त-सम्प्रार्थित-करो

भक्त जाकी प्रार्थना करत हें वाकूं पूर्ण करत हें. अथवा आपके भक्तहु एसे समर्थ हें जो विनके सम्मुख कोई प्रार्थना करत हे तो वाकों पूर्ण करत हें.

दास-दासीप्सित-प्रदः

आपने दास-दासीनके मनोरथ पूर्ण करत हें.

अचिक्त्य-महिमा-ऽमेयो83 विस्मयास्पद-विग्रहः84॥
भक्तक्लेशासहः85 सर्वसहो86 भक्तकृते वशः87॥22॥

अचिक्त्य-महिमा-ऽमेयो

आपकी महिमा अचिक्त्य हे तासों साधारण जीव आपको स्वरूप जानि सकत नाहिं हें.

विस्मयास्पद-विग्रहः

आपको विग्रह-स्वरूप विस्मय करायवेवारो हे.

भक्त-क्लेशासहः

आप भक्तके क्लेशकों सहि सकत नाहिं हें.

सर्व-सहो

आप सब कछु सहन करिवेवारे हें.

इतनें भक्त यद्यपि जानिके अपराध करत नाहिं हे तथापि भक्ततें क्वचित् अज्ञानसों कोउ अपराध होई जात हे तो वाकों आप सहन करत हें, दण्ड नाहिं देत हें. जेसें कृष्णदास अधिकारिने आपकों श्रीजीकी सेवामें पधारते रोके तोउ आपने विनको क्षमा दीनी.

भक्त-कृते वशः

आप भक्तनके अधीन हें.

आचार्य-रत्नं88 सर्वानुग्रहकृन्—मन्त्रवित्तमः89॥
सर्वस्वदानकुशलो90 गीतसङ्गीतसागरः91॥23॥

आचार्य-रत्नं

श्रीवल्लभाचार्यचरणके रत्नरूप आप हें. इतनें अपने पिताके स्नेहपात्र आप हें. अथवा समस्त आचार्यनमे आप रत्नरूप श्रेष्ठ हें.

सर्वानुग्रह-कृन्-मन्त्र-वित्तमः

सबन्पें अनुग्रह करिवेवारे आप मन्त्रकों जानिवेवारे हें. 'मन्त्र'को अर्थ रहस्य होत हे. आप सर्वशास्त्रके रहस्यरूप श्रीकृष्णकुं प्राप्त करिवेके उपायकों आछी भांतिसों जानिवेवारे हें.

सर्वस्व-दान-कुशलो

सब भक्तनको अपनो सब कछु दान करिवेमें कुशल हें. इतनें, थोरो-बहुत तो कोउ देई सके परि अपने सर्वस्व जो भगवत्स्वरूप सो तो अपने सेवकनको आप ही देत हें.

गीत-सङ्गीत-सागरः

आप गायन-वादन आदि कलाके सागर हें.

गोवर्धनाचलसखो92 गोपगोगोपिकाप्रियः93॥
चिन्तितज्ञो94 महाबुद्धिर्ऋइ95 जगद्वन्द्यपदाम्बुजः96॥24॥

गोवर्धनाचलसखो

गोवर्धनमें स्थिर वास करिवेवारे श्रीगोवर्धनधर आपके सखा हें. अथवा श्रीगोवर्धन पर्वत आपके सखा हें. श्रीगोवर्धन पर्वत भक्तश्रेष्ठ हें तेसें आपहु हें. तासों आप दोउनको सख्य युक्त ही हे.

गोप-गो-गोपिका-प्रियः

गोप, गाय अरु गोपिका आपकों अत्यन्त प्रिय हें.

चिन्तितज्ञो
आप भक्त तथा भगवान् के विचारनको जानिवेवारे हें.

महा-बुद्धि:
आप अत्यन्त बुद्धिशाली हें.

जगद्-वन्द्य-पदाम्बुजः
आपके चरणारविन्द समस्त जगतकों वन्दनीय हें.

जगदाश्चर्यरसकृत्ज्ञइ97 सदा कृष्ण-कथा-प्रियः98॥
सुखोदर्ककृतिः99 सर्वसन्देह-च्छेददक्षिणः100॥25॥

जगदाश्चर्यरसकृत्
आप सबनको आश्चर्य करावत हें. इतनें, लौकिक मनुष्य सदृश दीखवेपेंहु अलौकिक कार्य करत हें तासों सबनको आश्चर्यहोतहे.
सदा कृष्ण-कथा-प्रियः
कृष्णकी कथा आपकों सदा प्रिय हे.

सुखोदर्ककृतिः
आपकी कृति सुखद फल उत्पन्न करिवेवारी हे.

सर्व-सन्देह-च्छेद-दक्षिणः
आप भक्तनके सर्व सन्देहनको छेदन करिवेमें कुशल हें.

स्वपक्षरक्षणे दक्षः101 प्रतिपक्ष-क्षयंकरः102॥
गोपिकाविरहाविष्टः103 कृष्णात्मा104 स्वसमर्पकः105॥26॥

स्व-पक्ष-रक्षणे दक्षः
अपने पक्षको आप आछी भांतिसों रक्षण करिवेवारे हें.

प्रति-पक्ष-क्षयमरः
अपने विरोधि पक्षको आप नाश करिवेवारे हें.

गोपिकाविरहाविष्टः
व्रजभक्तनके वियोगभावसों आप आविष्ट हें.

कृष्णात्मा
आपको अन्त:करण सदा श्रीकृष्णमें रहत हे. अथवा श्रीकृष्ण सदा आपमें बसत हें.

स्वसमर्पकः
अपनो गृह-देह-धनादिक सब कछु प्रभूनको समर्पित करत हें.

निवेदिभक्तसर्वस्वं106 शरणाध्वप्रदर्शकः107॥
श्रीकृष्णानुगृहीतैक — प्रार्थनीयपदाम्बुजः108॥27॥

निवेदि-भक्त-सर्वस्वं
जिन भक्तनने प्रभूनको आत्मनिवेदन कियो हे विनके आप सर्वस्व हें.

शरणाध्व-प्रदर्शकः
आप शरणमार्गके दिखायवेवारे हें. इतनें भगवा**नने** भगवद्गीता आदिमें जा शरणमार्गको निरूपण कियो हे वाकों आछी भांतिसों समुझायवेवारे आप हें.

श्रीकृष्णानुगृहीतैक-प्रार्थनीय-पदाम्बुजः
श्रीकृष्णनें जिनकों अनुग्रहीत किये हें एसे भक्तसों ही आपके चरणकमलकी प्रार्थना होइ सकत हे.

(या स्तोत्रके पाठको फल)
इमानि नामरत्नानि श्रीविट्ठल-पदाम्बुजम्॥
ध्यात्वा तदेकशरणो यः पठेत् स हरिं लभेत्॥28॥
यद्-यन् मनस्यभिध्यायेत् तत्तदाप्नोत्यसंशयम्॥

श्रीविट्ठलपदाम्बुजम्=श्रीविट्ठलनाथ-
प्रभुचरणके चरणकमलनको
ध्यात्वा=ध्यान करिके

तदेकशरण:=एक विनहीके-
शरणमें रहिके, य:=जो
इमानि=या नामरत्नानि=नामरूपी रत्नको
पठेत्=पाठकरेहे, स:=वो
हरिम्=हरिकों
लभेत्=प्राप्त करे हे
यद्-यन्=जो-जो, मनसि=मनमें
अभिध्यायेत्=बिचारे हे
तत्-तद्=वो-वो, आप्नोति=प्राप्त करे हे, असंशयम्=संशय नाहीं हे

भावार्थ : श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणके चरणकमलनको ध्यान धरिके विनहीके शरणमें रहिके जो आपके इन नामरूपी रत्नको जपे हे सो श्रीहरिकों प्राप्त करे हे ओर मनमें जो-जो मनोरथ करे हे सो सब मनोरथ पूर्ण होत हे.

नामरत्नाभिधमिदं स्तोत्रं यः प्रपठेत् सुधीः॥29॥
त्वदीयं तं गृहाणाशु प्रार्थ्यम् एतन् मम प्रभो॥

प्रभो=हे प्रभु!
इदं=ये
नामरत्नाभिधं='नामरत्न'नामको
स्तोत्रं=स्तोत्रको
य:=जो
सुधी:=बद्धिमान्
प्रपठेत्=आछी भांतिसों पाठ करे
तं=वाको आप
त्वदीयं=आपुनो जानिके
आशु=शीघ्र,
ग्रहाण=स्वीकार करो
एतन्=ये
मम=मेरी

प्रार्थ्यम्=प्रार्थना हे

भावार्थ : हे समर्थ प्रभो! मेरी आपसों ये प्रार्थना हे के जो बद्धिमान् भक्त या 'नामरत्न'नामक स्तोत्रको अर्थ-तात्पर्यके ज्ञान तथा श्रद्धा पूर्वक पाठ करे वाकों आप आपुनो जानिके स्वीकार करो.

श्रीविट्ठल-पदाम्भोज-मकरन्द-जुषोऽनिशम्॥
इयं श्रीरघुनाथस्य कृतिर् विजयतेतराम्॥30॥

श्रीविट्ठल-पदाम्भोज-मकरन्द-जुष:=श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणके चरणकमलके परागको सेवन करिवेवारे
श्रीरघुनाथस्य=श्रीरघुनाथजीकी
इयं=ये
कृति:=रचना
अनिशम्=सदा
विजयतेतराम्=विजय प्राप्त करती रहे

भावार्थ : श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणके चरणकमलके परागको सेवन करिवेवारे श्रीरघुनाथजीकी ये कृति सदा विजयको प्राप्त करती रहे.

॥इति श्रीरघुनाथविरचितं नामरत्नाख्यस्तोत्रं सम्पूर्णम्॥

श्रीयमुनाष्टकम् ग्रन्थ-परिचय

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

ग्रन्थ-परिचय

सुना जाता है कि अपनी व्रजयात्राके दरम्यान श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु महावनमें यमुना तटपर गोकुल ग्रामकी खोजमें परिभ्रमण कर रहे थे तब स्वयम् श्रीयमुनाने प्रकट होकर वर्तमान गोकुलका स्थल दिखलाया था. प्राचीन गोकुल ग्रामके स्थलकी पहचानके बाद श्रीमहाप्रभु वहां बिराजे और

तब श्रीयमुनाके पुष्टिमार्गीय माहात्म्य या महत्व का गान उनके मुखसे बरबस निकलने लगा. वही षोडशग्रन्थोंमें मङ्गलाचरणके रूपसे योजित हुआ श्रीयमुनाष्टकस्तोत्रम् है.

एक किंवदन्तीके अनुसार श्रीयमुनाष्टक वि. सं. 1549 में श्रावण शुक्ल तृतीयाके दिन श्रीगोकुलमें रचा गया था (* दृष्टव्य श्रीनागरदास बांभणिया द्वारा लिखित-"श्रीषोडशग्रन्थनी रचना तथा श्रीमहाप्रभुना चरित साथे संकालायेल महत्व नी तवारीखो" लेख. वैष्णववाणी अंके 4 वर्ष 1979)

जैसे श्रीगङ्गाके साथ दास्यभावात्मिका मर्यादाभक्तिकी एक अन्तर्धारा बहती है, वैसे ही श्रीयमुनाके साथ पुष्टिभक्तिकी अन्तरर्धारा बहती है. श्रीयमुनाके साथ बहती पुष्टिभक्तिकी यह अन्तरर्धारा व्यापिवैकुण्ठके नाथको छोटेसे गोकुलके नाथ बननेके लिए मार्ग तथा पुष्टिमार्गीय गरिमा प्रदान करती है. क्षयकृत् कालके प्रवाहमें बहते जीवोंको वहांसे बरबस खींचकर अपने साथ बहाती हुई यह धारा उन्हें श्रीकृष्णकी दिव्य मधुर नित्यलीलाओंतक पहुंचा देती है.

श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभुने इस यमुनाष्टक स्तोत्रमें श्रीयमुनाके आधिभौतिक आध्यात्मिक एवम् आधिदैविक रूपोंका वर्णन करते हुए पुष्टिमार्गीय दृष्टिकोणसे श्रीयमुनाके असाधारण अष्टविध वैशिष्ट्य अथवा ऐश्वर्य का आठ श्लोकोंमें वर्णन किया है. क्रमशः एक-एक श्लोक श्रीयमुनाके एक-एक ऐश्वर्यके वर्णनार्थ कहा गया है. वे ऐश्वर्य श्रीयमुनाके ये हैंः

1.श्रीयमुना पुष्टिमार्गीय अनेकविध सिद्धियोंको देनेवाली है. उदाहरणतया- साक्षाद्भगवत्सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति, भगवानकी विविध पुष्टिलीलाओंके दर्शन कर पानेका सामर्थ्य, उन लीलाओंमें अभिव्यक्त होते रसोको अनुभव

कर पानेका सामर्थ्य तथा सर्वात्मभाव आदि. ये सब पुष्टिभार्गीय सिद्धियां हैं जो श्रीयमुनाद्वारा पुष्टिजीवको प्राप्त होती है.

2.श्रीयमुना भगवद्भावको बढानेवाली है. देवादिविषयिणी रति या प्रीति भाव कहलाती है. पुष्टिमार्गके आराध्य देव श्रीकृष्ण ही है तथा श्रीयमुना पुष्टिजीवको इसी कृष्णस्नेहरूप भगवद्भावसे सम्पन्न करती है.

3.अपने आराध्य श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध जोडनेमें पुष्टिभक्तके सामने जो भी प्रतिबन्ध या विघ्न आते हैं उन्हें श्रीयमुना दूर करती हैं. इन विघ्नोंको हर कर पुष्टिभक्तको भगवदनुभव करने योग्य शुद्ध बना देती है. अतः पुष्टिजगत्को ये पावन करनेवाली है.

4.जैसे गुणधर्म और रूप भगवान्ने पुष्टिलीलामें प्रकट किये हैं वे सभी श्रीयमुनामें भी प्रकट किये है. अतः श्रीयमुनासे जिसका सम्बन्ध स्थापित हुआ हो उसका परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णके साथ भी सम्बन्ध अनायास ही स्थापित हो गया समझ लेना चाहिये.

5.भगवान्के प्रिय भक्तोमें जो भी कलिरूप दोष हों उन्हें श्रीयमुना दूर कर देती है.

6.रासलीलामें भगवान्के तिरोहित हो जानेपर जैसे गोपिकाओंने श्रीयमुनातटपर निःसाधनताके भावसे श्रीकृष्णकी प्रतीक्षा की, वैसे ही जो भी पुष्टिजीव श्रीयमुनाके आश्रयसे भगवान्को खोजना चाहता है वह भगवान्का प्रेमपात्र बनता है तथा भगवान्को पा सकता है. यमुना-जल-पानका यह असाधारण महत्व है कि पानकर्ताके देह-इन्द्रिय-आदि कालप्रवाहमें उसकी आत्माको बहाकर कभी यमालयतक नहीं पहुंचाते. किन्तु कालातीत परमात्माको प्रणयरशनामें बांधकर पानकर्ता भक्त तक अवश्य पहुंचा देते है.

7.देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण एवम् आत्मा यों सभीके द्वारा भगवत्लीला एवम् भगवत्स्वरूप की अनुभूति-इस अलौकिक सामर्थ्यको तनुनवत्व अर्थात् तनु-देहका नवीनीकरण माना गया है. श्रीयमुना पुष्टिजीवोंके देहादिमें ऐसा अलौकिक सामर्थ्य प्रकट कर देती हैं कि सहस्रों परिवत्सरसे अपने प्रभुसे बिछुडा हुआ जीव अपने कालजर्जरित देहेन्द्रियोंमें एक ऐसी विलक्षण शक्ति या नूतनताका अनुभव करने लग जाता है कि उसे भगवान्की रसात्मिका अनुभूति सभी तरहसे होने लग जाती है. न केवल इतना अपितु नित्यलीलामें भी उसे नूतन देह मिल जाती है, श्रीयमुनाके कारण.

8.श्रीयमुनाके तटपर तथा जलमें भी श्रीकृष्णकी अनेकविध लीलायें आधिदैविक रूपमें सनातन चलती रहती है. श्रीयमुनामें जलक्रीडानिरत परमानन्दात्मक प्रभुका आनन्द ही श्रमजलकणोंके रूपमें उच्छलित हो कर श्रीयमुनाजलमें तादात्म्य प्राप्त कर लेता है. अतः श्रीयमुनाजलस्नान पुष्टिभक्तोमें श्रीकृष्णके साथ अङ्गसङ्गकी अनुभूतिकी सिहरन पैदा करता है.

श्रीयमुनाका यह आधिदैविक स्वरूप समग्रतया लीलासामयिक पुष्टि भक्तोंकी अनुभूतिका ही विषय होता है. आंशिक रूपमें परन्तु आधुनिक पुष्टिजीवोंके लिए भी प्रतिबन्धकारी दोषोंका निवारण, स्वभावविजय, भगवद्भक्ति तथा भगवत्प्रेमभाजनता श्रीयमुनाके द्वारा सम्पादित होती है. अतः श्रीयमुनाकी कृपासे पुष्टिजीव पुष्टिमार्गमें प्रवेशयाग्य बनता है यह मङ्गलविधान श्रीयमुनाका कार्य है, अतः इनकी स्तुतिको पुष्टिमार्गीय उपदेशमें मङ्गलाचरणके रूपमें योजित किया गया है.

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. 1985 में प्रकाशित हुए संस्करणाका ओफसेट द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण-विद्यानिधि-श्रीव्रज

रत्नलालजी महाराजकी श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा (सूरत) द्वारा यह प्रकाशित हुआ था तथा इसके सम्पादक थे श्रीचीमनलाल ह. शास्त्रीजी. श्रीयमुनाष्टकम्के पुनःप्रकाशनके अवसरपर इन दोनों महानुभावोंके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञताज्ञापन प्रकट करते है. इति शम्.

॥श्रीयमुनाष्टकम्॥

(6)

या श्रीयमुनाष्टकको अर्थज्ञानपूर्वक पाठ करिवेसों भजनानन्दकी सिद्धि होयगी या आशयसों श्रीमद्वल्लभाचार्य आठ श्लोकनके द्वारा श्रीयमुनाजीके स्वरूपको वर्णन करें हें:

नमामि यमुनामहं सकलसिद्धिहेतुं मुदा
मुरारि-पद-पमज-स्फुरदमन्द-रेणूत्कटाम् ॥
तटस्थ-नवकानन-प्रकट-मोद-पुष्पाम्बुना
सुरासुर-सुपूजित-स्मरपितु: श्रियं बिभ्रतीम्॥1॥

अन्वयार्थ:

सकलसिद्धिहेतुं=सकलसिद्धिके कारणभूत
मुरारिपदपमज-स्फुरदमन्द-रेणूत्कटाम्=मुरदैत्यके शत्रुके चरणकमलमें चमकती बहोतसी रजसूं भरेभये
तटस्थनवकाननप्रकटमोदपुष्पाम्बुना=तटपर नवीन वनमें प्रकट पुष्पनके सङ्गसों सुगन्धित जलसों
सुरासुर-सुपूजित-स्मर-पितु:=सुर ओर असुर सों आछि भांतिसों पूजित
श्रियं=शोभाकुं

बिभ्रतीं=धारण करिवेवारी
यमुनां=यमुनाजीकों
अहं=मैं
मुदा=प्रसन्नतासों
नमामि=नमन करूं हुं

भावार्थ:श्रीयमुनाजीकुं मैं नमन करूं हुं. श्रीयमुनाजी सब सिद्धीनके कारण हें. मुरारि जो श्रीकृष्ण तिनके चरणारविन्दकी रज जलसूं अधिक जामें स्फुरायमान हे एसे—— आपके तटपे उगे भये पुष्पन्सों सुगन्धित वनके कारण ——सुगन्धयुक्त जलकरिकें सुरभाव ओर असुरभाव वारे भक्तनकु प्रभुको स्मरण होय एसी शोभाकुं धारण करे हें.सो दोउ प्रकारके भक्त भगवानकी प्राप्तिकेलिये श्रीयमुनाजीको पूजनकरतहें.

॥श्रीमत्प्रभुचरणविरचिता विवृति:॥

विश्वोद्धारार्थमेवाऽऽविर्भूत-वृन्दावनप्रिया:।
कृपयन्तु सदा तातचरणा मयि विट्ठले॥
विविधलीलोपयोगिनीं कालिन्दीं स्तोतुकामा: श्रीगोकुलेशे यथा जीवै: नमनातिरिक्तं न कर्तुं शक्यं, तथा कालिन्द्यामपि इति आशयेन आदौ नमनमेव आहु: 'नमामि' इति. भगवता अष्टविधैश्वर्यं कालिन्द्यै दत्तम् इति ज्ञापनाय अष्टभि: श्लौकै: स्तुवन्ति. साक्षाद्-भगवत्सेवोपयोगि-देहाप्ति-तल्लीलावलोकन-तद्रसानुभव-सर्वात्मभावादय:
सकलसिद्धयो ज्ञेया:. अतएव नमनं मुदपि. जलदोषात्मकमुरस्य अरे: पदपमजयो: स्फुरन्त: सेवोपयोगि-देहादि-सम्पादनोन्मुखा ये रेणवो अमन्दा व्रजसुन्दरी-वृन्द-चरणरेणु-साहित्येन अनल्पा: ते उत्कटा जलापेक्षया अधिका यत्र. एतेन दोषभयं भगवत्प्राप्तिविलम्बश्च अपास्त:. अग्रे स्पष्टम्. जलदर्शनस्य भगवत्स्मारकत्वं भावजनकत्वं च ज्ञापयितुं 'स्मरपितृ'पदम्॥1॥

टीका:श्रीयमुनाजीकुं मैं नमन करूं हुं. श्रीयमुनाजी केसे हें सो निरूपण करत हें जो आप सब सिद्धीनके कारण हें. भक्तनमे भगवद्भावकी वृद्धि करे हें, भगवानको सम्बन्ध होयवेमें जो-जो प्रतिबन्ध होंय तिन सबनकु मिटायके भगवानको अनुभव करिवेमें जितनी शुद्धिकी आवश्यकता हे तितनी शुद्धि करें हें, बिना ही श्रम भगवानको सम्बन्ध करावें हें, भगवानको प्रियपनो सिद्ध करें हें, कलिकी निवृत्ति करें

एसी भगवदीयनकी बड़ाई धारण करें हें, नवीन (प्रभुसेवोपयोगी) देह सम्पादन करें हें इत्यादिक अष्टविध ऐश्वर्य आपकों सिद्ध हें. ओर प्रभुकी लीलाको दर्शन करावे हें, प्रभुकी लीलाके आनन्दको अनुभव करावे हें, सर्वात्मभावकी सिद्धि करें हें, भगवानके वियोगमेंहु भगवानके आवेशवारो देह सिद्ध करें हें, जिनकी लौकिक सब विषयनमे दृष्टि न होय ओर भीतर दृष्टि होय तिनकुं प्रभुकी लीलाके दर्शनकी सिद्धि करावे हें. प्रभुको विरह होय तब जेसो सर्वात्मभाव चहिये तेसो सर्वात्मभाव सिद्ध करें हें इत्यादिक अनेक सिद्धि हें. इन सब सिद्धिनके कारण (=देयवेवारे) श्रीयमुनाजी हें.

मुरारि जो श्रीकृष्ण तिनके चरणारविन्दकी रज जलसूं अधिक जामें स्फुरायमान हे (एसे आप हें). प्रभुके बहोत नाम हें तिनमें 'मुरारि' नाम लिखिवेको अभिप्राय एसो हे जो जेसें भौमासुरने सोरह हजार राजकन्यानकु रोकी हती तिनकुं भगवानकी प्राप्ति होयवेमें प्रतिबन्धरूप जलको दोषात्मक मुरदैत्य हतो. ताकुं मारिके भगवानने सबनकु अङ्गीकार कीनि. तेसेंहि प्रभुकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धरूप जो दोष होय ताकुं मिटायके प्रभु आप भक्तनको अङ्गीकार करें हें. एसे प्रभुके चरणारविन्दकी रज श्रीयमुनाजीमें स्फुरायमान हे ये जतायवेकेलिये 'मुरारि' नाम कह्यो हे. तटपे जो उगे भये वन हें तिनकी सुगन्ध जिनके पुष्पनमे प्रकट होय रही हे विन पुष्पन्सों सुगन्धित वनके कारण सुगन्धयुक्त जलकरिकें सुरभाव ओर असुरभाव वारे भक्तनकु प्रभुको स्मरण* होय एसी शोभाकुं धारण करे हें. तामें दैन्यभाववारे भक्त सुरभाववारे हें ओर मानभाववारे भक्त आसुरभाववारे हें. एसें दोउ प्रकारके भक्त भगवानकी प्राप्तिकेलिये श्रीयमुनाजीको पूजन करत हें॥1॥

टिप्पणी:*छान्दोग्य उपनिषद्में 'स्मर'को अर्थ स्मरण लिख्यो हे. तेसें यहांहु समजनो.
श्रीयमुनाजीके प्राकट्यको प्रकार बतावें हें:

कलिन्द-गिरि-मस्तके पतदमन्द-पूरोज्ज्वला
विलास-गमनोल्लसत्-प्रकट-गण्डशैलोन्नता ॥
सघोष-गति-दन्तुरा-समधिरूढ-दोलोत्तमा
मुकुन्द-रति-वर्द्धिनी जयति पद्मबन्धो: सुता॥2॥

कलिन्द-गिरि-मस्तके='कलिन्द' नामके पर्वतके शिखरपें

पतद्-अमन्द-पूरोज्ज्वला=गिरते बखत तीव्र वेगके कारण उज्ज्वल फेन तथा प्रवाह वारे
विलास-गमनोल्लसत्-प्रकट-गण्ड-शैलोन्नता=अपनी विलासपूर्ण गतिसों पर्वतके छोटे-बड़े शिलाखण्डनकु ऊपर उछालके प्रकट करिवेमें स्वयंहु उन्नत होइके चलिवेवारी
सघोषगतिदन्तुरा=जलप्रवाहके घोषद्वारा विविध रस-भावनको प्रकट करतीभई
समधिरूढ-दोलोत्तमा=उत्तम पालकीमें बिराजिके पधारती भई
मुकुन्द-रति-वर्द्धिनी=भगवान् मुकुन्दकी रतिकों बढ़ायवेवारी
पद्म-बन्धो:=कमलके सखा सूर्यकी
सुता=पुत्रीको
जयति=उत्कर्ष होउ

भावार्थ:सूर्यमण्डलतें कलिन्दपर्वतके उपर गिरवेसूं फेन बहोत होयवेसूं पूर बहोत आवे हे, ताकरिकें उज्वल हें. ऊंचे-नीचे पर्वतन्पें चढनो-उतरनो हे सो विलासगतिरूपमें सुशोभित हे. जलप्रवाहको वेग पाषाणकुं ऊंचे फेंके हे तासूं वे पाषाण प्रकट दीखे हें. ताकरिकें श्रीयमुनाजीको प्रवाह ऊंचो दीखवेमें आवे हे. शब्दसहित प्रवाहकी गतिसूं विलासयुक्त उत्तम हिंडोलामें विराजते होंय एसें जान परत हें. मुकुन्द श्रीकृष्णकी प्रीति भक्तनमे बढावें हें ओर भक्तनकी प्रीति भगवानमे बढावें हें. ओर कमलके बन्धुरूप सूर्यकी पुत्री हें. एसे श्रीयमुनाजी सबन्तें बड़ाईसूं विराजित हें.

विवृति:आविर्भावप्रकारम् आहु: 'कलिन्द' इति. रविमण्डलाद् अतिदूराद् गिरिमस्तके पाते फेनेन प्रवाहजलेन च उज्ज्वला. उच्च-नीच-शैलारोहावरोहौ विलासगतिरूपौ. तत्र उल्लसन्त: शोभां प्राप्नुवन्त: प्रवाहवेगेन उच्चै: क्षिप्ता अतएव प्रकटा: सर्वेषां दृश्या: तै: तादृशै: तथा. उच्चत: पाते शोभाम् उक्त्वा ततो विषमभूमिगतिशोभाम् आहु: 'सघोष' इति. 'दन्तुर'शब्देन विविधविकारवत्त्वम् उच्यते. "विपुल-पुलकभर-दन्तुरितम्" (गीतगोविन्द 11।22।7) "केतकि-दन्तुरिताशे" (तत्रैव 1।3।6) इत्यादि जयदेवोक्तिरपि. व्रजजन-गोवृन्दादि-विविधगतिभि: तादृशीव.

'घोष:' शब्दो व्रजो वा. अनतिस्थूलशिलासु गति-शोभया असमधिरूढेव समधिरूढदोलोत्तमा. ततो भूमौ आगत्य मुकुन्दरतिवर्द्धिनी जाता. यतो रसाकर-सखस्य सुता, अत: स्वयमपि रसात्मिका इति भाव:॥2॥

टीका:सूर्यमण्डलमें जो नारायण हें तिनके आनन्दात्मक हृदयसूं द्रवीभूत रसात्मक प्रकट होयके सूर्यमण्डलतें कलिन्द पर्वतके उपर गिरे हें. तहां कालिन्दीकुं अपनेमें मिलावे हें. ओर अत्यन्त ऊंचेतें गिरिवेसूं फेन बहोत होय हे. तासूं पूर बहोत आवे हे. ताकरिकें उज्वल हें. ऊंचे-नीचे पर्वतन्पें चढनो-उतरनो हे सो विलासगतिरूप हे. तामें सुशोभित ओर प्रवाहको वेग पाषाणकुं ऊंचे फेंके हे तासूं वे पाषाण प्रकट दीखे हें. ताकरिकें श्रीयमुनाजीको प्रवाह ऊंचो दीखवेमें आवे हे. शब्दसहित प्रवाहकी गतिसूं विलासयुक्त दीखे हें. अथवा सब व्रजवासी जहां जाय हें वहां व्रजकुं सङ्ग लेके जाय हें. एसे व्रजसहित व्रजवासीनकी गतिकरिकें विलासयुक्त हें. हिन्दोलामें नाहीं विराजे हें तथापि ऊंचे-नीचे स्थलन्पें जो प्रवाह चले हे ताकरिकें उत्तम हिन्दोलामें विराजते होंय एसें जान परत हे. यहां 'उत्तमदोला' कहिवेको अभिप्राय यह हे जो दोलाको स्वभाव आयवे-जायवेको हे ओर श्रीयमुनाजीको प्रवाह तो भगवानके दर्शनकी आतुरता होय तेसें सन्मुख ही जाय हे. तासूं "उत्तम दोलामें अधिरूढ हें" एसें कह्यो हे. मुकुन्द, जो मोक्ष देवेवारे, श्रीकृष्ण तिनकी प्रीति भक्तनमे बढावें हें ओर भक्तनकी प्रीति भगवानमे बढावें हें. ओर कमलके बन्धुरूप सूर्यकी पुत्री हें. एसे श्रीयमुनाजी सबन्तें बड़ाईसूं विराजित हें॥2॥

श्रीयमुनाजी भूमिपें पधारे ता पीछेके धर्मको निरूपण कहतहें:

भुवं भुवनपावनीम् अधिगताम् अनेकस्वनैः
प्रियाभिरिव सेवितां शुक-मयूर-हंसादिभिः॥
तरङ्ग-भुजकमण-प्रकट-मुक्तिका-वालुका-
नितम्ब-तट-सुन्दरीं नमत कृष्ण-तुर्य-प्रियाम्॥3॥

भुवनपावनीं=भुवनकों पावन करिवेवारी
भुवम्=भूमिपें
अधिगतां=आयके
अनेकस्वनैः=अनेक प्रकारके कलरव करिवेवारी
प्रियाभिः=सखिन्सों,इव=समान
शुकमयूरहंसादिभिः=शुक मयूर हंस आदिसों
सेवितां=सेवित

तरङ्ग-भुज-कमण-प्रकट-मुक्तिका-वालुका-नितम्ब-तट-सुन्दरीं=तरङ्गनकी भुजानमे धारण करे भये कमणमें जटित झीने-झीने मोतीनकीसी वालुकावारे नितम्ब समान सुन्दर तटवारी
कृष्णतुर्यप्रियां=श्रीकृष्णकी चतुर्थप्रियाकों नमत=नमन करो
भावार्थ:श्रीयमुनाजी पृथ्वीपर पधारिके भक्तनके शरीररूपी भुवनकी भगवत्सेवाके योग्य शुद्धि करे हें. सब श्रीगोपीजन जेसें श्रीयमुनाजीको सेवन करें हें तेसें अनेकविध कलरव-शब्द करवेवारे शुक, मयूर ओर हंस प्रभृति सब पक्षीन्करिकेंहु श्रीयमुनाजी सेवित हें. श्रीयमुनाजीके श्रीहस्तरूपी तरङ्ग जब तीरपें आवे हें तब श्रीहस्तमें धारण करे कमणमें मुक्ताफलरूपी वालुका प्रकाशित होय हे. उभरे भये नितम्बरूप तटवारे श्रीयमुनाजी प्रभुके चतुर्थ प्रिया हें. एसे श्रीयमुनाजीकुं तुम सब नमन करो.

विवृति:
ततो भुवि आगताया: धर्मान् आहु: 'भुवम्' इति. प्रयोजनं भुवनपावनीम् इति. अनेकस्वनै: इति शुकादिविशेषणम्. एतेन विभावादिसामग्री उक्ता. यत्र यथा उचितं तत्र तथा कुर्वन्तीति 'प्रिया'पदम्. तीरस्य चाकचक्यवत् सिकताकृतशोभां तत्स्वरूपमपि आहु: 'तरङ्ग' इति. यदा तरङ्गा: तीरम् आगत्य प्रसृता: भवन्ति तदा तीरसिकता: मुक्तावद् भासन्ते. ता: न सिकता: लोकप्रतीति: परं तथा; किन्तु तरङ्गाएव भुजा: तत्र यानि कमणानि तत्र प्रकटा या मुक्तिका मुक्ताफलानि तान्येव वालुकावत् प्रतीयमानानि तद्युक्तो यो नितम्बएव उच्चदेशात्मकतट: तेन तादृशीम्. भगवति स्नेहातिशयो विशेषणेन उक्त:॥3॥

टीका:श्रीयमुनाजी पृथ्वीपर पधारे हें सो भक्तनकु भगवद्भाव सम्पादनकरिकें अन्यभावसूं रहित करे हें ओर शरीरकी भगवत्सेवाके योग्य शुद्धि करे हें. एसें (=या प्रकारसूं) लोककुं पवित्र करें हें. श्रीगोपीजन सब जेसें श्रीयमुनाजीको सेवन करें हें तेसें अनेक शब्द करवेवारे शुक, मयूर ओर हंस प्रभृति सब पक्षीन्करिकेंहु श्रीयमुनाजी सेवित हें. तरङ्ग हें सो श्रीयमुनाजीके श्रीहस्त हें. सो तरङ्ग जब तीरपें आवे हें तब पसरि जाय हें. ता बिरियां जो वालुका प्रकाशित होय हे सो वालुका नाहीं हे किन्तु श्रीयमुनाजीके श्रीहस्तमें जो कमण धारण किये हें तिन कमणनमे मुक्ताफल लगे हें सो प्रकाशित दीखे हें. ओर श्रीयमुनाजीके जो ऊंचे तट हें सो नितम्बरूप हें. तिनमें तरङ्गके बलसूं वालुका लगे हें. सो श्रीहस्त नितम्बमें लगाये होंय एसें शोभे हें. तिनमें वालुका प्रकाशे हे सो कमणनके मुक्ताफल हें. भक्तनके चार यूथ मुख्य हें. तिनमें

चतुर्थ यूथमें मुख्य श्रीयमुनाजी हें. एसेकुं नमनके अतिरिक्त जीव ओर कहा करि सके? तासूं श्रीआचार्यजी सब सेवकनकु आज्ञा करें हें जो एसे श्रीयमुनाजीकुं तुम सब नमन करो॥3॥

श्रीयमुनाजीमें भगवानके समान धर्म हें एसे जतायवेकेलिये दोउको समान धर्मपनो निरूपण करत हें:

अनन्त-गुण-भूषिते शिव-विरञ्चि-देवस्तुते
घनाघननिभे सदा ध्रुव-पराशराभीष्टदे॥
विशुद्ध-मथुरा-तटे सकल-गोप-गोपीवृते
कृपा-जलधि-संश्रिते मम मनस्सुखं भावय॥4॥

अनन्त-गुण-भूषिते=असंख्य गुणन्सों भूषित
शिव-विरञ्चि-देवस्तुते=शिव ब्रह्मा आदि देवता जाकी स्तुति करेहेंएसी
घनाघननिभे=घुमड़ते भये बादलके जेसी श्यामल
ध्रुव-पराशराभीष्टदे=ध्रुव, पराशर जेसेनकु अभीष्ट फल देवेवारी
विशुद्ध-मथुरा-तटे=विशुद्ध मथुरानगरी जाके तटपें हे एसी
सकल-गोप-गोपीवृते=सकल गोप तथा गोपीन् सूं घिरी भई
कृपाजलधि-संश्रिते=कृपासागर श्रीकृष्णसों मिलवेवारी
सदा=सदा
मम=मेरे
मन:सुखं=मनकुं सुख होय एसो भावय=करो
भावार्थ:अनन्त गुणन्सों भूषित, शिव ब्रह्मा आदि देवतान्सों स्तुति करी गईं, सघन मेघ सदृश कान्तिवारीं, ध्रुव पराशर आदि ऋषिनको सकल मनोरथके देनवारी, विशुद्ध मथुराजी जाके तटपे हे एसी, समग्र गोप-गोपाङ्गनान्सों शोभित एवं कृपासागर श्रीकृष्णके आश्रयमें रहनवारी हे श्रीयमुनाजी! मेरे मनकुं सुख होय तेसेंकरो.

विवृति:भगवत्समानधर्मत्वं ज्ञापयितुं तथा विशेषणै: आहु: 'अनन्त' इति. प्रभौ सप्तम्यन्तानि विशेषणानि तत्प्रियायां सम्बुद्धिरूपाणि. 'घनाघन'शब्दो निपातरूपो घनसमुदायं वदति. श्यामे. तादृशी इति वा. ध्रुवादे: तत्तीरएव प्रभुप्राकट्यात् तथा. विशुद्धा मथुरा तटे यस्या:. सा निकटे वा यस्य. निरवधिकृपायुक्तो हरि: तस्मिन्. अन्या

नदी लौकिकं जलधिं सङ्गता भवति इयं तु तादृशं श्रीव्रजेशं संश्रिता. एतेन त्वत्सङ्गतो भगवत्सङ्गतो भवति इति भाव: सूचित:॥4॥

टीका:यामें षट्धर्मयुक्त सप्तम धर्मीको निरूपण हे एसें जतायवेकेलिये सात विशेषण हें. तामें भगवान्**नमे** विशेषण लगावें तब सप्तमी विभक्तिको अर्थ करनो ओर श्रीयमुनाजीमें लगावें तब सब विशेषण**नमे** सम्बोधनको अर्थ करनो. श्रीठाकुरजी असंख्य गुणन्करिकें अलमृत हें. और श्रीयमुनाजी रासोत्सवादिक**नमे** अनन्त रूप धरिवेवारे भगवान**के** गुणकरिकें अलमृत हें. 1 शिव ओर ब्रह्मा प्रभृति सब देव भगवान**की** तथा यमुनाजीकी स्तुति करें हें.2 मन्द-मन्द वर्षायुक्त श्याममेघ जेसी शोभायुक्त दोऊ हें.3 ध्रुव ओर पराशरकुं सदा सब प्रकारको वाञ्छित फलदान करिवेवारे दोउ हें.4 अत्यन्त शुद्ध श्रीमथुराजी श्रीयमुनाजीके तटपें हें.5 श्रीठाकुरजी समग्र गोप ओर श्रीगोपी जनन्करिकें आवृत हें. ओर श्रीयमुनाजीके तीरपें पहले गोप-गोपी**नको** श्रीठाकुरजीके सम्बन्धको अनुभव भयो हे तासूं समग्र गोप ओर श्रीगोपी जनन्करिकें श्रीयमुनाजीहु आवृत हें.6 श्रीठाकुरजी कृपारूप समुद्रके आश्रयको सुन्दर स्थान हें. इतनें, कृपारूप समुद्र श्रीठाकुरजीको आश्रयकरिके रहे हे ओर श्रीयमुनाजी कृपाके समुद्ररूप श्रीठाकुरजीको आश्रयकरिकें रहे हें.7 एसे षट्धर्मयुक्त हे श्रीयमुनाजी! आप अपार करुणासागर श्रीठाकुरजीमें मिले हो सो आपमें जो मिले सो आपके बलसूं ही श्रीठाकुरजीमें मिले हे. तासूं एसे षट्धर्मयुक्त ओर कृपाको समुद्र जामें रहे हे एसे श्रीठाकुरजीमें मेरो मन भावकरिकें आनन्दको अनुभव केसें करे सो आप विचारो. अथवा भगवत्स्वरूपके अनुभवको मेरे मनमें जो सुख होय ताकी भावना आपके मनमें करो. इतनें, आपके मनमें ये विचार होयगो तब ये सुख मिलेगो॥ 4॥

टिप्पणी:1.ये ऐश्वर्यको निरूपण हे.
2.ये वीर्यको निरूपण हे. 3.ये श्रीको निरूपण हे.
4.ये यशको निरूपण हे. 5.ये ज्ञानको निरूपण हे.
6.ये वैराग्यको निरूपण हे. 7.ये धर्मीको निरूपण हे.

अब भगवदीयन**की**हु बड़ाई करिवेवारे श्रीयमुनाजी हें तिनकी बड़ाई कहिवेकुं कोन समर्थ हे? सो निरूपण करत हें:

यया चरण-पद्मजा मुररिपो: प्रियम्भावुका
समागमनतोऽभवत् सकल-सिद्धिदा सेवताम्॥
तया सदृशताम् इयात् कमलजा सपत्नीव यत्-
हरि-प्रिय-कलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम्॥5॥

यया=जाके,समागमनत:=सङ्गःमसों
चरणपद्मजा=भगवानके चरणसों प्रकट
भयी श्रीगङ्गा,मुररिपो:=श्रीकृष्णके
प्रियम्भावुका=प्रियकार्यनकोकरिवेवारी
सेवतां=सेवा करिवेवारेनको
सकलसिद्धिदा=सकलसिद्धिनको
देयवेवारी,अभवत्=भईं
तया=वाकी
सदृशतां=समानताकुं
कमलजा=कमलसूंउत्पन्नभईलक्ष्मी
इयात्=प्राप्त कर सके हे
यत्=क्योंके
सपत्नि=श्रीयमुनाकी सपत्नि
इव=जेसी हें
हरिप्रियकलिन्दया=भगवानकेप्रिय
भक्तनके दोषनको नष्ट करिवेवारी
मे=मेरे
मनसि=मनमें
सदा=सर्वदा
स्थीयताम्=स्थित रहें

भावार्थ:

गङ्गाजी श्रीयमुनाजीके सङ्ग मिले हें तासूं मुररिपु भगवानको अत्यन्त प्रिय भई हें ओर सेवन करिवेवारेनकु समग्र सिद्धि देवेवारी भई हें. एसे श्रीयमुनाजीकी बराबरीकुं कोऊ प्राप्त होय सके हे तो श्रीलक्ष्मीजी होय सके हें. क्यों? जो श्रीलक्ष्मीजी

श्रीयमुनाजीकी सपत्नी (सोति) होय हें. एसे श्रीयमुनाजी भक्तनके दु:ख तथा पाप कुं हरिवेवारी हें तिनकी मेरे मनमें स्थिति होय.

विवृति:
अथ भगवदीयानामपि उत्कर्षाधायिका या तदुत्कर्षं को वक्तुं शक्त इति भावेन आहु: यया इति. चरणपद्मजा गङ्गा. तेन भक्तिमार्गीया निर्दोषपूर्णगुणापि यया त्वया सह समागमनतो मिलनतो हरे: तथा अभवत्, सेवतां च तथा. पूर्वं गङ्गाया अन्यसङ्गतिजनितम् उत्कर्षम् उक्त्वा भगवत्सङ्गतिजनित उत्कर्ष: पठित: "सा राजन् दर्शनादेव ब्रह्महत्यापहारिणि" इत्यादिरूप:. एतादृश्या त्वया सह सदृशतां किं कापि इयाद् इति काकूक्ति:. यदि इयात्, कमलजा इयात्. तत्र हेतुम् आहु: यद् यस्मात् सा भगवत्पत्नीत्वात् सपत्नी भवति. तत्रापि भवती प्रिया इति इव इति. भक्तानुगुणत्वम् आहु: हरिप्रियाणां कलिं दोषं द्यति खण्डयति॥5॥

टीका:गङ्गाजी भगवानके चरणकमलतें प्रकट भई हें तासूं भक्तिमार्गीय ओर निर्दोषगुणपूर्ण हें. सोहु श्रीयमुनाजी सङ्ग (प्रयागमें) मिले हें तासूं मुररिपु, जो भक्तनके प्रतिबन्ध दूर करिवेवारे हरि भगवान् हें, तिनको अत्यन्त प्रिय भई हें ओर सेवन करिवेवारेनकु समग्र सिद्धि देवेवारी भई हें. एसे श्रीयमुनाजीकी बराबरीकुं कोऊ प्राप्त होय हे कहा? कदाचित् प्राप्त होय तो श्रीलक्ष्मीजी होंय. क्यों? जो श्रीलक्ष्मीजीहु भगवानकी स्त्री हें तासूं श्रीयमुनाजीकी सपत्नी (सोति) होय हें. यहां श्रीलक्ष्मीजी श्रीयमुनाजीकी सपत्नी हें एसें कह्यो हे ताको अभिप्राय एसो हे जो जाकी जो सपत्नी होय सो ताके स्वभावसूं विरुद्ध स्वभाववारी होय हे. तेसें श्रीलक्ष्मीजी श्रीयमुनाजीके स्वभावतें विरुद्ध स्वभाववारी हें एसो सूचन कियो हे. तासूं कहे हें जो भक्तनके दु:ख तथा पाप कुं हरिवेवारे भगवानके भक्तनके कलिके दोषनको खण्डन करिवेवारे श्रीयमुनाजी हें. तिनकी मेरे मनमें स्थिति होय. इतनें, श्रीलक्ष्मीजी भक्तनको अनुकूल नाहीं हें ओर श्रीयमुनाजी भक्तनको अनुकूल हें॥5॥

एसें भक्तनको अनुकूल श्रीयमुनाजी, भगवानकु अत्यन्त प्रियहें.तिनकों नमन सिवाय ओर कछु होय सके नाहींएसे अभिप्रायसूं कहतहें.

नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रम् अत्यद्भुतं

न जातु यमयातना भवति ते पय:पानत:॥
यमोऽपि भगिनीसुतान् कथमु हन्ति दुष्टानपि
प्रियो भवति सेवनात् तव हरेर् यथा गोपिका:॥6॥

यमुने!=हे श्रीयमुनाजी!
सदा=सदा,नम:=नमन
अस्तु=हो,तव=आपको
चरित्रं=चरित्र
अत्यद्भुतं=अत्यन्त अद्भुत हे
ते=आपके
पय:पानत:=जलके पानसों
जातु=कबहु
यमयातना=यमद्वारादीजातीयातना
न=नाहीं,भवति=होत हे
यम:=यम,अपि=हु
दुष्टान्=दुष्ट,अपि=हु
भगिनीसुतान्=बहिनके पुत्रनकु ,उ=कहो
कथं=केसें,हन्ति=मारि सके हे
तव=आपके,सेवनात्=सेवनसों
यथा गोपिका:=गोपीजनके जेसें
हरे:=प्रभुके,प्रिय:=प्रिय
भवति=होय हें

भावार्थ:
हे श्रीयमुनाजी! आपकों सदा नमस्कार हो. आपको चरित्र बहुत अद्भुत हे. आपके जलको पान करिवेसों कबहु यमसम्बन्धी पीड़ा नाहीं होत हे. क्यों? जो यमहु बहिनके पुत्र कदाचित् दुष्ट होंय तोहु तिनकुं दण्ड केसें देय? आपकी सेवा करिवेसों श्रीगोपीजननकी तरह (जीव हु) श्रीहरिकों प्रिय होयहे.

विवृति:
एतादृश्यां त्वयि नमनातिरिक्तं न वक्तुं शक्यम् इति आशयेन आहु: नमो अस्तु इति. त्वयि नमनमपि दुर्लभम् अत: प्रार्थ्यते अस्तु इति. अद्भुतत्वमेव अग्रे उपपादितम्॥6॥

टीका:भगवानको माहात्म्य तो सब शास्त्रनमे अति प्रसिद्ध हे तासूं भगवानकु नमन होय सके हे. ओर श्रीयमुनाजीको माहात्म्य तो लीलासृष्टिमें प्रवेश भये पीछें तेसो भाव प्राप्त होय तब जान्यो जाय ता पीछें नमन होय. तासूं नमन होयवेकी प्रार्थना करत हें जो हे श्रीयमुनाजी! आपकुं सदा नमन होउ. आपके पय:पानसूं कोऊ बिरियां यमयातना होय नाहीं यह आपको चरित्र अति अद्‌भुत हे. जेसें भगवान् अद्‌भुत कर्मवारे हें सो काम, भय, द्वेष प्रभृति जो भगवानकु मिलायवेके साधन नाहीं हें, किन्तु उत्तम गतिके प्रतिबन्धक हें,तथाश्रीगपी कामतें, कंस भयतें ओर शिशुपालादिक द्वेषतें भगवानकु प्राप्त भये हें. तहां कामादिक असाधन हें (तथापि) तिनकुं भगवानने साधनरूप किये हें. तेसें तृषाकी निवृत्तिकेलिये जीको पय:पान करे सो कछू उत्तमगति मिलवेको अथवा यमयातना मिटवेको साधन भयो नाहीं तथापि यमयातना मिटे हे, ये श्रीयमुनाजीको अद्‌भुत चरित्र हे. श्रीयमुनाजीके पय:पानते यमयातना मिटे हे तामें युक्ति कहत हें जो यमहु बहिनके पुत्र कदाचित् दुष्ट होंय तोहु तिनकुं दण्ड केसें देय? क्यों जो बहिनिको पुत्र तो सर्वदा मान्य (रक्षा/सत्कार करिवे योग्य) हे. ओर यमके उत्पन्न भये पीछें वाके दोषकी निवृत्तिकेलिये श्रीयमुनाजी प्रकट भये हें तासूं यमकुं अतिमान्य हें. ओर 'पयस्' शब्दको अर्थ दूध तथा जल दोउ प्रकारको होय हे. तासूं श्रीयमुनाजीको पय:पान करिवेवारे विनके पुत्र भये ओर यमके भानेज भये. तिनकुं यम दण्ड केसें देय?

एसें दोषनिवारक अद्‌भुत चरित्रको निरूपण करिके फलसम्पादक अद्‌भुत चरित्रको निरूपण करें हें जो जेसें श्रीगोपीजन हरिकुं प्रिय भये हें तेसें तुम्हारे सेवनतें जीव हरिकुं प्रिय होय हें. लोकमेंहु अन्यके सेवनसूं अन्य प्रसन्न होय एसो देख्यो नाहीं हे ओर यहां तो श्रीयमुनाजीके सेवनसूं प्रभु प्रसन्न होय हें. जेसें कात्यायनीव्रतके प्रसङ्गमें कुमारिकान्पे श्रीयमुनाजीके सेवनतें प्रभु प्रसन्न भये हें. ये श्रीयमुनाजीको अद्‌भुत चरित्र हे॥6॥

देहको अवश्य धर्म यह हे जो जेसो कर्म करे तेसो दूसरो देह प्राप्त होय. एसो आवश्यक दैहिकधर्ममेंहु जहां तुम्हारो सम्बन्ध भयो इतने पीछें मुक्तितें अधिक भक्तिकी प्राप्ति होय हे. तहां यमयातनाको अभाव होय तामें कहा शङ्का हे यह निरूपण करतहें:

ममाऽस्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता

न दुर्लभतमा रतिर् मुररिपौ मुकुन्दप्रिये॥
अतोऽस्तु तव लालना सुरधुनी परं सङ्गमात्
तवैव भुवि कीर्तिता न तु कदापि पुष्टिस्थितै:॥7॥
मुकुन्दप्रिये!=भगवान् मुकुन्दकी प्रिया-हे श्रीयमुने!,
तव=आपके
सन्निधौ=समीप,मम=मेरो
तनुनवत्वम्=देह नवीनताकुं प्राप्त
अस्तु=होय
एतावता=एसो होयवेसूं
मुररिपौ=श्रीकृष्णमें,रति:=भक्ति
दुर्लभतमा=दुर्लभतम
न=नाहीं रहत हे
अत:=तासों,तव=आपकी
लालना=स्तुति
अस्तु=होउ
सुरधुनी=देवतानकी नदी गङ्गा
तव=तुम्हारेएव=ही
सङ्गमात्=सङ्गमसों
भुवि=भूतलके ऊपर
परं=अधिक
कीर्तिता=प्रसिद्ध भई हें
पुष्टिस्थितै:=पुष्टिमार्गस्थित भक्तद्वारा
तु=तोकदापि=कबहु
न=नाहीं
(कीर्तिता=कीर्तित भई हे)

भावार्थ:
हे हरिप्रिय यमुनाजी! आपकी सन्निधिमें मेरो शरीर दिव्य-नवीन होय जाय, अर्थात् लीलामें प्रवेश करवे लायक अलौकिक होय जाय. इतनेसोंही मुरदानवके मारनवारे श्रीकृष्णमें प्रीति होनी अतिदुर्लभ नाहीं हे, ताकारणसों आपके (स्तुतिरूप) लाड-चाव होय. श्रीगङ्गाजीकी आपके ही समागमसों भूतलमें स्तुति करी गई हे, किन्तु पुष्टिस्थित

जीव**ननें** या विषयमें आपके सिवाय उनकी स्तुति नाहीं कीनी हे, क्यों? जो उनसों मुक्ति तो मिले हे परन्तु लीलोपयोगी देह नाहीं मिले हे.

विवृति:
आवश्यक-दैहिकधर्मेऽपि त्वत्सम्बन्धे मुक्त्यधिक-भक्तिप्राप्तिः यत्र, तत्र का शङ्का यमयातनाभावे इति आहुः ममाऽस्तु इति. तव सन्निधौ तनोः नवत्वं लीलोपयोगि-नूतन-देह-सम्पत्तिः अस्तु. एतेन पूर्वदेहनिवृत्तिः सूचिता. इदमपि त्वत्कृतमेव भवति नतु अन्यथा इति ज्ञापनाय प्रार्थनम् अस्तु इति. एतावता शरीर-परिवर्त-मात्रेणैव मुररिपौ रतिः दुर्लभतमा न भवति इति अर्थः किन्तु तनुनवत्वेन सुलभैव. कदाचित् प्रतिबन्धके विद्यमानेऽपि यथा जलदोषरूपमुरस्य निवारकः तथा त्वत्सम्बन्धात् सर्वदोषनिवारकत्वं 'मुररिपु'पदेन उक्तम्. अतः कारणाद् यावद् आधुनिकशरीरनिवृत्तिः तावत् तव लालना स्तुतिरूपा अस्तु. सापि त्वत्कृपयैव न अन्यथा इति प्रार्थ्यते अस्तु इति. गङ्गाया अपि फलसाधकत्वं त्वत्सम्बन्धादेव इत्यत आहुः सुरधुनी तव सङ्गमात्. परम् अत्यर्थं भुवि कीर्तिता स्तुता इति अर्थः, न तु कदापि त्वद्रहितापि इति अर्थः. ननु क्वचित् पुराणादौ केवलाया अपि स्तुतिः दृश्यते इति स्तुतौ विशेषम् आहुः पुष्टिस्थितैः इति. मर्यादामार्गीयैः केवलापि स्तूयते त्वत्स्वरूपाज्ञानात्. पुष्टिमार्गीयास्तु त्वत्स्वरूपं जानन्तीति त्वत्सम्बन्धादेव स्तुवन्ति इति आहुः पुष्टिस्थितैः इति॥7॥

टीका:
मोकुं तुम्हारे सन्निधानमें लीलोपयोगी नवीन देहसम्पत्ति होय.लेह मिटिकें अलौकिक देह भयेसूं मुररिपु (भगवान्)में प्रीति अत्यन्त दुर्लभ नाहीं कदाचित् प्रतिबन्धक होंइगे तोहु तुम्हारे सम्बन्धतें भगवान् आपतेंही दूर करि देंइगे अरु घरमें हि मोक्षसुख प्राप्त होय तेसें चतुर्विध पुरुषार्थके सुखको अनुभव होयगो यह जतायवेके लिये 'मुररिपु' पद तथा 'मुकुन्दप्रिये' एसो सम्बोधन दिये हे. ओर तुम्हारे सन्निधानमें अलौकिक देहकी प्राप्ति होयवेको कह्यो हे. तासूं जहां दुष्टनके सन्निधानतें श्रीयमुनाजीको तिरोभाव हे तहां अलौकिक देहकी प्राप्ति नाहीं होय एसो सूचित किये हें. तुम्हारे सन्निधानमें ही जहां अलौकिक देहकी प्राप्ति होय तहां यमयातनाको अभाव होयवेमें शङ्का कहा हे? एसें जतायो हे. तासूं जब तांई आधुनिक शरीरकी निवृत्ति होय तब तांई, जेसें माता बालककुं लाड़ करती बिरियां बालककी प्रशंसा (स्तुति) करे हे सो गुणवर्णन नाहीं हे तेसें तुम्हारी यह स्तुतिहु लालनरूपहोय.

जिनकी बहोत बड़ाई हे एसी गङ्गाजीको कीर्तन जो नि:साधन अनुग्रहमार्गवारे पृथ्वीपर करे हें सो तुम्हारे हि सङ्गमतें करें हें. क्यों? जो गीताजीमें विभूतिके अध्यायमें गङ्गाजी भगवानकी विभूति हें एसें लिख्यो हे. ताको ज्ञान न होय अथवा जो विभूतिके उपासक होंय सो तो कदाचित् विभूतिरूप गङ्गाजीकी स्तुति करें परन्तु पुष्टिमार्गीय भक्त तो पूर्णपूरुषोत्तमके उपासक हें सो विभूतिरूप केवल गङ्गाजीकी स्तुति करेंही नाहीं. तुम्हारे (श्रीयमुनाजीके) सङ्गमतें ही गङ्गाजीकी स्तुति करें हें॥7॥

सबनकु वन्दन करिवे योग्य गङ्गाजीकी स्तुतिहु जब तुम्हारे सम्बन्धतें होय हे तहां तुम्हारी स्तुति करिवेकुं कोन समर्थ हे? एसे अभिप्रायसूं कहत हें:

स्तुतिं तव करोति क: कमलजा-सपत्नि! प्रिये!
हरेर् यद् अनुसेवया भवति सौख्यमामोक्षत:।
इयं तव कथाऽधिका सकल-गोपिका-सङ्गम-
स्मर-श्रम-जलाणुभि: सकलगात्रजै: सङ्गम:॥8॥

कमलजासपत्नि!=हे लक्ष्मीके समान सौभाग्यशालिनी श्रीयमुने!
प्रिये!=हे कृष्णप्रियाश्रीयमुने!
तव=आपकी,स्तुतिं=स्तुति
क:=कोन
करोति=करि सके हे
यत्=क्योंके,हरे:=श्रीकृष्णकी
अनु=पीछें,सेवया=सेवासों
आमोक्षत:=मोक्ष पर्यन्त
सौख्यं=सुख,भवति=होत हे तव=आपकी,इयं=ये
कथा=कथा,अधिका=श्रेष्ठ
(यत:=क्योंके)
सकल-गोपिका-सङ्गम-स्मर-श्रम-
जलाणुभि:=सकल गोपिकानके
सङ्गमसों भये स्मरश्रमसों जन्य
प्रस्वेदरूप जलबिन्दुसों
सकलगात्रजै:=भगवानके समस्त

अवयवन्सों,सङ्गम:=आपको सम्बन्ध,भवति=होत हे

भावार्थ:

लक्ष्मीकी सपत्नि और हरिकों प्रिय हे श्रीयमुनाजी! आपकी स्तुति कोन करिवे समर्थ हे? क्यों? जो श्रीहरिके पीछे लक्ष्मीकीहु सेवा करे तो ताकों मोक्षपर्यन्तको सुख मिले हे, परन्तु आपकी तो कथा इतनी अधिक हे के सकल श्रीगोपीजनके सङ्गमसों स्मरसम्बन्धी जो श्रम होय हे ताकरिके जो स्वेदजलके बिन्दु सकल शरीरमेंतें उत्पन्न होंय हें तिनको सङ्ग आपसों हे. सो ताको सम्बन्ध आप भक्तनकु कराओ हो.

विवृत्ति:

यत्र त्वत्सम्बन्धात् सर्ववन्द्य-गङ्गास्तुतिः तत्र त्वत्स्तुतौ को वा समर्थ: इति आहु: स्तुतिं तव इति. अशक्यस्तुतित्वे हेतुम् आहु: कमलजासपत्नि इति. सर्वत्र स्तुत्यत्वं भगवत्सम्बन्धात्. स सर्वत्र लक्ष्म्यपेक्षया न्यूनएव. त्वं तु तस्याअपि सपत्नी तत्समान-सौभाग्यवती. ननु लक्ष्मी-स्तुतिस्तु लोके दृश्यते. तर्हि तत्साम्यं चेत् कथं स्तुतिः अशक्या इति आहु: प्रिये इति. साम्यमात्रे कर्तुं शक्यतएव. अत्र तु ततोऽपि अधिकं प्रियत्वम् अस्तीति स्तुतिकरणम् अशक्यम्. ननु कथं ज्ञायते लक्ष्म्यपेक्षया आधिक्यम् अस्ति इति. तत्र हेतुम् आहुः हरे: यद् अनुसेवया इति. हरे: अनुपश्चाद्

यस्या: सेवया मोक्षं मर्यादीकृत्य सुखं भवति, मोक्षप्राप्तिः भवति इति अर्थः. नतु ततोऽपि अधिकं भजनानन्दाख्यं सुखं भवति. तदपि भगवत्सहित-तद्भजनेन नतु केवलाया:, केवलाया: मोक्ष-विघातकत्वात्. 'अनु'शब्दात् मुख्यतया भगवद्भजनं तदनुगुणत्वेन लक्ष्म्या:. कालिन्द्युत्कर्षम् आहुः इयं तव कथा इति. इयम् अग्रत: उच्यमाना तव कथा अपि सर्वमुक्त्यपेक्षया अधिका. अतएव एतत्कथारसिकानां न मोक्षेच्छागन्धोऽपि. तदेव उक्तं पञ्चमस्कन्धे "अथ ह वा व तव महिमामृतसमुद्रविप्रुषा सकृल्लीढया विस्मारित-दृष्ट-श्रुत-सुखलेशाभासा: परमभागवता एकान्तिन:" (भाग.पुरा.6।9।39) इति. सा का इति आकांक्षायाम् आहु: सकलगोपिका इति. सकल-गोपिका-सङ्गमेन स्मरसम्बन्धी य: श्रमः, तेन जनिता ये स्वेद-जलाणव: सकल-गात्रजाः, तैः सङ्गमो यस्या:. एते जलाणवो

श्रमस्वेदरूपा: किन्तु विविध-सङ्गम-रसस्य सर्वावयवपूर्णस्य अत्युच्छलनेन बहिः आगतस्यैव बिन्दवो, नतु केवल-जलमात्रस्य. अतएव उक्तं सकलगात्रजैः इति. एभिः विशेषणै: परमकाष्ठापन्न- पुष्टिमार्गान्तरङ्ग-भक्तत्वं, सर्वदा एतद्रसपूर्णत्वम्, अन्तरङ्ग-

भक्तानुगुणत्वम्, एतल्लीला-मध्यपातित्वादिकं सूचितम्. स्वस्य एतद्रसपूर्णत्वेन केवलैतद्भजनकर्तुरपि एतद्रसं ददातीति स्पष्टमेव वैलक्षण्यम्॥8॥

टीका :
लक्ष्मीजीके सपत्नि (सोति) हरिकों प्रिय एसे हे श्रीयमुनाजी! आपकी स्तुति कोन कर सके? कोऊ कर सके नाहीं. क्यों? जो आप लक्ष्मीजीके समान सौभाग्यवारे हो तथापि हरिकों विशेष प्रिय हो. ओर मुख्यतासूं हरिको सेवन करिके ताकी अनुकूलतासूं जब गौणभावसूं लक्ष्मीजीको सेवन करे तब मोक्षपर्यन्त सुख मिले हे, केवल (विभूतिरूप) लक्ष्मीजी तो धनादि सम्पत्तिद्वारा विषयासक्ति करायकें मोक्षको विघात करें हें. और तुम्हारी तो यह कथा अधिक हे जो आप मोक्ष सुखको अनुभव कराओ हो ओर समग्र श्रीगोपीजनके सङ्गमकरिकें स्मरसम्बन्धी श्रम होय हे ताकरिके जो स्वेदजलके बिन्दु सकल शरीरमेंतें उत्पन्न होंय हें तिनको सङ्ग जिनकों हे ताको सम्बन्ध भक्तनकु कराओ हो. एसी तुम्हारी (श्रीयमुनाजीकी) कथा अधिक हे. तासूं लक्ष्मीजीकी स्तुति होय परन्तु आपकी स्तुति तो कोन कर सके!॥8॥

एसे श्रीयमुनाजीकी स्तुति करिके या स्तोत्रको पाठ करिवेको फल कहत हें:

तवाष्टकम् इदं मुदा पठति सूरसूते सदा
समस्त-दुरित-क्षयो भवति वै मुकुन्दे रति:॥
तया सकल-सिद्धयो मुररिपुश्च सन्तुष्यति
स्वभाव-विजयो भवेद् वदति वल्लभ: श्रीहरे:॥9॥

॥इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं यमुनाष्टकं सम्पूर्णम्॥

सूरसूते!=हे सूर्यपुत्री यमुने!
तव=आपकी इदम्=ये

अष्टकं=स्तुतिरूप अष्टकको
(य:)=जो सदा=सदा
मुदा=प्रसन्नचित्त होयके
पठति=पाठ करे हे
(तस्य=वाके)
समस्तदुरितक्षयो=सगरेपापनको नाश
भवति=होय जाय हे, वै=अरु
मुकुन्दे=मोक्षदाता भगवानमे
रति:=भक्ति, भवति=होय हे
तथा=अरु
सकलसिद्धय:=सकल सिद्धिएं
(भवन्ति=प्राप्त होय हें)
च=ओर, मुररिपु:=श्रीकृष्ण
सन्तुष्यति=प्रसन्न होय हें
स्वभावविजय:=स्वभावपे विजय
भवेत्=होय हे (इति=एसें)
श्रीहरे:=श्रीहरिको
वल्लभ:=प्रिय, वदति=कहे हे

भावार्थ :
हे सूर्यपुत्री श्रीयमुनाजी! तुम्हारे या अष्टकको आनन्दकरिके जो सदा पाठ करे हे ताके समस्त दूरितको क्षय होय हे अरु मोक्ष देवेवारे भगवानमे निश्चय प्रीति होय हे. ताकरिके पहिले बताई हे सो सब सिद्धि प्राप्त होय हे, प्रतिबन्ध निवृत्त करिवेवारे प्रभु प्रसन्न होय हें, अन्त:करणको वासना सहित स्वभाव फिर जाय हे अरु भगवानको स्वभाव, हे जो व्रजभक्तनको देवेको आनन्द ओरकुं नाहीं देय हें, सो स्वभावहु फिर जाय हे. एसें प्रभूनको प्रिय श्रीआचार्यजी महाप्रभुजी कहत हें.

विवृत्ति :

एवं कालिन्दीं स्तुत्वा एतत्स्तोत्रपाठफलम् आहुः तवाष्टकम् इति. यद्यपि अन्यकृतान्यपि स्तोत्राणि सन्ति तथापि वक्ष्यमाणं फलम् एतत्स्तोत्रपाठेनैव भवति न अन्यथा इति ज्ञापनाय इदम् इति उक्तम्. अन्यकृतस्तोत्रेषु एवंविध-स्वरूप-निरूपणाभावात् इदं तवाष्टकं यः पठति तस्य पूर्वं समस्तदुरितक्षयो भवति. तदनन्तरं मोक्षदातर्यपि स्नेहो भवति. अतएव उक्तं "नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते" इति. मुकुन्दपदाद् यद्यपि मोक्षमेव साधारण्येन सर्वेभ्यो ददाति तथापि त्वत्स्तुतिपाठात् प्रसन्नो भक्तिमेव ददाति न तु मोक्षमपि इति भगवत्स्वभाव-परावर्त्तकत्वम् उक्तम्. ततः किम् इति तत्र आहुः तया सकलसिद्धयः पूर्वोक्ताः सर्वात्मभावादयो भवन्ति इति शेषः. ननु प्रतिबन्धके विद्यमाने सति कथम् एतत्स्तोत्रमात्राद् एतावद् भवति इति चेत् तत्र आहुः मुररिपुश्च सन्तुष्यति इति. यथा दोषरूपं तन्निरुद्ध-कन्या-सुखप्राप्ति-प्रतिबन्धकं निराकृत्य ता अङ्गीकृतवान् एवम् एतत्पाठेनाऽपि प्रतिबन्धं निवार्य तमपि अङ्गीकरोति इत्यपि ज्ञापनाय मुररिपुपदम्. फलान्तरम् आहुः स्वभावविजयो भवेद् इति. स्वभावस्य विजयः परावृत्तिः भवति. सवासना इति 'वि'उपसर्गार्थः. दुष्टस्वभावोपि उत्तमस्वभावो भवति इति अर्थः. ननु इदम् अनेक-तपः-साध्यं कथम् एतत्पाठमात्राद् इति चेत् तत्र आहुः वदति वल्लभः इति. तेन आप्तवाक्यत्वेन प्रामाण्यम् उक्तम्. ननु इतः पूर्वं केनापि अनुक्तत्वाद् भवदुक्तिमात्रेण कथं प्रामाण्यम् इति चेत् तत्र आहुः श्रीहरेः इति. साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तम-सम्बन्धी यतः अहम् अतो वदामि इति अर्थः. अत्र अयम् आशयः. साक्षात्स्वरूपसम्बन्धिनां स्वरूपं साक्षात्-तत्सम्बन्धिनएव जानन्ति नतु अन्ये. श्रीकालिन्द्याः साक्षात्-तत्सम्बन्धित्वं पूर्वं प्रकटमेव उपपादितम्. स्वातिरिक्तानां साक्षाच्छ्रीगोकुलेश-सम्बन्धाभावात् साक्षात् तत्सम्बन्धिन्याः स्वरूपाज्ञानात् तदकथनम्. स्वस्यतु साक्षात्-तरदृशत्वात् तत्स्वरूपज्ञानात् तत्कथनमिति न अनुपपत्तिः काचित्॥ 9॥

॥ इति श्रीविट्ठलेश्वरविरचिता (गोस्वामिश्रीगोकुलनाथप्रपूरिता)
श्रीयमुनाष्टकविवृतिः सम्पूर्णा ॥

टीका :

इतनें या स्तोत्रको पाठ करिवेवारेकुं ये (श्रीयमुनाजी) आनन्दको दान करत हें, एसें भक्तनके दुःख तथा पापकुं हरिवेवारे प्रभुकों प्रिय श्रीआचार्यजी महाप्रभुजी कहत हें.

यद्यपि श्रीयमुनाजीके अन्य स्तोत्र हें तथापि या स्तोत्रके पाठसूं ही सब फल मिले हे अन्य स्तोत्रके पाठसूं नाहीं मिले हे. क्यों? जो अन्य स्तोत्रमें एसो स्वरूपनिरूपण नाहीं हे. तेसें आनन्दकरिकें सदा पाठ करे तब फल मिले, क्यों? जो अर्थको ज्ञान होय तब आनन्द प्राप्त होय. ओर सदा पाठ करे तब आसुरावेश न होय. तेसें श्रीयमुनाजीके स्तोत्रसूं ही यह फल मिले हे ओरके स्तोत्रसूं नाहीं मिले हे. क्यों? जो भगवा**नने** अष्टविध ऐश्वर्य श्रीयमुनाजीकों दिये हें. तासूं श्रीयमुनाजीके या अष्टकको अर्थानुसन्धान पूर्वक आनन्दसूं सदा पाठ करे तो सब फल प्राप्त होय॥9॥

इति श्रीवल्लभाचार्य विरचित श्रीयमुनाष्टककी
गोस्वामी श्रीनृसिंहलालजी महाराजकृत
व्रजभाषा**टीका** सम्पूर्ण भई॥

बालबोधः

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

बालबोध ग्रन्थ-परिचय

एक किन्वदन्तीके[1] अनुसार 'बालबोध' ग्रन्थका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने वि. सं. 1550[2] में पुष्कररराजमें
किया था. 84 वैष्णवन की वार्ता 57भी के भाव प्रकाशके अनुसार अम्बालाके नारयणदास कायस्थको यह बालबोध स्वयम् श्रीमहाप्रभुने द्वारकामें पढाया था.

---

1. (* श्रीनागरदास बाम्भनिया शास्त्रीजी द्वारा लिखित लेख "श्रीषोडशग्रन्थनी रचना..... महत्व नी तवारीखो". वैष्णववाणी अम 4 वर्ष 1979.)
2. (* दृष्टव्यःश्रीयदुनाथजीकृत श्रीवल्लभदिग्विजय मध्यम यात्रा प्रकरण)

नारायणदासके पिता सरकारी दफ्तरमें नोकरी करते थे. बीस बर्षकी आयुमें नारायणदासको जूआ खेलनेकी लत लग गयी और इसके कारण घर छोडकर भागना पडा. भटकते हुए दक्षिणमें कहीं जाकर कुछ विद्यार्जन किया और बजारमें बच्चोंको पढानेकी एक दुकान खोल ली. पढाते समय विद्यार्थी बालकोंका प्रताडन और प्रबोधन दोनों कठोरतासे करते थे! श्रीमहाप्रभुके सेवक कृष्णदासके टोकनेपर भी एकबार किसी विद्यार्थी बालककी पिटाई करने पर जब वह बेहोश हो गया तभी इन्हे अपनी कठोरताका होश आया. भाग कर सीधे कृष्णदासके पास आये और उनके द्वारा श्रीमहाप्रभुके सम्मुख उपस्थित हुए. श्रीमहाप्रभुके प्रतापसे तब वह बालक और नारायणदास दोनों ही स्वस्थ होगये. दीक्षित होनेके बाद दक्षिणसे द्वारकातककी यात्रामें यें श्रीमहाप्रभुके साथ रहे. द्वारकामें इन्हें जब घर लौटने आज्ञा दी गई तब स्वधर्मनिर्वाहकी इनकी चिन्ताका निवारण श्रीमहाप्रभुने-"तोसों स्वरूपसेवा निबहेगी नाहीं. पाई चाकरी करनी. घरपें कोउ सेवक नाही. ताते हस्ताक्षर लिख देत हों सामग्री जो बने सो भोग धरिके महाप्रसाद लीजियो"-कह कर किया. गद्यमन्त्र तथा अष्टाक्षर सेवार्थ लिखकर पधरा दिये. नारायणदासकी बिनती पर कि "महाराज इतने दिन आपके पास रहयो परन्तु मेरे अन्तःकरणमें बोध न भयो. सो ऐसी कृपा करो जो संसारको दुःख-सुख कछु मोकों बाधा न करे अरु चित्त श्रीठाकोरजीके चरणारविन्दमे लग्यो रहे". श्रीमहाप्रभुने अपना चरणामृत दिया और उन्हें यह बालबोध ग्रन्थ पढाया.

बालबोधमें सर्वसिद्धान्तोंका सङ्ग्रहरूपेण निरूपण है किन्तु स्वसिद्धान्तका नहीं. अन्यान्य सिद्धान्तोंके साधन एवम् फलों का एकबार बराबर ज्ञान हो जानेपर पुष्टिजीवके अन्य मार्गोपर भटक जानेका भय नहीं रह जाता. सभी मोक्षशास्त्र या तो संसारिक दुःख दूर करनेके रूपमे या फिर पारलौकिक सुखकी प्राप्तिके रूपमे मोक्षका प्रतिपादन करते है. इस संसारमें रहते हुए भी

भगवत्सेवा और/अथवा भगवत्कथा के द्वारा भजनानन्दकी प्राप्ति ही पुष्टिजीवके लिए मोक्ष है. इसका निरूपण किन्तु चतुश्लोकीमे किया जायेगा. यहां वह विवक्षित नहीं है.

वैसे तो मनुष्यके मनमे अगणित कामना या महत्त्वकाङ्क्षा भरी रहती है. विद्वानोंने उन्हे किन्तु चार पुरूषार्थोके रूपमे वर्गीकृत किया है. 1.धर्म 2.अर्थ 3.काम और 4.मोक्ष. स्थूल अर्थोमे इन्हे क्रमशः 1.कर्तव्य 2.सम्पदा 3.प्रेयस और 4.श्रेयस् कह सकते है. जीवनमे दिखलाई देती हर तरहकी कामनाओंका इन चार पुरूषार्थोमे अन्तर्भाव हो जाता है. इनके वास्तविक सहज एवम् शुभ स्वरूपकी जिज्ञासाका समाधान अलौकिक वेदादि शास्त्रोमें भी मिलता है तथा विभिन्न ऋषियोंके द्वारा प्रणीत आर्ष शास्त्रोंमे भी.

प्रस्तुत बालबोध ग्रन्थमे वैदिक धर्मार्थकाममोक्ष पुरूषार्थोंका निरूपण अभिप्रेत नहीं है. वह तो सर्वनिर्णयमे ही विशदतया निरूपित हो गया है. आर्ष अथवा लौकिक शास्त्र, जिनमे त्रिवर्ग धर्म अर्थ या काम पुरूषार्थ का निरूपण किया गया है, यहां उन शास्त्रोंका विवेचन भी अभिप्रेत नहीं है. यहां तो केवल अन्याय ऋषियों द्वारा प्रणीत मोक्षशास्त्र और उनमे प्रतिपाद्य मोक्षस्वरूपके बारेमें ही श्रीमहाप्रभु अपना अभिमत प्रगट करना चाहते हैं.

मोक्षका निरूपण करनेवाले विभिन्न ऋषियोंद्वारा प्रणीत शास्त्रोंमें चार शास्त्र प्रमुख है. अन्य शास्त्रोंका या तो इन्हींमें अन्तर्भाव समझना चाहीये या फिर उन्हें सिद्धान्ततः उपेक्षणीय ही समझना चाहिये.

मोक्षप्रतिपादक ऋषिप्रोक्त चार शास्त्रः

1.त्यागसे स्वतोमोक्षका प्रतिपादक साङ्ख्ययशास्त्र

2.अत्यागसे स्वतोमोक्षका प्रतिपादक योगशास्त्र

3.शिवकी भक्ति या प्रपत्ति से परतोमोक्षका प्रतिपादक शैवतन्त्र

4.विष्णुकी भक्ति या प्रपत्ति से परतोमोक्षका प्रतिपादक वैष्णवतन्त्र

1.बाह्यात्याग द्वारा स्वतोमोक्षका प्रतिपादन करनेवाले साङ्ख्ययशास्त्रके अनुसार अहन्ता-ममताके सर्वथा नष्ट होनेपर जीवात्माका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना ही मोक्ष माना गया है. तत्तत् कालमें विभिन्न ऋषियोंने साङ्ख्ययशास्त्रका वर्णन अनेकविध प्रक्रियाओंके आधारपर किया है. पर मोक्षप्राप्तिके उपाय और स्वरूप के बारेमें प्रायः एक वाक्यता है.

श्रीमहाप्रभुके अनुसार साङ्ख्ययशास्त्रीय प्रणालीका जो रूप मान्य वेदादि शास्त्रोमें वर्णित हुआ है तदनुसार साधनाचरण करनेपर ही उल्लिखित प्रकारका मोक्षलाभ साङ्ख्ययसे मिल सकता है. अन्यथा नहीं.

2.चित्तवृति-निरोधकी यौगिक प्रणालीसे स्वतोमोक्षका प्रतिपादन करनेवाले योगशास्त्रके अनुसार विषयोंके बाह्यत्यागकी उतनी अपेक्षा नहीं है जितनी कि यम-नियम-आसन-प्रणायाम-प्रत्याहार-
ध्यान-धारणा-समाधिके बाह्य तथा आन्तरिक समुचित उपायोंसे आनात्मरूप विषयोंमें भटकती चित्तवृत्तिके निरोधकी आवश्यकता है. चित्तवृत्तिके निरुद्ध होनेपर ही आत्मा अपने स्वरूपमें अवस्थित या मुक्त हो सकती है.

श्रीमहाप्रभुके अनुसार इन योगशास्त्रीय उपायोंका निरूपण मान्य वेदादि शास्त्रोमें भी उपलब्ध होता है. अतः तदनुसार अनुष्ठान करनेपर ही मोक्षप्राप्तिकी सम्भावना है. वैदिक प्रणालीसे विपरीतता बरतनेपर आत्माकी स्वरूपमें अवस्थिति सम्भव नहीं.

3.परतोमोक्षवादी पाशुपतादि शैवतन्त्रोंके अनुसार साधना करनेपर शिवके द्वारा भी मुक्ति मिल सकती है.

श्रीमहाप्रभुके अनुसार क्योंकि सर्वात्मक निर्दोषपूर्णगुण ब्रह्म ही अथर्वशिखा आदि उपनिषदोंके अनुसार जगत्संहारक शिवका रूप धारण करता है. अतः शिवके मुक्तिदाता होनेमें किसी सन्देहका अवसर नही है. फिरभी शिवके रूपमें भगवान् स्वयम् मुक्ततताके आनन्दके उपभोगकी लीला करते है. अतः शिवसे उनकी स्वोपभोग्य मुक्तिके बजाय भोगकी प्राप्ति सुलभ मानी जाती है किसी अतिप्रिय जीवको ही शिव मुक्तिदान करते है. यह असाधारण प्रेमभाजन वे ही बन सकते हैं जो पूर्णतया शिवके प्रति समर्पित होते है. अतः शिवकी भक्ति या शरणागतिके साथ जो वर्णाश्रमोचित स्वधर्मकी उपेक्षा नहीं करते उन्हें शिवसे मोक्ष मिलता है.

4.परितोमोक्षवादी पाञ्चरात्र वैष्णवतन्त्रके अनुसार साधना करनेपर विष्णुद्वारा मुक्ति मिल सकती है.

श्रीमहाप्रभुके अनुसार क्योंकि सर्वात्म निर्दोषपूर्णगुण ब्रह्म ही महानारायण आदि उपनिषदोंके अनुसार जगत्पालक विष्णुका रूप धारण करता है. विष्णुके रूपमें भगवान् स्वयम् अलौकिक दिव्य भागोंके उपभोगकी लीला करते है. अतः विष्णुसे उनके स्वोपभोग्य भोगके बजाय मोक्षकी प्राप्ति सुलभ मानी जाती है. विष्णु अपने किसी अतिप्रिय भक्तको ही भोगका दान करते है. यह असाधारण प्रेमभाजन बन पाना पूर्णतया विष्णुके प्रति समर्पित होनेपर ही सम्भव है. अतः विष्णुकी भक्ति या शरणागति के साथ जो वर्णाश्रमोचि स्वधर्मकी उपेक्षा नहीं करते उन्हें विष्णुसे मुक्ति मिल सकती है.

स्वतोमोक्षके प्रकारमें सांसारिक दुःख तो दूर होते है किन्तु पारलौकिक सुखकी सम्भावना नही है जबकि परतोमोक्षके प्रकारमें वह सम्भव है.

इस तरह ब्रह्मा-विष्णु-शिवकी त्रिपुटीमें शिव और विष्णु भोग-मोक्ष दोनोके दानमें समर्थ होनेपर भी अधिकांशमें शिव भोगके दाता बनते है और विष्णु

मोक्षके दाता. ब्रह्मा केवल भोगके दाता है परन्तु मोक्षशास्त्रके उपदेशक गुरूके रूपमें ब्रह्माको भी मोक्षदाता माना जाता है.

यह सारे मोक्षशास्त्रोंके सिद्धान्तोंका सङ्ग्रहरूपेण निरूपण है. इसे जाननेसे पुष्टिजीवको पूर्णतया पुष्टिमार्गीय बननेमें अथवा बने रहनेमें सहायता मिलती है स्वसिद्धान्तका निरूपण तो आगे चलकर सिद्धान्तमुक्तावलीमें किया जायेगा. नारायणदास अम्बालावालेको श्रीमहाप्रभुने यही सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रह पढाया था ताकि उनका चित्त पुष्टिके प्रशस्त पथको छोडकर कही यहां वहां न भटक जाये. वार्तामें उल्लेख मिलता है कि अपने घर लोटनेके बाद काम-काजमें व्यापृत हो जानेपर भी इनका चित्त सदा गोकुल और श्रीमहाप्रभु की ओर दोडता रहता था-"भैयाजी श्रीगोकुल श्रीआचार्यजीके दरसनको कब चलोगे?" तब नारायणदास कहते-"हां, अब चलूंगो? नेत्रनमें जल भरि लीलारसमें मगन होय जाते. फेरि वह चाकर कहतो (कब श्रीगोकुल चलोगे) फेरि मगन होय जाते."

श्रीमहाप्रभुने इस बालप्रबोधनद्वारा नारायणदासको कितना स्वकीयकितना पुष्टिमार्गीय बना लिया होगा! अतएव श्रीमहाप्रभुने 'बीज' रूपसे पुष्टिके रहस्योंको यहां अवतारी कृष्णके सन्दर्भमें न देकर उनके गुणावतार शिव और विष्णु के सन्दर्भमें 'उपक्षिप्त' किया है-"सर्मपणेनात्मनो ही तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम्. अतदीयतया चापि केवलश्चेत्समाश्रितः तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित्समाचरेत्. स्वधर्ममनुतिष्ठन्वै भारद्वैगुण्यमन्यथा. इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः" (बालबोध 18-19)

नारायणदासको स्वरूपसेवाकी आज्ञा न मिली-अतएव स्वरूपसेवाके अनुकल्प श्रीहस्ताक्षरकी सेवाका उल्लेख हमें मिलता है-और न स्वसिद्धान्तका उपदेश ही-अतएव बालबोध द्वारा सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रह उपदिष्ट हुआ-फिरभी

स्वकीयता-सार-सर्वस्व चिर-उत्कष्ठा और तापभाव का उन्हें वरदान मिला-"भैयाजी! श्रीगोकुल श्रीआचार्यजीके दरसन को कब चलोगे? हां, अब चलूंगो! नेत्रनमें जलभरि लीलारसमें मगन होय जाते....." बालबोध वस्तुतः श्रीमहाप्रभु, उनके सिद्धान्त और मार्ग की और प्रयाण करने की तीव्र उत्कण्ठा जगाता है-"समर्पणेनात्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम्..... इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः"

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. 1983 में प्रकाशित संस्करणका ओफसेट प्रोसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामि-कूलभूषण-विद्यानिधि
-श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजने श्रीचीमनलाल ह. शास्त्रीद्वारा सम्पादित करवा कर अपनी श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत-महासभा (सूरत) द्वारा इसे प्रकाशित कराया था. उस संस्करणके पुनः प्रकाशनपर आदरणीय महाराजश्री तथा श्रीशास्त्रीजी के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते है! इति शम्.

॥बालबोधः॥

दूसरे मतमें धर्म, अर्थ, काम ओर मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ ही फलरूप हें एसे कहे हें. तासूं जीवनकी प्रवृत्ति पुरुषार्थ सिद्ध करिवेमें होय हे. परन्तु, भक्तिमें जो बड़ाई हे सो जीव नाहीं जाने हे सो जतायवेकेलिये पुरुषार्थके स्वरूपनिरूपणपूर्वक अपनो सिद्धान्तरूप मङ्गलाचरण कहत हें:

नत्वा हरिं सदानन्दं सर्व-सिद्धान्त-सङ्ग्रहम्।
बाल-प्रबोधनार्थाय वदामि सुविनिश्चितम्॥1॥

सदानन्दं=सच्चिदानन्द
हरिं=श्रीकृष्णकुं
नत्वा=प्रणाम करिके
बाल-प्रबोधनार्थाय=बालकनकु आछी
भांतिसों अर्थबोध होय वाकेलिये
सुविनिश्चितं=आछि भांतिसों
निश्चित कर्यो भयो
सर्वसिद्धान्तसङ्ग्रहं=सभी सिद्धान्तनके सङ्ग्रहकों
(अहं=में)वदामि=कहूं हुं

भावार्थ:

भक्तनके दु:ख तथा पाप कुं हरिवेवारे सदानन्द (श्रीकृष्ण) भगवानकु नमन करिके, बालकनकु आछी भांतिसूं बोध होयवेकेलिये, सब प्रमाणन्सूं निश्चित कियो भयो सर्वसिद्धान्तको सङ्ग्रह कहूंहुं.

टीका:

भगवान् 'हरि' हें तासूं दु:खनकी निवृत्ति करे हें; ओर सदानन्द हें तासूं सुखकी प्राप्ति करावे हें. तिनकुं श्रीआचार्यजी नमन करिके यह जतायो जो जीवनकु दु:खकी निवृत्ति तथा सुखकी प्राप्तिकी इच्छा होय तो दीनतापूर्वक भगवानको नमन करनो. सो (नमन) करिके सर्वसिद्धान्तको सङ्ग्रह कहूंगो एसे कह्यो हे. इतने (अर्थात्) पुरुषार्थको प्रतिपादन करिवेवारे जो शास्त्र हें तिनको जामें सिद्धान्त हे एसो ग्रन्थ कहूं हुं.

ये ग्रन्थ बालकनकु बोध करिवेकेलिये हे. इतने अपनो हित कहा तथा अहित कहा वो नाहीं जाने हें; ओर भाव शुद्ध हे तासूं दयाके पात्र हें सो 'बालक' कहे जाय हें. तिनकों दूसरे फल-साधनविषयक उपाय ग्रहण करिवेको भ्रम मिटायके जेसो अधिकार ता प्रमाण भक्तिमें अथवा शरणागतिमें प्रवेश होयवेको सामर्थ्य होय एसो बोध उत्पन्न करिवेकेलिये यह ग्रन्थ हे॥1॥

या प्रकार ओर(अन्य) फलको सम्बन्ध बतायके पहिलेसूं पुरुषार्थनके विषयमें सन्देह मिटायवेकेलिये संक्षेपसूं तिनको निश्चय कहत हें:

धर्मार्थ-काम-मोक्षाख्याश् चत्वारोऽर्था मनीषिणाम्।
जीवेश्वर-विचारेण द्विधा ते हि विचारिता:॥2॥

मनीषिणां=बुद्धिमाननके
धर्मार्थकाममोक्षाख्या:=धर्म, अर्थ,
काम ओर मोक्ष नामके
चत्वार:=चार
अर्था:=पुरुषार्थें
(सन्ति=हें)ते=वे
जीवेश्वर-विचारेण=जीव ओर-
ईश्वर के द्वारा विचारित होयवेसूं
द्विधा=दो तरहके,हि=निश्चित ही
विचारिता:=विचारे गये हें

भावार्थ:
धर्म, अर्थ, काम ओर मोक्ष एसे नामके चार्यों अर्थ बुद्धिमाननके हें. (इतने साधारणनकु प्राप्त होंय एसे नाहीं हें) सो वेही अर्थ जीवविचारित ओर ईश्वरविचारित एसे दोय प्रकारकेहें.
टीका:तिनमें वेदादिकनमे करिवेकी अथवा 2नहीं करिवेकी आज्ञा हे सो 'धर्म' कह्यो जाय हे.
माला चन्दन स्त्री पुत्र देह प्राण आभरण गृह धन प्रभृति सब 'अर्थ' कहे जांय.
शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध प्रभृति विषयनमे इन्द्रियनकी अनुकूलतासूं प्रवृत्ति होय सो 'काम' कह्यो जाय हे. ओर हन्ता-ममतात्मक संसारकी निवृत्ति होयके अपने स्वरूपमें जो स्थिति सो 'मोक्ष' कह्यो जाय हे.

ये चार्यों नाममात्रसूं ही 'अर्थ' कहे जाय हें. वस्तुतासूं तो भक्ति ही मुख्य पुरुषार्थ हे. तासूं ही मूलमें "पुरुषार्थ हें" एसें नाहीं कहिके "अर्थ हें" एसे कह्यो हे. ओर इन

पुरुषार्थनको जीव**ननें** विचार कियो हे तथा ईश्वरनेहु विचार कियो हे, एसें दोय प्रकारसूं ये विचारित हें॥2॥

टिप्पणी:
1."स्वर्गकी कामनावारो ज्योतिष्टोमयज्ञसूं यजन करे" इत्यादिक करिवेकी आज्ञा हे.
2."ब्राह्मण मारिवेयोग्य नाहीं हे" इत्यादिक नाहीं करिवेकी आज्ञा हे.

एसें पुरुषार्थनके दोय प्रकारको प्रतिपादन करिके ईश्वरविचारित पुरुषार्थनको स्वरूप कहत हें:

अलौकिकास्तु वेदोक्ता: साध्य-साधन-संयुता:।
लौकिका ऋषिभि: प्रोक्तास् तथैवेश्वरशिक्षया॥3॥

साध्यसाधनसंयुता:=साध्यओरसाधनवारे अलौकिका:=अलौकिक पुरुषार्थें
तु=तो,वेदोक्ता:=वेदमें कहे हें
लौकिका:=लौकिक पुरुषार्थें
तथा एव=वेसे ही
ईश्वरशिक्षया=ईश्वरकी आज्ञासूं
ऋषिभि:=ऋषिनके द्वारा
प्रोक्ता:=कहे गये हें

भावार्थ:
साध्य ओर साधन करिके युक्त अलौकिक पुरुषार्थ तो वेदमें कहे हें सो ईश्वरविचारित पुरुषार्थ हें. ओर तेसेंही निरूपण करिवेकी ईश्वरकी आज्ञा हे तासूं ऋषिन्द्वारा निरूपित पुरुषार्थ लौकिकपुरुषार्थ (जीवविचारित) हें.

टीका:
साध्य ओर साधन करिके युक्त अलौकिक पुरुषार्थ तो वेदमें कहे हें. जेसें अमुक साधन करिके अमुक यज्ञादिक धर्म सिद्ध होत हे, अमुक साधन करिके अमुक अर्थ सिद्ध होत हे, अमुक साधन करिके अमुक काम सिद्ध होत हे ओर अमुक साधन करिके मोक्ष सिद्ध होत हे ——एसे वेदमें निरूपण कियो हे. ओर वेद ईश्वरप्रोक्त हे तासूं वेदमें कहे हें सो पुरुषार्थ ईश्वरविचारित पुरुषार्थ हें ओर ऋषि**ननें** कहे हें सो

लौकिकपुरुषार्थ (जीवविचारित) हें. यद्यपि सब ऋषि वेदकुं जानिवेवारे हें तथापि तेसेंही निरूपण करिवेकी ईश्वरकी आज्ञा हे तासूं भिन्न निरूपण कियो हे॥3॥

ऋषिविचारित लौकिक पुरुषार्थनको निरूपण करिवेवारे शास्त्रनकी परिगणना:
लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि वेदाद् आद्या यत: स्थिता:।

लौकिकान्=लौकिक पुरुषार्थनको
तु=तो (अहं=मैं)
प्रवक्ष्यामि=कहत हों यत:=कारणके
आद्या:=पहिले
वेदात्=वेदसों
(वेदमाश्रित्य=वेदकोआश्रयलेके) स्थिता:=स्थित,(सन्ति=हें)

भावार्थ:अलौकिक पुरुषार्थ तो वेदसूं स्थित हें. तिनको विचार करिवेकी आवश्यकता नाहीं हे. तासूं लौकिक पुरुषार्थकुं तो कहूंगो.

टीका:
अलौकिक पुरुषार्थ तो वेदसूं स्थित हें. तिनको विचार करिवेकी आवश्यकता नाहीं हे. क्यों जो जिनकुं अलौकिक पुरुषार्थ सिद्ध करिवेकी इच्छा होय वे वेदमें लिखे प्रमाण करें. परन्तु वे पुरुषार्थ सिद्ध होय सकें एसे नाहीं हें ये जतायवेकेलिये “स्थित हें” एसें कह्यो हे. इतने प्रचलित नाहीं हे. तासूं लौकिक पुरुषार्थकुं तो कहूंगो.

धर्मशास्त्राणि नीतिश्च कामशास्त्राणि च क्रमात्॥4॥
त्रिवर्ग-साधकानीति न तन्निर्णय उच्यते॥

धर्मशास्त्राणि=धर्मशास्त्रें
च=ओर
नीति:=नीतिशास्त्रें च=ओर
कामशास्त्राणि=कामशास्त्रें
क्रमात्=क्रमसों

त्रिवर्गसाधकानि=त्रिवर्गके साधक हें
इति (हेतो:)=या कारणसूं
तन्निर्णय:=विनको निर्णय
(अस्माभि:=हमारे द्वारा)
न=नाहीं उच्यते=कह्यो हे

भावार्थ:
मनुस्मृति आदि धर्मनिरूपण करिवेवारे शास्त्र, कामन्दकीय आदि नीतिशास्त्र (अर्थशास्त्र) तथा वात्स्यायन आदि कामशास्त्र क्रमसों धर्म, अर्थ ओर काम इन त्रिवर्गके साधक हें. तासों विनको निर्णय हम नाहीं करे हें॥4॥

टीका:
तिनमें धर्मशास्त्र धर्मकुं सिद्ध करिवेवारे हें, नीतिशास्त्र अर्थकुं सिद्ध करिवारे हें ओर कामशास्त्र कामकुं सिद्ध करिवारे हें. धर्म, अर्थ ओर काम ये तीन्यों 'त्रिवर्ग' कहे जाय हें. सो शुद्धभाववारे अनन्यभक्तनको तो प्रभुही सिद्ध करि देत हें. ओर यदि साधारण भक्तनकोहु प्रभु त्रिवर्ग सिद्ध करें तो इतनेहीमें अटक जांय. तासूं तिन(त्रिवर्ग)में (साधारण भक्तनके) श्रम(प्रयत्न)को प्रभु नाश करे हें. तासूं तिनको निर्णय (यहां) नाहीं कह्यो हे॥4॥

एसें त्रिवर्गकी व्यवस्थाको सूचन करिके मोक्षरूप फल एक हे किंवा अनेक हे? एसें जानिवेकी इच्छा होय तहां कहतहें:

मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि लौकिके परत: स्वत:॥5॥
द्विधा द्वे-द्वे स्वतस् तत्र सांख्य-योगौ प्रकीर्तितौ।
त्यागात्याग-विभागेन सांख्ये त्याग: प्रकीर्तित:॥6॥

स्वत:=आपही/स्वयंही
परत:=अन्य द्वारा
द्विधा=दो प्रकारके
लौकिके=लौकिक
मोक्षे=मोक्षमें,द्वे-द्वे=दो-दो
(कृत्वा इति यावत्=एसे करिके)

चत्वारि=चार,शास्त्राणि=शास्त्रें
(सन्ति=हें) तत्र=उनमेंत्यागात्याग-विभागेन=
त्याग ओर अत्याग के भेदसों
सांख्य-योगौ=सांख्य ओर योग
स्वत:=खुद/आप करिके
प्रकीर्तितौ=कहे गये हें
सांख्ये=सांख्यमें,त्याग:=त्याग
प्रकीर्तित:=आछी भांतिसों कह्यो
(अस्ति=हे)

भावार्थ:
लौकिक मोक्षमें दोय शास्त्र (मार्ग/उपाय/साधन) परत: मोक्ष सिद्ध करिवेवारे हें ओर दोय शास्त्र स्वत: मोक्ष सिद्ध करिवेवारे हें. एसें करिके स्मार्तमोक्ष विषयक चार शास्त्र हें. विनमेंसूं स्वत: (जीवके स्वाधीन) मोक्षमें त्याग ओर अत्याग के भेदसूं सांख्य ओर योग शास्त्र कहे हें.

टीका:
जामें शास्त्रमें कही रीतिप्रमाण साधन करिवेतें जीव कृतार्थ होय सो स्वत: मोक्षसाधक शास्त्र हें. ओर जा शास्त्रमें कही रीतिप्रमाण साधन करिवेतें कोउके प्रसादसूं (कृपासूं) जीव कृतार्थ होय सो परत: मोक्षसाधक शास्त्र हें. तामें स्वत: (जीवके स्वाधीन) मोक्षमें त्याग ओर अत्याग के भेदसूं सांख्य ओर योग शास्त्र कहे हें. इतने त्याग करिवेसूं मोक्ष सिद्ध होय एसो प्रतिपादन करिवेवारो एक शास्त्र हे. ओर त्याग किये बिना मोक्ष सिद्ध होय एसो प्रतिपादन करिवेवारो एक (दूसरो) शास्त्र हे. तामें सांख्याशास्त्रमें त्याग कह्यो हे. इतने नित्यानित्यवस्तुको विवेक होय तब वैराग्य भयेसूं त्याग करे तब मोक्ष होय. एसे त्याग करिके मोक्ष जीवके स्वाधीन हे एसो बतायवेवारो सांख्यशास्त्र हे॥5-6॥

देहादिक सङ्घात विद्यमान हे तब त्यागमात्रतें केसें मुक्ति होय? एसी शङ्का करिके मुक्तिको प्रकार कहत हें:

अहन्ता-ममता-नाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ।

स्वरूपस्थो यदा जीव: कृतार्थ: स निगद्यते॥7॥

अहन्ता-ममतानाशे (सति)=
अहन्ता-ममताको नाश भये
सर्वथा=सब प्रकारसूं
निरहङ्कृतौ (सति)=अहङ्कार
रहित भये (जीवे इति शेष:)
यदा=जब,जीव:=जीव
स्वरूपस्थ:=स्वरूपमें स्थित
(भवति तदा=होवे हे तब)
स:=वो,कृतार्थ:=कृतार्थ
निगद्यते=कह्यो जाय हे

भावार्थ:

अहन्ता-ममताको नाश भयेतें सर्वथा अहङ्कार शून्य होयवेपे जब जीव अपने स्वरूपमें रहे तब सो जीव 'कृतार्थ' कह्यो जाय हे.

टीका:

इतने, स्थूलशरीर तथा लिङ्गशरीर की अहन्ता ओर इनके परिकर जो गृहादिक तथा प्राण, इन्द्रिय प्रभृति हें तिनमें ममताको त्याग होय तब बुद्धितत्त्वमें जो प्रतिबिम्ब रह्यो हे तामें अभिमान मिट जाय. तब कर्त्तापनो तथा भोक्तापनोहु मिटि जाय. तब जीव अपने स्वरूपमेंही प्रकाशङ्का न होय. सो जीव मुक्त भयो एसें सांख्याचार्य**ननें** कह्यो हे॥7॥

गौत्तमादिकनके मतमें जेसे वेदविरुद्ध अंश हें तेसे सांख्यमेंहु वेदविरुद्ध अंश हें. तब सांख्यमें जो मोक्षको प्रतिपादन कियो हे तामें शिष्टनको आदर केसे हे? ओर गौत्तमादिकनने जो मोक्षको प्रतिपादन कियो हे तामें शिष्टनको अनादर क्यों हे? एसें जानिवेकी इच्छा होय तहां कहत हें:

तदर्थं प्रक्रिया काचित् पुराणेऽपि निरूपिता।
ऋषिभिर् बहुधा प्रोक्ता फलम् एकम् अबाह्यत:॥8॥

तदर्थं=वाकेलिये
ऋषिभि:=ऋषि**नने**
बहुधा=बहोत तरेहसूं
प्रोक्ता=कह्यो हे
काचित्=कोऊ,प्रकिया=प्रक्रिया
पुराणे=पुराण**नमे** ,अपि=भी
निरूपिता=निरूपित हे
अबाह्यत:=शास्त्रसूं अविरुद्ध प्रकारसूं
एकं=एक,फलम्=फल
(भवति=होय हे)

भावार्थ:
अन्यथा-रूपको त्याग करिके अपने स्वरूपसों जो स्थिति हे सो मुक्ति हे. एसे मोक्षकेलिये कोउ प्रक्रियाको पुराणमेंहु निरूपण भयो हे. अनीश्वर सांख्यकुं छांडिके सबको फल एक होय हे.

टीका
:पुराण वेदके अर्थकी वृद्धि करिके स्पष्ट निर्णय करिवेवारो हे. ताके अनुकूल सांख्यको मोक्ष हे तासूं तामें शिष्ट**न**को आदर हे. ओर गौत्तमादिक**ननें** मोक्षको जेसो प्रतिपादन कियो हे सो पुराणसूं अनुकूल नाहीं हे. तासूं तामें शिष्ट**न**को आदर नाहीं हे. यद्यपि ऋषी**नने** बहोत प्रकारकी सांख्यकी प्रक्रिया कही हे तथापि निरीश्वर सांख्यकु छांडिके अन्य सब सांख्यमें आत्मव्यतिरिक्त सब**न**को त्याग करनो ये अन्तरङ्ग साधन एक(समान) हे तथा अपने स्वरूपमें स्थितिरूप मोक्षफलहु एक(समान) हे. तासूं (शास्त्रसूं) बाह्य सांख्यकु छांडिके सब सांख्य शिष्ट**न**को आदर करिवेयोग्य हे. अथवा पुराणोक्त सांख्यमें आत्मदर्शनरूप प्रथम एक फल होय हे ओर पीछे ज्ञानद्वारा मोक्षरूप दूसरो फल होय हे. तामें ऋषी**ननें** जो विचार कियोहे वाको आत्मदर्शनरूप एक फल होय हे. सोहू निरीश्वर सांख्यसिवायके सांख्यको फल हे. निरीश्वर सांख्यको फलतो नरकप्राप्तिरूपहीहे॥8॥

एसें स्वत:(स्वाधीन) मोक्षके साधक एक शास्त्रको निरूपण करिके (स्वाधीन मोक्षके साधक) दूसरे शास्त्रको निरूपण करतहें:

अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि।
यमादयस्तु कर्तव्या: सिद्धे योगे कृतार्थता॥9॥

अत्यागे=त्याग न करिवेपे
हि=निश्चितरूपसूं
योगमार्ग:=योगमार्ग हे
हि=ओर फिर,त्याग:=त्याग
अपि=हु,मनसा=मनसूं,एव=ही (कर्तव्य:=करनो)
यमादय:=यम इत्यादि,तु=तो
कर्तव्या:=करनें,योगे=योग भये
सिद्धे(सति)=सिद्ध भये
कृतार्थता=कृतार्थपनों(भवति=होयहे)
भावार्थ:त्याग नाहीं करिवेमें योगमार्ग कह्यो जाय हे, यह बात निश्चित हे. ओर त्यागहु मनसूं करनो; अर्थात् मानसिक त्याग करे. ओर योगमार्गमेंहु यम, नियम आदि अङ्ग तो अवश्य साधने चहिये. योग सिद्ध भयेसूं आत्माके स्वरूपमें स्थितिरूप मोक्ष सिद्धहोयहे.

टीका:
जाकु त्याग किये विना मोक्षको साधन करनो होय तो ताकेलिये योगमार्ग हे. इतनें चित्तवृत्तिको निरोध करके आत्माको बोधक मार्ग हे सो पूराणसूं अनुकूल हे. तामें त्यागहु मनसूं ही हे. यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा ओर समाधि रूप साधन तो करनें. तब योग सिद्ध भयेसूं आत्माके स्वरूपमें स्थितिरूप मोक्ष सिद्ध होय हे॥9॥

एसें स्वत: (जीवके स्वाधीन) मोक्षमें दूसरे शास्त्रको निर्णय कियो. अब, परत: (पराश्रय) मोक्षके दोय शास्त्रको निर्णय करिवेकेलिये तामें मोक्षको जो स्वरूप हे ताके निरूपणपूर्वक विस्तार बतावत हें. ब्रह्माजी मोक्षकुं नाहीं देत हें तामें प्रमाणहु कहत हें:

पराश्रयेण मोक्षस्तु द्विधा सोऽपि निरूप्यते।

ब्रह्मा ब्राह्मणतां यातस् तद्रूपेण सुसेव्यते॥10।
ते सर्वार्था न चाद्येन शास्त्रं किञ्चिद् उदीरितम्।

पराश्रयेण=परमात्माकोआश्रयकरिके
मोक्षः=मोक्ष,तु=तो
द्विधा=दोयप्रकारसूं(अस्ति=हे)
सो=वाको,अपि=हु
निरूप्यते=निरूपण करें हें
ब्रह्मा=ब्रह्माजी ब्राह्मणतां=ब्राह्मणपनेंकुं
यातः=प्राप्त भये हें
तद्रूपेण=वा रूपसूं
सुसेव्यते=पूजित हें,ते=वे
सर्वार्था=सभी अर्थ
आद्येन=ब्रह्माजीसूं
न=नाहीं(यतः=क्योंके)
किञ्चित्=थोड़ोसो
शास्त्रं=शास्त्रकुं
उदीरितं=कह्यो(अस्ति=हे)

भावार्थ:
पराश्रय करिके मोक्ष तो शिव तथा विष्णु के आश्रयसूं होत हे. तासों दोय प्रकारको निरूपित कियो जाय हे. ब्रह्माजी वेद अथवा परब्रह्म के जानिवेवारे होइवेसूं अथवा ब्राह्मणकी जातिके अभिमानवारी देवतापनेकुं प्राप्त भये हें तासों विनकी सेवा ब्राह्मणस्वरूपसूं होय हे. तासों धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप अर्थ ब्रह्माजीसूं प्राप्त नाहीं होत हें. ओर विननें वैखानसमन्त्ररूप शास्त्र कछुक कह्यो हे.

टीका:
पराश्रय करिके मोक्ष तो शिव तथा विष्णु के आश्रयसूं होत हे. तासों दोय प्रकारको निरूपित कियो जाय हे. यद्यपि गुणावतारनमे ब्रह्माहु हें अरु गुणाभिमानिपनेसूं (विष्णु-शिव-ब्रह्मा) तीनों समान हें; तथापि सरस्वतीके शापादिकसूं ब्रह्माको पूज्यपनो मिटि गयो हे. तासूं वेदके जानिवेपनेकुं अथवा परब्रह्म जानिवेपनेकुं अथवा ब्राह्मणकी जातिके अभिमानवारी देवतापनेकुं प्राप्त भये हें. तिनकी सेवा ब्राह्मणस्वरूपसूं होय हे.

मोक्षकेलिये ब्रह्माजीको सेवन नाहीं हे. क्यों जो ब्रह्माजीको कार्य सृष्टि करिवेको हे ओर मोक्ष हे सो तो सृष्टिकार्यसूं विरुद्ध हे. तासूं ब्रह्माजी मोक्षकुं नाहीं देय हें. ये (धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप) सब अर्थ ब्रह्माजीसूं प्राप्त नाहीं होत हें. अर्थात् दोय-तीन अर्थ प्राप्त होत हें. अथवा ब्रह्माजीकुं सेववेवारे सब अर्थवारे नाहीं होय हें किन्तु यत्किञ्चित् अर्थवारे होय हें. ओर विननें वैखानसमन्त्ररूप शास्त्र कछुक कह्योहे॥10॥

शिव ओर विष्णु को स्वरूप समुझावत हें:

अत: शिवश्च विष्णुश्च जगतो हितकारकौ॥11॥
वस्तुन: स्थिति-संहारौ कार्यौ शास्त्र-प्रवर्तकौ।
अत:=तासों
वस्तुन:=वस्तु(मात्र)को
स्थिति-संहारौ=पालन ओर प्रलय
कार्यौ=दो कार्य
शास्त्र-प्रवर्तकौ=
शास्त्रको प्रवर्तन करिवेवारे हें
शिव:=शिवजी च=ओर
विष्णु:=विष्णु,च=हु
(द्वौ अपि=दोऊ)
जगत:=जगत्को
हितकारकौ=हित करिवेवारे
(स्त:=हें)

भावार्थ-टीका:(ब्रह्माजीसों मोक्ष नाहीं मिले हे) तासूं शिव ओर विष्णु जगत्को हित करिवेवारे हें. ओर वस्तुको पालन विष्णुको अवश्य कर्तव्य हे तथा वस्तुको संहार शिवाजीको अवश्य कर्तव्य हे. तेसें ही चतुर्वर्ग विषयक शास्त्रके प्रवर्तकहु ये दोऊ हें; तामें जेसो जाको अधिकार हे ताप्रमाण प्रवृत्ति होय एसे शास्त्र करिवेवारे दोऊ हें॥11॥

शिवके शास्त्रमें शिवको सर्वात्मकपनो कह्यो हे ओर विष्णुके शास्त्रमें विष्णुको सर्वात्मकपनो कह्यो हे; तब विष्णुको (सृष्टि)पालनरूप एक कार्य हे ओर शिवाजीको (सृष्टि)संहाररूप एक कार्य हे एसें केसें सम्भवे? एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतयोदितौ॥12॥
निर्दोष-पूर्ण-गुणता तत्-तच्छास्त्रे तयो: कृता।

यस्मात्=क्योंके,तादृशं=वा रूप
ब्रह्म=ब्रह्म,एव=ही (हे)
(तस्मात् तौ=याकारणसूंशिवविष्णुको)
सर्वात्मकतया=सर्वात्मकरूपसूं
उदितौ=कहे हें(किंच=ओर)
तत्-तत्=वा-वा
शास्त्रे=शास्त्रमें,तयो:=दोनोंनकी
निर्दोष-पूर्ण-गुणता=
निर्दोषता ओर पूर्णगुणरूपता
कृता=निरूपित करी
(अस्ति=हे)

भावार्थ:
ब्रह्म ही विष्णु ओर शिव रूप होय गयो हे तासों शास्त्रमें उन दोनोंनको सर्व जगत्के मूलकारण कहे हें. ओर अपने-अपने शास्त्रमें उन दोनोंनको दोषरहितपनो ओर सर्वगुणसम्पन्नपनो कह्यो हे. अर्थात् गुणावतार विष्णु ओर शिव को जो उन-उनके शास्त्रनमे सर्वात्मकपनो आदि परब्रह्मके गुण बताये हें वे सब गुण परब्रह्मकेही हें उनके नाहीं.

टीका:
अथर्वशिर, श्वेताश्वतर प्रभृति उपनिषदनमे शिवरूपसूं ओर महानारायणोपनिषिद्, नारायणोपनिषत् प्रभृति उपनिषदनमे विष्णुरूपसूं ब्रह्मको ही प्रतिपादन हे. तिनसूं अविरुद्धतासूं पाशुपत तथा पाञ्चरात्रादिकनमे सर्वात्मकपनेसूं दोऊनको निरूपण हे. तासूं ब्रह्म ही तेसो हे.

शिवजीके (पाशुपतादिक) शास्त्रनमे शिवजी निर्दोषपूर्णगुण हें एसें निरूपण कियो हे ओर विष्णुके (पाञ्चरात्रादिक) शास्त्रमें विष्णु निर्दोषपूर्णगुण हें एसें निरूपण कियो हे.

सो (निरूपण)हु शिवरूपसूं तथा विष्णुरूपसूं परब्रह्मको ही निरूपण हे, गुणावतारनके अभिप्रायसूं नाहीं हे. तासूंही महाभारतमें मोक्षधर्म(पर्व)में कह्यो हे जो सांख्य, योग, पञ्चरात्र, वेद तथा पाशुपत ये पांचोकी निष्ठा अन्तमें नारायण प्रभु हें. परन्तु या अभिप्रायकुं नाहीं जानिवेवारे अज्ञानी हें तासूं तिनमें जा-जा देवताको प्रतिपादन हे सो-सो देवताही अन्तमें निष्ठारूप हें एसें माने हें. तासूं विनकुं फलहू तिन-तिन देवतानमे सायुज्यादिक होय हे; परन्तु भगवानको आनन्द अथवा भजनानन्द नाहीं मिले हे. एसी तरहसूं जीवविचारित लौकिक मोक्षको निरूपण कियो॥12॥

शिव तथा विष्णु के भजनको फल एक हे किंवा भिन्न-भिन्न हे एसें जानिवेकी इच्छा होय तहां कहत हें:

भोग-मोक्ष-फले दातुं शक्तौ द्वावपि यद्यपि॥13॥
भोग: शिवेन मोक्षस्तु विष्णुनेति विनिश्चय:॥
यद्यपि=जोके
भोग-मोक्ष-फले=भोग-मोक्ष फलनकु
दातुं=देयवेकूं,द्वौ=दोउ
अपि=ही,शक्तौ=शक्तिमान्
(स्त:=हें)(तथापि=तोऊ)
भोग:=भोग,तु=तो
शिवेन=शिवजीसूं,मोक्ष:=मोक्ष
विष्णुना=विष्णुसूं,इति=एसो
विनिश्चय:=पक्को निश्चय
(अस्ति=हे)

भावार्थ:
भोग तथा मोक्ष के देयवेमें यद्यपि दोऊ समर्थ हें तथापि शिवजीके भजनतें भोग ओर विष्णुके भजनतें मोक्ष मिले हे, एसें विशेष निश्चय हे.

टीक:

श्रीभागवतके दशमस्कन्धके 88 में अध्यायमें कह्यो हे जो शिवजी शक्तियुक्त हें ओर गुणन्करिके आवृत हें. तासूं शिवजीके भजनतें गुणनकी विभूतीनको भोग मिले हे. ओर हरि साक्षात् निर्गुण अर्थात् मायातें पर हें. तिनके भजनतें निर्गुण होय अर्थात् मोक्ष मिले हे. तासूं श्रुतीनमे तथा पुराणादिकनमे कोउ-कोउ स्थलनमे शिवजी मोक्ष देय हें तथा विष्णु भोग देय हें एसे लिख्यो हे सो एसो सामर्थ्य बतायवेकेलिये हे. देवेके अभिप्रायसूं नाहींहे॥13॥

शिवजी भोग देय हें ओर विष्णु मोक्ष देय हें तामें बालकनकु हु समुझिवेमें आवे एसी युक्ति कहत हें:

लोकेऽपि यत् प्रभुर्भुंक्ते तन्न यच्छति कर्हिचित्॥14॥
लोके=लोकमें,
अपि=हुहू
यत्=जो (वस्तु=वस्तु)
प्रभु:=स्वामी,भुंक्ते=भोग करे हे
तत्=वो (वस्तु=वस्तु)
कर्हिचित्=कबहु
न=नाहीं,यच्छति=देत हे
भावार्थ:लोकमेंहु जो वस्तु स्वामी स्वयं भोगे हे वा वस्तुकों कबहु काहुकों नाहीं देत हे.

टीका:लोकमेंहु एसी रीति हे जो स्वामी होय सो अपने भोगवेकी जो वस्तु होय सो ओरकुं नाहीं देत हे. तेसें शिवजी सदा वैराग्ययुक्त रहिके मोक्षकुं भोगे हें ओर विष्णु सर्वदा लक्ष्मीजीके सङ्ग भोग भोगे हें. तासूं शिवजीको भोग्य मोक्ष हे सो ओरनकु देवें नाहीं हें. ओर विष्णुको भोग्य 'भोग' हे सो ओरनकु देवें नाहीं हें, ये लौकिक युक्ति बताई. परन्तु वास्तविक अभिप्राय एसो हे जो शिवजी घोर-शक्ति सहित फिरे हें तथा विनके उपासक तामस होय हें. तासूं शिवजी मोक्ष नाहीं देवें हें. ओर जो भगवद्भक्त निर्गुण होंय तिनकों लौकिक समृद्धि देयवेतें पात होय एसें जिनकुं जानें तिनकों भगवान् भोग नाहीं देत हें. परि जिनकों समृद्धिको मद होय नाहीं एसे जानें तिनकों (सुदामाकी नांइ) भोगहु देवेहें. सो अगाड़ी आवेगो जो "अतिप्रियकों देतहें".

अथवा वैष्णवजनकों मोक्षकी इच्छा तो होत नाहीं हे तासूं वे विष्णुको भजन नाहीं करेंगें ओर भगवत्सेवामें भोग सिद्ध होय एसी समृद्धिकी इच्छा होत हे तासूं शिवजीको भजन करेंगे एसी शङ्का होय तहां कहत हें जो प्रभु श्रीकृष्ण अपने भक्तसम्बन्धी जा वस्तुको अङ्गीकार करत हें सो वस्तु कोउ बिरियां शिवजी नाहीं देत हें. क्यों जो भगवान् भक्तकामपूरक हें ओर विनकी भक्ति कल्पवृक्ष सदृश हे, सो सब इच्छा पूर्ण करत हें. (यदि शिवजी भगवत्सेवामें सर्मर्पिवेकी वस्तु भगवत्सवेककों प्रदान करें तो भगवान् अरु भगवद्भक्ति को कल्पतरुपनों ही खण्डित ह्वे जाय) तेसें प्रभुकी भक्तिसूं जो प्राप्त होय हे ताकुं अलौकिकपनो हे ओर अलौकिककोही प्रभु अङ्गीकार करें हें. तासूं प्रभुकों अङ्गीकार करिवेकी वस्तु अलौकिक हे सो शिवजी नाहीं देत हें, प्रभु ही देत हें॥14॥

शिवजी मोक्ष नाहीं देवें तो पाशुपत शास्त्रको मोक्षशास्त्रपनों मिटि जायगो ओर विष्णु भोग नाहीं देवें तो “पुत्र धन स्त्री हार महेल घोड़ा हाथी स्वर्ग ओर मोक्ष हरिभक्ततें दूर नाहीं हें” इत्यादिक वाक्यनमे भगवद्भक्तितें ऐहिक-पारलौकिक सब सुख मिलिवेको लिख्यो हे सो तामें बाध आवेगो एसी शङ्का होय ताकी निवृत्तिकेलिये कहत हें:

अतिप्रियाय तदपि दीयते क्वचिदेव ही।
नियतार्थ-प्रदानेन तदीयत्वं तदाश्रय:॥15॥
प्रत्येकं साधनं चैतद् द्वितीयार्थे महान् श्रम:।

हि=किन्तु,तत्=वो,अपि=हु
अतिप्रियाय=अतिप्रियकुं
क्वचित्=कबहुक
एव=हि दीयते=देत हें
नियतार्थप्रदानेन=नियतपदार्थनकु देवेसूं
तदीयत्वं=भगवदीयता
तदाश्रय:=भगवदाश्रय
(सिद्ध्यति=सिद्ध होवे हे)
एतत्=ये,प्रत्येकं=प्रत्येक फलको
साधनं=साधन हे
द्वितीयार्थे=दूसरे पुरुषार्थनकु देयवेमें

महान्=बड़ो,श्रम:
=श्रम(भवति=होतहे)

भावार्थ :
शिवजीकुं जो अत्यन्त प्रिय होय ताकुं शिवजी कोउ समय मोक्ष देत हें. ओर विष्णुकुं जो अत्यन्त प्रिय होय ताकुं विष्णु भोग देत हें, ये बातहु लोकसिद्ध हे. शिवभजन भोगकुं सिद्ध करे हे ओर विष्णुभजन मोक्षकुं सिद्ध करे हे; ये प्रत्येक साधन हे. दूसरे-दूसरे पुरुषार्थकों देयवेमें शिव ओर विष्णु कुं (गुणपरिवर्तन करवेसों) अतिश्रम होय हे॥15॥

टीका :
शिवजीकुं जो अत्यन्त प्रिय होय ताकुं शिवजी कोउ समय मोक्ष देत हें. ओर विष्णुकुं जो अत्यन्त प्रिय होय ताकुं विष्णु भोग देत हें, ये बातहु लोकसिद्ध हे. तासूं शिव ओर विष्णु में भोग तथा मोक्ष दोउ देयवेकी शक्ति हे. तिनको भक्त होय ओर तिनको आश्रय करिके अति प्रिय जब होय तब शिवजी तथा विष्णु दोऊ वा भक्तको जेसो अधिकार होय ताके अनुसार भोगओरमोक्ष देत हें. अथवा शिवजी यदि भोगकुंही देते होंय तब विष्णुके भक्तनकु हु भोगकेलिये शिवजीकी भक्ति तथा आश्रय करनो पड़े ओर विष्णु यदि मोक्षकुं ही देते होंय तब शिवजीके भक्तनको मोक्षकेलिये विष्णुको आश्रय करनो पड़े. सो एसो न होय तासूं जो अत्यन्त प्रिय होय ताकुं दोय पदार्थ दोऊ देत हें.

जो भगवद्भक्त न होय वाकु यदि भोगकी इच्छा होय तो वो शिवजीको भजन करे तथा मोक्षकी इच्छा होय तो वो विष्णुको भजन करे. ओर जो भगवद्भक्त होय ताकुं तो सब पदार्थ भगवान्सूंही सिद्ध होंय. तासूं प्रत्येकको अतिप्रियपनो होय तेसो तदीयपनो तथा तिनको आश्रय करनो येही एक साधन हे. वाही साधनसूं सब सिद्ध होय.

शिवजीकों मोक्ष देवेमें तथा विष्णुकों भोग देवेमें बड़ो श्रम होय हे. अथवा शिवभजन भोगकुं सिद्ध करे हे ओर विष्णुभजन मोक्षकुं सिद्ध करे हे; ये प्रत्येक साधन हे. एसें लौकिक मोक्षकी व्यवस्था कही. ओर अलौकिक मोक्ष भक्तिमार्गीय हे. ताकेलिये जो श्रम हे सो साधनसूं, फलसूं तथा स्वरूपसूं अति उत्तम हे॥15॥

शिवजीकों मोक्ष देवेमें तथा विष्णुकों भोग देवेमें बड़ो श्रम हे एसें कह्यो ताको कारण कहत हें:

जीवा: स्वभावतो दुष्टा दोषाभावाय सर्वदा॥16॥
श्रवणादि तत: प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति।

जीवा:=जीव मात्र
स्वभावत:=स्वभावसूं
दुष्टा:=दोषवारे(सन्ति=हें)
दोषाभावाय=दोष दूर करिवेकूं
सर्वदा=निरन्तर
श्रवणादि=श्रवण आदि
(कर्तव्यं=करने)
तत:=वासूं, प्रेम्णा=प्रेमसूं
सर्वं=सब, कार्यं=कार्य
हि=अवश्य, सिद्ध्यति=सिद्ध होय हें

भावार्थ :

जीव भगवानके अंश हें तासूं स्वरूपसूं दुष्ट नाहिं हें परन्तु स्वभावसूं दुष्ट भये हें. वा दोषकी निवृत्तिकेलिये सर्वदा श्रवणादिक करनों. ताकरिके प्रेम होय. ओर प्रेमसूं सब कार्य सिद्ध होय हे.

टीका :

इतने श्रुतिमें लिख्यो हे जो “स्वभावसूं देव, मनुष्य ओर असुर एसें तीन प्रकारके जीव हें”. तेसें मत्स्यपुराणमें समीर्ण, सात्विक, राजस ओर तामस एसें चार प्रकारके कल्प बतायके अग्नि तथा शिव को माहात्म्य तामस कल्पमें अधिक कह्यो हे, ब्रह्माको माहात्म्य राजस कल्पमें अधिक कह्यो हे, सरस्वती तथा पितृ को माहात्म्य समीर्ण कल्पमें अधिक कह्यो हे ओर सात्विक कल्पमें हरिको माहात्म्य अधिक कह्यो हे. एसें चार्योंके लक्षण बतायके सात्विक कल्पमें मोक्षफल सहजमें होय हे एसे लिख्यो हे. तेसें “विष्णुभक्ति करिवेवारे सात्विक हें ओर शविभक्ति करिवेवारे तामस हें” एसें वामन पुराणके दशङ्का ध्यायमें लिख्यो हे. तासूं विष्णुभक्ति करिवेवारे सात्विक होंय हें. तिनकों सत्वगुणकी निवृति होयके शीघ्रही गुणातीतपनो होयवेसूं मोक्ष होय हे. तासों

तामें विष्णुकों श्रम न होय. ओर भोग देयवेमें तो विनको शान्त स्वभाव होय सो फिरावनो पड़े, तामेंहु भोगमें आसक्ति होयके दोष उत्पन्न न होय एसो स्वभाव करिवेमेंहु विष्णुकों श्रम होय.

तेसें शिवजीके भक्त तामस होय हें तिनकों तो तमोगुणके रजोगुणके ओर सत्वगुणके धर्म मिटावें तब गुणातीतपनो होय तब मोक्ष होय. तामें शिवजीकों बहोत श्रम होय हे. ओर तामस स्वभाववारेनको भोग देयवेमें भक्तनको स्वभाव फिरावनो नाहिं पड़े हे तासूं शिवजीकों श्रम न होय. तासूं जीवनके दोषकी निवृत्तिकेलिये श्रवणादिक सर्वदा करनों. तासूं प्रेम होय ओर ताकरिके तदीयत्व ओर तदाश्रयत्व सिद्ध होय. अथवा जीव भगवानके दास हें. तिनकों भगवत्सेवा करनी ये स्वधर्म हे. सो नाहिं करत हें तासूं दोषयुक्त भये हें. वा दोषकी निवृत्तिकेलिये श्रवणादिक करनो तासूं भगवानमे प्रेम होय ओर प्रेमकरिकें सब कार्य सिद्ध होय हे॥16॥

एसें सामर्थ्य तथा साधन की व्यवस्था बतायकें ताकरिके जो सिद्ध भयो सो कहत हें:

मोक्षस्तु सुलभो विष्णोर् भोगश्च शिवतस् तथा।
समर्पणेन आनात्मनो हि तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम्॥17॥

मोक्ष:=मोक्ष, तु=तो
विष्णो:=विष्णुसूं,सुलभ:=सुलभ
(भवति=होवे हे)तथा=ओर
भोग:=भोग,च=हु,शिवत:=शिवसूं
(भवति=होवे हे)आत्मन:=आत्माके
समर्पणेन=समर्पणद्वारा,हि=निश्चयही
ध्रुवं=निश्चल,तदीयत्वं=
भगवदीयपनों,भवेत्=होय हे

भावार्थ :
मोक्ष तो विष्णुसूं सुलभ हे, तेसें भोग शिवसूं सुलभ हे. आत्मीय सर्व वस्तु सहित आत्माकुं भगवच्चरणारविन्दमें अर्पण करिवेसों निश्चय करके निश्चल तदीयपनो होय हे.

टीका :
उपर द्वितीय अर्थमें शिव ओर विष्णु कों श्रम बतायो हे. तासूं मोक्ष तो विष्णुसूं सुलभ हे ओर भोग शिवसूं सुलभ हे. ओर अतिप्रियत्व होयवेकेलिये तो जो आत्माको समर्पण करे ताकरिकें निश्चित तदीयपनो होय. क्यों जो मेरो ओर ममताविषयक जितने हें तिनको प्रभुकी इच्छाप्रमाण विनियोग करनो एसी बुद्धि आत्मसमर्पणमें कारण हे. सो होय तब तदीयपनो निश्चित होय॥17॥

आत्मसमर्पण कियेतें तदीयपनो होय एसें कह्यो. तब, आत्मसमर्पण नाहिं कियो होय ओर केवल आश्रय मात्र होय, तामें उपर बताई एसी बुद्धि जाकी भई न होय तासूं तदीयपनोहु भयो न होय ताकुं फलसिद्धि केसें होय? एसें जानिवेकी इच्छा होय तहां कहत हें:

अतदीयतया चापि केवलश् चेत् समाश्रित:।
तदाश्रय-तदीयत्वबुद्ध्यै किञ्चित् समाचरेत्॥18॥
स्वधर्मम् अनुतिष्ठन् वै भार-द्वैगुण्यम् अन्यथा।

च=ओर, अतदीयतया=भगवदीयपनों सिद्ध भयो न होय
अपि=तो हु, चेत्=यदि
केवल:=केवल
समाश्रित:=सम्यक्तया
आश्रित होय
(तर्हि=तो)
तदाश्रयतदीयत्वबुद्ध्यै=भगवदाश्रय
ओर भगवदीयपनों जानिवेकेलिये
स्वधर्मं=स्वधर्मको
अनुतिष्ठन्=पालन करते भये
किञ्चित्=कछुक
समाचरेत्=आचरण करे
अन्यथा=नहिं तो
भार-द्वैगुण्यं=दुगनो भार
(भवति=होय हे)

भावार्थ :
तदीयपनो भयो न होय ओर केवल (प्रभु मेरे रक्षक हें एसे अनुसंधानवारो) आश्रित होय तोहु अपने वर्णाश्रमके धर्मको आचरण करे. ओर आश्रय तथा तदीयपने की बुद्धि होयवेकेलिये कछुक श्रवणादिक करे. अन्यथा दुगनो भार होय.

टीका :
क्यों जो वर्णाश्रमधर्म करे नाहिं तो ताके कारण अधर्मको दोष तथा ऊपर बताये प्रमाण “जीव स्वभावतें दुष्ट हें” सो स्वभावकृत दोष मिलिकें द्विगुण (दुगनो) दोष होय. तब ताको उद्धार करिवेवारे (प्रभु)कों श्रम अति बड़ो होय.

अथवा “वर्णाश्रमधर्म छांडिके प्रभुके चरणको भजन करतो होय सो अपूर्ण रहे तोहू ताको अकल्याण न होय. ओर भगवच्चरणको भजन करते न होंय तिनकों वर्णाश्रके धर्मसूं कहा अर्थ प्राप्त होय हे? कछू नही” एसें प्रथमस्कन्धमें नारदजीको वाक्य हे. तासूं वर्णाश्रमके धर्म करतें-करतें हु आश्रय तथा तदीयपने की बुद्धिकेलिये श्रवणादिक करनों. तेसें करे नाहिं ओर केवल वर्णाश्रमधर्म करे तो तासूं कछू फल न होय (ये एक भार) ओर आश्रय तथा तदीयपने की बुद्धिकेलिये श्रवणादिक करे नाहिं इतने प्रभु हु उद्धार न करें एसें दुगुनो भार होय.
अथवा भक्तिमार्गमें श्रीआचार्यजीद्वारा प्रभुकी शरणागति करनी येही जीवको ‘स्वधर्म’ हे. सो स्वधर्म करे. ओर आश्रय तथा तदीयपनेकी बुद्धिकेलिये श्रवणादिक करे तो फलसिद्धि होय. ओर एसें न करे तो दुगनो भार होय. इतने श्रवणादिक साधन करे ताको फलहु न होय ओर भक्तिमार्गीय धर्मको आचरण नाहिं करिवेसूं प्रत्यवायहु होय॥18॥

एसी तरहसूं बालकनको बोध होयवेकेलिये संक्षेपमें निरूपण करिके उपसंहार करत हें:

इत्येवं कथितं सर्वं नैतज्ज्ञाने भ्रम: पुन:॥19॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितो बालबोध: सम्पूर्ण:॥

इति एवं=या प्रकारसूं, सर्वं=सब
कथितं=कह्यो,
एतत्=ये ज्ञाने=जानिवेपे,

पुन:=फिरसूं
भ्रम:=भ्रम, न=नाहिं(भवति=होत हे)

भावार्थ : एसें पूर्वोक्त प्रकारसूं अपने ओर दूसरेनके सिद्धान्तके सङ्ग्रहरूप सब कह्यो हे. ताको ज्ञान होय तो पुरुषार्थनको स्वरूप समुझिवेमें अन्यथा ज्ञान फेरि न होय.

टीका : इतने प्रथम यदि अन्यथा ज्ञान होय सो यामें लिखे प्रमाण समुझे तो ता पाछें अन्यथाज्ञान न रहे॥19॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्य विरचित बालबोधकी
गोस्वामि श्रीनृसिंहलालजी महाराज विरचित व्रजभाषामें **भावार्थ टीका** सम्पूर्ण भई ॥

सिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थ-परिचय

कहा जाता हे की सिद्धान्तमुक्तावली श्रीमहाप्रभुने अच्चुतदास सनोढियाके लिऐ लिखी थी.एक किन्वदन्तीकेअनुसार अनुसार यह रचना वि.सं. 1555 में

जतिपुरामें की गई.

बालबोधवाले नारायणदास और इन अच्युतदास के चरित्रमें कई बातोंमें समानता भी है और उल्लेखनीय अन्तर भी. नारायणदासको श्रीमहाप्रभुने स्वरूपसेवा पधारानेसे इन्कार कर दिया था, जबकि अच्युतदासको श्रीगोवर्धनघरकी सेवामें नियुक्त करना चाहते थे. नारायणदासके व्यावृत्तिमय जीवनके कारण उनसे स्वरूपसेवाका निर्वाह सम्भव न था, जबकि अच्युतदासके चरित्रके अवलोकनसे उनकी रुझान सर्वथा अव्यावृत्त जीवनयापनकी प्रतीत होती है. अतः तनुवित्तजा-सेवा अथवा गृहसेवा के प्रकारके निर्वाहका तो प्रश्न ही नहीं उठता. सो श्रीगोवर्धनघरकी केवल तनुजासेवा करनेके बजाय इन्होंने सीधे ही श्रीमहाप्रभुसे मानसी सेवाका वरदान ही मांग लिया! नारायणदासको जैसे स्वरूपसेवाके अनुकल्प श्रीहस्ताक्षरकी सेवाद्वारा उत्कट भावका दान मिला, वैसे ही अच्युतदासको प्रथम तनुवित्तजा सेवा और तब मानसी सेवा के सिद्धान्तसम्मत क्रमके बिना सीधे ही फलरूपा मानसी सेवाका दान श्रीमहाप्रभुने कर दिया!

सिद्धान्तमुक्तावली तथा सम्बद्ध वार्ता के अवलोकन करनेसे प्रतीत होता है कि जैसे विराट रूपके साक्षात्कारके समय श्रीकृष्ण और अर्जुन में कुछ एक मीठा विवाद हो गया था, वैसा ही विवाद श्रीमहाप्रभु और अच्युतदास में भी हुआ होना चाहिए. श्रीकृष्ण अपने विराट रूपकी महत्ता और देवदुर्लभता समझा रहे थे पर अर्जुनका कहना था कि जो भी हो उसे इस स्वरूपके नहीं किन्तु सौम्य मानुष स्वरूपके ही दर्शन सुहाते हैं. वैसे ही अच्युतदासको भी नामनिवेदन करानेके बाद श्रीमहाप्रभु श्रीगोवर्धनघरकी सेवामें नियुक्त करना चाहते थे:

“तुम गोवर्धनघरकी सेवा करो!” तब अच्युतदास श्रीआचार्यजीको दण्डवत करि बिनती किये “महाराज! मोपर ऐसी कृपा करो जो एकान्तमें बैठिके मानसी सेवामे मन लागे?” तब श्रीआचार्यजी अपनो चरणामृत दिये. सो अच्युतदास पान करि, हाथ नेत्रनसों लगाय, मस्तकपर लगाय हृदयसों लगायो. तब अच्युतदासके नेत्र अलौकिक हो गये. लीलाको दरसन करन लागे...”

वैसे तो “प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाभ्यभिप्रायसंशायत्, सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वमार्थ्यमेव च” (भक्तिवर्धिनी) का सिद्धान्त सभी शरणागत जीवोंपर लागू होता ही है. फिर भी स्नेहके आवेशमें भक्त कभी-कभी कुछ-न-कुछ मांग ही लेते हैं. भगवान्को भी वह कृपाके आवेशमें देना ही पडता है. क्योंकि “अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः” (सिद्धान्तमुक्तावली) में निरूपित अनुग्रहशीलता अथवा भक्तपरवशता का रहस्य कुछ भक्तोंके हाथ लग जाता है! जो इस तरह प्रभुके स्वभावका लाभ ले लेते हैं, उन अग्रगण्य भक्तोंमें अच्युतदास भी एक हैं.

“तब श्रीआचार्यजीने सिद्धान्तमुक्तावली करि पढायी. ता करि मानसीमें मग्न भये सो गोविन्दकुण्डके पास गुफामें रहते. नेत्र प्रेमरससों भरे रहते. सो श्रीगुंसाईजी नित्य दरसन देवे पधारते ऊपर यह भाव मर्यादा राखन अर्थ परन्तु श्रीगुसाईजी दरसन करवे आवते. सो यातें जो श्रीगुसांईजीकों श्रीआचार्यजीको अनुभव होतो. अच्युतदासके नेत्रनमें श्रीमहाप्रभुजी झलकते” (भावप्रकाश).

वस्तुतः पुष्टिमार्गमें अनुग्रह ही नियामक है, भक्तका भी और भगवान्का भी; भक्तिकी साधनामें भी और भक्तिके फलदानमें भी!

अच्युतदासने छीन-झपटकर अपवादरूपसे जो अधिकार प्राप्त कर लिया था उसका कोई गलत अर्थ न लगा ले, अतएव श्रीमहाप्रभु अपनी सैद्धान्तिक स्थिति इस ग्रन्थमें स्पष्ट करते प्रतीत होते हैं.

कृष्णसेवा हम पुष्टिमार्गीय जीवोंका सनातन कर्तव्य है. जब यह कृष्णसेवा मानसी रूपमें फलित हो जाती है तो वह सेवाकी उत्कृष्टतम अवस्था है. क्योंकि चित्तका भगवान् श्रीकृष्णके साथ तन्मय हो जाना ही सेवा है. चित्तको श्रीकृष्णके साथ तन्मय करनेकेलिए स्वयम् अपने तन तथा धन को कृष्णसेवामें लगाना चाहिए. रही बात सांसारिक दुःखोंके दूर होनेकी या अलौकिक ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिकी तो वह तो इस कृष्णसेवामें मिलते भजनानन्दका एक आनुषङ्गिक लाभ है ही. क्योंकि ब्रह्मानन्दमें अनुभूत होता अक्षरब्रह्म गणितानन्द है जबकि भजनानन्द तो परब्रह्म अगणित-सच्चिदानन्द श्रीकृष्णकी सेवाद्वारा ही मिल सकता है.

यह अक्षरब्रह्म समग्र जागतिक रूपोंका उपादान होनेके कारण सर्वरूप भी है तथा सर्वविलक्षण भी. जगतके कारणके स्वरूपके बारेमें अनेक प्रकारके विवाद दिखलाई देते है. उदाहरणतया विवर्तवादी लोग इस जगतको मायिक मानते हैं. प्रकृतिपरिणामवादी इसे प्रकृतिके सत्व-रज-तमो गुणोंका परिणाम मानते हैं. आरम्भवादी सूक्ष्म परमाणुओंसे निर्मित मानते हैं. मीमांसकोंके अनुसार जगत जैसा आज दिखलाई देता है वैसा ही सर्वदा था और रहेगा. अतः इसके कर्ताके रूपमें परमात्माको वे मान्य नहीं करते. श्रौत मतके अनुसार, किन्तु, माया प्रकृति परमाणु अदृष्टकर्म वासना या स्वभाव आदि सभी रूपोंमें अक्षरब्रह्म ही जगत्का एकमात्र कारण बनता है. अक्षरब्रह्म अतएव सर्वरूप होनेपर भी सर्वविलक्षण है.

जगत और अक्षरब्रह्म के परस्पर स्वरूपोंको आधिभौतिक गङ्गाजल, जो ग्रीष्म या वर्षा में घटता या बढता है, और आध्यात्मिक तीर्थरूपा गङ्गा, जिसका ग्रीष्म या वर्षा से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, के समान समझना चाहिए. आधिभौतिक रूपमें गङ्गा केवल एक नदी है पर आध्यात्मिक रूपमें मर्यादामार्गीय विधिके अनुसार तीर्थरूपा गङ्गाके तटपर तीर्थवास करनेवालेको मनोवांछित फल देनेवाली मानी गयी है. इसी तरह जगतके सभी नाम-रूप अक्षरब्रह्मके आधिभौतिक रूप हैं पर इनसे विलक्षण भी अक्षरब्रह्मका एक आध्यात्मिक रूप है, जो मर्यादामार्गीय ज्ञानियोंकेलिए उपास्य तथा मोक्षप्रापक रूप है.

गङ्गाके इन दो आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक रूपोंके अलावा एक तीसरा आधिदैविक रूप भी कभी-कभी भक्तोंकों उनकी भक्तिके आवेशमें अनुभूत होता है : एक मूर्तिमती देवीके रूपमें. इस आधिदैविक रूपका प्रत्यक्ष सभीको नहीं होता. यह तो उन्हींको दिखलाई देता है जिन्हें गङ्गाके आधिभौतिक आध्यात्मिक तथा आधिदैविक सभी रूपोंमें तीव्र भक्तिके कारण अभेदबुद्धि घटित हो जाती है. यह घटित होनेपर आधिभौतिक रूपमें भी सर्वत्र आधिदैविक रूपका सा व्यवहार सम्भव हो जाता है.

गङ्गाके आर्धिभौतिक रूप जलकी तरह यह सारा जगत है. गङ्गाके आध्यात्मिक तीर्थरूपकी तरह अक्षरब्रह्मको समझना चाहिए. गङ्गाके आधिदैविक रूप मूर्तिमती देवीकी तरह श्रीकृष्णको समझना चाहिए.

जगत जैसे त्रिविध सत्व-रजस्-तमोगुणात्मक है, वैसे उसके नियामक देवता भी त्रिविध विष्णु-ब्रह्मा-शिव माने जाते हैं. इसी तरह अक्षरब्रह्म क्योंकि एकविध है अतः उसके नियामक-अधिदेव भी परब्रह्म श्रीहरि एक ही हैं. अतः अक्षरब्रह्ममें अवस्थित ब्रह्मादि सकल देवताओंके नियामक भी श्रीहरि ही हैं.

श्रीहरिद्वारा अधिकृत होनेके कारण ही ये देवता भी मनोवांछित फलदान करनेमें समर्थ बनते है. जहां तक पुष्टिभक्तोंका प्रश्न है तो उनके तो सभी मनोवांछित ऐहिक या पारलौकिक फल परमानन्दरूप श्रीकृष्णसे ही निश्चिततया परिपूर्ण हो जाते हैं.

अतः ब्रह्मवादको अच्छी तरह समझकर केवल कृष्णमें ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिए.

ब्रह्मवादके अनुसार सभी जीवात्मा अक्षरब्रह्मकी अंश है अतएव ब्रह्मात्मक है. पर अविद्याजन्य अहन्ता-ममताबुद्धिके कारण स्वयम्की ब्रह्मात्मकता हमें बोध नहीं हो पाता है. जैसे आकाशको एक चलनीमेंसे देखा जाय तो चलनीके छिद्र आकाशके अनेक छिद्रोंकी तरह प्रतीत होगें. ऐसी ही अहन्तामममताकी चलनीमेंसे अनुभूत होनेके कारण अखण्ड अक्षरचैतन्य भी हमें खण्डशः व्यक्तिचेतनाके रूपमें भिन्न-भिन्न अनुभूत होता है.

व्यक्तिचेतनाकी ब्रह्मात्मकताका बोध केवल अहन्ता-ममताकी उपाधिके दूर होने मात्रसे नहि हो जाता, अपितु परब्रह्मके धामरूप व्यापक अद्वैत अखण्ड अक्षरब्रह्मके ज्ञान होनेपर ही वह सम्भव है. अपनी अक्षरब्रह्मात्मकताका बोध होनेपर अक्षरब्रह्ममें विराजमान परब्रह्म पुरुषोत्तम कृष्णके दर्शन सम्भव हो जाते हैं. जैसे गङ्गातीरपर तीर्थवास करनेवाला भक्त अपनी तीव्र भक्तिके कारण आधिदैविक स्वरूप मूर्तिमंती गङ्गाके दर्शन पा लेता है, वैसे ही आध्यात्मिक अक्षरब्रह्ममें निवास करनेवाला भक्त उसके आधिदैविक स्वरूप श्रीकृष्णके दर्शन पा लेता है.

माहात्म्यज्ञानके बिना सांसारिक वृत्तिसे जो कृष्णभजनमें प्रवृत्त होते हैं उनकी भगवान्के साथ दूरी मिटती नही है. जैसे कोई गङ्गाका भक्त गङ्गातटसे दूर रहनेके कारण गङ्गाजलके स्नान-आचमन-अर्चनसे वंचित

रहनेके कारण दुःखी रहता है, वैसे ही माहात्म्यज्ञान (और/ अथवा सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह) के अभावमें कृष्णभजनमें प्रवृत्त होनेपर कुछ-न-कुछ क्लेश तो होता है. पर कृष्णभजन कभी व्यर्थ नहीं जाता. अतः जन्मान्तरमें भी कभी-न-कभी महात्म्यज्ञान और/अथवा सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह प्रकट होगा और जीवात्मा तथा परमात्मा कृष्ण के बीचकी दूरी कम होगी ही यह निश्चित है.

अतः जगतकी सारी झंझटोंको छोडकर पुष्टिके प्रशस्त पथपर चलते हुए पुष्टिजीवको श्रीकृष्णका ही निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए. श्रीकृष्णने अपने आधिदैविक रसात्मक आनन्दमय स्वरूपसे सभी व्रजभक्तोंमें परमानन्दका सागर प्रकट किया है और अपने उस आत्मीय आनन्दके सागारमें श्रीकृष्ण सनातन लीलाविहार करते हैं. ऐसे व्रजभक्तोमें लीलाविहार करनेवाले श्रीकृष्णके स्वरूपका ही हमें सर्वदा चिन्तन करना चाहिए.

'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' ग्रन्थमें पुष्टिजीवोंके दो अवान्तर भेद शुद्धपुष्टि और मिश्रपुष्टि के दिखलाये गये हैं. तदनुसार मिश्रपुष्टिवाले जीवोंमें प्रवाही जीव कभी-कभी किसी लौकिक प्रयोजनके वशीभूत होकर भी कृष्णभजनमें प्रवृत हो जाते हैं. ऐसे प्रवाहपुष्टिवाले जीवोंकेलिए कृष्णभजन सर्वथा क्लिष्ट हो जाता है. फिर भी जो सारे क्लेशोंको झेलते हुए कृष्णभजनमें लगे ही रहते हैं, उसे अधबीचमें छोड़ नहीं देते, उनके सारे लौकिक आवेश सर्वथा नष्ट हो जाते हैं.

स्वयम् अपने आत्मस्वरूपके तथा अपने भजनीय परमात्माके भी समुचित शास्त्रीय ज्ञानके बिना भजनमें प्रवृत्त हो जानेवाले भक्त पुष्टिजीव भी हो सकते हैं और मर्यादाजीव भी. कभी-कभी मयार्दामिश्रित पुष्टिके जीवको भी 'मर्यादाभक्त' कहा जाता है. वैसे सामान्यतः 'मर्यादाभक्त'का अर्थ केवल मर्यादामार्गीय भक्तिमान् जीव ही होता है.

मर्यादामिश्रित पुष्टिभक्त प्रारम्भिक अवस्थामें भक्तिरहित शास्त्रीय ज्ञानवान् भी हो सकता है तथा शास्त्रीय माहात्म्यज्ञानके अभावमें भी भक्तिमान् हो सकता है.

ज्ञानरहित मर्यादापुष्टिभक्तको अपने चित्तको भगवानमें लगाये रखनेकेलिए भगवान्की पूजा-उत्सवादिकी प्रक्रियामें तत्पर रहना चाहिए. भक्तिरहित ज्ञानवान् मर्यादामिश्रित पुष्टिभक्तको दास्यभावप्रदायिनी गङ्गाके तटपर स्नेहोत्पत्त्यर्थ श्रीभागवतके अनुशीलनमें तत्पर होना चाहिए. इन दोनों प्रकारके मिश्रपुष्टिवाले भक्तोंको जब भगवान्के विशेष अनुग्रहका प्रकाश मिलता है तब वे पुष्टिमार्गको खोज पाते हैं तथा पूर्वोक्त तनुवित्तजा सेवाके क्रमसे अन्तमें उन्हें मानसी सेवा फलित हो जाती है.

जो केवल मर्यादामार्गीय जीव होते हैं वे भी भक्तिरहित ज्ञानवान् अथवा ज्ञानरहित भक्तिमान् हो सकते हैं. इन दोनों प्रकारके जीवोंको सायुज्य मिलता है. पर अन्तर यह है कि भक्तिरहित ज्ञानवान् जीव ज्ञानमार्गीय प्रक्रियासे आध्यात्मिक अक्षरब्रह्ममें सायुज्य-लय प्राप्त करता है, जबकि मर्यादाभक्त दास्यभावप्रदायिनी गङ्गाके प्रसादसे आधिदैविक स्वरूपमें मर्यादाभक्तिभार्गीय सायुज्य प्राप्त करता है.

मर्यादामार्गीय साधककी साधनामें देश-काल आदिके नियम होते हैं, परन्तु पुष्टिभक्ति तो देश-कालके बन्धनमें नहीं है. पुष्टिमार्गमें तो भगवान्का अनुग्रह ही केवल एकमात्र नियम या बन्धन है. अतः जिस देशमें या जिस कालमें भगवान्का अनुग्रह मिल जाय, सर्वत्र एवम् सर्वदा पुष्टिभक्ति सम्भव है.

हर सूरतमें यों अक्षरब्रह्ममें सायुज्यका दान करनेवाले ज्ञानमार्गकी तुलनामें भक्तिमार्गका उत्कर्ष दिखलाई देता है. अतः भक्तिके बिना सब कुछ

व्यर्थप्रायः है. गङ्गातटपर तीर्थवास करनेवाला भी आधिदैविक गङ्गाके बारेमें यदि भक्तिरहित होता है तो कभी-न-कभी गङ्गाके आध्यात्मिक माहात्म्यको भूल कर अथवा उसे केवल आधिभौतिक जल ही समझ कर अपने दुष्ट कर्मोंके कारण अन्तमें उसके आध्यात्मिक लाभसे भी वञ्चित रह जाता है. इसी तरह आधिदैविक कृष्णके स्वरूपमें सर्वथा भक्तिके अभावमें, आध्यात्मिक स्वरूप अक्षरब्रह्ममें ज्ञानबलसे निवास करनेवाला विमुक्तिमानी साधक भी अरविन्दाक्ष श्रीकृष्णमें भावशून्य होनेके कारण अक्षरमें सायुज्यके लाभसे भी वञ्चित होकर पुनः भवप्रवाहमें अधःपतित हो जाता है.

यह श्रीभागवतशास्त्रका गुप्त रहस्य श्रीमहाप्रभुने न केवल अच्युतदासकेलिए प्रकट किया है, अपितु सभी पुष्टिजीवोंको, श्रीमहाप्रभुके स्वकीयोंको, उनके कर्तव्यके उपदेशके रूपमें दिखला दिया है. इसे अच्छी तरहसे एक बार समझ लेने पर सभी पुष्टिजीव अपने कर्तव्यसम्बन्धी सभी प्रकारके संशयोंसे मुक्त हो सकते हैं.

॥ सिद्धान्तमुक्तावली ॥

निबन्धमें भगवानकी प्राप्तिकेलिये 1वैदिकमार्ग तथा 2भक्तिमार्ग को निरूपण कियो हे. ओर दशमस्कन्धके श्रीसुबोधिनीजीमें 3स्वतन्त्र भक्तिमार्गको निरूपण कियो हे. सो भगवत्प्राप्तिके तीन मार्गनमे सूं अमुककुं अमुक मार्ग मुख्य हे, एसे बतायवेकेलिये हे; किंवा तीनोंनमे अमुक मार्गही मुख्य हे एसे बतायवेके लिये हे? एसो सन्देह अपने

भक्तनकु होय. तेसेंई वा (स्वतन्त्रभक्तिमार्गके) प्रसङ्गमें सेवाको स्वरूप कहा हे? ओर वाके अधिकारी कोन हें? इत्यादिक सन्देह होंय ताकी निवृत्तिकेलिये यह (सिद्धान्तमुक्तावली) ग्रन्थ श्रीआचार्यजी महाप्रभुजी करत हें:

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्॥
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता॥1॥

हरिं=हरिकुं
नत्वा=नमन करिकें
स्वसिद्धान्तविनिश्चयं=
अपुने सिद्धान्तके विशेष निश्चयकों
(अहं=मैं)
प्रवक्ष्यामि=आछी भांतिसों कहतहों
कृष्णसेवा=श्रीकृष्णकी सेवा
सदा=हमेंशा
कार्या=अवश्य करनी
सा=वो मानसी=मानसी
(चेत् तदा=होय तब)
परा=फलरूप, मता=मानी जाय

भावार्थ : सर्व दु:ख दूर करिवेमें समर्थ श्रीहरिकुं नमन करिके, अपने सिद्धान्तके निश्चयकों मैं कहूंगो. श्रीकृष्णकी सेवा सर्वकालमें करनी चहिये. सो सेवा यदि मानसी होय तो फलरूपा मानीजाय॥1॥

॥ श्रीमत्प्रभुचरणकृतविवृति ॥

प्रणम्य पितृपादाब्ज-परागम् अनुरागत:।
कृपया विशदीकुर्मस् तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम्॥

स्वसिद्धान्त इति. अग्रे वक्ष्यमाणैः बहुभिः मिथो विरुद्धै: सिद्धान्तै: शास्त्रार्थसन्देहे तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामि इति अर्थः. तमेव आहु: कृष्णसेवा इति. फलात्मकनामोक्त्या स्वत:पुरुषार्थत्वेन सेवाकृति: स्वसिद्धान्तो, न तु अन्यशेषत्वेन इति ज्ञाप्यते. सेवा हि सेवकधर्मः. तदुक्त्या जीवानाम् अशेषाणां

सहजदासत्वं ज्ञापितम्. अतएव न कर्मणि इव अत्र कालपरिच्छेदो अस्ति इति आहुः सदा इति. आवश्यकार्थ'ण्यत्'प्रत्ययान्त'कार्य'पदोक्त्या तद् अकरणे प्रत्यवायी भवति इति भावो ज्ञाप्यते. साच फलरूपा साधनारूपा च आस्ते. तत्र मानसी सा परा=फलरूपा इति अर्थ:, यथा व्रजसीमन्तिनीनाम्. तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं "ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधिय: स्वम् आत्मानम् अदस् तथेदम्"इत्यादिना॥1॥

टीका : भक्तनके दु:ख तथा पाप कुं हरिवेवारे प्रभूनको नमन करिके अपने सिद्धान्तको विशेष करिके जो निश्चय कियो हे सो कहूंगो. यहां "विशेषकरिके निश्चय कियो हे" एसे कह्यो हे ताको अभिप्राय एसो हे जो श्रीभागवतके द्वितीयस्कन्धमें कह्यो हे जो "भगवान् ब्रह्माने तीन बिरियां वेद देखिके यह निश्चय कियो जो आत्मरूप भगवानमे प्रीति होय एसो साधन करनो येही समग्र वेदको अभिप्राय हे" सो निश्चय जतावत हें जो श्रीकृष्णकी सेवा सदा करनी. सो तनुवित्तजा तथा मानसी एसे दोय प्रकारकी हे. तामें मानसी फलरूपा मानी हे. श्रीकृष्ण फलात्मक हें तिनकी सेवा सदा करनी एसे कह्यो हे; ताको अभिप्राय एसो हे जो सेवाकरिके ओर(अन्य) फलकी इच्छा नाहीं राखनी. सेवाही स्वत: फलरूप हे. सेवा सदा करिवेको लिख्यो हे ताको अभिप्राय एसो हे जो अपनेमें दासपनेको अनुसन्धान करिके सेवा हे सो स्वतन्त्र फलरूपा हे; ओर जीवनको अवश्य कर्तव्य हे, एसे समझके सेवा सर्वकाल करनी॥1॥

"सेवा सदा करनी" एसे लिख्यो हे सो राजाकी अथवा गुरूनकी सेवा शरीरसूं मनुष्य करत हें तेसेंही प्रभूनकी सेवाहु शरीरसूंही करिवेको सिद्ध होय हे. सो सर्वकाल केसे बने? एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

चेतस् तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा॥
तत: संसार-दु:खस्य निवृत्तिर् ब्रह्मबोधनम्॥2॥

तत्प्रवणं=वामें पिरोनो
चेत:=चित्तको सेवा=सेवा हे
तत्सिद्ध्यै=वाकी सिद्धिकेलिये
तनुवित्तजा=तनुवित्तजा(कर्तव्या=करनी)
तत:=तासूं

संसारदु:खस्य=संसारदुःखकी
निवृत्ति:=निवृत्ति
(किञ्च=ओर)
ब्रह्मबोधनं=ब्रह्मको बोध
(भवति=होवे हे)

भावार्थ : श्रीहरिमें चित्तको एकतान होनोही सेवा कही जाय हे. वेसी सेवाकी सिद्धिकेलिये शरीरसों ओर द्रव्यसों सेवा(भक्ति) करनी चहिये. वा मानसिक भक्तिसों, अहन्ता-ममतात्मक संसारकी निवृत्ति ओर भगवन्माहात्म्यको ज्ञान, ये दो अवान्तर फल मिले हें॥2॥

विवृति : एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहु: चेत: इति. उक्तसेवासाधने इतरे इति आहु: तद् इति. वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा करिता एका. एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा. एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्. एतेन भगवदर्थं निरुपधि-स्वसर्वस्व-निवेदन-पूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भाव:. एतादृशस्य अवान्तरफलं भवति इति आहु: तत: इति. अहन्ता-ममतात्मक: संसारो, नतु प्रपञ्चात्मक:, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्या अनिष्टनिवृत्तिः उक्ता. इष्टप्राप्तिम् आहुः अग्रे. स्वात्मनि प्रपञ्चे च अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम्. भगवत्सेवायाम् अभिनिविष्टस्य यद्यपि अनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावात् भवत: इति भाव:॥2॥

टीका : श्रीकृष्णमें चित्त प्रथम कछुक लग्न होय, पीछे श्रीकृष्णके आधीन होय ओर ता पीछे श्रीकृष्णमें एकतानरूपकुं प्राप्त होय (इतने तल्लीन होय) सो सेवा कहिये. एसी सेवा सिद्ध होयवेकेलिये तनुवित्तजा सेवा हे. अर्थात् श्रीकृष्णमें चित्तकी एकतानता होयवेकेलिये तनुजा(शरीरसूं) तथा वित्तजा(धनसूं) सेवा हे. यहां 'तनुजा तथा 'वित्तजा' एसे भिन्न-भिन्न पद न कह्यो ओर 'तनुवित्तजा' एसो समस्त पद कह्यो हे ताको अभिप्राय एसो हे जो अन्यकुं मूल्यरूप धन देके सेवा करावे सो वित्तजा सेवा भई; परन्तु ताकरिके चित्तमें राजस (अहङ्कार) आय जाय तासूं मानसी सेवा सिद्ध न होय. ओर मूल्यरूप धन लेके शरीरसूं सेवा करे सो तनुजा सेवा भई; परन्तु सोहु मानसी सेवाकुं सिद्ध करे नाहीं. जेसें यज्ञमें ब्राह्मणनको वरण होय हे परि तिनकों यज्ञको फल होत नाहीं हे, तेसेंई मूल्य लेके सेवा करे ताकों तनुजासेवाको फल(मानसी) सिद्ध न होय. तासूं भगवान्मे निष्काम स्नेह होय ओर शरीरसूं तथा धनसूं संगही जो सेवा करे

ताकु मानसी सिद्ध होय. तासूं अहन्ता-ममतात्मक संसारके दु:खकी निवृत्ति ओर अपनो आत्मा तथा ये प्रपञ्च सब अक्षरब्रह्मात्मक हे एसो ज्ञान होय. यद्यपि भगवत्सेवामें जाको अभिनिवेश हे ताकुं इन फलनकी इच्छा होत नाहीं, तथापि मानसी सेवाही एसी हे जो संसारके दु:खकी निवृत्ति तथा सर्व अक्षरब्रह्मरूप हे एसो ज्ञान, ये दोय अवान्तर फलनकु सिद्ध तो करेही हे॥2॥

अक्षरब्रह्म हे सोही परब्रह्म हे एसे कोउके मनमें आवे तासूं कहत हें:

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्॥
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणम्॥3॥

परं ब्रह्म=परब्रह्म, तु=तो
कृष्णो=श्रीकृष्ण, हि=ही(अस्ति=हें)
सच्चिदानन्दकं=सत्-चित् ओर अल्प आनन्दवारो
बृहत्=विषाल अक्षरब्रह्म (अस्ति=हे)
तद् हि=वो ही
एकं=एक,
सर्वं=सर्व
स्याद्=होवे हे
अपरं=दूसरो
तस्माद्=वासूं
विलक्षणम्=विलक्षण(अस्ति=हे)

भावार्थ : तैत्तिरीयोपनिषत्की आनन्द-ब्रह्म-वल्लीमें अक्षरब्रह्मके आनन्दकी गणना करी हे. किन्तु वाके आगे कह्यो हे के परब्रह्मके आनन्दमें मनवाणी भी नाहिं पहूंचे हे. तासूं शास्त्रमें श्रीकृष्णकुंही परब्रह्म कहे हें. तासूं परब्रह्म तो श्रीकृष्णही हें. सत्-चित्-गणितानन्द अक्षरब्रह्म हे. सो अक्षरब्रह्म निश्चयकरके दो प्रकारको हे. एक सर्वजगद्रूप हे ओर दूसरो वा जगद्रूपसों जुदो हे, जाको ज्ञानी विचार करें हें॥3॥

विवृति : इदमेव परं ब्रह्म इति न ज्ञेयम् इति आहु: परं ब्रह्म तु इति. यशोदोत्सङ्ग-लालितो नतु अन्य: इति ज्ञापनाय मूलनाम उक्तम्. अत्र भेदकं रूपम् आहु: सच्चिद् इति. एते भगवद्धर्मात्मका:, प्रकट-तत्-त्रियात्मकम् अक्षरं ब्रह्म. अतएव प्रपञ्चः

तदात्मकइति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन् उच्यते. एतावान् परं विशेषो; जडे सदंश: प्रकटः इतरौ आच्छन्नौ, जीवेतु आद्यौ प्रकटौ आनन्दांशः तिरोहित:, परमात्मनि त्रयं स्फुटम् इति. 'क'प्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव नतु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वम् इति ज्ञाप्यते. कृष्णशब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितम् इति अक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपम् इति. तद्=अक्षरं ब्रह्म. तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्याद् इति. प्रपञ्चरूपेण आविर्भूतम् एकम् इति अर्थः. एकं रूपं तस्मात्=प्रपञ्चरूपाद्—— एकरूपत्वेन श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ज्ञान्युपास्यत्वेन तन्मुक्तिस्थानत्वेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिः—— विलक्षणम् इति अर्थः. नच विरुद्धधर्मैः भेदो अत्र शमनीय:, उभयोः धर्मयोः एकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात्. विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि "तदेजति
तन्नैजति" इत्यादिश्रुतिभिः निरूप्यमाणत्वात्. लोकएव विरोध: शमनीयो नतु अलौकिके ब्रह्मणि. इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति न अत्र प्रपञ्च्यते॥3॥

टीका : श्रीयशोदोत्सङ्गःलालित श्रीकृष्णही परब्रह्म हें. क्यों जो आप तो पूर्णानन्द हें ओर अक्षरब्रह्मके आनन्द गिनतीमें आवे हें. सो तैत्तिरीय उपनिषद्में आनन्दकी गिनती करी हे, तामें मनुष्यनके आनन्दसूं लेके अक्षरब्रह्मतांई सोगुने आनन्द गिने हें. सो अक्षरब्रह्मतांई गिने हें. तापीछे मन ओर वाणी में आवे नाहीं एसो (अगणित)आनन्द लिख्यो हे. तासूं श्रीकृष्णमें अगणित आनन्द हे ओर अक्षरब्रह्ममें गिनतीमें आवे तितनो आनन्द हे. सो अक्षरब्रह्म दोय रूपवारो हे. तामें (एक)सर्व प्रपञ्चात्मक इतने जगतमें जितने नामरूप हें सो अक्षरब्रह्मकोही एक रूप हे; ओर दूसरो रूप प्रपञ्चसूं विलक्षण हे. अर्थात् श्रुतिनमे जाको प्रतिपादन हे, ज्ञानी जाकी उपासना करें हें, ज्ञानीनकी मुक्तिको जो स्थान हे ओर श्रीपुरुषोत्तमके रहिवेको जो स्थान हे सो अक्षरब्रह्मको दूसरो स्वरूप हे॥3॥

विरोध मिटायवेके अर्थ अपनो सिद्धान्त कहिवेकुं ओरनके मतनको स्वरूप बतावत हें:

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगु:॥
मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा॥4॥

तत्र=तामें
पूर्वस्मिन्=पूर्वमें
वादिनः=वाद करिवेवारे

अपरं=दूसरो
बहुधा=बहोत प्रकारसूं
मायिकं=मायिक
सगुणं=गुण सहित
कार्यं=कार्य
स्वतन्त्रं=स्वतन्त्र च=ओर
इति=या प्रकारसूं
न एकधा=एक प्रकारसूं नहीं
जगु:=कहे हें

भावार्थ : अक्षरब्रह्मके उन दोनों रूपनमे सूं पहले जगद्रूप ब्रह्मके विषयमें वादी अनेक प्रकारसों कहे हें. कितनेही या जगत्कुं मायासों दीखतो कहे हें. कितनेही त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन गुणन्सूं बन्यो हे एसे कहे हें. ओर कोउ कहे हें के ये जगत् ईश्वरने परमाणुसूं बनायो हे अर्थात् ईश्वरको कार्य हे. कितनेही कहे हें के प्रवाहकी तरह ये जगत् अनादिकालसूं स्वतन्त्र ही चल्यो आवे हे एसे एक प्रकारसों नाहीं कहे हें॥4॥

विवृति : विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतानि आहु: अपरम् इति. वेदमताद् अपरं=भिन्नं मतम्. पूर्वस्मिन्=प्रपञ्चरूपेण आविर्भूते. तत्र=अक्षरे ब्रह्मणि इति अर्थ:. मायिकम् इति हि मायावादिन:. सगुणं=गुणकार्यम् इति साफ्या:. कार्यं=द्व्यणुकादिक्रमेण ईश्वरकार्यम् इति नैयायिका:. स्वतन्त्रं="न कदाचिद् अनीदृशं जगत्" इति मीमांसका:. चकारेण वेदबाह्यमतानि सङ्गृह्यन्ते॥4॥

टीका : अक्षरब्रह्म जगत्के रूपसूं प्रकट भयो हे तामें बहोत वादी लोग वेदमतसूं भिन्न मत कहत हें. रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति होय हे, अथवा शुक्तिका(सीप)में रजत(चांदी)की भ्रान्ति होय हे तेसें निर्गुण ब्रह्ममें जगत्की भ्रान्ति भई हे; अथवा मायायुक्त ईश्वरने जगत् बनायो हे एसें मायावादी माने हें. ओर सांख्यमतवारे एसे मानें हें जो सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण इन तीन गुणन्सूं जगत् भयो हे. सांख्यमत कहिवेसूं पातञ्जल(योग) मतहु यामें आय गयो. ओर तर्कशास्त्रवारे एसे कहे हें जो पृथ्वी, जल, तेज, तथा वायु इन सबनके परमाणुन्(अत्यन्त झीने-झीने कणन्)में ईश्वरकी इच्छासूं क्रिया उत्पन्न होयके इनके आपसमें मिलवेसूं, कार्यरूप ये जगत् भयो हे. तार्किकमत कहिवेसूं जो "जगतमें सोलहही पदार्थ हें" एसो प्रतिपादन करे हें, जाके प्रवर्तक गौतम ऋषि हें, एसो न्यायमत; तथा "जगतमें सातही पदार्थ हें" एसो जो प्रतिपादन करें हें,

जाके प्रवर्तक कणाद मुनि हें, एसो वैशेषिकमतहु यामें आय गयो. ओर कर्ममार्गवारे मीमांसक एसे कहे हें जो ये जगत् जेसो दीखे हे तेसोही जगत् सर्वदासूंही चल्योही आवे हे. याको कोउ कर्ता नाहीं हे. मूलमें 'च'कार हे तासूं बौद्ध, आर्हत, लोकायतिक प्रभृति नास्तिकमत तथा वाम, शाक्तादि मतहु आय गये. एसें अनेक प्रकारसूं कहत हें॥4॥

परन्तु ये मत वेदसूं भिन्न हें. तासूं एसे वेदमतसूं भिन्न मतको निरूपण जो करे हें तिनको खण्डन तो वेदके बलसूंही होय जाय हे. तासूं जुदो खण्डन करिवेको प्रयोजन नाहीं हे एसे अभिप्रायसूं वेदके सिद्धान्तरूप स्वसिद्धान्तको निरूपण करतहें:

तदेवैतत्-प्रकारेण भवतीति श्रुतेर् मतम्।
द्विरूपं चापि गङ्गावज् ज्ञेयं सा जलरूपिणी॥5॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा।
मर्यादा-मार्ग-विधिना तथा ब्रह्माऽपि बुद्ध्यताम्॥6॥

तद्=वो एव=ही
एतत्प्रकारेण=या प्रकारसूं
भवति=होय हे
इति=एसो श्रुते:=वेदको
मतं=मत हे च=ओर
द्विरूपं=दो रूपवारो
अपि=भी
गङ्गावत्=गङ्गाजीकी तरेह
ज्ञेयं=जाननो (एका=एक) सा=वो
जलरूपिणी=जलरूपवारी
(अपरा=दूसरी)
माहात्म्यसंयुता=माहात्म्यसूं संयुक्त
मर्यादामार्गविधिना=मर्यादामार्गीयविधिसूं
सेवतां=सेववेपे नृणां=पुरुषकुं
भुक्ति-मुक्तिदा=भोग-मोक्ष देयवेवारी
(अस्ति=हे) तथा=वा तरेहसूं
ब्रह्म अपि=ब्रह्म हु बुद्ध्यताम्=जाननो

भावार्थ : वो अक्षरब्रह्म ही या जगत्प्रकारसों होय हे ये वेदको मत हे. ओर दोय रूपवारो अक्षरब्रह्म हु गङ्गाकी तरह जाननो. एक गङ्गा जलरूप हे; ओर दूसरी माहात्म्यसंयुक्त तीर्थरूप जो मर्यादामार्गकी रीतिसूं सेवन करिवेवारे मनुष्यनकु भोग ओर मोक्ष देवेवारी हे. एसेही अक्षरब्रह्म हु दोय प्रकारको जाननों॥5-6॥

विवृति : तानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति नात्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवात् इति आशयेन स्वसिद्धान्तम् आह: तदेव इति. “स हैतावानास” “सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्” इत्यादिश्रुतिभ्य: तथा इति अर्थ:. एकस्यैव अक्षरस्य उक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेन उपपादयन्ति द्विरूपम् इति. प्रपञ्च-तद्भिन्नरूपाभ्यां द्विरूपं तद् ब्रह्म गङ्गावज् ज्ञेयम्. अस्ति गङ्गायां त्रिरूपत्वम्. आधिभौतिकं जलरूपम् एकम्, यद् वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धि-ह्रासौ भजते सर्वव्यवहारयोग्यत्वं च. अग्रिमा द्वितीया आध्यात्मिकी तीर्थरूपा यः उद्धृतजलाविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिः तेन तत्रैव स्नान-पूजादिभि: फलदा. एवमेव प्रपञ्च-तद्भिन्नरूपमपि एकमेव तद् अक्षरं ब्रह्म इति तथा बुद्ध्यताम् इति अर्थः॥5-6॥

टीका : जाको वेदमें प्रतिपादन हे सोही अक्षरब्रह्म नाम-रूपात्माक जगत्के प्रकारसूं होय हे. अर्थात् प्रपञ्चसूं भिन्न जो अक्षरब्रह्मको स्वरूप ऊपर कह्यो हे सोही अक्षरब्रह्म या जगत्के रूपसूं होय हे. जेसें गङ्गाजीके आधिभौतिक ओर आध्यात्मिक दोय रूप हें. तामें जो वृष्टिसूं बढ़े हे ओर धूपसूं घटे हे सो जलरूप गङ्गाजीको आधिभौतिक रूप हे. ओर जो तीर्थरूप हे, जाके महात्म्यको निरूपण शास्त्र करे हे, सो गङ्गाजीको आध्यात्मिक रूप हे, जो मर्यादामार्गके विधिसूं सेवन करिवेवारेनको भोग ओर मोक्ष देत हे. इतने गङ्गाजीको तीर्थरूप जो आध्यात्मिक स्वरूप हे सोहु गङ्गाप्रवाहमेंही रहत हे. तासूं प्रवाहमेंतें जल भरिके दूसरे देशमें ले जांय सो जलमें तारतम्य नाहीं हे जल तो वोही हे तथापि अन्यत्र वा जलके स्नानादिकसूं तीर्थस्थानादिकको फल होय एसो कोउ ग्रन्थमें दीखवेमें नाहीं आवे हे. यदि वा जलसूं तीर्थस्नानादिकको फल होतो होय तो राजा तथा ओर द्रव्यपति प्रभृतीनको वहां जायवेको प्रयोजनही नाहीं रहतो. तासूं प्रवाहमेंही तीर्थस्थानफल लिख्यो हे. तासों तीर्थरूप गङ्गाजी जलरूपसूं भिन्न हें. तेसें अक्षरब्रह्म जगद्रूप हे ओर जगत्सूं भिन्नहु हे एसे जाननों॥5-6॥

अब आधिदैविक रूपको निरूपण करत हें:

तत्रैव देवतामूर्तिर् भक्त्या या दृश्यते क्वचित्।
गङ्गायां च विशेषण प्रवाहाभेदबुद्धये॥7॥
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात् तया जले।
विहिताच्च फलात् तद् हि प्रतीत्यापि विशिष्यते॥8॥

तत्र=वहां, एव=ही
या=जो, देवतामूर्ति:=देवीस्वरूप
(सा=वो) भक्त्या=भक्तिसूं
गङ्गायां=गङ्गामें, विशेषेण=विशेषसूं
अभेदबुद्धि होयवेसूं
च=भी, क्वचिद्=कभी
दृश्यते=दीखे हे, सा=वो
सर्वेषां=सबनकु
प्रत्यक्षा=प्रत्यक्ष,
न=नहीं
तया=वाके, जले=जलमें
प्राकाम्यं=उत्तम कामनासूं
स्यात्=होवे तद्=वो
हि=तो, विहितात्=शास्त्रमें बताये
फलात्=फलसूं, च=ओर
प्रतीत्या=प्रतीतिसूं, अपि=हु
विशिष्यते=विशेष होय हे

भावार्थ : वा तीर्थरूप ओर जलरूप गङ्गामेंही जो देवतारूप गङ्गाकी मूर्ति हे वो गङ्गा, भक्तिके उत्कर्ष होयवेसूं ओर विशेष करिके जाकुं प्रवाह ओर मूर्ति में अभेदबुद्धि होय वा भक्तकुंही कोई समय गङ्गामें दीखे हे. वो देवमूर्ति गङ्गा सबनकु प्रत्यक्ष नाहीं दीखे हे. वा गङ्गासूंही जलमें स्नान, आचमन आदि उत्तम कार्य करनो सिद्ध होय हे. कारणके वो जल, शास्त्रमें कहे फलकुं देयवेसूं ओर महात्मानके विश्वाससूं हु अन्य जलकी अपेक्षा उत्तम समज्यो जाय हे॥7-8॥

विवृति : आधिदैविकं रूपम् आहु: तत्रैव इति. उक्तद्विरूपायां गङ्गायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्ना अस्ति इति अर्थ:. तत्र मानम् आहु: मूर्तिः इति. भक्त्याएव नतु मर्यादामार्गविधिना उपासनया इति अर्थ:. तदपि क्वचिदेव=भक्त्युद्रेकदशायामेव. अथवा यत्रक्वचिद्=गृहादिष्वपि इति अर्थ:. भक्तविशेषे विशेषम् आहु: गङ्गायाम् इति. देवतारूपायां गङ्गायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहाद् अभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिः तस्मै गङ्गायां प्रवाहमध्यएव (देवतारूपा गङ्गा) प्रत्यक्षा भवति इति अर्थ:. एतेन प्रपञ्चमध्यएव भगवदाकार-भगवद्भक्तयोः दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवदभेदबुद्धये तत्र भगवत्प्राकट्यं भवति इति भाव: सूच्यते. अग्रिमव्यवस्थाम् आहु: प्राकाम्यम् इति. स्वाभीष्ट-स्वसर्वस्व-रूपाया: स्थानभूतत्वेन ज्ञानात् तत् जले सर्वत्र अनिषिद्ध-यथेष्ट-व्यवहार: स्याद् इति अर्थ:. एवमेव उक्तप्रकारक-भगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भाव: स्फुरति इति भाव:. विहिताद् इति. भक्त्या गङ्गादर्शनानन्तरं प्रवाहरूपायाअपि दर्शनं विहितात् स्वर्गापवर्गरूपात् फलात् विशिष्यते तद् हृदि इति अर्थ:. यद्वा येषां न प्रत्यक्षा तेषामपि तया देवतारूपया सा तत्र अस्ति इति तत्सम्बन्धानुभावेनैव तज् जले प्राकाम्यं=प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेष-पूर्वक-स्नानादि-व्यवहारो भवति इति अर्थ:. किञ्च पुराणादिषु तज् जलदर्शनादिभि: फलं यद् उक्तं तद् अनुभवेन महताम् अन्त:करण-प्रतीत्यापि तज् जलम् अन्येभ्यो जलेभ्यो विशिष्यते इति अर्थ:. एवं येषां हृदि भगवत्सानिध्यं ते भक्ता अन्येभ्यो विशिष्यन्ते. अतएव "मल्लिङ्ग-मद्भक्तजन-दर्शन-स्पर्शनार्चनम्" इति भगवता उक्तम्॥7-8॥

टीका : ऊपर गङ्गाजीको जो आधिभौतिक ओर आध्यात्मिक रूप कह्यो तामेंही देवतारूप गङ्गाजी भिन्न हें सो मूर्त्तिरूप हें. इतने भीष्मपितामहकी माता जो भई हती ओर भगीरथ राजाकुं जाको दर्शन भयो हतो सो गङ्गाजीकी आधिदैविक मूर्त्ति हे. सो गङ्गाजीको स्वरूप भक्तिकरिके गङ्गाद्वारप्रभृति स्थलमें अथवा भक्तिकी अत्यधिक वृद्धि होय तब गृहादिकमेंहु दीखवेंमें आवत हे. सो देवतारूप गङ्गाजी प्रवाहसूं भिन्न नाहीं हें एसी जाकी बुद्धि हे ताकों प्रवाहमेंही देवतारूप गङ्गाजी प्रत्यक्ष होय हें. ताकरिके एसे अभेदबुद्धिवारेको निषिद्ध नाहीं एसो बहोत व्यवहार वा जलमें होय हे. एसें ही जगत्मेंही भगवानके स्वरूप तथा भगवद्भक्तमें विशेष स्नेह जब होय तब "ये भगवान्सूं भिन्न नाहीं हें" एसी जाकी बुद्धि भई होय ताकेलिये भगवान् प्रकट होय हें. तब अपने इच्छित प्रभुको ये स्थान हे एसो ज्ञान होय तब सर्वस्थलमें भगवद्भाव स्फुरायमान होय हे. इतने तेसी भक्ति करिके गङ्गाजीको दर्शन भयो तापीछे—— स्वर्ग ओर मोक्ष रूप फल शास्त्रमें कहे हें तासूंहु ओर प्रतीति करिकेहु ——

प्रवाहरूपको दर्शन वाकों विशेष जानिवेमें आवत हे. तेसें जगत्में भगवानको साक्षात्कार भये पीछे ज्ञानिको फल मोक्ष हे. तासूंही (जगत्में) सर्वत्र भगवानको ये अधिष्ठान हे एसो ज्ञान विशेष हे एसे जानिवेमें आवत हे. तब सर्वत्र अनिषिद्ध इच्छानुकूल व्यवहार होय हे॥7-8॥

1जल-2तीर्थ-3देवीरूपा गङ्गाकी नांई ब्रह्मकेहु आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तीन रूप हें सो कहत हें:

यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्।
यथा देवी तथा कृष्णस् तत्राप्येतद् इहोच्यते॥9॥

यथा=जेसे, जलं=जल
तथा=तेसें. सर्वं=सब
यथा=जेसे, शक्ता=शक्तिमान
(गङ्गा पवित्रीकर्तृ=पावनकारी गङ्गाजी)
तथा=तेसें, बृहत्=विशाल
(ब्रह्म सर्वशक्तं=सर्व समर्थ अक्षरब्रह्म)
यथा=जेसे, देवी=देवी(गङ्गा)
तथा=तेसें, कृष्ण:=श्रीकृष्ण(परब्रह्म)
तत्रापि=वामेंहु, इह=यहां
एतद्=ये, उच्यते=कहेहें

तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्म-विष्णु-शिवास् तत:॥
देवता-रूपवत्-प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर् मत:॥10॥

जगत्=जगत् तु=तो त्रिविधं=तीनप्रकारको

प्रोक्तं=कह्यो हे
तत:=तासूं
ब्रह्मविष्णुशिवा:=ब्रह्मा-विष्णु-शिव
देवतारूपवत्=देवतारूपसों
प्रोक्ता:=कहे हें
इत्थं=या प्रकारसूं

ब्रह्मणि=ब्रह्ममें हरिः=श्रीकृष्ण
मत:=मानेगये हें

भावार्थ : तासूं जेसें समोच-विकासी गङ्गाको जल हे तेसेंही यह जगद्रूप ब्रह्म हु आविर्भाव-तिरोभाव धर्मवारो हे. ओर जेसें पवित्र करिवेवारी सामर्थ्यरूप गङ्गा हे तेसें सर्वशक्तिमान् अक्षरब्रह्म हे. तथा जेसें आधिदैविक देवीरूप गङ्गा हे वेसेंही परब्रह्म श्रीकृष्ण हु आधिदैविक स्वरूप हें. तामेंहु यहां इतनो ओर कह्यो जाय हे (या गङ्गाजीके दृष्टान्तसूं ये समझनो के गङ्गाके जलमें ओर श्रीगङ्गाजीमें यद्यपि भेद नाहीं हे तथापि वा जलमें यदि तीर्थबुद्धि न होय तो स्नानादि करिवेमेंहु फल नाहीं होत हे. तेसें जगत्में ओर ब्रह्ममें यद्यपि भेद नाहीं हे तोउ जगत्में जाकी ब्रह्मबुद्धि नाहीं हे एसो जो याकी उपासना करे तो ब्रह्मोपासनाको फल होत नाहीं. तासूं जो लोग कहे हें के जो “जगत् ब्रह्मही होय तो हम अपनी स्त्रीसूं स्नेह करे हें वाको फलहु ब्रह्मोपासनाके फलके जेसो मिलनो चहिये” ये शङ्का दूर भई) जगत् तो सत्वादि गुणनके भेदसूं तीन प्रकारको हे, तासूं वा जगत्के अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु ओर शिव लोकमें उपास्य देवता कहे हें. ओर अक्षरब्रह्ममें श्रीकृष्णही सेव्य देवता माने हें. अर्थात् ब्रह्मज्ञानी मुक्त जीवकुं भजवे लायक तो श्रीकृष्ण हें॥9-10॥

विवृति : (एवं 1दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयो: साधर्म्यं निरूप्य उक्तम् अर्थं स्पष्टयन्ति यथा जलम् इत्यादिना. तत्रापि इति साधर्म्येपि. एतद् इति किञ्चित्तारतम्यम्. इह=प्रपञ्चरूपे दृष्टान्ते, त्रिविधत्वाभावाद् अत उच्यते.) जगत्तु इति त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं, (तुशब्देन जले तथात्वं व्यावर्तितम्. ततः=तस्माद्धेतो: जगति इति वा, रूपवद्यथा जगतो रूपं त्रिविधं तथा तत्रत्य त्रिविधानां देवताः=उपास्या: ब्रह्मादय: त्रय: प्रोक्ता:=तत्-तत् शास्त्रे निरूपिता:. देवता इति स्त्रीलिङ्गप्रयोगात् तेषाम् अस्वातक्र्यं द्योतितम्) तेन तद्गुणनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इति अर्थ:. (ते तु प्राकृतानामेव नियामकाः नतु ज्ञानिनामपीति आहु: ब्रह्मणीत्थम् इति) ब्रह्मैकरूपम् इति तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव॥9-10॥

टीका : जेसें गङ्गाजीको प्रवाहरूप जल हे तेसें ये सब जगत् हे. जेसें (पाप मिटायवेमें तथा फल देवमें) समर्थ तीर्थरूप गङ्गाजी हें तेसें अक्षरब्रह्म हे. ओर जेसें मूर्तिवारी गङ्गाजी देवी हें तेसें श्रीकृष्ण हें.

इतने गङ्गाजीको दर्शन जिनकों भयो होय तिनकों प्रवाहित होतो जल ही गङ्गाजीको स्थान हे एसो ज्ञान होय हे तासूं अनिषिद्ध इच्छानुसार व्यवहार होय हे. ओर तीर्थके दर्शनमें अन्यसूं अधिकपनेको ज्ञानहु होत हे. तेसेंई भगवत्स्वरूप तथा गुरू प्रभृति करिके जिनकों जगत्में भगवानके दर्शन भये हें तिनकों सब जगत्में प्राणिमात्रमें भगवद्भावकी स्फूर्ति होय हे. ओर अक्षरब्रह्ममें ज्ञानीनके मोक्षसूंहु अधिक भगवद्भावपनेको ज्ञान होय ये फल होय हे. ओर जिनको गङ्गाजीको दर्शन नाहीं भयो हे परि आप श्रद्धावारे हें वे जलमें श्रद्धासहित स्नानादिव्यवहार करे हें ओर तीर्थकरिके जलमें अन्यसूं अधिकताको ज्ञानरूप फल क्रमसूं होय हे. या ही प्रकारसों जगत्में भगवानके दर्शन जिनकों नाहीं भये हें ओर आप श्रद्धावारे हें तिनकों भगवानके स्वरूपादिकनमे श्रद्धापूर्वक सेवादिव्यवहार होय हें. ओर ज्ञानीनके मोक्षसूं अधिकपनेसूं अक्षरब्रह्ममें भगवानके धामपनेको परोक्ष ज्ञान होय हे. तामें आधिदैविकके दृष्टान्तके विचारमेंहु या सिद्धान्तमें यह कह्यो जाय हे जो जगत् तो त्रिगुणात्मक कह्यो हे. क्यों जो तीन स्वभाववारो प्रकट भयो हे. तासूं, अक्षरब्रह्मके अंशरूप ब्रह्मा, विष्णु ओर शिव ये तीनों तीन गुणके नियामक भगवा**ननें** किये हें. सो कूर्मपुराणादिकनमे आधिदैविकपनेसूं कहे हें. परन्तु भगवा**ननें** ही आधिदैविक जेसे किये हें तासूं भगवान् एकही नियामक हें. त्रिगुणात्मक जगत्के नियामक जेसें त्रिगुणाभिमानी ब्रह्मादिक तीनोंनकु भगवा**ननें** किये हें तेसें अक्षरब्रह्ममें नियामक भगवान् ही हें एसें युक्ति करिके निश्चय कियो हे॥9-10॥

विशेष: 1.गङ्गाजीके दृष्टान्तसूं एसो सिद्ध भयो जो तीर्थरूपकी उपासनासूं जो फल होय हे सो जलरूपकी उपासनासूं नाहीं होय हे तेसें अक्षरब्रह्मकी उपासनासूं जो फल होय हे सो जगत्की उपासनासूं होत नाहीं.

गङ्गाजीके दृष्टान्तसूं एसो सिद्ध भयो जो जलरूप तथा तीर्थरूप को मात्र नियामकपनो जेसें देवीरूप गङ्गाजीकुं हे परन्तु भक्तनको आपतें फल देवेपनो नाहीं हे तेसेंही श्रीकृष्णसूंहु भयो. तब विनकी सेवाको उपदेश क्यों करो हो? एसे काहुको शङ्का होय तहां कहत हें:

कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न चाऽन्यथा॥
परमानन्दरूपे तु कृष्णे स्वात्मनि निश्चय:॥11॥

अस्मिन्=या, लोके=लोकमें
कामचार:=भोग, तु=तो
ब्रह्मादिभ्य:=ब्रह्मा आदिन्सूं
(भवति=होय हे)च=परन्तु
अन्यथा=ओर कोई प्रकारसूं, न=नहीं
स्वात्मनि=आत्माके विषयमें
तु=तो, परमान्दरूपे=परमानन्द
कृष्णे=कृष्णमें
निश्चय:=निश्चित
(भवति=होवे हे)

अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर् विधीयताम्।
आत्मनि ब्रह्मरूपे हि छिद्रा व्योम्नीव चेतना: ॥12॥

अत:=यासूं तु=ही
ब्रह्मवादेन=ब्रह्मवादसूं
कृष्णे=श्रीकृष्णमें
बुद्धि:=बुद्धि
विधीयतां=स्थापित करो
हि=क्योंके
ब्रह्मरूपे=ब्रह्मरूपमें
आत्मनि=आत्मामें
व्योम्नि=आकाशमें
इव=जेसे छिद्रा=छेद
चेतना:=चेतना
(सन्ति=हे)

भावार्थ : या सात्विकादि तीन प्रकारके लोकमें उन-उनके भक्तनके लौकिक मनोरथनकी पूर्ति तो ब्रह्मादि तीनों देवतान्सूंही होय हे; ओर तरहसूं होय सकत नाहीं. ओर अपने आत्माकेलिये तो नित्य निरवधिक आनन्दरूप श्रीकृष्णमेंही सकल मनोरथपूर्तिको समूह होय हे.

तासों सर्ववस्तु ब्रह्मात्मक हे या भावसों श्रीकृष्णमें अन्तःकरण लगाओ. ब्रह्मांश होयवेसों ब्रह्मरूप आत्मामेंहु, आकाशमें छिद्रकी तरह, अनेक तरहकी (ब्रह्मभिन्नताकी) बुद्धि मालुम पड़े हे. अर्थात् आकाशमें चलनी प्रभृति आड़ी आयवेसूं जेसें छिद्र न होयवेपेहु छिद्र दीखे हें एसेंही आत्मामें अन्यथा बुद्धि हु औपाधिक ओर विविध प्रकारकी हें, ओर उनहीसों जीवको बन्धन होय रह्यो हे.

विवृति : (तर्हि भक्तानामपि लोकमध्यपातित्वात् तन्नियामकत्वं ब्रह्मादीनां कुतो न? इत्यत आहु: कामचार इति. लोके तेभ्यएव कामचार:, तएव नियामका: इति अर्थ:. नच अन्यथा इति=प्रकारान्तरेण न इति अर्थ:. भक्तेषु विशेषम् आहु: परमानन्दरूपे इति) येतु भगवद्भक्ताः तेषां स्वात्मनि=स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके च अर्थे श्रीकृष्णएव कामचार: इति अर्थ:. सर्वत्र नियामक: सएव इति भाव:. अथवा भक्तानां स्नेहातिशयेन आत्मत्वेनैव प्रभु: स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शङ्का न भवति इति अर्थ:. (ब्रह्माद्यपेक्षया अत्र विशेष: परमानन्दरूप पदेन उक्त:. एतावद् उक्तस्य फलितार्थम् आहु: अत: इति. अत: उक्तरीत्या सर्वापेक्षया श्रीकृष्णएव भक्तिमार्गे भजनीय: इति उक्तम्. अतो=हेतोः तत्र बुद्धिः विधीयतां क्रियताम् इति अर्थः. ननु कीदृशी बुद्धिः? इति चेत्, तत्र आहु: ब्रह्मवादेन इति. ब्रह्मवादे हि परब्रह्मण: साकारत्वं प्रतिपाद्यते. अतः तदुक्तपरब्रह्मत्वेन श्रीकृष्णएव बुद्ध्यताम् इति भाव:. तथात्वं दामोदरलीलायां श्रीशुकेन स्फुटमेएव उक्तं “न चान्तर न बहिर् यस्य” इति “त्रय्या चोपनिषद्भिश्च” इत्यादिना. तेन ब्रह्मवादो भक्तिमार्गे अनुभवसाक्षिक: इति निरूपितं भवति. अतएव तुशब्देन निराकारवादो व्यावर्तित:)॥11-12॥

टीका : या लोकमें इच्छानुकूल भोगादिकनकी प्राप्ति ब्रह्मादिकन्सूं होय हे. ब्रह्मादिक सिवाय नाहीं होत हे. तेसें इच्छानुकूलहीमिले हे इच्छासूं विरुद्ध नाहीं मिले हे. ओर भक्तनको तो अपने अर्थमें परमानन्दरूप श्रीकृष्णमें निश्चय कामचार हे. इतने भक्तनको सब कामनाके समूहमेंतें निकसिके केवल प्रभु विषयही कामचार (इच्छानुकुल प्राप्ति तथा भोग) होय हे. अथवा भक्तनको प्रभूनमे अत्यन्त स्नेह होय हे तासूं भगवान् अपने आत्मा हें एसी स्फुरणा होयवेसूं सब रीतसूं विनकी प्रार्थना करिवेमें शङ्का नाहीं होय हे. तासूं सब ब्रह्मरूप हे एसे सिद्धान्तसूं परब्रह्म श्रीकृष्णमें बुद्धि करनी.

जेसें आकाशमें चालिनी प्रभृतिसूं छिद्रकी बुद्धि होय हे, तेसें ब्रह्मरूप आत्मामें दोषवारी बुद्धि होय हे जासूं जीव अपने आत्माकुं ब्रह्मरूप नाहीं जाने हे, संसारी जाने हे. आकाशमें छिद्र नाहीं हें, आकाश तो सर्वत्र व्याप्त-समान हे. परन्तु चालिनी प्रभृति उपाधिसूं "आकाशमें छिद्र हें" एसी बुद्धि होय हे. तेसें ही जीव अक्षरब्रह्मके अंशरूप, अणु हें. परन्तु अविद्याके अन्तरायसूं अपनो अक्षरब्रह्मात्मकपनो नाहीं जाने हे. तासूं अपनेमें क्षुद्रत्वादिक धर्म दीखवेमें आवत हें, ब्रह्मधर्म नाहीं दीखत हें॥11-12॥

एसें बन्धको निरूपण करिके अब मोक्षको निरूपण करत हें:

उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने॥
गङ्गातीरस्थितो यद्वद् देवतां तत्र पश्यति॥13॥
तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति॥
यद्वत्=जेसें
गङ्गातीरस्थितः=गङ्गातटपे स्थित
तत्र=वहां
देवतां=देवताकुं
पश्यति=देखे हे, तथा=वेसें
उपाधिनाशे=उपाधिको नाश भयेपें
(च=अरु)
ब्रह्मात्मत्वावबोधने ब्रह्मात्मकताको बोध भयेपें
विज्ञाने=विशेष ज्ञान भयेपें
ज्ञानी=ज्ञानी
स्वस्मिन्=अपनेमें
परंब्रह्म=परब्रह्म, कृष्णं=कृष्णको
प्रपश्यति=सम्यग्दर्शन करे हे

भावार्थ : जेसें गङ्गाके तीरपे स्थित, ओर प्रवाह-तीर्थ-मूर्ति आदि गङ्गामें एक भाववारो गङ्गाको भक्त, प्रवाहरूप गङ्गामेंही देवतारूप गङ्गाजीको दर्शन करे हे तेसेंही जा जीवकुं प्रभु या प्रकारसूं उद्धार करनो चाहें वाकी अविद्यारूप उपाधिके नाश भयेसूं; ओर "सर्व वस्तु ब्रह्मरूप हे" एसो यथार्थ ज्ञानरूप अनुभव होयवेसूं, ज्ञानीहु अपनी आत्मामें परब्रह्म श्रीकृष्णको दर्शन करे हे. क्योंकि आत्मासहित सब जगत् अक्षररूप

हे ओर अक्षर तो प्रभुके रहिवेको धाम हे तासूं एसे अक्षरज्ञानीकुं आत्मामें प्रभुके दर्शन होनो सहज हे.
विवृति : अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं च आहु: आत्मनि इति. आत्मविषये उच्यते इति शेष:. जीवा हि अणवः अक्षरात्मका:. तदात्मकत्वम् अविद्यया अन्तरायभूतया न विदन्ति. तेन संसारम् आपद्यन्ते. इदमेव उपाधिरूपत्वं तस्या:, नतु तत्कृतं जीवत्वम्. अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्त:. व्योम्नि यथा उपाधिभि: क्षुद्रै: छिद्राणि इव प्रतीयन्ते, तथा आत्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्मा: प्रतीयन्ते, नतु ब्रह्मधर्मा: इति बोधनार्थं च. उपाधिनाशे इति. तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुः उद्दिधीर्षुः भवति तत्प्रकारक-गुरूपदेशादिभिः अविद्यालक्षणोपाधेः ब्रह्मात्मकत्वावबोधन-प्रतिबन्धकस्य अविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधन-लक्षणे विज्ञाने अनुभवे सम्प**नने** पुरुषोत्तमाविर्भाव-योग्यता जाते इति तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं प्रकर्षेण पश्यति इति अर्थ:. तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवेति न तदतिरिक्तम् अपेक्षते. भजनोपयोग्यर्थापेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यतेति न कदाचित् दु:खी भवति. एतज् ज्ञापनार्थं दृष्टान्त:. (गङ्गातीरस्थितो इति. यद्वद् यथा गङ्गातीरस्थितः तत्र प्रवाहमध्ये देवताम् आधिदैविकीं तां पश्यति, तथा ज्ञानी स्वस्मिन् आत्मनि परं ब्रह्म कृष्णं पश्यति, परं भक्त्या इति विशेष: उभयत्र ज्ञातव्य:. तदभावेतु दर्शनमपि दुर्लभं कुतस्तरां भजनम् इति भाव:. "भक्त्या या दृश्यते क्वचिद्" इति पूर्वम् उक्तत्वात् "भक्त्याहमेकया ग्राह्य" (भाग.पुरा.11।14।21) इति प्रभुवचनात् च).

टीका : जितने जीव हें तिनमेसूं जा जीवको जा प्रकारसूं उद्धार करिवेकी प्रभूनकी इच्छा होय हे वा प्रकारके गुरूनके उपदेशादिकन्सूं अविद्यारूप उपाधिको नाश होय तब नाम-रूप सहित (जड-जीवात्मक) सब जगत् अक्षरब्रह्मरूप हे एसो ज्ञान होय हे. तब गङ्गाजीके तीरपे रहिवेवारो गङ्गाजीको भक्त भक्तिकी अधिकतासूं जेसें गङ्गाप्रवाहमेंही मूर्तिरूप गङ्गाजीको दर्शन करे हे तेसें जगत् तथा अपने आत्माकुं अक्षरब्रह्मात्मक जानिवेवारो ज्ञानी अपनेमें परब्रह्मरूप श्रीकृष्णकुं देखे हे. क्यों जो अक्षरब्रह्म हे सो पुरूषोत्तमको निवासस्थान हे तासूं निवासस्थानरूप अक्षरब्रह्मके ज्ञानसूं तामें रहिवेवारे पुरुषोत्तमको दर्शन सहजमें होय हे॥13॥

जो सेवाको दृढ आग्रही न होय ओर लौकिक ईच्छावारो होय वाकुं कहा फल होय सो लिखे हें:

संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा॥14॥
अपेक्षित-जलादीनाम् अभावत् तत्र दु:खभाक्॥

यथा=जेसे
दूरस्थ:=दूर रह्यो भयो
अपेक्षितजलादीनां=अपेक्षितजलआदिकके
अभावात्=अभावसूं
तत्र=वहां
दु:खभाक्=दुःखको भागी
(भवति=हाय हे)
तथा=तेसें,
य:=जो
संसारी=संसारमें रह्यो भयो
तु=तो(श्रीकृष्णं=श्रीकृष्णकुं)
भजते=भजे हे, स:=वो
(दर्शनाभावात=दर्शनकेअभावमें)
दु:खभाक्=दुःखको भागी
(भवति=होय हे)

भावार्थ : जेसें गङ्गासों दूर स्थित मनुष्य, इच्छित जल ओर दर्शन के न होयवेसों वहां दु:खी होय हे, तेसेंही जो अहन्ता-ममतामें बंध्यो जीव कृष्णकोहु भजन करे तो वो भगवद्दर्शन न होयवेसों केवल दु:खी होय हे.

विवृति : (ननु उक्त-प्रकारक-ज्ञानाभावेऽपि लोके भजनं दृश्यते तत् कथम्? इति अपेक्षायाम् आहु: संसारी इति.) यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरूपदेशङ्का त्रेण भजते, संसार-निवृत्ति-हेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, नतु ब्रह्मभावसम्पत्त्या, पुरूषोत्तमाविर्भावाभावात्, सतु गङ्गातो दूरस्थो यथा तां भजते, तत्र अपेक्षित-तज्जलाप्राप्त्या दु:खी भवति, तथा अयं भक्तिमार्गस्थइति साक्षात्-स्वरूप-सम्बक्ध्यर्थापेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाग् भवति इति अर्थ:. तथापि न स भजनं त्यजति, अङ्गीकारात्प्रभो:. अनङ्गीकारेतु मध्ये भजनप्रतिबन्धेऽपि कृत-भजन-वैयर्थ्यासम्भवात् जन्मान्तरे तत् फलिष्यति इति ज्ञेयम.

टीका : 'संसारी' इतने जाकी अहन्ता-ममता छूटी नाहीं हे एसो यदि प्रभुको भजन करे हे, सो जेसें गङ्गाजीतें दूर रह्यो होय ताकुं इच्छित जल प्रभृतिको अभाव होय तासूं दु:खही भुगते हे तेसें आप (संसारपतित) भक्तिमार्गमें रह्यो होय ताकुं साक्षात् स्वरूपसम्बन्धी अर्थकी अपेक्षा होय ओर मिले नाहीं तब क्लेश भुगते हे. तथापि यदि

वाकी सेवाको प्रभून्ने अङ्गीकार कियो होय तो वो भजनकुं छोडे नाहीं हे ओर कालान्तरमें प्रभु वाकी संसारासक्ति छुडाय देवे हें. ओर यदि प्रभून्ने वाकी सेवाको अङ्गीकार कियो न होय तो बीचमें प्रतिबन्ध होय. तोहु जो भजन कियो हे सो तो कबहु व्यर्थ होय नाहीं. तासूं जन्मान्तरमें फल होय हे॥14॥

निरुपाधिक भावतें भगवत्सेवा करवेवारेनकु उपदेश देत हें:

तस्मात् श्रीकृष्ण-मार्गस्थो विमुक्त: सर्वलोकत:॥15॥
आत्मानन्द-समुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत्॥
तस्मात्=तासूं
श्रीकृष्णमार्गस्थ:=श्रीकृष्णके मार्गमें रह्यो भयो
सर्वलोकत:=सभी लोकसूं
विमुक्त:=विशेष करिके मुक्त होय (सन्=होयके)
आत्मानन्दसमुद्रस्थं=आत्मानन्दरूपि समुद्रमें रहे भये
कृष्णं=श्रीकृष्णको एव=ही
विचिन्तयेत्=विशेषरूपसों चिन्तन करे.

भावार्थ : तासों श्रीभगवन्मार्गमें रहिवेवारो पुरुष तो अहन्ता-ममतारूप संसारसूं अलग रहतो, निज आनन्दसमुद्रमें विहार करते श्रीकृष्णकोही स्मरण करे. अर्थात् लौकिक इच्छानको परित्याग करके केवल प्रभुसेवा करे.

विवृति : (तेन प्रवाहभक्तिमार्गीयः अयं निरूपित:, अन्यथा मध्ये अनङ्गीकार: तेन भजन-प्रतिबन्धादिकं न स्यात्. ननु पुष्टिमार्गं परित्यज्य किं तत्कथनेन इति आशङ्क्य आहु: तस्माद् इति. यस्मात् प्रवाहस्थभक्तेऽपि एवम् अङ्गीकार: प्रभो: यत् जन्मान्तरेऽपि तं न त्यजति. तस्माद् हेतो: श्रीकृष्णमार्गस्थ: पुष्टिमार्गस्थः सर्वलोकतोऽपि मुक्तो भिन्नो विशिष्ट: च इति अर्थ:. 'सर्व'पदात् ज्ञानित:, प्रावाहिकभक्तत: कैमुतिकन्यायेन साधारणलोकत: च इति ज्ञेयम्. ज्ञानिन: संसाराभावात् संसारिणो ज्ञानाभावेन दु:खभाक्त्वम्. पुष्टिमार्गस्य इव प्रभुस्वरूपं ज्ञात्वा सर्वस्वनिवेदनपूर्वकं सर्वात्मभावेन भजनं स्वप्नेपि दुर्लभम्. पुष्टिमार्गीयस्य प्रभ्वनुग्रहैक-नियम्यत्वात् सर्वत: उपपद्यत इति ततो वैशिष्ट्यम्. एतावत् सर्वं श्रीकृष्णमार्गस्थ: पदेन द्योतितम्. अत: सर्वम् अवदातम्. ननु वित्ताद्यभावे पुष्टिमार्गीयस्यापि भजनासम्भवे दु:खित्वात् कथम् उक्तवैशिष्ट्यम्? इति अपेक्षायाम् आहु:) आत्मानन्दसमुद्रस्थम् इति. 'श्रीकृष्ण'पदात्

पुष्टिमार्गीय-भक्त-प्रकटित-निरवध्यानन्देषु विहरन्तम् इति अर्थः. तेतु व्रजरत्नात्मका इति मन्मतिः. स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकः तद्दत्तएव. अतः 'आत्म'पदं भगवत्परम्.

टीका : अहन्ता-ममतात्मक संसारयुक्त भजन करत हें सो क्लेश भुगते हें एसें उपर कह्यो हे. तासूं श्रीकृष्णको मार्ग जो पुष्टिमार्ग हे तामें जो रह्यो हे ओर सर्वलोकसूं विमुक्त हे सो आत्माके आनन्दरूप समुद्रमें रहे एसे श्रीकृष्णकोहि चिन्तन करे. इहां श्रीकृष्णकोहि चिन्तन करिवेको लिख्यो हे ताको अभिप्राय एसो हे जो पुष्टिमार्गीय भक्तनको निरवधि आनन्द जहां प्रकट होय तहां विहार करिवेवारेको चिन्तन करनो. इतने व्रजभक्तनमे विहार करिवेवारे श्रीकृष्णको चिन्तन करिवेतें व्रजभक्तनकीसी नांई लौकिकमेंते मनोवृत्ति निकसिके श्रीकृष्णमेंहि लगे॥15॥

लौकिक कामनानकी पूर्ति करिवेके दुष्टभावसों भगवद्भजनमें प्रवृत्त होयवेवारेको फल कहत हें:

लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा॥16॥
क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा॥
(यः=जो) लोकार्थी=लोकार्थी
(सन्=होयके)चेत्=जो
कृष्णं=श्रीकृष्णको, भजेत्=भजे
(तर्हि=तो, सः=वो)
सर्वथा=सब तरेहसूं
क्लिष्टः=क्लेशवारो,भवति=होय हे
क्लिष्टः=क्लेशवारो
अपि=भी (जनः=लोग)
चेत्=जो, कृष्णं=श्रीकृष्णकुं
भजेत्=भजे(तस्य=वाको)
लोकः=लोक,
सर्वथा=सब तरेहसूं
नश्यति=नष्ट होवे हे
भावार्थ : जो पुरुष लौकिक कामनानके प्रयोजनसूं कदाचित् श्रीकृष्णकी सेवा करे तो वो सब तरहसूं क्लेश पावे हे. ओर क्लेश सहन करतोहु पुरुष यदि भगवद्भजन करे

जाय तो वाको सब तरेहसों अहन्ता-ममतारूप संसार दूर होय हे॥16॥

विवृति : (बहिरसम्भवेऽपि अन्तरेव भजेत्. अतो न उक्तानुपपत्तिः इति भावः. ननु कश्चित् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गतिः? इत्यत आहुः लोकार्थी इति. 'लोक'पदेन लौकिकः अर्थः उच्यते, तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत् तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे, तस्यापि अनर्थरूपत्वेन, तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात्, तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव. अतः क्लिष्टो भवति इति अर्थः. न केवलम् ऐहिकः क्लेशः किन्तु परलोकोपि नश्यति, निषिद्धाचरणादिति सर्वथा इति उक्तम्. यस्य स्वल्पमपि ज्ञानम् स न एवं करोति, सर्वथा तद् रहितः कश्चिद् एवं कुर्यादपि! इति चेद् इति उक्तम्. अत्र मूलनामोक्तिः भजनकर्तुः अभिप्रायेण, अन्यथा तदसम्भवात्. तर्हि लोकार्थित्वाभावेपि तद् रहितस्य भजनासम्भवात् को विशेष? इत्यत आहुः क्लिष्टोपि इति. लौकिकार्थाभावेन क्लिष्टोपि गीतायां नवमे अध्याये "पत्रं पुष्पं फलं तोयम्" (भग.गीता9।26) इति वचनात् कृष्णं चेत् भजेत्, तदा यथासम्भवं भजनम् अर्थादेव सिध्यति, परं लोको नश्यति. लौकिकं न सिध्यति, नतु स्थितं नश्यति, भजनसिद्धौ न तावता कापि हानिः इति भावः. भगवतः तथा इच्छेति सर्वथा इति निरूपितम्. चेद् इति तथा भजनम् अशक्यम् इति ज्ञापनाय)॥16॥

टीका : लौकिक अर्थकी इच्छा राखिके जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय हे सो सर्वथा क्लेश पावे हे. इतने कछु लाभकेलिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो तो 'पाखण्डी' ओर 'देवलक' कह्यो जाय हे. तासूं लाभ-पूजार्थयत्न सिवाय जामें निषेध नाहीं हे एसी रीतसूं "मेरो लौकिक सिद्ध होय" एसी इच्छासूं जो भजनमें प्रवृत्त भयो होय सो 'लोकार्थी' कह्यो जाय हे. सो श्रीकृष्णको भजन करे तब वाकेउपर प्रभूनको अनुग्रह होय. तासूं लौकिकमेंते आसक्ति छुडायवेकेलिये प्रभु वाकी उपेक्षा करें तब सब प्रकारसूं क्लेशकुं प्राप्त होय ओर क्लेशकुं प्राप्त होतो भयोहु श्रीकृष्णकुं जो भजतो रहे हे ताको भीतर तथा बाहिर को लौकिक आग्रह नष्ट होयजाय हे.

संसारी जो भजे हे ताकी व्यवस्था प्रथम लिखी हे. तामें तीन भेद हें. प्रथम तो संसारकी निवृत्तिकी इच्छावारो, दूसरो लौकिक इच्छायुक्त परि सेवाको आग्रही; ओर तीसरो सेवाको अनाग्रही एसे तीनके फल यहां तांई कहे॥16॥

अपनो स्वरूप तथा भगवानको स्वरूप नाहीं जानिवेवारे भक्तहु पुष्टि ओर मर्यादा के भेदसूं दोय प्रकारके होत हें विन दोऊनको चित्त चञ्चल न होयवेकेलिये कहत हें:

ज्ञानाऽभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु॥17॥
मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवतत्परः।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः॥18॥
पुष्टिमार्गी=पुष्टिमार्गमें रह्यो भयो
ज्ञानाभावे=ज्ञानके अभावमें
श्रीभागवततत्परः=श्रीभागवत परायण
(सन्=होयके)
पूजोत्सवादिषु=पूजा-उत्सवादिमें
तिष्ठेत्=रहे
मर्यादास्थः=मर्यादामेंरह्योभयो
तु=तो,
ज्ञानाभावे=ज्ञानके अभावमें
श्रीभागवततत्परः=श्रीभागवतपरायण
(सन्=होयके)गङ्गायां=गङ्गाजीपे
तिष्ठेत्=रहे पुष्टिमार्गे=पुष्टिमार्गमें
अनुग्रहः=कृपा, नियामकः=नियामक हे
इति=या प्राकारकी
स्थितिः=स्थिति(अस्ति=हे)

भावार्थ : पुष्टिमार्गीय भक्त ज्ञानके अभावमें अर्थात् अपने स्वरूप ओर भगवत्स्वरूप को ज्ञान न होय तो, श्रीभागवतमें तत्पर रहतो एकादशस्कन्धमें कही पूजाकी रीति ओर पर्वन् में अनेक उत्सव जहां होते होंय वहां रहे. ओर मर्यादामार्गीय भक्त तो ज्ञानके अभावमें श्रीभागवतमें तत्पर रहतो श्रीगङ्गातटपे रहे. अनुग्रहमार्गमें भगवानको अनुग्रहही स्थान आदिको नियम करिवेवारो हे यह भगवन्मार्गकी मर्यादा हे.
विवृति : स्वस्वरूपज्ञान-प्रभुस्वरूप-ज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टि-मर्यादाभेदेन द्विविधः. उभयोः चित्तचाञ्चल्याभावाय आहुः ज्ञानाभावे इति.

(पुष्टिमार्गी पूजोत्सवादिषु तिष्ठेत्, पुष्टि-पुष्टिमार्गे 'पूजा'पदं तस्य ज्ञानाभावात् प्रथमप्रवृत्त्यभिप्रायेण उक्तम्. मनसः तन्निष्ठतायां कृतिः अर्थादेव सिध्यतीति "तत् कुर्याद्" इति अनुक्त्वा "तत्र तिष्ठेद्" इति उक्तम्. मर्यादायां प्रकारान्तरम् आहुः मर्यादास्थ इति. गङ्गायां गङ्गासमीपे श्रीभागवततत्परः तिष्ठेद् इति पूर्वेण सम्बन्धः.

उभयोः अन्यतरधर्मव्यावृत्त्यर्थं तु शब्दः. तत्र भेदकं किम्? इति आकाङ्क्षायां) पुष्टिमार्गीये विशेषम् आहुः अनुग्रहः इति. तस्य स्थितौ न देशनियमः, किन्तु प्रभुः अनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति तत्रैव तिष्ठति तथा. तस्य विधिः न नियामकः इति भावः.

टीका : अपने स्वरूपको तथा भगवानके स्वरूपको ज्ञान न होय तोहु पुष्टिमार्गीय भक्त श्रीभागवतमें तत्पर होयके पूजा तथा उत्सवादिकनमे रहे. इतने श्रीभागवत एकादशस्कन्धके उन्नीसमें अध्यायमें श्रीकृष्णने उद्धवजीकों अपने धर्म कहे हें जो "मेरो स्मरण करे, सब कार्य मेरेलिये करे, मेरी अमृतरूप कथामें श्रद्धा राखे" तिनमें रहे. ओर मर्यादामार्गीय भक्त तो भगवानके चरणरजके सम्बन्धवारी गङ्गाजीमें श्रीभागवतमें तत्पर होयके रहे. इतने जहां परीक्षितकुं तथा विदुरजीकुं श्रीभागवततें सिद्धि भई हे तहां रहे. ओर पुष्टिमार्गीय भक्तनको रहिवेमें देशको नियम नाहीं हे. जहां प्रभु अनुग्रह करिके राखें तहां रहे. इतने जहां रहिके भगवद्भजनादिकमें आछी रीतसूं प्रवृत्ति रहे तामें प्रतिबन्धादिक कछु न आवे तहां रहे॥17-18॥

मर्यादामार्गीय ज्ञानी ओर भक्त होय तिनके उपर प्रभु विशेष अनुग्रह करें तो मर्यादामार्गीय ज्ञानी तथा भक्त ये दोऊ पुष्टिमार्गकुं प्राप्त होयके पुष्टिभक्तिकुं प्राप्त होय हें सो कहत हें:

उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति।
ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्मान् निरूपितः॥19॥

उभयो:=दोनोनकु
तु=तो, क्रमेण=क्रमसूं, एव=ही
पूर्वोक्ता=पहिले कहीभयी
एव=ही, फलिष्यति=फलित होयगी
(यत:=क्यों)भक्तिमार्ग:=भक्तिमार्ग
ज्ञानाधिक:=ज्ञानसूं अधिक हे
तस्मात्=यासूं, एवं=या प्रकारसूं
निरूपित:=निरूपण कियो

भावार्थ : मर्यादामार्गीय ओर पुष्टिमार्गीय भक्तनकु क्रमसूं पूर्वमें कही मानसी सेवाही प्राप्त होयगी. भेद इतनोही हे के मर्यादामार्गीयकुं अनुग्रहमार्गमें आयवेसूं प्राप्त

होयगी. क्योंकि “क्लेशोधिकतरस् तेषां” (भग.गीता12।5) इत्यादि वचनन्सों यह सिद्ध हे. ओर अतएव भक्तिमार्ग ज्ञानमार्गसूं अधिक हे तासूंहीं एसो निरूपण कियो हे.

विवृति : मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेद् अनुगृह्णाति विशेषत:, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुत इति आहु: उभयोः इति. यदि मर्यादायामेव अङ्गीकार:, तदा उभयोः मुक्तिरेव फलिष्यति इति आशय:. एवं निरूपणे तात्पर्यम् आहु: ज्ञानाधिकः इति. लोके अधुना भक्तेरपि ज्ञानं फलं, तस्य मुक्तिरेव इति सर्वे वदन्ति. तत्र ज्ञानं हि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानम्. ब्रह्म च अक्षरात्मकम्, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च. एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु दूरतर:, तस्य अक्षरातीतत्वात्. अतएव अर्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोः तारतम्यं पृष्ट: स्वभजन आधिक्यम् आह गीतासु द्वादशेऽध्याये. गङ्गायां च क्षराक्षर-पुरुषोत्तम-तारतम्यदृष्टान्त: स्पष्टः. न हि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा, किन्तु जलएव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति. तदतीत-देवतात्मक-दर्शने भक्तत्वम्. न हि भक्त्या देवताद्रष्टृसम: पूर्वो भवति. अतएव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजति इति “यो मामेवमसंमूढ:” इति उपक्रम्य “भजति मां सर्वभावेन” (भग.गीता15।19) इति प्रभुः उक्तवान्. अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोपि भक्तिनिष्ठैव फलम् इति किम् इतो अधिकं वाच्यम्, अनेकप्रमाणसिद्धत्वाद् इति विद्वद्भिः ज्ञेयम्. ऋग्वेदेपि पठ्यते “तमु स्तोतार: पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन, आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे” ‘हे स्तोतारो!’ भगवदुत्कर्षवर्णनपरा: ‘पूर्व्यं’ सर्वकारणकारणरूपं तं लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद् विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूता: ‘ऋतस्य’ सूनृतवाणीरूपस्य वेदस्य गर्भरूपम्. स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मण: उपदिष्टवानिति तथा. ‘जनुषा’ स्वजन्मनैव सम्पूर्णेन, नतु क्षणयाममात्रेण. ‘पिपर्तन’ पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत. अत्र यथावित्त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रिय-प्राणान्त:करण-जीवान् तदर्थमेव तद्भजनार्थमेव उपयुक्तान् कुरुत इति भक्तिमार्गे विनियोगम् उपदिशति. तेन स्फुटमेव ज्ञानमार्गाद् भक्तिमार्गस्य आधिक्यम् अवगम्यते. भक्त्या विना न कोपि पुरुषार्थ: सिध्यति इति हृदयेन आह अग्रे देहादि-सर्व-विनियोगाशक्तौ आसमन्ताज् जानन्तो अखण्ड-शब्द-ब्रह्मरूपं, नतु लौकिकशब्दरूपम् इति. नामस्वरूपं जानन्तः तदेव ‘विवक्तन’ विशेषेण वदन्तु. अधिक-माहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रम् उत कीर्तयन्तु. एतेनैव भगवत्स्वरूप-तन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यति इति आशयेन आह नामस्वरूपम् ‘चिद्’इति. ‘चिद्’ इति उपलक्षणम्. सच्चिदानन्दात्मकम् इति अर्थ:. नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृ-गुरूपसत्ति: कार्या इति आशयेन आह ‘महस्ते’ इत्यादि. ‘ते’ त्वत्सम्बन्धिनं ‘सुमतिं’ निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं

भजामहे. स च स्वतेजसा पराज्ञाननिरासक: इति आह 'मह:' इति. तेजोरूपम् इति अर्थ:. स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येन उत्सवात्मकम् इति वा. एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेशएव उपदिष्टो भवति. एवमेव "तद्विष्णो:" "तद्विप्रास:" इत्यादिश्रुतिसहस्रैः निगद्यत इति सुष्ठूक्तं ज्ञानमार्गाद् अधिको भक्तिमार्ग: इति॥17-19॥

टीका : मर्यादामार्गीय ज्ञानी तथा मर्यादामार्गीय भक्त होंय विनको पुष्टिमार्गमें अङ्गीकार होयगो तो क्रमसूं मानसी सेवाको फल मिलेगो ओर यदि मर्यादामें अङ्गीकार होयगो तो सायुज्यमुक्ति मिलेगी. एसें भक्तिमार्ग हे सो श्रीपुरुषोत्तमकी प्राप्ति करिवेवारो हे तासूं ज्ञानमार्गसूं उत्तम हे सो गङ्गाजीके दृष्टान्तसूं निरूपण कियो हे.

इतने लोकमें कितनेक कहत हें जो भक्तिसूं ज्ञान मिले ओर ज्ञानसूं मुक्ति मिले. परन्तु आत्मा तथा अक्षरब्रह्म की एकताको ज्ञान तथा सब जगत् अक्षरब्रह्मरूप हे एसे जाननो सो 'ज्ञान' कह्यो जाय हे. सो ज्ञान होय तोहु श्रीपुरुषोत्तमको सम्बन्ध तो अतिदूर रहे हे. क्यों जो श्रीपुरुषोत्तम तो अक्षरातीत हे. तासूंहि गीताजीके बारमें अध्यायमें लिख्यो हे जो अक्षरकी उपासनावारेनको क्लेश अधिक होय हे; ओर "जो सब कर्मनको मेरेमें अर्पण करिके मेरे परायण होयके मेरी उपासना करत हें तिनको उद्धार में शीघ्रहि करूंहुं" एसें श्रीकृष्णनें कह्यो हे. तासूं ज्ञानसूं अधिक भक्ति मार्ग हे॥ 19॥

गङ्गाजीको दृष्टान्त दियो हे ताको दूसरो तात्पर्य कहत हें:

भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टै: स्वकर्मभि:॥
अन्यथाभावम् आपन्नस् तस्मात् स्थानाच्च नश्यति॥20॥
यथा=जेसे
तीरस्थ:=तीरपे रह्योभयो
भक्त्यभावे=भक्तिके अभावमें
तु=तो, दुष्टै:=दुष्ट
स्वकर्मभि:=खुदके कर्मन्सूं
अन्यथाभावम्=अन्यथाभावकुं
आपन्न: सन्=प्राप्त होयके

तस्मात्=वा स्थानात्=स्थानसूं
नश्यति=नष्ट होवे हे
(तथा=वेसें)
भक्तोऽपि=भक्त हु
नश्यति=नष्ट होवे हे
भावार्थ : जेसें गङ्गातीरपे रहतो पुरुष, भक्ति न होय तो अपने दुष्टकर्मन्सूं पाखण्डीपनेकुं प्राप्त होयके ओर तीर्थरूप स्थानसूंहु नष्ट होय जाय हे तेसें भक्तहु भक्तिके अभावमें अपने दुष्टकर्मन्सूं वा स्थानसूं भ्रष्ट होयके नीच योनीनमे जन्म ले हे॥ 20॥

विवृति : गङ्गादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरम् आहु: भक्त्यभावे इति. भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवति इति भाव:. एतेन भक्तेः आवश्यकत्वम् उक्तं भवति॥ 20॥

टीका : गङ्गाजीके तीरमें रह्यो होय ओर अपने दुष्टकर्मन्करिके विपरीत भावकुं प्राप्त भयो होय सो जेसें वा स्थानसूं नष्ट होय हे तेसें भक्तिको अभाव होय तो भगवानके सन्निधानवारे देशमें रहत होयतोहु अपने दुष्ट कर्मन्सों पाषण्डीपनेकुं प्राप्त भयो होय सो आरूढपतितहोयहे.

इतने जेसें कोउ ऊंचे स्थलपें चढिके गिरे हे तेसें भक्तिमार्गमें आयो होय ओर भक्ति न होय तो दुष्ट कर्मन्सूं पाषण्डी होयके वा मार्गतें भ्रष्ट होय हे॥20॥

एसें भक्तिको अवश्यपनो निरूपण करिके उपसंहार करतहें:

एवं स्वशास्त्र-सर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्॥
एतद् बुध्वा विमुच्येत पुरुष: सर्व-संशयात्॥21॥

॥इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा॥
एवं=या प्रकारसूं, मया=मेरे द्वारा
स्वशास्त्रसर्वस्वं=अपनेशास्त्रकेसर्वस्व
गुप्तं=गुप्तको, निरूपितं=निरूपणकियो
एतत्=याकु, बुध्वा=जानिके

पुरुष:=पुरुष
सर्वसंशयात्=सभी संशयसूं
विमुच्येत्=विशेषकरिकेंमुक्तहोयहें

विवृति : (सप्रयोजनम् उक्तम् उपसंहरन्ति एवम् इति. उक्तप्रकारेण स्वशास्त्ररूपं स्वशास्त्रस्य वा सिद्धान्तरूपसर्वस्वं गुप्तं स्वल्पेन बहु निरूपितत्वात् गम्भीरतात्पर्यं बहिर्मुखानाम् अज्ञापनीयं वा. किं तेन? इत्यत आहु: एतद् इति. एतज्ज्ञानेन स्वमार्गसम्बन्धि-सर्वसंशयनिवृत्तिः भवति. अन्यथा "संशयात्मा विनश्यति" इति बुद्धिः अन्यथा भवेद् इति अर्थ:)॥20-21॥

इति श्रीपितृपादाब्ज-परागरससिक्तहृत्।
श्रीविट्ठलस्तत्सिद्धान्त-वाङ्मालां हृदये दधौ॥1॥

भावार्थ : या रितिसों मेंने अपने शास्त्रको गोप्य सेवारूप सिद्धान्त कह्यो. याकुं जानिके पुरुष सर्वसन्देहन्सूं मुक्त होय हे॥21॥

टीका : एसें अपने शास्त्रको सर्वस्व जो गुप्त हतो सो मेनें निरूपित कियो हे. ये जो निरूपित कियो हे ताकुं जानिके पुरुष सब संशयन्सूं मुक्त होय॥21॥

या ग्रन्थमें इतनो सिद्ध भयो जो तनुवित्तजा सेवाहि प्रथम साधन हे. सो यथार्थ बने तो प्रभुमें चित्त लीन होय जाय एसी मानसी सिद्ध होय. तब प्रभुसम्बन्धीहि सब कामना होय. तासूं सब ब्रह्मात्मक हे एसे ज्ञानसूं भगवानमे बुद्धि राखनी—— ये साधनकी प्रथम (मुख्य) कक्षा हे. यामें अधिकार न होय तो जे मर्यादापुष्ट हें तिनकों अक्षरब्रह्मात्मक अपनो स्वरूप हे ओर अक्षरब्रह्ममें श्रीकृष्ण विराज़त हें एसो ज्ञान जेसें होय तेसो यत्न करनो—— ये साधनकी द्वितीय (मध्यम) कक्षा हे. यामेंहु जाको अधिकार नाहीं हे सो शरीर, पुत्र, धनादिकनमे अभिमानवारो 'संसारी' कह्यो जाय हे. एसो पुरुष सेवा करतो होय तामें भगवानको उपयोगी पदार्थ मिले नाहीं तब दु:ख पावे तब सेवाहु आछीरीतसूं न बने. एसेकों संसारमेंतें आसक्ति छुटवेकेलिये लीलाविशिष्ट भगवानको चिन्तन करनो—— ये साधनकी तीसरी (हीन) कक्षा हे. ओर जाकों लौकिककी इच्छा निवृत्त नाहीं होय सो तनुवित्तजा सेवा करतो होय तब वाकी परीक्षाकेलिये अथवा प्रारब्धभोगकेलिये प्रभु विलम्ब करे तब लौकिकतें क्लेश होय तोहु भगवत्सेवा छोडे नाहीं तो लौकिकासक्ति छूट जाय. एसो जो पुष्टिमार्गीय होय तो

श्रीभागवतके पाठ श्रवणादिकमें तत्पर होयके इच्छानुकुल देशमें रहिके पूजोत्सवादिक करनो. ओर एसो यदि मर्यादामार्गीय होय तो गङ्गाजीके तीरमें रहिके श्रीभागवत्को श्रवण अथवा पाठ वारंवार कर्यो करे—— ये साधनकी चोथी (अतिहीन) कक्षा हे. ओर जो तनुवित्तजा सेवा करतो होय तामें भक्तिहु न होय सो पांचमों आरूढपतित कह्यो जाय हे. सो वारंवार जन्मकुं प्राप्त होयके संसारको अभिनिवेश शिथिल होय तब मुक्त होय. ओर यदि संसारको अत्यन्त अभिनिवेश होय तो मुक्तहु न होय. तासूं संसारावेश छोड़िके भक्तिकेलिये तनुवित्तजा सेवामें यत्न करनों.

॥इति श्रीवल्लभाचार्यविरचित सिद्धान्तमुक्तावलीकी
गोस्वामि श्रीनृसिंहलालजीमहाराज विरचिता
भावार्थसंक्षेप**टीका** सम्पूर्ण भई॥

पुष्टि-प्रवाह-मर्यादाभेद: ग्रन्थपरिचय

गो. श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ़-पार्ला)

कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभु दैवी तथा आसुरी जीवोंके भिन्न-भिन्न होनेके गीताप्रतिपादित सिद्धान्तको तो मान्य करते थे पर दैवी जीवोंके अवान्तर भेद— पुष्टिजीव और मर्यादाजीवके भिन्न-भिन्न होनेका सिद्धान्त श्रीमहाप्रभुने अपनी वयके उत्तरार्धमें स्थापित किया था. अतएव पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थका रचनाकाल श्रीमहाप्रभुके अडैलमें स्थिर निवासके समयके आसपास निर्धारित किया जाता है.

इस विषयमें यह दृष्टव्य है कि निबन्धका शास्त्रार्थप्रकरण श्रीमहाप्रभुकी प्रथम रचना है यह तो प्रायः सर्वमान्य है. इस ग्रन्थकी कारिका 45-52का अवलोकन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि निबन्धके रचनाकालमें भी पुष्टिजीव, मर्यादाजीव और प्रवाहजीवों के भिन्न-भिन्न होनेकी धारणा श्रीमहाप्रभुकी दार्शनिक मान्यताओंमे स्थान ले चुकी थी. एतदर्थ कुछ शब्दप्रयोगोंपर लक्ष्यपात अपेक्षित है. यथा:

1.तत्त्वसृष्टिप्रवृत्तानां दैवानां मुक्तियोग्यता. (का. 46)
2.ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मनैव सुखप्रमा,
सङ्घातस्य विलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषतः,
सर्वेन्द्रियैस्तथाचान्तःकरणैरात्मनापि हि,
ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते. (का. 50-51)
3.तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित् कस्यचिद् भवेत्,
कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चयः. (का. 47)

यहां स्पष्टतया मुक्तियोग्य जीवोंमेसे किसीको ब्रह्मानन्द और किसीको भजनानन्द मिलता है यह निश्चित हुवा है. मर्यादाविधिके अनुसार तीर्थ आदिद्वारा जिन्हें मुक्ति मिलती है वह भी कृष्णकी मुक्तिदानकी इच्छापर

अवलम्बित है यह भी कहा गया है. इन कारिकाओंपर लिखे गये प्रकाशके अध्ययन करनेपर भी मर्यादाजीवों और पुष्टिजीवों के प्रभेदकी धारणा स्फुट हो जाती है. यथा

“ये सात्त्विका: दैव्यां सम्पदि जाता: विध्युपजीविनः सर्वदा तेषां मुक्ति: भविष्यति” (प्रका. 46) तथा

“स्वतन्त्रभक्तानां तु गोपिकादितुल्यानां सर्वेन्द्रियै: तथा अन्तःकरणैः स्वरूपेण च आनन्दानुभवः, अत: भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहितगृहाश्रमएव विशिष्यते”
(प्रका. 50-51).

इन उद्धरणोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि दैवीजीव तथा आसुरीजीव का भेद और इसी तरह विध्युपजीवी मर्यादाजीव तथा स्वतन्त्र पुष्टिजीवका अवान्तर प्रभेद भी श्रीमहाप्रभुको निबन्धमें भी विवक्षित है ही. ऐसी स्थितिमें इस पूर्वोक्त आधारपर ग्रन्थका रचनाकाल निर्णीत कर पाना कठिन है. यह ग्रन्थ किस अवसरपर तथा किस अनुयायीकेलिये लिखा गया था यह पता नहीं चलता. इसके अलावा यह ग्रन्थ पूर्णतया उपलब्ध नहीं होता है यह ग्रन्थके प्रारम्भमें की गयी प्रतिज्ञासे स्पष्ट हो जाता है. विभिन्न व्याख्याकार भी इस बातका उल्लेख करते हैं.

सर्गभेद-कारणभेद, फलभेद, मार्ग या साधनभेद तथा जीवोंके स्वरूपादिभेदके आधारपर पुष्टिमार्ग मर्यादामार्ग तथा प्रवाहमार्ग परस्पर भिन्न-भिन्न हैं यह श्रीमहाप्रभु इस ग्रन्थके द्वारा हमें समझाना चाहते हैं. उपलब्ध ग्रन्थके पूर्ण न होनेके कारण यह कह पाना अब कठिन है कि इदम् इत्थन्तया श्रीमहाप्रभुने किस प्रकारसे पूर्वोक्त मार्गोंका पृथक्करण विश्लेषण एवम् वर्गीकरण किया था. उपलब्ध अंशके अध्ययनसे तीन तरहकी सम्भावनायें

प्रकट होती हैं. यह सब समानन्यायकी सामान्य युक्तिपर की गयी सम्भावनायें हैं, जिनका तुलनात्मक प्रामाण्य अन्य ग्रन्थोमें श्रीमहाप्रभुके द्वारा इस विषयके बारेमें किये गये विधानोंके साथ संवादपर अवलम्बित है.

१. प्रथम सम्भावित वर्गीकरण:

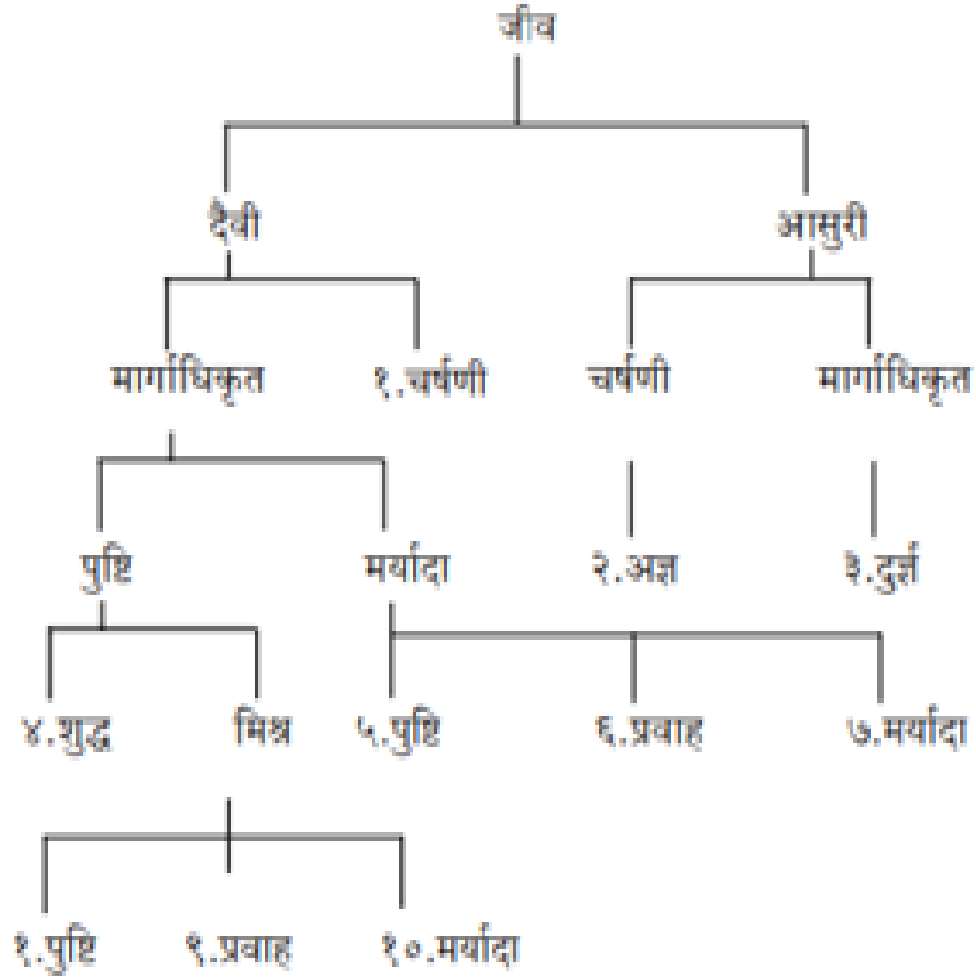

कुल: १०

२. द्वितीय सम्भावित वर्गीकरण:

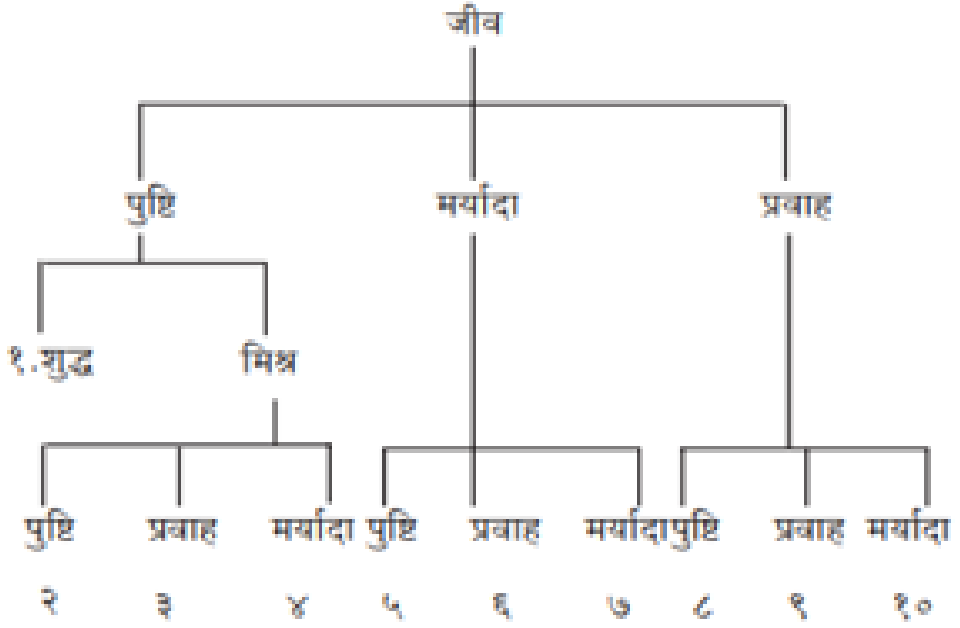

कुल: १०

३. तृतीय सम्भावित वर्गीकरण:

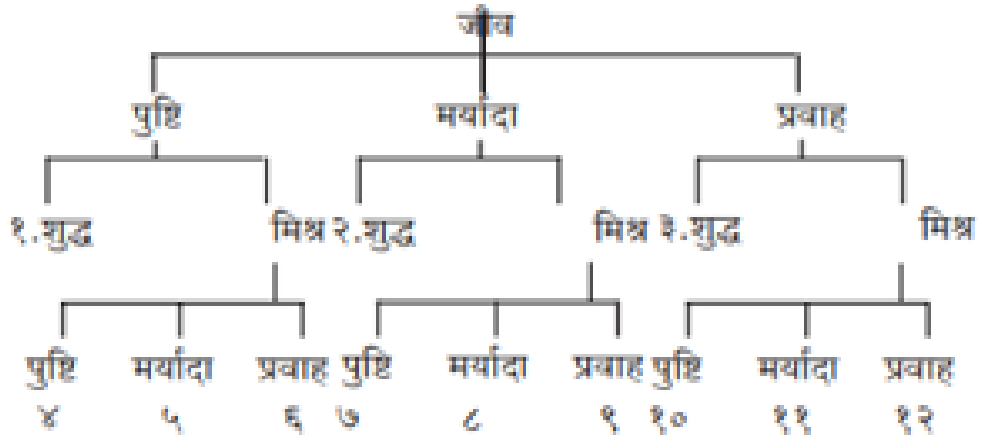

कुल: १२

इनमें श्रीमहाप्रभुको अभिप्रेत वर्गीकरण कौनसा है यह केवल पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थके आधारपर निर्विवाद निर्णीत नहीं हो पाता.

जीवोंके उपर्युक्त वर्गीकरणके अलावा मार्गभेद सर्गभेद एवम् फलभेदके आधारपर अन्य विशेषताओंका भी निरूपण यहां श्रीमहाप्रभुको अभिप्रेत है.

1.मार्गभेद:

पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा विशेषेण पृथक्-पृथक्॥
जीव-देह-क्रिया-भेदै: प्रवाहेण फलेन च॥1॥
वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यच्छ्रुते:॥

पुष्टिमार्ग मर्यादामार्ग तथा प्रवाहमार्ग इन तीनों मार्गोंकी कुछ अपनी-अपनी विशेषतायें हैं. तदनुसार ये तीनों मार्ग परस्पर भिन्न-भिन्न हैं. तत्तत् मार्गोमें जीवोंके स्वरूप, उनके देह, उनकी रुचि, उनके व्यवहार तथा अन्तमें उन्हें मिलनेवाले फलके तारतम्यको दृष्टिगत करने पर मार्गभेदको भलीभांति समझा जा सकता है.

भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय:॥2॥
"द्वौ भूतसर्गा"वित्युक्ते: प्रवाहोपि व्यवस्थित:॥
वेदस्य विद्यमानत्वात् मर्यादापि व्यवस्थिता॥3॥
"कश्चिदेवहि भक्तोहि यो मद्भक्त" इतीरणात्॥
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चय:॥4॥
न सर्वोऽत: प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदत:॥
'यदा यस्ये"ति वचनात् "नाहं वैदै:" इतीरणात्॥5॥

यह मार्गभेदकी धारणा शास्त्रीय प्रमाणोंपर अवलम्बित है. शास्त्रके अनुसार सारे लौकिक कर्मोंका उत्स कर्मकर्ता जीवके प्राकृत स्वभावमें तथा लौकिक प्रयोजनोंकी पूर्तिके प्रयासमें निहित रहता है. वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान

स्वभावसे प्राप्त नहीं होता. किन्तु शास्त्रीय आज्ञाओंके अनुसरण करनेकी मनोवृत्तीसे प्राप्त होता है. फिर भी शास्त्रीय आज्ञायें स्त्री-पुरुष बालक-वृद्ध या ब्राह्मण-शूद्र आदिके देह और उनसे सम्बधित विविध अभिमानोंको लक्ष्यमें रख दी गयी हैं. अतएव "त्रैगुण्यविषयाः वेदाः" कहा जाता है.

इन लौकिक तथा वैदिक कर्मोंसे ऊपर उठनेकी ज्ञानमार्गमें जैसी सक्क्यासकी एक शास्त्रीय प्रक्रिया है, वैसी ही निर्गुण भक्तिमार्गीय सर्वसमर्पणकी भी एक शास्त्रवर्णित प्रक्रिया है. इसी अलौकिक निर्गुणा भक्तिके प्रकारको 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है. गीतामें दैवी सृष्टिसे भिन्न एक आसुरी सृष्टि दिखलायी गयी है वह प्रवाहमार्ग है. वेदोंमे वैदिक धर्मकी विभिन्न मर्यादाओंके निरूपण मिलते ही हैं और वह मर्यादामार्ग है.

इससे सिद्ध होता है कि जैसे प्रवाहमार्ग और मर्यादामार्ग परस्पर भिन्न हैं, वैसे ही इन दोनोंसे पुष्टिमार्ग भी एक भिन्न मार्ग ही है. सभी जीव अतः पुष्टि मार्गीय नहीं माने जा सकते हैं. लौकिक या वैदिक सभी तरहकी कामनाओं और प्रयोजनोंसे ऊपर उठकर जो जीवात्मा केवल भगवानकी ही भक्तिमें परायण हो जाती हैं उन्हें प्रवाहमार्गीय या मर्यादामार्गीय नहीं गिना जा सकता है.

"आत्मभावित भगवान् जिस जीवपर अनुग्रह करते हैं वही जीव लोकवेदोंमे अपनी परिनिष्ठत बुद्धिसे छुटकारा पा सकता है" (भागवत) तथा

"वेद, तप, दान, याग आदि किसी भी साधनसे मेरा दर्शन इस तरह कर पाना शक्य नहीं है, जैसा तुमने पाया है. अर्जुन! यह तो केवल अनन्य भक्तिके कारण ही मुझे इस तरह जाना जा सकता है, तत्त्वतः देखा जा सकता है और अन्तमें मुझमें प्रवेश भी पाया जा सकता है" (गीता)

—इन दो वचनोंसे क्रमशः विशेष अनुग्रह और तज्जन्य भक्तिका सुस्पष्ट निरूपण हमें मिलता है. इस तरह अन्यत्र भी ऐसी उत्कृष्ट भक्तिके निरूपणके बलपर उसके कारणभूत अनुग्रह या पुष्टिमार्गका अनुमान किया जा सकता है.

मार्गैकत्वेऽपि चेदक्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ॥
न तद् युक्तं सूत्रतो हि भिन्नो युक्त्या हि वैदिक:॥6॥

यहां यह शमा उठ सकती है कि मार्ग भिन्न-भिन्न नहीं मानने चाहिये किन्तु इनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होनेके सोपानोंका सा सम्बन्ध मानना चाहिये. प्रवाहके सोपानसे उत्कृष्ट मर्यादाका सोपान है तथा सर्वोत्कृष्ट सोपान निर्गुणावस्थाका है. यह शमा उचित नहीं है. क्योंकि श्रौत युक्ति तथा ब्रह्मसूत्र दोनोंसे उक्त धारणा विपरीत है.

जीव-देह-कृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुते:॥
यथा तद्वत् पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधत:॥7॥
प्रमाणभेदाद् भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपित:॥

जैसे आसुरी जीव तथा दैवी जीवोंका नित्यभेद श्रुतिसिद्ध है. उनके देह तथा कर्मों की भिन्नता भी श्रुतियोंमे वर्णित है. इसी तरहसे दैवी जीवोंके अन्तर्गत पुष्टिजीव और मर्यादाजीवों के स्वरूप देह तथा कर्मोंमें भी परस्पर भिन्नता स्वीकारनी चाहिये. अतः पुष्टिमार्ग, मर्यादामार्ग तथा प्रवाहमार्ग का भेद प्रमाणसिद्ध ही है.

2.सर्गभेद:

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्ग-क्रियायुतम्॥8॥
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरि:॥
वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चय:॥9॥

पुष्टिमार्ग, मर्यादामार्ग तथा प्रवाहमार्गके प्रमाणसिद्ध भेदके विचारके बाद अब इन मार्गोंकी सृजनप्रक्रियाके भेदको भी समझ लेना चाहिये.

भगवान् स्वयम्के मनके द्वारा प्रवाहमार्गका सृजन प्रवर्तन तथा नियमन करते हैं. अतः प्रवाहमार्गीय जीवोंके विशिष्ट स्वरूप देह तथा व्यवहारकी नियति केवल ब्रह्मकी इच्छापर ही निर्भर है. वैदिक मर्यादामार्गीय जीवोंके विशिष्ट स्वरूप देह तथा व्यवहारका भगवान् वेदरूपा वाणीके द्वारा सृजन प्रवर्तन तथा नियमन करते हैं. पुष्टिमार्गीय जीवोंके विशिष्ट स्वरूप देह तथा व्यवहारका सृजन प्रवर्तन तथा नियमन श्रीकृष्ण अपने प्रकट आधिदैविक स्वरूपके द्वारा करते हैं.

इस तरह इन मार्गोंमे सर्गभेद अथवा सृजनकी प्रक्रियामेंभीभेद हैं.

3.फलभेद:

मूलेच्छात: फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेपि च॥
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्नेच्छातोऽपि नैकता॥10॥

प्रवाहमार्गीय जीवोंकी कामना एवम् आचरणके अनुकूल या प्रतिकूल फल प्रभु स्वयम् अपनी इच्छानुसार निर्धारित करते हैं तथा उन्हें प्रदान करते हैं. मर्यादामार्गीय जीवोंके वेदविहित धर्मार्थकामरूप पुरुषार्थोंके अनुष्ठानका फल वेदादि शास्त्रोंमे निरूपित विविध मोक्षोंके रूपमें प्रभु देते हैं. पुष्टिमार्गीय जीवोंके भजनानन्द सम्बन्धी मनोरथोंकी पूर्ति श्रीकृष्ण अपने आधिदैविक स्वरूपके द्वारा करते हैं.

“तानहं द्विषतो” वाक्याद् भिन्ना जीवा: प्रवाहिण:॥
अतएवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशत:॥11॥

“मैं उन आसुरी जीवोंको निरन्तर अशुभ योनिमें डालता रहता हूं” (गीता) —इस वचनके आधारपर निरन्तर अशुभ भवप्रवाहमें बहनेवाले प्रवाही जीवोंसे मर्यादामार्गीय तथा पुष्टिमार्गीय जीवोंके फलको भिन्न मानना पड़ता है. क्योंकि इन्हें भवप्रवाहसे छुडाया जाता है तथा मोक्ष प्रदान किया जाता है.

(क-1)पुष्टिमार्ग:

तस्माज् जीवा: पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशय:॥

इस तरह मार्गभेद सर्गभेद एवम् फलभेद के आधारपर पुष्टिमार्गीय जीवोंको अन्य जीवोंसे भिन्न मानना ही चाहिये.

भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टि: नान्यथा भवेत्॥12॥
स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च॥
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा॥13॥
तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि॥

यह पुष्टिसृष्टि भगवान्के आधिदैविक स्वरूपकी सेवाकेलिए ही प्रकटकी गयी है. अतः भगवत्सेवाके अतिरिक्त अन्यत्र किसी कर्म या प्रयोजनमें पुष्टिसृष्टिके जीवोंका तत्पर होना भगवानको अभिप्रेत नहीं है. बाह्य दृष्टिसे पुष्टिमार्गीय जीवोंके स्वरूप देह स्वभाव एवम् व्यवहार तो सभी जीवोंके समान ही प्रतीत होते हैं. परन्तु अन्ततः आधिदैविक स्वरूपके भजनानन्दमें ही इन पुष्टिजीवोंको आकर्षण और सन्तोषका अनुभव होगा. क्योंकि इनसे यही काम प्रभु लेना चाहते हैं.

(क-2)पुष्टिसर्ग:

ते हि द्विधा शुद्ध-मिश्र—भेदान् मिश्रास्त्रिधा पुन:॥14॥
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये॥
पुष्ट्या विमिश्रा: सर्वज्ञा: प्रवाहेण क्रियारता:॥15॥

मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धा: प्रेम्णातिदुर्लभा:॥

इस पुष्टिसृष्टिके पुनः दो अवान्तर भेद होते है:

1.शुद्ध पुष्टिसृष्टि

2.मिश्र पुष्टिसृष्टि

मिश्र पुष्टिसृष्टिके तीन अवान्तर भेद होते हैं. यथा:

1.पुष्टि-पुष्टिसृष्टि

2.मर्यादा-पुष्टिसृष्टि

3.प्रवाह-पुष्टिसृष्टि

1.पुष्टि-पुष्टिसृष्टिके जीव सर्वविध माहात्म्यज्ञानयुक्त तथा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहपूर्वक कृष्णसेवामें परायण होते हैं.

2.मर्यादा-पुष्टिसृष्टिके जीव भगवान् श्रीकृष्णकी लीला-कथाओंके द्वारा भगवानके गुणोंके प्रेमपूर्वक चिन्तन (श्रवण-स्मरण-कीर्तन) में परायण हो जाते हैं.

3.प्रवाह-पुष्टिसृष्टिके जीवोंमे न तो भलीभांति माहात्म्यज्ञान ही होता है और न उत्कट स्नेह ही. फिर भी कृष्णभजनके क्रियात्मक बाह्यरूपमें इनकी रुचि एवम् तत्परता होती है.

मिश्र पुष्टिसृष्टिके इन तीनों प्रकारोंसे विलक्षण शुद्ध पुष्टिसृष्टिके जीव होते हैं. इन्हें भगवान्के प्रति स्नेह किसी प्रमाणबलके आधारपर नहीं होता किन्तु भगवान् इनके समक्ष स्वयम् प्रकट होकर अपने आधिदैविक स्वरूपके प्रमेयबलसे इन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं. इनका भगवानके प्रति स्नेह उत्कृष्ट सहज एवम् शुद्ध अर्थात् अन्य किसीभी भाव या प्रयोजनसे अमिश्रित रहता है. यह अतिदुर्लभ प्रकारकी पुष्टिसृष्टि है.

(क-3)पुष्टिफल:

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते॥16॥
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद्भुवि॥
गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्॥17॥

पुष्टिमार्गीय जीवोंका साधन जैसे भगवानकी पुष्टि या अनुग्रह है वैसे ही फल एकमात्र स्वयम् भगवान् ही हैं.

तत्तद् भक्तोंकेलिए गुण और स्वरूपके भेदोंके अनुसार जैसे-जैसे रूपधारण कर भगवान् प्रकट होते हैं, उन-उन निजी भगवद्रूपोंके साथ पुष्टिसृष्टिके विभिन्न जीवोंकी फलानुभूति सम्पन्न होती है.

आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित्॥
अहमारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि॥18॥
न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवः॥
महानुभावाः प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे॥19॥

इन निजी भगवद्रूपोंसे अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी पुष्टिमार्गीय जीवकी आसक्ति जब भगवान् देखते हैं तो शाप भी दिलवाते हैं. कभी-कभी इन्हें साहमार देखकर भी भगवान् शाप दिलवाते हैं. और तब ये पुष्टिजीव भूतलपर प्रकट होते हैं. कभी-कभी भूतलपर पुष्टिमार्गको प्रकट करनेकेलिए भी पुष्टिजीवोंको भूतलपर प्रकट किया जाता है. लोकमें आनेपर भी ये दैहिक रोगादिके उपद्रव अथवा मानसिक पाषण्डता आदिके उपद्रवसे ग्रस्त नहीं हो जाते. इन महानुभावोंका भूतलपर प्राकट्य, चाहे शापवश भी क्यों न हो, होता है प्रायः शुद्धताकेलिए ही.

भगवत्तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि॥
लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा॥20॥
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः॥

भगवान् इन जीवोंकेलिए अपने स्वरूप तथा अपनी लीलामें जैसा तारतम्य प्रकट करते हैं तदनुसार इन भक्तोमें भी तारतम्य घटित हो जाता है. लौकिक व्यवहारका निर्वाह तथा वैदिक कर्तव्योंका पालन ये महानुभाव लोकमें बुद्धिभेद न पैदा हो जाये एतदर्थ अर्थात् लोकसङ्ग्रहार्थ ही करते हैं. इनकी सहज तथा उत्कट रूचि तो अपनी वैष्णवताके निर्वाहमें ही होती है — लौकिकता या वैदिकता के निर्वाहमें नहीं.

इस तरह पुष्टिजीवोंके मार्ग सर्ग एवं फलका निरूपण सम्पूर्णहुआ.

कभी-कभी इन पुष्टिमार्गीय जीवोंके साथ सदा-सर्वदा भटकते रहनेवाले चर्षणी जीव भी सम्मिलित हो जाते हैं. अतः उनके स्वरूपका भी थोड़ा-बहुत निरूपण यहां अप्रसङ्गोपात न होगा.

चर्षणीजीव:

सम्बन्धिनस्तु ये जीवा: प्रवाहस्था: तथाऽपरे॥21॥
'चर्षणी'शब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु॥
क्षणात् सर्वत्वम् आयान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित्॥22॥
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम्॥

दैवी जीवोंके सङ्गके कारण कुछ अदैवी जीवोमें भी कभी-कभी तात्कालिक रूपमें दैवी लक्षण दिखलायी देने लगते हैं. पर ये लक्षण उन जीवोमें चिरस्थायी नहीं होते. ऐसे जीवोंको 'चर्षणी जीव' कहा जाता है. चर्षणी प्रतिदिन नये-नये मार्गोंपर भटकते रहते हैं नये नये रङ्ग बदलते रहते है. इनका अपना कोई स्थायी रङ्ग अथवा स्वभाव नहीं होता. जिनके साथ सम्मिलित हो जाते हैं, उतने समयकेलिए उनके गुण-धर्मोंको अपना लेते हैं. अपने नित्य-नूतन बदलते हुए रङ्गोमें कुछ न कुछ तात्कालिक फल अथवा अनुभूतियां इन्हें होती रहती हैं. दैवी जीवोंका सङ्ग पाकर दैवी शील प्रकट

करते हैं तथा आसुरी जीवोंका सङ्ग पाकर ये आसुरी शील प्रकट करते हैं. स्थिर ये कहीं भी नहीं हो पाते.

(ख-1)प्रवाहमार्ग:

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्गक्रियायुतान्॥23॥
जीवास्ते ह्यासुरा: सर्वे "प्रवृत्तिं चे"ति वर्णिता:॥
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्ययज्ञ-दुर्ज्ञविभेदत:॥24॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्ययज्ञास्तान् अनु ये पुन:॥

प्रवाहमार्गीय जीवोंके स्वरूप देह एवम् व्यवहार का अब निरूपण किया जाता है.

सभी आसुरी सृष्टिके जीवोंको प्रवाहमार्गीय समझना चाहिये. गीतामें इनका निरूपण "इन्हें न उचित प्रवृत्तिका और न उचित निवृत्तिका ही बोध होता है" कहकर किया गया है. प्रवाही जीवोंके दो अवान्तर भेद होते हैं. यथा:

1.अज्ञ प्रवाही जीव
2.दुर्ज्ञ प्रवाही जीव

1.आसुरी सृष्टिके जिन जीवोंका वर्णन भगवानने गीतामें किया है उन्हें दुर्ज्ञ प्रवाही जीव समझना चाहिये.
2.इन दुर्ज्ञ प्रवाही जीवोंके सङ्गवशात् प्रवाही स्वभाव या लक्षण प्रकट करनेवाले जीवोंको 'अज्ञ प्रवाही जीव' कहा जाता है.

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थ: तैर्न युज्यते॥25॥
सोऽपि तैस्तत्कुले जात: कर्मणा जायते यत:॥

पुष्टि जीव जैसे प्रवाहमार्गीय कुलमें जन्मग्रहण करनेपर भी प्रवाहमार्गीय वातावरणमें अपना ताल-मेल नहीं बैठा पाता, ठीक उसी तरह प्रवाहमार्गीय जीव पुष्टिमार्गीय कुलमें भी जन्मग्रहण कर ले परन्तु पुष्टिमार्गीय

वातावरणके साथ वह अपना ताल-मेल नहीं बैठा पायेगा ... (यहांसे ग्रन्थ त्रुटित हो जाता है.)

ग्रन्थके प्रारूपके अनुसार अधोलिखित विषयोंपर प्रकाश अपेक्षित है.

(ख-1) प्रवाहमार्गीय जीवोंके देह एवं व्यवहारका निरूपण.
(ख-2) प्रवाहसर्ग
(ख-3) प्रवाहफल
(ग-1) मर्यादामार्ग
(ग-2) मर्यादासर्ग
(ग-3) मर्यादाफल तथा
(घ) उपसंहार

॥ पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः ॥

या जगत्में जितने जीव हें तितने सब चिदंशरूपसों तथा भगवदंशपनेसों समान हें. तिनमें कितनेकनको श्रीपुरुषोत्तमकी प्राप्ति होय हे, कितनेकनको अक्षरब्रह्मकी प्राप्ति होय हे, कितनेकनको स्वर्गादिकनकी प्राप्ति होय हे ओर कितनेकनको अन्धतमकी प्राप्ति होय हे. तहां शङ्का होय हे जो एसें फलमें भेद क्यों होय हे? ओर स्वभावमें भेद क्यों हे? ओर कितनेकनके स्वभावतें विरूद्ध देह तथा क्रिया हे तो कितनेकनके स्वभावानुकूल देह तथा क्रिया हे इत्यादिक भेद क्यों हे? एसें सन्देहवारेनके सन्देह मिटायवेकेलिये विनके उपायभूत मार्ग तथा मार्गकि सामर्य को निरूपण करिवेकेलिये, सबनको भेद जानिवेतें सब सन्देहनकी निवृत्ति होयगी ऐसें विचारिके, तीन मार्गनके भेदको निरूपण करत हें:

पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा विशेषेण पृथक्-पृथक्॥
जीव-देह-क्रिया-भेदै: प्रवाहेण फलेन च॥1॥
वक्ष्यामि सर्वसन्देहा न भविष्यन्ति यत् श्रुते:॥

पृथक्-पृथक्=अलग-अलग
विशेषेण=विषेशरूपसों
जीव-देह-क्रिया-भेदै:=जीव देह
ओर क्रियाके भेदसों
प्रवाहेण=प्रवाहसों
च=ओर फलेन=फलसों
पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा:=पुष्टि,
प्रवाह ओर मर्यादा(अहं=मैं)
वक्ष्यामि=कहि रह्यो हुं
यत्=जो श्रुतेः=सुनिवेसूं
सर्वसन्देहाः=सब प्रकारके सन्देह
न=नाहीं भविष्यन्ति=होंयगे

भावार्थ-टीका : पुष्टि, प्रवाह ओर मर्यादा ये तीनों जुदे जानिवेमें आवें एसे—— 1.विनके धर्मकरिके, 2.जीवादिकनके भेदन्सूं सृष्टिकी परम्परा अविच्छिन्न चली आवे हे ताकरिके; ओर 3.विनकों फल मिले हे ताकरिके ——कहूंगो, जाके श्रवणतें सब सन्देह न होंयगे. इतने विनके धर्म, जीवको स्वरूप, देह, क्रियाके भेद, सृष्टि तथा विनके फलको ज्ञान होयगो तब सब सन्देह निवृत्त होंयगे॥11—ञ्ए2॥

भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिर् अस्तीति निश्चय:॥2॥

भक्तिमार्गस्य=भक्तिमार्गके
कथनात्=कहिवेसूं
पुष्टि:=पुष्टि
अस्ति=हे
इति=एसो
निश्चय:=निश्चय
(अस्ति=हे)

भावार्थ : शास्त्रनमे भक्तिमार्ग जुदोही कह्यो हे तासूं निश्चय होय हे के भगवानको अनुग्रह हे. ओर ताहीसूं यहहु मालुम पड़े हे के पुष्टि(अनुग्रह) मार्गहु जुदोही हे.

टीका : यालोककी तथा परलोककी कामना छांडिके प्रभुमें मन लगावनों सो 'भक्ति' कहि जाय हे. सो भक्ति प्रभुनके अनुग्रहसूं मिले हे. तासूंही पञ्चमस्कन्धमें ऋषभदेवजीके चरित्रकी समाप्तिमें कह्यो हे जो "मोक्ष देयवेवारे भगवान् भजन्करिवेवारेनको मुक्ति देंय हे परन्तु काहु समय भक्तियोग नाहीं देंय हें". तेसें श्रीदेवकीजीने स्तुति करी तब प्रभुनके माहात्म्यको ज्ञान हतो तासूं सब माहात्म्यको वर्णन कियो ता पाछें सुदृढ स्नेह भयो तब माहात्म्यकुं भूलिकें कह्यो जो "आपकेलिये मेरी बुद्धिमें धैर्य नाहीं रहे हे, में कंससूं डरपुं हुं". सो ये सुदृढ स्नेहको स्वरूप हे. तासूं प्रभूनको जब अनुग्रह होय तब एसी भक्ति मिले हे. वा अनुग्रहको नाम 'पुष्टि' हे. जेसें कोऊने पाप कियो होय ताको निवारण (प्रायश्चित) कष्टसूं बने एसे होय परन्तु ताकेलिये विद्वाननकी सभा भरी होय सो अनुग्रहसूं सुगम प्रायश्चित कहे तो सुगमतासूं वाको निवारण होय सके हे. जेसें कर्ममार्गमेंहु अनुग्रहकी प्रार्थना होय हे सो फल सिद्ध होयवेकेलिये हे तेसें सुकर साधनरूप भक्तिमार्ग
श्रीकृष्णभगवानने उद्धवजीप्रति कह्यो हे, तासूं ताके मूलभूत पुष्टि हे एसो निश्चय हे॥ 2॥

एसें पुष्टिकी विद्यमानताको निरूपण करिके प्रवाह तथा मर्यादा की विद्यमानताको निरूपण करत हें:

"द्वौ भूतसर्गा"वित्युक्तेः प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः॥
वेदस्य विद्यमानत्वात् मर्यादापि व्यवस्थिता॥3॥

द्वौ=दो
भूतसर्गौ=जीवसृष्टि
इति=एसो, उक्तेः=कहिवेसूं
प्रवाहः=प्रवाह
अपि=हु
व्यवस्थितस्थित

(अस्ति=हे) (किंच=ओर)
वेदस्य=वेदके
विद्यमानत्वात्=विद्यमान् होयवेसूं
मर्यादा=मर्यादा, अपि=हु
व्यवस्थिता=विशेषरूपसूं स्थित
(अस्ति=हे)

भावार्थ : गीताजीमें श्रीकृष्णने अर्जुनसूं कही हे के “या लोकमें दैव ओर आसुर भेदसों प्राणीनकी दो तरहकी सृष्टि हें” (या वचनमें आसुर जीवनकी पृथक् गणना करी हे) तासूं प्रवाहमार्गहु सिद्ध हे. ओर कर्मादिकी व्यवस्था करिवेवारो वेद विद्यमान हे तासूं सिद्ध हे के मर्यादामार्गहु अनादिकालसूं चल्यो आवे हे.

टीका : दैव ओर आसुर एसे विभागसूं जो सृष्टिकी परम्परा अविछिन्न चली आवे हे ताको नाम ‘प्रवाह’ हे. इतने नदीको प्रवाह जेसें आरम्भसूं अन्त तांई चल्यो जाय हे तेसें दैव ओर आसुर ये दोय प्रकारकी सृष्टिको प्रवाह प्रलय पर्यन्त चल्यो जाय हे. नाहीं तो श्रीकृष्णनें दोऊको विभाग कियो हे सो व्यर्थ होय जाय. गीताजीमें कह्यो हे जो “दैव ओर आसुर ऐसें दोय प्रकारके भूतसर्ग हें”. तासूं सिद्ध होय हे जो प्रवाहहु रह्यो हे. ओर कर्म तथा ज्ञानादिकनके प्रकारको जो नियम हे ताको नाम ‘मर्यादा’ हे. सो पूर्वकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड रूप वेद जगतमें विद्यमान हे तासूं कर्म तथा ज्ञानादिकनके प्रकारको नियम रह्यो हे. तासूं मर्यादाहु रही हे.

यहां एसें समजनो जो भगवानके अनुग्रहप्रयुक्त भक्तिमार्ग जितने हें तिन सबनको अन्तर्भाव पुष्टिमार्गमें हे तथा यालोक तथा परलोक की कामनावारे(मार्ग) जो सृष्टिकी परम्पराकों नाहीं तोड़े हें सो सब मार्ग प्रवाहमें अन्तर्भूत हें. ओर जितने मार्ग वेदकी मर्यादाको उल्लङ्घन नाहीं करें हें तितने सब मार्ग मर्यादामें अन्तर्भूत हें. इतने जगतमें जितने मार्ग हें तिन सबनको अन्तर्भाव (पुष्टि-मर्यादा-प्रवाह) इन तीन मार्गनमे हे॥3॥

अब पुष्टिमार्ग एक विलक्षण मार्ग हे तामें प्रमाण बतावत हें. तथा (प्रथम शङ्का) सब मार्गमें भिन्न-भिन्न प्रकारसूं भजन तो रह्योही हे, तासूं भजनको प्रकार भिन्न-भिन्न हे परन्तु मार्ग तो सब भक्तिकेही हें एसें कोऊ कहे तहां (ताको समाधान) कहत हें.

(दूसरी शङ्का) ऊपर कहे एसे तीनों मार्ग विद्यमान हें एसें कहिवेसूंहु तीनों (पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा) मार्गनको परस्पर भेद सिद्ध नाहीं होयगो. क्यों जो "सब फल भगवान्सूंही होंय हें" एसें व्याससूत्रादिकन्सूं सिद्ध हे. तासूं दूसरे देवको भजन करिवेवारे प्रवाहमार्गीयहु फलप्राप्तिकेलिये प्रभून्को ही भजन करे हें. क्यों जो ब्रह्मवादकी रीतिसूं चैतन्यमें भेद नाहीं हे ओर फल तो प्रभून्सूंही प्राप्त होय हे; तासूं प्रावाहिकहु भक्त हे एसें कहनो चहिये. ओर अनुग्रहप्रयुक्त सब भक्तिमार्ग पुष्टिमार्गमें अन्तर्भूत हें एसें उपर कह्यो हे सो अनुग्रह सबनको समान हे; तासूं प्रवाहसूं पुष्टिमार्ग भिन्न नाहीं होयगो. ओर मर्यादा तो वेदोक्त नियमसूं हे तासूं मर्यादामार्ग पुष्टिमार्गसूं अवश्य भिन्न हे. इतने मार्ग दो हें एसें कहनो चहिये एसी कोऊ शङ्का करे तहां कहत हें:

कश्चिदेव हि भक्तो हि "यो मद्भक्त:" इतीरणात्॥
सर्वत्रोत्कर्षकथनात् पुष्टिर् अस्तीति निश्चय:॥4॥
न सर्वोऽत: प्रवाहाद्धि भिन्नो वेदाच्च भेदत:॥
"यदा यस्ये"ति वचनात् "नाहं वेदैर्"इतीरणात्॥5॥

यो=जो, मद्=मेरो
भक्त:=भक्त, इति=एसो
ईरणात्=कहिवेसूं (किंच=ओर)
सर्वत्र=सब जगह
उत्कर्षकथनात्=श्रेष्ठता कहिवेसूं
पुष्टि:=पुष्टि
हि=निश्चित ही
अस्ति=हे, इति=एसो
निश्चय:=निश्चय
भक्त:=भक्त, कश्चित्=कोइ
एव=ही, सर्व:=सब हे)
च=ओर, यदा=जब
यस्य=जाकु, इति=या
वचनात्=वचनसूं
न=नाहीं, अहं=में

वेदै:=वेदसूं, इति=ये
ईरणात्=कहिवेसूं
वेदत:होयके (स्थित: इति शेष:=स्थित हे एसो आशय हे)

भावार्थ : गीताजीमें भगवा**ननने** "जो मेरो भक्त हे सो मोकुं प्रिय हे" यह कह्यो हे तासूं; ओर सर्वशास्त्र**नमे** भक्तिको उत्कर्ष कह्यो हे तासूं हु पुष्टिमार्ग भिन्न हे यह सिद्ध होय हे. "भक्त कोईक ही होय हे, सब नाहीं होंय हें" तासूंहु पुष्टिमार्ग प्रवाहमार्गसूं भिन्न हे यह निश्चय हे. तथा "जब भगवान् अनुग्रह करें हें तब भक्त लोकमार्ग ओर वेदमार्ग में बुद्धि नाहीं लगावे हे" या भागवतके वचनसूं तथा "मेरो एसो दर्शन वेदादिसों नाहीं होय हे" या भगवा**नके** वचनसूंहु यह निश्चय होय हे के पुष्टिमार्ग मर्यादामार्गसोंहु भिन्नतया स्थित हे, अर्थात् भिन्न हे.

टीका : "सन्तोषवारो, हमेंशा प्रभुमें चित्त जानें जोड़्यो हे, मन जाके स्वाधीन हे, प्रभु अपने स्वामी हें एसो जाको दृढ निश्चय हे ओर मेरेमें जाने मन तथा बुद्धि अर्पण करें हें एसो जो मेरो भक्त हे सो मोकुं प्रिय हे" एसें गीताजीमें कह्यो हे. तामें "जो मेरो भक्त हे" एसें कहिवेसूं भक्त कोई होत हे (सब भक्त नाहीं होत हें) एसें जान्यो जाय हे. जो बहोत भक्त होंय तो जो मेरो भक्त हे सो मोकुं प्रिय हे एसे नाहीं कहते. ओर गीताजीमें तपस्वी, ज्ञानी तथा कर्ममार्गीन्सूं योगीकुं अधिक लिखिकें "सब योगि**नमे** हु जो अन्त:करण पूर्वक श्रद्धायुक्त होयकें मोकुं भजे हे सो अत्यन्त युक्त मान्यो हे" एसे श्रीकृष्णने कह्यो हे. तेसें फेरि पञ्चदशम अध्यायमें कह्यो हे जो "आछी रीतिसूं मोहरहित जो पुरुष मोकुं पुरुषोत्तम करिके जाने हे सो सब जानिवेवारो हे. सो सर्वभावकरिके मोकुं भजे हे" एसें कह्यो हे. सो सर्वभावसूं भजन पुष्टिमार्गमेंहि हे. ओर एसे भजनकुं सबस्थल**नमे** उत्तम कह्यो हे. तासूं पुष्टि हे एसो निश्चय हे.

उपरके श्लोकमें गीताजीको प्रमाण देयकें भक्त बहोत नाहीं होत हें परन्तु कोई ही होत हें एसे निरूपण कियो हे. तासूं सब, भक्त नाहीं होत हें. तब जा मार्गमें ये भक्त हें एसो पुष्टिमार्गहु प्रवाहसूं भिन्न हे एसें अर्थात् सिद्ध होय हे.

तहां एसी शङ्का होय जो प्रवाहसूं पुष्टिमार्ग भिन्न हे एसें सिद्ध भयो परन्तु पुष्टिमार्गके प्रतिपादक जो-जो वाक्य हें सो-सो वेद, स्मृति अथवा पुराणादिक**नके** हें. सो सब वेदविधिमेंही आय जाय हें; तासूं मर्यादासूं पुष्टिमार्ग भिन्न नाहीं होय सकेगो! एसी

शङ्का की निवृत्तिकेलिये कहत हें जो “आत्मासूं जाकी भावना करी हे एसे भगवान् जाके उपर अनुग्रह करत हें सो लोकमें तथा वेदमें लागी रही एसी मतिकों छोड़े हें” एसें श्रीभागवतमें कह्यो हे. तेसेंही “वेद तप दान ओर ज्ञान-यज्ञ द्वाराहु मेरे वा स्वरूपको दर्शन नाहीं होय सके हे के जाको तेनें कियो; मेरे एसे स्वरूपको दर्शन तो केवल अनन्यभक्तिकरिके ही होय सके हे” एसें गीताजीमें कह्यो हे. इतने सब स्थलमें पुष्टिमार्गको प्रतिपादन हे तासूं वेदके नियमरूप मर्यादासूंहु पुष्टिमार्ग भिन्न हे॥4-5॥

जामें भगवद्भक्ति होय नाहीं एसे धर्म, कर्म तथा ज्ञान की निन्दा सर्वशास्त्रमें लिखी हे; परन्तु भक्ति सहितकी निन्दा नाहीं हे तासूं गीताजीमें “निबन्धायाऽऽसुरी मता” इत्यादिक वाक्यन्सूं प्रावाहिक जीवनकी निन्दा लिखी हे सो भक्ति रहितकी हे. भक्ति सहित प्रावाहिक तो दैवीमें गिने जाय हें तासूं सब मार्ग भक्तिमार्गके अङ्गभूत हें एसी मूलमेंहि शङ्का करिके समाधान करत हें:

मार्गैकत्वेऽपि चेद् अक्त्यौ तनू भक्त्यागमौ मतौ॥
न तद् युक्तं सूत्रतो हि भिन्नौ युक्त्या हि वैदिक:॥6॥

मार्गैकत्वे=मार्ग एक होयवेपे
अपि=भी
अक्त्यौ=अन्तिम दो
तनू=अङ्ग
भक्त्यागमौ=भक्ति देयवेवारे
मतौ=माने हें इति=एसो
चेत्=यदि होवे तो
तत्=वो
युक्तं=ठीक
न=नाहीं हे
हि=क्योंके
सूत्रत:=सूत्रसों
युक्त्या=युक्तिसों
वैदिक:=वैदिक (मार्ग:=मार्ग)
हि=निश्चय ही

भिन्न:=अलग (अस्ति= हे)

भावार्थ : भक्तिमार्ग एकही हे ओर प्रवाह तथा मर्यादा, भक्तिके अङ्गरूप हें ओर भक्तिकी प्राप्तिके साधनरूप हें एसें शास्त्रमें मान्यो हे—— एसें वादी कहे तहां कहत हें जो एसें कहेनो सूत्र ओर युक्ति सूं हु युक्त नाहीं हे. तासूं वैदिकमार्ग भिन्न हे ओर अनुग्रहप्रयुक्त मार्ग भिन्न हे.

टीका : इतने भक्तिमार्गमें "श्रीपुरुषोत्तममें निष्ठावारेकुं अमृतपनो होय हे" ("तत्संस्थस्य अमृतत्त्वोपदेशात्" शण्डिल्यसूत्र) एसें भक्तिसूत्रमें लिख्यो हे. जैमिनीयसूत्रमें लिख्यो हे जो ज्योतिष्टोमादिक यज्ञरूप कर्म स्वर्गादिक फलकुं उत्पन्न करिके निवृत्त होय हे. तासूं सो कर्म, भक्तिके अङ्गभूत होय सके नाहीं. तेसें ज्ञानमार्गहु मोक्षरूपफलकुं प्राप्त करे हे, भक्तिकुं प्राप्त नाहीं करे हे एसें ("तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्") व्याससूत्रमें लिख्यो हें. सो (ज्ञानमार्गहु)भक्तिके अङ्गभूत नाहीं होय सके हे. तासूं वैदिकमार्ग भिन्न हे ओर अनुग्रहप्रयुक्त मार्ग भिन्न हे. तेसें दैवसर्गरूप प्रवाहहु मोक्षफल देयवेवारो हे ओर आसुरसर्गरूप प्रवाह बन्धन करिवेवारो हे तासों वोहु भक्तिके अङ्गरूप होय सके नाहीं. (एसें फलभेद अरु प्रमाणभेद सूं मार्गभेदको निश्चय करिके अब युक्तिसूं हु मार्गभेदको प्रतिपादन करत हें).

यदि प्रवाहमार्ग भक्तिके अङ्गरूप होवतो तो श्रीकृष्णभगवाननें गीताजीमें दैवीसम्पत्तिको भाव कहिके आसुरीसम्पत्तिको भाव कह्यो हे सो नाहीं कहते.

तेसें (यदि मर्यादामार्ग ओर पुष्टिभक्तिमार्गके अङ्गभूत होवतो तो) गीताजीमें द्वादशाध्यायमें कह्यो हे जो "अक्षरब्रह्मके उपासकनको क्लेश अधिक हे" ओर "पूर्णपुरुषोत्तमके उपासकनको उद्धार प्रभु शीघ्रही करे हें"; तेसें श्रीभागवतदशमस्कन्धमें कह्यो हे जो
"श्रीयशोदानन्दन श्रीकृष्ण भक्तिवारेनको सुखसूं जेसें प्राप्त होंय तेसें देहीनको तथा ब्रह्मकुं अपनी आत्मारूप मानिवेवारे ज्ञानीनको सुखसूं प्राप्त नाहीं होय हें" इत्यादिक युक्तीन्करिकेहु पुष्टिमार्गसूं प्रवाहमार्ग तथा मर्यादामार्ग भिन्न हे॥6॥

एसें प्रवाह तथा मर्यादामार्गतें पुष्टिमार्ग भिन्न हे सो सूत्र तथा युक्तिसूं सिद्ध करिके विन (मार्गन्)के जीव, (जीवनके) देह तथा कृति के भेदको निरूपण करत हें:

जीव-देह-कृतीनां च भिन्नत्वं नित्यता श्रुते:॥
यथा तद्वत् पुष्टिमार्गे द्वयोरपि निषेधत:॥7॥
प्रमाणभेदाद् भिन्नो हि पुष्टिमार्गो निरूपित:॥

यथा=जेसें
पुष्टिमार्गे=पुष्टिमार्गमें
श्रुते:=वेदसूं
जीवदेहकृतीनां=जीव-देह-कृतिको
भिन्नत्वं=अलगपनों(अस्ति=हे)
तद्वत्
नित्यता=नित्यपनों
च=हु (सिद्ध्यति=सिद्ध होय हे)
द्वयो:=दोनोंनको अपि=भी
निषेधत:=निषेधसूं(किञ्च=ओर)
प्रमाणभेदात्=प्रमाणके भेदसूं
पुष्टिमार्ग:=पुष्टिमार्ग
भिन्न:=अलग निरूपित:=निरूपित कियो हे

भावार्थ : जेसें तीनोंनके जीव, देह तथा कृति भिन्न-भिन्न हें तेसें श्रुतिके प्रमाणसूं ब्रह्मवादमें जीवनकी नित्यता हे तेसी नित्यताको प्रवाह तथा मर्यादा मार्गी जीवनके विषे निषेध होयवेसूं प्रमाणके भेदसूंहु पुष्टिमार्ग दोउ मार्गन्सूं भिन्न हे.

टीका : प्रवाहमार्गवारे जीव आसुर हें, विनके देह भगवद्भजनसूं प्रतिकूल हें, विनकी क्रिया स्वार्थकेलिये ओर दूसरेकों दु:ख देयवेकी हे.

ओर मर्यादामार्गीय जीव दैव हें, विनके देह वैदिकधर्म तथा भगवत्पूजादिक शास्त्रोक्त धर्मके अनुकूल हें. विनकी कृति अग्निहोत्रादिक श्रौत-स्मार्त कर्म करिवेकी तथा ज्ञानादिकके अनुकूल त्यागादिक करीवेकी हे.

ओर पुष्टिमार्गीय जीव हें सो दैव* हें तथापि भगवानके अनुग्रहविशिष्ट हें. विनके देह भगवत्सेवामें अनुकूल तथा भगवत्स्वरूपमेंही आसक्त (हे). विनकी कृति लोकिक-

वैदिक फलनकी इच्छासों रहित होयके भगवत्सेवा करिवेकी तथा साक्षात् पुरुषोत्तम सम्बन्धि फल मिलवेकी हे.

एसें तीनोंनके जीव, देह तथा कृति जेसें भिन्न-भिन्न हें तेसें श्रुतिके प्रमाणसूं ब्रह्मवादमें जीवनकी नित्यता हे. विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतमार्ग में अनित्यता हे ओर मायावादमें मायिकत्व हे. यद्यपि एसें अपने-अपने मतके अनुसार सबजीवनकु सब समानही माने हें; तथापि "भगवानको कीर्तन करिवेवारे जीव ध्रुव (नित्य) हें" एसें श्रुतिमें लिख्यो हे. ओर "जेसें भक्तिवारेनको भगवान् सुखसूं प्राप्त होय हें तेसें ओर देहीनको तथा ज्ञानीनको प्राप्त नाहीं होय हें" एसें श्रीभागवतमें लिख्यो हे. तासूं प्रवाही तथा ज्ञानीन् को निषेध करिके "जिनकों सुखसूं प्राप्त होय हे" एसें लिख्यो हे तासूं अनुग्रह विशिष्ट पुष्टिमार्गीय जीव भिन्न हें एसो सिद्ध होय हे. एसें प्रमाणके भेदसूं पुष्टिमार्ग भिन्न निरूपित कियो हे वाहि रीतिसूं प्रवाह ओर मर्यादाकोहु भेद समजनो॥ 71—ञ्ए2॥

अब (आगें जायके) प्रमाणबलकरिके तथा साधनके भेदकरिके तीनों मार्गनको भेद (बतावनो हे. सो भेद) सिद्ध करिवेकेलिये ऊपर बताये एसे जीवादिकनके भेदयुक्त अविच्छिन्नसर्गको जो भेद हे ताकरिके पुष्टिको भेद सिद्ध करिवेकेलिये (या श्लोकमें) सामान्य(रूप)सूं सर्गके भेदको निरूपण करत हें:

सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्ग-क्रियायुतम्॥8॥
इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरि:॥
वचसा वेदमार्गो हि पुष्टिं कायेन निश्चय:॥9॥

स्वरूपाङ्ग-क्रियायुतं=स्वरूप अङ्ग-
ओर क्रिया के साथ
सर्गभेदं=सृष्टिको भेद
प्रवक्ष्यामि=आछीभांतिसोंकहुंहूं
हरि:=श्रीकृष्ण
इच्छामात्रेण=इच्छामात्रसूं

मनसा=मनसूं,
प्रवाहं=प्रवाहकुं
:हे(इति=एसो)
निश्चय:=निश्चय(अस्ति=हे)

भावार्थ : स्वरूप=जीव, अङ्ग=देह ओर क्रिया युक्त सृष्टिको भेद कहुंगो. जिनको सर्वदा एकीभाव हे एसे हरि इच्छामात्रसूं मनकरिके प्रवाहमार्गकुं, वचनकरिके वेदमार्ग (मर्यादामार्ग) कुं ओर कायाकरिके पुष्टिमार्गकुं सृजतभये.

टीका : इतनें एकादशस्कन्धमें "वैकारिक अहङ्कार के कार्यरूप मनसूं सृष्टि भई हे" एसें लिख्यो हे. तेसें वेदमेंहु मनसूं सृष्टि भई हे एसें लिख्यो हे सो प्रवाहसृष्टि हे. तामें मायाहु सङ्ग कारणभूत हे सो आसुररूप मायिक सृष्टि हे. वा सृष्टिके अभिप्रायसूं हि जगत् मायिक हे एसें कितनेक माने हें.

वचनसूं मर्यादासृष्टि भई हे सो माण्डूक्य उपनिषद्में लिख्यो हे जो "ॐकारसूं हि सबनकी उत्पत्ति हे. भूत भविष्यत् ओर वर्तमान जो कछु हे सो सब ॐकारकोही उपव्याख्यान हे". तेसें एकादशस्कन्धमेंहु परा, पश्यन्ति, मध्यमा ओर वैखरी ये चारों प्रकारकी वाणीकी उत्पत्ति लिखिके वासूंही जगतकी उत्पत्ति लिखि हे. सो प्रभुकी वाणी वेदरूप हे ओर वेद हे सो साक्षात् नारायण हे, तासूं वेदसूं सृष्टि भई हे सो मर्यादामार्गकी सृष्टि हे.

ओर पुरूषविधब्राह्मणकी श्रुतिमें "एक आत्माके दो विभागकिये. तामेंसूं पति ओर पत्नी भये" एसें लिख्यो हे. तासूं आनंदात्मकस्वरूपसूंही अनेक प्रकारके भये, सो कायासूं सृष्टि भई हे सो पुष्टिसृष्टि हे.

इतनें प्रभूनको वीररसको अनुभव करिवेकी इच्छा भई तब अपनो अंश होय सो अपनी विरूद्ध होय नाहीं तासूं मायामेंसूं आसुरी जीव उत्पन्न किये, सो प्रवाहसृष्टि भई. तथा जीवनके दु:खकीनिवृत्ति केलिये वेदमार्ग प्रकट कियो तामें प्रीतिवारे जीव अक्षरब्रह्मसूं भये सो मर्यादासृष्टि भई. ओर जीवनको
भजनानन्दको दान करिवेकेलिये अपने आनन्दात्मक स्वरूपसूं जीव उत्पन्न किये सो पुष्टिसृष्टि भई.

अर्थात् प्रावाहिक सृष्टि प्रभुके मनतें मायासूं उत्पन्न भई हे1, मर्यादासृष्टि प्रभुके मनपूर्वक वचनतें अक्षरब्रह्मसूं2 भई हे ओर पुष्टिसृष्टि प्रभुके मन तथा वचनपूर्वक स्वरूपसूं भई हे. एसें तीनों प्रकारकी सृष्टि प्रभून्ने करी हे॥8-9॥

विशेष:
1.सहज आसुर तथा आसुरावेशी एसे दोय प्रकारके प्रावाहिक जीव हें. तिनमें आसुरावेशी मुक्त होय हें ओर सहज आसुर हे सो अन्धन्तममेंजायहें.
2.समर्षण हें सो वेदरूप हें ओर शब्दब्रह्म तथा अक्षरब्रह्म संकर्षणकोही स्वरूप हें तासूं अक्षरब्रह्मसूं सृष्टि हे सो वेदसूंही सृष्टि भई हे एसे समजनो.

प्रावाहिक सृष्टिको उपादानकारण माया हे तथा मर्यादासृष्टिको उपादानकारण अक्षरब्रह्म हे ओर पुष्टिसृष्टिको उपादानकारण प्रभुको स्वरूप हे ——एसें तीनों सृष्टिको उपादानकारण भिन्न-भिन्न हे तथापि जेसें ताम्र, रूप्य ओर सुवर्ण रूप भिन्न-भिन्न उपादानकारणसूं तीन घट भये होंय परन्तु जललायवेरूप कार्य तो तीनों घटको समान ही होय हे; ओर व्रीहि तथा यव के पुरोडाशसूं यज्ञ तथा फल समानही होय हे तेसें तीनों सृष्टिकुं फल समानही होयगो एसी कोउ शङ्का करे तहां कहत हें:

मूलेच्छात: फलं लोके वेदोक्तं वैदिकेऽपि च॥
कायेन तु फलं पुष्टौ भिन्ने च्छातोऽपि नैकधा॥10॥

लोके=लोकमें
मूलेच्छात:=मूल इच्छासूं,
फलं=फल(भवति=होय हे)
च=ओर, वैदिके=वैदिकमें

अपि=तो
वेदोक्तं=वेदमें कह्यो भयो
(फलं=फल) पुष्टौ=पुष्टिमें
तु=तो, कायेन=कायासूं
फलं=फल (एवं=एसे)
भि**न्ने** च्छात:=इच्छाकेभिन्नहोयवेसूं
अपि=भी

एकधा=एकप्रकारसों, न=नाहीं

भावार्थ : अविच्छिन्न सृष्टि चली जाय एसी मूल इच्छासूं प्रावाहिक जीवनको लौकिक फल होय हे. मर्यादामार्गीय जीवनको वेदमें कह्यो हे सो फल मिले हे. ओर पुष्टिमार्गीय जीवनको प्रभूनके स्वरूपकरिके फल मिले हे. ऐसें फलहु एक प्रकारसों नाहीं होत हे.

टीका : अविच्छिन्न सृष्टि चली जाय एसी मूल इच्छासूं प्रावाहिक जीवनको लौकिक फल होय हे. तामें सहज आसुरजीव हें सो जन्म-मरणतें लेके अन्ततो गत्वा अन्धन्तममें जाय हें ओर आसुरावेशी हें सो कामनामें आसक्त होयकें धूममार्गमें यज्ञादिककरिके आवागमन करत-करत आसुरावेश मिट जाय तब मुक्त होंय हें. तथा मर्यादामार्गीय जीवनको वेदमें कह्यो हे सो फल मिले हे. तामें निष्काम यज्ञादिक करिवेवारेनको आत्मसुख मिले हे ओर सकाम करिवेवारेनको स्वर्गादिक लोकको सुख मिले हे. पुष्टिमार्गीय जीवनको प्रभूनके स्वरूपकरिके फल मिले हे. इतने वेणुगीतमें श्रुतिरूपा श्रीगोपीजननने इन्द्रियवारेनको भजनानन्दरूप जो उत्तम फल कह्यो हे सो फल मिले हे. एसें भिन्न-भिन्न इच्छा हे तथा फलकोहु भेद हे तासूं एक प्रकारकी सृष्टि तथा एक प्रकारके मार्ग नाहीं हें.

मूलमें 'नैकता' एसोहु पाठ हे ताको अर्थ एसो हे जो सर्ग तथा मार्गन् की एकता नाहीं हे॥10॥

तीनों मार्गनके जीवनको चिद्रूपपनो समान हे तथापि तीनोंनके जूदे-जूदे धर्म हें तासूं फलमें भेद हे एसें सिद्ध करनो हे. तामें प्रावाहिक जीवनको धर्म अत्यन्त भिन्न हे तासूं प्रथम प्रावाहिकनको निरूपण करत हें:

"तानहं द्विषतो" वाक्याद् भिन्ना जीवा: प्रवाहिण:॥
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशत:॥11॥

तान्=विनकुं, अहं=मैं

द्विषतो=द्वेष करिवेवारे(इति=या)
वाक्यात्=वाक्यसूं
प्रवाहिण:=प्रवाही
जीवा:=जीव
भिन्ना:=अलग(सन्ति=हें)
अत:=यासूं, एव=ही
इतौरौ:दो
मोक्षप्रवेशत:=मोक्षमें प्रवेश
करिवेवारे होयवेसूं
सान्तौ=अन्तवारे
भिन्न=अलग(स्त:= हें)

भावार्थ : गीताजीमें कह्यो हे जो "द्वेष करिवेवारे ... प्रवाहिनको मैं सर्वदा आसुरी योनिमें डारूं हूं" (भग.गीता16।19) तासूं प्रावाहिक जीव मर्यादामार्गीय तथा पुष्टिमार्गीय जीवन्सूं भिन्न हें. ओर मर्यादामार्गीय जीवनको अक्षरब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष होय हे तथा पुष्टिमार्गीय जीवनको पुरुषोत्तममें प्रवेश होय हे तासूं ये अन्त सहित हें; इतने विन दोउनको जीवभाव निवृत्त होय हें.

टीका : इतनें भगवानको द्वेष करनो येही जिनको धर्म हे सो आसुरीजीव हें. तिनको अन्तमें अन्धन्तममें प्रवेश हे. एक मूलरूप तथा अवताररूप को द्वेष, दूसरो विभूति प्रभृतीनको द्वेष ओर तीसरो जगद्रूपको द्वेष ——एसें तीन प्रकारको भगवानके प्रति द्वेष हे. तामें मूलरूप तथा अवातररूप को द्वेष करिवेवारेनको बहोत करिके भगवान्ही मारे हें, तासूं मुक्त होय हें. तथा विभूत्यादिकको द्वेष करिवेवारे द्वेषको त्याग करें तब मुक्त होंय हे. ये दोय आसुरावेशी हें. ओर जगद्रूपको द्वेष करिवेवारे सहज-आसुर हें सो काउ दिन मुक्त न होंय. विनको अन्धन्तममेंही प्रवेश होय हे. क्यों जो जगतको द्वेष करिवेमें भगवद्भक्तनको हु द्वेष होय हे. तासूंही दशमस्कन्धमें अक्रूरजीने धृतरातष्ट्रकुं कह्यो हे जो
"अधर्मकरिके जाको पोषण करे हे सो पोषण करिवेवारेकों छोड़त हें". ताको श्रीसुबोधिनीजीमें निर्णय कियो हे जो "प्राण, स्त्री, पुत्रादिकको अधर्मसूं पोषण कियो होय सो सब वाकों छोड़ देत हें ओर केवल जीव अन्धन्तममें जाय हे". एसे द्वेष

करिवेवारे प्रवाहिजीव हें. तासूंही मर्यादामार्गीय तथा पुष्टिमार्गीय जीव भिन्न हें. ओर मर्यादामार्गीय जीवनको अक्षरब्रह्म प्राप्तिरूप मोक्ष होय हे तथा पुष्टिमार्गीय जीवनको पुरुषोत्तममें प्रवेश होय हे. तासूं ये अन्त सहित हें; इतने विन दोउनको जीवभाव निवृत्त होय हे॥11॥

एसें तीनों मार्गनके लक्षण तथा फलके भेदको निरूपण कियो. ता करिके जो सिद्ध भयो सो कहत हें:

तस्माज् जीवा: पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशय:॥
भगव-द्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर् नान्यथा भवेत्॥12॥

तस्मात्=यासूं
पुष्टिमार्गे=पुष्टिमार्गमें
जीवा:=जीव, भिन्ना:=अलग
एव=ही (सन्ति=हें)
संशय:=शङ्का
न=नाहीं (अस्ति=हे) तत्सृष्टि:=वो सृष्टि
भगवद्-रूपसेवार्थं=श्रीकृष्णकी-
रूपसेवाकेलिये,(अस्ति=हे)
अन्यथा=ओर तरहसूं
न=नाहीं
भवेत्=होवे हे

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद:
भावार्थ : तासूं पुष्टिमार्गीय जीव हें सो दूसरे मार्गनके जीवन्सूं भिन्न हें वामें संशय नाहीं हे. यदि पुष्टिमार्गीय जीव भिन्न न होंय तो भगवद्रूपकी सेवाकेलिये पुष्टिमार्गीय जीवनकी सृष्टिहु न होय.

टीका : तासूं पुष्टिमार्गीय जीव हें सो दूसरे मार्गनके जीवन्सूं भिन्न हें वामें संशय नाहीं हे. इतने वाराहपुराणमें कह्यो हे जो "ब्रह्माजीकी सृष्टिसूं जुदी ये सृष्टि कोउ अन्यही हे" एसो वाक्य हे. तासूं पुष्टिमार्गीय जीव सबन्सूं भिन्नही हें. यदि पुष्टिमार्गीय जीव भिन्न न

होंय तो भगवद्रूपकी सेवाकेलिये पुष्टिमार्गीय जीवनकी सृष्टिहु न होय. इतने “प्रभु अकेले आत्मरमणमेंही हते. तब बाहिर कोउ नाहीं हतो. तासूं रमण नाहीं करत भये. क्यों जो अकेले हते तब रमण नाहीं करत हते सो (रमण करिवेकेलिये) दूसरेकी इच्छा करतभये” एसे श्रुतिमें कह्यो हे. तासूं इच्छाकरिके सबजगद्रूप भये हें सो न होते. अर्थात् नामसेवा तो मर्यादासृष्टिहु करत हे परन्तु रूपसेवा वासूं बराबर नाहीं होय सके तासूं रूपसेवाकेलियेही पुष्टिसृष्टि हे. सो प्रवाह ओर मर्यादा सूं भिन्न न होय तो पुष्टिसृष्टि करिवेको जो प्रयोजन हतो सो सिद्ध न भयो तब पुष्टिसृष्टिहु न होय तब रमण करिवेकेलिये प्रभु जगद्रुप भयें हें एसें श्रुतिमें कह्यो हे सो व्यर्थ होय. तासूं प्रभूनके रमणार्थ ये पुष्टिसृष्टि हे सो सबन्सूं भिन्न हे॥12॥

एसें सृष्टिके भेदसूं सबनके साधन भिन्न-भिन्न हें, तासूं एक-दूसरेके साधन मिल नाहीं जाय हें. तोहु लीलासृष्टिमें उत्पन्न भये एसे भक्तनके स्वरूप, देह तथा क्रियामें कछु तारतम्य नाहीं दिखवेमें आवत हे; तब उपर(के श्लोकनमे) जो सृष्टि प्रभृतीनको भेद सिद्ध कियो हे सो व्यर्थ हे एसी काहुको शङ्का होय ताकी निवृत्तिकेलिये तारतम्य कहत हें:

स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च॥
तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु वा॥13॥
तथापि यावता कार्यं तावत् तस्य करोति हि॥

स्वरूपेण=स्वरूपसूं
अवतारेण=अवतारसूं
लिङ्गेन=चिह्नसूं, च=ओर
गुणेन=गुणसूं, च=भी
(पुष्टिजीवानां=पुष्टिजीवनके)
स्वरूपे:क्रियामें
तारतम्यं=भेद
न=नाहीं (अस्ति=हे)
तथापि=तोहु,यावता=जितनो
कार्यं=कार्यकु, तावत्=उतनो
तस्य=वाको, करोति=करे

हि=हि

:स्वरूप देह अथवा क्रियानमे स्वरूपकरिकें अवतारकरिकें, चिह्नकरिकें ओर गुणकरिकें भगवान्सूं यद्यपि तारतम्य नाहीं हे तथापि जितने तारतम्यसूं रमणात्मक कार्य सिद्ध होय तितनो भक्तनमे तारतम्य भगवान् करें हें.

टीका : इतने भगवान् जेसें आनन्दरूप रसघन हें तेसें भक्तहु हें. जेसें अलौकिक रीतिसूं शुद्धसत्वमेंही भगवानको अवतार होय हे तेसेंही भक्तनको अवतार हे. जेसें ध्वजा वज्र यव अमुश कमल प्रभृति भगवानके चिह्न हें तेसेंही भक्तनकेहु होत हें. जेसें भगवानके ऐश्वर्यादिक ओर सौकुमार्यादिक गुण हें तेसेंही भक्तनके हें. तासूं, इन सब धर्मन्करिकें भगवानके स्वरूपसूं भक्तनके स्वरूपमें तथा भगवानके देहसूं भक्तनके देहमें तथा भगवानकी क्रियासूं भक्तनकी क्रियामें तारतम्य नाहीं हे. अर्थात् भगवानके समानही हें. तथापि जितने तारतम्यसों सब प्रकारकी लीला सिद्ध होय तितनो तारतम्य भगवान् भक्तनमे करत हें॥131—ञ्ए2॥

एसें स्वभावके भेद प्रभृति सब सन्देहनकु दूरि करिके कितनेकनकी भगवानके कहे भये भक्तिमार्गमें प्रवृत्ति होत हे, कितनेकनकी भगवानके कहे भये ज्ञानमार्गमें प्रवृत्ति होय हे ओर कितनेकनकी भगवानके कहे भये कर्ममार्गमें प्रवृत्ति तथा आसक्ति होय हे. तामेंहु कितनेकनको, शास्त्रमें करिवेको लिख्यो हे तासूं यामें अवश्य प्रवत्ति करनी चहिये, एसें शास्त्रविधिके बलसूं प्रवृत्ति होय हे ओर कितनेकनको स्नेहसों प्रवृत्ति होय हे. तेसें कितनेंकनके स्वभावसूं विरूद्ध देहादिक होय हें ओर कितनेंकनके स्वभावके अनुकूल देहाहिक होय हें, सो क्यों हें? इत्यादिक सन्देहनकु मिटायवेकेलिये पुष्टिजीवनको विभाग कहत हें:

ते हि द्विधा शुद्ध-मिश्र-भेदान् मिश्रास् त्रिधा पुन: ॥14॥
प्रवाहादि-विभेदेन भगवत्-कार्यसिद्धये॥
पुष्ट्या विमिश्रा: सर्वज्ञा: प्रवाहेण क्रियारता: ॥15॥
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धा: प्रेम्णाऽतिदुर्लभा: ॥

ते=वे, हि=अवश्यही
शुद्ध-मिश्रभेदात्=शुद्ध ओर
मिश्रके भेदसों, द्विधा=दोय प्रकारके
पुन:=ओर फिर
भगवत्कार्यसिद्धये=भगवत् कार्यकी-
सिद्धिकेलिये, मिश्रा:=मिश्र
प्रवाहादिविभेदेन=प्रवाह आदिके भेदसूं
त्रिधा=तीन प्रकारके (सन्ति=हें)
पुष्ट्या=पुष्टिसूं
विमिश्रा:=विशेषकरिकें मिश्र
सर्वज्ञा:=सबकछु जानिवेवारे
(भवन्ति=होंय हे) प्रवाहेण=प्रवाहसूं
विमिश्रा:=विशेषकरिकें मिश्र
क्रियारता:=क्रिया परायण
(भवन्ति=होंय हे)
मर्यादया=मर्यादासूं
(विमिश्रा: =विशेषकरिकें मिश्र)
गुणज्ञा:=गुणनकु जानिवेवारे
(भवन्ति=होंय हें)
(किंच=ओर) प्रेम्णा=प्रेमकरिकें
शुद्धा:=शुद्ध, ते=वे
अतिदुर्लभा:=अत्यन्त दुर्लभ
(भवन्ति=होंय हें)

भावार्थ : शुद्धपुष्ट ओर मिश्रपुष्ट एसें भेदसूं वे पुष्टजीव दोय प्रकारके हें. तामें पुन: भगवानके कार्यकी सिद्धिकेलिये प्रवाहादिकके भेदकरिकें मिश्रपुष्ट तीन प्रकारके हें. तामें पुष्टिकरकें मिश्र जो पुष्टजीव हें सो सर्वज्ञ हें अर्थात् भगवानके अभिप्रायकु जानिवेवारे हें. तथा प्रवाहकरिकें मिश्र पुष्टजीव हें सो क्रियामें प्रीतिवारे हें. ओर मर्यादाकरिकें मिश्र जो पुष्टजीव हें सो भगवानके गुणकुं जानिवेवारे हें अर्थात् भगवानके गुणनमे ही आसक्त रहे हें. एसें मिश्रपुष्टके तीन भेद हें. ओर शुद्धपुष्ट हें सो

केवल प्रेमकरिकें हें; अर्थात् शुद्धपुष्टजीवनको भगवानमे अत्यन्त प्रेम होय हें एसें भक्त अतिदुर्लभ हें.

टीका : इतने मिश्रपुष्ट तथा शुद्धपुष्ट एसें दो प्रकारके पुष्टजीव हें तामें मिश्रपुष्टके मुख्य तीन भेद हें.

अर्थात् जिनके ऊपर अनुग्रह हे एसे जीवके ऊपर दूसरो अनुग्रह मिले तब ये जीव 'पुष्टिमिश्र पुष्टजीव'1 कहे जाय हें. अनुग्रहयुक्त जो जीव होंय सो शास्त्रोक्त ज्ञानादिक मर्यादामें प्रीतिवारे होंय सो 'मर्यादामिश्र पुष्टजीव'2 कहे जाय हें. ओर प्रवाहकरिकें मिश्रित जो पुष्टजीव हें सो क्रियामें ही प्रीतिवारे होय हें. अर्थात् पञ्चरात्रादिक तन्त्रनमे जो पूजाको प्रवाह कह्यो हे वाही प्रकारसूं पूजादिक क्रिया करिवेमें प्रीतिवारे जो जीव हें सो 'प्रवाहमिश्र पुष्टजीव'3 कहे जाय हें.

*इतनें प्रथमसूं सामान्य रीतिसूं जिन जीवनके ऊपर अनुग्रह होय हे सो फिर विशेषानुग्रहकों प्राप्त होय हें सो 'पुष्टिमिश्र पुष्टिजीव' जाननें. सो भगवानके अभिप्रायतांइ सब जानिवेवारे होय हें. ओर पुष्टिजीव मर्यादा मिश्रित होंय सो भगवानके धर्मकुं कछुक जानिके तीर्थाटन परायण होय हें.

प्रवाहिजीव पुष्टि मिश्रित हें सो भगवानके भजनके अनुकूल क्रियाकुं अनुसरिवेवारे होय हें.तथा प्रवाहिजीव मर्यादा मिश्रित हें सो कर्म करिवेवारे होय हें.ओर प्रवाहिजीव प्रवाह मिश्रित हें सो केवल लौकिकक्रियामें प्रीतिवारे होय हें, वेही आसुरीजीव कहे जायहें.

ओर मर्यादामार्गीय पुष्टि मिश्रित हें सो भगवानके माहात्म्यकुं जानिके भगवानकी प्रीतिकेलिये कर्म करिवेवारे होय हें. तथा मर्यादामार्गीय जीव मर्यादा मिश्रित हें सो स्वर्गादिक फलकेलिये कर्म करिवेवारे होय हें. ओर मर्यादामार्गीय जीव प्रवाह मिश्रित हें सो लौकिक फलकेलिये कर्म करिवेवारे होय हें.

एसें मिश्रजीवके नव भेद हें. ओर अत्यन्त प्रेमकरिकें भगवान् सिवाय अन्यस्फूर्ति रहित हें सो शुद्धपुष्टजीव हें. एसे भक्त अति दुर्लभ हें. भगवानके रमणको पात्र यह जगत् हे तासूं रमणरूप भगवानको कार्य सिद्ध होयवेकेलिये एसे जुदे-जुदे प्रकारके

जीवनकी सृष्टि हे. क्यों जो विचित्रता विना रमण सिद्ध होय नाहीं तासूं विचित्र जीवनकी सृष्टि करी हे॥151—ञ्चए2॥

विशेष:* इहांसूं श्रीकल्याणरायजीकी **टीका**के अनुसार जीवनके भेद लिखे हें.

एसें जीवनमे जुदे-जुदे भेद हें. तासूं विनके देह तथा क्रियादिकनमे हु जुदो-जुदो भेद दीखवेमें आवे हे. तिनमें पुष्टिजीवनको फल कायाकरिकें हे एसें प्रथम निरूपण कियो हे. तामें कितनेक भक्तनकु भगवानकी बाल्यावस्थाको सुख मिले हे, कितनेकनकु पौगण्डावस्थाको सुख मिले हे ओर कितनेकनकु किशोरादिक अवस्थाको सुख मिले हे. एसें शुद्धपुष्टनकोहु जुदे-जुदे प्रकारको फल दीखवेमें आवे हे. सो शुद्धपुष्टिभक्तनको जुदो-जुदो फल क्यों होय? एसी शङ्का मिटायवेकेलिये कहत हें:

एवं सर्गस्तु तेषां हि फलं त्वत्र निरूप्यते॥16॥
भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि॥
गुण-स्वरूप-भेदेन तथा तेषां फलं भवेत्॥17॥

एवं=या प्रकारसूं
तेषां=विनकी, सर्गः=सृष्टि
तु=तो(निरूपितं=निरूपित करी)
अत्र=यहां, तु=तो
फलं=फलको
निरूप्यते=निरूपण करे हें
हि=निश्चय
भगवान् एव=भगवान् ही
फलं=फल, स=वो
भुवि=पृथ्वीपे
गुणस्वरूपभेदेन=गुण ओर-
स्वरूपके भेदसों, यथा=जा प्रकारसों
आविर्भवेत्=प्रकट होंय हे
तथा=वा प्रकारसों
तेषां=विनकुं, फलं=फल

भवेत्=होय हे

भावार्थ : एसें जीवनको सर्ग जुदो-जुदो हे. तामें पुष्टिमार्गीय जीवनके फलको निरूपण करत हें. पुष्टिमार्गमें गुण ओर स्वरूप के भेदकरिकें भगवान् जेसें प्रकट होंय तेसें पुष्टि जीवनको फल होय हे.

टीका : इतने भगवानके स्वरूपहीमें आसक्तिवारे जो पुष्टजीव हें तिनके हदयमें अथवा गृहमें अथवा वृन्दावनादिक स्थानमें इनकुं अपने स्वरूपको आनन्द देवेकेलिये बाल्य, कैशोरादिक अवस्थायुक्त स्वरूपकरिकें भगवान् जेसें प्रगट होय हें तेसो सुख तिनकों प्राप्त होय हे. परन्तु सब पुष्टिभक्तनकु भगवानको स्वरूपानन्दात्मकही फल मिले हे॥ 17॥

एसें पुष्टिमार्गको फल अन्य मार्गसूं नाहीं मिले हे एसें सिद्ध कियो. अब मिश्रपुष्ट जीवनमे कोउ स्थलमें शाप भयो होय एसो दीखवेमें आवे हे. सो गर्भस्तुतिमें कह्यो हे जो “ज्ञानमार्गीय जीव जेसें उत्तम पदकुं चढिके फेरि वहांसूं गिरत हें तेसें आपके भक्त कबहु नाहीं गिरत हें”. तब पुष्टिमार्गीय जीवनको शाप होयके गिरनो योग्य नाहीं हें तो क्यों गिरत हें? एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित्॥
अहङ्कारे ऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि॥18॥

आसक्तौ=आसक्ति होयवेपे
अथवा=या, अहङ्कार =अभिमान-
होयवेपे, लोके=भूतलपे
तन्मार्गस्थापनाय=वा मार्गकी
स्थापनाकेलिये
क्वचित=कबहुक
भगवान्=भगवान्
एवं=एसें, शापं=शाप
दापयति=दिवावे हें

भावार्थ : मिश्रपुष्टजीवनको अन्यमें आसक्ति होय अथवा अहङ्कार होय तो कोउ समय भगवान्ही विनकों शाप दिवावें हें. तेसें कोउ समय लोकमें मर्यादाको स्थापन करिवेकेलियेहु भगवान् शाप दिवावें हें.

टीका : इतनें जेसें नलकूबर तथा मणिग्रीव कुं अप्सरामें आसक्ति भई तब नारदद्वारा शाप दिवायो. तेसें चित्रकेतुकुं तथा परीक्षितकुं अहङ्कार भयो तब चित्रकेतुकुं पार्वतीजीद्वारा ओर परीक्षितकुं शमीकके पुत्र शृङ्गीद्वारा शाप दिवायो. ओर इन्द्रद्युम्न राजाने अगस्त्यमुनि आये तब अभ्युत्थानादिक कियो नाहीं तब लोकमें मर्यादाको स्थापन करिवेकेलिये अगस्त्यद्वारा शाप दिवायो. एसें जहां मिश्रपुष्टजीवनको शापादिक (अपराध?) होय हे, (वहां) भगवान्ही तिनकों दण्ड दिवायकें फेरि पुष्टिमार्गहीमें स्थापन करे हें; अथवा लोकमें मर्यादाको अतिक्रम न होय तासूंहु शापदिवावे हें॥18॥

मिश्रपुष्टनको भगवान्ही शाप दिवावें हें एसें क्यों जानियें? एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

न ते पाषण्डतां यान्ति न च रोगाद्युपद्रवा:॥
महानुभावा: प्रायेण शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे॥19॥

ते=वे
पाषण्डतां=पाखण्डपनेकुं
न यान्ति=प्राप्त नाहीं होय हें
च=ओर(तेषां=विनकुं)
रोगाद्युपद्रवा:=रोग आदि उपद्रव
न=नाहीं(भवन्ति=होय हें)
प्रायेण=अधिक करके(ते=वे)
महानुभावा:=महानुभाव
(भवन्ति=होय हें)
शास्त्रं=शास्त्रकी
शुद्धत्वहेतवे=शुद्धिके कारण
(भवति=होवे हें)

भावार्थ : जिनकों भगवान् शाप दिवावें हें वे भक्त, फारि लोक-वेद-भक्तिमार्गसूं विरूद्ध नाहीं होंय हें. तथा उनकुं रोगादि उपद्रवहु नाहीं होंय हें. बहोतकरके वे महानुभाव होय जाय हें. विनकुं भगवान् शापरूप जो शिक्षा देय हें सो केवल विनको मिश्रभाव मिटायके शुद्धप्रेमी करिवेकेलियेही समजनो.

टीका : जिनकों शाप होय सो भक्त पाषण्डी नाहीं होय हें किन्तु अत्यन्त भक्त होंय हें. तासूंही भगवा**नने** ही दण्ड दियो हे एसें जाननों. तेसें विनकुं रोगादिक उपद्रवहु नाहीं होय हें. बहुतकरिके वे महानुभाव होय हें. तासूं अन्यकेलिये भगवान् भक्त**नको** दु:ख देंय हें ये दोषहु नाहीं हे. तथापि अल्पकारणमें इतनो दण्ड देनो कृपालु प्रभुकुं योग्य नाहीं हे एसें कोउ कहे तहां कहत हें जो भगवान् शाप दिवावें हें सो मिश्रपुष्ट**नको** शुद्धपुष्ट करिवेकेलिये दिवावे हें. यदि भगवान् विनकों शाप नाहीं दिवावें तो विनके मिश्रपनेकी निवृत्ति होय नाहीं, तब शुद्धपुष्टपनो होय नाहीं. तासूं शुद्धपुष्टपनों करिवेकेलिये शाप दिवावे हें तामें विनकों फलदेवेकी कृपाही कारण हे॥19॥

मिश्र पुष्टभक्त**नमे** जिनकों शुद्ध करिवेकी इच्छा हे विनकों उत्तम कहने चहिये तब एसे**नकु** एसो भाव क्यों भयो? एसें कोउ कहे तहां कहत हें:

भगवत्-तारतम्येन तारतम्यं भजन्ति हि॥

भगवत्तारतम्येन=प्रभुके स्वरूपके
तारतम्यसों, (ते=वे)हि=हु
तारतम्यं=तर-तम भावकुं
भजन्ति=प्राप्त होवे हें

भावार्थ : "यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं" या श्रुतिसों मालुम पड़े हे के भगवान् अनेक रूपवारेहु हें. तासों भगवान् जेसे-जेसे स्वरूपभेदको स्वीकार करे हें, विनके भक्तहु वेसे-वेसे भावके तारतम्यकों ग्रहण करेंहें.

टीका : भगवान् अनन्तरूप हें तासूं जा भगवत्स्वरूपमें भक्तिवारे मिश्रपुष्टजीव होंय वा स्वरूपमें जितनो तारतम्य होय वितनो तारतम्य जीवहु भुगते हें. इतनें, व्यूहमें, कलामें, आवेशमें ओर पूर्णमें सूं जिनमें विनकी भक्ति होय तिन सब**नके** तारतम्यसूं

मिश्रपुष्टभक्तकोहु तारतम्य होय हे. तासूंही समर्षणके उपासक चित्रकेतु पार्वतीके शापसूं वृत्रासुर होयके इन्द्रसूं जब युद्ध करत हते तब विनने समर्षणके चरणमेंही मनको निवेश कियो हतो. ओर इन्द्रद्युम्नराजा निर्गुणस्वरूपके उपासक हते, सो अगस्त्यमुनिके शापसूं गजेन्द्र भये तबहु स्तुतिमें (विननें) निर्गुण(स्वरूप)कोही वर्णन कियो हे. तेसें भगवानको स्वरूप तथा विनके भजनके प्रकारके तारतम्यसूं भक्तनको फलमेंहु तारतम्य होय हे. इतनें जेसी भक्ति होय तेसो भगवत्स्वरूपको आविर्भाव होय हे ओर वाही प्रमाण फल होय हे॥191—ञ्ए2॥

पुष्टभक्तनको जब केवल भगवत्परायणपनोही हे तब विनकों श्रौत-स्मार्त कर्माचरण कर्तव्य हे किंवा नाहीं? तेसें जो भक्त श्रौत-स्मार्त कर्म करत हें सो क्यों करत हें? एसी शङ्का की निवृत्तिकेलिये अब पुष्टजीवको स्वरूप जानिवेमें आवे तेसें विनको लक्षण कहत हें. तासूं वाही प्रसङ्गसों सबनको लक्षण कहत हें:

वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात् तेषु नान्यथा॥20॥
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्यय:॥

तेषु=विनमें
वैदिकत्वं=वैदिकपनों(च=ओर)
लौकिकत्वं=लौकिकपनों
कापट्यात्=कपटसूं(अस्ति=हे)तरहसूं
न=नाहीं(अस्ति=हे)
वैष्णवत्वं=वैष्णवपनो
हि=ही, सहजं=सहज
अन्यत्र=अन्य सब जगह
तत:=वासूं, विपर्यय:=विरुद्ध(अस्ति=हे)

भावार्थ : पुष्टभक्तनमे वैदिकक्रिया ओर लौकिकक्रिया हे सो कपटपनेसूं हे, आसक्तिपनेसूं नाहीं हे. ओर वैष्णवपनो हे सो विनको स्वभावही हे. परन्तु मर्यादा जीव ओर लौकिक जीवन् में यासूं विरूद्ध होय हे. अर्थात् वैष्णवपनो कपटपनेसूं ओर वैदिकपनो स्वभावसूं तथा वैष्णवपनो कपटपनेसूं ओर व्यवहारासक्ति स्वभावसूं होय हे

टीका : सो गीताजीमें कह्यो हे जो “कर्ममें आसक्तिवारे अज्ञानी जन जेसें कर्म करें हें तेसें कर्ममें आसक्त न होय सोहु लोककों शिक्षा देवेकेलिये करे”. सो अपुनो भक्तपनो गुप्त राखिवेकेलिये वैदिककर्म तथा लौकिककर्म करिके अपनो वैदिकपनो तथा लौकिकपनो जतावे. तेसेंही भक्तनकु हु वैदिक-लौकिक कर्म करिवेको कछु प्रयोजन नाहीं होत हे, तथापि विनकुं देखिके दूसरे लोगहु वैदिक तथा लौकिक मर्यादामें रहें तासूं करनो, परन्तु आसक्तिसूं करनों नाहीं. “कपटपनेसूं करनो” एसें जो कह्यो हे ताको येही अभिप्राय हे.

तथा मर्यादामार्गीय जीवनको वैष्णवपनो तथा लौकिकपनो कपटसूंही होय हे ओर वैदिकपनो (मर्यादामार्गीयपनो) स्वाभाविक हे. ओर प्रवाही जीवनको वैष्णवपनो तथा वैदिकपनो कपटपनेसूं हे ओर लौकिकपनो स्वाभाविक हे॥201—ञ्ए2॥

पुष्टि, प्रवाह ओर मर्यादा एसें तीन प्रकारके जब जीव हें तब कितनेक सबनमे समानदृष्टिवारे ओर सब धर्मनमे अभिनिवेशवारे क्यों दीखवेमें आवत हें? एसें जानिवेकी इच्छा होय तहां कहत हें:

सम्बन्धिनस्तु ये जीवा: प्रवाहस्थास् तथाऽपरे॥21॥
‘चर्षणी’शब्द-वाच्यास् ते ते सर्वे सर्व-वर्त्मसु॥
क्षणात् सर्वत्वम् आयान्ति रुचिस् तेषां न कुत्रचित्॥22॥
तेषां क्रियाऽनुसारेण सर्वत्र सकलं फलम्॥

ये=जो, सम्बन्धिन:=सम्बन्धवारे
जीवा:=जीव, तथा=ओर(ये=जो)
प्रवाहस्था:=प्रवाहमार्गमेंरहेभये
अपरा=दूसरे(जीवाजांय हें
ते=वे, सर्वे=सब जगह
सर्ववर्त्मसु=सबतरहसूं बरतवेवारे
क्षणात्=क्षणभर, सर्वत्वं=सर्वपनेकुं
आयान्ति=प्राप्त होय हें
तेषां=उनकी, रुचि:=रुचि
कुत्रचित्=कहुं, न=नाहीं

(भवति=होत हे)
सर्वत्र=सब जगह,तेषां=विनकुं
क्रियानुसारेण=क्रियाके अनुसार
सकलं=सकल, फलं=फल
(भवति=होय हे)

भावार्थ : पुष्टि, प्रवाह ओर मर्यादा ये तीनों मार्गन्सूं सम्बन्धवारे (मार्गके नाहीं) जो जीव हें ओर विनसूंहु हीन दूसरे जो प्रवाहिजीव हें सो सब मार्गमें क्षण-क्षणमें आवें-जावें हें. परन्तु कोउ मार्गमें विनकी रुचि होत नाहीं हे. विनकों जेसी क्रिया करे ताप्रमाण सब मार्गनमे किञ्चित्-किञ्चित् फल होय हे.

टीका : इतने पञ्चरात्रमें मध्यम ओर अधम जीव कहें हें सो ये 'चर्षणीजीव' कहे जाय हें. विनकी गति यमके आधीन हे. विनमेंसूं जो तीनों मार्गके सम्बन्धवारे जीव हें सो जन्म-मरणही लियो करत हें. ओर प्रवाहिमें हें तिनकी गति नरकमें हे॥221—2॥

एसें प्रसङ्गसूं आई भई सब हकीकत कहिके प्रवाहको भेद क्रमसूं प्राप्त भयो हे ताको निरूपण करत हें:

प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपाङ्ग-क्रियायुतान्॥23॥
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे "प्रवृत्तिं चेति" वर्णिताः॥
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञ-दुर्ज्ञ-विभेदतः॥24॥
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास् तान् अनु ये पुनः॥

स्वरूपाङ्ग-क्रिया-युतान्=स्वरूप-
अङ्ग ओर क्रिया सहित
प्रवाहस्थान्=प्रवाहमार्गीनकु प्रवक्ष्यामि=आछीभांतिसोंकहूंगो
ते=वे, सर्वे=सभी
जीवाः=जीव, हि=निश्चितरूपसूं
आसुराः=आसुर (सन्ति=हें)
प्रवृत्तिं च=प्रवृत्ति ओर
इति=या प्रकारसूं
वर्णिताः=वर्णित

(सन्ति=हें) च=ओर
अज्ञ-दुर्ज्ञविभेदत:=अज्ञ
ओर दुर्ज्ञ एसे भेदसूं
द्विधा=दो प्रकारके
प्रकीर्त्यन्ते=कहे जांय हें(ये=जो)
भगवत्प्रोक्ता:=भगवान्द्वाराकहेगयेहें
ते=वे, दुर्ज्ञा:=दुर्ज्ञ
ये=जो, पुन:=फिर
तान्=विनकुं, अनु=अनुकरणहें

भावार्थ : स्वरूप देह क्रियासूं युक्त प्रवाहमार्गीय जीवनकु मैं कहुंगो. "प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा:" इत्यादि श्लोकन्सों गीताजीमें जिनको वर्णन भगवानने कियो हे वे सब 'आसुर' (प्रवाही) जीव हें. वे जीव अज्ञ ओर दुर्ज्ञ इन दो भेदन्सों दो प्रकारके कहे हें यह निश्चय हे. जो जीव उन आसुरनको अनुकरण करें हें वे 'अज्ञ' कहे जांय हें.

टीका : इतनें, भगवानने गीताजीके षोडशाध्यामें "आसुरीजीव प्रवृत्ति-निवृत्तिकुं नाहीं जाने हें" इहांसूं आरम्भ करिके "ता पाछें अधमगतिकुं प्राप्त होय हें" यहां तांई जिन जीवनको निरूपण कियो हे सो सब आसुरीजीव हें. तिनमें सब लक्षण यद्यपि सबनमे न होंय तथापि जितने लक्षण लिखे हें तिनमेंसूं कछुक लक्षणवारेहु जीव होंय तोहु आसुरजीव जाननें. सो जीव अज्ञ ओर दुर्ज्ञ एसे भेदसूं दो प्रकारके हें. तामें गीताजीमें भगवानने जिनको स्वरूप लिख्यो हे सो 'दुर्ज्ञ' जाननें. ओर विन दुर्ज्ञ जीवनकु अनुसरिवेवारे जो जीव हें सो 'अज्ञ' जाननें. सो अज्ञ जीवनकु दुर्ज्ञनके सङ्गसूं भगवान् तथा भक्तनमे द्वेष भयो होय सो द्वेष जब छूटे तब अपनी प्रकृतिमें आय जाय हें. विनकों भगवानके सङ्ग द्वेष होय तब यदि भगवान् स्वयं मारें तब मुक्त होंय. तासूं भगवा**ननें** मारे एसे जो-जो असुर मुक्त भये हें सो सब अज्ञ जाननें॥241—ञ्चए2॥

ऊपरके निरूपणमें प्रावाहिकसर्ग आसुर ओर हीन कह्यो हे. तब एसी आसुर सृष्टिमें तो आसुर जीवकीही उत्पत्ति होनी चहिये, भगवानके अनुग्रहयोग्य जीवनकी उत्पत्ति नाहीं होनी चहिये! ओर बलिराजा तथा प्रह्लाद आदिककी उत्पत्ति आसुरी कुलमें

देखिवेमें आवत हे, ओर विनके ऊपर भगवानको अनुग्रहहु देखिवेमें आवत हे सो केसें? एसें जानवेकी कोउकु इच्छा होय तहां कहत हें:

प्रवाहेऽपि समागत्य पुष्टिस्थस् तैर् न युज्यते॥25॥
सोऽपि तैस् तत्कुले जात: कर्मणा जायते यत:॥

॥ इति श्रीवल्लाभाचार्यविरचित: पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: सम्पूर्ण: ॥

पुष्टिस्थ:=पुष्टिमार्गमेंरह्योभयो
प्रवाहे=प्रवाहमार्गमें
समागत्य=आयके, अपि=हु
तै:=विनके(सह=सहे
स:=वो, अपि=हु
तै:=विनसूं
(न=नाहीं
युज्यते=मिलिजाय हे)
यत:=क्योंके
कर्मणा:=कर्मन्सूं
तत्कुले=वा कुलमें
जात:=जक्म्यो(अस्ति=हे)

भावार्थ : जो पुष्टिमार्गीय जीव हें सो भगवानको अथवा भक्तको अपराध करें तो आसुरकुलमें विनको जन्म होय हे. तथापि प्रवाहमें आयकेंहु वे आसुरधर्ममें आसक्त नाहीं होय हें.

टीका : इतनें, पुष्टिमार्गीय जीव यदि प्रवाहमें आय जावे तोहु प्रवाहीनमे आगमन भयेसूं वे आसुरधर्मसों युक्त नाहीं होय हें. ओर भगवद् अपराध अथवा भक्तनको अपराध कियो होय तो एसे कर्मकरिकें आसुरकुलमें जन्म होय हे. परन्तु, आसुरधर्म विनमें नाहीं आवे हे. ओर जन्म होनों सो तो कर्मसूं होय हे. येही निबन्धमें भक्तिप्रकरणमें कह्यो हे जो “या भक्तिमार्गमेंहु वेदकी निन्दा करें अथवा अधर्म करें तो नरकमें तो प्राप्त न होय परन्तु हीन योनिमें जन्म होय”॥251—ञ्ए2॥

इहांसूं अगाड़ी प्रवाहमार्गीय जीवनके प्रयोजन, स्वरूप, साधन, अङ्ग, क्रिया ओर फल तथा मर्यादामार्गीय जीवनके प्रयोजन, स्वरूप, अङ्ग, क्रिया, साधन ओर फल विषे जितने ग्रन्थसूं जानिवेमें आवें तितनों ग्रन्थ होनो चहिये. परन्तु आधुनिक जीवनके प्रारब्धवश इहांसू अगाड़ी ग्रन्थ मिले नाहीं हे यासूं जितनो ग्रन्थ मिले हे तितनेको व्याख्यान लिख्यो हे (एसें श्रीपुरुषोत्तमजी लिखत हें).

इति श्रीवल्लभाचार्य विरचित पुष्टिप्रवाहमर्यादाकी
गोस्वामि श्रीनृसिंहलालाजीमहाराज विरचित
टीका व्रजभाषामें सम्पूर्ण भई॥

सिद्धान्त-रहस्यम् ग्रन्थ-परिचय

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

एक किन्वदन्तीके अनुसार सिद्धान्तरहस्यका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने वि. सं. 1549 में किया था. श्रीमहाप्रभुके चरित्रग्रन्थों तथा इस ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्यके आधारपर यह निश्चित है कि इसकी रचना गोकुलमें श्रावण शुक्ल एकादशीको अर्धरात्रीमें हुई थी.

श्रीयदुनाथजी विरचित वल्लभदिग्विजयके मध्यमयात्रा परिच्छेदमें यह घटनायों वर्णित हैं-“श्रीमहाप्रभु मथुरासे गोकुल पधारे. वहां श्रावण शुक्ला एकादशीका व्रत एवम् जागरण किया. मध्यरात्रीमें भगवानने प्रकट होकर दर्शन दिये. तब श्रीमहाप्रभुने पवित्रा धराकर मिश्रीका भोग धरा. पश्चात् श्रीगोकुलनाथने श्रीमहाप्रभुको आश्वस्त किया की उन्हें दैवी जीवोंके उद्धारकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. दैवी जीवोंके उद्धारार्थ प्रस्तुत ग्रन्थमें वर्णित भावनाके साथ गद्यमन्त्रका दान (मदुक्तभावनासहितं गद्यम्.) श्रीमहाप्रभुको दिया गया. अन्योंको भी इस भावनाके उपदेशके साथ गद्यमन्त्रके द्वारा दीक्षित करनेका आदेश दिया गया. श्रीमहाप्रभुको वचन दिया गया कि जिसे यह सर्वस्वसमर्पणपूर्वक आत्मनिवेदनकी दीक्षा दी जायेगी उसकी अहन्तामममता के सेवामें विनियोग द्वारा उसे भगवल्लीलाकी अनुभूतिका सामर्थ्य प्रदान किया जायेगा. प्रातः श्रीमहाप्रभुने यह दीक्षा दामोदरदास तथा कृष्णदास को दी”.

84 वैष्णवनकी वार्तोके अनुसार भगवदाज्ञाके बाद श्रीमहाप्रभुने समीप में सोये हुए दामोदरदास हरसानीको पूछा-“दमला! ते कछु सुन्यो? तब दामोदरदासने कह्यो जो महाराज! मैंने श्रीठाकुरजीके वचन सुने तो सही समझ्यो नाहीं”.

सुना तो बृहदारण्यकोपनिषद्में भी सभीते था-समर्पण सिद्धान्त, “अयमात्मा सर्वेषां भूतानाम् अधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा. तद्यथा रथनाभौ रथनेमौ चाराः समर्पिताः एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एवात्मानः समर्पिताः”. पर समझमें कहां आता है! सभी कुछ जिस परमात्मामें समर्पित है उस परमात्माके प्रति मन-वाणी-देहसे सर्वसमर्पणकी स्वीकृति सबकी समझमें नहीं आती. अतएव कह तो भगवान्ने गीतामें भी दिया है कि “मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु, मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियो मे” पर भगवान्की इस प्रतिज्ञाका तथा प्रेमाश्वासनका तात्पर्य कहां समझमें आता है? सुनी तो भागवतमें भी हमने भगवद्वाणी है कि “ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परं हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे” पर वह कहां समझमें आती है!

स्वयम् इस सिद्धान्तरहस्यमें साक्षाद् भगवदुक्त भावनासहित गद्यमन्त्रमेंसे जब श्रीमहाप्रभुने अक्षरशः भगवदुक्त भावना दोहरा दी फिर भी वह सुनने के बाद भी समझमें नहीं आती! कई विद्वानोंको सन्देह होता है कि गद्यमन्त्र साक्षाद् भगवदुक्त है या श्रीमहाप्रभूक्त है या श्रीप्रभुचरणोक्त है या श्रीगोकुलनाथजीने इसे परवर्ती कालमें जोड दिया है! तर्क वितर्क उठते रहते हैं कि “साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते” कहने के बाद जब गद्यमन्त्र नहीं कहा गया तो अवश्य ही वह परवर्ती कालमें श्रीप्रभुचरणके चतुर्थात्मज श्रीगोकुलनाथजीने जोड दिया होगा! परन्तु इस अक्षरशः निरूपणमें तो पञ्चाक्षरमन्त्र भी नहीं दोहराया गया हैं, तो केवल गद्यमन्त्र ही क्यों-पञ्चाक्षर मन्त्रको भी प्रक्षिप्त क्यों न मान लिया जाये. जबकि श्रीगोकुलनाथजीसे पूर्ववर्ती श्रीकृष्णदास अधिकारी-“श्रीगोपालमन्त्र अष्टाक्षर पञ्चाक्षर के श्रवन कराये, गद्यमन्त्र सब जीवनिको दे कृष्णचरण सबके चित लाये.” तथा “कृष्ण श्रीकृष्ण मनमाहि गति जानिये, देह इन्द्रिय प्राण दारागारादिवित्त आत्मा सकल श्रीकृष्णकी मानिये. कृष्ण मम स्वामी हों दास

मनवचकरम कृष्ण कर्ता येही सदा जिय आनिये. कृष्णदास निनाथ हरिदासवर्यधरचरणरज वल्लभाधीश मन सानिये." कहते हैं. इसे सुनते और निरन्तर गाते रहनेपर भी आज यह समझमें नहीं आता!

कतिपय विद्वानोंके अनुसार अतएव यह गद्यमन्त्र श्रीगोकुलनाथजी द्वारा नहीं किन्तु श्रीप्रभुचरण द्वारा पञ्चाक्षरके साथ जोडा गया माना जाता है. जबकि उनके ज्येष्ठभ्राता श्रीगोपीनाथजी स्वरचित साधनदीपिकामें-"नायमात्मा प्रवचनैः न धिया बहुना श्रुतैः, लभ्यते वरणं हित्वा वृतं संवृणुते श्रुतेः, स्मृत्वा स्वीयवियोगाग्निं तापदाहो भावाम्बुधौ, ततः सर्वं समर्प्यैव श्रीगोपालमनुं श्रयेत इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियं दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्" कहते है तो स्पष्ट हो जाता है कि गद्यमन्त्र प्रभुचरणसे पूर्व ही दीक्षाविधिमें समाविष्ट हो गया था. किन्तु "महाराज! सुन्यो पर समुझ्यो नाहीं!"

निवेदन समर्पण एवम् विनियोग उत्तरोत्तर एक-दूसरेके रहस्य या तात्पर्यरूप हैं. पञ्चाक्षरमन्त्रके द्वारा जो आत्मनिवेदन किया जाता है, गद्यमन्त्रमें उन्हीं 'आत्मा' तथा 'निवेदन' का रहस्य आत्मीय सकल पदार्थोके समर्पणके रूपमें समझाया गया है. गद्यमन्त्रमें जिस आत्मा एवम् आत्मीय सकल पदार्थोका समर्पण किया जाता है, उसका रहस्य अपने स्वामी श्रीकृष्णकी तनुवित्तजा सेवामें स्वयम् अपने तथा अपनेसे सम्बन्धित सभी पदार्थो के विनियोगमें निहित है. अन्यथा समर्पण पूर्णतया चरितार्थ हो नहीं पाता. समर्पितका विनियोग भी अतः आवश्यक है.

श्रीमहाप्रभुको आत्मनिवेदनकी भावनाके रूपमें यही प्रभुने प्रकट होकर समझाया था-"असमर्पितवस्तूनां तस्माद् बर्जनमाचरेत् निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः". आत्मनिवेदीको असमर्पित वस्तुका त्याग करना चाहिये.

अपने सारे कामकाज समर्पणपूर्वक ही चलाने चाहिये. यही ब्रह्मसम्बन्ध या आत्मनिवेदन की मूलभावना है.

"निवेदनके समय अपनेसे सम्बन्धित सभी वस्तुओंका प्रभूसे-ब्रह्मसे सम्बन्ध हो जाता है..... जिन्होंने अपने प्राणोंको कृष्णसात् कर लिया है उन्हें किस बातकी चिन्ता हो सकती है?" नवरत्नके इस वचनकी तथा सिद्धान्तरहस्यके "ब्रह्मसम्बन्ध करनेसे सभीके देह तथा जीव के सभी तरहके दोष निवृत्त हो जाते है" इस वचनकी परस्पर सङ्गति बैठानेपर पञ्चाक्षरमन्त्रद्वारा आत्मनिवेदन तथा गद्यमन्त्रद्वारा वियोगाग्निके स्मरणपूर्वक आत्मीय सकल पदार्थोके समर्पणको मिलाकर 'ब्रह्मसम्बन्ध' कहा जाता है. यही सिद्धान्तका रहस्य हमें सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थमें सुनायी पडता है.

यही रहस्य श्रावण शुक्ला एकादशीकी महानिशामें साक्षात् भगवान्ने प्रकट होकर श्रीमहाप्रभुको सुनाया था. उस पञ्चाक्षर तथा गद्यमन्त्र के अंशको गोप्य होनेके कारण छोडकर समर्पणके सिद्धान्तके इस भगवदुक्त रहस्यको यहां अक्षरशः श्रीमहाप्रभुने दोहरा दिया है. जो बात भगवानने गद्यमन्त्रकी भावनाके रूपमें कही थी उसीका यहां अक्षरशः निरूपण है पञ्चाक्षर या गद्य मन्त्रका नहीं.

जीव तो अनेक प्रकारके दोषोंसे भरे हुए है. उदाहरणतया 1.अविद्याके साथ सम्बन्ध, तत्कृत अहन्ता-ममताकी भ्रान्ति, तत्कृत प्राणधारणके प्रयत्न जैसे दोष आत्माके साथ लगे रहते है. सूक्ष्म शरीरमें काम-क्रोध-लोभ आदि तथा क्षुधापिपासा जैसे अनेक सहज दोष विद्यमान रहते है. इसी तरह स्थूल शरीरमें भी अनेक तरहकी अशुद्धि तथा रोगादि दोष सहज पाये जाते है. 2.पापबहुल प्रदेशोंमें जन्मग्रहण करनेसे या कभी तो गमनमात्रसे भी शास्त्रोंके

अनुसार दोष लग जाते है. 3.कलिकालके कारण अनेक धार्मिक व्यवस्था लुप्त हो गयी है. अतः कालजन्य दोषोंको भी शास्त्रमें स्वीकारा गया है. 4.कभी-कभी जानबूझकर या मोहवश हम ऐसे आचरण कर बैठते हैं जिन्हें लोक एवम् शास्त्र में निन्दित माना जाता है. 5.कभी-कभी अपरिहार्य स्थितिमें अनचाहे अनजाने ऐसे गलत काम हमसे हो जाते हैं या हठात् करने पडते है जो लोकवेदनिन्दित हों.

इस तरह लोक तथा वेदों में गर्हित अनेक प्रकारके दोषोंसे जीव भरा हुआ रहता है. किन्तु ब्रह्मसम्बन्ध होनेपर ये दोष निवृत्त चाहे हों या न हों पर पुष्टिजीवद्वारा की जानेवाली भगवत्सेवामें बाधक नहीं हो सकते. ब्रह्मसम्बन्ध के अलावा अन्य किसी भी प्रकारसे इन दोषोंकी निवृत्ति सम्भव नहीं है.

ब्रह्मसम्बन्धका वास्तविक स्वरूप असमर्पित वस्तुके त्याग करनेपर ही सम्पन्न होता है. कुल मिलाकर बात इतनी ही है कि जिसने आत्मनिवेदन किया है उसे अपने सारे कामकाज समर्पणपूर्वक ही चलाने चाहिये. किन्तु इसमें एक सावधानी अपेक्षित है कि हम ऐसी किसी भी वस्तुका, जिसका उपभोग प्रथम हमने कर लिया हो, देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णको समर्पण न करें. हमारे प्रथम उपभोगके कारण वस्तु हमारी अर्धभुक्त या उच्छिष्ट हो जाती है और उसे श्रीकृष्णको समर्पित करनेकी कोई तुक नहीं है. अतः हमारे उपभोग करनेसे पूर्व सभी वस्तुओंका समर्पण आवश्यक है.

भगवदर्थ सभी वस्तुओंका समर्पित कर देनेपर आत्मनवेदीके दैनंदिन व्यहार कैसे निभ पायेंगे? और असमर्पितका भी उपभोग निषिद्ध माना गया है तो यह दोनों बाते कैसे शक्य होंगी?

“भगवान्को दानरूपमें जो कुछ भेंट कर दिया जाता है उसका पुनः अपहरण या उपभोग नहीं करना चाहिये” यह विधान पुष्टिमार्गीय साधना प्रणाली पर लागू नहीं होता. क्योंकि पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें जैसे घरके सेवक मालीककी उपभोग की हुई वस्तुओंका-अन्नवस्त्रादिका उपभोग लोकमें करते ही है. वैसे ही सब कुछ पहले एकबार प्रभुको समर्पित करना चाहिये और पश्चात स्वयम्के उपभोगार्थ ग्रहण करना चाहिये. अतः सर्वसमर्पण एवम् असमर्पित त्यागके सिद्धान्तमें न तो विरोधाभास और न किसी प्रकारकी कठिनाई ही है. ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय जिन वस्तुओंका हम समर्पण करते हैं उनका साक्षात् या परम्परया किसी भी तरह एक बार भगवान्की सेवामें विनियोग हो जानेपर उनके सारे दोष निवृत्त हो जाते है. अतः इस तरहकी दोषरहित ब्रह्मभावापन्न वस्तुओंके उपभोगमें किसी भी प्रकारके सांसारिक अनर्थकी सम्भावना नहीं रह जाती है. जैसे नदी-नाले गङ्गामें मिल जाने पर गङ्गाजल ही मान लिये जाते है-उनके स्वतन्त्र अस्तित्व या गुणदोषों का विचार नहीं किया जाता. ठीक इसी तरह भगवान्की अलौकिक सेवाके अङ्ग बन जानेपर सांसारिक वस्तुओंके भी स्वतन्त्र गुणदोषोंका विचार अनावश्यक हो जाता है.

भगवान्के द्वारा लिये गये सारे जागतिक रूप भगवान्के हैं तथा भगवान्के लिए हैं. हमारे स्वयम्के भी अस्तित्व तथा प्रयोजन भगवद्लीलाके अङ्गरूप तथा भगवत्सेवार्थ है. अतः भगत्समर्पणके बाद भगवत्प्रसादके रूपमें उनका पुर्नग्रहण दोषरहित है. जब सब कुछ भगवान्का भगवत्सेवार्थ बन जाता है तो भगवदात्मक हो जाता है.

यही पुष्टिमार्गके सिद्धान्तका गूढतम रहस्य है. यही पुष्टिमार्गके प्रमुखकर्तव्य भगवत्स्वरूपकी सेवाकी दीक्षा लेते समय और लेनेके बादकी भगवान्को अभिप्रेत भावना है. यही भावना गोकुलमें प्रकट होकर भगवान्ने

श्रीमहाप्रभुको समझायी थी. उस महानिशामें पुष्टिजीवोंके उद्धारकी चिन्तामें जागृत श्रीमहाप्रभुकी चिन्ता इस रहस्यके प्रकाशनद्वारा दूर की गयी थी. पर आजतक श्रीमहाप्रभुके समीप सुषुप्त उनके पुष्टिजीव इस सिद्धान्तरहस्यको सुनकर भी समझ नहीं पाते है.

"दमला! यह मारग तेरे लिए प्रकट कियो है" कितना अपनत्व है इस वाणीमें! "दमला! ते कुछ सुन्योऽ?" कितनी उत्कण्ठा है इस प्रश्नमें, सिद्धान्तके सारे रहस्यको अपने पुष्टिजीवोंको सुनानेकी और समझानेकी! चाहे जीव सुनकर भी समझ पाये या नहीं.

अतएव हरिजीवन कहते हैं कि जबतक प्रभु अपनत्व नहीं जताते तबतक पुष्टिमार्गके सिद्धान्त केवल पढ या सुन लेनेपर समझनें नहीं आते है. उपनिषद् गीता पञ्चरात्र तथा श्रीमद्भागवत सर्वत्र समर्पणका सिद्धान्त सभीने पढा और सुना भी किन्तु....

श्रीमद्भागवतरूप अमृतके सागरका सर्वोत्तम मन्थन कर श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुने ही अपने सुषुप्त पुष्टिजीवोंको जगाकर पूछा- "दमला! ते कछु सुन्योऽ?" श्रीमहाप्रभु केवल सुनाने या समझाने में ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते है. वे पुष्टिजीवके हाथमें परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्णको सोंपना चाहते हैं-"सेवा साज सिंगार सुभग रस न पान प्रकटायो, वृन्दावन निकुञ्जकी लीला हरि जीवन स्वाद चखायो, जो लों हरि आपुनपो न जनावे तो लों सकल सिद्धान्त मारगको पढे सुने नहीं आवे."

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. 1980 में भगवद्धर्मपरायण भाईलाल पुरुषोत्तमदासके आर्थिक सहयोगसे श्रीमूलचन्द तेलीवाला तथा श्रीधरजलाल व्रजदास सामलिया ने सम्पादित तथा प्रकाशित किया था. उसका यह

संस्करण ओफसेट प्रोसेस द्वारा पुर्नमुद्रित रूप है. इन सभी महानुभावोंका हम कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते है.

॥ सिद्धान्तरहस्यम् ॥

(10)

जब श्रीठाकुरजीनें अपने मनमें इच्छित प्रकारवारो शुद्ध पुष्टिमार्ग प्रकट करिवेकी इच्छा करी तब, अपने मुखारविन्दरूप श्रीआचार्यजी श्रीमहाप्रभूजीनको ही एसो भक्तिमार्ग प्रकट करिवेको सामर्थ्य जानिके, पृथ्वीके ऊपर प्रकट होयवेकी आज्ञा दीनी. तब श्रीआचार्यजीहु भगवानको अभिप्राय जानिके, विनकी आज्ञाके अनुसार

प्रकट होयके, भगवानको इच्छित प्रकारवारो पुष्टिभक्तिमार्ग प्रकट करते भये. तामें अपने मार्गकी भक्तिको स्वरूप, सेव्य प्रभुको स्वरूप; तथा सेवाको प्रकार कहुं दूसरे मार्गनके प्रकारतें मिल न जावे ताकेलिये प्रमाणपूर्वक विलक्षणतासूं निरूपण कियो. एसें दूसरेहु धर्म, अर्थ, काम ओर मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ तथा त्याग-विवेकादिक हु दूसरे मार्गसूं भिन्न निरूपण किये हें. तथापि पूजामार्गमें दोषनिवृत्तिकेलिये भूतशुद्धि प्रभृति जेसें किये जाय हें तेसें स्वमार्गमें सर्वदोषकी निवृत्तिपूर्वक सेवाके प्रकारको विचार नाहीं कियो हे ——एसें चिन्ता करिके जब श्रीआचार्यजी विचारमें परायण भये तब आनन्दमात्र कर-पाद-मुखोदरादिरूप श्रीठाकुरजी प्रकट होयके सेवामें प्रतिबन्ध करिवेवारे दोषनकी निवृत्तिको यथार्थ प्रकार जामें आय जाय हे; ओर जेसें अगाड़ीहु जीवन पर्यन्त सेवामें दोषको प्रवेश न होय तेसें उपदेश करत भये. वाही उपदेशकु अपने हृदयमें समझिके जा मासमें, जा पक्षमें, जा तिथिमें ओर जा समयमें श्रीठाकुरजीनें उपदेश कियो सो सब अपने भक्तनकु जतायवेकेलिये कहत हें:

श्रावणस्याऽमले पक्षे एकादश्यां महानिशि॥
साक्षाद् भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते॥1॥

श्रावणस्य=श्रावणके
अमलेअमल, पक्षे=पक्षमें
एकादश्यां=एकादशीकुं
महानिशि=मध्यरात्रिमें
भगवता=भगवान्द्वारा
साक्षात्=साक्षात् (यत्=जो)
प्रोक्तं=कह्यो
तद्=वो
अक्षरश:=अक्षर-अक्षर
उच्यते=कहिवेमें आवे हे

भावार्थ : श्रावणमासके शुक्लपक्षमें, एकादशी तिथिमें, मध्यरात्रिके समय साक्षात् भगवानने अपने अभिप्रायपूर्वक जो कह्यो हे सो एक-एक अक्षरसूं या ग्रन्थमें कह्यो जाय हे.

टीका : श्रवण नक्षत्रके देवता विष्णु हें. सो श्रवण पूर्णिमाके दिन अथवा पूर्णिमाकी सन्निहित तिथिमें आवे हे तासूं 'श्रावणमास' कह्यो जाय हे. इतनें, श्रवण नक्षत्र विष्णुसम्बन्धि हे. वाके सम्बन्धसूंही मासको नाम 'श्रावण' भयो हे. तासूं मासको भगवत्सम्बन्धिपनों जतायो हे. ओर 'शुक्लपक्ष' कहेनो चहिये ताके स्थानपे 'अमलपक्ष' कहिवेको अभिप्राय एसो हे जो भगवानके पक्षवारे सब निर्दुष्ट होय हें, काहु प्रकारको दोष विनमें नाहीं होत हे. ओर एकादश इन्द्रियनके दोषकी निवृत्ति करिवेवारी एकादशी तिथि हे. तासूं वाही तिथिमें श्रीठाकुरजीने उपदेश कियो हे. ओर श्रीगोकुलके अन्तरङ्ग भक्तनको सर्व पुरुषार्थकी सिद्धिकेलिये जेसे मध्यरात्रिके समय प्रादुर्भाव हे, तेसें इहांहु श्रीआचार्यजीकेलिये प्रकट होयके, विनके द्वारा तदीय भक्तनकु सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करिवेकेलिये मध्यरात्रिके समय प्रकट भये हें. श्रीगोकुलमें जेसें व्यूह रहित साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तमकोही प्राकट्य होयकें भक्तनको अभिलषित कियो हे, तेसें इहांहु भक्तनको अभिलषित सिद्ध होयवेकेलिये पूर्ण पुरुषोत्तमको प्राकट्य हे एसें जतायवेकेलिये 'साक्षात्' पद कह्यो हे. ओर सेवकद्वारा, स्वप्नद्वारा किंवा आकाशवाणीद्वारा उपदेश नाहीं कियो हे किन्तु श्रीआचार्यजीकी प्रार्थनाके विनाही साक्षात् पुरुषोत्तमरूप प्रगट होयकें ब्रह्मसम्बन्धरूप साधनको उपदेश कियो हे.

ओर शुक्लपक्षमें जेसें दिन-दिन प्रति चन्द्रकी कला अधिक होय हे तेसें ब्रह्मसम्बन्धसूं देहके दोष—— इतने आधिभौतिक दोष ——निवृत्त होयकें दिन-दिन प्रति अधिक शुद्धता होयगी. तथा एकादशीके दिन उपवास होय हे. ताकरिकें ज्ञानेन्द्रिय पांच, पांच कर्मेन्द्रिय ओर एक मन एसें एकादश इन्द्रियनके दोष निवृत्त होय हें ——ये आध्यात्मिक दोषकी निवृत्ति कही हे. ओर अपने भक्तनको स्वरूपानन्दको दान करिवेकेलिये तथा इनकी रक्षा करिवेकेलिये मध्यरात्रिके समय प्रभु प्रकट भये हें तासूं मध्यरात्रिको समय आधिदैविक दोषनकी निवृत्ति करिवेवारो हे. एसें ब्रह्मसम्बन्ध करिवेवारे जीवनमे तीन प्रकारके दोष सब निवृत्त होय हें एसें जतायो हे.

श्रीठाकुरजीने जो वाक्य कहे हें विनके अभिप्रायरूप यह ग्रन्थ हे एसें प्राचीन **टीका**कारनको अभिप्राय हे. ओर श्रीपुरुषोत्तमजीको अभिप्राय एसो हे जो एकादशस्कन्धमें द्वितीयाध्यायमें कवियोगेश्वरने तथा तृतीयाध्यायमें प्रबुद्धयोगेश्वरने

सब भगवानको अर्पण करिवेको लिख्यो हे, तेसें ग्यारहमें अध्यायमें सदादृत(=सत्पुरुषनने जाको आदर कियो हे सो) भक्तिको निरूपण हे, तहां दासपनेसूं आत्मनिवेदन करिवेको लिख्यो हे; ओर उन्नीसमें अध्यायमें महद्विमृग्य(=महत्पुरुषनको ढूंढिवे योग्य) भक्तियोगको निरूपण हे, वहांहु भगवद्धर्मके अधिकाररूप आत्मनिवेदन लिख्यो हे; विनकोही अनुवाद या ग्रन्थमें होयगो एसी शङ्का की निवृत्तिकेलिये ब्रह्मसम्बन्धकी आज्ञाको मास, पक्ष, तिथि प्रभृति कह्यो हे.

ओर श्रीठाकुरजीने प्रकट होयके पञ्चाक्षर मन्त्र तथा वाकी **टीका**रूप गद्य तथा श्लोकरूप ये वाक्य कहे हें. तिनमेंसूं पञ्चाक्षर मन्त्र तथा वाकी **टीका**रूप गद्यमन्त्र, मन्त्ररीतिके अनुसार गूढ राखने चहिये तासूं विनकुं नाहीं कहे हें. ओर सिद्धान्तरूप श्लोक जो श्रीठाकुरजीनें कहे हें सो या ग्रन्थमें लिखे हें॥1॥

एसे श्रीठाकुरजीने जा समय उपदेश कियो हे वा समयको निरूपण करिके स्वमार्गीय सेवाके प्रतिबन्धरूप जो असाधारण दोष हें तिनकी निवृत्तिको प्रकार जो भगवानने कह्यो हे सो कहत हें:

ब्रह्मसम्बन्ध-करणात् सर्वेषां देहजीवयो:॥
सर्वदोष-निवृत्तिर् हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः॥2॥
सहजाः देश-कालोत्थाः लोक-वेद-निरूपिताः॥
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथञ्चन॥3॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात्=ब्रह्मसम्बन्ध
करिवेसूं, सर्वेषां=सबनके
देहजीवयो:=देहओरजीवके
सर्वदोषनिवृत्ति:=सब दोषनकी निवृत्ति
हि=निश्चितही(भवति=होय हे)
दोषा:=दोष
पञ्चविधा:=पांच प्रकारके
स्मृता:=हें
लोक-वेदनिरूपिता:=लोक-

वेदमें निरूपित
सहजा:सहज
देश-कालोत्था:=देश-कालसूं जनित
संयोगजा:=संयोगसूं जनित
च=ओर
स्पर्शजा:=स्पर्शसूं जनित
कथञ्चन=कोइभी तरहसूं
(हरिसेवायां=प्रभुकी सेवामें,
प्रतिबन्धका:=प्रतिबन्धक)
न=न, मन्तव्या:=मानने

भावार्थ : ब्रह्मसम्बन्ध करिवेसूं सबनके देह ओर जीव के सब दोषनकी निवृत्ति होय हे. सो दोष पांच प्रकारके प्रसिद्ध हें. सहज दोष, देशसूं उत्पन्न भये दोष, कालसूं उत्पन्न भये दोष, संयोगसूं भये दोष ओर स्पर्शसूं भये दोष ——एसें पांच प्रकारके दोष लोकमें तथा वेदमें निरूपण किये हें. अथवा सहजदोष, देष-कालसूं उत्पन्न भये दोष, लोक तथा वेद में निरूपण किये एसे दोष, संयोगसू भये दोष ओर स्पर्शसूं भये दोष ——एसें पांच प्रकारके दोष हें. सो काहु रीतिसूं नाहीं मानने.

टीका : यहां श्रीपुरुषोत्तमके संग बहोत कालसूं तिरोहित भयो सम्बन्ध फेरि प्रकट होय हे तथापि वाको नाम 'ब्रह्मसम्बन्ध' हे ताको अभिप्राय एसो हे जो जेसें ब्रह्म निर्दोष ओर सर्वत्र समान हे तेसें यह सम्बन्धहु निर्दोष तथा समान होय हे.

- देह पञ्चमहाभूतनको हे ओर पञ्चमहाभूतनमे भगवानको सम्बन्ध न होयवेसूं दोष होय हे. सो पूजा मार्गमें जो भूतशुद्ध्यादिकसूं निवृत्त होय हे सो 'सहजदोष' हे.
- ओर पूजाके स्थानमें भूतादिकनको अपसरण करे हें ओर आसनादिककी शुद्धि करे हें सो 'देशदोष' कहे जाय हें.
- तेंसें प्रात:कालको होम करिके अथवा ब्रह्मयज्ञ करिके अथवा माध्याह्निक कर्म करिके पुरुषोत्तमको पूजन करनो एसें 'मन्त्रराज-अनुष्टुप'के विधानको वाक्य हे. तासूं दूसरे कालमें पूजा करिवेमें 'कालदोष' आवे हे.
- ओर "पूजादिकसूं ब्रह्मलोक मिले हे" एसो वाक्य हे. तासूं पूजासूं ब्रह्मलोक प्राप्त होय. फेरि "ब्रह्मलोक पर्यन्त पुनरावृत्ति होय हे" एसो गीताजीमें कह्यो हे, तासूं पुनरावृत्तिरूप दोष कह्यो हे (सो 'लोकनिरूपित दोष' जाननो).

- ओर वैदिक मन्त्रन्सूं पूजादिक करिवेमेंहु न्यूनातिरिक्त दोषकी सम्भावना हे. ताकेलिये विष्णुस्मरण करनो परे हे. ये
'वेदनिरूपित दोष' हे.
- ओर पूजामें अभिषेकादिककेलिये वैदिक मन्त्रके संस्कारवारो शफोदक होय तामें साधारण जलको संयोग होय सो 'संयोगजदोष'हे.
- ओर मूलमें 'च'कार हे तासूं नैवेद्य प्रभृतिमें ओरहु जो सब आगन्तुक दोष हें सो सब कहि गये हें.
- ओर पूजादिकमें उपयुक्त पात्रादिक पदार्थ, पुष्प ओर चन्दनादिकन् कों स्त्री-शूद्रादिकको स्पर्श होय सो 'स्पर्शदोष' हे.

एसें पांच प्रकारके दोष भक्तिमार्गमें नाहीं माननें एसें श्रीगोकुलनाथजीको अभिप्राय हे.
- ओर देहके संग उत्पन्न भये एसे कुष्ठ, अपस्मार आदि रोग हें, तेसें जीवके संग उत्पन्न भये एसे काम-क्रोधादिक दोष हें सो 'सहजदोष' कहे जाय हें.
- ओर मगधदेश तथा म्लेच्छादिकनके देशमें तीर्थयात्राके सिवाय जांय तो फेरि संस्कार करनो परे एसें धर्मशास्त्रमें लिख्यो हे सो दोष 'देशोत्थ' कहे जाय हें.
- ओर रौद्रकाल तथा कलि प्रभृति काल हे तासूं धर्मकी निवृत्तिरूप जो दोष हें सो 'कालोत्थ' दोष कहे जांय हें.
- ओर पतितादिकनको संसर्ग होय सो 'संयोगदोष' कह्यो जाय हे.
- ओर इन्द्रिय तथा पदार्थ को संयोग होय सो 'स्पर्शजदोष' कह्यो जाय हे.
- मूलमें जो 'च'कार लिख्यो हे तासूं कर्मसूं जो दोष होय हे सो 'कर्मजदोष'हु आय जाय हें.
- सो सब दोष लोक तथा वेद में कहे हें. जेसें केश, भस्म प्रभृतीन्सूं दूषित देशमें रहनो, सक्ध्याके समय चोहटेमें बेठनो, म्लेच्छादिकनको स्पर्श करनो, मुखमें मैथुन करनो, द्वार सिवाय गृहमें प्रवेश करनो इत्यादिक दोष 'लोकप्रसिद्ध' हें.
- ओर अग्निहोत्रवारो अपनेलिये ऊषर भूमिमें न जाय, अमावस्या तथा पूर्णिमा प्रभृति तिथिमें स्त्रीके पास न जाय, मलयुक्त होय तब बोले नाहीं इत्यादिक दोष 'वेदसिद्ध' हें.

——ये सर्वसिद्ध दोष निवृत्त होंय एसे नाहीं हें तथापि काहु रीतिसूं मानने नाहीं. इतनें भगवानको सम्बन्ध सिद्ध होय तब ये दोष कहा करि सकें? कछुहु नाहीं करि सकें एसें श्रीरघुनाथजीको अभिप्राय हे.

- ओर अविद्याको सम्बन्ध भयेसूं अभिमानादिक होय हे सो जीवके सहज दोष हें. तथा काम-क्रोधादिक लिङ्गदेहके सहज दोष हें. ओर माता-पितामें जो दोष तथा रोग रहे होंय सो सन्ततिमें आवें सो स्थूलदेहके सहज दोष हें.
- ओर देश तथा काल सूं जो-जो दोष होय हें सो देहकुं हें जीवकुं नाहीं हें. जेंसे मगध देशमें गयाजी प्रभृति पवित्र स्थल हें, अन्य सब अपवित्र हें. जेसें मरुदेश सगरो अपवित्र हे. एसे अपवित्र देशमें जन्म भयेसूं तथा विन देशनमे गमन करिवेसूं जो दोष होंय हें सो 'देशोत्थदोष' कहे जांय हें.
- ओर कलिकालसूं, दुष्टमुहूर्तसूं तथा अवस्थासूं जो दोष होय हें सो 'कालोत्थदोष' कहे जांय हें.
- ओर ज्ञानपूर्वक कामकी प्रवृत्तिसूं मनको योग भयेसूं जो दोष उत्पन्न होय हें सो 'संयोगजदोष' कहे जांय हें.
- ओर काहुके स्पर्शसूं जो दोष उत्पन्न होंय हें सो 'स्पर्शजदोष' कहे जांय हें.

सो सब दोष लोकमें तथा वेदमें निरूपित हें. तथापि भक्तिमार्गमें देह, इन्द्रिय, अन्त:करण ओर विनके धर्म सहित सबनको अर्पण भगवानकु कियो हे, तासूं सब भगवानके भये हें, सो भगवानकी सेवामें प्रतिबन्ध नाहीं करें हें. तासूं इन दोषनकी निवृत्तिमें प्रयत्न नाहीं करनो. क्यों जो सब भगवदीय हें एसो अनुसन्धान रहे तब ये दोष बाधक नाहीं होंय एसो श्रीपुरुषोत्तमजीको अभिप्राय हे.

ओर प्रथमस्कन्धके सप्तमाध्यायमें अर्जुनकी स्तुतिमें श्रीसुबोधिनीजीमें—— कर्मज, कालज, स्वभावज, मायोद्भव ओर देशोद्भव ——एसें जो पांच दोष लिखे हें सो ओर यहां लिखे पांच दोष एक ही समजने. तामें वहां 'स्वभावज' लिखे हें सो यहां 'सहज' दोष लिखे हें. वहां 'कालज' दोष लिखे हें सो यहां 'कालोत्थ' दोष समजने. वहां 'देशोद्भव' दोष लिखे हें सो यहां 'देशोत्थ' दोष समजने. वहां 'मायोद्भव' दोष लिखे हें —— सो अविद्याके संयोगसूं स्वधर्म तथा भगवद्धर्म को अज्ञान होय हे ——सो यहां 'संयोगज' दोष समजने. ओर वहां 'कर्मज' दोष लिखे हें सो यहां 'स्पर्शज' दोष समजने ——एसें श्रीलालूभट्टजीने लिख्यो हे.

(उपर कहे) सो सब दोष दीखवेमें आवे हें तथापि दग्ध भये वस्त्रकीसि नाइं कछु कार्य करि सके नाहीं हें. तासूं वे दोष भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध करेंगे एसें नाहीं माननो. क्यों जो भगवान् निर्दुष्ट हें. विनको सम्बन्ध भयेसूं देह, इन्द्रिय, अन्त:करण ओर विनके सर्व धर्म निर्दुष्ट होय जांय हें॥2-3॥

भगवान् निर्दुष्ट हें तासूं जो दोषरहित होय ताकोही सम्बन्ध भगवान्सूं होनो चहिये, परन्तु जब तांइ देह तथा इन्द्रिय आदिके दोष निवृत नाहीं भये होंय तहां तांइ विनको सम्बन्ध प्रभून्सों केसें होय सके? तासूं प्रथम दोषरहित करिके पाछें भगवानको अर्पण करिवेमें कहा हरकत हे? एसें कोई कहे तहां कहत हें:

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन॥
असर्मपित-वस्तूनां तस्माद् वर्जनम् आचरेत्॥4॥

अन्यथा=नाहीं तो
सर्वदोषाणां=सब दोषनकी
निवृत्तिः=निवृत्ति
कथञ्चन=कोईभी प्रकारसूं
न=नाहीं (भवति=होत हे)
तस्मात्=तासूं
असर्मपित-वस्तूनां=समर्पित-
न होय एसी वस्तूनको
वर्जनं=त्याग
आचरेत्=करनो

भावार्थ : देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण आदि सब भगवानको अर्पण किये बिना सर्व दोषनकी निवृत्ति काहु अन्य प्रकारसूं नाहीं होय हे. तासूं जाको समर्पण भगवानको नाहीं भयो होय एसी असमर्पित वस्तु अपने उपयोगमें नाहीं लेनी, असमर्पित वस्तुको त्यागही करनो.

टीका : इतने श्रीमद्भागवतके षष्ठस्कन्धमें श्रीशुकदेवजीने कह्यो हे जो तप, ब्रह्मचर्य, शान्ति, इन्द्रियनिग्रह, दान, सत्य, पवित्रता इन सबन्सों धीर पुरुष श्रद्धायुक्त होयके देह, वाणी ओर बुद्धि सूं उत्पन्न भयो एसो बड़ो पाप होय ताकुंहु, अग्नि जेसे काष्ठकुं दग्ध करे हे तेसें दग्ध करे हे". अर्थात् अग्नि काष्ठकुं दग्ध करे हे तामें भस्म प्रभृति शेष रहे हें तेसें तप आदिसूं पाप दग्ध होयपेहु तामें मलिनता करिवेवारो कछुक दोष तो बाकी रहे ही हे. तासूं वहांही फेरि कह्यो हे जो "वासुदेव भगवानके परायण कितनेक

भक्त, जेसे सूर्य रात्रिमें भये ओसके जलको नि:शेष नाश करे हे तेसें, केवल भक्तिकरिकें समग्र पापको नाश करे हें". तासूं भक्तिसूं पापको जेसो नाश होय हे एसो दूसरे साधनसूं नाहीं होय हे. तासूं असमर्पित वस्तुको त्यागही करनो॥4॥

एसें असमर्पित वस्तुको त्याग करें तब लौकिक-अलौकिक व्यवहार केसें सिद्ध होय? तहां अर्धभुक्तके निवेदनको निषेध करिके सर्वदा कर्तव्यको प्रकार कहत हें:

निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थिति:॥
न मतं देवदेवस्य सामिभुक्त-समर्पणम्॥5॥

समर्प्य=समर्पण करके
एव=ही
निवेदिभि:=निवेदितके द्वारा
(पदार्थै:=पदार्थन्सूं)
सर्वं=सब कछु
कुर्यात्=करे
इति=एसो
स्थिति:=सिद्धान्त(अस्ति=हे)
देवदेवस्य=देवकेभी देवकुं
सामिभुक्तसमर्पणं=अर्धभुक्तको समर्पण
न=नाहीं
मतं=सम्मत हे

भावार्थ : पुष्टिमार्गकी रीतिसूं आचार्यद्वारा जा जीवको निवेदन भयो हे वा जीवकुं भगवानको अर्पण करिकेही सब कार्य करने, एसी भक्तिमार्गकी दोषरहित मर्यादा हे. तामें जो अर्धभुक्त पदार्थ होंय सो देवनके देव प्रभूनको समर्पण करिवेयोग्य नाहीं हें.

टीका : इतनें, 1निवेदन 2दान ओर 3अर्पण एसें तीन प्रकार हें. तामें वस्तुको नाम लेके प्रभूनको जताय देनों सो 'निवेदन' कह्यो जाय हे. तथा विधिपूर्वक अपनी सत्ताकों छांड़िके द्रव्यादिकनमे दूसरेकी सत्ता उत्पन्न करनी सो 'दान' कह्यो जाय हे. ओर सेवक जेसें रसोई सिद्ध करिके अपने मालिककों अपर्ण करे हे तेसें स्वामिकों भोगिवेयोग्य पदार्थ स्वामिकों जतावनो सो 'अर्पण' कह्यो जाय हे. वाही रीतिसूं

(पुष्टिभक्तिमार्गी सेवाकर्ताको ये कर्तव्य हे के) प्रथम प्रभूकों निवेदित भई एसी वस्तु फेरि (प्रभुकों) अर्पण करिके (ता पाछें) लौकिक तथा वैदिक सर्व कार्य करनो एसी भक्तिमार्गकी मर्यादा हे. ताही रीतिसूं करिवेमें दोष नाहीं आवे हें. क्यों जो जाको दान कियो हे सो वस्तु अपने उपयोगमें नाहीं आय सके तेसेंहि जो वस्तु प्रभून्को भेट करी हे सो वस्तुहु अपने उपयोगमें नाहीं आय सके. परन्तु जाको अर्पण कियो हे सो वस्तु अपने उपयोगमें लेवेमें दोष नाहीं हें.

तामें एक पदार्थमेंसूं थोड़ो भाग अपने उपयोगमें लेकें बाकी बच्यो जो भाग हे सो 'सामिभुक्त'-'अर्धभुक्त' कह्यो जाय हे, सो प्रभून्को अर्पण करिवेयोग्य नाहीं हे. अर्थात् "ये सब वस्तु प्रभून्की हे" एसो अनुसन्धान राखिकें फेरि प्रभून्को अर्पण करिके "ये प्रभून्को महाप्रसाद हे" एसो समजिके अपने उपयोगमें लेनी. ओर अर्धभुक्त होय सो प्रभून्को नाहीं समर्पनी॥5॥

(अर्धभुक्त वस्तुके समर्पणको ओर असमर्पितके उपभोगको दोष नाहीं लगे तदर्थ) अपने उपभोगतें पूर्वही सब वस्तून्को प्रभुकी सेवामें साक्षात् अथवा परम्परया उपयोग करि पाछे अपने उपयोगमे लावनीं सो समुझावत हें:

तस्माद् आदौ सर्वकार्ये सर्ववस्तु-समर्पणम्॥
दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः॥6॥
न ग्राह्यम् इति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्॥

तस्मात्=तासों सर्वकार्ये=सब कार्यके
आदौ=आरम्भमें
सर्ववस्तु-समर्पणम्=सर्व वस्तून्को
समर्पण (कर्तव्य=करनो)
तथा=ओर, हरेः=हरिको
सकलं=सब, न=नाहीं
ग्राह्यं=ग्रहण करिवे योग्य
इति=एसे
'दत्तापहार'वचनम्="हरिकुंदियो

भयो कछुभी लेनो नाहीं” एसो
जो श्रीभागवतको वचन
(तत्=वो)वाक्यं=वाक्य
भिन्नमार्गपरं=जुदेमार्गसम्बन्धिहे

भावार्थ : निवेदित पदार्थ प्रभूनको समर्पिकेही सर्वकार्य करनों एसी भक्तिमार्गकी मर्यादा हे. तासूं प्रथम सर्वकार्यमें सर्व वस्तु अर्पण करनी. ओर तेसेंही भगवानकी निवेदित वस्तु अपने उपयोगमें न लावनी इत्यादि जो “अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यात्
निवेदितम्” एकादश स्कन्धके वाक्य हें वे वाक्य भक्तिमार्गसों जुदे मार्गकेलिये हें.

टीका : इतनें, स्त्री पुत्र धन प्रभृति सब प्रभूनको समर्पिके “ये सब भगवानके हें” एसो अनुसन्धान राखिके अपने उपयोगमें लेनी. एसें प्रभूनको जा वास्तुको अर्पण भयो हे सो वस्तु प्रभूनकी हे एसी बुद्धि रहिवेसूं अपनो अभिमान छूट जाय हे. ओर प्रभूनके सम्बन्धतें विनमें आसक्ति रहिवेसूं अपनी भक्तिकी दृढ़ता होय हे.

अन्य मार्गनमे निवेदन तथा समर्पण को प्रकार* नाहीं हे. केवल दानको ही प्रकार हे. तासूं “भगवानको जो पदार्थ दियो होय सो पदार्थ अपनें नाहीं लेनो” एसो वाक्य वा मार्गके अभिप्रायको हे, भक्तिमार्गको नाहीं हे. भक्तिमार्गमें तो सर्व वस्तु भगवानको समर्पिकेही उपयोगमें लेनी एसी मर्यादा हे॥6॥

टिप्पणी : *‘अन्य मार्ग’ इतने पूजामार्ग. तातें जिन मन्दिरनमे देवमूर्तिकी परार्थप्रतिष्ठा भइ होय तहां सब कोऊ दर्शनार्थी अपनी-अपनी भावनाके अनुसार अपनो स्वत्व त्यागिके दानरूपेण देवमूर्तिकों जो कछु भेंट धरत होंय तो ताको प्रसाद लियो न जाइ, देवमूर्तिको दानरूप दीनी द्रव्य-सामग्री देवद्रव्य बनि जाती होयवेतें; परन्तु अपने स्वत्वको त्याग किये बिना, इतने अर्च्य मूर्तिकों न दीनों होय; किन्तु अर्चनार्थही कछूक दीनो होय तो ताको प्रसाद लियोही जावे हे. जेसे पुरुषोत्तमक्षेत्रके श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें सखड़ी प्रसादहु लेयवेकी मर्जाद निजमार्गमेंहु परंपराप्राप्त हे. कितेक पूजामार्गीहु अपने पुष्टिमार्गकी नांइ निजगृहमेंहु निवेदन-समर्पणकी रीतिवारी देवमूर्तिकी पूजा करत हें. तहां स्वनिवेदितकेही अर्पणको नियम जाननो. अन्य काहुते निजगृहमें स्वार्थ-प्रतिष्ठापित देवमूर्तिकेलिये कछूक स्वीकार कियेतें नैवेद्य-सामग्री

देवमूर्तिकों दानरूपेण प्राप्त देवद्रव्य होत हे सो ताको प्रसाद लियो न जाइ. (सम्पादक)

एसें भक्तिमार्गसूं दूसरे मार्गमें भगवानको अर्पण भई एसी वस्तुको उपयोग नाहीं करनों ओर भक्तिमार्गमें तो भगवानकी प्रसादी वस्तुसूंही भगवदीयनकु सर्व कार्य कर्तव्य हे एसे जतायवेकेलिये कहत हें:

सेवकानां यथा लोके व्यवहार: प्रसिद्ध्यति॥7॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता तत:॥

यथा=जेसें, लोके=लोकमें
सेवकानां=सेवकनको
व्यवहार:=व्यवहार
प्रसिद्ध्यति=प्रचलित होवे हे
तथा=वा तरहसूं
समर्प्य=समर्पण करिके
एव=ही
(सर्वं=सब) कार्यं=करनो
तत:=वासूं, सर्वेषां=सबकी
ब्रह्मता=ब्रह्मता, स्यात्=होयहे

भावार्थ : लोकमें सेवकनको व्यवहार जेसें सिद्ध होय हे तेसें प्रभूनको अर्पण करिकेही सब कार्य करनों. एसें करिवेतें सबनको ब्रह्मरूपपनो होय हे.

टीका : इतनें, जेसें लोकमेंहु जो सेवक होय हें सो सब कार्य अपने मालिककी आज्ञासूंही करें हें, मालिककुं बिना पूछे कछु कार्य नाहीं करें हें; ओर शिष्य होंय सो गुरुकी आज्ञाप्रमाणही सब कार्य करें हें, तेसें, अपनो देह आत्मादिक सब भगवानको अर्पण करनो, तब सब भगवानके भये, तासूं भगवानकु अर्पण करिकेही सब कार्य करनों. एसें करिवेसूं सबनमे निर्दोषपनों तथा समान(रूपसूं) भगवदीयपनों सिद्ध होय हे. यद्यपि ब्रह्मके अनन्त धर्म हें तथापि गीताजीमें निर्दोष ओर सम ये दोय धर्म ब्रह्मके

कहे हें. ओर यहां सेवामेंहु ये दोय धर्मकोही उपयोग हे; तासूं ये दोय धर्मकों ले “सबनको ब्रह्मपनो होय” एसे कह्यो हे॥7॥

भक्तिमार्गमें प्रवेश भयो होय तोहु सत्त्वादिक गुणनके भेदकरिकें सबनकी प्रवृति भिन्न-भिन्न होय हे, समान नाहीं होय हे. तासूं भगवदीयपनो भयो होय तोहु सबनको समानपनों केसें होय? एसी शङ्का कों गङ्गाजीके दृष्टान्तसूं निवृत्त करत हें:

गङ्गात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषादि-वर्णना॥8॥
गङ्गात्वेन निरूप्या स्यात् तद्वद्त्रापि चैव हि॥

सर्वदोषाणां=सब दोषनको
गङ्गात्वं=गङ्गापनो
च=ओर
गुणदोषादिवर्णना=गुण-दोष
आदिको वर्णन गङ्गात्वेन
=गङ्गारूपसूं, एव=ही
निरूप्या=निरूपण योग्य
स्यात्=होवे हे
हि=तातें, तद्वत्=वेसे
अत्र=यहां, अपि=हु

भावार्थ : परनाला प्रभृतिको जल गङ्गामें मिले तब परनाला प्रभृतिमें रहे एसे सब दोषनको गङ्गापनों होय हे, तासूं वाके गुण-दोषनको वर्णनहु गङ्गापनेसूंही होय हे. तेसें ब्रह्मसम्बन्ध भये पिछें यहांहु सबनको ब्रह्मपनों होय हे.

टीका : इतनें, परनालाके जलके स्पर्शसूं स्नानादिक करनो परे हे; परन्तु वोही जल गङ्गाजीमें मिल्यो होय तब वाकी यत्किञ्चित् मलिनता दीखवेमें आवती होय तथापि वाके पानसूं पाप निवृत्त होंय हें. क्यों जो सब गङ्गारूप होय गयो हे. इतने फेरि आछे-बुरे जलको वर्णन होय हे सो गङ्गाजीकेही जलको वर्णन होय हे, “परनाला प्रभृतिको जल खराब हे” एसें कोउ नाहीं कहत हे. तेसें गङ्गाजीमें आछो जल मिल्यो होय तोहु “गङ्गाजीको जल आछो हे” एसें कहत हे, परन्तु जो जल मिल्यो हे वाको नाम नाहीं

लेत हें. एसें ब्रह्मसम्बन्ध भये पिछे ब्रह्मसम्बन्ध करवेवारेमें जो दोष अथवा गुण रहे हें सो सब ब्रह्मरूप होय हें. अर्थात् परनालाको जल गङ्गाजीमें मिले तब वाके सब दोष नष्ट होय जाय हें तेसें ब्रह्मसम्बन्ध करवेवारेमेंहु जो दोष होंय सो सब नष्ट होय जाय हें॥ 8॥

ब्रह्मसम्बन्ध करिवेसूं सब दोषनकी निवृत्ति होय हे. तासूं पांचों प्रकारके जो दोष हें सो माननें नाहीं एसें प्रथम कह्यो हे. तापीछे सबनको ब्रह्मपनों होय हे एसें कह्यो हे. येही सेवाको आनुषङ्गिक फल सिद्धान्तमुक्तावलीमें कह्यो हे. “ब्रह्मसम्बन्धसूं सब दोषनकी निवृत्ति होय हे” एसें कहिके अगाड़ी दोष नाहीं होयवेकेलिये सब अर्पण करिकेही कार्य करिवेको जो कह्यो हे तामें 1भगवद्धर्मके अनुसार तथा 2लौकिकव्यवहारके अनुसार एसें दोय प्रकारको समर्पण कह्यो हे. तामें भगवद्धर्मके अनुसार समर्पण करे तो ब्रह्मतारूप फल होय ओर लौकिव्यवहारके अनुसार समर्पण करे तो, गङ्गाजीमें मिले भये मोरीके जलकी नांइ, ब्रह्मसम्बन्ध करिवेवारेमें जो दोष रहे हें विनकी निवृत्तिमात्रही फल होय हे.

इति श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सिद्धान्तरहस्यकी
संक्षिप्त व्रजभाषा**टीका**गोस्वामि श्रीनृसिंहलालजीमहाराज विरचित समाप्त भई

नवरत्नम् ग्रन्थ-परिचय

एक किन्वदन्तीके अनुसार नवरत्न ग्रन्थकी रचना श्रीमहाप्रभुने वि.सं १५५८ में अडेल में की थी
(* षोडशग्रन्थनी. तवारीखो लेख. नागरदास बाम्भणिया. वैष्णववाणी अम 4 वर्ष 1979)

यह ग्रन्थ खेरालुग्रामके गोविन्द दवे साञ्चोराकेलिए लिखा गया था.

प्रारम्भसे ही गोविन्द दवेकी मनोवृत्ति वैराग्यप्रधान थी. अल्पवयमें ही ये अपने माता-पिताको छोडकर तीर्थयात्रार्थ द्वारका पहुंच गये थे और बादमें वहीं रहने लग गये थे. भावप्रकाशके अनुसार ये मर्यादापुष्टिके जीव थे और

तदनुरूप इनकी द्वारकालीलामें आसक्ति अधिक थी. द्वारकास्थ श्रीरणछोडजीके स्वरूपमें भी अतएव इनकी अत्यधिक आसक्ति थी. अपने माता-पिताके देहावसानके बाद ये श्राद्ध करने गया गये थे. लौटते समय मार्गमें मनिकर्णिका घाटपर इनकी भेंट श्रीमहाप्रभुके साथ हुई. दर्शन करते समय इन्हें इच्छा हुई कि श्रीमहाप्रभुके पास रहकर कुछ विद्यार्जन करें. अनुमति मिलनेपर कहींसे व्याकरणकी पोथी ले आये पर श्रीमहाप्रभुने मूल गीताके अध्यापनद्वारा ही संस्कृतभाषा, व्याकरण एवम् सिद्धान्त का भी ज्ञान इन्हें प्रदान कर दिया. इससे प्रभावित होकर ये पुष्टिमार्गमें दीक्षित हुए और आज्ञानुसार घर लौटकर भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो गये.

84 वैष्णवनकी वार्ताके अनुसार-"गोविन्द दूबे धरमें सेवा करे परन्तु मनमें बहुत विग्रह (व्यग्र) रहे सो सेवामें चित्त लागे नाहीं. तब गोविन्द दूबे एक पत्र श्रीआचार्यजीको लिखें-"महाराज! मेरे मनमें बहुत विग्रह रहत है. भगवत्सेवामें चित्त लागत नाहीं सो कहा करूं? सो पत्र श्रीआचार्यजीके पास आयो सो आप बाञ्चिके 'नवरत्न' ग्रन्थ करि लिख पठाये. और लिखें "यह नवरत्न ग्रन्थको पाठ किये तेरे मनकी विग्रहता (व्यग्रता) मिटि जायेगी" सो पाठ करत श्रीआचार्यजीकी कृपाते व्यग्रता-चिन्ता सब मिटि गई. मन भगवत्सेवामें करन लागे."

इस प्रसङ्गका निगूढ आशय श्रीहरिरायचरणने भावप्रकाश बहुत सुन्दर शब्दोमें व्यक्त किया है-"गोविन्द दूबेके मनमें विग्रहता भई ताको अभिप्राय यह जो गोविन्द दूबे जीव तो द्वारिकालीला सम्बन्धी और सेवाभावना व्रजकी करें. सो मन लागे नाहीं. न राजलीलामें दृढता होई न व्रजलीलामें. सो अनेक साधनमें मन दोरे. जो तीर्थ करूं के व्रत करूं, कोई जप करूं इत्यादि मन भटके सो श्रीआचार्यजी महाप्रभु नवरत्न ग्रन्थ लिखि पठाये-"तू चिन्ता मति करें. चित्तकी उद्वेगता है यह प्रभुलीला जानि-श्रीठाकुरमें ते मन और ठोर

जाये सोउ भगवदिच्छा मानि-चिन्ता मति करियो. जितनी बने तितनी सेवा करियो. तब गोविन्द दूबेको मन स्थिर होगयो. जहां मन लौकिक वैदिक में जाई तो भगवदिच्छा मानें. श्रीरनछोडजीमें मन बहोत जाई सो भगवदिच्छा माने. उहांकी लींलामें मग्न रहें. काहेते? शास्त्रपुरान अनेक उपाई प्रभु मिलनके कहे हैं. जीवकों मिसमात्र मार्ग दिखाये. जो जहांको अधिकारी है वामें वाको मन स्वतःसिद्ध लगत है.

ताते जैसे मनुष्य गैल चलिवेवारेको दस गामके मारग बतावें परन्तु जाकों जा गाम जानो होई सोई गाम जात है. तैसे ही कोई भगवदीयद्वारा, कोई गुरुद्वारा, कोई ईश्वरद्वारा जैसो अधिकारी तैसो सङ्ग पाय उही मार्गमें भाव वाकों दृढ होत है. सो गोविन्द दूबेको श्रीरणछोडजीमें दृढ भाव भयो."

'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' ग्रन्थमें मार्गभेदका निरूपण किया ही गया है. सभी जीवोंके मार्ग भिन्न-भिन्न है. स्वयम् पुष्टिमार्गमें भीं भगवान्के पास पहुंचनेकी अनेक दिशा या सरणी है. जिस दिशामें सहजतया हम चल पाते हों उसी ओर हमारे चलनेका प्रयास निरायास होता है. अपने स्वभावके अनुरूप सहजतया जिस मार्गपर हम चल सकते हैं. उसे छोडकर अन्यान्य फलोंकीं कामनाके वश या मिथ्या अनुकरणकी मनोवृत्तिसे, जब हम अपने स्वभावविपरीत मार्गपर चलना चाहते हैं, तो उस आयासमें चिन्ता उद्वेग या व्यग्रता से मनका ग्रस्त हो जाना स्वाभाविक बात है.

पुष्टिपथके पथिक स्वयम् अपने स्वरूपका या अपने कर्तव्यके स्वरूपका अथवा अपने भजनीय भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करें यह तो स्वभाविक तथा आवश्यक ही है. इस चिन्तनका स्थान परन्तु अस्वाभाविक चिन्ता लेने लग जाये तो वह श्रीमहाप्रभुको नहीं सुहाता है. क्योंकि चिन्ताका मूल हमारी आस्था, भक्ति तथा स्वीकृति की मनोवृत्तिमें न होकर अनास्था, उद्विग्नता

तथा अस्वीकृति की मनोवृत्तिमें होता है. भगवान्की शरणागति स्वीकारनेके बाद सब कुछ ऐहिक या पारलौकिक भगवान्को समर्पित कर देना चाहिये. भगवान् तो सर्वज्ञ सर्वसमर्थ सर्वहितैषी-सर्वसुहृत् कर्ता-कारयिता अचिक्त्य-लीला-विहारी है. इस भावभूमिपर संशय चिन्ता या प्रार्थना के विषेले अङ्कुर फूट ही नहीं सकते. जो कुछ घटित हो रहा है उसे लीलाबोधके साथ स्वीकारनेमें ही वास्तविक विवेक समाहित है. भगवान्की कृपासे भगवत्सेवा या भगवत्कथा में जितना भी चित्त तन्मय होता चला जाये उसमें अधिकाधिक आनन्द लेते जानेको मनोवृत्ति एक स्वस्थ स्वीकृतिकी मनोवृत्ति है. जबकि अनधिकार चेष्टाकेद्वारा जो आदर्श तन्मयता हमें प्राप्त नहीं हुई हो, उसके बारेमें चिन्ता या उद्वेग की मनोवृत्ति अस्वस्थ अस्वीकृतिकी मनोवृत्ति है. प्राप्तसे अधिकका मनोरथ अस्वाभाविक नहीं होता परन्तु अप्राप्तकी चिन्ता या तज्जन्य उद्वेग एक अस्वाभाविक मनोवृत्ति है. इसी तरह लौकिक या वैदिक योगक्षेमके बारे में भी निरन्तर चिन्ता करते रहना एक भक्तिविरोधी मनोभाव है.

अतः भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोंको श्रीमहाप्रभु इस 'नवरत्न' ग्रन्थके द्वारा सभी तरहकी चिन्ताओंसे मुक्त करना चाहते है.

वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका अधिकार जैसे गायत्री-मन्त्रके उपदेशग्रहण करनेसे मिलता है, वैसे ही पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवाका अधिकार ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षासे प्राप्त होता है. आत्मनिवेदनकी सार्थकता भगवत्सेवाके सम्पन्न होने पर ही होती है. अपने लौकिक व्यवहार भी अतएव यावत्शक्य भगवान्की सेवामें उपयोग लाये हुए पदार्थोंसे चलाने चाहिये. इसमें भी प्रयोजन पुनः भगवत्सेवाका निर्द्वन्द्व निर्वाह ही होना चाहिये. भगवान्को दानरूप किसी वस्तुके भेंट करनेपर उसे पुनः अपने उपयोगमें लाना वर्जित है पर निवेदितके समर्पणकी प्रक्रियामें किसी वस्तुको

पुनः अपने उपयोगमें लाना वर्जित नहीं है. प्रत्युत यही प्रकार अनुसरणीय है. अन्यथा भगवान्को निवेदित अन्न आदिका भी प्रसादके रूपमें पुनर्ग्रहण वर्जित मानना पडेगा. जबकि सिद्धान्तरहस्यमें असमर्पित वस्तुके त्यागका ही विधान किया गया है. अतः आत्मनिवेदीकेलिए यह सर्वथा उचित बात है कि प्रभुको समर्पित सभी वस्तुओंका कमसे कम एकबार भगवान्की सेवामें पहले विनियोग करे और तब अपने उपभोगार्थ उसे ग्रहण करे. इस नियमकें पालनसे आत्मशुद्धि होती है.

परन्तु अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओंके एकबार भगवान्की सेवामें काममें आ जानेपर दुबारा उन्हे जुटानेका प्रयास करना चाहिये कि नहीं? यदि नहीं करते तो आगे सेवाका भी स्वरूप नहीं निभ पायेगा और यदि करते हैं तो वह तो दुनियाकी रीतके अनुसार ही करना पडेगा. और उस उपार्जनकी प्रक्रियामें पुनः संसारमें उलझना पडेगा तो सेवामें भी विध्नकी सम्भावना है. इस तरहकी चिन्ता भगवद्भक्तके मनमें उठ सकती है. स्पष्ट है कि ऐसी चिन्ता स्वार्थप्रेरित नहीं होती किन्तु भगवत्सेवार्थ ही होती है. पर श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते है कि भक्तको न तो स्वार्थपूर्तिकेलिए और न भगवत्सेवार्थ ही चिन्ता करनी चाहिये.

आत्मनिवेदीकेलिए आवश्यक है कि जीवनमें सुख-दुःख जो भी आयें उन्हें भगवदिच्छा मानकर सहजतया स्वीकार ले. चिन्ता कदापि न करें. लौकिक व्यवहारको निभानेकेलिए लौकिक प्रयासोमें व्यापृत होनेपर यह सम्भव है कि मर्यादामार्गीय वैराग्य न भी सिद्ध हो. भगवान्ने, किन्तु, पुष्टिमार्गमें हमारा अङ्गीकार किया है अतः प्रवाहमार्गीय लौकिक गति पुष्टिजीवकी होने नहीं देगे, यह दृढ आस्था हमें रखनी चाहिये.

भगवत्सेवा निभानेकेलिए व्यापार या नोकरी आदि करनेपर सम्भावित बहिर्मुखतासे बचनेका उपाय है, अपने आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना कि “मैं कृष्णका हूं-कृष्णका दास हूं.”

किसी विषम स्थितिमें सेवा न निभ पाती हो तब भी अन्य आत्मनिवेदी भगवदीयोंके सत्सङ्गद्वारा इस आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना नितान्त आवश्यक है. क्योंकि यह स्मृति मानस-पटलपरसे मिटी और तुरत असुरावेशकी सम्भावना प्रबल हो जाती है.

आत्मनिवेदन करनेवाले सभी पुष्टिजीव चाहे वे उच्चकक्षाके हों या निम्न कक्षाने सभीका सम्बन्ध तो दासके रूपमें भगवान्कें साथ जुड ही गया है. फिर चिन्ता किस बातकी? भगवान् हमारे स्वामी हैं वे जो भी निजेच्छासे करें वह हमें स्वीकार्य होना चाहिये. और फिर भगवान् तो भक्तवश भी है. अतः अपने भक्तोंकी विकाररहित सारी मनोकामना भगवान् बिना किसी प्रार्थनाकी अपेक्षाके स्वयमेव पूर्ण करेंगे. यह आस्था हमें रखनी चाहिये और चिन्तासे छुटकारा पाना चाहिये.

आत्मनिवेदन तो हम भगवान्को करते हैं पर सेवा तो हमें अपने स्त्रीपुत्र-परिवारकी भी करनी ही पडती है. ऐसी चिन्ता भी आत्मनिवेदीको नहीं करनी चाहिये. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षाके समय हम केवल अपना ही नहीं अपितु सम्पूर्ण परिवारका भी भगवान्को समर्पण कर देते है. अतः हमसे सम्बन्धित सभी कुछ प्रभुका अर्थात् ब्रह्मसे सम्बन्धित हो जाता है. अतः उनका भरण-षोषण या संरक्षण भक्तिविरोधी भाव या व्यवहार नहीं गिना जाता. फिर चिन्ता क्यों करनी चाहिये?

परिवारके सदस्य यथा पति-पत्नी माता-पिता या सन्तति आदि, यदि भगवत्सेवामें सहायक न होकर अन्यान्य सांसरिक कार्योमें व्यस्त रहते हों,

तब भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. क्योंकि हमारा कर्तव्य है उन्हें प्रभुको समर्पित करना. सो वह कर देनेपर सब कुछ भगवदिच्छापर अवलम्बित है कि कब वे उन्हें अपनी सेवामें काममें लायें. सहज सद्भाव तथा प्रेरणा से उन्हें भगवत्सेवामें प्रवृत्त कराया जा सकता हो तो अच्छी बात है. अन्यथा उनकी भगवत्सेवामें रूचि या प्रवृत्ति न दिखलायी पडती हो तो व्यर्थ चिन्ता कलह या क्लेश करना भक्तिविरोधी भाव है.

कभी यह भी सम्भव है कि हमें ऐसे व्यक्तियोंके काम आना पडे जिनके बारेमें ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय उन्हें भगवान्को समर्पित करनेका मनोभाव हमारे अन्दर सर्वथा न हो. पर इससे चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि एक बार सर्वात्मना प्रभुके प्रति समर्पित हो जानेपर, चाहे वह समर्पण ज्ञानपूर्वक न भी हो परन्तु चिन्ताका कोई कारण रह नहीं जाता.

कभी-कभी हमें विश्वास नहीं होता कि हमारे आत्मनिवेदनको प्रभुने सुना कि नहीं. हमने तो सब कुछ समर्पित कर दिया पर भगवान्ने उसे स्वीकारा कि नहीं. यह चिन्ता भी निरर्थक है. क्योंकि श्रीकृष्ण तो पुष्टिपुरुषोत्तम है अतः जैसे व्रजभक्तोंका अन्याश्रय छुडाकर स्वयमेव अपने भजनमें उन्हें प्रवृत्त करते हैं, वैसे ही जब और जिस क्षण वह अपने भजनमें हमें प्रवृत्त करना चाहेंगे उस क्षण स्वतः ही हमारा तथा हमसे सम्बन्धित सभी वस्तु या व्यक्ति का उनकी सेवामें विनियोग अनायास सम्पन्न हो जायेगा. यदि भगवदिच्छा पुष्टिमार्गमें हमारे अङ्गीकारकी न हो तो हम आत्मनिवेदन भी नहीं कर पायेंगे. प्रभु तो सर्वसमर्थ हैं अतः हमारी सारी अयोग्यताओंको दूर कर बिना किसी साधनकी अपेक्षाके हमें योग्य भी बना सकते है. अतः हम निवेदन या समर्पण के योग्य हैं कि नहीं ऐसी चिन्ता भी पुष्टिभक्तको नहीं करनी चाहिये.

जब लौकिक व्यापार आदिमें कोई कठिनाई उपस्थित हो या वैदिक वर्णाश्रम धर्मके पालनमें कोई कठिनाई उपस्थित हो, तब भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. प्रत्युत यह समझना चाहिये कि भगवान् अधिकाधिक भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेका अवसर हमारे सामने उपस्थित कर रहे है.

आओ! सारे पुष्टिजीव आओ! और ऐसी विषम स्थितिमें भी अपनी पुष्टिभक्तिको निभानेका यत्न करो. लौकिक या वैदिक व्यवहारोंमें स्वाथ्यका क्या मूल्य यदि पुष्टिभक्तिका स्वास्थ्य न हों? भगवान् यदि लौकिक दृष्टिसे या वैदिक दृष्टिसे कुछ विषमस्थिति हमारे सम्मुख उपस्थित करते हों तो निश्चिन्त होकर उन्हें सहन कर लेना चाहिये. क्योकि सम्भवतः इसी तरह भगवान् हमें पुष्टिमार्गपर अग्रसर करना चाहते हों.!

भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थामें गुरूकी आज्ञाके अनुसार ही भगवत्सेवा करनी चाहिये. परन्तु भगवदिच्छावश या भगवदाज्ञावश सेवाके प्रकारमें कुछ भिन्नता भी आजाये तो चिन्ताकी कोई बात नहीं है. गुरूकी आज्ञाके अनुसार हो अथवा भगवान्की आज्ञाके अनुसार हो जैसे भी कृष्णसेवामें तत्परता बढती चली जाये वही जीवनप्रणाली सुखप्रद होती है.

निश्चिन्तताके इन सारे सिद्धान्तोंको जाननेके बावजूद भी कभी-कभी पारिवारिक कष्ट व्यक्तिको झकझोर देता है. उदाहरणतया पुत्र, पति या पत्नी के वियोग होनेपर मनस्ताप हो ही जाता है. पर जो भी कुछ घटित होता है उसे भगवल्लीलाके बोधके साथ सहजतया स्वीकार लेनेकी मनोवृत्ति सम्पादित करनी चाहिये. चिन्ता, उद्वेग या मनस्ताप से जितनी भी जल्दी छुटकारा पाया जा सके उसे पानेकी मनोवृत्ति रखनी चाहिये.

भक्तिके नौ सोपान दिखलाये गये है-श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन. इनमें अपेक्षित प्रकारसे

श्रवण-कीर्तन जैसे प्राथमिक सोपानोंपर भी आरोहण करना एक कठिन कार्य है, तो अन्तिम सोपान आत्मनिवेदन और उसके बाद प्राप्त होनेवाली निश्चिन्तताकी मानसिक अवस्थाका लाभ तो अत्यधिक कठिन लगता है! परन्तु आवश्यकता इस कठिनताके विचारसे चिन्ताकी नहीं प्रत्युत सर्वात्मना शरणागतिके मनोभावको बनाये रखनेकी है. ऐसी निरर्थक चिन्ताओंमें जितने समय तथा मनोयोग का व्यय हो जाता है, उतने समय तथा उतने मनोयोगसे निरन्तर “श्रीकृष्णः शरणं मम” कहते रहें तो बात बन सकती है.

यह आश्वासन-यह अभिमत केवल गोविन्द दूबेकेलिए नहीं अपितु सभी पुष्टिजीवोंको श्रीमहाप्रभु दे रहे है.

भगवद्-विप्रयोगकी स्नेहात्मिका अनुभूतिमें पुष्टिजीवका कृश होना तो परमपुष्टि है-“तिहारे सेवक ऐसे कृश क्यों? बरजे हते पर मारगमें आये ताको फल पाय रहे है!” यह कृशता तो पुष्टिभक्तिके स्थायिभावका एक रोचक सञ्चारिभाव है. अतः रसवर्धक भी है. पर भक्तिके स्थायिभावके विपरीत चिन्ता या उद्वेग रसाभास पैदा करते है. रसाभास पैदा करनेवाले चिन्ताके इन्हीं विविध प्रकारोमें से कुछ प्रकारोंकों यहां सूचित किया गया है. श्रीमहाप्रभु पुष्टिभक्तके मानसको इनसे दूषित होनेसे बचाना चाहते है. ताकि कृष्णसेवा तनु-वित्तजासे मानसी सेवाके रूपमे विकसित हो पाये-आत्मनिवेदनका बीजभाव भगवत्प्रेममे अङ्कुरित हो पाये-भगवदासक्तिमें पल्लवित हो पाये और अन्ततः भगवद्-व्यसनमे वह फलित हो जाये!

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. 1981 में श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास सामलियाद्वारा सम्पादित-प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप है इस पुनःप्रकाशनके अवसर हम इन महानुभावोंका कृतज्ञापूर्वक स्मरण करते है.

॥ नवरत्नम् ॥

गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथप्रभुचरणविरचिता नवरतक्रिवृति:

चिन्ता-सन्तान-हन्तारो यत्पादाम्बुज-रेणव:॥
स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर् मुह:॥1॥

ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भव:? इत्थम्. आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हा:, न इतरे. तत्र च ऐहिक-पारलौकिकयोः अर्थयोः न अवशिष्टं किञ्चित् असमर्पितम्. एवं सति देहादिनिर्वाह: केन कार्य:? किं निवेदितार्थेन उत इतरेण वा? तत्र न आद्यः, तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुम् अशक्यत्वात्, इच्छायाः च ज्ञातुम् अशक्यत्वात्.

वस्तुतस्तु इच्छायामपि सत्यां तदुपयोगो अनुचितः सेवकस्य. न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषाय इति वाच्यम्. स्वतः तथाकृतेः दोषावहत्वात् तदिच्छायाश्च ज्ञातुम् अशक्यत्वात् इति उक्तम्. न द्वितीयः, अस्वधर्मत्वात्, निवेदितस्य अर्थस्य स्थित्याद्यर्थं स्वस्य विचारस्यापि अनुचितत्वात्, तदभिमाने तत्सम्भवात्. एवं सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात् तद्वैयर्थ्यापातः. मार्गएव च अयम् उच्छिद्येत. अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इति उभयतः पाशा रज्जुः इति चेत्, अत्र वदामः. "दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्, एवं धर्मैर् मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम्, मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोस्यावशिष्यते" इत्यादिवाक्यैः तद् आवश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेश-भजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशज-संस्कारवत्.
निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्ध्यर्थम् आवश्यक-व्यवहारार्थं निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः). अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षणएव तन्निवेदने अकृते, अग्रे तदविनियोगे प्राप्ते, तत्परिग्रह-वैयर्थ्यापत्तिः. अपरं च, दाने हि न स्वविनियोगः, नतु निवेदने. अन्यथा निवेदितान्नादेः भोजनं न स्यात्. अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्. निवेदितानाम् अर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिः उचिततरा, दासधर्मत्वात्. "उच्छिष्टभोजिनो दासाः" इत्यादिवाक्यैः आत्मशोधकत्वात् च. किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जाते अग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो नवा इति भवति चिन्ता. तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च. "त्रैवर्गिकायास ..." इति वाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च तत्र स्यात्. अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम्, एवंभूतान् स्वान् उपदिशान्ति चिन्ता कापि न कार्या इति.

टीका : भगवदीयनको चिन्ताकी निवृत्तिकेलिये ये ग्रन्थ हे. तब (=तहां शङ्का होत हे जो) भगवदीय तो अनन्यभक्त होय हें ओर "अनन्य होयके जो मनुष्य मेरी भक्ति करे हें ओर नित्य सब तरेहसूं मेरेमेंही चित्तवृत्ति राखत हें विनकों जो पदार्थको उपयोग हे सो मैं मिलाय दऊं हूं; ओर जो उपयुक्त पदार्थ मिल्यो होय वाकी मैं रक्षाहु करूं हूं" एसें गीताजीमें अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णनें आज्ञा करी हे. तासूं भगवदीयनकु केसे चिन्ता उत्पन्न होय? एसी शङ्का की निवृत्तिकेलिये श्रीगुसांईजीने आज्ञा करी हे: जो आत्मनिवेदन करिवेवारेही भगवद्भजनकुं योग्य हें. जिननें आत्मनिवेदन नाहीं कियो हे सो भगवद्भजनकों योग्य नाहीं हें.

तामें (पुन: शङ्का होत हे जो) जिननें आत्मनिवेदन कियो हे विनके यालोक तथा परलोक सूं सम्बन्धित, भगवानको जाको अर्पण नाहीं कियो हे एसी कोई वस्तु नाहीं हे. तब देहादिकनको निर्वाह निवेदित वस्तून्सों करनो किंवा अनिवेदित वस्तून्सों करनो? यदि कहो के निवेदित वस्तूनसोंही करनो तो ये पक्ष योग्य नाहीं हे. क्यों जो भगवानकी वस्तुको ग्रहण भगवानकी इच्छा विना होय सके नाहीं. ओर भगवानकी इच्छा जानिवेमें आय सके नाहीं. यथार्थ विचार करो तब तो भगवानकी इच्छा होय तोहु सेवककों भगवानकी वस्तुको उपयोग करनो उचित नाहीं हे. ओर कदाचित् एसें कहें जो देहादिकहु भगवानके भये हें (तासों) विनको पोषण भगवानकी वस्तुसों करिवेमें दोष नाहीं हे, तो एसेंहु नाहीं कहि सके हें. क्यों जो अपने विचारसूं (अन्यकों समर्पित वस्तुको उपयोग) करिवेमें स्वतन्त्रतारूप दोष आय जाय हे. ओर भगवानकी इच्छा जानिवेमें आवत नाहीं हे ये तो कह्योही हे, तासूं जो वस्तु निवेदित नाहीं भई हे वाहीसूं निर्वाह करनो, एसें कोऊ कहे तहां कहत हें जो ये पक्षहु उचित नाहीं हे. क्यों जो जा वस्तुको निवेदन नाहीं भयो हे सो आपुने उपयोगमें लेवेको सेवकको धर्म नाहीं हे, तेसेंही भगवानको निवेदित नाहीं भई एसी वस्तु राखिवेकोहु अपनो धर्म नाहीं हे. देहादिकनको निवेदन ह्वे गयो हे तासों ताके निर्वाहकेलिये अपने विचार करनोहु योग्य नाहीं हे. तेसेंही देहादिकनको निवेदन करिवेके समय वाके निर्वाहकेलिये कितनिक वस्तु भगवानको निवेदित नाहीं करिवेको विचार करनो येहु योग्य नाहीं हे. क्यों जो सबनमे ते अपनो अभिमान छूटिवेकेलिये निवेदन हे. ओर देहादिकके निर्वाहको विचार करनो सो तो वामें अपनो अभिमान राखे तबही होय! तासूं अनिवेदित वस्तून्सूं देहादिकनको निर्वाह करनो ये पक्षहु योग्य नाहीं हे. एसें जब देहादिकनको निर्वाह निवेदित वस्तून्सों अथवा अनिवेदित कोउ वस्तून्सों होय सके नाहीं तब देहादिकनके निर्वाहको साधन नाहीं रहीवेसूं देहादिकनके नाशको सम्भव होय, तब देहादिकन्सों भजन करनो सो बन सके नाहीं, तब भजन् करिवेकेलिये वाके अधिकाररूप निवेदनकीहु व्यर्थता आय जाय हे, तब पुष्टिकी मर्यादारूप यह भक्तिमार्गही उच्छिन्न होय जायगो! तासूं निवेदन करेतें भगवद्भजनको अधिकार होय ओर निवेदन भये पाछें भगवद्भजन होय सकेनाहीं तब दोई आड़ीसूं पाश आवे हे एसें कोऊ कहे तहां कहत हें:

“स्त्री पुत्र गृह प्राण ये सब भगवानको अर्पण करने” एसें प्रबुद्धयोगेश्वरने निमिराजा प्रति भगवान् सम्बन्धि धर्मके प्रसङ्गमें कह्यो हे. ओर उन्नीसमे अध्यायमें श्रीकृष्णभगवानने उद्धवजी प्रति महद्विमृग्य भक्तियोग कह्यो हे. तामें “मेरी अमृतरूप कथामें श्रद्धा राखनी” यहांसूं लेयकें साड़ेचार श्लोकन्सूं आत्मनिवेदीनके धर्म कहे हें. वहां अधिकाररूप निवेदन कह्यो हे. तासूं निवेदन तो आवश्यक हे. तासूं जेसें ब्राह्मण, क्षत्रीय तथा वैश्य कों वैदिक कर्ममें अधिकार सिद्ध करिवेवारो, गायत्रीके उपदेशसूं भयो एसो, यज्ञोपवीत संस्कार हे तेसें भगवद्भजनमें अधिकार सिद्ध करिवेवारो आत्मनिवेदन हे. तासूं निवेदनकी सफलताकेलिये भगवद्भजन सिद्ध करिवेकों जितनी वस्तूनको आवश्यक उपयोग होय तितनी निवेदित वस्तुही उपयोगमें लेनी. यदि एसो अभिप्राय न होय तो, स्त्रीको पाणिग्रहण किये पीछे वाकु अवश्य निवेदित करनी चहिये. तेसेंही पुत्रादिकनको निवेदनहु करनो चहिये. सो यदि न भयो तब वे सब अपने उपयोगमें आय सके नाहीं. तब स्त्रीको ग्रहण कियो हे ताकी व्यर्थता आय जाय हे. तासूं जो वस्तु दानमें दीनी हे सो वस्तु अपने उपयोगमें आवे नाहीं परन्तु निवेदित वस्तुको उपयोग करिवेमें बाध नाहीं हे. जो निवेदित वस्तुके उपयोगमें बाध होतो होय तो भगवानकु निवेदित किये गये अन्नादिकनको (महाप्रसाद मानीके) भोजन करिवेको सर्वत्र लिख्यो हे सो न होय सके. ओर भगवानको निवेदित किये सिवाय वस्तु लेवेको सर्वत्र निषेध हे, तासूं जो वस्तु भगवानको निवेदित भई हे ताको भगवद्भोगकेलिये विनियोग भये पाछें “ये भगवानने दियो भयो महाप्रसाद हे” एसें समजिकें अपने उपयोग करनो सो युक्त हे. क्यों जो यामें दासधर्म सिद्ध रहे हे. तासूंही उद्धवजीने श्रीकृष्णसूं कह्यो हे: “आपको उच्छिष्ट लेवेवारे हम दासनने आपकी माया जीती हे” इत्यादिक वाक्यन्करिकें भगवानको प्रसाद आत्माकों शुद्ध करिवेवारो हे ये सिद्ध हे.

तासूं या विषयकी चिन्ता तो होय नाहीं. परन्तु निवेदित अर्थको प्रभुमें विनियोग होय जाय तापीछें अगाड़िहु भगवत्सेवामें विनियोग करिवेकेलिये वस्तु सम्पादन करिवेको यत्न करनो किंवा नाहीं करनो? एसी चिन्ता भगवदीयनको होय. क्यों जो भगवानके विनियोगमें उपयुक्त वस्तुकुं सम्पादन करिवेको प्रयत्न करें तब भगवानमे सूं चित्त निकसिके वा वस्तुमें चल्यो जाय. एसेंही सब इन्द्रियनको व्यापार वाहीके अनुकूल

होय तब बहिर्मुखता होयवेको सम्भव हे. ओर जितनो वामें यत्न करे तितनो सेवामें प्रतिबन्ध होय. तेसेंही धर्म, अर्थ ओर काम ये त्रिवर्गकेलिये भक्त यदि श्रम करे तो भगवान् वाकु निष्फल करत हें, तासूं भगवत्कृत-प्रतिबन्धहु तामें होय. ओर जो यत्न न करे तो भगवानको विनियोग करिवेकों कछु होय नाहीं तब दु:ख होय, एसें भगवदीयनको चिन्ता होय, ताकी निवृत्तिकेलिये उपदेश करत हें:

चिन्ता काऽपि न कार्या निवेदितात्माभि: कदाऽपीति॥
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्॥1॥

निवेदितात्मभि:=आत्मनिवेदन किये भक्तनकु
कदा=कोई कालमें
अपि=हु, का=कोउ
अपि=हु, चिन्ता=चिन्ता
न=नाहीं, कार्या=करनी
इति=क्योंके, भगवान्=श्रीकृष्ण अपि=निश्चित रूपसूं
पुष्टिस्थ:=कृपामें स्थित हें
लौकिकीं=लौकिक
गतिं=गतिकुं, न=नाहीं
करिष्यति=करेंगे

भावार्थ : जिननें अपने आत्मादिक सब निवेदित किये हें विनकों काहु समय कोउ बातकी चिन्ता कर्तव्य नाहीं हे. क्यों जो ये जीव पुष्टिमार्गमें रह्यो हे तासूं भगवान् वाकी लौकिक गति कबहु नाहीं करेंगे.

प्रकाश : लौकिक-तदभावेऽपि भगवदर्थाऽपि सा न कार्या. एतद् आहुः कापि इति शब्देन. अङ्गीकारेणैव सर्वएव करिष्यति इति विश्वासो यतः तस्य आवश्यकः. भगवतोऽपि तथानियमिः. कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुः चेत् विलम्बते, तदापि न कार्या इति आहुः कदापि इति पदेन. ननु लोकवत् कुटुम्बाद्यासक्त्या स्वस्याऽपि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्, तत्र आहुः भगवानपि इति. यतः पुष्टिस्थो अतो मर्यादामार्गीय-वैराग्याद्यभावेऽपि “महापुरुषेण निवेदिता” इति स्वकीयत्वेन् अङ्गीकारात् तथा न करिष्यति इति अर्थः.

टीका : इतनें, लौकिक चिन्ता न होय. तथापि भगवानकेलिये हु चिन्ता न करनी. अङ्गीकार भयेसूंही भगवान् आपही सब सिद्ध करेंगे एसो विश्वास जीवकों अवश्य राखनो चहिये. ओर भगवानको हु एसो नियम हे जो जाको अङ्गीकार कियो वाको पालन अवश्य करनो. तासूं कदाचित् परीक्षाकेलिये अथवा प्रारब्धके भोगकेलिये प्रभु विलम्ब करें तोहु चिन्ता न करनी. जीव पुष्टिमार्गमें रह्यो हे तासूं, वामें मर्यादामार्गीय वैराग्यादिक होय नाहीं तोहु, आचार्याद्वारा भगवानको निवेदित भयो हे तासूं भगवा**नने** "ये जीव स्वकीय हे" एसें बिचारिके वाको अङ्गीकार कियो हे. तासूं दूसरे लोककिसी नांई कुटुम्बादिकनमे आसक्ति होयगी तोहु भगवान् लौकिकगति नाहीं करेंगे॥1॥

एसें चिन्ता छोड़िवेसूं स्वच्छन्दपनेको व्यवहार आय जायगो, तासूं बहिर्मुखता होयगी एसें कोउ कहे तहां कहत हें:

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर् जनैः॥
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति॥2॥

तादृशै:=तादृशी
जनै:=लोगनकु
निवेदनं=निवेदनको
तु=तो
सर्वथा=सब प्रकारसूं
स्मर्तव्यां=स्मरण करनो
सर्वेश्वरः=सबनके ईश्वर
च=ओर
सर्वात्मा=सबनके आत्मारूप
(भगवान्=भगवान्)
निजेच्छातः=अपनी इच्छाके अनुसार
करिष्यति=करेंगे

भावार्थ : सर्वथा जो तादृश भये हें इतनें निवोदितात्मा भये हें तिनकों अवश्य निवेदनको स्मरण करनो. प्रभु सबनके ईश्वर हें ओर सबनके आत्मा हें. सो अपनी इच्छातें करेंगे.

प्रकाश : एवं चेत्, स्वाच्छन्द्य-व्यवहारापत्त्या बाहिर्मुख्यं स्यात् अत आहु: निवेदनम् इति.

सर्वदा सर्वांशेन दीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यति इति भावः. अशक्त्या सेवाद्यसम्भवेऽपि इदं कार्यमेव इति ज्ञापनाय 'तु'शब्दः. 'च'कारपक्षे समुच्चयः. सर्वथा इत्यस्य आवश्यकत्वज्ञापनाय. अथवा सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्पराः तैः सह तथा. एतेन सङ्गदोषो निवारितः. अतादृशेषु एतद्गोपनं सूच्यते. सर्वदा इति पाठे कालापरिच्छेदः तत्र उच्यते. अन्यथा तदैव आसुरप्रवेशः स्यात् इति भावः. कदाचित् अलौकिकार्थस्य लौकिकस्य वा सिद्ध्यर्थं प्रभुः प्रार्थनीय: इति प्रश्ने, न इति आहुः सर्वेश्वरः इति. अत्र 'सर्व'शब्दो निवेदितात्म-सर्वपरः. यथा "सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या" इत्यत्र निमन्त्रिताएव 'सर्व'पदेन उच्यन्ते, नतु अन्येपि. 'सर्वात्म'पदेपि एवं ज्ञेयम्. तेन सेवकाः सर्वे यथा-यथा प्रपन्नाः तथा-तथा प्रभुरपि तेषु अङ्गीकृतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव तेषु मनुतइति तद्धितकृतौ न प्रार्थनाम् अपेक्षते इति ज्ञाप्यते. अथवा कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोऽपि प्रतिबन्धसम्भव: इच्छायाम् इति ज्ञापनाय 'सर्व'पदं कालादिपरम्. प्रार्थितोऽपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनापि अप्रयोजिका इति ज्ञापनाय निजेच्छा इति उक्तम्. अथवा निजाः स्वीयत्वेन अङ्गीकृताः सेवकाः तेषां प्रचुरेच्छातः स्वयमेव अपेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षा इति अर्थः. परन्तु इच्छाया अविकृतत्वमेव अपेक्षितम् इति ज्ञापनाय अव्ययप्रयोगः.

टीका : सर्वथा जो तादृश भये हें, इतनें, निवोदितात्मा भये हें, तिनकों अवश्य निवेदनको स्मरण करनो. अथवा सर्वथा जो तादृशजन होंय इतनें भगवदीय होंय तिनके संग निवेदनको स्मरण करनो. मूलमें 'सर्वदा'पद होय तो हमेंशा निवेदनको स्मरण करनो एसो अर्थ समजनो. एसें सर्वकाल स्मरण न करे तो आसुरावेश होय. कदाचित् अलौकिक अथवा लौकिक अर्थकी सिद्धिकेलिये प्रभूनकी प्रार्थना करनी के केसें? एसी शङ्का होय तहां कहत हें जो प्रार्थना नाहीं करनी. क्यों जो जिनमें निवेदन कियो हे वे सबनके ईश्वर हें ओर सबनके आत्मा हें सो अपनी इच्छातें करेंगे. अथवा जिनकी इच्छामें विकार नाहीं होय तिन भक्तनकी इच्छा प्रमाण प्रभु करेंगे.

देहादिक सब भगवानको अर्पित किये हें ताको विनियोग स्त्री-पुत्रादिकनमे होय तब स्वधर्मकी हानि होय एसी चिन्ता होय तहां कहत हें:

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकम् इति स्थितिः॥
अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत्॥3॥

सर्वेषां=सबनको
प्रभुसम्बन्धः=प्रभुके संग सम्बन्ध
प्रत्येकं=एक-एकको, न=नाहीं,
इति=एसो, स्थितिः=सिद्धान्तहे
अतः=यासूं
अन्यविनियोगे=ओर कहुं विनियोग होयवेपे
अपि=हु, का=केसी
चिन्ता=चिन्ता, चेत्=यदि
स्वस्य=अपुनो
सः=वो(अन्यविनियोग होय तो)
अपि=हु(का=केसी;
चिन्ता=चिन्ता!)

भावार्थ : आत्मा सहीत आत्मीय समग्र पदार्थनकु श्रीहरिको सम्बन्ध समानही हे, अलग-अलग नाहीं हे. तासूं आत्मीय वस्तूनको अपनेमें; ओर अपनो आत्मीय वस्तूनमे विनियोग होय तोहु कहा चिन्ता करनी! अर्थात् कोइ तरहकी चिन्ता नाहीं हे.

प्रकाश : ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्री-पुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते. तत्र आहुः सर्वेषाम् इति.

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदिताः तैः सहैव स्वस्य अङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभुसम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्र उपयोगे स्वस्य का चिन्ता! न कापि इति अर्थः. इयं निवेदेने अङ्गीकारमर्यादा इति आहुः स्थितिः इति. कस्यचित् विशेषतो अङ्गीकारः चेत् सा पुष्टिः इति भावः. अथवा पुत्रादीनाम् अन्यविनियोगदर्शनेऽपि स्वस्य का चिन्ता! तेषामपि अङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवात् इति अर्थः. किञ्च, 'स्वस्य' इतिपदम् आवृत्तम् 'अपि'शब्देन सम्बध्यते.

टीका : सबन्सों प्रभुको सम्बन्ध हे, एकको मुख्य सम्बन्ध हे ओर अन्यको गौण सम्बन्ध हे एसें नाहीं हे. एसी निवेदनमें अङ्गीकारकी मर्यादा हे. यासूं जो विलक्षण होय——

इतनें सबनको अङ्गीकार समान होय तथापि कोउके ऊपर विशेष कृपा दीखवेमें आवे—— तो तामेंहु अपनें सन्तोष माननो. अर्थात् निवेदन करिवेके समय तो एक मुख्य होयके अपने संग दूसरे सबनको अर्पण करे हे, तब अपनी मुख्यता होय हे. परन्तु निवेदन भये पीछे तो अपनो आत्मा, देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्त:करण, स्त्री, पुत्र, धन सबनको समान निवेदन होय हे. तामें जेसें धनादिक अचेतन पदार्थनको परस्पर विनियोग होय हे तामें जेसें चिन्ता नाहीं होय हे तेसें स्त्रीपुत्रादिक चेतनको परस्पर विनियोग होयवेमेंहु अपनको चिन्ता कहा हे! तेसेंही अपनोहु अन्यमें विनियोग होय तोहु चिन्ता कहा हे!

यासूं एसो सिद्ध भयो जो अपन् समर्पण कियो तब अपने संग स्त्री-पुत्रादिककोहु समर्पण भयो सो विनमें अपनो सम्बन्ध हतो ताको समर्पण भयो हे. ओर स्त्रीपुत्रादिकनकी जो स्वतन्त्र सत्ता हे सो समर्पण करिवेकेलिये तिनकों भिन्न-भिन्न समर्पण करनो चहिये. तब 'सिद्धान्तरहस्य'में कहे प्रमाण अपने-अपने पञ्चदोषनकी निवृत्ति होय. ओर धनादिक जड़ पदार्थमें अपनी स्वतन्त्र सत्ता रहे हे, तासूं अपने समर्पणके संगही विनको समर्पण होय गयो ओर वे निर्दुष्ट होय गये एसें जाननो॥3॥

जेसें पुत्रादिकनके अन्यविनियोगमें चिन्ता नाहीं करनी तेसें अपनो अन्य विनियोग होय तोहु चिन्ता न करनी या विषयमें कहत हें:

अज्ञानाद् अथवा ज्ञानात् कृतम् आत्मनिवेदनम्॥
यै: कृष्णसात्कृतप्राणैस् तेषां का परिदेवना॥4॥
यैः=जिननें
कृष्णासात्कृतप्राणैः=जिननें अपने
प्राण श्रीकृष्णके संग एकमेक
करि दीने हें विननें
अज्ञानात्=अज्ञानसूं
अथवा=अथवा
ज्ञानात्=ज्ञानसूं
आत्मनिवेदनं=आत्मनिवेदन
कृतं=कियो हे
तेषां=विनकुं

का=केसी
परिदेवना=चिन्ता

भावार्थ : जिन भक्तनने ज्ञानसों अथवा अज्ञानसों हु एक बेर जब आत्मनिवेदन कर दियो हे पाछें विनकुं चिन्ता करिवेकी नाहीं रहि जाय हे तब जिननें श्रीहरिके अधीन प्राण कर दिये हें एसे भक्तनकु कोनसी चिन्ता करिवेकी रही जाय हे! अर्थात् उनकुं कोई तरहकी चिन्ता नाहीं करनी.

प्रकाश : यथा पुत्रादीनाम् तथा स्वस्यापि सः=अन्यविनियोगः चेत् तदापि चिन्ता न कार्या इति आहुः अज्ञानाद् इति.

हीन-मध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिः चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्णसात्कृप्राणैः चिन्ता न कार्या इति किमु वाच्यम्! इति अर्थः. केवलं प्रभ्वधीनीकृतप्राणानां चिन्ताविषयाभावादेव न सा इति भावः. अतएव 'का' इति शब्दः उक्तः. पदसम्बन्धस्तु—— अज्ञानाद् अथवा ज्ञानात् यैः तत् कृतम् तेषां सा न इति शेषः. कृष्णसात्कृतप्राणैः यैः तत्कृतम् तेषां सा का इति उक्तम्॥4॥

टीका : भगवान् सर्वरूप हें, मार्गके प्रवर्तक हें, उपदेशक=गुरु हें, निरवधि सच्चिदानन्दस्वरूप हें; तथा भगवानको सब निवेदन करनो सो परमफलरूप हे—— इत्यादिक ज्ञान जिनकों नाहीं हे एसे हीनाधिकारी, ओर एसो ज्ञान जिनकों हे एसे मध्यमाधिकारी हु निवेदितात्मा होंय तो विनकों चिन्ता कर्तव्य नाहीं हे तब जिनने केवल प्रभूनकोही अपने प्राण आधीन किये हें एसें जो उत्तमाधिकारी हें तिनकों तो चिन्ताही कहा हे!॥4॥

श्रवणादिक नव भक्तिनमे सूं श्रवण, कीर्तन ओर स्मरण ये जीवके आधीन हें. तथा पादसेवनके दोय भेद हें. तामें एक तो अपनें पादकरिकें भगवन्मन्दिरादिकमें जानो. सो तो जीवके आधीन हे. परि, दूसरो, भगवानके चरणारविन्दको सेवन करनो, सो प्रभूनके आधीन हे. तेसेंही अर्चन, वन्दन ओर दास्य हे सोहु सेव्यस्वरूपमें चैतन्यको प्राकट्य न होय तोहु बन सके हे. परन्तु सख्य ओर आत्मनिवेदन तो सेव्यस्वरूपमें चैतन्यको प्राकट्य होय ओर प्रभु आपु स्वीकार करें तबही होय सके हे. ओर अब तो

प्रभुको वेसो सानुभाव हे नाहीं तब, अपनें जो आत्मनिवेदन कियो हे वाको प्रभून्ने अङ्गीकार कियो हे किंवा नाहीं कियो हे? एसी चिन्ता तो होय तहां कहत हें:

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे॥
विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः॥5॥

निवेदने=निवेदनके विषयमें
श्रीपुरुषोत्तमे=श्रीकृष्णके विषयमें
चिन्ता=चिन्ता
त्याज्या=छोड़नी
तथा=ओर
विनियोगे=विनियोग विषयमें
अपि=भी सा=वो(चिन्ता)
त्याज्या=छोड़नी
ही=निश्चितरूपसूं
हरिः=श्रीकृष्ण, स्वतः=आपु
समर्थः=सब प्रकारसूं शक्तिमान् हें

भावार्थ : "मेरो निवेदन श्रीहरिने स्वीकार कियो के नाहीं" एसें श्रीपुरुषोत्तमसम्बन्ध विषयक चिन्ताकोहु परित्याग करनो. तथा कदाचित् अन्य कार्यादिकमें विनियोग होय जाय तोहु चिन्ताको त्याग करनो. क्यों, श्रीहरि स्वयं समर्थ हें.

प्रकाश : ननु सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते. तथा च स्वयम् आत्मनिवेदने कृतेऽपि प्रभुः अङ्गीकृतवान् नवा इति चिन्ता भवत्येव, इत्यत: आहुः तथा इति.

पुरुषोत्तमो अङ्गीकृतवान् नवा इति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या, उक्तनिवेदनवत् इति अर्थः. पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां स्वतोऽन्यभजनं क्रियमाणा भक्ताः तन्निवार्य स्वयम् आत्मसात्कृतेति तादृशे स्वयं सर्वात्मना निवेदने कृते सा शङ्का न उचिता इति ज्ञापनाय 'पुरुषोत्तम'पदम्. तत्रापि स्वरूपानन्ददानेन अनिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्र उपयोगासम्भवेनैव न शमोदय: इति ज्ञापनाय 'श्री'पदम्. तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्या इति भावः. कदाचित् लोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशात् अन्यविनियोगेऽपि तथा इति आहुः विनियोगेपि इति. प्रमादात् तथासम्भवेऽपि प्रभुः न त्यक्ष्यति. यतः तत्स्वभाववशात् तथाभूतमपि उद्धर्तुं

तत्साधनानपेक्षः.

टीका : श्रीयुक्त पुरुषोत्तममें निवेदन विषयक चिन्ता छोड़नी. इतनें जेसें सब गोप इन्द्रको यज्ञ करत हते तिनकों निवृत्तकरिके अपने आधीन किये तेसें अपनें सर्वात्मासों प्रभूनमे सब निवेदन कियो हे तब चिन्ता करनी योग्य नाहीं हे. तामेंहु श्रीयुक्त पुरुषोत्तम हें सो अपने स्वरूपानन्दको दान करिके भक्तनको पोषण करत हें. तिनमें निवेदन कियो सो प्रभूनने अङ्गीकार कियो हे अथवा नाहीं कियो हे? एसी चिन्ता छोड़नी. कदाचित् कालभयादिक आय जाय तब वाको निवारण करिवेकेलिये जीवस्वभावसूं अन्यविनियोग होय तोहु चिन्ता छोड़नी एसें कहत हें. यदि प्रमादसूं एसें अन्यविनियोग होय जाय तोहु प्रभु न छोड़ेंगें. क्यों जो स्वभावके वशसूं जीव एसें भयो तोहु वाको उद्धार करिवेमें वासूं साधनकी अपेक्षा प्रभु नाहीं राखत हें, आप-स्वतः ही समर्थ हें. ओर सबनके दुःख तथा पापके हरण करिवेवारे हें॥5॥

भगवानने अङ्गीकार कियो होय तामें दूसरों लक्षण कहत हें:

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति॥
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताऽखिलाः॥6॥

यस्मात्=क्योंके(जीव/हरि)
पुष्टिमार्गस्थितः=पुष्टिमार्गमेंरहे भये हें
(तस्मात्=तासूं)
हरिः=श्रीकृष्ण
लोके=लोकमें, तथा=ओर
वेदे=वेदमें, स्वास्थ्यं=स्वस्थता
तु=तो, न=नाहीं
करिष्यति=करेंगे
(तस्मात्=तासूं, लोक-वेदकर्मसु=
लौकिक-वैदिक कर्मनमे)
अखिलाः=सब, साक्षिणः=साक्षी
भवत=होउ/बनो

भावार्थ : क्योंके जीव ओर प्रभु अनुग्रहमार्गमें स्थित हें तासों श्रीहरि लोक ओर वेद में आसक्ति नाहीं करावेंगे. तासों लोक-वेद सम्बन्धि कार्य साक्षिमात्र रहिके करने.

प्रकाश : अङ्गीकारे लक्षणान्तरमपि आहुः लोके इति.

कदाचित् प्रवाहवशात् लौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा स्थितौ तत्र विघ्नएव भवति, नतु तत्फलम् इति अर्थः. तत्र हेतुः पुष्टि... इति. तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वकर्ता यत: इति भावः. पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादां न सहते इति ज्ञेयम्. एवं सति किं कार्यम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः—— साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत.

टीका : लौकिक वाणिज्यादिकनमे तथा वैदिक आश्रमधर्मादिकनमे भक्तनके दु:खहर्ता=हरि स्वस्थता न करेंगे. अर्थात् लौकिक तथा वैदिक में काया, वाणी तथा मन सूं आछी रीतिसूं स्थिति होय तामें विघ्न होय. इतनें लौकिक तथा वैदिक कार्यहु यथार्थ न होय तहां वाको फल तो कहांसूं होय? क्यों जो प्रभु आप हरि हें. सो अपने बलकरिकेंही सब सिद्ध करिवेवारे हें. तासूं पुष्टिमार्गमें अङ्गीकार भयो तब मर्यादाकों सहन नाहीं करत हें. एसें लौकिक तथा वैदिक में विघ्न होय तब कहा करनो? एसी शङ्का होय तहां कहत हें: जो सब भक्त साक्षिवत् होय जाओ. इतनें लौकिक तथा वैदिक में भगवान् कहा करत हें येही देखनो. अर्थात् सप्तम स्कन्धमें भगवदीय गृहस्थके लक्षणमें लिख्यो हे जो “ज्ञातिके मनुष्य, माता-पिता, पुत्र ओर दूसरे सम्बन्धी जेसे कहें ओर जेसी इच्छा करें वामें ममा छोड़िकें अनुमोदनही करनो” ये वाक्यके अनुसार रहनो. एसें रहे सोहु भगवानके अङ्गीकारको लक्षण हे॥6॥

लौकिक-वैदिकमें विघ्न होय तोहु साक्षिवत् भगवानकी कृति देखनी, एसो उपदेश कियो. ताकरिकें आधिभौतिक, आध्यात्मिक ओर आधिदैविक एसें तीन प्रकारको धैर्यही साधनरूप कह्यो एसो सिद्ध होय हे. इतनोही कर्तव्य होय तब यथार्थ सेवा तो बन सके नाहीं, तब निवेदनकी व्यर्थता होय, येहु धर्मकी हानि हे, एसी चिन्ता होय ताकी निवृत्तिको उपाय कहत हें:
सेवाकृतिर् गुरोर् आज्ञा बाधनं वा हरीच्छया॥
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्॥7॥

गुरोः=गुरुकी
आज्ञाऽबाधनं (यथास्यात्तथा)=

आज्ञाको बाध जेसे नाहीं होय एसे
सेवाकृतिः=सेवाको कार्य
वा=अथवा
हरीच्छ्या=श्रीकृष्णकी इच्छा प्रमाण
(सेवाकृतिः=सेवाको कार्य)
अतः=यासूं
सेवापरं=सेवामें परायण
चित्तं=चित्तकुं
विधाय=रखिके
सुखं=सुख, स्थीयताम=रहो

भावार्थ : गुरुकी आज्ञानुसार सेवा करनी. किन्तु प्रभु कबहुक आपुनी विशेष इच्छा भक्तकुं जतावें तो प्रभुकी इच्छाके अनुसारही करनो. एसेमें गुरुकी आज्ञाके बाध होयवेमें अथवा अबाधमें प्रभुसेवामेंही चित्तकुं तत्पर राखिके सुखसूं रहनो.

प्रकाश : सेवाकृतिः इती. गुर्वाज्ञाया अबाधनं यथा भवति तथा सेवाकृतिः पूर्वम् अपेक्षिता. एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत् गुर्वाज्ञा विरूद्धा भवेत् तदा तथा कार्यम् इति आशयेन आहुः बाधनं वा हरीच्छया. विकल्पेन अबाधनम् इति अर्थः. एवं सति गुर्वाज्ञाया अबाधने बाधने वा सेवाएव मुख्या यतो अतः तथैव स्थेयम् इति आहुः अत: इति. एवं सति पर्यवसितं सुखमेव इति आशयेन सुखम् इति उक्तम्.

टीका : “देवमें जेसी उत्तम भक्ति होय हे तेसी भक्ति गुरुमें राखनी” एसें श्वेताश्वतरश्रुतिमें लिख्यो हे. तासूं गुरुकी आज्ञाप्रमाण सेवा करनी सो आत्मनिवेदीनको धर्म हे. सो जेसें साक्षिवत् रहीवेमें सिद्ध रहे तेसें साक्षिवत् रहनो. परंतु सेवाकी विरूद्धतासूं साक्षिवत् नाहीं रहनो. तामेंहु गुरुकी इच्छासूं विरूद्ध प्रभूनकी इच्छा सेवामें होय तो गुरुकी इच्छाको बाध होय.

इतनें जा प्रमाण सेवा करिवेकी गुरूनकी आज्ञा हे वाही प्रमाण सेवा करनी. ओर सेवामें सामग्री प्रभृति विषयमें अन्त:करणद्वारा, स्वप्नद्वारा अथवा साक्षात् भगवानकी विशेष आज्ञा होय तब गुरूनकी आज्ञाको बाध होय, प्रभूनकी आज्ञाको बाध न होय. प्रभूनकी आज्ञाप्रमाण सेवा करिवेंतें स्वधर्मकी हानि न होय. अर्थात् गुरूनकी आज्ञा

सिद्ध रहे तेसें अथवा प्रभूनकी इच्छासूं गुरूनकी आज्ञाको बाध होय तेसें सेवाही करनी. क्यों जो आत्मनिवेदीनको सेवाही मुख्य हे. तासूं सेवापरायण चित्त राखिकेही रहनो तब पर्यवसानमें वाकों सुखही होय॥7॥

अल्प दुःख होय तब तो एसें साक्षिवत् रह्यो जाय परन्तु महादुःख आय पड़े तब साक्षिवत् रही सक्यो न जाय, तब तो चिन्ता होय! एसी कोऊ शङ्का करे तहां कहत हें:

चित्तोद्वेगं विधायाऽपि हरिर् यद्यत् करिष्यति॥
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्॥8॥

चित्तोद्वेगं=चित्तमें उद्वेगकुं
विधाय=करिके, अपि=हु
हरि:=श्रीकृष्ण, यत्-यत्=जो-जो
करिष्यति=करेंगे(तत्=वो)
तस्य=विनकी
तथा एव=वेसी ही
लीला=लीला, इति=एसो
मत्वा=मानिके
चिन्तां=चिन्ताकुं, द्रुतं=तुरन्त
त्यजेत्=छोड़ दे

भावार्थ : भगवान् चित्तमें उद्वेग करिके हु जो-जो करेंगें सोहु हरिकी लीला हे एसें मानिके चिन्ताकुं शीघ्रही छोड़े.
प्रकाश : कदाचित् पुत्रादि-वियोग-शङ्का जनित-दु:खेन चिन्तासम्भवे गतिम् आहुः चित्तोद्वेगम् इति.

टीका : जेसें लोकमर्यादाके रक्षणकेलिये यादवनको शाप दिवायके भगवानने प्रभासीयलीला करी, क्यों जो अगाड़ी यादवनको नित्यसुख दियो हे, तेसें भक्तनके प्रारब्धादिरूप पाप हरिवेकेलिये हरि=भगवान् जो करेंगे, सो ऊपरसूं शुभ अथवा अशुभ दीखवेमें आवतो होय, तामें चित्तकों उद्वेग होय. सो उद्वेग करिके हरि जो-जो

करेंगें सो अपनो (भक्तके) महत्पाप होय ताको नाश करिवेकेलिये हरिकी लीला हे, एसें मानिके उद्वेग करायवेवारी अथवा उद्वेगसूं भई एसी चिन्ताकुं शीघ्रही छोड़े. क्यों जो बोहोत समय चिन्ता रहिवेमें काल, कर्म ओर स्वभाव की प्रबलतासूं चित्तमें आसुरधर्मको प्रवेश होय जाय तो फलमें प्रतिबन्ध तथा विलम्ब होय. तासूं चिन्ताकुं शीघ्रही छोडनी॥8॥

या नवरत्नग्रन्थमें जितनो लिख्यो हे सो सब होय सकें नाहीं एसो दीखे हे. क्यों जो नवधाभक्तिमें प्रथम एसी जो श्रवणभक्ति वहांसूं आरम्भ करिके सख्यभक्ति पर्यन्त पहूंचे तब जायके अन्तमें आत्मनिवेदनकी बारी आवे. तहां नवधाभक्तिकी श्रवणादि प्रत्येक भक्तिकी सिद्धि होनी जब दुष्कर हे तब निवेदनकी तो दिशाहु मिलनी अत्यन्त दूरकी बात हे. तासूं निवेदनविषयक तथा अन्यविनियोगविषयक चिन्ताको जो समाधान अब तांई कियो सो सब व्यर्थ दीखे हे—— एसो विचारिकें साधन ओर फल एक करिकें सबनको समाधान कहत हें:

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम॥
वदद्भिर् एवं सततं स्थेयम् इत्येव मे मतिः॥9॥
तस्मात्=तासूं
सर्वात्मना=सब तरहसूं
नित्यं=हमेंशा, मम=मेरो
श्रीकृष्णः=श्रीकृष्ण
शरणं=आश्रय (इति=एसो)
सततं=सतत
वदद्भिः=बोलते भये
एवं=या प्रकारसूं, स्थेयं=रहनो
इति=एसो, एव=ही
मे=मेरो, मतिः=माननो हे

भावार्थ : ऊपर कही एसी रीतिसूं जीवनको आपसूं सब होनो अशक्य हे तासूं सर्वात्माकरिकें “श्रीकृष्ण: शरणं मम” एसें नित्य सर्वकाल बोलतेही रहनो एसी मेरी मति हे.

प्रकाश : ननु इदम् अखिलम् अशक्यमिव भाति. तथाहि. श्रवणम् आरभ्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चात् निवेदनवार्ता. तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदिगपि. अतः तत्कृतचिन्तान्यवियोगचिन्तादिसमाहितिः निरर्था इति विचार्य साधन-फले एकीकृत्य सर्वसमाधानम् आहुः तस्मात् इति.

यस्मात् उक्तरीत्या स्वतः सर्वम् अशक्यम् अतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यति इति हृदयम्. भक्तिमार्गीयान् सर्वान् अंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति तदा सर्वात्मना तथा भवति. नित्यम् इति नैरन्तर्यम् उच्यते. अन्यथा कालेन आसुरधर्मप्रवेशः स्यात्. अन्तःकरणे तथाभावे अतथाभवे वा तथा वदनम् आवश्यकम् इति ज्ञापयितुं सततम् एवं वदद्भिः इति उक्तम्. एवं सति लोकशिक्षापि आनुषङ्गिकी सिध्यति. एवम् उक्तप्रकारेण सेवापरतया स्थेयम् इति अर्थो वा. ननु इदमपि न स्वशक्यम् इति आशम्य "यमेवैष वृणुते" इति श्रुतेः मे मतिः इत्येव एवंप्रकारिकैव इति अर्थः.

भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दाढ्यर्थम् इदमुच्यते॥
अन्धस्य सूर्य इव तद्-विमुखस्यात्र नार्थिता॥1॥
भक्तिमार्गसुधासिन्धोर् विचारमथनैः स्वयम्॥
स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः॥2॥
मयोज्ज्वलीकृतानीत्थं हृदि धृत्वा व्रजाधिपम्॥
भजन्तु भक्ता येनासौ न विमुञ्चति कर्हिचित्॥3॥

॥ इति श्रीविट्ठलदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः ॥

टीका : इतनें, भक्तिमार्गमें प्रवेश भयो तथा भक्तिमार्गमें रुचि भई तामें भगवानको अनुग्रहही कारण हे. एसें भक्तिमें प्रवेश भये पीछेही सेवामें प्रतिबन्धको सम्भव होय, तब प्रारब्ध तथा कालादिकसूंही होय. ताकी निवृत्ति तो सबनके नियामक एसे प्रभूनसूंही होय ओर तामें शरणागतिही साधन हे. सो जीव प्रभुके शरण गयो होय ओर सब करिवेमें प्रभु ताकी अशक्ति देखें तब प्रभुही सब सिद्ध करें. तासूं सर्वात्माकरिकें शरणागति होयगी तो प्रभुही सब सिद्ध करेंगे, ये गूढ अभिप्राय हे. तब प्रथमसूंही शरणागतिको उपदेश क्यों नाहीं कर्यो? एसी शङ्का की निवृत्तिकेलिये सर्वात्माकरिकें शरणमन्त्र कह्यो करनो एसो कह्यो हे. इतनें भक्तिमार्ग सम्बन्धी जितने विषय हें तितने विषयको बिचार करिके तामें प्रतिबन्ध तथा अपनी अशक्ति कों जब देखे तब

सर्वात्माकरिकें शरणागति होय. (शरणमन्त्रको रटण) निरन्तर कर्यो करनो एसें बतायवेकेलिये मूलमें 'नित्य' पद कह्यो हे. अन्त:करणमें तेसो भाव होय अथवा न होय तथापि तेसें बोलनो आवश्यक हे—— एसें जतायवेकेलिये "सतत बोलनो" एसें कह्यो हे. एसें कह्यो करे तामें लोककों शिक्षाहु होय जाय हे. अथवा यह अष्टाक्षर मन्त्र सतत कह्यो करनो ओर सेवापरायण होयके रहनो—— एसोहु अर्थ होय हे.
येहु अपन्सूं होय सके एसो नाहीं हे, एसी शङ्का होय तहां कहत हें जो "एसी मेरी मति हे". इतनें दशमस्कन्धमें अक्रूरजीनें श्रीकृष्णकों कह्यो हे जो "आपके चरणारविन्दके शरणमें आयो हुं सो आपको अनुग्रह हे एसें मानुं हुं". तासूं भगवानको अनुग्रह होय तबही जीव भगवानकी शरण जाय. सो जो हमारे भक्त भगवानके शरण गये हें विनके ऊपर भगवानको अनुग्रह हे एसें समझिके हमनें जो कह्यो हे वाही प्रमाण करनो एसें जतायो हे॥9॥
इति श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित नवरत्नकी
संक्षिप्त भाषा**टीका** गोस्वामी श्रीनृसिंहलालजी महाराज विरचित समाप्त भई

अन्तःकरणप्रबोधः ग्रन्थ-परिचय

॥श्रीकृष्णाय नमः॥
॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥
ग्रन्थ-परिचय

अन्तकरणप्रबोध ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुकी सन्यासग्रहण करनेसे पूर्वकी तथा षोडशग्रन्थोंमें योजित ग्रन्थोंमें अन्तिम कृति है.

श्रीयदुनाथजी-विरचित वल्लभदिग्विजयके अनुसार सक्क्यासग्रहण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु भूतलपर 39 दिन बिराजे थे और यह सक्क्यास आपने इस ग्रन्थमें वर्णित तृतीय भगवदाज्ञाके पालनहेतु लिया था. अतः आषाढ शुक्ल

द्वितीयासे 39 दिन पहले यानि वैशाख (व्रज जेष्ठ) कृष्णा सप्तमीके आसपास किसी दिन वि. सं. 1587 में इस ग्रन्थकी रचना हुई यह माना जा सकता है.

कुछ आधुनिक विद्वान् इस ग्रन्थमें वर्णित तीन भगवदाज्ञाओंकी व्याख्या श्रीमहाप्रभुको दोबार हुई अस्वस्थता तथा अन्तमें श्रान्ति तथा देहत्यागकी आन्तरिक प्रेरणाके रूपमें देते है. जो बात इन विद्वानोंके गले नहीं उतरती है वह है इन तीन भगवदाज्ञाओंका चमत्कारिक रूप! श्रीमहाप्रभुके प्रति किसी अतर्कित लगावके कारण ये मिथ्याभाषणके आरोपका साहस जुटा नहीं पाते. अतः भक्ति और भ्रान्ति के सहारे इन स्पष्टतम विधानोंकी अतीव अस्पष्ट और अटपटी व्याख्या प्रस्तुत करते है. इन विद्वानोंको कभी लगता है कि किन्हीं श्रान्तिक क्षणोंमें ये तीन भगवदाज्ञाकी भ्रान्तियां पैदा हो गई होंगी-कभी इन्हें लगता है कोई तीन साङ्घातिक बिमारीयोंसे पैदा हुई निराशाके वश श्रीमहाप्रभु इन बिमारियोंको परलोक सिधारनेकी भगवदाज्ञा ही मान बैठे है-कभी इन्हें लगता है कि सम्भवतः किसी अन्तरवाणीके रूपमें श्रीमहाप्रभुने लोकत्यागका आदेश सुना हो और उसे ही श्रद्धावश भगवदाज्ञा मान ली हो!

न पूर्ण श्रद्धा और न पूर्ण अश्रद्धा अर्थात् मध्यमार्गको अपनानेकी मनोवृत्तिवश अपनी निराधार कल्पनाओंको बौद्धिकताके रूपमें ये विद्वान् मान्य करना चाहते है. जगतके कारण स्थिति या प्रयोजन को ईश्वरीय चमत्कार मान कर भी जो चमत्कृत नहीं होते, वे ईश्वराज्ञाके श्रवणको 'चमत्कारपूर्ण' घटना कहकर अस्वीकार करना चाहते है. इससे अधिक चमत्कारर्पूण तार्किकता और क्या हो सकती है!

इन कपोलकल्पित व्याख्याओंका प्रस्तुत करनेका एकमात्र हेतु स्वयम्की टूटती हुई श्रद्धाको कथञ्चित जोडना होता है. पर अपने इस मोहमें ये

विद्वान् अक्सर यह बात भूल जाते हैं कि ऐसी अटपटी कल्पनासे श्रीमहाप्रभुका न तो कोई बुद्धिवैभव और न कोई चारित्रिक महत्ता ही सिद्ध होती है. जिस व्यक्तिका मनोबल दोबार केवल बीमार पड जानेपर तूट जाता हो उसे "युगप्रवर्तक व्यक्ति" कैसे माना जा सकता है? दोबारकी बिमारीसे पनपी निराशाको देहत्यागकी भगवदाज्ञा मान लेनेवाले भ्रान्त आत्मधातीको किस अर्थमें बुद्धिमान् माना जा सकता है?

भारतबर्षकी तत्कालीन नितान्त विषम परिस्थितिमें किस अदम्य उत्साह निष्ठा और समल्प के साथ श्रीमहाप्रभुने वैष्णवधर्म और संस्कृतिकी मशालको अपने सुदृढ हस्तोंमे धारण किया था! देशके कोने-कोनेको उससे प्रकाशित करनेको जूझते रहनेवाले व्यक्तिको इतनी कमजोर इच्छाशक्तिवाला माननेमें कौनसा गौरव सिद्ध होता है? वर्ण-आश्रम जाति-लिङ्ग निम्नवर्ग-उच्चवर्ग देशी-विदेशी के भेदके बिना सभी व्यक्तियोंके हृदयको पुष्टिभक्तिके उपदेशसे भावपूरित श्रीमहाप्रभुने कर दिया था. ऐसे व्यक्तित्वके घनी श्रीमहाप्रभु बीहड जङ्गलोंमे वर्षा-शीत-आतप आदिकी परवाह किये बिना निरन्तर परिभ्रमण करते रहे-विदेशी आक्रमकोंसे आतमित नगर-जनपदोंमें बसनेवाली जनतामें निरन्तर आस्थाका सञ्चार करते रहे. वे स्वयम् दो बारकी बीमारियोंसे घबराकर आत्मघात करें यह कल्पना कैसे बुद्धिसङ्गत मानी जा सकती है? जबकि वे जनताको-"त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृते सर्वतः सदा" का उपदेश देते रहे! अतः-

आज्ञापूर्वतु या जाता गङ्गासागरसङ्गमे।
यापि पश्चान्मधुवने न कृतं तद्-द्वयं मया॥
देहदेशपरित्यागस्तृतीयो लोकगोचरः।
पश्चातापः कथं तत्र सेवकोहं नचान्यथा॥।

इन शब्दोमें सस्ती अन्तर्वाणी या सङ्घर्षजन्य श्रान्ति या शारीरिक अस्वास्थ्यजन्य निराशा और भगवदाज्ञाकी भ्रान्ति को खोजना श्रीमहाप्रभुका अनादर है-उनकी अनुभूतिकी आध्यात्मिक-आधिदैविक गहनतासे नितान्त अपरिचयका द्योतन है!

श्रीमहाप्रभुके पौत्र श्रीगोकुलनाथजी इस ग्रन्थका सन्दर्भ यों देते है:

द्वादश स्कन्धात्मक श्रीभागवत पूर्णपुरुष पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्का ही नामात्मक स्वरूपमें प्रकट दूसरा रूप है. भागवतकी वाणिके अर्थको प्रकट करनेकेलिए ही वाणीके पति तथा भगवन्मुखरूप अग्निका श्रीमहाप्रभुके स्वरूपमें प्राकट्य हुआ (यह रहस्य भागवतकी सुबोधिनी व्याख्याके प्रारम्भमें स्वयम् श्रीमहाप्रभुने ही प्रकट किया है) भागवतपर सुबोधिनी व्याख्या श्रीमहाप्रभुके अवतारका प्रमुखतम प्रयोजन है. दशमस्कन्ध भागवतका हृदय है. प्रथमस्कन्धसे प्रारम्भ कर क्रमशः दशमस्कन्ध तक पहुंचनेमें पर्याप्त विलम्बकी सम्भावना थी. फलतः तृतीयस्कन्धतक पहुंचनेके बाद अविलम्ब दशमस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेकी कहीं एक विशेष भगवदाज्ञा श्रीमहाप्रभुको हुई (उसका पालन तो सर्वथा हुआ ही, अतः यहां उस आज्ञाका उल्लेख नहीं किया गया है. परन्तु उस आज्ञाके निगूढ आशय तथा अपने अवतारके प्रयोजनकी पूर्तिका सन्तोषोद्गार स्वयम् श्रीमहाप्रभुके मुखसे दशमस्कन्धकी सुबोधिनीके समाप्तिपर प्रकट हो गया है-"प्रकरणमिह पूर्यतेऽनवद्यं त्रयमपि विश्वजयाय मादृशानां, निजपदसमवाप्तये च नित्यं निजगुरूणा हरिणैव लोकवक्द्यम्")

दशमस्कन्धकी व्याख्या पूर्ण करनेके बाद श्रीमहाप्रभु पूर्वनिर्धारित योजनाके अनुसार अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या लिखने प्रवृत्त हुए.

भागवतके सातों अर्थोंमें एकवाक्यता स्थापितकर दिखलानेकी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भागवतार्थ-निबन्धमें शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ तथा अध्यायार्थ की व्याख्या लिखी जा चुकी थी. इसी तरह वाक्यार्थ, पदार्थ और अक्षरार्थ की व्याख्या भी प्रथम सूक्ष्मटीकामें लिखी जा चुकी थी. पुनः गूढतम रहस्योंको प्रकट करनेकेलिए द्वितीय टीका सुबोधिनीका प्रणयन हुआ. यह एक सुदीर्धकालमें पूरी होनेवाली लेखनशैलीमें लिखा जा रहा ग्रन्थ था. भूतलपर उतने विलम्ब तक श्रीमहाप्रभुका बिराजना भगवान्को अभिप्रेत न था. अतएव शीघ्र दशमस्कन्धपर सुबोधिनी-लेखनकी आज्ञा हुई और वह परिपूर्ण भी हुई. अब पुनः इसी शैलीमें अविशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या भगवदभिप्रेत नहीं थी. पुरुषोत्तमजी अतएव पाञ्चवे और छठे श्लोककी व्याख्यामें कहते हैं: “नच पूर्वाज्ञप्तासम्पूर्तिदोषः यावदुक्तमेतावत्कृत्यैव साज्ञा कृतास्तु, अधिकं न कार्यम्.... इदञ्च सूक्ष्मटीकातिरोधान-स्कन्धक्र मव्याख्यात्याजन दशमस्कन्धव्याख्यानान्तरमसामयिकमाधवभट्टकाश्मीरि शरीरशराहतिप्रभृतिभिः कार्येरनुमीयते.”

गङ्गासागर और मधुवन में जब सुबोधिनी-लेखनको बन्द करनेकी आज्ञा हुई तो रासपञ्चाध्यायीवाली गोपिकाओंकी तरह श्रीमहाप्रभुने भी इन आज्ञाओंका उल्लङ्घन करना चाहा. वेणुनाद सुनकर जो गोपिकायें भगवान्के समीप पहुंच पायी उन्हें पुनः घर लौट जानेकी भगवान्ने आज्ञा दी थी, पर वे लोटी नहीं. श्रीमहाप्रभुने भी इसी तरह लेखन-कार्य बन्द नहीं किया. भगवदाज्ञाके उल्लङ्घनके इन दोनों प्रकारोंमें किन्तु एक विशेष अन्तर यह था कि गोपिकाओंनें भगवत्स्वरूप-सुखकेलिए भगवद्-वाणीका उल्लङ्घन किया था, जबकि श्रीमहाप्रभुको भगवद्वाणीका उल्लङ्घन नामसेवार्थ भगवद्-विप्रयोगको सहते हुए करना पड रहा था. फलतः सूक्ष्मटीकाका तिरोधान हो गया. चतुर्थसे नवमतककी व्याख्या छोडकर दशमस्कन्धकी व्याख्या लिखनेका भगवदादेश भी हुआ था और पुनः अवशिष्ट स्कन्धोंकी व्याख्या लिखनेको

प्रवृत्त होनेपर लिपिकार श्रीमाधव भट्ट काश्मीरी किसी पारधीके तीरसे आहत हो गयें. यों सारी प्रतिकूलतायें केवल प्रतिकूल भगदिच्छाकी अनुमापिका थी. तभी तृतीय भगवदाज्ञा हुई-लोकगोचर देह-देश-परित्यागकी. इस तृतीय भगवदाज्ञामें भगवदाग्रहकी स्पष्टता हुई. श्रीमहाप्रभु अतएव अपने आग्रही मनको भगवदाग्रहके अधीन होनेको मना रहे हैं.

"मेरे अन्तःकरण! मेरी बात सावधानीसे सुनो कि कृष्णसे उत्कृष्ट एवम् निर्दुष्ट कोई तत्त्व न है और न हो सकता है. भागवतकी सुबोधिनी व्याख्या पूर्ण करनेकेलिए जिन दो भगवदाज्ञाओंका उल्लङ्घन किया था वह अपने आग्रहिल अन्तःकरणके कारण ही हुआ. अन्तःकरणको भगवदाग्रहके अधीन होनेको समझाया जा सके तो अन्य सभी देहेन्द्रियादिकी वृत्ति और प्रवृत्तियों पर काबू पाया जा सकता है."

वैसे तो भागवतकी व्याख्याका प्रयोजन अन्ततः श्रीकृष्णके स्वरूपमें आसक्ति सम्पादित करना ही था. पर यह समस्या श्रीमहाप्रभुकी नहीं किन्तु अन्य पुष्टिजीवोंकी थी. भागवतके वास्तविक अर्थको प्रकट करनेसे पुष्टिजीवोंका उपकार होगा. वे श्रीकृष्णकी पुष्टिलीलाके वास्तविक रहस्यको समझ कर उसमें आसक्त हो पायेंगे. जहांतक श्रीमहाप्रभुका प्रश्न है तो उन्हें तो इस प्रक्रियामें भागवतकी लौकिकी भाषा और परमतभाषाका भी चिन्तनमनन-व्याख्यान करना ही पड़ता था. केवल भगवल्लीलाके मनन या प्रवचन तक सीमित रहा नहीं जा सकता. यों अनेक पुष्टिजीवोंके उद्धारार्थ परोपकारकी मनोवृत्तिसे श्रीमहाप्रभु स्वयम् भगवद्-विप्रयोग सहने उद्यत हुए थे.

जितना व्याख्यान सम्पन्न हो चुका वह पुष्टिजीवोंको पुष्टिमार्गपर पवृत्त करनेकेलिए पर्याप्त है. इससे अधिक परोपकारकी आवश्यकता नहीं है.

सर्वनिर्णय-निबन्धमें श्रीमहाप्रभु स्वयम् यह निर्णय दे चुके हैं कि भगवत्सेवाके अवसरमें हिस्सा बंटानेवाले धर्मोका त्यागकर देना चाहिये. परोपकारादि धर्म भी यदि भगवत्सेवामें बाधक होते हों तो छोड देने चाहिये. “एतद्विरोधि यत्किञ्चित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेद्. धर्मादीनां तथा चास्य तारतम्यं विचारयन्॥ 239॥ एतद्विरोधीति सामान्यवचनं धर्मादीनामुपलक्षणं....परोपकारादि सर्वधर्माणामपि क्षयिष्ण्वेव फलम्. अतः उभयोरन्तरं ज्ञात्वा परोपकारादिधर्माः न कर्तव्याः, यदि पूजाविरोधिनो भवन्ति”. कोई धर्म या कर्तव्य भगवत्सेवामें सहायक होता हो तो अनुष्ठेय है अन्यथा भगवत्सेवामें बाधक होनेपर परोपकार आदि धर्भ भी त्याज्य समझने चाहियें. फलतः आत्मसमर्पणके बाद भगवत्सेवासे अधिक और कोई भी कर्तव्य पुष्टिजीवका हो ही नहीं सकता.

श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं कि समर्पणसे पूर्व सभी पुष्टिजीवोंकी स्थिति अस्पृश्य कुलमें उत्पन्न किसी सुन्दर स्त्रीकी तरह होती है. पर आत्मसमर्पणके बाद इन्ही पुष्टिजीवोंकी स्थिति, उक्त सुन्दरी यदि किसी राजाके मनको भा जाये और वह उसे अपनी रानी बना ले ऐसी, सम्मानपूर्ण हो जाती है. इस असाधारण सम्मानकी प्राप्तिपर अभिमान भी कभी पैदा हो सकता है. और उस अभिमानके कारण कभी अपमानित होनेका अवसर भी प्राप्त हो सकता है. परन्तु अपनी पूर्वावस्थाकी अधमताका विचार करनेपर प्राप्त सम्मानित अवस्थामें थोडा-बहुत अपमान पश्चात्तापका विषय नहीं लगेगा. क्योंकि राजाके द्वारा अपमानित भी रानी जगतमें तो सम्मानीय ही मानी जाती है.

इसी तरह किसी प्रौढीभाववश भगवदाज्ञाके उल्लङ्घन करनेके कारण अपमानित भी होना पडे तो अपनी पहलेकी असमर्पित अवस्थाका विचार करना चाहिये. जिस पुष्टिजीवने सर्वसमर्पण कर दिया उसे मानापमानकी क्या परवाह? उसका कर्तव्य तो केवल भगवदाज्ञाके अनुसरणमें ही निहित है.

पुष्टिसृष्टि प्रभुने अपनी स्वरूप-सेवाकेलिए प्रकट की है. भगवान् तो सत्यसमल्प है, अतः भगवदाज्ञा शिरोधार्य करना ही पुष्टिजीवका प्रथम कर्तव्य है. अन्यथा स्वामिद्रोहका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा. और फिर चाहे विलम्बसे या अविलम्ब, जो फल हमारे स्वामी हमें देना चाहते हैं, वह तो स्वयमेव देंगे. अतः फलविलम्बकी चिन्ता किये बिना हमारा कर्तव्य है हमारे स्वामीकी आज्ञाका पालन करना.

पहले गङ्गा-सागरके सङ्गमपर और बादमें मधुबनमें जो दो भगवदाज्ञा प्राप्त हुई थी उनका पालन न हो पाया. अब तृतीय भगवदाज्ञा लोकगोचर देह-देश-परित्यागकी हुई है (अर्थात् आसुर व्यामोह-लीलाकी)ञ्च्अ*ञ्च्इ

(* प्राचीन सभी व्याख्याकार क्रमशः देहत्यागकी प्रथम आज्ञा देशत्यागकी द्वितीय और लोकत्यागकी तृतीय आज्ञा, अर्थ स्वीकारते है.)

इस आज्ञाका तो पालन करना ही पडेगा. फिरभी इसमे पश्चात्तापका कोई विषय नहीं हैं. जब हम सेवक हैं-जब हमारा सब कुछ हमारे स्वामीको समर्पित है-फिर लोकगोचर देह-देशके परित्यागकी आज्ञामें पश्चात्ताप कैसा!

हमारे स्वामी श्रीकृष्ण रुष्ट होनेपर किसी लौकिक स्वामीकी तरह निर्दय बन जायेंगे ऐसा तो सम्भव नहीं है. उनकी तो प्रत्येक आज्ञामें हमारा परम हित एवम् चरम सुख रहा हुआ है. अतः सब कुछ जब अपने स्वामी श्रीकृष्णको भक्तिपूर्वक समर्पित कर ही दिया है तब और क्या करनेको शेष रह जाता है? अतः आज्ञाके पालनमें ही अपनी कृतार्थका अनुभव करना चाहिये और सुखी रहना चाहिये.

कभी-कभी विवाहिता पुत्रीके वयस्क हो जानेपर भी उसे उसके पतिके पास ससुराल भेजनेको पिताका मन नहीं मानता है. ऐसे वात्सल्य या मोह के

वशीभूत होकर वह अपनी पुत्रीका हित करता है या अहित? पुत्रीको उसके निजस्वामीके पास न भेजनेपर कन्यादानका क्या अर्थ रह जाता है-कोई पति ऐसी पितृगेहवासिनी पत्नीसे कैसे सन्तुष्ट हो पायेगा?

अपने देहके साथ भी ऐसा ही मोहजन्य व्यवहार देहके स्वामी श्रीकृष्णको कैसे सुहायेगा? कैसे सन्तुष्ट कर पायेगा? अतः यह विचार करना चाहिये कि आत्मसमर्पणरहित अन्य लौकिक जनोंकी तरह हमारी भी स्थिति होती तो क्या होता?

शरीरका हठात् त्याग करना अशक्य कार्य लगता है. परन्तु सर्वदुःखहर्ता श्रीहरिके स्वरूपका विचार करना चाहिये कि साक्षात् नित्यलीलामें नित्य संयोग-सुखका दान, जब वे करना चाहते हैं तो दुःख कैसा? अतः किसी भी प्रकारके मोहकी आवश्यकता नहीं है कि प्रभु लौकिक स्वामीकी तरह रुष्ट हों जायें तो क्या करना-या फलदानमें प्रभु विलम्ब करेंगे तो क्या होगा-या देह-देशके लोकगोचर त्याग करने पर पुष्टिजीवोंका उद्धार कैसे होगा-या श्रीमद्भागवतकी व्याख्या सुबोधिनी सम्पूर्ण नहीं हो पायी इत्यादि-इत्यादि.

अपने इस अन्तःकरणके प्रबोधनको ग्रन्थके रूपमे उपनिबद्ध कर श्रीमहाप्रभुने यह प्रकट कर दिया है कि निज अन्तःकरणके उपदेशके व्याजसे श्रीमहाप्रभु उन सारे पुष्टिजीवोंके अन्तःकरणको सम्बोधित तथा प्रबोधित करना चाहते हैं, जिनमें भगवत्सेवासे अन्य किसी आध्यात्मिक या आधिदैविक फल प्रयोजन या कर्तव्य के प्रति अधिक आकर्षण पैदा हो सकता हैं. अतएव “तव कथामृतं तप्तजीवनम्” की सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है कि अमृतकी आवश्यकता मृत्युके उपस्थिति होनेपर है. अन्यथा स्वतः अमृतपानकी प्यास किसीको भी नहीं होती. इसी तरह भगवान्के स्वरूप और भगवान्की कथामें भी घनीभूत रस और तरलीभूत रस का सा

अन्तर होता है. अन्यथा रासमें भगवान्के तिरोहित हो जानेपर उन्हें खोजनेके बजाय गोपीजनोंने भी भागवत कथाका आयोजन किया होता! “रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशेषः अन्यथा कथार्थमेव यत्नः कृतः सयात्.” अतएव “सेवायां वा कथायां वा”में “सेवा और कथा” मुख्य कल्प हैं जबकि “सेवा अथवा कथा” गौण कल्प है.

अतः सभी पुष्टिजीवोंको निश्चिन्त होकर यह निश्चित कर लेना चाहिये कि “भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्.” अर्थात् भागवत-कथा भी वस्तुतः भगवत्सेवाका अङ्ग हो तो उत्तम कल्प है अन्यथा गौण कल्प या अनुकल्प ही है. इस तरह श्रीमहाप्रभु सेवाङ्गभूत अन्तःकरणकी शुद्धिका प्रकार उसे भगवान्की सेवामें अनन्यरुचि होनेकी प्रेरणाके द्वारा इस ग्रन्थमें दे रहे हैं.

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. 1981 में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण श्रीजीवनेशात्मज श्रीरणछोडलाल महाराजश्रीके प्रबन्धमें श्रीचीमनलाल हरिशमर शास्त्रीजीने उस संस्करणका सम्पादन किया था. आर्थिक सेवा अनेक वैष्णवोंने मिलकर की थी. इन सभी महानुभावोंका हम कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं. इति शम्.

॥ अन्तःकरणप्रबोधः ॥

(अथ श्रीपुरुषोत्तमजी या ग्रन्थकी विवृतिमें आज्ञा करत हें जो) श्रीआचार्यमहाप्रभून्ने सेवाको उपदेश कियो ताके निर्दोषपनेकेलिये सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थ कह्यो. तामें ब्रह्मसम्बन्धसों सेवा करिवेवारेनके सर्वदोष अकिञ्चित्कर होय जाय हें, ओर अगाड़ी दोषको संसर्ग नाहीं लगे हे—— एसी भगवानकी आज्ञा भई ताको निरूपण कीनो. तापाछें सेवाको आधिदैविकपनो सिद्ध होयवेकेलिये नवरत्न ग्रन्थमें चिन्ताकी

निवृत्तिको उपाय कह्यो. ताकरिके उद्वेगरूप प्रतिबन्ध ओर ताकी निवृत्तिके प्रकारको निरूपण कर्यो. सो जब एसे प्रतिबन्धकी निवृत्ति पूर्वक सेवा करे तब भगवानको सानुभाव अवश्य होय. ओर जब सो होय तब प्रारब्धादिकके वशसूं प्रथमके दोष यदि शेष होंय तब जेसें छोटे पात्रमें अधिक जल ठहरे नाहीं तेसें एसो भक्तहु बड़ी कृपाकुं धारण नाहीं कर सके. तब वाकों अपनी बड़ाईकी स्फूर्ति होय. तब भगवत्सानुभावमें क्वचिद् होती भगवानकी आज्ञाको भङ्ग आदि अपराध वासूं होय सके हे. सो जब आज्ञाको भङ्ग करे तब भगवानकी अप्रसन्नता होय. परन्तु जो भगवद्धर्मरूप सेवा सदा करत हे ताको नाश होय नाहीं. तथापि भगवानको अपराध भयो होय तासूं पश्चात्ताप होय तब चिन्ता होयवेको सम्भव हे. एसी चिन्तित अवस्थामें करी जाती सेवा तथा चिन्तित मनसूं भविष्यमेंहु जो सेवा करेगो ताको अधिदैविकीपनो नाहीं होय. या दोषकी निवृत्तिकेलिये या ग्रन्थमें विचारूप साधनको उपदेश करे हें. आपके कथनमें विश्वास होयवेकेलिये बीचमें अपनी आख्यायिका कहिके, मनमें दुष्टवृत्ति उत्पन्न न होय तो एसो न होय ये निश्चय करिके, अपने अन्त:करणकों बोध करिवेके मिषतें अपने भक्तनके अन्त:करणकों सावधान करिके कहत हें:

(श्रीगोकुलनाथजीनें श्रीआचार्यजीकी आख्यायिका या ग्रन्थकी विवृतिके उपोद्घातमें या प्रमाण लिखी हे) श्रीठाकुरजीनें अपनी वाणीके अधिपतिरूप श्रीआचार्यजीमहाप्रभूनको प्रकट करिके श्रीभागवत्को यथार्थ अर्थ प्रकट करिवेकी आज्ञा देयकें श्रीआचार्यजीद्वारा 'श्रीसुबोधिनीजी' **टीका** करवाई. तामें तृतीयस्कन्ध तांई श्रीसुबोधिनी भई तब भगवान् श्रीआचार्यजीके वियोगकुं सहन न करि सके तासूं स्कन्धको क्रम छोड़िके सूधे दशमस्कन्धको विवरण लिखिवेकी आज्ञा कीनी. तब आप एसे ही किये. दशमस्कन्धको विवरण पूरो भये पाछें यदि श्रीआचार्यजी सम्पूर्ण श्रीभागवतको विवरण लिखें तब तो अत्यधिक विलम्ब होय जाय सो विलम्ब असह्य जानिके प्रभूनने श्रीआचार्यजीकुं दो बेर स्वधाम पधारिवेकी आज्ञा दीनी. किन्तु, सम्पूर्ण श्रीभागवतको विवरण पूर्ण भयो न होइवेसों श्रीआचार्यजीने वा आज्ञाको पालन नाहीं कियो. तब भगवानकु श्रीआचार्यजीके मिलनकी आवश्यकता होयवेसूं अति कृपायुक्त रोषपूर्वक अपने पास पधारिवेकेलिये तीसरी बेर आज्ञा कीनी. तब श्रीआचार्यजी महाप्रभुजी भगवानको आग्रह देखिकें, प्रथम दोय आज्ञाको उल्लङ्घन कियो हे सो श्रीभागवतकी **टीका** करिवेकी प्रथम आज्ञा भई हती ताकी दृढता

अन्त:करणमें हती तासूं दोय आज्ञाको उल्लङ्घन कियो तब तीसरी आज्ञा भयेसूं भगवानको आग्रह जानिकें एसी दृढताको स्थान अन्त:करणही हे एसो दिखायवेकेलिये अन्त:करणको प्रबोध करत हें:

अन्त:करण! मद्वाक्यं सावधानतया शृणु॥
कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्॥1॥

अन्त:करण=हे अन्तःकरण! मद्वाक्यं=मेरे वाक्यकुं
सावधानतया=सावधानतासूं
शृणु=सुन
कृष्णात्=कृष्णसूं, परं=दूसरो
वस्तुतोदोषवर्जितं=वस्तुतःदोषसूंरहित
अन्त:करण! मेरे वाक्यकुं तू सावधान होयके सुन, कृष्णसूं अन्य वास्तवमें दोषरहित देवता कोई नहीं हे.

टीका : हे अन्त:करण! सावधानतासूं मेरे वाक्यको श्रवण कर. यहां 'अन्त:करण' मात्र लिख्यो हे. तासूं अपनो तथा दूसरे को अन्त:करण समझवेमें आवत हे. तथापि समाप्तिमें कह्यो हे जो "ये सुनिकें भक्त निश्चिन्तपनेकुं प्राप्त होय" तासूं भक्तनके अन्त:करणकों बोध करिवेकेलियेही अपने अन्तःकरणके मिषसूं ये वाक्य कहे हें.

एसें अन्तःकरणकों सावधान करिके, व्रजभक्तनके दृष्टान्तसूं, अपने वैष्णव भगवानकी आज्ञामें प्रमादयुक्त होंय सो नाहीं होयवेकेलिये प्रथम भगवानकी बड़ाईकी भावना करिवेकों कहत हें जो लोक तथा वेद में कहे एसे दोषन्करिके विवर्जित, जिनको रासक्रीड़ाको सुख प्राप्त भयो हे एसे व्रजभक्तहु श्रीकृष्णसों श्रेष्ठ नाहीं हे. तासूं विनको दृष्टान्त लेयकें भगवानकी आज्ञामें प्रमाद नाहीं राखनो. (अर्थात् प्रभुके वेणुनादकुं सुनिके व्रजभक्त जब वनमें प्रभूनके निकट पधार तब प्रभू**नने** विनकुं पाछें स्वगृह जायवेकी आज्ञा दीनी. परि व्रजभक्तनने वा आज्ञाको पालन नाहीं कीनो. या प्रसङ्गसूं आधुनिक भक्तहु कबहुंक भगवदाज्ञा किंवा भगवदाज्ञातुल्य श्रीआचार्यजीकी आज्ञाकों अनुसरिवेमें प्रमाद दिखावे तो वाको अनिष्ट होय).

यद्यपि भगवानकी सेवामें सर्व इन्द्रियनको उपयोग हे तासूं सब इन्द्रियनको बोध करनो योग्य हे. तथापि जेसें राजाके स्वाधीन भयेसूं राज्यके सब मनुष्य तथा प्रजाहु स्वाधीन होय जाय हे तेसें, मन हे सो सब इन्द्रियनको राजा हे तासूं मन वशमें आयवेसूं सब इन्द्रियें वसमें होय जांय हें एसें जतायवेकेलिये अन्त:करणकोंही बोध कियो हे॥1॥

एसें अपने अन्त:करणमें भावकी बड़ाइ आय जाय ताकी निवृत्ति करिके जीवकुं दैन्यकी सिद्धि होयवेकेलिये, जीव स्वभावसूंही हीन हे एसें जतायवेकों दृष्टान्त कहत हें:

चाण्डाली चेद् राजपत्नी जाता राज्ञा च मानिता॥
कदाचिद् अपमानेऽपि मूलत: का क्षतिर् भवेत्॥2॥

चाण्डाली=चण्डाल स्त्री
चेत्=यदि
राजपत्नी=राजाकी पत्नि
जाता=होय, च=ओर
राज्ञा=राजाद्वारा
मानिता=अधिक सम्मानित
कदाचित्=कबहुक
अपमाने=अपमान होय
अपि=तोहु,
मूलत:=मूलसूं
का=कहा, क्षति:=हानी
भवेत्=होय

भावार्थ : चाण्डाली यदि राजाकी रानी होय; और राजाने दूसरी रानीन् करतें वाकुं अधिकहु मानी होय, और फिर कोई समय वाहीके अपराधसूं राजाद्वारा वाको अपमान होय तो राजपत्नीपनेमें कहा हानि भई? अर्थात् कछु नाहीं. एसेही हे अन्त:करण! फल देयवेमें कदाचित् प्रभु विलम्बहु करें तथापि अङ्गीकारमें काहु प्रकारकी हानि नाहीं हे, तासूं चिन्ता नाहीं करनी.

टीका : चाण्डाली होय सो कछु गुणसों कदाचित् राजाकी पत्नी भई होय ओर दूसरी पत्नीनकी अपेक्षा राजाने वाकुं मानयुक्तहु करी होय. फिर कछुक अपराध भयेसूं राजानें यदि वाको अपमान कियो होय तामें, मान होयवेके मूलरूप राजपत्नीपनेसूं कहा क्षति होय हे?

इतने (राजाद्वारा क्वचिद् वाको अपमान् कियो जाय तोहु) राजा विना ओर कोऊ वाकुं देखि न सके, स्पर्श न करि सके ओर अन्यके विनियोगमें न आवे; तथा राजपत्नीपनेकी बड़ाई इत्यादिक जो धर्म आये सो न्यून नाहीं होय हे. तेसेंही चाण्डाल जाति अपमानके कारणरूप हे तासूं वामें तो क्षति हे ही नाहीं परन्तु राजपत्नीपनेसूंहु क्षति नाहीं हे. यज्ञमें पतिके सङ्ग बेठिवे योग्य होय सोही पत्नी कही जाय हे. तासूं ये चाण्डाली राजाकी स्त्री भई तोहु पत्नी नाहीं कहि जाय; तथापि जेसें पत्नी त्यागयोग्य नाहीं हे तेसें येहु त्यागयोग्य न होय एसें जतायवेकेलिये यहां 'पत्नी'शब्द कह्यो हे॥2॥

एसें दृष्टान्त कहिकें सिद्धान्तमें याकी बरोबरता जतायकें तेसी समझको फल कहत हें:

समर्पणाद् अहं पूर्वम् उत्तम: किं सदा स्थित:॥
का ममाधमता भाव्या पश्चात्तापो यतो भवेत्॥3॥

अहं=में, समर्पणात्=समर्पणसूं
पूर्वं=पहिले, किं=कहा
सदा=सदा, उत्तम:=श्रेष्ठ
स्थित:=रह्यो हतो?
मम=मेरी, अधमता=अधमता का=कहा
भाव्या=बिचारनी
यत:=जासूं
पश्चात्ताप:=पश्चात्ताप
भवेत्=होय

भावार्थ : समर्पणसूं पूर्व कहा में सदा उत्तमही हो? तासूं फलविलम्बमेंहु मेरी अधमता कहा विचारनी, जासूं पश्चात्ताप होय! अर्थात् फलविलम्बकी दशामेंहु "में पहलेसूं तो अच्छो हुं" यों विचारिके अपनो हलकोपन न विचारनो; ओर पश्चात्तापहु न करनो.

टीका : सेवाके अधिकाररूप ब्रह्मसम्बन्ध भयेके पहिले में चाण्डालीवत् सर्वदोष सहित हतो. तब कहा में सर्व काल उत्तम हतो? किन्तु उत्तम नाहीं हतो. जेसें चाण्डाली राजपत्नी भई तेसें मेंहु समर्पणसूंही उत्तम भयो हुं. तासूं कदाचित् भगवानकी अप्रसन्नता होय तोहु मेरो अङ्गीकार तो कियोही हे. तासूं भगवान् सर्वथा मेरो त्याग न करेंगे ओर में अधम न होउंगो. जेसें चाण्डाली राजपत्नी भई होय ताको राजा त्याग न करे; ओर फिर चाण्डाली न होय, तेसें अब मेरी अधमता कहा होयवेवारी हे के जासूं मोकुं पश्चात्ताप होय! इतनें, कोउ राजकुमारी रानी बने ओर कबहुक वाको अपमान होय तो वाकुं पश्चात्ताप होय. क्यों जो दोऊ (राजकुमारीको स्थान ओर रानीको स्थान) समान हे. परन्तु चाण्डालीकों राजाने राजपत्नी करी ओर फिर वाको अपमान होय वामें वाको पश्चात्ताप करनो योग्य नाहीं हे. तेसें जीव प्रथम तो अत्यन्त हीन हतो. ताको अङ्गीकार करिके भगवदीय कियो, तब वाकों भावकी बड़ाई होयवेसूं अभिमान भयो, तब प्रभु अप्रसन्न भये. तामें जीवकी मानहानि कहा हे जो पश्चाताप होय! तासूं पश्चाताप न करनो॥3॥

एसें जीवके धर्मानुसार बिचार करिवेको उपदेश करिके, भगवानकी इच्छा कोई मिटाय सके नाहीं हे एसो अनुसन्धान रहिवेकेलिये भगवानके धर्मको विचारसों उपदेश करत हें:

सत्यसमल्पतो विष्णुः नान्यथा तु करिष्यति॥
आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत्॥4॥

विष्णु:=श्रीकृष्ण
सत्यसमल्पत:=
सत्यसमल्पवारे होयवेसूं
अन्यथा=ओर तरहसूं
तु=तो, न=नाहीं
करिष्यति=करेंगे(तस्मात्=तासूं)
सततं=निरन्तर
आज्ञा=आज्ञा, एव=ही
कार्याकरनी
अन्यथा=नाहीं तो

स्वामिद्रोह:=स्वामिको द्रोह
भवेत्=होयगो

भावार्थ : सर्वत्रव्यापक श्रीहरि सांचे विचारवारे हें. तासूं फल देयवेके विषयमें ओर तरहसूं तो नाहीं करेंगे. तासूं सर्वदा प्रभुकी आज्ञाके अनुसारही सेवा करनी. वेसें नाहीं करिवेसूं स्वामीको द्रोह होय हे.

टीका : भगवान् 'विष्णु' हें, इतनें बाहिर-भीतर सर्वत्र व्याप्त हें. तासूं अपने अन्तर्यामिपनेसूं सबनके भीतर प्रविष्ठ हें. ओर सत्यसमल्प हें. सो अपनो जो सत्य समल्प हे तासूं दुसरे प्रकारसों तो न करेगें, जेसो समल्प होयगो तेसेंही करेंगे. अथवा भगवान् सत्यसमल्प हें तासूं अन्यथा न करेंगे; इतनें फलदानमें विलम्ब न करेंगें. तासूं सर्वदा प्रभूनकी आज्ञाके अनुसार सब करनो. जो एसें न करे तो स्वामिद्रोहरूप बड़ो अपराध होय॥4॥

सेवकपनेको विचार करिके अपनो धर्म करिवेसूं स्वामिपनेके विचारसूं प्रभु अपनो धर्म करेगें सो कहत हें:

सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति॥

सेवकस्य=सेवकको, तु=तो अयं=ये, धर्म:=धर्म
(अस्ति=हे) स्वामी=स्वामी स्वस्य=अपनो, करिष्यति=करेंगे

भावार्थ : सेवकको धर्म तो श्रीहरिकी आज्ञानुसार कार्य करनो सो ही हे. श्रीहरि अपने भक्तके सर्व कार्य स्वयं करेंगे.

टीका : सेवकमें यदि वाको धर्म होय तो स्वामी जो प्रभु सोहु अपने स्वामीपनेको धर्म सेवकमें करेंगे. अथवा प्रभु अपने स्वामी हें, आपुन् विनके सेवक हें. या सम्बन्धसूं अपने विनके आत्मीय हें. तासूं भगवाननने जो विचार्यो होयगो सो अपने हितकोही होयगो; ओर सोही करेंगें एसे समझनो. येही सेवकको तो धर्म हे॥

अपन् प्रभुके सेवक हें एसो विचार अवश्य करनो चहिये एसें जतायवेकेलिये दो श्लोकसों अपनी अख्यायिका कहत हें:

आज्ञा पूर्वं तु या जाता गङ्गा-सागर-सङ्गमे॥5॥
याऽपि पश्चात् मधुवने न कृतं तद्द्वयं मया॥
देह-देश-परित्यागः तृतीयो लोकगोचरः॥6॥
पश्चात्तापः कथं तत्र सेवकोऽहं नचान्यथा॥

पूर्वं=पहेले, तु=तो
गङ्गासागरसङ्गमे=गङ्गासागरके सङ्गममें
या=जो, आज्ञा=आज्ञा
जाता=भई, पश्चात्=पीछे
मधुवने=मधुवनमें, अपि=हु
या=जो, जाता=भई
तद् द्वयं=वो दोउ
मया=मेरे द्वारा
न=नाहीं, कृतं=करी
देहदेशपरित्यागः=देह-देशको
परित्याग, तृतीयः=तीसरी
लोकगोचरः=लोकमें प्रसिद्ध
(परित्याग=सन्न्यास)
अहं=में, सेवकः=सेवक हुं
अन्यथा=ओर कछु
न=नाहीं, तत्र=तहां
पश्चात्तापः=पश्चात्ताप कथं=क्यों

भावार्थ : पहिले तो गङ्गासागरके सङ्गमपे देहपरित्यागरूप आज्ञा भयी; ओर पीछें मधुवनमेंहु जो देशपरित्यागरूप आज्ञा भई. मेंने देह-देशके परित्यागकी दोउ आज्ञा नाहीं पाली. परन्तु तीसरी, लोकमें प्रसिद्ध सन्न्यास ग्रहण पूर्वक गृहको परित्याग करिवेकी आज्ञा पाली. (प्रथम दो आज्ञा नाहीं पाली तासों प्रभु मेरो त्याग करि देइंगे एसे बिचारसूं) वाको पश्चात्ताप मोकुं नाहीं करनो चहिये. क्यों जो में तो प्रभुको (अत्याज्य) सेवक हुं, ओर कछु नाहीं हुं. तासों माकों पश्चात्ताप क्यों करनो!

टीका : प्रथम गङ्गासागरसङ्गमके प्रदेशमें जो आज्ञा भई हती ओर तापीछे मथुराजीमें जो आज्ञा भई सो दोउ आज्ञा प्रमाण मेनें नाहीं कियो. क्यों जो प्रभूनके स्वरूपको अनुभाव प्रकट करिवेकी तथा श्रीभागवतको गूढार्थ प्रकट करिवेकी मोकुं पूर्वसूंही आज्ञा भई हती. सो दोउ आज्ञानको मेंने उल्लङ्घन कियो. क्यों जो प्रथम आज्ञा देहके परित्यागविषयकी भई हती ओर दूसरी आज्ञा देशके परित्यागके विषयकी हती, सो दोउ आज्ञाको पालन करतो तो स्वात्मानुभाव तथा श्रीभागवतको गूढार्थ प्रकाश करिवेकी आज्ञा सिद्ध न होती.

अब लोकके अनुभवमें आवे एसो परित्याग (सन्यास) करिवेकी तीसरी आज्ञा भई तामें मोकुं पश्चात्ताप भयो. क्यों जो में सेवक हुं, तासूं स्वामीकी आज्ञाके प्रमाण करनो योग्य हे; परन्तु स्वामीकी आज्ञाको उल्लङ्घन करनो योग्य नाहीं हे, एसे विचारतें पश्चात्ताप भयो. अथवा (सन्यास ग्रहण पूर्वक गृहको परित्याग करिवेकी आज्ञा भई ताप्रमाण सन्यास ग्रहण पूर्वक गृहको परित्याग कियो. यद्यपि दोय आज्ञाको उल्लङ्घन कियो हे तासूं अपराध होयवेको सम्भव हे; तथापि तृतीय आज्ञाप्रमाण त्याग कियो तासूं प्रथमकी दोय आज्ञाहु सिद्ध भई एसें मानिकें पश्चात्ताप करनो योग्य नाहीं हे. कदाचित् दो आज्ञाकोहु उल्लङ्घन कियो हे ताकरिके जो अपराध भयो हे तासूं प्रभु फलमें विलम्ब करें तोहु, ये फलको विलम्ब कियो हे सोही दण्ड दियो हे एसो जानिके सेवकको पश्चात्ताप करनो योग्य नाहीं हे. ओर में सेवक हुं अन्यथा नाहीं हुं. क्यों जो प्रभु यदि मेरेमें सेवकपनो नाहीं मानते तो अपराध भयो तासूं उपेक्षा ही करते, स्वीयपनो जानिकें तीसरी आज्ञा न करते! परन्तु तीसरी आज्ञा करी हे; ओर दोय आज्ञाको उल्लङ्घन भयो तासूं फलमें विलम्ब होयगो: एसो ताप होय हे तासूं प्रभूनने "ये अपनो सेवक हे" एसें मान्यो हे, तासूं पश्चात्ताप करनो योग्य नाहीं हे॥5-6॥

ये विचार कियो जो पश्चात्ताप न करनो सो तो योग्यही हे, तथापि प्रथम दोय आज्ञाको उल्लङ्घन भयो हे सो तो अपराध भयो हे. तासों भगवानकी अप्रसन्नता भई होयगी. ताकी निवृत्ति न होय, तब प्रभु कहा करेंगे? एसो जो भय होय सो केसें निवृत्त होय? ऐसी शङ्का होय ताकेलिये दूसरे विचारको उपदेश करत हें:

लौकिकप्रभुवत्-कृष्णो न द्रष्टव्य: कदाचन॥7॥
सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव॥

कृष्ण:=श्रीकृष्णकों
लौकिकप्रभुवत्=लौकिक स्वामिकी
तरह, कदाचन=कबहु, न=नाहीं द्रष्टव्य:=देखिवे योग्य
भक्त्या=भक्तिसूं
सर्वं=सब, समर्पितं=समर्पित
कृतार्थ:=कृतार्थ, असि=हे सुखी=सुखी, भव=होउ

भावार्थ : में प्रभुको सेवक हुं, अन्य जेसो नहीं हुं, तासूं फलमें विलम्ब होय तोहु पश्चात्ताप क्यों करनो! ओर श्रीहरिकुं लौकिकराजा आदिकी तरह चलचित्त कबहु नाहीं जाननें. भक्तिसूं आत्मासहित सब अपनी वस्तूनको अर्पण तेनें कियो हे तासूं तू कृतार्थ हे, तासूं पहिलेकी तरह सुखी होउ.

टीका : लौकिक स्वामी जेसें सेवकको अपराध भयो होय तो वाको त्याग करत हे तेसें प्रभु अपनो त्याग करेंगे एसो सन्देह नाहीं करनो—— एसें जतायवेकेलिये कहत हें जो “लौकिकस्वामिवत् फलरूप श्रीकृष्ण काहुदिन नाहीं जाननें”. इतनें, लौकिकमें स्वामी प्राकृत होयवेसूं अङ्गीकृतको परित्याग करे सो सम्भवित हे; परन्तु यहां तो प्रभु अलौकिक स्वामी होयवेसूं विनको अङ्गीकार कालत्रयमें नित्य हे. अङ्गीकृतको त्याग करिवेकी सम्भावनाहु नाहीं हे. ओर तेरे उपर प्रभुकी कृपा हती तासूंही तेनें भक्तिमार्गके अनुसार सर्व समर्पण कियो हे. इतनें तु कृतार्थ हे. अर्थात् सर्व साधनरूप तथा फलरूप अर्थकुं प्राप्त भयो हे. तासूं मनमें चिन्ता छोड़िके सुखी हो॥7॥

भगवानको अङ्गीकार नित्य हे तासूं यद्यपि फल देइंगे, तथापि प्रथम फल दियो हतो तेसें देइंगे किंवा नहीं देइंगे? एसे सन्देहसूं जो क्लेश होय ताकी निवृत्तिकेलिये दृष्टान्त देत हें:

प्रौढापि दुहिता यद्वत् स्नेहात् न प्रेष्यत वरे॥8॥
तथा देहे न कर्तव्यं वरस् तुष्यति नान्यथा॥

यद्वत्=जेसें, प्रौढा=बड़ी अपि=भी, दुहिता=पुत्रि
स्नेहात्=स्नेहके कारण
वरे=पतिके पास
न=नाहीं

प्रेष्यते=भेजवेमें आवे
तथा=वेसे
देहे=देहविषे
न=नाहीं
कर्तव्यं=करनो
अन्यथा=नहिंतो
वर:=पति
न=नाहीं
तुष्यति=सन्तुष्ट होवे हे

भावार्थ : हे अन्त:करण! जेसें कितनेक अज्ञानी, पतिके यहां जायवे लायक कन्याकोंहु स्नेहसों वाके पतिके यहां नाहीं भेजे हें तेसें देहत्यागके विषयमें तोकुंहु विलम्ब नाहीं करनो चहिये. विलम्ब करिवेसूं प्रभु प्रसन्न नाहीं होइंगे.

टीका : जेसें पुत्री बड़ी भई होय, अर्थात् पतिके सर्वकार्यके योग्य भई होय, तथापि मातापिताकुं वाके उपर स्नेह होय तासूं एसें जानें जो ये तो अबहु बालक हे ओर पतिके घरमें तो कार्य विशेष हे सो करिवेमें थक जायगी अथवा क्लेशयुक्त होयगी —— एसें जानिकें वाके पतिके समीप भेजे नाहीं तब वाको पति अप्रसन्न होय हे. तेसें, अपने देहमें स्नेह राखिके, प्रभुको कार्य (सेवा) करिवेमें देहकुं क्लेश होयगो, एसें जानिके प्रभुके कार्यमें देहको विनियोग न करे तो प्रभु अप्रसन्न होंय. तासूं देहमें वेसो स्नेह न करनो. क्यों जो पुत्री बड़ी भई ताकुं वरकी पास न पठावे तो जेसें वर प्रसन्न न होय तेसें देहके ऊपर स्नेह राखिकें भगवानकी सेवामें देहकुं न लगावे तो भगवान्हु प्रसन्न न होंय॥8॥

यद्यपि भगवानकी आज्ञामें हठ करनो योग्य नाहीं हे तथापि श्रीभागवत्को अर्थ प्रकटकरिवेको भगवानको अभिप्राय हे ताप्रमाण अर्थ प्रकट करिवेतें लोकमें बड़ाई होय तामें कदाचित् थोरी-बहोत फल देयवेमें विलम्बकी इच्छा सम्भवे हे. क्यों जो श्रीभागवत्को अर्थ प्रकट करें तामें प्रभूकेपास पधारिवेमें विलम्ब होय; तासूं श्रीभागवत्को अर्थ प्रकट करिवेको प्रभूनको अभिप्राय हे तापेंसूं विलम्बेच्छाको सम्भव हे. एसी शङ्का को निराकरण करत हें:

लोकवत् चेत् स्थितिर् मे स्यात् किं स्याद् इति विचारय॥9॥
अशक्ये हरिरेवाऽस्ति मोहं मागा: कथञ्चन॥

लोकवत्=लोककी तरह
चेत्=यदि, मे=मेरी
स्थिति:=स्थिति, स्यात्=होय
किं=क्या, स्यात्=होय
इति=ये(त्वं=तुम)
विचारय=विचारो
अश(अत:=यासूं)
कथञ्चन=कोइभी तरहके
मोहं=मोहकुं, मा=मत
गा:=प्राप्त होउ

भावार्थ : हे अन्त:करण! अन्य लोककीतरह मेरीहु यदि लौकिक उत्कर्षादिकेलिये लोकमें स्थिति होय तो कहा होय, ये तूही विचार कर. अर्थात् लौकिक उत्कर्षकेलिये प्रभुकी अप्रसन्नता करनी योग्य नाहीं हे. अशक्य कार्यमें श्रीहरिही पुरुषार्थ सिद्ध करिवेवारे हें. तासूं कोई तरहकी चिन्ताकुं प्राप्त मत होउ.

टीका : लोकवत् मेरी स्थिति यदि होय तो कहा फल होय? सो विचार कर. ओर जहां अशक्य होय तहां प्रभु हरिही हें; अर्थात् भक्तनके दु:ख तथा पाप कुं हरिवेवारे हें, तासूं काहु प्रकारसूं मोहकुं प्राप्त मति हो.

इतनें भगवानकु अभिप्रेत श्रीभागवत्को अर्थ प्रकटकरिवेतें यद्यपि लोकमें बड़ाई होय —— जेसें जैमिनि तथा व्यास आदिक**ननें** वेदसूं अविरूद्ध मीमांसा करी तासूं विनकी लोकमें बड़ाई भई ——तेसें मेंहु वेदादिकन्सूं अविरूद्ध एसो श्रीमद्भागवत्को अर्थ प्रकट करुं तामें जैमिनि तथा व्यासादिक वत् मेरीहु बड़ाई होय. परन्तु ये तो लौकिक बड़ाई हे कछु स्वमार्गीय अलौकिक बड़ाई नाहीं हे. ओर स्वमार्गीय फलको विचार करें तब तो मुक्ति आदि फलहु फलरूप नाहीं माने जाय हें तहां लौकिक फल तो गिनतीहुमें कहां आवें? एसें विचार कर. अथवा संसारमें आसक्त लोग अपने-अपने स्वभावके अनुसार जेसें तत्-तत् शास्त्रनको अनुसरत हें तेंसें मेरी स्थिति होती तब

एसो पश्चात्ताप नाहीं होतो तब कहा होतो? निश्चय ही में लोकतुल्य होतो. परन्तु लोक जेसी मेरी स्थिति नाहीं भई हे तासूं मेरे उपर भगवान् दयालु हें एसो विचार कर. ओर भगवाननने आज्ञा करी हे ताप्रमाण होय सके नाहीं एसें दीखतो होय तो भगवान् 'हरि' हें; इतनें स्मरण करिवेवारेनके सब पापनके हर्ता हें. सो अपनेंहु रक्षक हें एसो विचार कर. परन्तु काहु रीतिसूं मोहकों मति प्राप्त हो॥91—ञ्ए2॥

एसें सब विचारके वाक्य कहिके उपसंहार करत हें:

इति श्रीकृष्णदासस्य वल्लभस्य हितं वचः॥10॥
चित्तं प्रति यदाकर्ण्य भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत्॥

श्रीकृष्णदासस्य=श्रीकृष्णके दासके
वल्लभस्य=श्रीवल्लभके
चित्तं=चित्तके
प्रति=प्रति
इति=ये, हितं=हितकारी वचः=वचन, यत्=जो
आकर्ण्य=सुनिके
भक्तः=भक्त
निहोउ

भावार्थ : श्रीहरिके दास श्रीवल्लभाचार्यके अन्तःकरणके प्रति ये हितकारी (यथार्थ) वचन हें, जाकुं अच्छीतरह सुनकें भक्तजन चिन्तारहित होय जांय हें.

टीका : एसें श्रीकृष्णके दासकों सुखसम्पादन करिवेवारे, भगवान् तथा भक्तन् के प्रिय एसे श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके चित्तके प्रति वचन हें, जो सुनिके भक्त निश्चिन्तपनेकों प्राप्त होंय.

या ग्रन्थमें इतनो सिद्ध भयो जो——

श्रीआचार्यजी-महाप्रभूनने जेसें भगवानकी आज्ञाको उल्लङ्घन कियो तेसें वैष्णवनकु श्रीआचार्यजीको दृष्टान्त लेयकें भगवानकी आज्ञाको उल्लङ्घन नाहीं करनो.

जीव स्वभावसूंही दुष्ट हे; तथापि समर्पणसूं उत्तम होय हे. तासूं भगवानकी कृपा विशेष होय तोहु अपनी बड़ाई न माननी.

भगवान् सत्यसमल्प हें, सो कहा करिवेकी इच्छा करत हें सो जानिवेमें नाहीं आवत हे; तासूं सर्वदा विनकी आज्ञाहिमें रहनो. जो आज्ञाको उल्लङ्घन होय तो स्वामिद्रोहरूप बड़ो अपराध होय. ओर, में सेवक हों तासों मेरे योग्यही मेरे स्वामी करेंगे—— एसो विचार करिके सेवककुं स्वामीकी आज्ञाहीमें रहनो.

श्रीआचार्यजीनें अपनी प्रौढीसों दोय आज्ञानको उल्लङ्घन कियो तामें पश्चातापही कह्यो हे, तासूं अपनें आज्ञाको उल्लङ्घन करनो नाहीं.

लौकिकस्वामी जेसें अपराधके कारण सेवकको त्याग करे हे तेसें भगवान् सेवककों नाहीं छोड़ेंगे. भगवानको अङ्गीकार नित्य हे सो समर्पणादिकन्सूं सिद्ध भयो तब कृतार्थताही होयगी, एसी भावना राखनीं, वामें सन्देह नाहीं करनो.
ओर प्रौढ पुत्रीमें स्नेह जेसें राखे हे तेसें देहमें स्नेह नाहीं राखनो, प्रभुके विनियोगमें लगावनो. क्यों जो प्रौढ पुत्री वरके पास भेजवेयोग्य होय तथापि वाकुं स्नेहकरिके वाके वरके पास भेजे नाहीं तो वर प्रसन्न होय नाहीं तेसें देह प्रभूनकी सेवाके योग्य हे तथापि याकुं श्रम होयगो एसें विचारिके देहके ऊपर स्नेह राखिकें प्रभूनकी सेवामें राखे नाहीं तो प्रभु प्रसन्न होय नाहीं.

तेसें ही अपनी सेवाकेलिये प्रभूनने देह दियो हे ओर प्रभूनने अङ्गीकार कियो हे, तथापि जो सेवा न करे तो दूसरे लोककी बराबरी अपनकु होय.

ओर सेवामें देहको विनियोग करिवेमें प्रतिबन्ध आयवेको सम्भव होय तो भगवान्ही रक्षक हें एसी भावना राखनी. या बिना दूसरो उपाय नाहीं हे.

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचित अन्त:करणप्रबोधकी
संक्षिप्त व्रजभाषा**टीका**
श्रीमद्गोस्वामि श्रीनृसिंहलालजीमहाराज कृत सम्पूर्ण भई ॥

विवेकधैर्याश्रयः ग्रन्थ-परिचय

॥श्रीकृष्णाय नमः॥
॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

ग्रन्थ-परिचय

कब कहां और किस प्रसङ्गमें विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थका प्रणयन हुआ यह पता नहीं चलता.

वैसे तो विवेक, धैर्य तथा आश्रयका सम्बन्ध प्रपत्तिमार्गके साथ अधिक घनिष्ट है किन्तु भक्तिमार्गमें प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोंकेलिए विवेक, धैर्य तथा आश्रय भगवत्सेवामें भी उपयोगी होते ही हैं. वास्तविकतातो यह है कि इन तीनोंकी कर्म, ज्ञान एवम् भक्ति रूप तीनों ही मार्गमें अपेक्षा रहती है. 'विवेक' 'धैर्य' या 'आश्रय' शब्द सामान्य अर्थोमें श्रीमहाप्रभुको विवक्षित नहीं हैं अपितु एक निश्चित पारिभाषिक अर्थमें ही विवक्षित है.

यथा:

1.विवेक= हरिः सर्वं निजेच्छातो करिष्यति
2.धैर्य= त्रिदुःखसहनमामृते सर्वतः सदा
3.आश्रय= ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः

इन्हीं पारिभाषिक अर्थोमें विवेक, धैर्य तथा आश्रय पुष्टिमार्गीय कृष्णसेवामें उपयोगी बनते है.

कृष्णसेवामें प्रवृत्त पुष्टिभक्त किन-किन परिस्थितियोंमें कृष्णसेवाकर्ताकेलिए आवश्यक विवेक, धैर्य या आश्रयको खो सकता है तथा किन उपायोंसे इनकी

रक्षा सम्भव है आदि विषयोंका निरूपण इस ग्रन्थमें हुआ है.

सिद्धान्तमुक्तावलीमें उपदिष्ट सेवाके बाह्य अङ्गोका निरूपण हमें सिद्धान्तरहस्यमें तथा आभ्यन्तर अङ्गोंका निरूपण नवरत्नमें मिलता है. इन्हीं बाह्य तथा आभ्यन्तर साधनोंकी साङ्गोपाङ्गता विवेक-धैर्य-आश्रयके सम्पन्न होनेपर सम्भव होती है. 'अन्तःकरणप्रबोध' ग्रन्थद्वारा जो अन्तरात्माका प्रबोधन किया गया उस प्रबोधनकेलिए भी विवेक-धैर्य-आश्रयकी निरतिशय अपेक्षा है.

इन विवेक, धैर्य तथा आश्रयका परस्पर सम्बन्ध विलक्षण है. जिसे भगवत्कृपासे आश्रय सिद्ध हो जाता है उसे विवेक और धैर्य स्वतः ही सिद्ध हो जाता हैं, अन्यथा विवेक और धैर्यके बिना आश्रय दृढ़ नहीं हो पाता. हमारे अविवेक और अधैर्य हमें भगवदाश्रयसे विचलित कर सकते हैं. अतः अपने जागृत विवेक तथा धैर्यके द्वारा अदृढ आश्रयकी रक्षा आवश्यक होती है. इस तरह विवेक-धैर्य एक कोटी है तथा आश्रय दूसरी कोटी है.

यह आश्रय पुष्टिभक्तिका आवश्यक अङ्ग होनेपर भी केवल पुष्टिभक्ति ही नहीं अपितु कर्म-ज्ञान-भक्ति सभी मार्गोका अनुकल्प है. कर्म-ज्ञान-भक्तिके अनेकविध उपायोंको दिखलानेके बावजूद भगवान्ने गीताके अन्तमें-"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"()के महान् उपदेशद्वारा एक पृथक् शरणमार्गके रूपमें इसी आश्रयको समझाया है. भागवतके एकादशस्कन्दन्धमें भी इसका स्पष्टीकरण मिलता है-"तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च. मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्युकुतोभयम्" अर्थ: श्रुतिस्मृतिमें उत्सर्ग-अपवादके रूपमें कहे गये विधि-निषेध और तत्प्रेरित विविध कर्मोमें प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा विविध ज्ञानमार्गीय श्रोतव्य श्रुत

विषयोंके श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि किसी भी प्रणालीकी अपेक्षा रखे बिना केवल एकमात्र भगवान्की शरणमें सर्वात्मभावके साथ जाना चाहिये. यहां भी इसी आश्रय या पृथक्शरणमार्ग का विवेचन अभीष्ट है.

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः॥

अर्थ:इस तरह आश्रय सभीकेलिए सर्वदा हितकारी सिद्ध होता है क्योंकि कलियुगमें भक्ति आदि मार्ग दुःसाध्य हो गये हैं.

कर्म, ज्ञान या भक्तिके मार्गपर चल सकनेवाले जीवोंकेलिए विवेक-धैर्य-आश्रय अच्छी तरह चल पानेमें सम्बल बन जाते है. जो इन मार्गोपर चल नहीं पाते उनकेलिए आश्रय ही मार्ग भी बन जाता है और चल पानेका बल भी!

आश्रयका सुलभतम स्वरूप श्रीमहाप्रभुने इस तरह समझाया है:
यथा कथञ्चित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि।
किम्वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्॥

अर्थ:जैसे भी जो भी छोटे-बडे या अच्छे-बुरे कार्य व्यक्ति करता हो परन्तु किसी भी समय श्रीकृष्ण ही मेरे एकमात्र सहारा-शरण हैं, यह भावना मनसे दूर नहीं होनी चाहिये.

मूलतः गीतामें जिस तरह-"अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" या भागवतमें जिस तरह-"मया स्या ह्यकुतोभयम्"() में भगवान्ने अपने श्रीमुखसे शरणागतोंको अभयदान दिया है वही इस आश्रय या प्रपत्ति की क्रिया एवम् भाव को पृथक-शरणमार्गकी पदवी प्रदान करता है. अतएव श्रीमहाप्रभु भी यहां षोडशग्रन्थके अन्तर्गत विवेकधैर्याश्रयमें भगवत्सेवाके

अङ्गरूपसे तथा अनुकल्परूपसे आश्रयका निरूपण करते हैं. जो स्वयम् अनुकल्प हो सकता हो वह यदि अङ्ग बन जाये तो भगवत्सेवाके स्वरूपमें एक विशिष्ट निखार आना स्वाभाविक ही है. अतएव श्रीमहाप्रभु उपदेश देते हैं विवेक-धैर्यकी रक्षा सतत करनी चाहिये इसी तरह आश्रयकी भी.

विवेक:

विवेकके वैसे तो अनेक अर्थ तत्तद् शास्त्रोंमे उपलब्ध होते है. यहां परन्तु 'विवेक'का विवक्षित अर्थ इतना ही है कि जो कुछ जहां जब जैसे घटित हो रहा है वह सर्वदुःखहारी भगवान् श्रीहरिकी अपनी इच्छासे ही हो रहा है ब्रह्माण्डके सारे क्रिया-कलाप भगवान्की क्रीडाके अङ्ग हैं. भगवान् जो कुछ करते हैं उसमें किसी न किसी तरह हमारा हित ही निहित होता है, हमारे हृदय और बुद्धिमें यह भावना और धारणा सर्वदा ही बनी रहनी चाहिये. यही 'विवेक' कहलाता है.

"भगवान् सर्वसमर्थ हैं सर्वात्मा तथा सर्वान्तर्यामी है" ऐसे भाव भगवद्धर्मके विचारसे 'विवेक' कहलाते है. मैं भगवान्का अंश हूं, दास हूं, भगवत्क्रीडाका अङ्ग हूं तथा मेरी अहन्ता-ममताका कोई अर्थ नहीं है इत्यादि मनोभाव जीवधर्मके विचारसे 'विवेक' कहलाते हैं. इस तरहके विवेकसे सम्पन्न होनेपर हममे से चतुर्विध अविवेक दूर हो जायेगा. हमारे भीतर चार प्रकारकी वृत्तियां अविवेकके कारण घर कर जाती हैं. वे अविवेकजन्य वृत्तियां इस तरह है:

1.प्रार्थनाकी वृत्ति
2.अभिमानकी वृत्ति
3.हठकी वृत्ति
4.आग्रहकी वृत्ति

1.हमें थोडा सा कष्ट होने लगता है या कोई कामना उत्पन्न हो जाती है तो हम अपने कष्टोंको दूर करनेकेलिए अथवा हमारी क्षुद्र कामनाओंकी पूर्तिकेलिए भगवानसे प्रार्थना करने लग जाते हैं. मानों भगवान् सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी या सर्वात्मा ही न हों! भगवान् तो हमारी प्रार्थनाके बिना भी सब कुछ जानते हैं कि हमारी क्या अपेक्षायें हैं तथा किन कामनाओंकी पूर्तिमें हमारा हित निहित है और किनमें अहित. हम पहचान नहीं पाते पर परमात्मा तो हमारी आत्मामें निवास करते ही हैं. अतः हमारे स्वामी हमें क्या और कितना देना चाहते हैं उसे जाने बिना हम मांगनेकी भूल कर बैठते हैं. हमारे हितमें ही परमात्मा कुछ हमें देता है या नहीं देता परन्तु हम हमारे हिताहितके ज्ञानके बिना ही मांगनेकी बेसब्री कर बैठते हैं! अतः भगवान् सर्वज्ञ हैं सब कुछ देनेमें समर्थ हैं पर देंगे वही जिसमें हमारा हित निहित हो, ऐसे दृढ विश्वासको मनमें रख कर प्रार्थना-कष्टनिवृत्ति या कामनापूर्ति की याचना-न करना विवेकका प्रथम लक्षण है.

2.यह प्रार्थनात्याग पूर्वोक्त भावभूमिपर किया जाये तभी 'विवेक' कहलाता है. अन्यथा पुरुषार्थवादी अहमारयुक्त मनोवृत्तिसे अथवा अनीश्वरवादी अश्रद्धाकी मनोवृत्तिसे या किंकर्तव्य-विमूढ बुद्धिसे प्रार्थना न करना विवेकका लक्षण नहीं है. अतः प्रार्थनात्यागकी तरह अभिमानका त्याग भी आवश्यक है. अभिमान केवल हमें अपने स्वामीका होना चाहिये. अपने पुरुषार्थपर या परमात्मासे भिन्न किसी जड़शक्ति यथा प्रकृति, काल, कर्म स्वभाव माया, शैतान आदिका नहीं. क्योंकि इनके कारण यदि कुछ सुख-दुःख हमें होता है तो वह भी परमात्माकी वैसी इच्छा होनेके कारण ही. अन्यथा ये सभी प्रभावहीन होते हैं. यह विवेकका द्वितीय लक्षण है.

3.मिथ्याभिमान तथा प्रार्थना रहित जीवनप्रणालीमें यह सहज सम्भव है कि हमारे अन्दर अकर्मण्यताका एक ऐसा हठीलापन पनप जाये कि

सामान्यविशेष परिस्थितिके विवेकके बिना केवल हाथपर हाथ धरके बैठे रहना ही हमें आदर्श लगने लग जाये. अभिमानत्याग तथा प्रार्थनात्यागके साथ ही साथ विवेकरहित अप्रवृत्तिकी हठका त्याग भी अतएव आवश्यक होता है. भक्तकी प्रवृत्ति किन्तु अपने दैहिक स्वर्थोंकी पूर्तिसे प्रेरित नहीं होती. भक्तकी प्रवृत्ति होती है जब उसके अन्त:करणमें विशेष भगवदाज्ञाका अनुभव होने लगे. ऐसी विशेष भगवदाज्ञायें अवसर-विशेषपर किसी भक्तविशेषसे किसी विशेष भगवत्कार्यको पूर्ण करनेकेलिए होती है. भगवदाज्ञाके अनुसार यह कार्य मुझे ही पूर्ण करना है ऐसे भगवदीय अभिमानके साथ तथा अकर्मण्यताकी हठको छोडकर उस विशेष कार्यको सम्पन्न करना चाहिये.

सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है इस सिद्धान्तकी सहज स्वीकृति तथा असहज हठीलेपनसे उसके साथ चिपक जानेमें बहुत अन्तर पड़ जाता है. अवसरविशेषपर स्वधर्म भगवत्सेवा या उससे सम्बन्धित किसी कर्तव्यको विशेष आयास-प्रयाससे पूर्ण करनेकी भगवदाज्ञाजन्य प्रेरणा जब हमारे अन्त:करणमें उठती हो, तब जो होगा सो भगवदिच्छाके अनुसार होगा, ऐसी अकर्मण्यताकी हठ रखते समय हम भूल जाते हैं कि उक्त प्रेरणा भी तो विशेष भगवदाज्ञासे हुई है. अत: हठवादितापूर्ण सिद्धान्तके दुरुपयोगका त्याग विवेककी तीसरी पहचान है.

4.एक बार किसी अवसर विशेषपर “सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है” इस सिद्धान्तको हठवादितासे न लेनेका तात्पर्य यह नहीं हो जाता कि सैद्धान्तिक आग्रहोंसे सर्वथा मुक्त ही हो जाना चाहिये. व्यवहारमें सिद्धान्तत: क्या धर्म है तथा क्या अधर्म है इसका विचार प्राथमिक होना चाहिये. तदनुसार ही किसी कार्यमें प्रवृत्त या निवृत्त होना चाहिये. अत: आपद्धर्म या अवसरोपात्त किसी विशेष कार्यरीतिको सार्वदिक माननेका आग्रह

भी नहीं रखना चाहिये. अत: हठत्याग भी आग्रहरहित होना चाहिये. आग्रहसहित नहीं!

यही विवेकका वास्तविक एवम् परिपूर्ण स्वरूप है. इस ग्रन्थके एक व्याख्याकार श्रीगोपीशजीके अनुसार श्रीमहाप्रभु नवविध विवेकका यहां उपदेश करते हैं, जिसे इनकी व्याख्यामें इन्होंने भलीभान्ति समझाया है. यहां विस्तारभयसे हम अनुवाद नहीं दे रहे है.

धैर्य:

जन्मसे मृत्युपर्यन्त सभी तरहके दु:खोंको सहन कर लेना धैर्य है. दु:खोंको सहन करनेका मतलब होता है उन्हें स्वीकार लेना-उनका प्रतिकार न करना. कभी एकाद दु:ख सह लेना और कभी विचलित हो जाना धैर्यका स्वभाव नहीं है. निरन्तर सभी तरहके दु:खोंको सर्वदा सहना ही पूर्ण धैर्यका स्वभाव है.

दु:ख अनेक प्रकारके हो सकते हैं. यथा-रोगादिजन्य, कायिक या भौतिक दु:ख होते हैं. कामक्रोधादिजन्य इन्द्रिय और मनसे सम्बन्धित आध्यात्मिक दु:ख होते है. सेवार्थ उपयोगी वस्तुओंके अभाव अथवा ऐसे अन्य भगवत्सम्बन्धी दु:खोंको आधिदैविक दु:ख कहा जाता है. इस तरह धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोके सम्पादनकेलिए लौकिक आयास आधिभौतिक, वैदिक आयास आध्यात्मिक तथा भगवदर्थ आयास आधिदैविक दु:ख माने जाते हैं. कभी-कभी काल, कर्म, स्वभाव, जन्य दु:खोंसे भी हम पीड़ित हो जाते है. इन सभी तरहके दु:खोंको सहन करना धैर्य कहलाता है.

धैर्य धारण करनेके चार उपाय होते हैं:

1.अनाग्रह

2.सहन

3.त्याग

4.असामर्थ्यभावना

1.दु:खोंको सहन करना चाहिये पर स्वयम् चलाकर दु:खी होनेके काम नहीं करने चाहिये. अपने प्रयत्नके बिना स्वत: भगवदिच्छासे दु:ख दूर हो जाते हों तो जान-बूझकर दु:खी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहकी भी कोई महत्ता नहीं है. अतएव समागत दु:खोंका प्रतिकार सहज-सरलतया हो जाता हो सहनेकी कोई आवश्यकता नहीं और न होता हो तो विचलित भी नहीं होना चाहिये. यही धैर्यका वास्तविक स्वरूप है.

दु:ख सहनेको उद्यत रहनेपर भी दु:खी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहसे बचनेका उदाहरण अधोलिखित कथाश्लोकद्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है:

तक्रवत् धैर्यधारण:
हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदष्टं
देशान्तरे विधिवशाद् गणिकास्मि जाता।
पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा
शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रम्॥

अर्थ:मुझे हठात् रनिवासमें पकड़ रखनेवाले राजाकी हत्या करके अपने सच्चे पतिके पास जब पहुंची तो सर्पदंशके कारण उसे भी मृत पाया. देश देशान्तरोंमें भटकती हुई वेश्यावृत्ति अपनानेको बाधित हुई तो एक दिन स्वयम् अपने पूर्वपतिसे जात पुत्रको सम्पन्न ग्राहक मानकर आमन्त्रित कर बैठी. वास्तविकताका ज्ञान होनेपर अपने पुत्रके साथ प्रायश्चित्त हेतु आत्मदाहको उद्यत हुई तो पुत्र जलकर मर गया परन्तु मैं कथञ्चिद् बच गयी. बचानेवाले ग्वालेकी पत्नी बनकर छाछ बेचती हूं सो आज वह भी ढुल

गई. अब बताओ कि कितने दु:खोंको रोऊं! इस छाछके ढुल जानेके दु:खको कहां तक रोऊं?

जीवनमें एकसे बढकर दूसरे कष्ट आते हैं. किन-किनको रोया जाये और कब-तक रोया जाये? ग्वालेकी पत्नी अपने पूर्वानुभूत कष्टोंका विचार कर नित-नये आनेवाले दु:खोंको झेल जाती है. जब भी जैसे जीवन-यापनके अवसर सामने आते हैं, उन्हे स्वीकार लेती है. न तो दु:खसे विचलित होती है और न दु:खी बने रहनेकी निराशा या कुण्ठासे ग्रस्त ही होती है. न दु:खोंके आनेका कोई आग्रह और न दु:खोंके जानेका कोई आग्रह! "प्रतीकारो यदृच्छातो सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्".

2.धैर्य धारण करनेका दूसरा उपाय है-दु:खोंको कष्टोंको या तिरस्कारोंको सह लेना. हमे यह सोचना चाहिये कि जो हमें कष्ट है वह अन्य किसीको भी हो सकता है. हमारा कष्ट किसी दूसरेकेलिए सुख भी हो सकता है. हमारी सुख-दु:खकी अनुभूतिके हम अकेले ही दावेदार नहीं हैं परन्तु अनेक दावेदार हैं. फिर अकेले हमारे उद्विग्न होनेकी क्या तुक है?

देहवत् धैर्यधारण:
देह: किमन्नदातुर्वा निषेक्तुर्मातुरेव वा।
मातुर्पितुर्वा बलिन: क्रेतुरग्ने: शुनोपि वा॥

अर्थ:इस देहपर सच्चा अधिकार किसका है? क्या उसका जो हमें अन्न देता है, या हमारे जनक पिताका, या गर्भधारण करनेवाली माताका, या बलपूर्वक जो अधीन कर ले उसका, या धन देकर जो हमें खरीद ले उसका, या देहको भस्मसात् करनेवाली अग्निका, या उसे खानेके भूखे कृमी-कीट-पशु-पक्षियोंका!

जब हमारे देहके दावेदार अकेले हम ही नहीं-इतने सारे हैं. सभीके किसी न किसी तरहके कष्ट और आनन्द हमारे देहके साथ जुडे हुए हैं. ऐसी सार्वजनिक सम्पत्तिसे अकेले हमारे दु:खी होनेकी क्या आवश्यकता है?

इसी तरह हमारे सुख-दु:खमें भी हमारे परिवार, समाज, राष्ट्र, मानवमात्र और प्राणिमात्रका कुछ न कुछ या किसी न किसी तरहका हिस्सा तो है ही. फिर अकेले हमें ही अपने कष्टोंको असह्य क्यों मानना चाहिये? किसीका कष्ट कैसे हमारेलिए सुख बन जाता है, इसी तरह हमारा कष्ट किसी दूसरेकेलिए सुख होगा. वनस्पतीका कष्ट बकरीका सुख है-बकरीका कष्ट सिंहका सुख है-सिंहका कष्ट शिकारी मानवका सुख होता है इत्यादि. अत: हमारे पारिवारिक सदस्य पत्नी आदि या अन्य भी असाधु पुरुषोंद्वारा किया गया तिरस्कार हमें सह लेना चाहिये.

3.धैर्य धारण करनेका तीसरा उपाय है त्याग. त्यागका अर्थ है अपनी ओरसे सभी इन्द्रियोंको स्थगित कर देना. उन्हें काया, वाणी और मन के अभिनिवेशसे मुक्त करना.

जडवत् धैर्यधारण:

जैसे जडभरत अपनी मस्तीमें बैठे हुए थे. जब राजाके सैनिक उन्हें पालकी ढोनेकेलिए गये तो आनाकानी किये बिना पालकी ढोने लग गये. ठीकसे न ढो पानेके कारण राजा गाली देने लगा तो वह भी मस्तीसे सुन ली. पूछनेपर बुद्धिमत्ता पूर्ण उत्तर दिया और राजा चरणोमें पड़ गया तो उसी पुरानी मस्तीसे ज्ञानोपदेश भी कर दिया!

इस तरह जडवत व्यवहार करके भी धैर्य धारण किया जा सकता है.

4.धैर्य धारण करनेका चौथा उपाय है स्वयम् अपनी असमर्थताकी भावना करना.

गोपभार्यवत् धैर्यधारण:

कृष्णके विरहमें गोपिकाओंने तथा अन्य भी व्रजवासियोंने अपनी असमर्थताके बोधद्वारा धैर्य धारण किया था, रासके प्रकरणमें तथा मथुरागमनके प्रसङ्गमें भी. भगवान्पर जब बस नहीं चलता तो अपनी असमर्थताकी भावनाद्वारा धैर्य धारणके अलावा और कोई उपाय भी नहीं रह जाता है.

इस तरह भगवदिच्छाका और अपनी असमर्थताका विचार कर आधिदैविक दु:खोंको सहन कर लेना चाहिये.

ये सारे उपाय जो शक्य या सुकर नहीं लगते हों तो सर्वदु:खहर्ता हरिका आश्रय ग्रहण करना चाहिये. क्योंकि भगवान्के आश्रयसे अशक्य भी सुशक्य हो जाता है. सारी दुर्लभ बातें भी सुलभ बन जाती हैं. इस तरह धैर्यका निरूपण किया गया. अब आश्रयका स्वरूप समझना चाहिये.

आश्रय:

ऐहिक पारलौकिक सभी बातोंमें सर्वथा एकमात्र हरिका ही सहारा स्वीकारना आश्रय कहलाता है. आश्रयकी दृढताके भी चार उपाय हैं:

1.मन और वाणी से निरन्तर शरणभावना

2.कायिक, वाचिक और मानसिक रूपमें अन्याश्रयका त्याग करना

3.मेघपर चातकके दृढ विश्वासकी तरह भगवान्पर सर्वदा दृढ विश्वास रखना- स्वयम् प्रयुक्त ब्रह्मास्त्रपर स्वयमेव मेघनादकी तरह भगवान् पर कभी अविश्वास न करना.

4.सुखसे या दु:खसे जो भी मिल जाये उसका ममतारहित उपभोग करना.

1.हमारे जीवनमें अनेक प्रकारकी विषम स्थितियां सामने आती रहती हैं. जिन उद्वेगजनक परिस्थितिओंमें हम विचलित हो जाते हैं, उन परिस्थितियोमें यदि हमारे मन और वाणीमें हम शरणभावना बनाये रखें तो

आश्रय दृढ हो जाता है. जीवनमें अनेकविध आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवम् आधिदैविक कष्ट आते हैं. ऐसे समय बहुधा हम विवेक और धैर्य निभा नहीं पाते. पर मन और वाणी में यदि शरणभावना बनाये रखनेमें सफल हो पायें तो आश्रय दृढ हो जाता है.

चाहे कोई भी परिस्थिति हमारे सामने आ पड़े-पापकी, भयकी, अपूर्ण कामानओंकी, भक्तद्रोहकी, भक्ति अभावकी या भक्तोंसे तिरस्कृत होनेकी सभी स्थितियोंमें भगवद्शरणभावना एक कारगर उपाय है. जब किसी अशक्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पडता है तब उद्वेग आशमा एवम् कुण्ठाके कारण हम भगवान्को भूल जाते है. जब कोई सुशक्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पड़ता है तब सफलताकी आशा उत्साह और अहमार के कारण हम भगवान्को भूल जाते हैं. कार्य चाहे अशक्य हो या सुशक्य भगवान्की शरणभावना सर्वदा मन-वाणीपर बनी रहनी चाहिये. हमारा अहमार जब प्रबल हो रहा हो-हमपर जो आश्रित हों उनके रक्षणपोषणके समय अथवा हमपर आश्रित व्यक्ति या सम्बन्धी जन जब हमारे अहम्को ठेस पहुंचा रहे हों अथवा हमारे शिष्य भी जब हमारा तिरस्कार कर रहे हों, तब शरणभावनाको बनाये रखना बहुत आवश्यक होता है.

मानसी सेवा, व्यसनदशा, निरोध या सर्वात्मभाव के अनुभव योग्य अलौकिक मनकी सिद्धिकेलिए भी एकमात्र श्रीहरि ही हमारी शरण होते हैं. मन-वाणीसे निरन्तर अष्टाक्षर मन्त्रका अनुसन्धान बनाये रखना चाहिये. यह आश्रयको दृढ करनेका प्रथम उपाय है.

2.काया, वाणी और मन से अन्याश्रयका त्याग करना चाहिये. श्रुतिमें नित्यकर्मके रूपमें विहित न हो तब भी किसी अन्य देवादिका स्वत:

चलाकर-निष्काम या सकाम भजन करना अन्याश्रय है. कहीं जाते समय मार्गमें किसी अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो दूसरी बात है, अन्यथा स्वयम् अपनी ओरसे चलाकर किसी अन्य देवके दर्शनार्थ उनके मन्दिरमें जाना अन्याश्रय है. मार्गसे जाते हुए अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो नमनद्वारा आदरभाव प्रकट करना अन्याश्रय नहीं है. किसी लौकिक या अलौकिक प्रयोजनवश किसी अन्य देवताकी प्रार्थना करना अन्याश्रय है. 'अन्यदेव' का अर्थ है-भगवान्के ऐसे देवरूप कि जिनको पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें मान्य नहीं किया गया है. अन्याश्रयके त्याग करनेसे भी आश्रय दृढ हो जाता है.

3.भगवान्पर अविश्वास कभी नहीं करना चाहिये-सर्वदा चातकका सा दृढ विश्वास रखना चाहिये. लंकामें हनुमानजीको जब ब्रह्मास्त्रसे बांधा गया तब स्वम् बांधनेवाले राक्षसोंको ही ब्रह्मास्त्रपर अविश्वास हो गया था. अत: वे जब ब्रह्मास्त्रके अलावा रस्सी या अर्गलासे बांधने लगे तब उनके अविश्वासको जानकर दोनों ही बन्धनोंको तोड़कर हनुमानजी मुक्त हो गये. अतएव अविश्वास कदापि नहीं करना चाहिये. जल बरसे या न बरसे पर चातकका विश्वास स्वातिबिन्दुके बारेमें कभी खण्डित नहीं होता. ऐसा दृढ विश्वास प्रभुपर रहना चाहिये. दृढ विश्वाससे भगवदाश्रय दृढ होता है.

4.हमें जो कुछ जैसा और जितना प्राप्त होता है, उसके ममतारहित उपभोगका व्रत यदि हम लेलें तो न प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष होगा और अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे विषाद ही. इस तरह प्राप्त वस्तुके ममतारहित उपभोगसे भगवदाश्रयकी दृढता सिद्ध होती है.

उपसंहार:

किसी भी तरह हो आश्रयकी दृढता अपेक्षित है. छोटे-बड़े अच्छे-बुरे किसी भी तरहके कार्योको करते हुए यदि हम शरणभावनाको हृदयमें जगाये रखनेमें सक्षम हो जाते हैं तो अन्य सारी बाते शनैः-शनैः स्वतएव सिद्ध होने लगेंगी. इस तरह हमने देखा कि कलियुगमें भक्ति आदि मार्गपर चल पाना दु:साध्य हो गया है, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय सभीकेलिए सर्वदा हितकारक होता है.

एक दृष्टिसे देखा जाये तो मार्ग तो कर्म, ज्ञान और भक्ति रूप तीन ही हैं. परन्तु जो जीव इन मार्गोपर चल नहीं पाते या चलते हुए थक कर बैठ जाना चाहते हैं, उनकी साधना अधूरी रह जाती है. पर थके हुए या बिना थके जो जीव भगवान्के चरणोंमें बैठ जाते हैं, वे बिना चले भी गन्तव्यतक पहुंच जाते हैं. भगवान्के चरण या शरण अपने आपमें मार्ग भी हैं और गन्तव्य भी. “एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्...”

प्रस्तुत विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थ वि. सं. 1983 में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेसद्वारा पुनर्मुद्रितरूप है. वह संस्करण श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण-विद्यानिधि-श्रीब्रजरत्नलालजी महाराजकी श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा (सूरत) द्वारा प्रकाशित हुआ था. सम्पादन श्रीचीमनलाल ह. शास्त्रीजीने किया था. इन दोनों महानुभावोंके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं

॥ विवेकधैर्याश्रयः ॥

भक्तिमार्गमें अङ्गीकारभयेसूं जीव भगवानके दासपनेकुं प्राप्त भयो ओर भगवत्सेवामें प्रवृत्त भयो. तब सेवाकरिकें भक्तिकी दृढता होयवेकेलिये ‘नवरत्न’ग्रन्थमें प्रकार कह्यो हे ताप्रमाण (चिन्ताको) त्याग करिवेको निरूपण करिवेमें यद्यपि विवेक, धैर्य ओर आश्रय संक्षेपसूं कहे हते तथापि जब तांई विवेकादिकनको विशेष ज्ञान न होय तब तांई सेवामें तेसी दृढता होय नाहीं. तासूं या ग्रन्थद्वारा अपने सेवकनकेलिये विवेक, धैर्य ओर आश्रय को विस्तारसूं निरूपण करत हें:

विवेक-धैर्ये सततं रक्षणीये तथाऽश्रय:॥
विवेकस्तु "हरि: सर्वं निजेच्छात: करिष्यति"॥1॥

विवेक-धैर्ये=विवेक ओर धैर्य
सततं=निरन्तर
रक्षणीये=रक्षण करिवेयोग्य हें
तथा=एसें ही
आश्रयः=आश्रय
(रक्षणीय:=रक्षण करिवेयोग्य हे)
तु=ओर, हरि:=श्रीकृष्ण
निजेच्छात:=निज इच्छासों
सर्वं=सबकछु, करिष्यति=करेंगे
(इति=ये), विवेक:=विवक

भावार्थ : विवेक ओर धैर्य सर्वदा राखने तेसें. ये दोउनकी सिद्धिकेलिये आश्रयहु सर्वदा राखनो. प्रभु अपनी इच्छासूं सबकछू करेंगे ये विवेक हे.

टीका : प्रभु 'हरि' हें अर्थात् भक्तनके दु:ख तथा पाप कों हरिवेवारे हें एसें समजनो सो प्रथम विवेक हे. इतनें, अपने प्रयत्नसूं सिद्ध होय एसो लौकिक ओर भगवत्सेवामें उपयोगमें आवे एसो अलौकिक सब भगवान् ही सिद्ध करगें तासूं सेवा छोड़िके अपनो प्रयत्नादिक नाहीं करनो सो प्रथम विवेक हे. येहि नवरत्नमें "चिन्ता काऽपि न कार्या" या श्लोकमें निरूपण कियो हे.

तहां शङ्का होय जो प्रार्थना किये विना भगवान् केसें सिद्ध करेगें? तहां कहत हें जो प्रभु अपनी इच्छासूं करेगें अथवा अपने भक्तनकी विकाररहित इच्छा होयगी तो भक्तनकी इच्छाप्रमाण करेगें एसें समझनो. तासूं अपने भक्तनकु जो इच्छित हे तामें विकार नाहीं होयगो तो भक्तनको अभीष्ट प्रभु अपनी इच्छासूंही सिद्ध करेगें, प्रार्थनाकी अपेक्षा नाहीं राखेगें. तातें प्रार्थना नाहीं करनी ये द्वितीय विवेक हे. येहि "सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा" ये नवरत्नके श्लोकमें निरूपण कियो हे॥1॥

वारंवार प्रार्थना क्यों नाहीं करनी? एसें जानिवेकी इच्छा होय तहां कहत हें:

प्रार्थिते वा तत: किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात्॥
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च॥2॥

स्वाम्यभिप्रायसंशयात्=
स्वामिके अभिप्रायमें संशय होयवेसूं
प्रार्थिते=प्रार्थना करिवेसूं
वा=हु, तत:=वासूं
किं=क्या, स्यात्=होय
हि=निश्चितरूपसूं सर्वत्र=सब ठिकानें
च=ओर, सर्वं=सब कछु
सर्वसामर्थ्यं=सब सामर्थ्य
तस्य=वाको, एव=ही

भावार्थ : प्रार्थना कियेते कहा होय? कछुहु न होय. क्यों? जो स्वामिको अभिप्राय कहा हे सो अपन् नाहीं जाने हें. सब स्थलनमे सर्व वस्तु भगवानकीही हे ओर जो वस्तु न होय सो सिद्ध करिवेको सामर्थ्यहु भगवानमे हे.

टीका : प्रार्थना कियेते कहा होय? कछु हु न होय. क्यों? जो स्वामिको अभिप्राय कहा हे सो अपन नाहीं जाने हें. भगवान् अपनी इच्छासूंहि देयंगे, इच्छा नाहीं होयगी तो नाहीं देयंगे; तासूं प्रार्थना करिके स्वधर्मकी हानि क्यों करनी? एसें समजनो सो तृतीय विवेक हे.

सब स्थलनमे सर्व वस्तु भगवानकीही हे ओर जो वस्तु न होय सो सिद्ध करिवेको सामर्थ्यहु भगवानमे हे. तेसें जाकु जो वस्तु अपेक्षित हे सो साक्षात् अथवा परम्परासूं प्रभुही देत हें परन्तु जीव अज्ञानी हे सो "मेनें यत्न करिके सिद्ध करी" एसें मानत हे. तासूं जीवकुं एसे समजनो जो "में शरण नाहीं गयो हतो तब मेरी पास जो वस्तु हती सोहु प्रभूनने ही दीनी हती, तब अभी तो प्रभूनने मेरो अङ्गीकार कियो हे तासूं प्रार्थना किये विनाही प्रभुही देयगें" एसो निश्चय करिके सेवाही करनी; परन्तु सेवा छोड़िके अपनो प्रयत्नादिक नाहीं करनो सो चतुर्थ विवेक हे॥2॥

यहां एसी शङ्का होय जो कछुक समय सेवा करनी ओर बाकीके समयमें दूसरो कार्य करे तो कहा दोष हे? तहां कहत हें:

अभिमानश्च सक्त्याज्य: स्वाम्यधीनत्वभावानत्॥

स्वाम्यधीनत्वभावनात्=स्वामिके अधीन होयवेकी भावनासों
अभिमान:=अभिमान, च=तो
सक्त्याज्य:=आछि भांतिसों त्यागवे योग्य हे

भावार्थ : स्वामिके आधीन सब हें एसी भावनासूं वासना सहित अभिमानको त्याग करनो.

टीका : इतनें, याको अभिप्राय यह हे के समर्पण भये पीछे देहादिकनमे अपनेपनको अभिमान नाहीं राखनो. क्यों? जो देहादिकनमे स्वतन्त्रताकरिकें अभिमान होय तो तिनमें देह तथा इन्द्रियन् को विनियोग होय. तासूं तिन देहादिकनमे सूं अभिमानको त्याग करिके देहादिक सब भगवानमे आर्पित किये हें तातें सब भगवानके आधीन हें एसी भावना करनी. ओर जब एसी भावना भयी तब केवल भगवानके आधीनपनेको अनुसन्धान सर्वदा रहे. इतनें, भगवत्कार्य विनाके ओर सब कार्यनमे दोषकी स्फूर्ति होयगी. ताकरिकें अपने स्वामी जो भगवान् तिन सम्बन्धि कार्यनमे हि स्वधर्मपनेकी स्फूर्ति होयगी. तब वह वैष्णव प्रभुसेवाहि करेगो, दूसरेमें दोषरूप बुद्धि होयवेसूं दूसरो कार्य करेगो नाहीं ये पंचम विवेक हे. येहि नवरत्नमें “निवेदनन्तु स्मर्तव्यम्” या श्लोकके विवरणमें श्रीगुसांईजीने निरूपण कियो हे. अपनो अङ्गीकार जेसें प्रभूनने कियो हे तेसें स्त्री, पुत्रादिक सबनको अङ्गीकार अपने सङ्गहि प्रभूनने कियो हे तासूं तिनकेलियेहु अपनो प्रयत्नादिक नाहीं होयगो. येहि नवरत्नमें “चिन्ता काऽपि” या श्लोकके व्याख्यानमें “लौकिकी तथा अलौकिकी चिन्ता छोड़नी” एसी पंक्तिसूं निरूपण कियो हे.

विशेषतश्चेद् आज्ञा स्याद् अन्त:करणगोचर:॥3॥
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात्॥

अन्त:करणगोचर:=अन्तःकरणमें जानिवेमें आवे एसी

चेत्=जो, विशेषत:=विशेषप्रकारकी
आज्ञा=आज्ञा, स्यात्=होय
तदा=तब
विशेषगत्यादि=विशेष गति आदि
कर्तव्यम्=करनो, तु=ओर
दैहिकात्=देहसम्बन्धसूं
भिन्नं=अलग
(भाव्यम्=करनो)

भावार्थ : सेवा करत अन्त:करणसूं जानिवेमें आती कोउ विशेष भगवदाज्ञा होय तो तदनुसार करनो. एसी विशेष आज्ञाहु अपने देहादिकके सम्बन्धसूं भिन्न होय तबही वा आज्ञाप्रमाण विशेष करनो.

टीका : एसें श्रीआचार्यजी महाप्रभूनकी आज्ञानुसार विवेकादिकन्सूं सेवा करतो होय तामें प्रभूनकु अपेक्षित वस्तु होय ताकी आज्ञा श्रीआचार्यजीकी आज्ञासूं विशेष होय तो प्रभूनकी आज्ञाप्रमाण विशेष करनो. ओर यदि विशेष आज्ञा होय नाहीं तो श्रीआचार्यजीकी आज्ञानुसारहि सेवा करनी.

प्रभूनकी विशेष आज्ञा केसें जानिवेमें आवे? एसी शङ्का होय तहां कहत हें जो (प्रभु अन्त:करणगोचर हें इतनें अन्तर्यामी हें तासूं) अन्त:करणमें जानिवेमें आवे एसी आज्ञा होय. अर्थात् स्वप्नादिद्वारा प्रभु जतावें अथवा भक्तनके अन्त:करणमें प्रभु बिराजत हें तासूं आत्मापनेसूंहु भक्तनकु स्फूर्ति रहे हे इतनें भगवानकी आज्ञाहु जानिवेमें आवत हे.

भगवानके स्वरूप तथा लीलाके सम्बन्धमें प्रभूनकी विशेष आज्ञा होय तो ताप्रमाण सेवामें कृति करनी, नाहीं तो श्रीआचार्यजीकी आज्ञानुसारही करनी. प्रभूनकी विशेष आज्ञाहु यदि अपने देहादिकके सम्बन्धसूं भिन्न होय तब ही वा आज्ञाप्रमाण विशेष करनो. इतनें, स्त्रीके सम्बन्धको अथवा पुत्रादिकके विवाहादिकके सम्बन्धको जो कार्य होय तामें विशेष आज्ञा होयवेको सम्भवहु नाहीं सो मूलमें 'भिन्न'पदसूं जतायो हे. येहि निरूपण नवरत्नमें "सेवाकृतिर् गुरोर् आज्ञा बाधनं वा हरीच्छया" या श्लोकमें

कियो हे. तासूं समर्पण किये पीछे तदीयपनेको अनुसन्धान राखिके प्रभूनके प्रसादपनेसूं जितनो आवश्यक होय तितनोही लौकिक सब करनो परन्तु आग्रह करिके विशेष नाहीं करनो ये छठो विवेक हे.

सेवामें धन प्रभृति चहिये सो न होय तब करज करिके सामग्री प्रभृति सब करिवेको आग्रह राखनो के नाहीं? एसें जानिवेकी इच्छा होय तहां कहत हें:

आपद्गत्यादिकार्येषु हठस् त्याज्यश्च सर्वथा॥4॥
अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माऽग्रदर्शनम्॥
विवेकोऽयं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते॥5॥

च=ओर, आपद्गत्यादिकार्येषु=
आपत्ति आय पड़े एसे कार्यमें
सर्वथा=सब प्रकारसों
हठ:=हठ, त्याज्य:=त्याज्यहे
सर्वत्र=सब जगह
अनाग्रह:=आग्रहको त्याग
(कर्तव्य:=करिवेयोग्य हे)
धर्माऽधर्माऽग्रदर्शनं=
धर्म ओर अधर्म को अग्रदर्शन
(कर्तव्यं=करनो)
अयं=ये, विवेक:=विवेक
समाख्यात:=आछी भांतिसों कह्यो
तु=अब तो, धैर्यं=धैर्य
विनिरूप्यते=विशेषरूपसूंनिरूपणकरेहें

भावार्थ : आपत्ति प्राप्त होय तब हठ सर्वथा छोड़नी. आग्रहको हु त्याग करनो. सर्वत्र धर्म और अधर्म को पूर्वविचार करनो. या प्रकारसूं विवेकको आछी भांतिसूं व्याख्यान कियो. अब धैर्यको विस्तारसूं निरूपण करत हों.

टीका : आपत्ति प्राप्त होय तब प्रथम जो सामग्री प्रभृतिको नियम बांध्यो होय ताही प्रमाण करिवेकी हठ सर्वथा छोड़नी. इतनें, करज करिके नियमानुसार सब करनोही

एसी हठ सर्वथा नाहीं करनी किन्तु विना प्रयत्न जो मिले तामें सन्तोष राखिके तितनोहि प्रभूनको अर्पण करनो, विशेषको आग्रह नाहीं राखनो. क्यों? जो पुष्टिमार्गकी मर्यादासूं प्रभूनकु भक्त जो समर्पेगो सो प्रभु साक्षात् अङ्गीकार करेंगे. जहां प्रभुसम्बन्धि कार्यमेंहु हठ नाहीं करनी तहां लौकिक कार्यमें हठ सर्वथा नाहीं करनी तामें तो कहा कहेनो? ये सप्तम विवेक हे.

वैदिक कार्यमें केसे करनो? एसें जानिवेकी इच्छा होय तहां कहत हें जो स्मार्त्त तथा वैदिक सर्व स्थलनमे आग्रह नाहीं करनो. इतनें, भगवत्सेवाकुं छोड़िकेहु स्मार्त्त-श्रौतादिक धर्मनको आचरण करनो एसो आग्रह सर्वथा नाहीं करनो. किन्तु भगवानकी आज्ञासूं प्राप्त भयो जो आवश्यक कर्म हे सो सेवाके अनवसरमें करनो. मूलमें 'च'कार हे तासूं साक्षात् भगवानको सम्बन्ध जामें न होय एसे सब कार्यनमे अनाग्रहही राखनो ये अष्टम विवेक हे.

वैदिक धर्मनमे अनाग्रह केसें होय? एसें जानिवेकी इच्छा होय तहां कहत हें जो धर्म ओर अधर्म को अग्रदर्शन करनो. इतनें, परिणामको विचार करनो. सो या प्रमाण के जेसें श्रौत-स्मार्तादिक धर्म, ओर ये नाहीं करिवेतें पाप लगे सो अधर्म, ताको परिणाम विचारिके जाके परिणाममें अधर्म दीखवेमें आवे सो नाहीं करनो. जेसें स्मार्त्त-श्रौत धर्म ओर भगवद्धर्म, तिनमें उत्तरोत्तर बलवान हे. तासूं श्रौत (वैदिक) धर्म करिवेमें स्मार्त्त धर्मको त्याग होय तामें दोष नाहीं हे. तेसें भगवद्धर्म करिवेमें स्मार्त तथा श्रौत धर्मको त्याग होय तो दोष* नाहीं हे. क्यों? जो सबसूं अधिक बलबारो भगवद्धर्म हे एसें विचारिके स्मार्त्त तथा श्रौत धर्मनमे आग्रह नाहीं करनो ये नवम विवेक हे. भगवानकी आज्ञा हे जो "कर्म करनो" ताकुं या मार्गमें प्रमाण नाहीं माने हें एसी काहूकुं शङ्का होय सो नाहीं होयवेकेलिये भगवद्भक्तनकु कर्मादिक करनो हे एसें जाननो.

एसें विवेक विस्तारसूं कह्यो. अब धैर्यको निरूपण विस्तारसूं करत हें. इतनें, नवरत्नमें "चित्तोद्वेगं विधायापि" ये श्लोकमें धैर्यको निरूपण कियो हे. परन्तु अब विस्तारसूं निरूपण करत हें॥5॥

टिप्पणी : *यहां स्मार्त्त तथा वैदिक धर्मको त्याग होय तामें दोष नाहीं हे एसें कहिवेको अभिप्राय एसो हे के जो भक्त सर्वकाल भगवद्धर्ममें रहतो होय ताकुं स्मार्त्तादिक धर्ममें जितनो समय जाय तितनो समय भगवद्धर्म छूटे तब एसे भक्तके मनमें क्लेश

होय. तासों स्मार्त्तादिक धर्मको फल होय नाहीं. ओर भगवद्धर्म छोड़िकें स्मार्त्तादिक धर्म करे तोहु ताको फल न होय ओर उलटो पाप लागे. ता करिके निरन्त भगवद्धर्ममेंही मग्न जो रहतो होय ताकुं स्मार्त्तादिक धर्म छूट जाय तो हरकत नाहीं.

अब धैर्यको लक्षण कहत हें:

त्रिदु:ख-सहनं धैर्यम् आमृते: सर्वत: सदा।
तक्रवद्-देहवद्-भाव्यं जडवद्-गोपभार्यवत्श्रुइ*॥6॥

आमृते:=मरण पर्यन्त सर्वत:=सब प्रकारसों
सदा=निरन्तर
त्रिदु:खसहनं=तिनो प्रकारके
दु:खनकु सहन करनो, धैर्यं=धैर्य
तक्रवत्=छासकी न्यांई
देहवत्=देहकी न्यांई
जडवत्=जड़की न्यांई
गोपभार्यवत्=ग्वालेकी पत्निकी न्यांई
भाव्यम्=भावना करनी

भावार्थ : मरण जेसो कष्ट आय जाय तहां तांई अथवा आयुष्य रहे तहां तांई आधिभौतिकादिक तीन्यो प्रकारके दु:खनको सब तरेहसूं सदा सहन करनो ताको नाम 'धैर्य' हे.

टीका : इतनें, देहसम्बन्धी जो दु:ख होय सो आधिभौतिक, कामादिकन्सूं इन्द्रियसम्बन्धि जो दु:ख होय सो आध्यात्मिक ओर जीवमें कितनोक धैर्य हे एसें परीक्षाके अर्थ अथवा दु:ख भुगतवेको जीवको प्रारब्ध होय ताके अर्थ भगवदिच्छासूंहि दु:ख प्राप्त होय हे सो अथवा प्रभूनकु विनियोग करिवेकेलिये जा वस्तुकी अपेक्षा होय सो वस्तु मिलिवेमें विलम्ब होय ता करिकें जो दु:ख होय सो आधिदैविक दु:ख

समजनो. ये तीन्यो प्रकारके दु:ख होंय तब देह, इन्द्रिय ओर चित्त व्याकुल होंय. तब सेवा सिद्ध न होय. तासूं सेवाकी सिद्धिकेलिये तीन्यों प्रकारके दु:खकों सहन करनो. सोहु मरण पर्यन्त कष्ट आय परे तहां तांई अथवा आयुष्य रहे तहां तांई सहन करनो. सोहु एक प्रकारके अथवा दोय प्रकारके दु:खकों सहन करनो एसें नाहीं किन्तु सब तरेहके दु:खनको सहन करनो.

तामें दृष्टान्त कहत हें जो तक्र (छाछ)मेंसूं नवनीत (माखन) निकासले हें तब तक्र सार रहित होय जाय हे. पिछे यदि छाछ ढुल जाय तो जेसें वामें अभिमान नाहीं होयवेसूं दु:ख नाहीं होय हे तेसें देहके सम्बन्धीनमे सूं तक्रकिसीन्यांई अभिमान छोड़िवेसूं वे अपमानादिक करेंगें ताको दु:ख नाहीं होयगो एसे अभिप्रायसूं देहवारेनकु वाके सम्बन्धी जो स्त्रीपुत्रादिक तिनमें तक्रकी भावना राखिवेको कह्यो हे. इतनें, देहादिकन्सूं जो भगवत्सम्बन्धि कार्य होय सोहि नवनीत (माखन) हे एसें समजके भगवत्सम्बन्धि कार्यनमे हि नवनीतवत् अभिमान राखनो.

एसें आधिभौतिक दु:ख सहन करिवेमें दृष्टान्त कहिके आध्यात्मिक दु:ख सहन करिवेमें दृष्टान्त कहत हें जो काम-क्रोधादिकन्सूं इन्द्रिय सम्बन्धि जो दु:ख होय हे तामें जडभरतकी भावना करनी. इतनें, जडभरतकुं जेसें भगवद्भावकरिकें आविष्ट सब इन्द्रिय भयी हती तासूं दु:खको भान नाहीं हतो ओर जडपनो भयो हतो तेसें सेवामें जो प्रवृत्त भयो होय सो सब इन्द्रिय भगवत्सम्बन्धि हें एसो अनुसन्धान राखिके भगवानमे ही विनको विनियोग करे तब निरन्तर प्रभूनकी सेवा तथा गुणनके कीर्तन-स्मरणादिकनको ही आवेश रहे इतनें, काम-क्रोधादिकनको दु:ख न होय एसे अभिप्रायसूं जडकी भावना करिवेको कह्यो हे.

एसें आध्यात्मिक दु:ख सहन करिवेमें दृष्टान्त कहिके आधिदैविक दु:ख सहन करिवेमें दृष्टान्त कहत हें जो प्रारब्धके भोग भुगतायवेकी प्रभूनकी इच्छा होय अथवा परीक्षाके अर्थ प्रभु फल देवमें विलम्ब करें तब गोपभार्यानकी भावना करनी. इतनें, जेसें अन्तर्गृहगतानकु सकामबुद्धि हती तासूं दु:ख भुगतवेको प्रारब्ध हतो सो प्रभूनके सङ्ग रासमें मिलवेके फलके विलम्बमें कारण भयो. तातें गृहमेंसूं निकसिवेको रस्ता मिल्यो नाहीं तब नेत्र मूंदिके प्रभूनको ध्यान कियो तब प्रभूनके विरहको दु:ख एसो भयो जो कोटान्-कोटि वर्ष तांई कुम्भीपाकादिक नरक भुगतवेमें जितनो दु:ख होय

तितनो दु:ख विनकुं भगवानके विरहसूं एक क्षणमें भयो. सो भुगत्यो तब पापनकी निवृत्ति होयवेसूं ध्यानमें प्रभु पधारे तब प्रभूनको आश्लेष कियो. तामें एसो सुख भयो जो कोटान्-कोटि वर्ष तांई स्वर्गादिक भुगवतवेमें जितनो सुख होय तितनो सुख भगवानके आश्लेषसूं एक क्षणमें भयो. ता पाछें सगुण देहको परित्याग भयो तब भगवानकी प्राप्ति भई. तेसें मोकुंहु प्रारब्धभोग भये पिछे भगवान् फल देहिगें एसे धैर्यसूं दु:ख सहन करनो. तेसें जिनको निर्गुण देह हतो तिनकुं प्रतिबन्ध न भयो ओर भगवानकी पास पहोंचे तब प्रभूनने घर जायवेकेलिये कितनेक वचन कहे ता समय यज्ञपत्निवत् अन्यथाभाव विनको न भयो किन्तु जो इच्छा मनमें हती सो पूर्ण नाहीं होयवेको सम्भव भयो ताके दु:खकों सहन करिके धैर्यसूं भक्तिमार्गके अनुसार उत्तरही दियो, परन्तु गृहगमनकी इच्छाहु न भयी. तेसेंही साम्प्रतहु विलम्बजनित दु:खकों सहन करिके निरवधि स्नेहसूं मार्गकी मर्यादामें रहिवेसूं भगवान् फल देहिगें एसो धैर्य राखिके दु:खकों सहन करनो॥6॥

टिप्पणी : हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदंष्ट्रं देशान्तरे विधिवशाद् गणिकाऽस्मि जाता।
पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रम्॥
इति आख्यायिका अत्र अनुसन्धेया.

अब इहां तो आधिभौतिक दु:ख सहन करिवेमें देहादिकनके सम्बन्धी जो भार्या-पुत्रादिक अपमानादिक करें ताकुं सहन करिवेको कह्यो हे ओर निबन्धमें स्त्रीप्रभृति अनुकूल होंय तो विनकी पास सेवादिक करावनो; उदासीन होंय तो अपने हाथसूं करे ओर प्रतिकूल होंय तो गृहको त्याग करे एसें कह्यो हे. परन्तु तिरस्कारादिकन्सूं भार्यादिक अपनकुं दु:ख दे नाहीं तथापि त्याग ही करनो कहा! एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

प्रतीकारो यदृच्छात: सिद्धाश्चेन् नाग्रही भवेत्॥
भार्यादीनां तथाऽन्येषाम् असतश्चाक्रमं सहेत्॥7॥

यदृच्छात:=दैव इच्छासों
चेत्=यदि
प्रतीकार:=प्रतिकार
सिद्ध:=होय सके तो

आग्रही=आग्रहवारो
न=नाहीं
भवेत्=होय
भार्यादीनां=पत्नि आदिके
च=ओर
अन्येषां=अन्यनके
च=ओर
असत:=असत् लोगनके
आक्रमं=तिरस्कार/पीड़ाकुं
सहेत्=सहन करे

भावार्थ : भगवदिच्छासूं दु:खकी निवृत्तिको उपाय सिद्ध होय जाय तो गृहको त्याग करिवेमें आग्रहवारो न होय. एसेंही स्त्री प्रभृतीनको , दूसरेनको ओर असत्पुरुषनको हु तिरस्कार सहन करे.

टीका : इतनें स्त्री प्रभृति भगवदिच्छासूं अनुकूल अथवा उदासीन होंय तो विनको त्याग करिवेमें आग्रहवारो न होय. अनुकूल होंय तो विनकीपास प्रभूनकी सेवा करावे ओर उदासीन होंय तो स्वयं ही सेवा करे. तथापि विनको योग-क्षेम तो अवश्य करनो, त्याग नाहीं करनो. सेवामें प्रतिकूल होयके प्रतिबन्ध करें तोही त्याग करे, नाहीं तो त्याग सर्वथा न करे. क्यों? जो हठकरिकें विनको त्याग करे तामें स्त्री प्रभृतीनकु क्रोधको आवेश होय तब अपनो द्वेष करे. तासूं सेवामें प्रतिबन्ध होय तब सेवा बन सके नाहीं. सो सेवामें प्रतिबन्धक आपही भये. तासूं आग्रहसूं सर्वथा त्याग नाहीं करनो. ये आधिभौतिक दु:खके प्रतिकारमें व्यवस्था कही.

अब आध्यात्मिक दु:खके प्रतिकारमें व्यवस्था कहत हें जो सब इन्द्रियनकु अपने-अपने भोग्यवस्तुके त्यागमें दु:ख होय हे. सो भगवदिच्छासूं प्रथमसूं हि इन्द्रियनकी प्रवृत्ति विषयमें न होय तब विनको त्याग करिवेमें आग्रहवान् न होय. क्यों? जो सेवामें अन्तराय नाहीं होय हे. ओर प्रभूनकेलिये माला, चन्दन प्रभृति तथा भोग-सामग्री अवश्य अपेक्षित हे. सो प्रभूनने अङ्गीकार किये पीछें महाप्रसाद दियो हे सो अपने सौभाग्यरूप हे एसें जानिके विनको उपभोग करिवेमें बाह्य तथा भीतर की शुद्धि होय

हे. तासूं भगवद्धर्ममें आवेश होय हे. तातें विनको त्याग नाहीं करनो. क्यों? जो 'सेवाफल'ग्रन्थमें सेवाके तीन फल लिखे हें तामें ये अलौकिकभोग मुख्यफलमें गिन्यो हे.

एसें आध्यात्मिक दुःखके प्रतिकारमें व्यवस्था कहिके आधिदैविक दुःखके प्रतिकारमें व्यवस्था कहत हें जो प्रारब्धभोग भये पीछे अथवा प्रभु परीक्षाकेलिये विलम्ब करत होंय सो परीक्षा भये पीछे कृपा करिके प्रभु सेवोपयोगि धनादिक साक्षात् अथवा परम्परासूं देवेकी इच्छा करें तब विनको त्याग करिवेमें आग्रहवारो न होय किन्तु भगवान्ने अपने उपभोगकेलिये यह दियो हे एसें मानिके सब भगवान्के अर्थ ही उपयोग करनो, स्वार्थोपयोग नाहीं करनो.

ऊपर आधिभौतिकादिक दु:खकों सहन करिवेको कह्यो हतो. ताकी हकीकत लिखिके अब देहादि सम्बन्धि दु:ख देवेवारे कोन? एसें जानिवेकी इच्छा होय तहां कहत हें जो स्त्री प्रभृति 'भार्या'दिक कहे जाय हें. तासूं भरण-पोषण करिवेमें अपने समान हें. तिनकों भरण-पोषणही अपेक्षित हे, धर्म अपेक्षित नाहीं हे. इतनें, देहादिक सब वस्तून्को अपने विषे विनियोग होय वाको नाम 'भरण-पोषण' हे. सो न होय तब वे अतिक्रम करें ताकों सहन करनो, परन्तु क्रोधादिक करनो नाहीं. तेसें अपनें सेवा पधरायी न होय तब सबन्के सङ्ग मिलनादिकको जेसो व्यवहार करते होंय तेसो व्यवहार सेवा पधाराये पीछे न रहे तब मित्रादिक तथा ओरहु लोक ईर्ष्या करिके अतिक्रम करें ताकों सहन करनो. अथवा अपने भ्राताप्रभृति बन्धुलोग वैष्णव होंय तथापि बन्धुपनेसूं धनादिकके विभागादिकन्मे द्वेष होयवेसूं वेहु अतिक्रम करें तो वाकों सहन करनो. तेसें अपने दास होंय, सो स्त्री-पुत्रादिकन्कीसी नांई पोषण करिवेयोग्यमें अन्तर्भूत हें, सोहु विनके सङ्गसूं अतिक्रम करें तो वाकों सहन करनो. ये सब धर्मविरोधी कहे हें. ओर मूलमें 'च'कार हे तासूं धर्मके अनुरोधी शिष्य-भक्तादिक होंय वेहु प्रमादसूं जीवस्वभावकरिकें अतिक्रम करें तब, यह प्रारब्धादिक भोग हे एसी भावनाकरिकें, धैर्य राखिके ताके दु:खकों सहन करनो, परन्तु विनके उपर क्रोधादिक नाहीं करनो. क्यों? जो शिष्य-भक्तन्कु हु अपनेही प्रभुसम्बन्ध करवायो हे, फिर विनकी उपर क्रोध करिवेमें विनको अनिष्ट होय. भगवदीयन्को यह धर्म नाहीं हे जो अपनें जिनको अङ्गीकार कियो होय तिनको अनिष्ट करें. तासूं विनके अतिक्रमकों सहनही करनो॥7॥

एसें सेवाके प्रतिबन्धकपनेसूं स्त्री प्रभृतिनके अतिक्रमणकुं सहन करिवेको निरूपण करिके सेवाके प्रतिबन्धकपनेसूं भोगको त्याग करिवेमेंहु तत्तद् इन्द्रियजनित आध्यात्मिक दुःख होय ताकों सहन करिवेको प्रकार कहत हें:

स्वयम् इन्द्रियकार्याणि काय-वाङ्-मनसा त्यजेत्॥
अशूरेणाऽपि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्य-भावनात्॥8॥

स्वयं=आपु
इन्द्रियकार्याणि=इन्द्रियनके कार्यनकु
काय-वाङ्-मनसा=काया-वाणि-मनसूं
त्यजेत=त्यागदे, अशूरेण=असमर्थद्वारा अपि=हु, स्वस्य=आपुनी
असामर्थ्यभावनात्=सामर्थ्य
विहीन होयवेकी भावनासों
कर्तव्यम्=करनो

भावार्थ : काया, वाणी ओर मन करिकें अपने भोगकेलिये इन्द्रियनके कार्यनकु छोड़ने. दुःख सहन करिवेमें अपनी शक्ति न होय तोहु अपनो सामर्थ्य नाहीं हे एसी भावना करिके दुःख सहन करनो.

टीका : इतने, अपने भोगकेलिये इन्द्रियनको कार्य करे तामें सेवामें प्रतिबन्ध होय तासूं कायिक, वाचनिक ओर मानसिक इन्द्रियनके कार्यनकु छोड़ने. इतने, प्राकृतिक विषयमें इन्द्रियनकी प्रवृत्ति भयी होय सो छुड़ायके अलौकिकमें प्रवृत्ति करावनी. तामें जब तांई अलौकिकमें प्रवृत्ति भयी न होय तब तांई प्राकृतिक विषय छुड़ायवेमें दुःख होय ताकों सहन करनो. ओर प्रारब्धभोगकेलिये अथवा परीक्षाकेलिये प्रभु विलम्ब करते होंय तब इच्छित वस्तूनकी प्राप्ति होय नाहीं. तब वाको दुःख होय सो सहि सक्यो जाय नाहीं. क्यों? जो एसो धैर्य होय नाहीं. जेसें, जाकु नित्य कछुक द्रव्य मिले तब निर्वाह होय एसो दरिद्र होय ताकुं एक दिना कछु मिले नाहीं तब सवेरमें लेवे (खावे)को कछु होय नाहीं तब दुःख होय. परन्तु वामें (वो दरिद्र जेसें अपनो असामर्थ्य बिचारिके वा दुःखकों सहन करत हे एसें भक्तहु) अपनो सामर्थ्य नाहीं हे एसी भावना करिके दुःखकों सहन करे. येही हकीकत 'नवरत्न'में "चित्तकों उद्वेग होय तबहु भक्तनके दुःखके हरिवेवारे हरि जो-जो करेंगे सो एसी ही विनकी लीला हे एसें

मानिके चिन्ताकूं शीघ्र ही छोड़े" एसी जो आज्ञा करी हे वाको अनुसन्धान करिके धैर्य ही राखनो॥9॥

अपन्सूं जो दुःख निवृत्त होय सके एसो होय सोहु सहन होय सके नाहीं तब जहां अपनो सामर्थ्य ही न होय एसो दुःख होय ताको सहन तो सुतरां होय सके ही नाहीं, तब अशक्य उपदेश क्यों कर्यो हे! एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वम् आश्रयतो भवेत्॥
एतत् सहनम् अत्रोक्तम् आश्रयोऽतो निरूप्यते॥9॥

अशक्ये=अशक्यमें
हरिः=श्रीकृष्ण, अस्ति=हें
एव=ही(यतः=जाके)
आश्रयतः=आश्रयसूं
सर्वं=सब कछु
भवेत्=होय हे
अत्र=यहां, एतत्=ये
सहनं=धैर्य, उक्तं=कह्यो
अतः=यासूंअब, आश्रयः=आश्रयको
निरूप्यते=निरूपण करें हें

भावार्थ : जब अपनी अशक्ति होय तब हरिही रक्षक हें एसें आश्रय राखे तो सब सिद्ध होय. यह धैर्यको स्वरूप कह्यो. अब आश्रयको निरूपण करत हें.

टीका : इतने, जो जीव सेवामें प्रवृत्त भयो हे ताकूं विवेक-धैर्यादिकनकी स्थितिमें शक्ति न होय तब हरि ही शरण हें एसी भावना करनी. क्यों? जो हरि भक्तनके सर्वदुःखहर्ता हें सो कृपा करिके सब सम्पादन करेंगे. तासूं कहत हें जो आश्रयसूं सब सिद्ध होय. इतने, जो अशक्य होय सोहु हरिके आश्रयसूं सब सिद्ध होय. ओर आश्रय न होय तो अपन्सूं शक्य होय सोहु सिद्ध न होय. अर्थात् निःसाधनपनेसूं शरणागति होय तब प्रभून्की कृपासूं विवेक और धैर्य एकहि समयमें सब सिद्ध होय. एसें धैर्यको स्वरूप निरूपण करिके, आश्रयसूं सब सिद्ध होय एसें कह्यो हे तासूं, आश्रयको निरूपण करत हें.

प्रथम समुदायकरिकें आश्रयको स्वरूप कहत हें:

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः॥
दुःख-हानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे॥10॥
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चाति क्रमे कृते॥
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः॥11॥

ऐहिके=या लोकमें
पारलोके=परलोकमें, च=ओर
दुःखहानौ=दुःखकी हानिमें
तथा=ओर
पापे=पापमें, भये=भयमें
भक्तद्रोहे=भक्तकेद्रोह/अपमानमें
भक्त्यभावे=भक्तिके न होयवेमें
च=ओर, भक्तैः=भक्तद्वारा
अतिक्रमे=अतिक्रमण
कृते=करिवेपें, वा=अथवा
अशक्ये=अशक्य, वा=अथवा
सुशक्ये=सहजतासों शक्यमें
सर्वथा=सब प्रकारसों
हरिः=श्रीकृष्ण, शरणम्=शरण हें

भावार्थ : या लोकमें ओर परलोकमें सब स्थलनमे हरि शरण हें. दुःखकी हानि, पापके निवारणमें, भयमें, कामके अर्थके पूरणमें, भक्त अपनो द्रोहकरे अथवा अपनसूं भक्तको द्रोह होय जाय तामें, भक्तिके अभावमें, भक्त अतिक्रम करे तामें, अशक्यमें और सुशक्यमें सर्वथा हरि ही शरण हें.

टीका : इतने, भक्तिमार्गमें जाको अङ्गीकार भयो हे ओर सेवामें प्रवृत्त भयो हे ताकों सेवा सिवाय दूसरो कर्म करनो सो स्वधर्म नाहीं हे. तासूंही ऐहिक तथा पारलौकिक साधन करे नाहीं. क्यों? जो तामें सेवामें अन्तराय होय. तासूं ऐहिक तथा पारलौकिक की सिद्धिकेलिये हरिके शरणकीही भावना करनी, परन्तु सेवा छोडिके दूसरो साधन

नाहीं करनो. एसें समुदायकरिकें आश्रयको स्वरूप कहिके अब जूदे-जूदे भेदसूं आश्रयको स्वरूप कहत हें:

भक्तिमार्गीय जीव सेवामें प्रवृत्त भयो होय ताकूं देह-इन्द्रियादि सम्बन्धि आधिभौतिकादिक दुःख होय तासूं चित्तमें उद्वेगादिक नाहीं होयवेकेलिये शरणकीही भावना करनी. तेसें भक्तिमार्गमें प्रवृत्तभयेकी पहेले प्रमादसूं कछु पाप भयो होय अथवा सेवामें प्रवृत्त भये पीछे देह तथा इन्द्रियादिकन्सूं भगवदपराधादिरूप पाप होय जांय तो ताकी निवृत्तिकेलिये शरणकीही भावना करनी, प्रायश्चितादिक करनो नाहीं. क्यों? जो प्रायश्चित्तादिक करिवेसूं शरणधर्म जातो रहे. एसें राजा तथा चौरादिकन्सूं किंवा पापादिकन्सूं भय होय तामेंहु शरणकी भावना करनी. तेसें इच्छित कामना होय तिनके जो पदार्थ होंय तिनकी प्राप्तिमें शरणकी भावना करनी. तेसें प्रमादसूं भक्तको द्रोह होय जाय अथवा भक्त अपनो द्रोह करे तो तामेंहु शरणकी भावना करनी. तेसें सेवामें प्रवृत्त भयो होय परन्तु भगवत्स्वरूपमें स्नेह उत्पन्न न होय ताकेलिये भक्त अतिक्रम करे अथवा तेसीही कोइ धर्मके विषयमें भक्त अतिक्रम करे तब अपनो दोष विचारिके शरणकी भावना करनी. तेसें अपन्सूं होय सके नाहीं एसे कार्यमें अथवा अपन्सूं होय सके ऐसे कार्यमेंहु शरणकीही भावना करनी. अपने सामर्थ्यसूं यह कार्य भयो हे एसो अभिमान करे तो शरणधर्म जाय. तासूं सर्वात्माकरिके तदीयपनेको अनुसन्धान राखीके हरिशरणकीही भावना करनी॥10-11॥

अहङ्कारे कृते चैव पोष्य-पोषण-रक्षणे॥
पोष्यातिक्रमणे चैव तथाऽन्तेवास्यतिक्रमे॥12॥
अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्थे शरणं हरिः॥
एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्॥13॥

अहङ्कारे कृते=**अहङ्कार** करिवेपे
च=ओर, एव=निश्चितरूपसूं
पोष्यपोषणरक्षणे=अपनेपे निर्भरके पोषणमें च=ओर, एव=निश्चितरूपसूं
पोष्यातिक्रमणे=पोष्यकेद्वारा
होते अतिक्रमणमें
तथा=ओर, अन्तेवास्यतिक्रमे=
शिष्यकेद्वारा होते अतिक्रमणमें
अलौकिकमनःसिद्धौ=मनकी

अलौकिकताकी सिद्धिकेलिये
सर्वार्थे=सब अर्थमें
हरिः=श्रीकृष्ण
शरणं=शरणहें, एवं=यों
सदा=निरन्तर
चित्ते=चित्तमें
भाव्यं=भावन करनो
च=ओर, वाचा=वाणिसूं
परिकीर्तयेत्=आछि भांतिसों बोलनो

भावार्थ : जीवस्वभावसूं कोईके सामने **अहङ्कार** करिवेमें, पोषण करिवेके योग्यनको पोषण तथा रक्षण करिवेमें, स्त्रीप्रभृति पोष्यनके द्वारा होते अतिक्रममें तथा शिष्यके द्वारा होते अतिक्रममें ओर मनके अलौकिक सिद्ध होयवेमें एसें सर्व अर्थमें हरिही शरण हें एसी चित्तमें सदा भावना करे ओर वाणीसूं एसें कह्यो करे.

टीका : इतने, जीवस्वभाववश कोईके सङ्ग अथवा भक्तके सङ्ग अहङ्कार होय, ताकरिके आसूरावेश होय, ताको विवेक पीछेसूं होय तब पश्चाताप होय, तब शरणकीही भावना करनी. अथवा प्रभुकी अत्यन्त कृपा होय तब प्रभूनके सङ्गही अहङ्कार होय तबहु ताके दोषकी निवृत्तिकेलिये शरणकीही भावना करनी. तेसें अपने पोषण करिवेयोग्य जो स्त्री-पुत्रादिक हें तिनको पोषण तथा रक्षण करिवेमें तथा पोष्य एसे स्त्री-पुत्रादिकनको अतिक्रम होय. अथवा मूलमें 'च'कार हे तासूं बन्धू तथा दासपर्यन्तनको हु अतिक्रम होय तामें, तथा शिष्य अपनो अतिक्रम करे तामें शरणकीही भावना करनी, परन्तु क्रोध न करनो. तेसें मनकी अलौकिकताकी सिद्धिकेलिये शरणकी भावना करनी. यहां 'मन' लिख्यो हे सो सब इन्द्रियनको जतायवेवारो हे. इतने, देह-इन्द्रियादिक सबनको प्राकृत अंश निवृत्त होयके जेसें अलौकिकपनो सिद्ध होय ओर सो सिद्ध भये पीछे अलौकिक सकल पदार्थनकी सम्पत्तिकेलियेहु हरिही शरण हें एसी भावना करनी. इतने, ज्ञानरूप जो चित्त हे तामें शरणकी भावना करनी ओर वाणीकरिके उच्चार करनो. क्षणमात्रहु उच्चार न करे तो वाहि समय आसुरभावको प्रवेश होय. चित्तकूं ज्ञानरूपपनो भयो न होय तोहु वाणीसूं "श्रीकृष्णः शरणं मम" एसें कह्यो ही करनो. मूलमें 'च'कार हे तासूं कायाकरिकें सेवा

करनी, मनकरिकें भावना करनी ओर वाणीकरिकें उच्चार करनो एसें तीन्यो प्रकारकी शरणागति निरूपित करी हे॥12-13॥

तहां शङ्का होय के कोईसूं होय सके नाहीं एसे बड़े अर्थमें तो हरिकी शरणागतीकी भावना करनी परन्तु अपन्सूं होय सके एसे अर्थमें भगवानके उपर भार क्यों देनो चहिये? साधारण अर्थ(कार्यकी सिद्धिकेलिये)में तो देवान्तरको भजन करे तो कहा अड़चन हे? एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतोगमनमेव च॥
प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत्॥14॥

अन्यस्य=ओर काहुकी
भजनं=सेवा, तत्र=वहां
स्वतः=स्वयं चलाके
एव=ही, गमनं=जानो
च=ओर, कार्यमात्रे=कार्यमात्रमें
अपि=हु, ततः=वासूं
अन्यत्र=ओर कहुं, प्रार्थना=प्रार्थना
विवर्जयेत्=विशेषरूपसूं त्यागने

भावार्थ : अन्यदेवको भजन तथा अन्यदेवके सन्निधान आपु चलायके जानो, ओर प्रार्थनाके कार्यमात्रमें अपने स्वामी हरि सिवाय
देवतान्तरकी पास सब छोड़नो.

टीका : इतने, अन्यदेवको भजन तथा भजनकेलिये गमनहु नाहीं करनो. मूलमें 'च'कार हे तासूं दूसरो प्रेरणा करे तोहु अन्यदेवके सन्निधान जाय नाहीं. क्यों? जो देवान्तरभजन ओर देवान्तरकी पास गमन छोडे नाहीं तो शरणपदार्थ (आश्रय) जातो रहे. येही 'न्यासादेश'में लिख्यो हे जो प्रभून्सूं अन्यको भजन ओर विनकीपाससूं अपेक्षाहु छोड़नी.

तहां एसी शङ्का होय जो प्रभुकीपास प्रार्थना करनी ये तो योग्य नाहीं हें, तासूं कछुक पदार्थकी अपेक्षा होय तब दूसरे देवकी पास प्रार्थनामात्र करे, भजन-गमनादिक करे नाहीं तो कहा अडचन? एसी शङ्का होय तहां कहत हें जो दूसरे देवको भजन ओर विनके पास गमनादिक जेसें छाड़े तेसें स्वल्प तथा बड़े कार्यमेंहु दुसरे देवकीपास प्रार्थना छोड़े. मूलमें 'विवर्जयेत्' एसें लिख्यो हे ताको अभिप्राय एसो हे जो सर्वथा प्रार्थना न करे. मूलमें बहुवचन हे तासूं काहु प्रकारकी प्रार्थना न करनी एसो अभिप्राय जतायो हे.

यहां एसी शङ्का होय जो परम प्रेम, आसक्ति ओर व्यसन पर्यन्त प्राप्त भये एसे व्रजवासी**ननें** हु दावानलकी निवृत्तिकेलिये क्षुधाकी निवृत्तिकेलिये ओर वृष्टिकी निवृत्तिकेलिये हु प्रार्थना करी हे. तेसें कितनेक मुक्ति प्रभृतीनकीहु प्रार्थना करत हें. तो यहां प्रार्थनाको निषेध क्यों कर्यो हे? एसी शङ्का को समाधान यह हे जो व्रजवासी**ननें** दावानलके प्रसङ्गमें दोय बिरियां प्रार्थना करी हे. तामें प्रथमकी प्रार्थनामें कह्यो हे जो "हम आपके चरणकूं छोड़िवेमें समर्थ नाहीं हें" इतने, दावानल सह्यो जाय हे परन्तु आपके चरणको विप्रयोग सह्यो नाहीं जाय हे. ओर दूसरी बिरियां प्रार्थना करी हे ताको अभिप्राय एसो हे जो प्रभून्के सङ्ग क्रीडामें साम्यबुद्धि भयी सो अपराध भयो हे. परन्तु आप सिवाय हमकूं तथा हम विना आपकूं क्रीडा न होयगी ओर हमारो जीवनहु आप विना न रहेगो. तासूं दावानलको भय हमकूं नाहीं हे, परन्तु आपके स्वरूपको अन्तराय हमसूं नाहीं सह्यो जाय हे एसे अभिप्रायसूंही प्रार्थना करी हे. तासूंही "हमारी रक्षा करो" एसे नाहीं कहिके "रक्षा करिवे योग्य हो" एसे कह्यो हे सो व्यसनभावसूं कह्यो हे, अपने सुखकी अभिलाशासूं कह्यो नाहीं हे. तेसें श्रीगोकुल तो फलस्वरूप हे. सो भगवा**ननें** अपनी लीलाकेलिये फलोपयोगी सर्व रसात्मक प्रकट कियो हे. तासूं वहांकी लीला बाहिर लोकानुसारिणी हे. ओर भितर तो बहोत प्रयोजनयुक्त अलौकिक लीला हे. तासूं भगवान्कु जब-जब जा प्रकारकी लीला करिवेकी इच्छा होय हे तब-तब तेसो कार्य सम्पादन करत हें. जेसें यज्ञपत्निके उपर अनुग्रह करिवेकी इच्छा भयी तब गोपनको सहसा क्षुधा उत्पन्न करी. तेसेंही श्रीगोकुलमें सबनके निरोधकेलिये ही भगवान् सब करत हें तासूं वामें पूर्वपक्ष करिवेको अवकाश नाहीं हे॥14॥

सब देवनको तथा धर्मनको त्याग करिके भगवानकी शरणागति करिवेको उपर कह्यो, परन्तु एसे करिवेमेंहु अपनो इच्छित होयगो सो भगवान् देइगें किंवा नाहीं देइगें

एसे कोन जानत हे? एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः॥
ब्रह्मास्त्र-चातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्मम॥15॥

अविश्वासः=अविश्वास
तु=तो, न=नाहीं
कर्तव्यः=करिवेयोग्य हे
सः=वो, सर्वथा=सब तरहसूं बाधकः=बाधक(भवति=होय हे)
ब्रह्मास्त्र-चातकौ=ब्रह्मास्त्रओरचातककी
भाव्यौ=भावना करनी
निर्ममः=ममतारहित
प्राप्तं=प्राप्त भयेको सेवेत=भोग करे

भावार्थ : अविश्वास नाहीं करनो. क्यों? जो सो सर्वथा बाधक हे. तासूं अविश्वासमें ब्रह्मास्त्रकी ओर विश्वासमें चातककी भावना राखनी. ओर जो प्राप्त होय तामें ममता रहित होयके प्रभुसेवा करे.

टीका : इतने, शरणागत भयेपें अविश्वास नाहीं करनो. क्यों? जो जितने दूसरे बाधक हें विन सबनकी अपेक्षासूं अविश्वास अधिक बाधक हे. अविश्वास करिके दूसरे धर्मको सम्बन्ध होय तो शरणधर्म नष्ट होय, तासूं अविश्वासमें ब्रह्मास्त्रकी भावना करनी. इतने, हनूमानजी श्रीजानकीजीकी सुधी लेवेकूं लमा प्रति गये हते तब गिरे भये फलादिकनको भक्षण करिवेकी श्रीजानकीजीने आज्ञा करी तब उपवनके वृक्षको नीचे पटके तब जो फल नीचे गिरे ताको भक्षण करे. एसे करत-करत सब वृक्षनको नाश हनूमानजीने कियो. सो सुनिके रावणने अपने पुत्र इन्द्रजीतकूं पठायो. सो आयके अनेक शस्त्र-अस्त्र हनूमानजीके उपर छोड़वे लाग्यो. फेरि ब्रह्मास्त्र नाख्यो. परन्तु वाके उपर विश्वास नाहीं राखिकें नागपाशादिक डारे. ब्रह्मास्त्रकी उपर विश्वास राखिके यदि दूसरो अस्त्र नाहीं डारतो तो ब्रह्मास्त्र अपनो कार्य करतो परन्तु ब्रह्मास्त्रकी उपर अविश्वास करिके दूसरे अस्त्र डारे तासूं ब्रह्मास्त्र निष्फल भयो. तेसेंही शरणगमनमेंहु अविश्वास राखे तो शरणधर्म न रहे. तासूं अविश्वास नाहीं करनो. ओर विश्वासमें चातकपक्षीकी भावना करनी. इतने, स्वातिजलके विश्वासपे

चातकपक्षी रहत हे तासूं मेघ वर्षत हे ओर चातकपक्षी जलको पान करत हे. तेसें शरणागतिमें विश्वास करे तो भगवान् सब सिद्ध करेंगे एसे विश्वास करिके शरणमें स्थिति राखे. तामें प्रयत्न विना भगवदिच्छासूं जो प्राप्त होय तामें ममता रहित होयके प्रभुसेवा करे परन्तु विशेषप्राप्तिकेलिये यत्न करे नाहीं. जो प्राप्त होय सो सब प्रभूनमे विनियुक्त करे, स्वार्थदृष्टि राखे नाहीं॥15॥

दूसरे धर्मको सम्बन्ध होय तो शरणपदार्थ चल्यो जाय, एसे कह्यो, तब आवश्यक लौकिक ओर वैदिक कर्मनको हु त्याग होय, तब तो यह(पुष्टिभक्ति) मार्ग अप्रमाण हे एसी शङ्का होय सो न होयवेकेलिये लौकिक-वैदिक कर्म करिवेको प्रकार कहत हें:

यथाकथञ्चित् कार्याणि कुर्याद् उच्चावचान्यपि॥
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्॥16॥

उच्चावचानि=श्रेष्ठ ओर अश्रेष्ठ
कार्याणि=कार्य, अपि=हु
यथाकथञ्चित्=जेसें बनि आवे तेसें
कुर्यात्=करे, वा=अरु
बहुना=बहोत
प्रोक्तेन=कहिवेसूं
किम्=कहा, हरिं=श्रीकृष्णको
शरणं=शरण, भावयेत्=बिचारे

कार्यहु जेसें(बनि आवे) तेसें करने. विशेष कहिवेसूं कहा फल सिद्ध होय? हरिही शरण हें एसी भावनाकरनी.

टीका : इतने, लोगनकु यह मार्ग अप्रमाण हे एसी शङ्का न होय वाकेलिये अतिआवश्यक लौकिक-वैदिक कार्य करे. अर्थात् मार्गकी प्रमाणताकेलिये, प्रभुकी आज्ञा जानिके लौकिक-वैदिक कर्म करने, स्वधर्मपनेसूं नाहीं करने. जेसें गीताजीमें अर्जुनने अन्तमें कह्यो जो “जेसो वचन हे ताप्रमाण करूंगो” एसें कहिके भगवानकी आज्ञा मानिके युद्ध कियो हे, एसें करे तो शरण पदार्थ जाय नाहीं. येही ‘पुष्टिप्रवाहमर्यादा’में कह्यो हे जो “लौकिक तथा वैदिक पनो पुष्टभक्तनमे कपटपनेसूं हे, स्वधर्मबुद्धिसूं नाहीं हे”. जेसें गीताजीमें कह्यो हे जो “लौकिकमें आसक्त अज्ञानी

मनुष्य जा प्रकार कर्म करे हे तेसें ज्ञानीहु लोकनको सिखायवेकेलिये कर्म करे". अथवा, शरणधर्म सिद्ध राखिवेकेलिये कर्म करने नाहीं तोहु दोष नाहीं हे. क्यों? जो सर्वधर्मरूप शरणधर्म हे. विशेष कहिवेसूं कहा सिद्ध होय हे? सर्वत्र शरणकी ही भावना राखनी. लोकसंग्रहकेलियेहु कर्म करनो नाहीं. क्यों? जो लोकसंग्रहकेलियेहु विधिरूपपनेसूं यदि कर्म करे तो शरणपदार्थ न रहे. इतने, प्रभूनकी आज्ञा मानिके कर्म करनो, विधिरूप जानिके करनो नाहीं. एसें सर्वात्माकरिकें सर्वधर्मनको त्याग करे तब पापकी सम्भावना होय. तहां कहत हें जो हरिकी शरणभावना करे. इतने, सर्वदुःख तथा पापनको हरण करिवेवारे 'हरि' हें सो पापादिकनकु दूर करेंगे. येही अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णने गीताजीमें "सर्वधर्मान् परित्यज्य" या श्लोकमें कह्यो हे जो सब पापन्सूं में तोकुं छुड़ाउंगो॥16॥

एसें आश्रयके स्वरूपको निरूपण करिके उपसंहार करत हें:

एवम् आश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्॥
कलौ भक्त्यादिमार्गाही दुस्साध्या इति मे मतिः॥17॥

एवं=या प्रकारसूं
सर्वेषां=सबनकु
सर्वदा=हमेंशा
हितं=हितकारी
आश्रयणं=आश्रयकुं
प्रोक्तम्=आछि भांतिसों कह्यो
हि=निश्चितरूपसों
कलौ=कलिकालमें
भक्त्यादिमार्गाः=भक्ति आदि मार्ग
दुस्साध्याः=कष्टसोंसिद्धहोंय एसेहें
इति=एसी, मे=मेरी
मतिः=मति(अस्ति= हे)

भावार्थ : एसें सब जीवनकु सर्वदा हितरूप आश्रय कह्यो हे. कलियुगमें भक्तिप्रभृत्ति मार्ग दुःसाध्य हें एसी मेरी मति हे.

टीका : इतने, सब जीवनकु सब वर्ण तथा आश्रमन् में शरण सर्वदा हितकारी हे तथा साधन विनाहु ऐहिक तथा पारलौकिक सम्पत्तिको साधक हे. सब युगनमे साधनकरिकेंही फल होय हे ओर यहां सब साधनकुं छोड़िके केवल शरणको ही उपदेश क्यों करत हें? एसी शङ्का होय तहां कहत हें जो अन्य युगनमे धर्मको ही प्राधान्य हतो तासूं मर्यादाभक्ति प्रभृतिनकु साधनकरिकें ही साध्यपनो हतो. तासूं साधन करिकेही विहितभक्ति, उपासना ओर कर्मादिकन् को फल होतो हतो. ओर कलियुग तो पापप्रधान हे तासूं साधननके अभावसूं विहित भक्तिप्रभृति मार्गहु होय सके एसें नाहीं हे, इतनो ही नाहीं परन्तु साधन-सम्पत्ति बिना यत्किञ्चित् करिवेमेंहु पाषण्डको प्रवेश होयवेसूं पापहु होय हे तासूं सर्वथा दुःसाध्य हे. सत्ययुगादिकनमे हु साधनकरिकें जो मार्ग साध्य हते सोहु कलियुगमें साधनके अभावसूं दुःसाध्य भये तब सत्ययुगादिकनमे हु जो भक्तिमार्ग साधनकरिके साध्य नाहीं हतो, केवल भगवानके अनुग्रहकरिकेही साध्य हतो, सो कलियुगमें तो सुतरां दुःसाध्य होय तामें कहा कहनो? तासूं सर्वात्माकरिकें शरणागति करिवेमें एसे भक्तिमार्गमेंहु भगवान् अनुग्रह करेंगे. तासूं सर्वात्माकरिकें शरणकीही भावना करनी, दूसरो कछु नाहीं करनो एसो अपनो सिद्धान्त जतायवेकेलिये "एसी मेरी मति हे" एसो कह्यो हे. श्रीआचार्यचरण**नने** "मेरी मति हे" एसो कह्यो हे तासूं स्वमार्गीय भक्तनकु तो शरणकीही भावना करनी, दूसरो कछु नाहीं करनो, एसो अभिप्राय हे.

॥इति श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित 'विवेकधैर्याश्रय'की
गोस्वामी श्रीनृसिंहलालजी महाराज विरचित
व्रजभाषामें संक्षिप्त **टीका** समाप्त भई॥

कृष्णाश्रय ग्रन्थ-परिचय

कृष्णाश्रयस्तोत्र का प्रणयन अडेल में श्रीमहाप्रभुने लहोरके बुला मिश्रके लिए किया था

(* श्रीनागरदास बाम्भणिया-लिखित लेख, वैष्णववाणी अम 4 वर्ष 1979.)

बूला मिश्रका जन्म सारस्वत ब्राह्मणके घरमें हुआ था. बूलाके पिता पुरोहिताईका काम करते थे-परन्तु और किसी तरह पढे-लिखे नहीं थे. बूला जब दस वर्षके हुए तो पिताने बुला कर कहा-"बेटा! तुम ब्राह्मणकुलमें जनमे हो. कुछ थोडा-बहुत शास्त्रोंका अध्ययन करोगे तो सम्पूर्ण जीवन जी पाओगे. अन्यथा मेरी तरह अनपढ ही रह जाओगे".

पिताने जिस पण्डितजीके पास अपने पुत्रको विद्योपार्जनकेलिए भेजा वह पूरा 'लाभपूजापरायण' पण्डित था. चेला पटते देखकर बोला-"अच्छी तरह पढना हो तो पहले पाञ्च-दस रूपया भेंटके रूपमें लाकर मेरी पूजा-भक्ति करो!" (पाञ्च-दस रुपया आजसे पाञ्च सौ वर्ष पूर्व बहुत महंगा था.)

बूला मिश्र घबरा गये. भागकर घर आ गये. भोहें तानकर पिताने पूछा-"क्यों लोटकर घर आगये न? अरे, यहां घरमें पडे रहे तो ओरतोंका काम चूल्हा फूंकना ही सिर्फ सीख पाओगे. क्यों गुरुजीके घरमें रहनेमें क्या लज्जा आती है?" बूला बोले-"अरे, यह पण्डितजी तो पढानेसे पहले ही गुरुदक्षिणा मांग रहे हैं! और यहां तो किसीके भी पास जाऊं, गति यही होगी. सो मैं तो काशी जाऊगां पढने." बूलाके पिताजीने ताना कसा-"घरके बाहर निकलनेकी हिम्मत है नहीं और बेटा काशी पढने जायेगा!"

ठेस लग गयी इस बातसे बूलाके मनपर. बूलाने अपने पिताजीके पैर छुए और घरसे बाहर निकल गये. भीख मांगकर पेट भरते हुए किसी तरह काशी पहुंचे. वहां भी भिक्षावृत्तिके अलावा कोई चारा न था पर एक पण्डितजीने पढानेकी दयालुता बूलाको दिखलाई. बूलाके कठोर परिश्रमके बावजूद भी तीन वर्षकी अवधिमें कोई विशेष विद्यार्जन नहीं पाया. दोनों ही निराश हो गये,

अध्यापक भी और विद्यार्थी भी. एक रोज पण्डितजीने साफ-साफ कह ही दिया-“बूला! तुम्हारे भाग्यमें सरस्वती नहीं है. व्यर्थ परिश्रम क्यों करते हो?”

बेचारे बूला मिश्र खिन्न हो गये. पण्डितजीकी पाठशालासे निकलकर शहरके बाहर गङ्गाके तटपर अन्न-जलका त्यागकर बैठ गये. ब्राह्मणोचित महत्त्वकाङ्क्षाको लिये हुए एक ब्राह्मणबालक काशीमें तीन वर्षतक रहकर भी विद्यार्जन न कर पाये तो दूसरा मार्ग और क्या हो सकता था? बूलाने सोचा कि या तो इस तपस्यासे सरस्वती प्रसन्न होगी, नहीं तो फिर इसी तरह प्राणत्याग देना उचित है. तीन दिन बाद सरस्वतीकी वाणी सुनायी दी कि सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है. भगवदिच्छा होने पर चाण्डाल भी विद्वान् हो सकता है और भगवदिच्छा न होनेपर ब्राह्मण भी मूर्ख ही रह जाते हैं.

“विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति
प्राकृताः सकलाः देवाः गणितान्दकं बृहत्,
पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात्कृष्ण एव गतिर्मम.”

बूला मिश्रके भीतर विवेक तो जागा परन्तु धैर्य छूट गया. बुलाने सोचा कि यदि सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार ही होता हो तो भगवान्की इच्छाको बदलनेकेलिए भगवान्के नामपर ही भूखहडताल करनी चाहिये! ऐसा विचारकर बूला “विष्णु-विष्णु-विष्णु” जप करते हुए भूखे प्यासे बैठे रहे. अधीर होकर ही सही पर भगवान्नाम लेनेपर बूला मिश्रको भगवत्साक्षात्कार हुआ और श्रीमहाप्रभुके पास अडैल जानेकी भगवदाज्ञा भी हुई. बूला मिश्र भगवदाज्ञा पाकर अडैल पहुंचे. श्रीमहाप्रभुने इनका स्वागत किया और कहा “बूला! तुम धन्य हो. तुमने भगवद्दर्शन पायेः” बूला मिश्रने सविनय निवेदन किया-“महाराज! भगवत्साक्षात्कार आपकी कृपाका फल है. परन्तु भगवद्दर्शन

होनेके बावजूद भगवत्स्वरूपानन्दका अनुभव मुझे नहीं हुआ!" श्रीमहाप्रभुने समझाना चाहा-"एकबार भी भगवत्साक्षात्कार हो जानेपर सांसारिक मोहके बन्धनका भय नहीं रह जाता, जीव मुक्त हो जाता है." इसपर बूला मिश्रने विनन्ति की-"महाराज! मुझे मुक्ति नहीं चाहिये भक्ति चाहिये. अतः कृपाकर आप अपनी शरणमें मुझे लें!"

श्रीमहाप्रभुने प्रसन्न होकर बूला मिश्रको यमुनाजीमें स्नान करनेकी आज्ञा दी और पश्चात् अष्टाक्षर तथा ब्रह्मसम्बन्ध का दान दिया. समग्र शास्त्रोंके गृहतम रहस्यके उपदेश तथा मानसीसेवोपयोगी मनकी सिद्धिकेलिए श्रीमहाप्रभुने कृष्णाश्रयस्तोत्रकी रचना की और उसे बूला मिश्रको पढाया.

'आश्रय' शब्दके दो अर्थ होते हैं: 1.सहारा देनेवाला 2.सहारा लेनेकी क्रिया. अतएव विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें जब-"श्रीहरिके आश्रयसे सारे अशक्य कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं (अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेद्)" कहा तो वहां 'आश्रय' का अर्थ शरणागति या सहारा लेनेकी क्रिया है. इसी तरह भागवतके द्वितीयस्कन्धके-"जगत्के उत्पत्ति एवम् प्रलय के कर्ता तथा उपादान रूप परब्रह्मको 'आश्रय' कहा जाता है (आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते)" इस वचनमें 'आश्रय' शब्द आधार या सहारा बननेवालेके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है. 'आश्रय' शब्दके इन दोनों अर्थोंको लेकर ही "कृष्ण एव गतिर्मम" मे 'गति' शब्द प्रयुक्त हुआ है. अर्थात् भगवान् ही साधन हैं और भगवान् ही फल भी-भगवान् ही मार्ग हैं और गन्तव्य भी-भगवान् श्रीकृष्ण सभी अर्थोंमें हमारे आधार-आश्रय-गति हैं. अतएव "कृष्ण एव गतिर्मम" का अर्थ-कृष्ण ही हमारे आश्रय हैं और कृष्णका ही हमें आश्रय लेना चाहिये-दोनों तरहसे लिया जा सकता है.

इस जगत्में अनेक प्रकारकी जीवात्मायें हैं. कुछ जीवत्माओंमें लौकिक फलोंकी प्राप्तिकेलिए लौकिक साधनोंके आश्रयकी वृत्ति प्रबल होती है. प्रवाही जीवात्माओंका यह प्रमुख स्वभाव होता है. कुछ जीवात्माओमें वेदादि-शास्त्रीय फलोंकी प्राप्तिकेलिए केवल शास्त्रीय साधनोंके ही आश्रयकी वृत्ति प्रबल होती हैं. मर्यादामार्गके अन्र्गत कर्ममार्गीय जीवोंमें यह स्वभाव बलवान् होता है. कुछ वैदिक फलोंकी प्राप्तिकेलिए वैदिक साधनोंके साथ-साथ भगवान्को भी आश्रयके रूपमें अपनाते हैं. मर्यादामार्गके अन्तर्गत ज्ञानमार्गीय उपासनामार्गीय तथा मर्यादाभक्तिमार्गीय साधकोमें यह स्वभाव पाया जाता है. कुछ जीवात्माओंको भगवान्के अलावा अन्य किसी फलकी कामना होती नहीं है. अतः वे साधनके रूपमें भी केवल हरिका आश्रय स्वीकारते हैं. ऐसे जीवोंको पुष्टिजीव समझना चाहिये (दृष्टव्य भागवतार्थ-निबन्ध 5-6/12). अतएव “कृष्ण एव गतिर्मम” मनोभाव पुष्टिजीवका परम लक्षण है.

भागवतके बारहवें स्कन्धका वर्ण्य-विषय भी आश्रयलीला ही है. भागवतार्थ-निबन्धमें ‘आश्रय’ शब्दके अनेक अर्थ दिखलाये गये है.

यथा-भागवतके द्वितीय स्कन्धसे लेकर ग्यारहवें स्कन्धतक भगवान्की जिन सर्ग-विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध और मुक्ति रूप लीलाओंका वर्णन किया गया है, उन लीलाओंके कर्ता-आश्रय एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं. ये नवविध लीलायें लक्षण हैं और इनसे लक्षित लक्ष्य-आश्रय एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं. इन नवविध लीलाओंका वर्णन भागवतकारने इसी हेतुसे किया है कि जिन-जिन विभूतिरूपोंको धारण कर सर्गलीलासे लेकर ईशानुकथातक की लीलायें भगवान् करते हैं उन सभी रूपोंके साथ भगवान्का कार्य-कारणरूप शुद्धाद्वैतरूप सम्बन्ध है. अर्थात् एक ही ब्रह्मका नाम-रूपमें विस्तार यह समग्र ब्रह्माण्ड है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म). कार्यरूप सभी लौकिक या अलौकिक विभूतिनामों तथा विभूतिरूपों को धारण करनेवाला कारणरूप

परमात्मा एक ही है, ऐसा शुद्धाद्वैत-बुद्धिसे समझना आवश्यक है. हृदयसे स्नेह या आश्रय किन्तु विभूतिनाम अथवा विभूतिरूप का नहीं प्रत्युत मूलरूप श्रीकृष्णके ही नाम-रूपका होना चाहिये (ब्रह्मरूपं जगत् ज्ञातव्यं ब्रह्म जगतोतिरिच्यते इति न तत्रासक्तिः कर्तव्या). अतः प्रथमस्कन्धसे लेकर नवम स्कन्धतक वर्णित लीलायें अन्याश्रय छुडानेकेलिए हैं तथा दशम स्कन्धसे लेकर द्वादश स्कन्धतककी लीलायें कृष्णाश्रयके दृढीकरणार्थ हैं. हमने कह दिया है कि द्वादश स्कन्धका मुख्य वर्ण्य-विषय आश्रयलीला है. भागवतार्थ निबन्धके द्वादशस्कन्धार्थ-प्रकरणमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं-"कृष्ण एवाश्रयो मतः" यही वाक्य इस कृष्णाश्रयस्तोत्रमें "कृष्ण एव गतिर्मम" के रूपमें रखा गया है.

एवकार इतरव्यावर्तक माना जाता हैं. श्रीकृष्णके मूलरूपके अलावा अन्य सारे विभूतिरूप-लौकिक हों या अलौकिक-जड हों या चेतन-देव, दानव, मानव, पशु, पक्षी इत्यादि सभी रूपोंको भक्तिमार्गीय एवम् प्रपत्तिमार्गीय आश्रयके दृष्टिकोणसे इतर माना जाता है. ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे शुद्धाद्वैतवादके अनुसार ये सर्वथा अभिन्न ही हैं परन्तु इस अभेदबुद्धिसे ये विभूतिरूप आश्रयणीय नहीं किन्तु केवल ज्ञातव्य हैं. अतएव सभी विभूतिरूप एवकारद्वारा व्यावर्तनीय माने जाते हैं. इस "कृष्ण एव गतिर्मम" के एवकारकी ही व्याख्या श्रीमहाप्रभुने-"अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च, प्रार्थना कार्यमात्रेपि ततोन्यत्र विवर्जयेत्." इस विवेकधैर्याश्रकी कारिकामें दी हैं.

अन्याश्रय-रहित केवल श्रीकृष्णका आश्रय ही उचित है, यह दिखलानेकेलिए अन्योंके आश्रयकी विफलताका बोध आवश्यक है. तदनुसार इस स्तोत्रके प्रथम तीन श्लोकोंमें लोकाश्रयकी विफलताका निरूपण किया गया है तथा द्वितीय तीन श्लोकोंमें धर्माश्रयकी विफलताका. तृतीय तीन श्लोकोंमें कृष्णाश्रयकी महत्ताका निरूपण क्रमशः कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तथा

भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे किया गया है. अन्तिम दो श्लोकोंमें पृथक्शरण-मार्ग अथवा प्रपत्तिमार्गके उपदेशद्वारा गीताकी तरह श्रीमहाप्रभुने भी सम्पूर्ण निर्भयताका वरदान दिया है.

एक अन्य रीतिसे प्रारम्भके छह श्लोकोंमें काल, देश, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र तथा कर्म जो धर्मके आवश्यक छह अङ्ग हैं, उनकी विफलता दिखलाते हुए, द्वादश स्कन्धके वर्ण्य-विषय पञ्चविध आश्रय-कृष्णाश्रय, जगदाश्रय, वेदाश्रय, भक्तिआश्रय तथा भागवताश्रय-के अनुरूप पाञ्च श्लोकोमें भगवदाश्रयकी महत्ताका निरूपण किया गया है.

एक तृतीय रीतिसे देखनेपर प्रारम्भके नौ श्लोकोंमें नवविध लीलार्थ गृहीत विभूतिरूपोंका अन्याश्रय छुडानेकेलिए नौ श्लोकोंमें-"कृष्ण एव गतिर्मम" कहकर इतराश्रयका वारण किया है तथा दसवें श्लोकमें कृष्णाश्रयको सुदृढ किया गया है. ग्यारहवें श्लोकमें इस कृष्णाश्रयस्तोत्रकी फलश्रुति कही गयी है.

इस एक ही स्तोत्रमें वाक्पति श्रीमहाप्रभुने अनेक विवक्षाओंसे अनेकधा कृष्णाश्रयका निरूपण बूला मिश्रको समझाया है.

1.कलियुगके कारण धर्मानुष्ठानमें भी या तो आन्तरिक दुराशयकी प्रचुरता ही सर्वत्र दिखलायी देती है, या फिर ईश्वर-भजन-विरोधी उपधर्मो अनीश्वरवादी ज्ञान, वैराग्य, अहिंसा, दया, लोकोपकार इत्यादि-के पाषण्डका ही प्रचुर प्रचार दिखलायी देता हैं. इससे भगवत्प्राप्तिके कर्म, ज्ञान और भक्ति मार्ग अवरुद्ध हो गयें हैं. तथापि जिन्हें साधन और फल के रूपमें एकमात्र श्रीकृष्णका ही आश्रय है उन्हें किसी तरहका भय नहीं रह जाता. अतः इस कलियुगमें एकमात्र श्रीकृष्ण ही गति हैं.

2.सारा देश तामसी म्लेच्छ शक्तियोंसे आक्रान्त हो गया है. लोभलालच कामुकता-व्यभिचार लूट-खसोट हिंसा-अत्याचार जैसे पापोंके अनैतिक अड्डे ही सर्वत्र चल निकले हैं. स्वधर्म-पालनका जो थोडा-बहुत प्रयास करते भी हैं उन्हें अनेकविध पीडा और क्लेशों से सन्त्रस्त किया जाता है. ऐसी स्थितिमें सज्जनोंका व्यग्र हो जाना स्वाभाविक बात है. ऐसी स्थितिका सामना करनेकेलिए केवल श्रीकृष्ण ही हमारे सम्बल हो सकते हैं.

3.सभी पवित्रस्थल मन्दिर, आश्रम, वन, पर्वत, सरोवर, गङ्गा आदि तीर्थ, घनलोलुप तथा दुष्कर्म-निरत धर्मध्वजी उपदेशक पण्डा पुजारी पुरोहितों से घिर गये हैं. अतः इन पवित्र स्थलोंका जैसा आधिदैविक प्रभाव प्रकट होना चाहिये वह दिखलायी नहीं देता. परन्तु जिन भक्तोंमें श्रीकृष्णकी लालसा है उनकी कभी दुर्गति नहीं होगी.

4.कर्ता धर्मका चतुर्थ अङ्ग माना जाता है. वर्तमान युगमें धर्म-भावनासे धर्मानुष्ठान करनेवाले कर्ता दुर्लभ हो गये हैं. सारे धार्मिक अनुष्ठान पण्डितम्मन्य लोगोंद्वारा राजसी-तामसी प्रकृतिके म्लेच्छोंके अनुसरण और अनुकरण के रूपमें किये जा रहे हैं. और तिसपर भी धन और यश की लोलुपता ही इनका मुख्य हेतु होता है. फिर भी बुद्धिप्रेरक श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंका जिन्हें आश्रय है उन्हें ऐसी श्रुद्र लालसाओंसे ही बचायेंगे.

5.धर्मके पाञ्चवे आवश्यक अङ्ग मन्त्रोंमें भी अब वह प्रभाव नहीं रह गया है. किसी योग्य अधिकारी गुरुके समक्ष प्रणिपात, परिप्रश्न और परिचर्या की शास्त्रीय विधिके अनुसार तत्तद् मन्त्रोंके विभिन्न न्यास तात्पर्य और विनियोग के परिज्ञान तथा मन्त्रार्थ अपेक्षित व्रत एवम् शुद्धि के पालनपूर्वक दीक्षाग्रहण करनेसे मन्त्रोंमें प्रभाव उत्पन्न होता है. इसके विपरीत आजकल अयोग्य-अनधिकारी व्यक्तियोंसे अशास्त्रीय विधिसे न्यासादिके परिज्ञानके

बिना तथा मन्त्रार्थ अपेक्षित व्रतादि शुद्धिके बिना ही मन्त्रग्रहणकी रीति चल पडी है. अतः मन्त्रकी आधिदैविक अथेशक्ति तिरोहित हो गयी है. फलतः सभी मन्त्र प्रभावहीन और निष्फल हो गये हैं. परन्तु श्रीकृष्ण तो मन्त्रशक्तिके अधीन नहीं हैं, प्रत्युत सभी मन्त्रशक्तियां श्रीकृष्णके अधीन हैं. अतः श्रीकृष्णका ही आश्रय लेना चाहिये.

6.धर्मके छठे आवश्यक अङ्ग कर्मका भी स्वरूप भ्रष्ट हो गया है. क्यों कि जगत्में अनेक प्रकारके वाद चल निकले हैं. जो कर्म शास्त्रदृष्ट्या आवश्यक होते हैं उन्हें ये वाद निरर्थक मान लेते हैं. जो कर्म शास्त्रीय दृष्टिसे बहुत आवश्यक नहीं होते उन्हें ये वाद अनिवार्य सिद्ध करते हैं. जो वाद शास्त्रोंका प्रामाण्य मानते हैं वे भी अर्धश्रद्धासे शास्त्रोंके मनःकल्पित अर्थ निकाल लेते हैं. शास्त्रोंके इस तरहके अन्यथा व्याख्यानके कारण भ्रान्त अनुयायी शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान भी अन्यथा रीतिसे करने लग जाते हैं. जैसे अकरणसे कर्मोंका स्वरूपतः नाश होता है वैसे ही अन्यथाकरणसे कर्मोके फलतः नाश होता है. प्रायः यथाविधि कार्मोंका अनुष्ठान करनेवाले भी केवल दुनियाको दिखानेकेंलिए कर्मानुष्ठानका पाषण्ड ही करते हैं. अतएव कर्मोंका प्रभाव ही क्षीण हो गया हैं. फिर भी अन्याश्रय-दोषणहित होकर श्रीकृष्णमें आश्रयभाव रखना कभी निष्फल नहीं जाता. अत: कृष्ण ही अब केवल आश्रयणीय रह गये हैं.

इस तरह प्रथम तीन श्लोकोंमें लोकनाश एवम् द्वितीय तीन श्लोकोंमें धर्मनाशकें निरूपणके बाद, अब जैसे कि भागवतके बारहवें स्कन्धमें पञ्चविध आश्रयका निरूपण माना गया है, तदनुसार श्रीकृष्णकी आश्रयरूपताका भी पाञ्च ही श्लोकोंमें वर्णन किया गया है. सातवें श्लोकमें कर्ममार्गीय दृष्टिकोणसे, आठवें श्लोकमें ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे, नौमें

श्लोकमें भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे तथा दसवें-ग्याहरवें श्लोकमें प्रपत्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय हैं, यह दिखलाया जा रहा है.

7.कृष्ण सर्वोद्धारक है अतः सुसाधन, निःसाधन एवम् दुष्टसाधन जीवोंका भी उद्धार करनेमें समर्थ है. अजामिलका उपाख्यान भागवतके छठे स्कन्धमें उपलब्ध होता है कि कैसे-कैसे निन्दित कर्मोंमें निरत होनेपर भी भगवदनुग्रहवशात् उसके सारे कर्मदोष बिना नरकयातनाके ही नष्ट हो गये. अतः कर्ममार्गीय दृष्टिसे केवल श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय हैं, अजामिलके प्रसङ्गमें जैसे भगवान्ने स्वयम्के नामका माहात्म्य प्रकट किया. इसी तरह श्रीकृष्णके ध्यान, अर्चन आदिका भी माहात्म्य वहां दिखलाया गया है. मूलतः कृपा ही साधन है. बाकी उद्धारका व्यापार या व्याज तो भगवान् शास्त्रतः विहित अविहित या निषिद्ध कर्मोंको भी बना सकते हैं. श्रीकृष्णका यही तो माहात्म्य है कि वे काम, भय, द्वेष, सम्बन्ध, स्नेह या भक्ति किसी भी भावमूलक कर्मको अपने अनुग्रहके प्रकट होनेका निमित्त बना सकते हैं. अतः “कृष्ण एव गतिर्मम.”

8.ज्ञानमार्गीय दृष्टिकोणसे भी आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र एवम् प्रजापति; अथवा अग्निसे लेकर ब्रह्मा-विष्णु-शिव पर्यन्त तेतींस कोटी देव सभी भगवान्के अंश-कलावतार-रूप हैं तथा भगवान्की सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया या प्रकृति के द्वारा लिये गये भगवद्रूप हैं. अतः वे स्वयम् आविर्भाव-तिरोभावशाली हैं. अक्षरब्रह्म यद्यापि देशतः, कालतः तथा स्वरूपतः अपरिच्छिन्न एवम् पुरुषोत्तमसे अविच्छिन्नतया स्थित होता है तथापि अक्षर ब्रह्म भगवान्का ज्ञेयरूप है भजनीय रूप नहीं. अतः अक्षरब्रह्मका गणितानन्दकी तरह अनुभव होता है, पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी तरह अगणितानन्दके रूपमें नहीं. अतः उपासनामार्गीय देवोंकी और

ज्ञानमार्गीय अक्षरब्रह्मकी तुलनामें भी उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन या भजनीयत्वेन भी एकमात्र श्रीकृष्ण ही आश्रयणीय है.

9.भक्तिमार्ग दृष्टिकोणसे भी पूर्ण विवेक, धैर्य या भक्ति आदिके अभावमें भी-मन कितना भी पापासक्त क्यों न हो परन्तु दैन्यके साथ एकबार जीव शरणागत हो जाता है तो सुदुराचारीको भी साधु-पुरुष बना देनेवाली श्रीकृष्णकी भक्तिका लाभ हो ही जाता है.

10-11.प्रपत्तिमार्गमें तो स्वयम् प्रभुने-"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" कहा हैं. अतः कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ-सर्वसमर्थ तथा भक्तोंके अखिल मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले श्रीकृष्ण यदि शरणागत जीवोंका उद्धार नहीं करेंगे तो और कौन करेगा? अतः श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिजीवोंको आश्वस्त करना चाहते हैं कि इस कृष्णाश्रयस्तोत्रका जो श्रीकृष्णकी सन्निधिमें पाठ करेगा उस पाठकर्ताके श्रीकृष्ण आश्रय बनेंगे. जैसे अखिल ब्रह्माण्डके नाथ होनेपर भी अपने आश्रित व्रजभक्तोकेलिए छोटेसे गोकुलके नाथ श्रीकृष्ण बने हीं हैं!

बूला मिश्रको हम देख सकते है कि इसी कृष्णाश्रयस्तोत्रके कारण न केवल विद्वद्दुलर्भ वाक्सिद्धिकी प्राप्त हुई अपितु मानसी-सेवोपयोगी अलौकिक मन भी सिद्ध हो गया (अलौकिकमनःसिद्धौ शरणं भावयेद् हरिम्). विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें कहे गये विवेक और धैर्य सिद्ध हों या न हों पर ऐहिक-पार-लौकिक सभी विषयोंमें श्रीकृष्णका आश्रय सभीकेलिए सर्वदा हितकारी ही होता है. इसी कृष्णाश्रयको दृढ करनेकेलिए इस स्तोत्रकी रचना की गयी है.

कृष्णाश्रयमिदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ
तस्याश्रयो भवेत्कृष्णः इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत्॥

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. 1983 में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उक्त संस्करण गोस्वामिकुलभूषण श्रीरणछोडलालजी महाराजके "श्रीजीवनेशाचार्यं पुष्टि सिद्धान्त कार्यालय"से प्रकाशित हुआ था तथा उसके सम्पादक थे श्रीहरिकृष्णजी शास्त्री. इन दोनों महानुभवोंका हम पुनर्मुद्रणावसरपर कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं

॥ कृष्णाश्रयः॥

श्रीकृष्णके आश्रयकुं सर्व सिद्ध करिवेपनो हे तासूं अपने भक्तनकु वरदान देवेकीसी नांई श्रीआचार्यचरण श्रीकृष्णाश्रय स्तोत्रको निरूपण करत हें. तामें अब कलिकालके प्रभावसूं देश काल द्रव्य कर्ता मन्त्र ओर कर्म ये षट्साधन पुरूषार्थ सिद्ध करिवेवारे नाहीं हें एसें बताते भये, भक्तनकु भगवान्ही सर्वसाधनरूप हें, देशादिक षट्साधन तथा चार प्रकारके पुरूषार्थ रूपहु भगवान्ही हें, दशविध लीलाकरिके निरूप्यहु भगवान् ही हें, सत्व-रजस्-तमोगुणनके भेदसूं नव तथा दशम निर्गुण एसें दशविध भक्तन् करिके सेव्य भगवान् हें, ओर शरीरकुं सब सिद्धि करिवेवारे जेसें दश प्राण हें तेसें भक्तकुं सब सिद्ध करिवेवारो यह स्तोत्र हे एसें उपर लिखे सब कारण जतायवेकेलिये दश श्लोकन्सों निरूपण करत हें. तामें प्रथम मुख्य अङ्ग काल हे. तासूं कालधर्मको निराकरण करिके आश्रयकी प्रार्थना करत हें:

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि।
पाषण्डप्रचुरे लोके कृष्णएव गतिर् मम॥1॥

खलधर्मिणि=पाखण्ड धर्मवारे
कलौ=कलिकालमें
सर्वमार्गेषु=सभी मार्ग
नष्टेषु=नष्ट होयजावेसूं
च=ओर
लोके=लोकमें
पाषण्डप्रचुरे=पाखण्डकी
अधिकता होयजावेसूं
मम=मेरो
कृष्ण=कृष्ण

एव=ही
गतिः=आश्रय(अस्ति=हे)
भावार्थ : खल धर्मवारे कलियुगमें सर्व मार्ग नष्ट होय गये हें ओर लोक बहोत पाषण्डवारो होय गयो हे तामें श्रीकृष्णही मेरी गति हों.

टीका : इतने उपरसूं अच्छो देखिवेमें आवे ओर भीतरसूं दुष्ट होय सो 'खल' कह्यो जाय. एसो धर्म कलियुगमें हे. तामें श्रीकृष्णही मेरे गतिरूप होंय. यह कहिवेको अभिप्राय एसो हे जो सत्तावाचक 'कृष्' शब्द हे ओर आनन्दवाचक 'ण'शब्द हे. दोयकी एकतासूं 'सदानन्द' शब्द बने हे. सो सदानन्द श्रीकृष्ण ऐहिक तथा पारलौकिक अर्थके सिद्ध करिवेवारे मोकुं होंय.

खलधर्मको स्वरूप कहत हें: जो लोकमें पाषण्ड अत्यधिक भयो हे तासूंहि कर्म-ज्ञानादिक मार्ग (जासूं पुरुषार्थके उपाय खोजे जायें वाकुं 'मार्ग' कह्यो जाय हे) नष्टप्राय: भये हें. यज्ञादिकन्सूं स्वर्गकी प्राप्ति होयवेको वेदमें लिख्यो हे. तामें 'स्वर्ग' पद आत्मसुखको वाचक हे सो नाहीं जानिके लोकको वाचक हे एसो भ्रम पाषण्डी लोग उत्पन्न करत हें. (एसी मिथ्या कामनासूं कर्ये कर्मसूं) चित्तकी शुद्धि नाहीं होयवेसूं कर्ममार्ग नष्ट भयो हे.

मायावाद आदि वादनके अभिनिवेशसूं ज्ञानमार्ग ओर निरीश्वरवादके अङ्गीकारसूं योगमार्ग नष्ट भये हें. विभूतिपरक होय जावेसूं उपासनामार्ग नष्ट भयो हे. मूलमें 'च'कार हे तासूं कलिकालकुं महादेवादिक अनुगुण (सहायक) भये हें. तासूं श्रीकृष्ण हि गति हों. मूलमें 'एव'कार हे सो अन्यके योगको व्यवच्छेदक हे. तासूं अंश-कलादिक गतिरूप मति हों एसो अभिप्राय हे॥1॥

पुण्यदेशमें स्थितिमात्रसूंहि पुरूषार्थकी सिद्धि होय हे तब दूसरेको निषेध करिके आश्रयकीही प्रार्थना क्यों करत हो? एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैक-निलयेषु च॥
सत्पीड़ा-व्यग्र-लोकेषु कृष्णएव गतिर् मम॥2॥

देशेषु=देश/स्थान
पापैकनिलयेषु=एकमात्रपापकेघररूप

बन जायवेसूं, च=ओर
म्लेच्छाक्रान्तेषु=म्लेच्छनके द्वारा
पराभूत होय जावेसूं
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु=सत्पुरुषनकु
पीडित देखिके लोगनके अधीर
होयजावेसूं, मम=मेरो
कृष्ण=कृष्ण, एव=ही
गतिः=आश्रय(अस्ति=हे)

भावार्थ : सब देश म्लेच्छन्करिके आक्रान्त होय गये हें. ओर विनमें पापीनको ही निवास हो गयो हे. ओर सत्पुरूषनकु पीडा होयवेसूं सब लोग व्यग्र होय गये हें. एसे समयमें श्रीकृष्णही मेरी गति हों.

टीका : इतने सब देशनमे म्लेच्छादिक हीन जातीनकी सत्ता हो गई हे. ओर वे म्लेच्छहु धर्ममें वर्तिवेवारे नाहीं हे किन्तु पापमेंही विनको मुख्य स्थानक हे. अथवा अङ्ग-बङ्ग-कलिङ्ग आदि देश एसे हें जो विनमें गमनमात्रसूंही पुनः संस्कार करनो पड़े हे. एसे देशनमे म्लेच्छादिकनें आक्रमण कियो हे तासूं तीर्थयात्रादिकके प्रसङ्गतें जायवेमेंहु पाप लगे हे. ओर सत्पुरूषनकु पीडा होय हे ताकरिके सब लोगहु व्यग्र होय रहे हें. क्यों जो स्वधर्मादिकको आचरण करिवेवारेनकु पीडा होती देखिके ओरनकु धर्ममार्गमें श्रद्धादिक नाहीं रहे हे. एसे समयमें श्रीकृष्णही मेरी गति हों॥2॥

गङ्गादिक तीर्थन्सों हु सर्व पुरूषार्थकी सिद्धि होय हे तब केवल आश्रय करिवेको कहा प्रयोजन हे? एसी शङ्का होय तहां (तीर्थादिरूप)द्रव्यकी असाध्यता कहत हें:

गङ्गादि-तीर्थ-वर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्णएव गतिर् मम॥3॥

इह=यहां, गङ्गादितीर्थ-वर्येषु=
गङ्गाजी आदि मुख्य तीर्थ
दुष्टैः=दुष्ट लोगन्सूं
एव=ही, आवृतेषु=घिरजायवेसूं

तिरोहिताधिदैवेषु=अधिदेवता
तिरोहित होयजावेसूं, मम=मेरो
कृष्ण=श्रीकृष्ण, एव=ही
गतिः=आश्रय(अस्ति=हे)

भावार्थ : गङ्गादिक उत्तम तीर्थहु दुष्टन्सों आवृत्त होय गये हें. तासूं विनको आधिदैविक स्वरूप तिरोहित भयो हे. एसे समयमें श्रीकृष्णही मेरी गति हो.

टीका : इतने, तीर्थमें श्रेष्ठ जो गङ्गादिक हें सो दुष्टन्सों आवृत्त भये हें. तासूं तीर्थन्सूं पुरूषार्थकी सिद्धि होय एसे नाहीं हे.

ब्राह्मणादिकहु तीर्थनमे रहे हें तब तीर्थ दुष्टन्करिकेही आवृत्त भये हें एसें क्यों कहो हो? एसी शङ्का होय तो ताको समाधान एसो हे जो विन (ब्राह्मणादिकन्)कुं अति परिचय होयवेसूं तीर्थनमे आदर नाहीं रहे हे. तासूं वामें भक्ति नाहीं होय हे. ओर वहां दानादिक लेवेकेलियेही विनकी स्थिति हे. तासों विनकोहु दुष्टपनो हे. क्यों जो "श्रद्धारहित, पापात्मा, नास्तिक, जिनकुं संशय निवृत्त नाहीं भयो हे ओर वामें तीर्थपनेको कारण शोधिवेवारो होय विनकुं तीर्थको फल नाहीं मिले हे" एसें वायुपुराणमें कह्यो हे. श्रद्धारहित नास्तिक होंय वे यदि तीर्थमें हु रहते होंय तोहु विनको दुष्टपनो नाहीं मिटे हे. तहां शङ्का होय जो तीर्थमें तो सब दोषनकु निवृत्त करिवेकी शक्ति होय हे तासूं जेसें अग्नि जो वाके संसर्गमें आवे वा सबको दाह करे हे तेसें तीर्थकी शक्तिसूंही दुष्टपनो क्यों नाहीं मिटे हे? तहां कहत हें जो देवतारूप तीर्थको आधिदैविकस्वरूप तिरोहित होय गयो हे सो सत्पुरूषनके प्रतिही प्रकट होय हे, दुष्टपुरूषनके प्रति तीर्थको आधिदैविक स्वरूप तिरोहित ही रहत हे. तासूं श्रीकृष्णही मेरी गति हों.

धर्म करिवेवारे कर्ता यदि समीचीन (आछे) होंय तो सर्व फलकी सिद्धि होत हे तब आश्रय करिके कहा कर्तव्य हे? एसी शङ्का होय तहां कर्ताको असाधकपनो बतायके आश्रयकी प्रार्थना करत हें:

अहङ्कारे -विमूढेषु सत्सु पापानुवर्तिषु।
लाभ-पूजार्थ-यत्नेषु कृष्णएव गतिर् मम॥4॥

सत्सु=सत्पुरुषें
अहङ्कारे -विमूढेषु=अहङ्कार सूं
विशेषकरके मूढ होयजावेसूं
लाभपूजार्थयत्नेषु=लाभओरसन्मानके
अर्थ यत्न करवेवारे होय जावेसूं
पापानुवर्तिषु=पापको अनुसरण
करिवेवारेहोयजावेसूं, मम=मेरो
कृष्ण=श्रीकृष्ण, एव=ही
गतिः=आश्रय(अस्ति=हे)

भावार्थ : पण्डित लोग अहङ्कार सों विशेष मूढ भये हें, पापी पुरूषनको अनुसरीवेवारे भये हें ओर लाभपूजाके अर्थही विनको यत्न हे. तामें श्रीकृष्णही मेरी गति हों.

टीका : इतने पण्डित लोग “हम शास्त्र जानें हें” एसे अभिमानसूं दूसरेकुं पूछतहु नाहीं हें. ओर मयावादादिकनके अभिनिवेशसूं विशेषकरिके मूढ़ भये हें. तेसें ही स्वयंकु लाभ होय अथवा अपनी प्रतिष्ठा बढे तो अपनो सत्कार होय एसे स्वार्थकेलियेही यत्न करत हें; अर्थात् पारमार्थिक कर्महु लाभ-पूजार्थही करत हें. ओर पापीपुरूष अथवा पापकुंही अनुसरीवेवारे भये हें. तासूं श्रीकृष्णही मेरी गतिहों॥4॥

मन्त्रसूं फलसिद्धि होय हे एसे मन्त्रशास्त्रमें लिख्यो हे. तब, आश्रय करिके कहा कर्तव्य हे? एसी शङ्का होय तहां मन्त्रनको असाधकपनो कहिके आश्रयकी प्रार्थना करत हें:

अपरि-ज्ञान-नष्टेषु मन्त्रेष्वव्रत-योगिषु।
तिरोहितार्थ-देवेषु कृष्णएव गतिर् मम॥5॥

मन्त्रेषु=मन्त्र
अपरिज्ञाननष्टेषु=अपूर्ण ज्ञानके
कारण नष्ट होयजावेसूं
अव्रतयोगिषु=व्रतनियमनहींअनुसरिवेसूं

तिरोहितार्थदेवेषु=अर्थ ओर-देवता
तिरोहित होयजावेसूं,मम=मेरो
कृष्ण=श्रीकृष्ण,एव=ही
गतिः=आश्रय(अस्ति=हे)

भावार्थ : मन्त्रको परिज्ञान नाहीं होयवेसूं, व्रतादिकनको योग नाहीं होयवेसूं ओर अर्थ तथा देवता तिरोहित होयवेसूं मन्त्र नष्टप्राय: भये हें. एसे समयमें श्रीकृष्णही मेरी गति हों.

टीका : इतने, वैदिक तथा तन्त्रोक्त मन्त्रको तात्पर्य, फल ओरदेवताके स्वरूपको ज्ञान नाहीं होयवेसूं मन्त्र नष्टप्राय: होय गये हें. गुरुकुलमें वास करे, ब्रह्मचर्यादिक व्रत राखे, शूद्रकी सन्निधिमें अध्ययन न करे इत्यादिक नियमन्सूं वैदिकमन्त्रकुं पढे तब मन्त्र फलसाधक होय. सो नियम अब रहे नाहीं हें तासूं फलसाधक नाहीं हें. ओर तन्त्रोक्त मन्त्रके तात्पर्यको ज्ञान नहीं होयवेसूं विनके अर्थ तथा देवता को तिरोभाव होय गयो हे. तासूं मन्त्र फलसाधक नहीं रहे हें. ओर भगवदाश्रयमें तो “यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु, सर्वं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्” इत्यादि वाक्यन्करिके न्यून होय सोहु सब पूर्ण होय हे. तासूं श्रीकृष्णही मेरी गति हों॥5॥

मीमांसादिक (विचार)शास्त्रसों मन्त्रनके तात्पर्यको निर्धार होय सके हे तासूं कर्मन्सोंही फलकी सिद्धि होयगी, आश्रयकरिके कहा करनो हे? एसी शङ्का करिके कर्महु फलसाधक नाहीं रहे हें एसो बतायके आश्रयकी प्रार्थना करत हें:

नाना-वाद-विनष्टेषु सर्व-कर्म-व्रतादिषु।
पाषण्डैक-प्रयत्नेषु कृष्णएव गतिर्मम॥6॥

सर्वकर्मव्रतादिषु=कर्म, व्रत आदि सभी
नानावादविनष्टेषु=विविध प्रकारके वादन्सों नष्ट होयजायवेसूं
पाषण्डैकप्रयत्नेषु=केवल पाषण्डके अर्थ ही प्रयत्नशील होयजायवेसूं
मम=मरो, कृष्ण=श्रीकृष्ण एव=ही, गतिः=आश्रय(अस्ति=हे)

भावार्थ : सर्व कर्म ओर व्रतादिक भिन्न-भिन्न प्रकारके वादसों विनष्ट भये हें. ओर प्राय: वादनको पाषण्डकेलियेही मुख्य यत्न हे एसे समयमें श्रीकृष्णही मेरी गति हों.

टीका : इतने सोमयागादिक कर्म ओर व्रतादिकन् में भिन्न-भिन्न वाद भये हें. अर्थात् कोई कहे हे के कर्म एसें करो तो दूसरो दूसरी रीतिसूं बतावे हे. तेसें ही व्रतादिकनमे हु एकने व्रत बतायो तो दूसरो वाकी ईर्ष्या करिके दूसरी रीतिसूं बतावे हे. फेरि परस्पर वाद करे हें. तामें कोन सत्य बतावे हे ओर कोन असत्य बतावे हे सो अज्ञ लोग जान नाहीं सके हें. तासूं सब कर्म तथा व्रतादिक नष्ट होय गये हें.

मायावादी कहे हें जो सगरो प्रपञ्च मिथ्या हे. अपने अज्ञानसूं कल्पित हे. प्रपञ्चमें रहे भये होयवेसूं वेदहु व्यवहारमात्रमें प्रमाण हें——एसें मायावादीनको वाद हे.

ब्रह्मादीकनकु हु यज्ञसोंही बडप्पन प्राप्त भयो हे. पूर्वकी वासनासूं उत्तरोत्तर प्रवृत्ति होतीजाय हे तासों कर्महीं कर्तव्य हे. फलहु कर्मसूं ही मिले हे. फलको देवेवारो उपासना करिवेयोग्य चेतनरूप कोउ देवता नाहीं हे, किन्तु मन्त्रमयही देवता हे एसें मीमांसकनको वाद हे.

षोडश पदार्थनके ज्ञान भये पीछें श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करिके अपने आत्माको साक्षात्कार भये दुःख नहीं होय हे, येही फल हे एसें नैयायिकनको वाद हे.

ओर प्रकृति तथा वाके विकार को लय होय तब पुरूष-चैतन्यको अपने स्वरूपसों रहनो येही फल हे, कोउ देव सेव्य नाहीं हे एसो सांख्यनको वाद हे.

एसे प्रकारके भिन्न-भिन्न वादन्सों कर्म तथा व्रत नष्ट होय गये हें. वस्तुतासूं तो सब जगत् जो दीखवेमें आवे हे सो भगवद्रूपही हे. भगवान् सबनकु अपने वशमें राखत हें. भगवान्सूंही सबनकी उत्पत्ति, स्थिति ओर लय होत हे. तासूं भगवान्ही सेव्य हें. “देव असुर मनुष्य यक्ष ओर गन्धर्व जो कोउ भगवानके चरणको भजन करत हें सो कल्याणको प्राप्त होते हें” एसो श्रीभागवतजीको वाक्य हे. तासूं भगवान्ही सेव्य हें. प्रपञ्च सब भगवद्रूप हे, भगवानको सायुज्यादिक होय सोही फल हे इत्यादिक शास्त्रप्रतिपादित अर्थसूं उपर कहे सब वाद विरूद्ध हें. तथापि अपने-अपने मतके आग्रहसूं शास्त्रविपरीत कर्म ओर दशम्यादिकके वेधवारी एकादशी प्रभृतिको व्रत करे हें तासूं कर्म ओर व्रत नष्ट होय गये हें.

तहां शङ्का होय जो एसो करिवेवारे आप करें हें ओर दूसरेनकु हु बोध करत हें. सो वे लोग यदि वामें मिथ्यापनो, निष्फलपनो तथा शास्त्रविरूद्धपनो जानते होंय तो आप क्यों करते होयेंगे? तथा ओरनकु बोध केसें करते होयेंगे? क्यों जो वे मतहु शमराचार्य, जैमिनि, गौत्तम आदिक पण्डितनने ही प्रवृत्त किये हें एसी शङ्का होय तहां कहत हें जो पाखण्डके निमित्तही विनको मुख्य प्रयत्न हे. सो पद्मपुराण तथा वाराहपुराण में कह्यो हे जो श्रीभगवाननने महादेवजीकुं मोहशास्त्र करिवेकी आज्ञा करी हे.

एसें ही भगवाननने महादेवजीकी आराधना करिकें, आप विनकी पाससूं वर मांगिके जगतमें महादेवजी की आराधनाकी महत्ताकी वृद्धि किये हें. सो देखिके लोक भ्रमित होय जाय हें, परन्तु एसे नाहीं जाने हें जो कोउ मार्ग देवादिक**ननने** प्रवृत्त कियो होयवेसूं सन्मार्ग नाहीं होत हे किन्तु वेदादिकन्सूं विरूद्ध न होय ओर वेदानुसारी होय तो ही सन्मार्ग कहवावे हे. ये अभिप्रायकुं साधारण लोग नाहीं जानत हें ओर देवादिकनकी प्रवृत्तिसूं आपही मोहित होयके प्रवृत्त होय हें. यदि देवादिकन्सूं प्रवर्तित होयवेसू ही कोई मार्ग सन्मार्ग होतो होय तब तो बृहस्पतिद्वारा प्रवर्तित कौलमार्ग तथा बुद्धावतारद्वारा प्रवर्तित बौद्धमत हु सन्मार्ग कहवावेगो! परि वे मार्ग तो सन्मार्ग नाहीं कहवावे हें एसी सबनकी समज हे. सो एसे समयमें श्रीकृष्णही मेरी गति हो॥6॥

“धर्मसों पाप मिटे हे” “धर्ममें सब कछु रह्यो हे” एसें श्रुतिमें कह्यो हे. तासूं प्रथम तो दोष दूर होंय वाकेलिये धर्मको आचरण करनो. ताकरिके चित्त शुद्ध होय तब भगवानको माहात्म्य तथा स्वरूपको ज्ञान होय तब आश्रयादिक करने. चित्तमें दोष होय तब तांई आश्रय नाहीं करनो. क्यों जो योगीनकु ध्यान करिवेयोग्य प्रभु कहां ओर दुष्ट जीव कहां! एसी आशङ्का होय तहां कहत हें:

अजामिलादि-दोषाणां नाशकोऽनुभवे स्थितः॥
ज्ञापिताऽखिल-माहात्म्यः कृष्ण एव गतिर् मम॥7॥

अजामिलादि-दोषाणां=अजामिल आदिकनके
दोषनको , नाशकः=नाश करिवेवारे
अनुभवे=अनुभवमें, स्थितः=रहे भये
ज्ञापिताखिल-माहात्म्यः=जिनने सर्व-

माहात्म्य दिखायो हे एसे
कृष्ण=श्रीकृष्ण
एव=ही, मम=मेरो
गतिः=आश्रय(अस्ति=हें)

भावार्थ : अजामिलादिकनके दोषनको नाश करिवेवारे प्रभु अनुभवमें रहे हें. ओर जिनने अपनो समग्र माहात्म्य जतायो हे सो श्रीकृष्णही मेरी गति हों.

टीका : इतने, वेदमें लिख्यो हे के "प्रवचनादिकसों प्रभु प्राप्य नाहीं हे परन्तु जिनको वरण(स्वीकार) प्रभु करत हें विनकुंही प्राप्य होय हें". ओर गीताजीमें अनन्य भक्तिसूं प्रभु प्राप्त होयवेको लिख्यो हे. तासूं प्रभून्द्वारा अङ्गीकार होयगो ओर भगवद्भक्तको अनुग्रह होयगो तो दोषवारेकुंहु भक्तिसों प्रभु गम्य हें. महापुरुषद्वारा शरणागति होयगी तो सब सिद्ध होयगो. जेसें अजामिलने विष्णुके पार्षदनको वाक्य सुन्यो तब प्रथम जो कृत्य किये हते ताको पश्चाताप करिके गङ्गाद्वारमें जायके भगवद्भक्ति करी. ताकरिके वाके सब पापनकी निवृत्ति होयके उत्तम गति भयी. ये केवल पुत्रके उपचारसूं 'नारायण'नामको ग्रहणकरिवेमें भगवानके पार्षदको भगवद्धर्मरूप वाक्य सुनिवेको समय अजामिलकुं प्राप्त भयो ताको फल मिल्यो तो बुद्धिपूर्वक शरणागति करिवेवारेनके सब पापनकी निवृत्ति होयवमें कहा संशय हे! तासूं, दोष प्राप्त भयो होय तोहु केवल भगवानको ही आश्रय करनो, परन्तु आश्रयकुं छोडिके ओर कछु नाहीं करनो॥7॥

"स्वाध्यायको अध्ययन करनो", "जो-जो कृतुको अध्ययन करे ताको फल वाकुं प्राप्त होय" इत्यादिक वेदके वाक्य हें. ताकरिके कर्ममार्गमेंहु ब्रह्मयज्ञ ओर अध्ययनादिकन्सूं अग्क्यादिकनकी सायुज्यप्राप्ति होय हे. ओर ब्रह्मज्ञानकरिके अक्षरब्रह्मके सङ्ग सायुज्य होयवेको श्रीगीताजीमेंहु लिख्यो हे. तब, श्रीकृष्णके आश्रयमें विशेष कहा हे जो वाकीही प्रार्थना करत हो? एसी शङ्का की निवृत्तिकेलिये वाके तारतम्यज्ञानार्थ सर्वस्वरूप भगवान्ही हें एसे स्वरूपके निरूपणपूर्वक अर्थरूपपनेसूं आश्रयकी प्रार्थना करत हें:

प्राकृताः सकला देवा गणितानन्दकं बृहत्।
पूर्णानन्दो हरिस् तस्मात् कृष्णएव गतिर् मम॥8॥

सकला=सभी, देवाः=देवताएं
प्राकृताः=प्राकृत,(सन्ति=हें)
बृहत्=अक्षरब्रह्म गणितानन्दकं=गणितानन्द जेसो
(अस्ति=हे)हरिः=श्रीकृष्ण
पूर्णानन्दः=पूर्ण आनन्द(अस्ति=हें)
(अतः=यालिये)कृष्णएव=कृष्णही, मम=मेरो, गतिः=आश्रय(अस्ति=हें)

भावार्थ : सब देव प्राकृत हें तथा अक्षरब्रह्मके आनन्दकीहु गणना होय हे. ओर हरि पूर्णानन्द हें तासूं श्रीकृष्णही मेरी गति हों.

टीका : इतने, सब देव सात्विक अहङ्कार सूं उत्पन्न भये हें तासों प्राकृत कहे जाय हें. ओर तैत्तिरीयोपनिषद्में आनन्दकी गणनाके प्रसङ्गमें “समग्र पृथ्वी द्रव्यसूं पूर्ण होय सो मनुष्यको एक आनन्द हे. एसे मनुष्यके एकसो आनन्दको मनुष्यगन्धर्वनको एक आनन्द होय हे” या रीतिसूं शतगुणित आनन्दकी गणना करी हे. तहां ब्रह्माजीके एकसो आनन्द होय हे तब अक्षरब्रह्मको एक आनन्द होय हे एसे अक्षरब्रह्मके आनन्दकी गणना करी हे. तासूं अक्षरब्रह्म गणितानन्द कह्यो जाय हे. ओर भक्तनके दुःखहर्ता श्रीकृष्ण हें सो तो पूर्णानन्द हें. तासूं श्रीकृष्णही मेरी गति हों.

देवादिकनके सायुज्यमेंहु देव प्राकृत होयवेसूं विनकी मुक्तिकुं सगुणपनो हे. ओर ब्रह्मलोक पर्यन्तकुं फेरि संसारमें आयवेको गीताजीमें लिख्यो हे तासूं अल्पानन्दपनो हे. तेसें ज्ञानमार्गमें अक्षरब्रह्मके सङ्ग सायुज्य होय हे तामें गणितानन्द होयवेसूं बहोत क्षुधितकुं अल्प भोजन होय सो अभोजनतुल्य होय हे तेसें अक्षरसायुज्यको अल्पपनो होयवेसूं कछु उपयोगी प्रतीत नहीं होय हे. ओर श्रीकृष्ण तो जेसें पूर्ण आनन्दरूप हें तेसें निर्गुणमुक्तिकुंहु देयवेवारे हें तासूं विनकीही शरणभावना करनी॥8॥

विवेक ओर धैर्य सूं रहिके भक्ति करिवेमें भगवानहु वश होत हें तब दैन्यकरिके आश्रयकी प्रार्थना क्यों करत हो? एसी शङ्का करिके, भगवान् सर्वमनोरथके पूरक हें ओर सर्वफलकेलिये इच्छित हें तासूं भगवानको इच्छितरूपपनो हे एसें भगवानको कामरूपपनो कहते भये आश्रयकी प्रार्थना करत हें:

विवेक-धैर्य-भक्त्यादि-रहितस्य विशेषतः।

पापासक्तस्य दीनस्य कृष्णएव गतिर् मम॥9॥

विवेक-धैर्य-भक्त्यादि-रहितस्य=विवेक-
धैर्य-भक्ति आदिसूं रहित
विशेषतः=विशेष करके
पापासक्तस्य=पापमें आसक्त
दीनस्य=दीन
मम=मेरो
कृष्ण=श्रीकृष्ण, एव=ही
गतिः=आश्रय(अस्ति=हें)

भावार्थ : विवेक धैर्य ओर भक्तयादि सों रहित, विशेषकरिके पापमें आसक्त ओर दीन एसो जो में ताकुं श्रीकृष्णही गतिरूप हों.

टीका : इतने, प्रथम जो निरूपण कियो सो प्रभुके स्वरूपको विचार करिके कियो हे. अब जीवके स्वरूपको विचार करिके कहत हें जो भगवान् अपनी इच्छासूं सब करेंगें एसें जानिके प्रार्थना नाहीं करनी एसो निश्चय होय सो 'विवेक' कह्यो जाय हे. तथा भक्तिविरोधि जो दुःख होंय ताकी निवृत्तिको उपाय नाहीं करिके आधिभौतिक, आध्यात्मिक ओर आधिदैविक एसे तीन्यों प्रकारके दुःखकों सहन करनो सो 'धैर्य' कह्यो जाय हे. ओर साधनरूप भक्ति श्रवणादिक कहि जाय हे. मूलमें 'आदि' पद हे तासूं पुण्य हु समजनो. सो मेरे पास कछु नाहीं हें, तेसें विनके साधनहु मेरेमें नाहीं हे. पापमें आसक्त हुं अर्थात्, विपरीत साधन करूं हुं. ओर दीन (दरिद्र) हुं. एसो जो में हुं ताकुं श्रीकृष्णही गतिरूप हों.

यहां "मेरेमें विवेक-धैर्यादिक नहीं हें" ओर "में पापमें आसक्त हुं" इत्यादिक जो वाक्य कहे हें सो वाक्य कहिवेवारे श्रीआचार्यचरण हें. विनकों एसे विशेषण योग्य नाहीं हें एसी शङ्का मनमें होय ताको समाधान एसें करनो जो वेदमें "में हाथ जोड़िके गुरुकी शरण जाउं हुं" "में नमन करूं हुं" "मेरो कल्याण होय" इत्यादिक वाक्यन् यजमानके अधिकारसों कहे जाय हें तेसें यहां श्रीआचार्यचरणनने भक्तनके अधिकारसों उपर्युक्त वाक्य कहे हें एसे समजनो॥9॥

सर्वथा जो साधनरहित होंय तिनकुं शरणागतिमेंहु इच्छित फलकी सिद्धि केसें होयगी? क्यों जो भगवान् तो जीवकी कृतिके अनुसार फल देत हें. सब साधन

छोड़िवेमें देवतान्तरकोहु अनादर होयवेसूं देवताहु विघ्न करेंगे एसी आशङ्का करिके शरणागतिमें मोक्षरूपपनो हे एसें सिद्धकरिवेकेलिये विज्ञापन करत हें:

सर्व-सामार्थ्य-सहितः सर्वत्रैवाखिलार्थकृत्॥
शरणस्थ-समुद्धारं कृष्णं विज्ञापयाम्यहम्॥10॥
(यः=जो)सर्वसामर्थ्यसहितः=
सर्व सामर्थ्यवारे(च=ओर)
सर्वत्र=सब जगे, एव=ही
अखिलार्थकृत्=सब कछु करवेवारे
शरणस्थ-समुद्धारं=शरणमें आयेको
उद्धार करिवेवारे(तं=उन्)
कृष्णं=श्रीकृष्णकुं, अहं=में
विज्ञापयामि=प्रार्थना करूं हुं

भावार्थ : श्रीकृष्ण सर्वसामर्थ्ययुक्त हें ओर सर्वत्र समग्र अर्थके करिवेवारे हें. तासूं शरण आये एसे जीवनको उद्धार करिवेकेलिये में श्रीकृष्णकी बिनति करत हों.

टीका : इतने, प्रभु सर्वसामर्थ्य सहित हें. तासूं आपके सामर्थ्यसूंही सब कर सके हें. सो यदि मर्यादा राखिवेकी इच्छा होयगी तो ज्ञानादिकनको दान करिकेहु फल देयगें. अथवा सर्वसामर्थ्य जामें हें एसे सुदर्शनादिक सहित श्रीकृष्ण हें. तासूं सुदर्शनादिकसोंहु भक्तनको अनिष्ट निवृत्त करें हें. ओर सब देशनमे , वर्णनमे , आश्रमनमे तथा कर्मादिकनमे हु सब अर्थके करिवेवारे श्रीकृष्णही हें. सो विनके शरण जो जीव आये होंय विनकुं फलदान करेंगे. क्यों जो “जो जा रीतिसूं मेरि शरण आवे हे ताकुं वाही रीतिसूं में भजतहुं” एसी गीताजीमें आपकी प्रतिज्ञा हे. तासूं शरणागतिकी मर्यादा ही एसी हे जो शरण आयो होय ताकी सब तरहसूं रक्षा प्रभु करतही हें. तासूं दीनभावसों शरणागति ही करनी॥10॥

“पशुके दश प्राण हें, आत्मा ग्यारहमी हे” एसे श्रुति में कह्यो हे. तासूं प्राणनकीसीनांई उपर कहे सब श्लोक सब सिद्ध करिवेवारे हें एसें जतायवेकेलिये दश श्लोकसों स्तोत्रको निरूपण करिके आत्माकीसी नांई फल अक्षय्य हे एसें जतायवेकेलिये आत्मरूप ग्यारहमें श्लोकसों स्तोत्रपाठको फल कहत हें:

कृष्णाश्रयम् इदं स्तोत्रं यः पठेत् कृष्णसन्निधौ॥
तस्याश्रयो भवेत् कृष्णः इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत्॥11॥

॥इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितम् कृष्णाश्रयस्तोत्रम् सम्पूर्णम्॥

यः=जो, इदं=या
कृष्णाश्रयं=कृष्णाश्रय
स्तोत्रं=स्तोत्रकु
कृष्णसन्निधौ=श्रीकृष्णके पासमें पठेत्=पढ़ेगो, तस्य=वाको
कृष्णः=श्रीकृष्ण
आश्रयः=आश्रय
भवेत्=होयगो, इति=ये
श्रीवल्लभः=श्रीमहाप्रभुजीने अब्रवीत्=कह्यो
भावार्थ : यह कृष्णाश्रयस्तोत्र श्रीकृष्णकी सन्निधिमें जो पढे ताकुं आश्रयरूप श्रीकृष्ण होंय एसें श्रीवल्लभाचार्यजीने कह्यो हे.

टीका : इतने, श्रीकृष्णके आश्रयको यथार्थ निरूपण करिवेवारो येही स्तोत्र हे, दूसरो एसो स्तोत्र नाहीं हे. तासूं याके पाठसूंही आश्रय दृढ होय हे. श्रीकृष्णकी सन्निधिमें पाठ करे अथवा श्रीकृष्णके निमित्त पाठ करे तोहु आश्रय दृढ होय.

केवल स्तोत्रके पाठमात्रसूं एसो फल केसें होय? एसी शङ्का होय ताको समाधान एसें हे जो नलकूबर तथा मणिग्रीव नारदजीके शापतें यमलार्जुन भये तब श्रीनारदजीनें देवतानके सोवर्ष पीछें श्रीकृष्णको सान्निध्य होयवेको कह्यो हतो. सो वाक्य सिद्ध करिवेकेलिये श्रीकृष्ण आपु वहां पधारिके नलकूबर-मणिग्रीवको उद्धार कियो. तब श्रीआचार्यजी साक्षात् आपके मुखारविन्दस्वरूप हें, आपके स्वरूपकुं यथार्थ जानिवेवारे हें ओर दैवीजीवनके उद्धारार्थ आपुने प्रकट किये हें विनके वचनसूं तो आप अनुग्रह करेंहीगें ये जतायवेकेलिये मूलमें आपको नाम धर्यो हे. तासों तामें संशय नाहीं राखनो॥12॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचित श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रकी
व्रजभाषामें संक्षिप्त**टीका**

गोस्वामि श्रीनृसिंहलालजीमहाराज कृत सम्पूर्ण भई ॥

चतुःश्लोकि ग्रन्थ-परिचय

चतुःश्लोकिका प्रणयन श्रीमहाप्रभुने विक्रम वी.सं. १५८० या ८२ कभी किया था ऐसी किवदन्ती मिलती हे

(* श्रीनागरदास बाम्भनिया लिखित लेख, वैष्णववाणी अङ्ग 4 बर्ष 1979)

यह ग्रन्थ किस भाग्यवान् भगवदीयकेलिए लिखा गया यह तो पता नहीं चलता, किन्तु चौरासी वैष्णवोंकी वार्ताके अनुसार राना व्यास और भगवानदास साञ्चोराने श्रीमहाप्रभुके मुखारविन्दसे इस ग्रन्थका अध्ययन किया था.

प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थोका कोई न कोई विशिष्ट स्वरूप एवम् स्थान होता ही है. यह भिन्न बात है कि तत्तन्मार्गीय बीजभाव, रूचि, सङ्ग या देशकालादिकी स्थिति के अनुरूप तत्तन्मार्गीय जीवोंमें पुरुषार्थ-सम्बन्धी धारणायें भिन्न-भिन्न पायी जाती हैं. पुष्टिमार्गीय जीवोंकी धर्मार्थकाममोक्ष-सम्बन्धी धारणाओंके आदर्श स्वरूपका विचार इस चतुःश्लोकीमें किया गया है.

स्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षसे भिन्न प्रकारके पुरुषार्थोंके फेरमें जब कोई पड जाता है तो विफलता, निराशा, कुण्ठा, क्षोभ एवम् आत्मघाती भावनाओंकी ओर ही वह अग्रसर हो जाता है. इस जगतमें सभी तरहके जीव हैं और सभीको सभी तरहके सङ्ग भी मिल जाते हैं. इन आकस्मिक सङ्गोके कारण कभी-कभी हमारे भीतर एक ऐसी अस्वाभाविक अहन्ता-ममता पनप जाती है जो अस्वमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षके प्रकारोंकी ओर हमें आकृष्ट करती है.

गोधराके राना व्यासको भी प्रारम्भमें एक वैरागी बाबाकी सङ्गति मिली थी. उस वैरागी बाबाकी तीर्थयात्राकी बातोंको सुनकर राना व्यासको लगा कि जीवनका वास्तविक सुख तीर्थोकी यात्रा करते रहनेमें ही होना चाहिये. अतः अपने माता-पिताको कुछ कहे-सुने बिना एक रात ये घरसे निकल भागे. इनका मन परन्तु किसी भी तीर्थके दर्शनसे प्रसन्न न हो पाया. प्रारम्भसे ही इन्हें विद्याभिमान और जितेन्द्रिय होनेका अभिमान तो था ही सो माता-पिताके देहान्तके बाद इन्हें पाञ्च दस हजार रुपये और उत्तराधिकारमें मिले फलतः इन्हें धनाभिमान भी हो गया! कुल मिला कर ये अपने-आपको पहुंचा हुआ सिद्ध और उच्च कोटीका विद्वान् मानने लग गये. शनैः-शनैः अपने गांवके लोग तो इन्हें गंवारू ही लगने लगे सो काशीके विद्वानोंसे टक्कर लेनेकी लालसा इनके दिलमें जगी और एक दिन ये काशी पहुंच गये. वहां जानेके बाद किन्तु सब कुछ उलटा ही हुआ, जिन-जिन पण्डितोंसे ये टकराये उन सभीसे इन्हें शास्त्रार्थमें पराजित होना पडा!

इससे ये अत्यधिक लज्जित होकर गङ्गामें कूदकर प्राणत्याग करना चाहते थे. यह आत्मघात भी दिनके उजालेमें करनेमें इन्हें समोचका अनुभव हो रहा था सो गङ्गातटपर बैठे रात्रीके एकान्त और अन्धकार की प्रतिक्षा कर रहे थे! तभी श्रीमहाप्रभुका भी वहां पधारना हुआ. संयोगवश किसी वैष्णवने

श्रीमहाप्रभुसे प्रश्न किया कि गङ्गामें डूबकर मरनेवालेकी क्या गति होती है. इसपर श्रीमहाप्रभुने उत्तर दिया कि अहमारवश लड-झगडकर डूबनेवालेको सर्पयोनि मिलती है और आत्मघातका पाप भी लगता है. दीनभावसे किन्तु सक्क्यास लेकर और अपने मनको भगवान्में एकाग्र बनाकर जो गङ्गामें प्राणत्याग करते हैं उनकी दुर्गति नहीं होती.

ये बातें सीधी जाकर राना व्यासको लग गयी और वे दोडकर श्रमहाप्रभुके चरणोंमें आकर गिर पडे. अपनी आत्मगाथा सुनाकर श्रीमहाप्रभुकी शरणयाचना करने लगे. श्रीमहाप्रभुने गङ्गास्नान करनेका आदेश दिया और बादमें ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षा दी. तुरत ही श्रीमहाप्रभुने इन्हें चतुःश्लाकीका उपदेश भी दिया था. ये सम्प्रदायके अच्छे विद्वान् हुए. श्रीमहाप्रभुविरचित अन्य भी अणुभाष्य सुबोधिनी आदि ग्रन्थोंकी इनके द्वारा हस्तलिखित प्रतियां अद्यापि उपलब्ध होती है.

इस चतुःश्लाकीके अध्ययनसे राना व्यासको अपने वास्तविक धर्म, अर्थ, काम एवम् मोक्ष रूप पुरुषार्थोका ज्ञान हुआ और वे मिथ्या वैराग्य, धन तथा विद्वत्ताके अहमारसे मुक्त हुए. साथ ही साथ इस अहमारकी विफलतासे पैदा हुई कुण्ठा एवम् आत्मघात की भी क्षुद्र भावनाओंपर काबू पा सके. ये एक आदर्श भगवदीयका सा भगवत्सेवा तथा भगवत्स्मरण परायण पुष्टिमार्गीय जीवन जीनेकेलिए सक्षम हो पाये.

पुष्टिमार्गीय भक्ति निष्काम-निरुपाधिक होती है. स्वयम् भगवदनुग्रह ही पुष्टिजीवके हृदयमें भक्तिका रूप धारण कर लेता है. भगवदनुग्रह जीवकृत साधनोंपर निर्भर नहीं होता. वह तो निर्हेतुक ही प्रकट होता है. जिस जीवमें वह बीजभावके रूपमें विद्यमान् होता है उस जीवमें वह प्रेम आसक्ति, व्यसन और अलौकिकसामर्थ्य के रूपमें अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और

फलित होनेकी विभिन्न अवस्थाओंमें 'पुष्टिभक्ति' शब्दसे पुकारा जाता है. भगवदनुग्रहको ही अतः दिशाभेदसे 'पुष्टि' और 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है. अनुग्रह जब भगवान्से भक्तकी दिशामें अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टि' कहते है और जब जीवके हृदयसे परावृत्त होकर पुनः भगवान्की दिशामें अग्रसर होता है तो उसे हम 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं. निष्कारण ही भगवान् जब किसी जीवपर अपनी कृपा या पुष्टि की वर्षा करते हैं और वह कृपावृष्टि हृदयके छोटेसे प्रदेशमें समा नहीं सकती तब उच्छलित होकर पुष्टिभक्तिकी सरिताके रूपमें बहने लग जाती है! उसी कृपासागर परमात्माकी ओर जहांसे उठकर कृपाके मेघ जीवपर बरसे थे!

अतः जैसे अनुग्रहके पूर्व न कोई कारण है और न अनुग्रहके पश्चात् कोई प्रयोजन ही, वैसे ही न पुष्टिभक्तिसे पूर्व कोई कारण है और न पुष्टिभक्तिके पश्चात् कोई प्रयोजन ही. केवल अनुग्रह ही भक्तके हृदयसे परावृत्त होनेपर पुष्टिभक्ति बन जाता है (अतः स्नेहः पदार्थान्तरम्...स भगवन्निष्ठ एव भगवद्विषयको ज्ञानवदैश्वर्यवद्वा भगवत्सम्बन्धात्तन्नैकट्यादन्यत्रापि भासते. उष्णस्पर्शवत्. यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशयः. (सुबो. 1-19-16).

स्वभावतः प्रवाहमार्गीय ऐहिक पुरुषार्थ अर्थ-कामकी सिद्धिकी कामना अथवा मर्यादामार्गीय धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थोकी सिद्धिकी कामना पुष्टिमार्गीय जीवके हृदयमें चिरस्थायी नहीं हो सकती. ऐसे पुष्टिभक्तोंके पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष का स्वरूप अन्यमार्गीय पुरुषार्थोंसे विलक्षण होना स्वाभाविक ही है. श्रीमहाप्रभुने इस चतुःश्लोकीमें पुष्टिभक्तिमार्गीय पुरुषार्थोका विलक्षण रूप हमें समझाया है. चतुःश्लोकी ग्रन्थके ये चारों श्लोक भागवतकी वृत्रासुरचतुःश्लोकीके साथ घनिष्ठ साम्य रखते हैं. वृत्रासुरचतुःश्लोकीके भी चार श्लोकोंमें इन्हीं पुष्टिमार्गीय चार

पुरुषार्थोंका स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है. प्रारम्भके तीन श्लोकोंपर श्रीप्रभुचरणकी विवृति उपलब्ध होती है तथा अन्तिम श्लोकपर श्रीमहाप्रभुविरचित विवृति अपलब्ध होती है. इस अन्तिम श्लोककी विवृतिके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभुने एक सङ्ग्रहश्लोक दिया है.

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि।
कामो हरिदिदृक्षैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्॥

अर्थ:श्रीहरिका दास होना ही पुष्टिमार्गीय धर्म है. पुष्टिभक्तोंके अर्थ स्वयमेव श्रीहरि हैं. श्रीहरिके दर्शनकी कामना ही पुष्टिमार्गीय काम है तथा सर्वात्मना श्रीकृष्णका बन जाना ही पुष्टिभक्तका मोक्ष है.

इसी सूत्रका भाष्य वृत्रासुरचतुःश्लोकीमें तथा इस श्रीमहाप्रभुविरचित चतुःश्लोकीमें भी हम पाते हैं.

पुष्टिमार्गमें भगवान्के साथ जीवका सम्बन्ध रसात्मक होता है. रसमीमांसामें रति-स्नेह संयोग एवम् वियोग दो पक्ष माने गये है. अतः भक्तिमार्गमें भगवान्की अनुभूति जब संयोग अथवा वियोग में से किसी एकतरकी होती है तो वह अपूर्ण अनुभूति मानी जाती है. अतएव इसे भक्तकी साधनावस्था भी मानते है. रस द्विदलात्मक है अतः संयोग और वियोग दोनोमें जब भगवान्की अनुभूति होने लग जाये तो फलावस्था मानी जाती है. तदनुसार धर्म और काम की सिद्धि साधनावस्थाका परिपाक है; और अर्थ तथा मोक्ष की सिद्धि फलावस्था है. क्योंकि धर्ममें-व्रजाधिपके भजनमें केवल संयोगका अनुभव होता है तथा काममें-हरिदर्शनकामनामें केवल वियोगका अनुभव होता है. जबकि अर्थ-भगवान्का रसात्मक स्वरूप तो द्विदलात्मक ही है, अतः मोक्ष-भगवद्भजनमें संयोगानुभूति और भगवत्स्मरणमें वियोगानुभूति जब निरन्तर या क्रमशः होने लग जाये तो

भगवान्की रसात्मिका अनुभूति अपनी पूर्णतापर पहुंच जाती है. पुष्टिभक्तको उसका मोक्ष मिल जाता है.

पुष्टिभक्तका धर्म:

पुष्टिमार्गमें व्रजाधिप ही भजनीय हैं. क्योंकि गीता तथा भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म परमान्द रूप है. अव्यय अप्रमेय निर्गुण गुणात्मा परब्रह्म परमात्मा व्यापिवैकुण्ठनायक भगवान् जब अपनी पूर्णताको लिये हुए व्रजमें अपनी नित्यलीला प्रकट करते हैं तो उन्हें 'श्रीकृष्ण' कहा जाता है. जीव चाहे सुसाधन हों या निःसाधन अथवा दुष्टसाधन, सभी जीवोंके निःश्रेयस्केलिए श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं. यही उनके प्राकट्यका परम प्रयोजन है. जीवोंके साधनबलकी परवाह किये बिना अपने स्वरूप अथवा स्वरूपानन्द के बलपर जीवोंके उद्धारक होनेसे श्रीकृष्णको 'सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा' कहा जाता है.

श्रीकृष्ण सभी जीवात्माओंके अंशी होनेके कारण सहज स्वामी हैं. शुद्धाद्वैत-ब्रह्मवादके दृष्टिकोणसे आध्यात्मिक रूपमें सभी जीवात्मायें अंश होनेके कारण श्रीकृष्णकी सहज दास है. परन्तु लीलार्थ किन्हीं जीवोंपर श्रीकृष्ण अपनी सहज कृपा प्रकट करते हैं, तब आधिभौतिक रूपमें इस भूतलपर और आधिदैविक रूपमें व्यापिवैकुण्ठमें भी ऐसे जीवोंको अपनी स्वरूपसेवाका अवसर प्रदान करते हैं. ऐसे जीवोंको पुष्टिजीव समझना चाहिये. यह सेवाका अवसर जीवात्मा और परमात्मा के बीच किन्हीं भी भावोंके रसात्मक सम्बन्धों द्वारा स्थापित हो सकता है. यथा सेवक, पुत्र, माता-पिता, सखा या प्रियतमा आदि रूपमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच जब कोई सम्बन्ध स्थापित हो जाये, आधिभौतिक जगतमें या आधिदैविक नित्य लीलामें, तो भगवान्का वह स्वरूप और वह लीला पुष्टिस्वरूप और पुष्टिलीला कहलाती है. अखिल ब्रह्माण्डके नाथका गोकुलनाथ बनना पुष्टिलीला है!

श्रीकृष्ण कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि सभी जीव उनका दर्शन कर पायें और कभी इस तरह प्रकट होते हैं कि कोई भक्तिविशेष ही उनके दर्शन कर पाता है. अपने दोनों प्रकारके प्रकटरूपमें भक्तके अधिकार या मनोरथों के अनुरूप श्रीकृष्ण व्यापिवैकुण्ठ अथवा व्रज की लीलाओंको प्रकट कर सकते है. अतएव भक्तके भावोंके अनुरूप स्वयम्को ढाल पानेकी कसौटीपर व्रजलीलाविहारी व्रजाधिप श्रीकृष्ण भक्तोंकेलिए पूर्णतम परमानन्द-स्वरूप सिद्ध होते हैं, मथुराके या द्वारकाके श्रीकृष्णके पूर्णतर या पूर्ण परमानन्द-स्वरूप होनेपर भी. अतएव व्रजभक्तोंकेलिए एवम् व्रजभक्तोकी भावनाके अनुसार भक्ति करनेवाले भक्तोंकेलिए व्रजाधिप श्रीकृष्ण ही समग्र पुष्टिफलोंके दाता तथा पुष्टिफलरूप भी हैं-“अनन्यगोकुलस्वामी फलदाता फलात्मक:.”

व्रजाधिपका यह भजन कैसे और किस भावसे करना चाहिये? श्रीमहाप्रभु उत्तर देते हैं-‘सर्वभावसे’. “त्वमेव सर्वं मम देवदेव!”-मेरे माता-पिता बन्धु-मित्र पुत्र धन-विद्या सभी कुछ भगवान् ही हैं, ऐसे भावके साथ भजन करना चाहिये. केवल मधुरभावसे भी भजन किया जा सकता हैं.

श्रीकृष्ण जब परमात्मा, स्वामी, पुत्र सखा या प्रियतम जैसे रूप धारण कर हमारे भावोंके आलम्बन (विभाव) बनते हैं तो तदनुरूप श्रीकृष्णके प्रति पनपे हमारे स्थायी भाव भी भगवदात्मक ही होते हैं. श्रीकृष्णके जिस रूपसे हम स्नेह करते हैं वह बाह्य रूप और हमारे हृदयके भीतर रहा स्नेह दोनों ही आधिदैविक अलौकिक परमानन्द रूप होते हैं. लौकिक आधिभौतिक या मायिक नहीं. भक्तोंके भाव और भावोंके आलम्बन दोनों ही श्रीकृष्ण होते हैं. भावके आलम्बनके रूपमें भगवान् रसभोक्ता है तथा रसभावके रूपमें भगवान्को भोग्य भी माना जाता है. कभी-कभी भक्तपरवश होकर भगवान्

आलम्बलनके रूपमें भी भोग्यभाव प्रकट करते हैं. इसे “गूढ स्त्रीभाव” कहा जाता है. भोक्तृभाव ‘पुम्भाव’ कहलाता है और भोग्यभाव ‘स्त्रीभाव’. भोक्तामें जब रसावेशमें भोग्यभाव प्रकट हो जाये तो उसे ‘गूढ स्त्रीभाव’ कहते हैं और भोग्यमें भोक्तृभाव प्रकट हो जाय तो उसे ‘गूढ पुम्भाव’ कहते हैं. उदाहरणतया प्रत्येक गुरुमें छिपा हुआ एक विद्यार्थी होता है और इसी तरह विद्यार्थीमें एक छिपा हुआ गुरु भी होता है. अध्ययन-अध्यापनकी दुर्लभ तन्मतामें गुरुका गूढ विद्यार्थीभाव कभी प्रकट होता है. इसी तरह विद्यार्थीका गूढ गुरुभाव भी! इन गूढ़ भावोंका प्राकट्य पुष्टिकी पराकाष्ठा है, सभी प्रकारके-स्वामि-सेवक, पुत्र-माता-पिता, सखा-सखा या प्रिया-प्रियतम-सम्बधोंमें. भक्त और भगवान् में इन गूढ भावोंको प्रकट करनेके मनोरथसे भी भगवान् भजनीय हैं.

जिन भक्तोमें ऐसा गूढभाव प्रकट हुआ अथवा जिन भक्तोंकेलिए भगवान्ने स्वयम्में ऐसे गूढभाव प्रकट किये ऐसे भक्तोंके प्रति दैन्यभाव रखते हुए भजन करना चाहिये-“अहं हरेस्तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि”. हमारे हृदयमें जब-तक कोई एक निश्चित भाव स्थिर नहीं हो जाता तब-तक विविध भावोंकी भावना करनेके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है. प्रारम्भमें अतएव भगवत्सेवा व्रजभक्तोंकी भावनाके अनुसरणपर-व्रजभक्तोंको अपना गुरु मानकर करनी चाहिये. साधनावस्थामें हमारी भक्तिको भावनाके माध्यमसे व्रजभक्तोंके भावोंतक पहुंचानी पडेगी. किसी निश्चित दिशामें बहती एक नदीके समान भावना होती है, जो भावके रूपमें सागर बन जाती है. सागर बहता नहीं केवल लहराता है! अतः व्रजभक्तोंके भावोंकी भावना, माहात्म्यज्ञान-जनित दैन्य और आत्मा-अंश तथा परमात्मा-अंशो के सहज निरुपाधिक स्नेहके साथ प्रारम्भमें कृष्णसेवा करनी चाहिये. सेवाके इस प्रकारकी ही भावदीक्षा ब्रह्मसम्बन्धके समय दी जाती है. आत्मनिवेदनके समय अहन्ता और ममता से जुडे सभी पदार्थों और सम्बन्धोंको हमें

भगवान्को समर्पित करना होता है. इस सर्वसमर्पणके भावसे भी भगवद्-भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. यों 'सर्वभावेन'में सभी भाव विवक्षित है.

किसी कालविशेषमें एक कर्मकाण्डकी तरह भजनका अनुष्ठान हमें नहीं करना है. एक जीवनप्रणालीके रूपमें सर्वदा-निरन्तर अर्थात् किसी कालके नियमके बिना भगवत्सेवामें तत्पर रहना चाहिये, भगवद्-भक्तकी सभी क्रियायें-सोने-जगने-कमाने-खाने या स्नेह-उपेक्षा आदिकी-उसके द्वारा की जाती भगवत्सेवाकी अङ्ग ही बन जाती है.

"पुष्टिभक्तकेलिए व्रजाधिप श्रीकृष्ण ही भजनीय है" यह कथन भजन करनेकी आज्ञा या विधि नहीं है. क्योंकि किसी आदेशकी अवहेलनाके कारण जो दण्ड मिल सकता है उस दण्डका भय न हो तो फिर आदेश-पालन आवश्यक नहीं रह जाता. श्रीमहाप्रभु अतएव आदेश नहीं दे रहे है किन्तु भगवान्के भजनकी आवश्यकता हमें समझा रहे हैं. पुष्टिप्रभुकी सेवा न करनेवाला पुष्टिजीव अपनी सहज आवश्यकताओंसे वञ्चित रह जाता है. जैसे कोई शिशु अपनी मांके दूधके बिना दुर्बल हो जाये, या जैसे कोई प्राणी प्राणवायुके न मिलनेपर बेचैन हो जाये, या जैसे कोई बीमार औषधीके बिना स्वस्थ न होने पाये, अथवा जैसे कोई खडी फसल बरसात न पडनेके कारण सूख जाये! ऐसे ही जिस पुष्टिजीवसे जिस समय या जिस जन्ममें कृष्णसेवा नहीं निभ पाती वह समय और जीवन उनका व्यर्थ चला जाता है. उसके स्वरूपका कोई प्रयोजन या अस्तित्वका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है! पुष्टिजीवसे व्रजाधिपकी सेवा न निभना नैतिक अपराध नहीं किन्तु अस्तित्वकी निरर्थकता है. इस अर्थमें व्रजाधिपका भजन पुष्टिजीवोंका प्रथम एवम् चरम सनातन धर्म है-उसके अस्तित्वका निगूढ तात्पर्य!

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि समी देश-कालमें पुष्टिजीवका तो यही कर्तव्य है-यही धर्म है. किसी भी देशकालमें इसके अलावा अन्य कोई धर्म पुष्टिजीवका हो नहीं सकता.

कृष्णसेवाके सिवा अन्य सारे धर्म पुष्टिजीवके सहज-स्वभाविक धर्म नहीं होते, किन्तु औपाधिक-आकस्मिक धर्म ही होते हैं. अविद्याके बन्धनके कारण आरोपित अहन्ता-ममताके कारण अन्य धर्म हमारे लिए कर्तव्य बन जाते हैं. उदाहरणतया स्त्री-पुरुष ब्राह्मण-शूद्र या गृहस्थ-सक्क्यासी आदिके धर्म तत्तद् देह, वर्ण या आश्रमके अभिमानोंके कारण हमारे लिए अनिवार्य धर्म बन जाते हैं. मैं स्त्री हूं या पुरुष हूं, मैं ब्राह्मण हूं या मैं शूद्र हूं, मैं गृहस्थ हूं, या मैं सक्क्यासी हूं इत्यादि रूपोंमें हमारी आरोपित अहन्ताकेलिए कारण तत्तद् देहोचित वर्णोचित या आश्रमोचित कर्तव्य हमारेलिए धर्म बन जाते हैं. इसी तरह माता-पिता और सन्तति, भाई-बहन, गुरु-शिष्य, मालिक-नौकर, समाज-व्यक्ति, राष्ट्र-नागरिक अथवा प्राणि-मनुष्य के ममताजन्य सम्बन्धोंके कारण उनके प्रति तत्तत् कर्तव्योंका निर्वाह हमारा नैतिक उत्तरदायित्व बन जाता है.

हम देख सकते हैं कि अहन्ता-ममताके द्वारा आरोपित सारे कर्तव्य देहाभिमानमूलक है, जबकि भगवत्सेवाका कर्तव्य होना आत्माके वास्तविक स्वरूप-बोधपर अवलम्बित है. अतएव अन्य सारे कर्तव्य देश-काल-द्रव्य-मन्त्र-कर्म-कर्ताकी शुद्धिकी अपेक्षा रखते हैं, जबकि भगवत्सेवा तो केवल भावसापेक्ष है. पुष्टिमार्गीय जीवोंकेलिए धर्मरूप स्वयम् भगवान् या भगवत्सेवा ही है. भावात्मक प्रमेयरूप भगवान्को जाननेका उपाय या प्रमाण भावात्मिका सेवा ही है. अतएव भक्तरत्न वृत्रासुर कहता है-

हरि! मुझे मोक्ष नहीं चाहिये किन्तु अपना दास मुझे बनाओ. मोक्षमें तो ज्ञानसे त्रिविध दुःख दूर हो जाते हैं परन्तु मेरे तो दुःख स्वयम् आप हरते हो तो ही दूर होने चाहिये. लौकिक अहम्के बन्धनोंसे मुक्त होनेवाले ज्ञानियोंका 'सोहम्'वाला अहम् मुझे नहीं सुहाता है. मरे भीतर 'दासोहम्'का भक्तिमय अहम् कभी मिटे नहीं ऐसा कुछ कर दो. यदि मैं आपके दास बननेका अधिकारी न होउं तो मुझे आपके दासोंकादास बनाओ. मेरा मन, मेरे प्राणनाथ! तुम्हारे गुणोंको गुनता रहे-मेरी वाणी तेरे गुणोंको गाती रहे-मेरी काया सर्वदा तेरी सेवा करती रहे. ऐसी आशिष मुझे दो.

पुष्टिभक्तका अर्थ:

पुष्टिभक्तके अर्थ पुरुषार्थरूप स्वयम् भगवान् ही है. श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि पुष्टिजीवोंकेलिए यह आवश्यक है कि वह स्वधर्म भगवत्सेवाको सदा निभाये चला जाये (एवं सदा स्म कर्तव्यम्) इस कृष्णसेवाकेलिए न तो किसी ऐहिक अर्थोपार्जनके आधिभौतिक व्यापारमें उलझनेकी आवश्यकता है और न किसी पारलौकिक अर्थोपाजंनकेलिए अन्याश्रयवाली आधिदैविक भृतकवृत्तिमें ही उलझनेकी आवश्यकता है. भगवान् तो अन्याश्रय अथवा प्रार्थना की अपेक्षा रखे बिना भक्तिके हितमें अपेक्षित ऐहिक-पारलौकिक योगक्षेमका और स्वयम् अपने स्वरूपानन्दका दान भी स्वयमेव करेगें. एतदर्थ उन्हें किसी लौकिक-पारलौकिक साधनोंकी या अर्थोकी अपेक्षा नहीं है. भगवान् भावात्मक हैं अतः छोला और छप्पनभोग, जो भी भावसे निवेदित किया जाये, समान रुचिसे स्वयमेव अङ्गीकार करेगें. अतः लौकिक अर्थ धन-सम्पत्तिपर यह भगवत्सेवा निर्भर नहीं है.

श्रुतिमें कहा गया है-"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेघया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" अर्थः यह परमात्मा प्रवचन मेधा या बहुश्रुततासे प्राप्त नहीं होता किन्तु अपनी

प्राप्तिकेलिए यह जिस जीवात्माको चुन लेता है उसे ही मिलता है-उसके ही समक्ष यह परमात्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है. अतः इस परमात्मस्वरूप अर्थका उपार्जन हमारे साधन या व्यापार से शक्य नहीं है. जिस जीवात्माका वरण वह सर्वसमर्थ परमात्मा करता है. उस जीवात्माके साधनोंकी वह परवाह नहीं करता. भगवत्सेवाके अधिकारी वे ही जीव होते है, जिनका भगवान् अपनी सेवाकेलिए चुनाव करते हैं, जिन्हें भगवान् अपनी सेवाकेलिए चुनते हैं उनके समक्ष अपने भोग्यस्वरूप गूढ स्त्रीभावको प्रकट करते है. जिन जिवोकेलिए भगवान् अपने-आपको समर्पित करनेकी ठान लेते हैं वे ही जीव भगवान्केलिए अपने-आपको समर्पित कर पाते हैं! इस परस्परके समर्पणके बाद जीवात्मा और परमात्मा के बीच कोई परदा रह नहीं जाता. अतः पुष्टिप्रभुका गूढ स्त्रीभाव एवम् पुष्टिजीवका गूढपुम्भाव प्रकट हो जाता है.

व्रतचर्याके प्रकरणमें ऋषिरूपा कुमारिकाओंको भगवानने वरदान दिया था. वे भगवान्को अपना पति-भोक्ता बनाना चाहती थी. भगवान्ने उनके चीर हर लिये! यह चीरहरण भगवानमें प्रकट हुए गूढ स्त्रीभावका ही विवरण था और पुनः जो चीर कुमारिकाओंको लोटाये गये वह तो गूढ पुम्भावका वितरण था. कुमारिकायें श्रीकृष्णकेलिए आत्मार्पणका व्रत कर रही थी, क्योंकी श्रीकृष्णने आत्मार्पणके हेतु उन्हें वृत करलिया था-चुन लिया था. चीरहरण तो केवल प्रकट पुम्भाव और स्त्रीभावों का विनिमय मात्र था! इसके बाद जो कुमारिकाओंमें भोक्तृभाव प्रकट हुआ वह उनके कात्यायनीव्रतका प्रभाव नहीं था; और न छ बरसकी कुमारिकाओंके देह, जिनमें न तो तारुण्य और न किसी वैसे लावण्य की ही सम्भावना हो सकती थी, का कोई प्रभाव स्वीकारा जा सकता है. ऋषि-मुनियोंके तप एवम् व्रत का भङ्ग तो कामदेव कर सकते है, परन्तु इन छह बरसकी कुमारिकाओंमें श्रीकृष्णके प्रति जो मधुरभाव जगे, उसे जगानेका सामर्थ्य कामदेवका नहीं किन्तु स्वयम् सर्वसमर्थ श्रीकृष्णके कामादपि कमनीय रूपका ही था. प्रमेय-प्रकरणमें श्रुतिरूपा गोपीकाओंके

श्रीकृष्णके प्रति निरूपाधिक स्नेहको शृङ्गारोपाधिक गूढ पुम्भावके रूपमें इसी शृङ्गाररसमूर्ति श्रीकृष्णने ही रूपान्तरित कर दिया था. निरूपाधिक निराकार स्नेहको शृङ्गाररसके स्थायिभावके आकारमें वेणुकूजनकी छेनीसे गढा था! अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं-"केवलं शृङ्गारार्थमेव कूजनम्" (सुबोधिनी-वेणुगीत).

श्रीकृष्णके बारेमें किसी भी प्रकारका स्नेह-दास्यभाव, वात्सल्य, सख्य या माधुर्यभावात्मक-स्वयम् श्रीकृष्णके सभी तरहके आलम्बनविभावोंके रूपोंको धारण करनेके सर्वसामर्थ्यसे ही सम्भव होता है.

पहले श्रीकृष्ण स्वामीका रूप धारण करते हैं तब जीवमें दास्यभाव जगता है. श्रीकृष्णके बालरूप धारण करनेपर हमारे हृदयमें वात्सल्य उभरता है. श्रीकृष्णके विकराल कालरूप धारण करनेपर बेचारा कंस भयभीत हो जाता है. श्रीकृष्णकी क्रीडाकी इच्छासे किसी सखाको खोजनेपर हमारे भीतर सख्यभाव पनपता है. श्रीकृष्णकी प्रियतम बननेकी कामना ही हमारे हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति मधुर प्रेमको अमुरित करती है. वह जब भोग्य बनना चाहता है तब हमारे भीतर भोक्तृभाव अड्गडाई लेने लगता है. उस आत्मारामके भक्तकाम बननेपर भक्तोंमें अलौकिक भगवत्काम प्रकट होता है. वह अखिल ब्रह्माण्डका आधार होनेपर भी मां यशोदाकी गोदमें गुपचुप आकर बैठ सकता है, इतना समर्थ है. हां, वह सर्वसमर्थ है अतएव पुष्टिभक्तकी सेवाके बिना रह न सके इतना असमर्थ भी बन जाता है. वह काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुष किसीके भी अधीन नहीं है-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है. हम परतन्त्र है. परन्तु वह स्वतन्त्र-परतन्त्र है. अतएव कहता है-"अहं भक्तपराधीन हृयस्वतन्त्र इव", अर्थात् हम 'अस्वतन्त्र एव' हैं पर अज्ञानवश अपने-आपको 'स्वतन्त्र इव' मान लेते हैं. वह 'स्वतन्त्र एव' है अतएव कृपावश 'अस्वतन्त्र इव' बन जाता है!

वह सर्वसमर्थ सर्वभोक्ता होनेपर भी भक्तभोग्य बननेमें समर्थ है-सम्यक् अर्थ है. अर्थ किन्तु भावात्मक होनेसे अपने हृदयकी तिजोरीमें गुप्ततया रखा रहा तो सुरक्षित रहेगा. अन्यथा भावात्मक अर्थके भोण्डे प्रदर्शनकी वृत्ति रखनेपर वह भावाभास बन जाता है-चुर जाता है. अतः 'अर्थ' कहनेके बजाय श्रीमहाप्रभुने 'सर्वसमर्थ' कहकर अपने अर्थको छिपा लिया है! पुष्टिभावसे भावित प्रभु छिपा हुआ रहा तो निश्चिन्त रहना चाहिये. अन्यथा बुद्धि या हृदय के द्वार बाहरकी ओर खुले कि अन्दरका यह अर्थ चुर जाता है.

चतुःश्लोकीके द्वितीय श्लोकका यह अर्थ-प्रमेय आलम्बन विभावके रूपमें अपने रसभोक्ताके पदको छोडकर हमारे हृदयके स्थायी भाव बननेको अर्थात् भोग्य रस बननेको उद्यत है. अतः लोकार्थिताके भावोंकों हृदयमेसें इस सिद्धान्तस्मरणकी सोहनी से बुहारना पडेगा. अन्यथा हृदयके बाहर इस द्वितीय श्लोकके अर्थको प्रतीक्षा करनी पडेगी, हृदयके स्वच्छ होनेकी! इन प्रतीक्षाकी घडियोंमें बाहर खडे पुष्टिप्रभुके बारेमें हमारे मनोरथ जो गांवमें प्रकट हो गये तब तो सब कुछ रसाभास हो जायेगा! क्योकि पुष्टिमार्गीय मनोरथकी तो एक ही दिशा है-"प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत". वृत्र तो असुर होनेपर भी इस पुष्टिमार्गीय अर्थका अन्य किसी ऐहिक या पारलौकिक अर्थके साथ विनिमय करनेका मनोरथ नहीं करता.

न तो मुझें लौकिक सात्त्विक अर्थ स्वर्गका इन्द्रासन चाहिये, न वैदिक राजस अर्थ ब्रह्माकी पदवी, न मुझे लौकिक राजस अर्थ सारी पृथ्वीके धनका स्वामी ही बनना है और न लौकिक तामस अर्थ पाताल आदि लोकोंका आधिपत्य ही. न मुझे वैदिक तामस अर्थ विभिन्न योगसिद्धियोंकी ही कोई कामना है और न वैदिक सात्त्विक अर्थ ज्ञानलभ्य अपुनर्भव-मोक्षकी ही कामना है. मेरे सर्वार्थरूप केवल हरि है-उनके अलावा और मुझे कुछ भी नहीं चाहिये! (प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत).

पुष्टिभक्तका काम:

श्रीकृष्ण-दर्शन-कामना ही पुष्टिभक्तका काम पुरूषार्थ है. नेत्रोंसे श्रीकृष्णके केवल दर्शनमात्र करनेके सीमित अर्थमें दर्शनाभिलाषा नहीं लेनी चाहिये. श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि पुष्टिभक्तकी कामना नेत्रोंसे केवल भगवान्के दर्शन कर लेनेसे पूरी नहीं हो जाती-वह तो सभी इन्द्रियोंसे भगवान्की अनुभूति चाहता है. अत: नेत्रोंसे साक्षात्कार होना ही फल नहीं है (दृष्टेपि भगवति यावत्सर्वेन्द्रियै: साक्षान्नानुभूयते न तावत्स्वास्थ्यमिति न साक्षात्कारमात्रं फलम्. (टिप्पणी 10।20।29). अतएव आगे निरोधलक्षण ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि संसारावेशसे दूषित इन्द्रियोंका हित इसीमें निहित है कि भूमा-परमानन्दरूप श्रीकृष्णके साथ उन्हें जोड दिया जाये. दर्शन-स्पर्शन-श्रवण-किर्तन-ध्यान आदि क्रियाओंसे आन्तर-बाह्य सभी इन्द्रियोंको भगवदभिमुख बनाना चाहिये. जिस इन्द्रियका भगवत्कार्यमें विनियोग शक्य न हो उसके विनिग्रहका यत्न करना चाहिये.

श्रुतिमें जीवको-"काममय एवायं पुरुष:" कहा गया है. यह काम कौनसा है? सभी जीव चाहे आस्तिक हों या नास्तिक, पुष्टिमार्गीय हों, मर्यादामार्गीय हों, या प्रवाहमार्गीय, सभीको सभी इन्द्रियोंसे परमानन्दकी कामना है. "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति". नेत्रोंसे, जिह्वासे, नासिकासे, त्वचासे या कर्णोसे हम खोज रहे हैं परमानन्दरूप श्रीकृष्णको ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श या शब्दों को नहीं.

इस परमानन्दकी खोजयात्रामें शीघ्रतया उसे प्राप्त करनेकेलिए जीवात्मा शरीरके रथपर सवार हो जाती है. अपनी बुद्धिको अपना सारथी बना लेती है और मनकी लगामसे बन्धे हुए इन्द्रियोंके घोड़ोको सरपट दोड़ाती है. ये इन्द्रियोंके घोड़े लेकिन बड़े ही उद्धत हैं-दौड़ते-दौड़ते ये मन और बुद्धि के नियन्त्रणके बाहर हो जाते हैं; और... बेचारे जीवको लौकिक विषयोंकी

वासनाके गर्तमें गिरा देते है! शरीरका यह रथ भी कालजर्जरित होनेसे गिरा कि टूट जाता है-नष्ट हो जाता है!

प्रवाहमार्गपर तो यह दुर्घटना प्रतिदिनका खेल है. मर्यादामार्ग या पुष्टिमार्ग के मोड़पर जो जीव अपने रथकी दिशा बदल नहीं पाते उनका तो विषय-वासनाके गर्तमें विनिपात निश्चित ही होता है. ऐसे जीवोंको 'प्रवाहिजीव' कहा जाता है. मर्यादामार्गकी ओर इस परमानन्दकी खोजमें रथोंको मोड़नेवाले मर्यादिक जीवोंपर इन दुर्घटनाओंका बड़ा ही विषम प्रभाव पड़ जाता है. वे मनोनिग्रह-मनकी लगाम खींच-करके रथको कथञ्चित् रोक देना चाहते हैं. कभी रथसे उतर कर पैदल ही यात्रा करनेकी कामना करने लग जाते हैं. कभी स्वर्गादि लोक या आत्मसुख के पडावोंपर ही अपनी यात्रा समाप्त कर देते हैं. कभी असीम एवम् दिशाहीन अव्यक्तोपासनाकी बहुजन्म जन्मान्तोंतक पूरी न होनेवाली अधिक क्लिष्ट यात्रापर निकल पड़ते हैं. कुल मिलाकर इन दुर्दान्त घोड़ोके वेगके साथ वे अपने मन और बुद्धि का सामञ्जस्य बिठा नहीं पाते, पस्तहिम्मत होकर पैदल चलना अधिक पसन्द करते हैं (ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा, सङ्घातस्य विलीनत्वात्, भक्तानां तु विशेषत: सर्वेन्द्रियैस्तथाचान्त:करणैरात्मनापि हि ब्रह्मभावात्...विशिष्यते). अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं-"वैराग्यं च भगवतो ज्ञानं वा सर्वतापनिवर्तकम्. यत्संस्कारयोग्यं तज्ज्ञानेन नश्यति यदयोग्यं तत्परित्यागेन. अतएव स्मार्तै: संस्काराशक्तै: परित्याग एव बोध्यते" (सुबो.) अर्थ:ज्ञान और वैराग्य से सारे ताप दूर हो जाते हैं, यदि हम परमानन्दरूप श्रीकृष्णको भलीभान्ति जान पायें तो सारे लौकिक विषयोंको (ब्रह्मसम्बन्ध) संस्कारसे शुद्ध कर पायेंगे. अन्यथा जिन विषयोंको भगवत्समर्पणके संस्कारसे शुद्ध न किया जा सकता हो उनका तो परित्याग ही करना चाहिये. यही कारण है कि स्मार्त लोग संस्कारद्वारा शुद्ध करनेमें असमर्थ

होनेके कारण सभी वस्तुओंके परित्यागका ही उपदेश देते रहते हैं. व्यर्थ त्यागके अपेक्षा वस्तुको भगवान्को समर्पित कर देना उत्तम कल्प है.

किसी वस्तु या व्यक्ति को सुधारना हो तो उसे भलीभान्ति जानना आवश्यक होता है. पर हम स्वयम् जब किसीको समझ ही नहीं पाते तो सुधारनेका प्रश्न नहीं उठेगा, ऐसी स्थितिमें परित्याग ही एक उपाय बच जाता है.

एक परमात्माकी आत्मक्रीडाकी ही अनेक नामरूपोंमें अभिव्यक्ति यह समग्र जगत है. हम भी ब्रह्मके चैतन्यकी आंशिक अभिव्यक्तियां हैं. मूल अंशीके व्यापक प्रयोजनके विपरीत जब हम अपनी अज्ञानजन्य अहन्ता-ममताके वशीभूत हो कर कोई शुद्र प्रयोजन घड़ लेते हैं, तभीसे सारी मुसीबतें खड़ी होने लगती हैं. इन्द्रियोंके तेज दौड़नेवाले घोड़ोंके रथमें तेजीसे भागते हुए हम दिशा भूल जाते हैं. अतएव शरणागति हमारी अहन्ताका शुद्धिसंस्कार है और ब्रह्मसम्बन्ध हमारी ममताका शुद्धिसंस्कार बनता है. अहन्ता-ममताके शुद्ध होते ही हमें दिशाकी पहचान होने लग जाती है. ऊबड़खाबड़ विषयवासनाके प्रदेशमें रथ दौड़ानेके बजाय हम पुष्टिके ऋजुमार्गपर पुन: आरूढ़ हो जाते हैं. विषयोंके सेवनमें परमानन्द नहीं मिल सकता परन्तु परमानन्दके सेवनमें तो सब कुछ मिल जाता है! श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि चित्तमें भगवत्प्रेम सम्पादित होना चाहिये-प्रेमसम्वलित चित्त सर्वत्र विद्यमान् परमात्माको स्वयमेव खोज लेगा. अतएव उपनिषद्में परमात्माको-"सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस: सर्वमिदम्" कहा गया है.

श्रीगोकुलाधीशको सर्वात्मना हृदयमें धारण करना सभी इन्द्रियोंसे उन्हें चाहनेकी पहली शर्त है. यदि एकबार हृदयमें धारण कर पायें तो उन्हें आंखोंसे भी देखा जा सकता है, कानोंसे सुना जा सकता, हाथोंसे पकड़ा जा सकता है और चरणोंसे दौड़कर परमात्माके निटक पहुंचा भी जा सकता है. आवश्यकता है सर्वप्रथम परमात्माको हृदयमें धारण करने की!

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं..

भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च।
आश्लेष: सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविध:॥
अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा।
तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वत:॥
तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदा।
इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा॥
यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णो फलं भवेत्।
एवं मोक्षेपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा नहि॥ (वेणुगीतसुबो.)

"गिरधर देखे ही सुख होय! नयनवन्तको यही परमफल, यही विधि मोय त्रिलोय!" अतएव श्रीमहाप्रभु श्रीगोकुलाधीशके वियोगके तीव्रतापमें हृदयमें-मनमें प्रकट होती भगवान्की स्वरूपानुभूति तथा लीलानुभूति को 'परमफल' कहते है. क्योंकि एकबार हृदयमें भगवान् बिराज जाते है तो देर-सबेर सभी इन्द्रियोंसे भगवान्की रसात्मिका अनुभूतिकी कामना भी जग ही जाती है. इस कामनाके जगते ही अन्य लौकिक-वैदिक विषयोंकी कामनाओंका आकर्षण नि:शेष हो जायेगा. भगवान् स्वयम् कहते हैं-"न मय्यावेशितधियां काम: कामाय कल्पते, भर्जिता: क्वथिता धाना भूयो बीजाय नेशते" (भाग.) अर्थ:जिनकी बुद्धि भगवान्में लग गयी हो उनका काम कामार्थ नहीं रह जाता, जैसे भूंजे या उबाले हुए धान बीज नहीं बन सकते.

सभी इन्द्रियोंसे होनेवाली इस भगवदनुभूतिको वेणुगीत और भ्रमरगीत की सुबोधिनीमें 'सर्वात्मभाव' यमुनाष्टकमें 'तनुनवत्व' और सेवाफलमें 'अलौकिक सामर्थ्य' कहा गया है. यही निरोधकी फलावस्था है, जिसे यहां चतु:श्लोकीमें 'मोक्ष' कहा जायेगा. परन्तु इस सर्वेन्द्रियोंद्वारा भगवदनुभूतिसे जीव सम्पन्न हो उससे पहले सर्वेन्द्रियोंसे भगवदनुभूतिकी कामना-पुष्टिमार्गीय कामका

जगना आवश्यक है. यह कामना जगी कि पुष्टिमार्गीय काम पुरुषार्थ सिद्ध हो गया समझ लेना चाहिये. अतएव वृत्र कहता है-

हे अरविन्दाक्ष! मेरा हृदय तुम्हारे दर्शन चाहता है. जब मेरा मन तुम्हारे दर्शन चाहता है तो सभी इन्द्रियोंकें द्वारोंसे वह तुम्हें अन्दर पधराना चाहता है. जैसे पक्षीके पंख बिनाके बच्चे अपनी माताकी प्रतीक्षा, चुगेकेलिए करते हैं-जैसें गायका बछड़ा गायके थनसे दूधकी कामना करता है. सम्भवत: चुगा या दूध और कहींसे मिल जाये तो वे सन्तुष्ट हो सकते हैं, पर मेरा मन तो परदेश गये प्रियतमकी विररिणी प्रेमिकाकी तरह निरन्तर तुम्हारे ही ध्यानमें-मनोरथोंमें जुड़ा हुआ केवल तुम्हें ही देखना चाहता है!

पुष्टिभक्तका मोक्ष:

सर्वात्मना श्रीकृष्णका बन जाना पुष्टिभक्तका मोक्ष है. सर्वात्मना श्रीकृष्णके बननेका मतलब है-प्रपञ्चकी विस्मृति और कृष्णमें दृढ़ आसक्ति. भक्तको कृष्णानुभूतिका व्यसन हो जाना. निरन्तर कृष्णानुभूतिकी कामना इतनी तीव्र हो जाये कि या तो संयोगमें बाह्यालम्बनसे सभी इन्द्रियोंसें कृष्णका अनुभव हो, अन्यथा वियोगमें आसक्तिभ्रमन्यायसे पूर्वानुभूत श्रीकृष्णके स्वरूप एवम् लीलाका रोमन्थ-जुगाली इतनी तीव्रतर हो जाये कि अन्त:स्थित रति ही सभी रूप (आलम्बन, उद्दीपन तथा सञ्चारी भावके रूप) लेने लग जाये!

संयोगमें भजन, धर्म और वियोगमें स्मरण-स्मर-काम निरन्तर चलता रहे तो भक्तको मुक्त हो गया समझ लेना चाहिये. यह अनुभूति यदि इस भूतलपर होने लग जाये तो उसे जीवन्मुक्ति समझनी चाहिये. इसे ही 'तनुनवत्व' या 'अलौकिक सामर्थ्य' भी कहा गया है. नित्यलीला-व्यापिवैकुण्ठमें यदि यह अनुभूति होनेवाली हो तो उसे विदेहमुक्ति समझनी चाहिये. इसे ही 'नवतनुत्व' या 'सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु' कहा गया है. सङ्क्षेपमें प्रथम एवम् तृतीय पुरुषार्थ धर्म एवम् काम के निरन्तर चक्रके

रूपमें चल पड़ना पुष्टिभक्तका पुष्टिभक्तिमें मोक्ष माना जाता हैं. क्योंकि पुष्टिभक्तिका अर्थ-व्रजाधिप श्रीकृष्ण स्वयम् नटवरवपु होनेसे प्रेम तथा प्रियतम उभय रूप हैं-स्थायिभाव तथा आलम्बनविभाव रूप वही है. अत: वियोग और संयोग दोनोंमें वह अनुभूत हो सकता है यही श्रीगोकुलाधीशका स्मरण और भजन है.

श्रीमहाप्रभु कहते हैं-"ज्ञानं तु गुणगानं हि परोक्षे तत्प्रतिष्ठितम्, प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठमेवं चेद् रोधनं स्थिरं, पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत् परिवर्तते" (भाग. निबन्ध) अर्थ:भगवान्के वियोगमें भगवान्के गुणोंका गान ज्ञानरूप है; और संयोगमें प्रत्यक्षमें भजन श्रेष्ठ है. यह होनेपर जीव भगवान्में निरुद्ध हो जाता है. व्रजकी स्त्रियों और पुरुषों को रातमें और दिनमें इन्हीं ज्ञान और भक्ति का निरन्तर अनुभव चक्रकी तरह चलता ही रहता था. उन्हें परमानन्दरूप श्रीकृष्णका पूर्ण अनुभव मिल गया था!

पुष्टिभक्ति अपने आपमें मार्ग भी है और गन्तव्य भी-साधन भी है और फल भी. अतएव संयोग-वियोगमें भजन-स्मरणके चढ़ाव-उतारोंमें निरन्तर चलते रहना यहां मुक्ति है. पुष्टिभक्तिके मार्गपर चलकर अन्यत्र कहीं पहुंचना नहीं है-केवल निरन्तर इसी सुहावने मार्गपर टहलते रहना है-चरैवेति! चरैवेति!! चरैवेति!!!

अतएव पुष्टिपथका पथिक वृत्रासुर भी इस मार्गकी यात्रामें अपने सहयात्रियोंका साथ मांगता है कि कभी वह अकेले चलते हुए अन्य मार्गोपर भटक न जाये-

हे नाथ! मुझे सर्वदा तुम्हारे भक्तोंका ही सङ्ग-साथ तुम्हारे भक्तिमार्गपर चलते हुए मिलता रहे. कभी संसारासक्त व्यक्तियोंका सख्य मुझमें न पनपने पाये! यदि यह देह, पुत्र, स्त्री, गृहादि विषयमें मेरी आसक्ति भी हो तो तेरी

सेवामें उनकी उपयोगिता भरकेलिए ही और किसी हेतुसे नहीं! मैं समग्रतासे तेरा हो जाऊं और तू समग्रतासे मेरा...

वि. सं.1979 में श्रीमहाप्रभुविरचित चतु:श्लोकीका प्रकाशन हुआ था. वृत्रासुरचतु:श्लोकीका प्रकाशन वि. सं. 1978 में हुआ था. प्रस्तुत संस्करण उन्हींका ऑफ सेट प्रॉसेसमें पुनर्मुद्रित रूप है. ये दोनों ही ग्रन्थ गोस्वामी श्रीरणछोडलालजी महाराजके "श्रीजीवनेशाचार्य-पुष्टि-
सिद्धान्त-कार्यालय" से प्रकाशित हुए थे. इनके संयुक्त-सम्पादक थे श्रीचीमन ह. शास्त्री तथा श्रीहरिकृष्ण वीरजी शास्त्री. इन सभी महानुभावोंका हम इस पुन:प्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

॥चतुःश्लोकीः॥

लोकमें धर्म, अर्थ, काम ओर मोक्ष एसें चार पुरुषार्थ कहे गये हें. सो ये पुरुषार्थ पूजामार्गके अनुसार स्मृतिमें कहे साधनन्सूं प्राप्त होय हें. तहां स्मृतीनमे एसे कह्यो

गयो हे के ब्राह्मणदेहके विना मुक्ति नाहिं होय हे. तामें हु बुद्ध्यादिकनकी शुद्धिपूर्वक साङ्गोपाङ्ग साधननको निर्वाह होय तब मुक्ति होत हे. सो मुक्तिहु अक्षरकी प्राप्तिरूप होय हे. सोहु क्वचित् होय हे. सुसाधन जीवनकी हु यदि एसी दशा होय तब निःसाधननको जन्म तो वृथाहि होय! सो एसो न होय ताकेलिये श्रीप्रभू**ननने** अपने श्रीमुखरूप वाणीके पति श्रीमहाप्रभूनको भूतलपे प्रकट किये. विन् श्रीमहाप्रभू**ननने** पुष्टिमार्गीयजीवनको स्वसिद्धान्त जतायवेकेलिये 'चतुःश्लोकी' नामक ग्रन्थको निरूपण कियो हे; जासूं मर्यादामार्गीय धर्म, अर्थ, काम ओर मोक्ष सूं जुदे पुष्टिमार्गीय धर्म, अर्थ, काम ओर मोक्ष को बेगी बोध होय हे. तामें चारश्लोकन्सूं चार्यों पुरुषार्थनको निरूपण कियो हे. तामें प्रथमश्लोकसूं धर्माचरणरूप पहिले पुरुषार्थको निरूपण अनुष्टुप् छन्दसों करत हें:

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायऽमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥1॥

सर्वदा=सदा
सर्वभावेन=सभी भावन्सूं
व्रजाधिपः=ब्रजके अधिपति
भजनीयः=भजनकरिवेयोग्यहें
स्वस्य=अपनो, अयं=ये, एव=ही,
धर्मः=धर्म हे, क्व=कहुं हु
कदाचन=कबहु, अपि=भी,
अन्यः=दूसरो, न=नाहीं(अस्ति=हे)

भावार्थ : निरन्तर सर्वभावकरिकें व्रजाधिप (श्रीकृष्ण) सेवनकरिवे योग्य हें. पुष्टिमार्गीय जीवनको कृष्णसेवनही धर्म हे, कोउ कालमें अथवा कोउ स्थलमें अन्य कोउ धर्म नाहिं हे.

टीका : इतने व्रजाधिप जो सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण सोही पुष्टिमार्गीयनको सेवनीय हें. सो श्रीभागवतके दशमस्कन्धके जन्मप्रकरणविवरणमें श्रीमहाप्रभूनने आज्ञा करी हे जो "श्रीगोकुलमें निःसाधननकु फलरूप एसे श्रीकृष्ण प्रकटे हें तासूं हम सब ओरसूं

निश्चिन्त भये हें". तासूं निःसाधननकेलियेही भगवानको प्रागट्य होयवेसूं दैवीसृष्टिमें उत्पन्न भये एसें साधन-सम्पत्ति रहित जो जीव हें उनकुं श्रीकृष्ण अवश्य सेवाकरिवेयोग्य हें.

सो सेवा सर्वभावसूं करनी. इतने देह, इन्द्रिय, प्राण, स्त्री, पुत्र, धन ओर गृह आदि सब भगवानकेही हें मेरे नाहिं हें एसो जो भाव हे सो अहन्ता-ममतात्मक संसारकु मिटायवेवारो हे. जीवमें जब एसो भाव आवे तब जीव निश्चिन्त होय. सो जीव भगवन्मय ओर मुक्त कह्यो जाय हे. एसे जीवकी दशाको वर्णन 'भक्तिवर्धिनी'में कियो हे: "जब प्रभूनमे दृढासक्ति होय तब गृहमें स्थित (अभगवदीय) जो स्त्री, पुत्र आदि उनको बाधकपनो ओर विनमें अनात्मपनो दीखवेमें आवे हे. ओर प्रभुमें व्यसन; इतने प्रभु सिवाय रह्यो न जाय एसी दशा, जब होय तब सो जीव कृतार्थ होय हे". तासूं सर्वात्मभाव हे सो दैवीजीवनको मुख्य धर्म हे. सो निःसाधननकु अवश्य करिवेयोग्य हे. एसें भावसूंही सब कार्य सिद्ध होय हे. सो श्रीभागवत्में कह्यो हे जो "केवल भावकरिकेंही श्रीगोपीजन, गाय, यमलार्जुन प्रभृति वृक्ष, जाम्बवान प्रभृति मृग ओर मूढबुद्धिवारे कालीयप्रभृति सर्प हु सिद्ध होयकें मोकों प्राप्त भये हें". सो एसे श्रीभगवानके वचनसूंहि सर्वात्मभावकुं मुख्यधर्मपनो सिद्ध होय हे.

यहां शङ्का होय जो ऊपर कह्यो जो धर्म सो एक काल अथवा देश में करिवेयोग्य धर्म होयगो ओर सर्वदा करिवेको धर्म कहा वातें न्यारो होयगो? एसी शङ्का नाहिं होयवेकेलिये मूलमें 'नान्यः' ओर 'कदाचन' एसे दोय पदको ग्रहण करिकें ये दिखायो हे जो हमने कह्यो सोही धर्म हे तासूं अन्य कोउ धर्म पुष्टिमार्गीयनको कार्य सिद्ध करिवेवारो नाहिं हे. क्यों जो मर्यादामार्गीय धर्म विभूतिपर्यवसायी हे. इतने मर्यादामार्गीय साधनसूं भगवानकी विभूतिकी प्राप्ति होय सके परन्तु पुरुषोत्तमकी प्राप्ति न होय. ओर देश-कालके धर्ममेंहु विपर्यास देखिवेमें आवे हे. तासूं येही धर्म कर्तव्य हे एसो मूलके 'क्व' शब्दसूं सूचित होय हे. कालान्तरमेंहु ये धर्म त्याज्य नाहिं हे प्रत्युय विधेय हे एसें मूलके 'कदाचन'पदसूं सूचित होय हे॥1॥

पूर्वश्लोकमें प्रथम धर्मपुरुषार्थ जो पुष्टिमार्गीयनकु पुरुषोत्तमसेवनरूप हे ताको निरूपण करिकें अब द्वितीयश्लोकसूं द्वितीय अर्थपुरुषार्थको निरूपण करत हें:

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्॥2॥

सदा=नित्य
एवं=या प्रकारसूं
कर्तव्यं=करनो चहिये
(हरिः=दु:ख हरिवेवारे श्रीकृष्ण)
स्वयं=खुद, एव=ही
करिष्यति=करेंगे
स्म=प्रसिद्ध हे, हि=क्योंके
प्रभुः=स्वामी
सर्वसमर्थः=सबकरिवेकोंसमर्थहें
ततः=तासूं
निश्चिन्ततां=चिन्ता रहित
व्रजेत्=रहो

भावार्थ : सदा भगवदीयनको कर्तव्य पूर्वोक्त प्रकारको हे. फलदानादि श्रीहरिको कर्तव्य हे तासूं स्वयं ही करेंगे. क्यों जो प्रभु कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुं सर्वसमर्थ हें. तासूं ऐहिक-पारलौकिक मनोरथनके विषयमें निश्चिन्त होयके रहनो॥2॥

टीका : उपर कह्ये प्रमाण भगवत्सेवा-स्मरण निरन्तर कर्तव्य हे. ओर भक्तनके लौकिक-वैदिक कार्यनकु तो आप सर्वसामर्थ्ययुक्त प्रभु हें तासूं प्रार्थना किये विनाहि सम्पादन करेंगे. तासूं भगवद्भक्तकु यहलोक-परलोककी चन्ता छांडिके निश्चिन्त रहनो. भगवान् आपहि प्रमेयबलतें भक्तके सर्व अर्थकुं सम्पादन करत हें; तासूं पुष्टिमार्गीयनकु अर्थरूपहु प्रभुही हें॥2॥

या प्रकार अर्थको निरूपण करिके तृतीय श्लोकसूं पुष्टिमार्गीय काम पुरुषार्थको निरूपण करत हें:

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किम् अपरं ब्रूहि लौकिकैर् वैदिकैर् अपि॥3॥

यदि=जो
श्रीगोकुलाधीशः=श्रीगोकुलके राजाकुं
सर्वात्मना=सब तरहसूं
हृदि=हृदयमें
धृतः=धारण किये हें
ततः=तो फिर
लौकिकैः=लौकिकसूं
वैदिकैः=वैदिकसूं
अपि=भी. अपरं=दूसरो
(फलं=फल)किम्=कहा
(अस्ति=हे) (इति=ये)
त्वं=तुम, ब्रूहि=बोलो

भावार्थ : जब श्रीगोकुलाधीशकुं सर्वभावकरिकें जीवने हृदयमें स्थापित करि लिये हें तब वाकुं श्रीपुरुषोत्तमसूं उत्कृष्ट सर्वकाम पूर्णकरिवेवारो कहा पदार्थ शेष रहे हे?

टीका : अर्थात् प्रभु सिवाय कोउ ओर भक्तके कामपूरक नाहिं हे, वेही सर्वकामपूरक हें. विनकुंहि जब हृदयमें स्थापित करि लये हें तब, लौकिक सिद्ध करिवेवारी युक्तीन्सूं ओर वैदिक यागादिसाधक वचनन्सूं कहा कर्तव्य हे? कछु कर्तव्य नाहिं हे. सोहि श्रीमहाप्रभू**ननें** 'अन्तःकरणप्रबोध' ग्रन्थके प्रथम श्लोकमें कह्यो हे जो "हे अन्तःकरण! मेरो वाक्य सावधान होयकें सुन. जो श्रीकृष्णसूं अधिक कोउ दैवत, दोषकरिकें रहित, नाहिं हे". इतने प्रभु एकहि निर्दोष हें, ओर सब सदोष हें. तासूं निर्दोषकों हृदयमें स्थापित कियेसूं भक्तके सब कामकी सिद्धि हे. ओर पूर्व जो नारदादिक मुनियें भये हें विननेहु भगवत्प्राप्तिकेलिये प्रभुकी सेवा करिवेको उपदेश कियो हे. जब एसे प्रभुहि जाके हृदयमें बिराजे वा भक्तकु सेवाके फलमें कहा न्यूनता रहि जाय हे? सब काम पूर्ण हि होय हे॥3॥

एसें कामरूप तृतीय पुरुषार्थको निरूपण करिके मुक्तिरूप चतुर्थ पुरुषार्थको अब निरूपण करत हें:

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वर-पादयोः।
स्मरणं भजनं चाऽपि न त्याज्यम् इति मे मतिः॥4॥

॥इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता चतुःश्लोकी सम्पूर्णा॥

अतः=तासूं, शश्वत्=हमेंशा
गोकुलेश्वरपादयोः=श्रीगोकुलके
स्वामी एसे श्रीकृष्णके चरणनको
सर्वात्मना=सब तरेहसूं
स्मरणं=स्मरणको, च=ओर भजनं=सेवाको, अपि=भी
न=नाहिं
त्याज्यं=त्याग करनो
इति=एसी, मे=मेरी
मतिः=बुद्धि (अस्ति=हे)

भावार्थ : श्रीगोकुलेश्वर हृदयमें बिराजें ता पीछेहु सर्वात्मकरिके विनके चरणकमलको स्मरण ओर भजन (सेवा) न छोड़नो एसी मेरी मति हे.

टीका : इतने औषधके सेवनसूं सुखी भयो एसो पुरुषहु औषध खाय तो आगें रोग होयवेको सम्भव न रहे ताप्रकार प्रकृतमेंहु प्रभुकी प्राप्ति भये पीछेंहु जीवकुं आसूर जीवके सङ्गसूं आसुरावेश नाहिं होयवेकेलिये प्रभुको स्मरण ओर भजन रूप साधन औषधकीनाईं सदा कर्तव्य हे. एसें श्रीमहाप्रभुजी दैवीजीवनके उपर कृपा करिकें विनकुं जतायवेकेलिये “मेरी एसी मति हे” या प्रकार आज्ञा करे हें॥4॥

॥इति श्रीचतुःश्लोकीकी गोस्वामि श्रीनृसिंहलालजी महाराज कृत व्रजभाषा **टीका** समाप्त॥

भक्तिवर्धिनी ग्रन्थ-परिचय

चोरासी वैष्णवोंकी वार्ताके अनुसार भक्तिवर्धिनी ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने साचोरा परषोत्तम जोशीके लिए लिखा था. एक किवदन्ती* अनुसार इस ग्रन्थका प्रणयनकाल वि. सं. 1552 माना जाता है तथा प्रणयनस्थल प्रयाग, परन्तु भावप्रकाशके अध्ययन करनेपर लगता है कि इस ग्रन्थकी रचना गुजरातके किसी गांवमें हुई होनी चाहिये:

(*श्रीनागरदास बाम्भनिया लिखित लेख, वैष्णववाणी अंक 4 वर्ष 1979)

तब एक समय श्रीआचार्यजी गुजरात पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशी मध्यान्हके समय एक तलावपर सक्ध्या करत हुते. तब श्रीआचार्यजी तलावपर पधारिके सक्ध्यावन्दन करन लागे. सो पुरुषोत्तम जोशीकी ओर कृपा करिके दैवी जानि देखे. तब पुरुषोत्तम जोशी श्रीआचार्यजीके पास आई नमस्कार करि पूछ्यो-"महाराज! यह कर्ममारग बड़ो के ज्ञानमारग बड़ो?" तब श्रीआचार्यजी कहे-"जाके मनमें दृढ़ जो मारग आवे, जामे जाको विश्वास होय, वाके भाये तो वह मारग बड़ो; और बड़ो तो भक्तिमारग है जामें जीव कृतार्थ होई. और ज्ञानमारग कर्ममारग सो कृतार्थ कठिनतासों होई. सो काहूसो निर्वाह होय नाहीं. काहेते? कष्ट साध्य है. सो या कालमें शरीरको कष्ट कर्यो न जाई. कोऊ शरीरको कष्ट सहे तो मन ठिकाने रहे. ताते भक्तिमारगमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाही.

“तब पुरुषोत्तम जोशीने कही जो “महाराज! भक्तिको स्वरूप कहा, कृपा करिके कहिये!” तब श्रीआचार्यजी कहें-“भक्तिको स्वरूप वर्णन करिये तो पार आवे नाहीं परन्तु कछुक तोकों कहत हों” तब ‘भक्तिवर्धिनी’ ग्रन्थ करि ग्यारह श्लोक पुरुषोत्तम जोशीकों सुनाये. सो यह उत्तम अधिकारी है, ताते सगरो बोध हो गयो”.

इस तरह भक्तिवर्धिनी पुरुषोत्तम जोशीके हृदयमें भक्तिके वर्धनार्थ लिखी गई थी, गुजरातमें ही कहीं पुरुषोत्तम जोशीके गांवमें. इसके उपदेशके बाद पुरुषोत्तम जोशी सपत्नीक श्रीमहाप्रभुके अनुयायी हुए; और अव्यावृत्त होकर अपने घरमें कृष्णसेवामें तत्पर होगये-“सो दोऊ जन प्रीतिसों सेवा करन लागे. पाछे श्रीआचार्यजी द्वारिका पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशीने बहोत दिन सेवा करी. भगवद्भावमें मगन रहते अव्यावृत्त होई रहे. काहूके आगे अपने हृदयको भाव प्रकट न करते”.

कर्म-ज्ञान-भक्ति:

भगवद्गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुन भी भगवान्से ये ही प्रश्न कर बैठा था कि ज्ञानयोग यदि श्रेष्ठ है तो कर्मकी क्या आवश्यकता है; और कर्म यदि आवश्यक है तो फिर ज्ञानयोग किस अर्थमें श्रेष्ठ है. भगवान्ने वहां अर्जुनको समझाया है कि कर्मोके अनारम्भ या त्याग के कारण ज्ञानयोग श्रेष्ठ नहीं बन जाता. क्योंकि फलासक्ति-रहित कर्म अर्थात् निष्काम-कर्म भी इस दृष्टिसे ज्ञानयोगसे मिलते लाभोंको देनेमें सक्षम है. कर्मके फलोंमें आसक्ति बनी रही तो ज्ञानमार्गीय साधकके नैष्कर्म्यका भी अपने आपमें कोई मूल्य नहीं है. कर्मके फलोंके आकर्षणके रहते हुए कर्मका त्याग निरा पाखण्ड है.

भगवान् कहते हैं कि उन्हें, आत्माराम-आप्तकाम होनेपर भी, कर्मत्यागके बजाय लोकसङ्ग्रहार्थ ही सही पर कर्म अधिक सुहाता है. कोई भी ज्ञानी

स्वयम् परमात्मासे अधिक निष्काम या आप्तकाम हो नहीं सकता फिर ज्ञानयोगके नामपर कर्मत्यागकी क्या आवश्यकता है!

ज्ञानयोगी हो अथवा कर्मयोगी दोनोंको ही स्वधर्म-स्वकर्मका अनुष्ठान फलासक्तिके बिना करना चाहिये. क्योंकि परधर्मका भलीभांति अनुष्ठान भी स्वधर्मके बिन-भली-भांति किये गये अनुष्ठानसे श्रेष्ठ नहीं है. अर्जुनने इस सन्दर्भमें एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न भगवान्के समक्ष उपस्थापित किया है. वह पूछता है कि स्वधर्म-पालनकी जब इतनी अधिक महत्ता है तब व्यर्थ लोग कभी स्वधर्मके त्यागद्वारा तो कभी परधर्मोके अनुष्ठानद्वारा पापाचरण क्यों करते है?

भगवान्ने इस प्रश्नका विलक्षण उत्तर दिया है कि स्वधर्मत्याग अथवा परधर्माचरणकेद्वारा मनुष्य पापोंको बटोरता रहता है, अपने काम और क्रोध के वशीभूत होकर ज्ञानियोंकी ज्ञानाग्नि भी बहुधा कामके धुंएमें घिर जाती है. काम ही ज्ञानियोंका चिरशत्रु होता है.

भगवान्की बात बड़ी अटपटी लगती है कि क्यों केवल ज्ञानमार्गीय साधक ही कामनाओंका शिकार बनता है, कर्ममार्गीय या भक्तिमार्गीय साधक क्यों नहीं? कामनोंका आकर्षण तो सभी मार्गोके साधकोंमें प्रारम्भमें तो रहता ही है या कमसे कम रह सकता है! परन्तु थोड़ा ध्यानसे देखनेपर पता चलेगा कि हमारी ममता और अहन्ता का ही अदम्य विस्फोट क्रमश: काम और क्रोधके रूपमें होता है. अतएव भगवान् कहते हैं-“काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव: महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्”. हमारी अहन्ता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर क्रोधके रोगका रूप धारण कर लेती है. इसी तरह हमारी ममता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर कामके रोगका रूप धारण कर लेती है.

इन काम तथा क्रोध के रूपोंमें हमारी ममता तथा अहन्ता के राजस विस्फोटसे ध्वस्त होती साधकोंकी साधनाकी सुरक्षाके उपायरूप अनेक मार्ग प्रवृत्त हुए है.

चार मार्ग:

1.बुद्धने आत्मचेतनाको काम-क्रोधके आवेगोंसे बचानेकेलिए इनकी बीजभूत अहन्ता और ममता को ही तोड़ देनेका उपाय सुझाया था. एतदर्थ अनात्मवादपर आधारित 'नाहम्' की भावना तथा विज्ञानवादपर आधारित 'न मम' की भावनाको जगानेपर भार दिया गया. मानों हमारी चेतनामें अहन्ता और ममता की ग्रन्थियोंमें यदि क्रोध और काम के व्रण हो गये हों तो उन्हें रुझानेके बजाय इन ग्रन्थियोंकी ही शल्यचिकित्सा कर दी गई. वैदिक शास्त्रोंको यह शल्यकर्म सभी स्थितियोंमें मान्य नहीं था. अत: बुद्धसे पूर्व ही कर्मयोग ज्ञानयोग एवम् भक्तियोग की प्रणालियोंमें अन्य अघोर एवम् अक्लिष्ट चिकित्सा इनकी सोची गई.

2.कर्मयोगकी प्रणालीमें अहन्ताको तोड़नेकी परवाह किये बिना ममताको विभिन्न देवताओंसे जोड़नेकी चिकित्सा-प्रणाली अपनायी गई हैं-"अग्नये स्वाहा अग्नये इदं न मम-सूर्याय स्वाहा सूर्याय इदं न मम" इत्यादि. "वित्तं च मे पुत्रं च मे पशुंश्च में" की ममतामयी सकाम-कर्म-वृत्ति वाले साधकोंकी ममताको-"देवतायै इदं न मम" की प्रणालीद्वारा निष्काम-कर्मकी ओर कर्मयोग आगे बढाना चाहता है. स्वयम्के उपभोगसे पूर्व देवताओंके यजनकी आवश्यकता है. अतएव कर्मयोगके निरूपणमें गीता हमें समझाती है:

"कर्म किये बिना कोई रह नहीं पायेगा, अपनी प्रकृतिके अनुरूप विवश होकर कुछ न कुछ कर्म तो सभीको करने ही पड़ेंगे. ऐसी स्थितिमें कर्मेन्द्रियोंको संयत करनेके पाषण्डमें विमूढ़ साधक अपने असंयत मनको

इन्द्रियार्थोके चिन्तनमें डुबा देते हैं. जबकि सच्ची विशिष्टता तो मनसे इन्द्रियोंको संयत करके कर्मेन्द्रियोंसे आसक्ति रहित कर्मयोगको करते रहनेमें है! अतएव नियत कर्मोंको करते रहना उत्तम है, उन्हें त्याग देनेके बजाय. सर्वथा कर्मत्याग करनेपर तो शरीरयात्रा भी नहीं निभ पायगी. और फिर इस लोकमें वे ही कर्म बन्धनरूप माने गये है, जिनका अनुष्ठान यज्ञकर्मके रूपमें नहीं होता. अत: यज्ञार्थ किया गया कर्म तो असङ्गभावसे करते ही रहना चाहिये. प्रजापतिने भी प्रजाकी सृष्टि यज्ञके साथ ही की है. अत: यज्ञ ही हमारी सारी कामनाओंको भलीभांति पूर्ण करता है. हमें यज्ञकेद्वारा देवताओंको देनेकी वस्तु उन्हें देनी चाहिये और यज्ञभावित देवगण जो हमें मिलना चाहिये वह हमें देंगे. इसी आदान-प्रदानमें हमारा परमश्रेय रहा हुआ है. जो देवताओंने हमें दिया है उसमें से जो उन्हे देने लायक है उसे दिये बिना जब हम अपने उपभोगमें लेते हैं तो हम चोर बन जाते हैं. अतएव यज्ञके बाद बची हुई वस्तुओके उपभोगकी जीवनप्रणालीमें पापस्पर्श नहीं होता हैं. फिर भी जो केवल अपनेलिए पकाते है और खाते हैं, वे अन्नका नहीं प्रत्युत पापका ही भक्षण करते हैं".

इस विस्तृत उद्धरणके अध्ययनसे स्पष्ट हो जाता हैं कि कर्मयोग हमारी अहन्ताकी परवाह अधिक नहीं करना चाहता किन्तु ममताको मार्गदर्शन देना चाहता है. ममतामें रचे-पचे मनुष्य अपने उपभोगसे पूर्व यदि थोडी सी धीरज धरके देवताओंकेलिए "इदं न मम" कहना सीख पायें तो निष्कामताके मार्गपर आगे बढ़ा जा सकेगा. यदी निष्काम-कर्म अन्तमें आत्मसुख या शाश्वत स्वर्गका सुख प्रदान करेगा. परन्तु अहन्ताकी उपेक्षाके कारण इस कर्ममार्गमें प्रारम्भिक साधनावस्थामें अहन्ता और राजसगुण के साहचर्यसे पनपे क्रोधकी सम्भावना पदे-पदे रहती है. कर्मयोग ममताको ही स्वस्थ बनता है.

3.ज्ञानमार्ग अत: अहन्ताकी चिकित्सा-उसे स्वस्थ बनानेका प्रयास है. कर्मयोगमें जैसे ममताको देवताओंसे जोड़ा गया था इसी तरह ज्ञानयोगमें हमारी अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास करना पड़ता है-"योहमस्मि ब्रह्माहमस्मि. अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि. अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा" अर्थ:मैं जो कुछ हूं-मै ब्रह्म ही हूं. हां, मैं हूं- मैं ब्रह्म हूं. मैं ही मैं मेरा होम (ब्रह्ममें) करता हूं.

कर्मयोग जैसे प्रारम्भमें-"पुत्रं च मे वित्तं च मे" की कामनाओंसे घिरे सकाम कर्मकर्ताको निष्काम कर्मकी ऊंचाईपर उठानेकेलिए "इदं न मम" में प्रशिक्षित करता है. वहां यज्ञाग्निमें अपनी ममताकी आहूति देनी पड़ती है. वैसे ही ज्ञानयोग ब्रह्माग्निमें अपनी अहन्ताकी आहूति देना सिखलाता है. ज्ञानयोग हमारे अहमारकी चिकित्सा है. ध्यान रहे कि 'अहम्' की आहूति ब्रह्माग्निमें देनी है-अपने अहमारकी धधकती ज्वालाओंमें ब्रह्मकी आहूति ज्ञानयोग नहीं है!

वाक्य उद्देश्य-विधेयभाव-घटित होता है. जैसे "गाय प्राणी है" वाक्यमें 'गाय' उद्देश्य है और 'प्राणी' विधेय है. इसी तरह "अहं ब्रह्मास्मि" में 'अहम्' उद्देश्य है और 'ब्रह्म' विधेय है. अतएव अहमास्पद जीवात्माको ब्रह्म मानना वास्तविक ब्रह्मबोध है; तथा व्यापक अंशी परमात्माके साथ अंशरूप जीवात्माकी अहन्ताको सच्चे परिप्रेक्ष्यमें देखना है. ब्रह्मको उद्देश्य मानकर अहमारको विधेय बनाना सभी प्राणिओंको गाय माननेके जैसी त्रुटी है. ब्रह्म तो त्वमारास्पद भी है-'तत्त्वमसि' में और इदमारास्पद भी है-"सर्व खलु इदं ब्रह्म" में. प्राणी तो गाय, हाथी और घोड़ा आदि अनेक प्रकारके होते हैं. अत: सभी प्राणीओंको गाय माननेकी जैसी त्रुटी ब्रह्मको अहमास्पद माननेवाले कर बैठते हैं. अंशीको अहम् नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह त्वम् भी है और

इदम् भी. अहम्को किन्तु अंश होनेके कारण अंशी ब्रह्म कहा जा सकता है. बापके जैसा बेटेका चेहरा होता है बेटेके जैसा बापका नहीं!

अतएव श्रीशमराचार्य कहते है कि लहरोंको 'समुद्रकी लहरे' कहना चाहिये-समुद्रको 'लहरोंवाला समुद्र' नहीं (सामुद्रो हि तरङ्ग: क्वचन समुद्रस्तारङ्ग इति). किनारोंपर पहुंच कर लहरें अपनी आहूति समुद्रमें दे देती हैं पर भला कभी समुद्रकी आहूति किसी लहरमें दी जा सकती है क्या?

ज्ञानमार्गी अहन्ताकी चिकित्सापर भार देता है-ब्रह्मके साथ अपनी अहन्ताको जोड़कर उसे स्वस्थ बनाना चाहता है. परन्तु इस प्रणालीमें ममताकी उपेक्षा हो जाती है और उसी ममताके विकृत होनेपर ज्ञानीके ज्ञानमें कामकें व्रण प्रकट हो जाते हैं! ममताको छोडकर केवल अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास ज्ञानमार्ग है. सफल होनेपर ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि होती है और विफल होनेपर "अहं ब्रह्मास्मि" का उद्देश्य विधेयमें बदल जाता है. प्राय: ज्ञानमार्गीय विविदिषुके "अहं ब्रह्मास्मि" के जपमें ब्रह्मके बजाय अहम्पर भार आजाता है और इस महावाक्यका अर्थ बदल जाता है!

कभी विफल ज्ञानमार्गीय साधककी उपेक्षित ममता ज्ञानमार्गपर दौड़ते हुए साधकको रजोगुणकी गोधूलीकी वेलामें शिष्येषणा जैसी कामनाओंका रूपधारण कर मोहपाशमें बांध लेती है. अतएव भगवान् कहते हैं-"सदृशं चेष्टते स्वस्या: प्रकृतेर्ज्ञानवानपि प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह: किं करिष्यति?"

ये दोनों ही मार्ग, कर्मयोग और ज्ञानयोग के, यात्राकी सफलतापर मुक्तितक पहुंचानेवाले मार्ग हैं, पर अहन्ता और ममता में से एक ही किसीको स्वस्थ करनेके ये अपूर्ण प्रयास होनेसें हमारे काम और क्रोध के

रोगोंकी पूर्ण चिकित्सा नहीं करते. भक्तियोग ही हमारी अहन्ता-ममताको पूर्णतया स्वस्थ रखनेकी एकमात्र चिकित्साप्रणाली है-"अकठोर मृदु पूर्ण एवम् भयरहित!"

4.'भक्ति' शब्द भज+क्तिन् को जोड़ने पर बनता है. 'भज' धातुकी प्रकृतिका अर्थ है:सेवा. 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ होता है:प्रेम. अत: 'भक्ति' शब्दका कुल अर्थ होता है:प्रेमके साथ की जानेवाली सेवा.

यह भक्ति हमारी अहन्ता-ममताकी पूर्ण चिकित्सा है. शरणागत पुष्टिजीवको भगवत्सेवामें लगाकर यह उसकी अहन्ताको भगवान्के साथ जोड़ देती है-'सोहम्' की प्रक्रियासे नहीं किन्तु 'दासोहम्' की प्रक्रियासे. सेवा सचाईसे हम उसीकी कर सकते हैं जिसके सामने हमारा अहमार झुक जाये. पुष्टिप्रभु व्रजाधिप श्रीकृष्णके सम्मुख अपने अहमारको "श्रीकृष्ण: शरणं मम" कह कर अथवा "दासोहं कृष्णस्तव" कह कर झुका देना पुष्टिभक्त या पुष्टिभक्ति की प्रकृतिमें निहित अर्थ है. अहमारके झुकते ही तनको भी झुकना पड़ेगा. अतएव सिद्धान्तमुक्तावलीमें तनुवितजा सेवा तथा सिद्धान्तरहस्यमें सर्वसमर्पण की बात समझा कर चतु:श्लोकीमें व्रजाधिपके भजनको ही स्वधर्म माना गया है.

संस्कृत भाषाका एक नियम है कि प्रत्येक शब्दके घटक प्रकृति और प्रत्यय अपने-अपने अर्थका बोध एकसाथ ही पैदा करते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं. फिर भी प्रत्ययके अर्थकी कुछ प्रधानता होती ही है. 'क्तिन' प्रत्ययका अर्थ प्रेम भी 'भक्ति' शब्दके दूसरे घटक 'भज' धातुके अर्थ सेवाकी तुलनामें कुछ प्रधानता लिए हुए है. प्रेम होता है किसीके प्रति मनके झुकनेपर. मन जहां झुका कि ममता भी उस ओर मुड़ने लगेगी. हमारी ममताके श्रीकृष्णके साथ जुड़नेकी बात चित्तकी कृष्णप्रणताके रूपमें सिद्धान्तमुक्तावलीमें समझायी

गई है. चतु:श्लोकीमें श्रीकृष्णके प्रति अपनी ममताको मोड़नेकी क्रियाको ही पुष्टिमार्गीय काम कहा गया है. वही काम वही कृष्णदर्शन कामना 'भक्ति' शब्दमें 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ है.

चतु:श्लोकीमें भजन और स्मरण के निरन्तर चक्रकी तरह चल पड़नेकी क्रियाको मोक्ष माना गया है (स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मति:) अपरोक्षमें भजन या कायिकी सेवा हमारी अहन्ताके कृष्णसे जुड़नेकी निशानी है. परोक्षमें स्मरण या हमारे चित्तकी कृष्ण-तन्मयता हमारी ममताके कृष्णसे जुड़नेकी निशानी है. पुष्टिभक्त न तो अपनी अहन्ता या ममता को देह या विषयों में मुक्त छोड़ता है; और न उन्हे तोड़ता ही है. क्योंकि तोड़ना आवश्यक नहीं है. पुष्टिभक्त अपनी अहन्ता एवम् ममता को वज्राधिप श्रीकृष्णके साथ जोड़ता है. जिस दिन-जिस क्षण ये दोनो भलीभांति श्रीकृष्णके साथ जुड़ जाती हैं, उसी दिन पुष्टिजीव मुक्त हो जाता है. इससे अधिक और कोई मतलब मुक्तिका पुष्टिजीवकेलिए नहीं होता.

हमारी अस्वस्थ अहन्ता-ममताकी क्लेशरहित, सम्पूर्ण एवम् शुभ चिकित्सा भक्ति है. अतएव श्रीमहाप्रभुने पुरुषोत्तम जोशीको समझाया था कि "ज्ञानमारग अरु कर्ममारगसों कृतार्थ कठितासों होई. ताते भक्तिमारगमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाहीं..."

जब भक्ति ही हमारी संसार-रोगकी पूर्ण चिकित्सा है तो भक्तिरसायनके अनुपानको ही क्यों न बढ़ाया जाये! वस्तुत: तो भक्तिको औषधी मानना भी भक्तिकी पूर्ण महत्ताका विवरण नहीं है. क्योंकि भक्ति पुष्टिजीवकेलिए औषधीसे कहीं अधिक स्वयम् स्वास्थ्य ही है. परमात्माके प्रति जीवात्माकी भक्ति न होना जीवात्माके अस्वास्थ्यका लक्षण है. पुष्टिप्रभु व्रजाधिप श्रीकृष्णके प्रति पुष्टिजीवका पुष्टिभक्तिके भावसे रहित होना भी उसकी

अवस्वस्थताका लक्षण है. गीताके छठे अध्यायकी समाप्तिपर अतएव भगवान् भी कहते हैं-“मुझे कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तपस्वी साधकोंमे जो योगी हैं वे अधिक मान्य लगते है. योगियोंमें भी श्रद्धापूर्वक जो अपनी अन्तरात्माको मेरे साथ जोड़ करके मेरा भजन करते है वे मुझे सभीमें युक्ततम लगते है”.

इस जगतमें आहार-विहारकी जिन अनियमितताओंके कारण हम अपनी अहन्ता-ममताको अस्वस्थ बना लेते हैं, उनसे बचनेकेलिए श्रीमहाप्रभुका स्वास्थ्यवर्धक उपदेश ‘भक्तिवर्धिनी’ को सुनना समझना और हृदयमें धारण करना अत्यावश्यक है:भगवान्ने अनुग्रहके कल्पतरुसे लिपट कर ऊपर उठनेवाली भक्ति-कल्पलताकी वृद्धिके उपायोंको जानना अत: आवश्यक है.

भक्ति उस जीवात्मामें प्रकट होती है जिसका भगवान् भक्तिकेलिए वरण करते है. अपनी भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा किया गया जीवात्माका वरण जीवात्मामें बीजभावके रूपमें सर्वदा विद्यमान रहता है. सत्सङ्ग गुरुकृपा या शास्त्रतात्पर्य-निर्णय के अनुकूल वातावरणमें कभी वह अमुरित हो पाता है और कभी नहीं. श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि स्वयम् परमात्मा इस एकान्तभक्ति या व्रजभक्ति के बीजको बोता है-सत्सङ्ग एवम् गुरुकृपा के जलसे उसे सींचता है-अपने अनुग्रह-कल्पतरुका सहारा देकर उसे ऊपर उठाता है-उसपर उगनेवाले पुष्प फलोंकी रक्षा भी एक सावधान मालीकी तरह वह स्वयम् ही करता है-तब इस भक्ति कल्पलताका नष्ट होना या मुरझा जाना, उसे कैसे पसन्द आयेगा? अत: पुष्टिभक्तिका बीजभाव अनश्वर बीजभाव है. जन्म-जन्मान्तरों तक यह नष्ट नहीं होता. एक-एक जन्म ऋतुचक्रकी तरह आते और जाते रहते हैं-किसी ऋतुमें किसी लतापर फूल खिलते हैं और किसी ऋतुमें नहीं. इसी तरह भक्तिका बीजभाव भी किसी जन्ममें प्रेमके रूपमें अमुरित हो पाता हैं और किसी जन्ममें नहीं.

भक्तिकी यह कल्पलता बढ़कर इतनी सघन हो जाये-पुष्टिके कल्पतरुके इर्द-गिर्द इतनी फैल जाये कि दोनोंके पल्लवोंके पृथक् करना कठिन हो जायें-ऐसा उपाय श्रीमहाप्रभु हमें दिखलाना चाहते हैं लता जब वृक्षपर भलीभांति दृढ़तासे लिपट जाती है-फैल जाती है-तब उसके नष्ट होने या मुरझा जाने का भय कम हो जाता है. इसे ही “बीजभाव की दृढ़ता” कहा गया है.

दृढ़ बीजभाव तथा अदृढ़ बीजभाव वाले जीवोंकेलिए भक्तिकी फलात्मिका वृद्धिके उपाय:

अपनी प्रेमसेवात्मिका भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा समारोपित वरणका बीजभाव जिन जीवात्माओंमें दृढ़ हो जाता है वे तो नि:शम श्रवण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी भगवान्की मानसी सेवामें सर्वदा मग्न रह सकते है. अत: ऐसे भक्त गृहत्याग भी कर सकते हैं. परन्तु जिन भक्तोंका बीजभाव ही दृढ़ न हो उन्हें गृहत्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत अपने घरमें रहते हुए ही भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा में अपने आपको तत्पर बनाना चाहिये. तभी बीजभाव दृढ़ होगा.

भक्तिके तीन भेद होते है:

1.भगवत्स्वरूपका बाह्य भजन

2.भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन

3.भगवन्नामात्मक भागवतका श्रवण-चिन्तन-कीर्तन

बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतम्।
नाम्नि चैकं ततस्त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपित:॥

जिसका बीजभाव दृढ़ हो गया हो अर्थात् पुष्टिभक्ति भगवत्प्रेमके रूपमें अमुरित, भगवदासक्तिके रूपमें पल्लवित तथा भगवद्व्यसनके रूपमें फलित होने लग गई हो तो ऐसे भक्तको भगवद्व्यसनके स्वभाववश ही भगवान्के विरहकी तीव्र अनुभूतिमें सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्णित मानसी सेवा अर्थात्

भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन सिद्ध हो जाता है और एक कदम आगे बढ़नेपर सर्वात्मभावके सिद्ध होनेपर आसक्ति भ्रम-न्यायसे सभी इन्द्रियोंका भगवान्में विनियोग भी सिद्ध हो जाता है. ऐसे भक्तोंकेलिए सर्वत्र भगवद्भाव प्रकट हो जाता है. घर और बाहर का भेद लुप्त हो जाता है-वे घरमें बैठे हुए हों या बाहर, उनके मन और उनकी सभी इन्द्रियों से निरन्तर भगवान्की अनुभूति चलती रहती है. फलस्वरूप आसकरणदासजी (दृष्टव्य 252 वार्ता) की तरह उनका घरमें रहना अनिवार्य नहीं रह जाता है. वे गृहत्याग कर सकते हैं-भगवल्लीलाओंका श्रवण, भगवान्के स्वरूप, गुण एवम् लीलाओंकी भावना तथा उनके कीर्तन की मस्तीमें; या कभी भगवद्विरहके तीव्रतापमें ऐसे भक्त कब घरको छोड़कर बाहर निकल जाते हैं यह उन्हें स्वयम् भी मालूम नहीं पड़ता! (विरहानुभवार्थं तु परित्याग: प्रशस्यते. सक्क्यासनिर्णय).

सर्वनिर्णय-निबन्धमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि केवल श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी मानकर आन्तर और बाह्य रूपमें सभी बातोंका त्याग कर-श्रीकृष्णके विभूतिरूप मानकर-आन्तर और बाह्य रूपमें सभी बातोंका त्याग कर-श्रीकृष्णके विभूतिरूप सभी देवताओंका सन्मान करते हुए-देहपातपर्यन्त केवल श्रीकृष्णमें ही अपने मनको जो एकाग्र कर पाते हैं-उनकी वाणीका और कायाका श्रीकृष्णमें विनियोग हो पाये या नहीं-उनके मनकी एकाग्रता स्नेहमयी बन पाये या नहीं-उन्हें श्रीकृष्णमें सायुज्यका लाभ अवश्य ही मिल जाता है. पर भगवत्प्रेमके प्रबल प्रवाहके कारण दारा-आगार-पुत्र-आप्त-प्राण-वित्त आदिमें जिनकी ममताकी दीवार ढह जाती है और जो स्वयम् भी उस प्रबल प्रवाहके वेगसे घरके बाहर फिंक जाते हैं-ऐसे भक्त व्यसनदशाके परमभावोंकी भंवरोंमें घिर जानेसे पुन:-पुन: डूबते और उभरते रहते हैं! करोडों भक्तोंमें कभी-कभाक एकाद ही कोई ऐसा कृष्णव्यसनी बन पाता है!!

बीजभावकी ऐसी दृढ़ताके अभावमें गृहत्याग श्रेयस्कर नहीं होता. अत: पहले बीजभावके दृढ होने तक धीरज रखनी चाहिये.

त्याग और वैराग्य भगवदनुरागकी तीव्रताके कारण प्रकट होते हों तो उन्हें स्वस्थ एवम् सरस मानना चाहिये. अन्यथा संसारमें केवल दोषदृष्टिके कारण जो वैराग्य पनपता है वह नीरस एवम् शुष्क, अतएव अस्वस्थ भी होता है. ऐसे अस्वस्थ वैराग्यवश व्यर्थ ही किसी भी वस्तुके त्याग कर देनेके बजाय उसे भगवान्को समर्पित कर देना चाहिये. हमारी अहन्ता और ममता के विषयोंको त्यागनेके बजाय उन्हें श्रीकृष्णको समर्पित कर श्रीकृष्णकी सेवामें उपयोग लानेवालेका बीजभाव दृढ़ हो सकता है. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें स्वधर्म-भगवत्सेवा तथा भगवत्कथामय जीवनयापन करनेवालेका बीजभाव दृढ होता है:"बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मत: अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभि:".

स्वगृहमें स्वधर्म-भगवत्सेवाके विषयमें शास्त्रार्थ प्रकरणमें एक विलक्षण बात श्रीमहाप्रभुने समझायी है कि ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिकेलिए मोक्षकी चाहनासे भक्ति करनेवालोंको यह समझना चाहिये कि साध्य मोक्षके बजाय साधन भक्ति अधिक श्रेष्ठ हैं. जो जीव मुक्त होते हैं वे देहेन्द्रियादिके संघातको छोडकर ही मुक्त हो पाते हैं-उनकी केवल आत्मा ही परमात्मामें लीन हो पाती है. जबकि भक्तोंके तो देह इन्द्रिय प्राण अन्त:करण, गृह, परिवार आदि सभी कुछ उनके घरमें बिराजते प्रभुकी सेवामें काम आते हैं. भक्तका तो संसार भी ब्रह्मात्म हो जाता है. फलत: जीवन्मुक्तिके बजाय भक्तकेलिए तो भगवत्कृपाके साथ गार्हस्थ्य ही श्रेष्ठतर होता है. अत: बीजभाव दृढ़ करनेकेलिए यह आवश्यक है कि घरमें स्वधर्माचरणको निभाते हुए अव्यावृत्त होकर भगवद्भजन करना चाहिये.

घरमें रहना है तो स्वधर्माचरणका त्याग सम्भव नहीं, पर स्वधर्मकी व्याख्या भी सरल नहीं है. 'स्वधर्म' का प्रथम अर्थ होता है:स्वयम्के वर्ण तथा आश्रम के अनुरूप यथाशक्ति शास्त्रविहित आचरण करना. शक्ति रहनेपर स्वधर्माचरणमें संकोच नहीं करना चाहिये. क्योंकि जब तक यह देह है और इस देहके साथ हमारी अहन्ता-ममता जुडी हुई है, तब तक वर्णाश्रम धर्म ही स्वधर्म है-भगवद्धर्म भी विधर्म या परधर्म की तरह हो जाता है. जब देहाभिमान शिथिल होने लग जाये तभी भगवद्दास्य या भगवत्सेवा आत्मदृष्टिसे स्वधर्म बन जाती है. तब वर्णाश्रमधर्म भी परधर्म बन जाता है (सुबो. 3।28।2), अत: इस देहाभिमान और आत्माभिमान के अति कोमल और जटिल विवेकके साथ वर्णाश्रमधर्मका निर्वाह करते हुए कृष्णभजनमें तत्पर रहना चाहिये. कृष्णभक्तिमें जैसा कि हम देख चुके हैं अहन्ताको स्वस्थ करनेका उपाय कायिकी सेवा 'भज' धातुका अर्थ है; और ममताको स्वस्थ करनेका उपाय चित्तको कृष्णप्रेमप्रवण बनना है. तदनुरूप अपरोक्षमें पूजा कायाको भजनमें लगानेकी प्रक्रिया है. और परोक्षमें श्रवण-चिन्तन-कीर्तन मनको भजनमें लगानेकी प्रक्रिया है.

स्नेहकी दृढ़ताके बिना कायासे प्रेमसेवा न भी निभ पाये पर माहात्म्यज्ञानको निभाते हुए पूजा तो निभाई जा सकती है. पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थमें इसी पूजाको-"प्रवाहेण क्रियारता:" कह कर व्यक्त किया गया है. सर्वनिर्णयमें 227 वीं कारिकासे लेकर 246 वीं कारिका तक भजनके इसी क्रियापक्षका निरूपण किया गया है. यही "एतत्सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्" कहकर गार्हस्थ्यमें इसकी आवश्यकता दिखलायी है. यहीं 240 वीं कारिकामें श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि श्रवण-कीर्तन आदि द्वारा जब हरि हृदयमें निविष्ट हो जाते हैं तभी पूजाका निर्वाह निर्व्यग्रतया सम्भव हो पाता है. अतएव पूजाको यदि केवल क्रियारूप ही न रहने देना हो तो, श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान्के स्वरूप, गुण एवम् लीलाओंके श्रवण, भावन,

कीर्तनकी प्रणालीसे, उसे प्रेममय बनाना होगा (प्रेम्णोन्यत्साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत् श्रीभागवतमेवात्र परं तस्य हि साधनम्. सर्वनिर्णय) अन्यथा प्रेमरहित क्रियासे बहुधा व्यग्रता उत्पन्न होती ही है. श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं-"सप्रेम इत्यनुद्वेगार्थम्" (सर्वनिर्णय 230) भगवान्की पूजा करते समय अनन्य भाव नहीं जग पाया तो हम अव्यावृत्त होकर भजन नहीं कर पायेंगे-भक्तिके बजाय व्यर्थ ही मानसिक व्यग्रता बढ़ा लेंगे.

भक्तिमार्गीय जीव अव्यावृत्त भी हो सकते हैं और व्यावृत्त भी. अत: दोनों तरहके जीवोंमे भक्तिके बीजभावकी दढ़ताके उपाय भी श्रीमहाप्रभुने दिखलाये हैं.

अव्यावृत्त और व्यावृत्त अधिकारियोंकी भक्तिके बीजभावोंको दृढ करनेके उपाय:

सभी इन्द्रियों और मन की अहमहमिकता ("पहले मैं-पहले मैं" की उतावल) से भगवान्के कार्योंमें जुट जानेकी अर्थात् सेवामें तत्पर होनेकी वृत्ति हमारी अहन्ताका भगवान्में विनियोग है. एतदर्थ अनन्यभाव आवश्यक होता है. 'भाव' का अर्थ होता है:हमारे अन्त:करणमें निहित रुचि या अभिप्राय. वह यदि केवल भगवान्के ही बारेमें हो तो उसे 'अनन्यभाव' कहते हैं. अन्यथा 1.किन्ही अन्य देवताओंके बारेमें 2.अन्य लौकिक वस्तु या व्यक्तिके बारेमें, अथवा 3.पुष्टिमार्गीय फलसे भिन्न किसी फलके बारेमें, हमारे हृदयकी रुचि या भावना के प्रबल होनेपर हमारी कृष्णभक्ति अनन्यभावात्मिका नहीं बन पायेगी.

'अनन्य भाव' वाले भक्त ही अव्यावृत्त हो पाते हैं. जिनकी भक्ति अनन्यभावात्मिका नहीं हो पाती वे अव्यावृत्त नहीं हो पायेंगे. अन्यान्य भाव हमारे देह और अन्त:करण को व्यावृत्त बनाये रखेंगे-वे अपनी पूर्तिकी कामनाके भावोंका हमारे भीतर पैदा करके हमें व्यावृत्त बना देंगे-हमसे

अव्यावृत्तिमय भजन सम्भव न हो पायेगा. ऐसी स्थितिमें पुष्टिभक्तिमार्गपर चलनेके बुद्धिगत निर्णयके बावजूद भी हृदय इन पूर्वोक्त अन्यभावोंकी पूर्तिके प्रयासमें यहां-वहां भटकता रहेगा-व्यावृत्त रहेगा. ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्णकी पूजा या कायिकी सेवा करते रहनेपर भी वह सेवाफलमें दिखलायी गयी-भोग, उद्वेग और प्रतिबन्धों से रहित सेवा नहीं हो पायेगी. फलस्वरूप चित्तमें वह व्यग्रता बढ़ानेका ही कारण बनेगी.

श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते है कि पूर्वोक्त देवतान्तर, पदार्थान्तर, मार्गान्तर या फलान्तर के कारण जिनके देह और अन्तकरण बाह्य और आन्तर रूपमें व्यावृत्त न हों ऐसे जीवोंको भगवत्पूजा और भगवत्कथा दोनोंमें ही तत्पर रहना चाहिये. पर जिनके देह या अन्त:करण किसी न किसी तरह व्यावृत्त हों उन्हें कृष्णसेवाका अनुष्ठान सहसा प्रारम्भ नहीं करना चाहिये. प्रारम्भमें केवल भगवत्कथाके श्रवण, चिन्तन एवम् कीर्तन की प्रणालीसे चित्तको अनन्यभाव-युक्त अव्यावृत्त बनाना चाहिये (...भावान्तरसहितो वा. स हि देवतान्तरविषय: पदार्थान्तरविषय: मार्गान्तरविषयो वा. तत्सहभावोत्र निषिध्यते फलभावश्च सुबो. 3।25।22). इस सुबोधिनीकी भागवतकारिकामें भक्तिका स्वरूप यों दिखलाया गया है:

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवा:॥
मदाश्रया: कथामृष्टा: शृण्वन्ति कथयन्ति च।
....
त एते साधव: साध्वि! सर्वसङ्गविवर्जिता:।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य: सङ्गदोषहरा हि ते॥ (भाग. 3।25।22।24)

व्याख्या:जो भगवान्में अनन्यभाव रखते हुए भगवान्की दृढ़ भक्ति करते हैं, जिन्होंने आलस्यवश नहीं किन्तु भगवदर्थ वेदादिशास्त्रोक्त अलौकिक कर्मोका तथा लौकिक स्वजन बान्धोवोंका त्याग कर दिया हो, ऐसे भक्तोंकी सङ्गति

करनी चाहिये. निरन्तर भगवत्सेवा अथवा भगवत्स्मरण में सभी कर्म तथा सम्बन्ध बाधक बनते हैं अनन्यभावमें कुछ न कुछ पहुंचाते ही हैं. अत: इनसे व्यावृत्त हुए बिना पूजाश्रवणादिमें तत्पर होना चाहिये. सभी अधिकारियोंमें किन्तु ऐसी स्वरूपासक्ति सम्भव नहीं है. फलत: कथासक्ति भगवान्के स्वरूप, गुण एवम् लीलाओं के श्रवण और कथन में आसक्ति जिनकी दृढ हो ऐसोंका सत्सङ्ग करना चाहिये. ऐसे भगवदीयोंके सत्सङ्गसे उनके मुखसे कथाश्रवण करनेसे तथा स्वयम् भी चिन्तन, कीर्तन करनेसे लौकिक विषयोंसे ममता हटकर भगवान्से जुड पायेगी.

अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि जो व्यावृत्त हैं उन्हें स्वरूपभजनके बजाय नामभजनमें प्रवृत्त होना चाहिये. इसी श्रवण, चिन्तन, कीर्तनकी प्रणालीद्वारा उनका बीजभाव प्रेम, आसक्ति, व्यसनकी अवस्थाओंमें विकसित हो पायेगा.

बीजभावको दृढ़ हुआ तभी समझना चाहिये जब हमारे देह और अन्तःकरणकी व्यावृत्ति देवतान्तर, पदार्थान्तर, मार्गान्तर एवम् फलान्तरके बारेमें न्यूनसे न्यूनतर होती हुई सर्वथा समाप्त हो जाये. घरमें भगवत्सेवा जिनसे नहीं निभ पाती परन्तु भगवत्कथाके श्रवण, भावन, कीर्तनकी प्रणालीसे जो अपनी भक्तिके बीजभावको दृढ करनेकेलिए आगे बढ़ते हैं, उन्हें इस यात्रामें ये क्रोशस्तम्भ (माईलस्टोन) अपने भक्तिके मांगपर मिलेंगे:

(क) जब बीजभाव भगवत्स्नेहके रूपमें अमुरित हो जाता है तब गृहस्थका अपने घर-परिवारमें रहा अनुराग खतम हो जाता है. यह अवस्था बड़ो विलक्षण है. भगवान्में अनुराग बढ़ने लगा तो भगवद्-भक्तिमें अनुपयोगी प्रत्येक वस्तुमें घर-परिवार आदिमें अनुराग घटने लगेगा.

जो अव्यावृत्त होकर अपने घरमें भगवत्सेवार्थ निवास करते हैं उनका अनुराग नष्ट होना आवश्यक नहीं है. क्योंकि उनका घर उनकी अहन्ता-

ममताको सन्तुष्ट करनेकेलिए नहीं होता प्रत्युत भगवत्सेवाका स्थल-भगवन्मन्दिर ही होता है. उनका परिवार भी सांसारिक ममताके बन्धनसे बंधा हुआ नहीं होता प्रत्युत भगवत्सेवा करनेवाले विभिन्न सेवकोंका भक्तिके बन्धनमें बंधा हुआ परिवार होता हैं. अतः बीजभाव प्रेमात्मना अमुरित होता है पर दूसरी और रागविनाश नहीं होता.

(ख) भगवत्कथामार्गसे बीजभावको दृढ़ करनेकी दिशामें आगे बढ़नेवाले यात्रीको द्वितीय क्रोशस्तम्भ भगवदासक्तिका मिलेगा. जैसे ही भगवदासक्ति सिद्ध हुई कि अपने घर-परिवारमें जो अनुराग खण्डित हुआ था वह अब घर-परिवारमें अरुचिका रूप धारण करने लगेगा. भगवदासक्त भक्तको यह प्रतीत होने लगेगा कि मेरे घर और परिवार न केवल मेरी कृष्णभक्तिमें अनुपयोगी है बल्कि ये मेरी कृष्णासक्तिमें किसी न किसी तरह बाधा पहुंचानेवाले हैं. बस यही मनोभाव उसमें अपने घर-परिवारके प्रति अरुचि जगा देता है. अभी तक अपने घर और घरमें रहनेवाले जिन माता-पिता पति-पत्नी पुत्र-पुत्री या बन्दु-बान्धवोंको वह अपना मान बैठा था अब उसे लगेगा कि ये मेरे सगे नहीं है. क्योंकि श्रीकृष्णके प्रति मेरे हृदयकी आसक्तिमें ये अपना हिस्सा बांटना चाहते हैं. प्रत्येक सदस्य अपने परिवारके दूसरे सदस्यकी अपनेमें स्वाभाविकतया आसक्ति चाहता ही है. यही मांग भगवदासक्त भक्तको अरुचिकर लगने लगती है.

परन्तु अपने घरमें कृष्णसेवा करनेवाले भक्तमें भगवदासक्ति तो प्रकट होती है पर घर-परिवारमें अरुचि प्रकट होनेका कोई कारण नहीं होता.

(ग) तीसरा क्रोशस्तम्भ भगवत्कथा-प्रणालीसे भक्तिमार्गपर आगे बढ़नेवाले यात्रीको व्यसनदशाका मिलता है. यहां तक पहुंचनेवाले भक्तकी दशा बड़ी विकल हो जाती है. अब वह भगवान्के बिना एक क्षण भी रह नहीं सकता. भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करता हुआ, भगवान्के गुणोंका स्मरण करता

हुआ तथा भगवान्की विविध लीलाओंके मनोरथपर सवार भक्तका मन अब अपने भक्तिके पथपर लेशमात्र रुकावट या व्यवधान सहन नहीं कर पाता. वह असहिष्णु बन जाता है. उसे श्रीकृष्णका व्यसन हो गया समझ लेना चाहिये!

यही वह अवस्था है जहां पहुंचते ही भक्तको यह समझमें आ जाता है कि "गृहस्थितेरुत्कृष्टत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण किन्तु भगवता सह स्थित्या भगवत्कार्यार्थं वा अन्यथा न स्थातव्यम्"()
अर्थः स्वयम्का भगवदीय होना घरमें रहनेका स्वस्थ हेतु नहीं है, किन्तु भगवान्के साथ रहना अथवा भगवत्सेवार्थ रहना ही उत्कृष्ट हेतु है, अन्यथा गृहत्याग ही उचित होता है (सुबो. 3।1।2). एकदिन अचानक भक्तके अन्तःकरणमें ऐसी आवाज आनी शुरू होती है-फिर तो स्वयम् उसे भी पता नहीं चलता कि वह कब घरके बाहर हो गया! इस अन्दरसे उठती आवाजको अनसुनी करनेमें वह समर्थ हो पाये तो समझ लो कि वह अटक गया या भक्तिपथसे कहीं भटक गया है! अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं-"तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकं त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु तदर्थार्थैकमानसः लभते सुदृढां भक्ति सर्वतोभ्यधिकां पराम्"()

कथाप्रणालीसे व्यसनभाव सिद्ध होते ही घरसे बाहर निकल जाना श्रेयस्कर होता है. अन्यथा व्यसनदशामें फलित होनेवाला बीजभाव भी सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्यमें परिपक्व नहीं हो पायेगा. ऐसे घरमें रहनेसे क्या लाभ जो कृष्णभक्तिका अंग न हो?

यह गृहपरित्याग कृष्णव्यसनके आवेशमें कृष्णके विरहके कारण होनेवाला परित्याग है. जगतमें पैदा हुई दोषदृष्टिके कारण किया गया अस्वस्त नीरस-शुष्क त्याग नहीं, किन्तु श्रीकृष्णमें वृद्धिङ्गत हुई प्रेमदृष्टिसे विवश होकर

किया गया सरस प्रेमपूर्ण स्वस्थ त्याग है. सर्वनिर्णयमें इस गृहत्यागके बाद एकाकी निस्पृह शान्तभावसे-कहीं रुके बिना-देहपातपर्यन्त निरन्तर तीर्थाटनका क्रम श्रीमहाप्रभुने समझाया है. यात्रा तीर्थोंकी करनी हैं न तो पुण्यकी खोजमें और न मोक्षकी खोजमें ही किन्तु श्रीकृष्णकी खोजमें-"कृष्ण एवं तात्पर्यं न तु तीर्थादौ. देहपातपर्यन्तं च पर्यटनम्"

प्रेमके इस कठिन त्यागमार्गपर जो चलनेका साहस नहीं जुटा पाते परन्तु घरसे निकल पड़नेकी जिनकी तैयारी हो ऐसे भक्तोंको सहसा दुःसाहस नहीं करनेकी सलाह श्रीमहाप्रभु देते हैं.

इस त्यागमार्गपर चलते हुए जरा चूके कि भक्तिहीन गृहस्थसे भी अधिक नीचे गिर पड़नेकी भीति रहती है. गृहस्थमें तो पुत्रैषणा वित्तैषणा या लोकैषणा के दोष रह सकते हैं परन्तु त्यागीमें कही संसारी जीवोंके संसर्गमें शिष्यैषणा जग गई तो सारा त्याग चौपट हो जायेगा! पुत्र वित्त और लोक तीनोंकी वासना शिष्यसङ्ग्रहकी वासनामें सूक्ष्मतया त्रिगुणित हो जाती हैं!!

घरसे बाहर निकलनेके बाद भी त्यागी भक्तका संसर्ग तो संसारी और भगवद्विमुख लोकके साथ टूट नहीं पायेगा. भगवान्को अनिवेदित अन्न अथवा पञ्चमहायज्ञ न करनेवाले गृहस्थका अन्न खाकर अन्नदोषवश ही अधःपातकी सम्भावना अधिक रहती है. अतः सर्वथा असङ्ग और अपरिग्रह होनेके साथ जब-तक व्यसनदशा प्राप्त न हो तब-तक त्याग श्रेयस्कर नहीं होता. केवल भगवत्प्राप्तिकी कामना हृदयमें रहे और सारी कामनायें निःशेष हो जायें तभी त्यागमार्गपर आरोहण करना चाहिये.

स्वगृहत्याग और हरिगृहवास:

कथाप्रणालीद्वारा प्रेमासक्तिव्यसनकी क्रमिक अवस्थाओंमें जब बीजभाव दृढ़ हो रहा हो और घरमें भगवत्सेवाका निर्वाह शक्य न हो तब ऐसे घरमें

रह पाना भगवदीयकेलिए अशक्य हो जाता है. पर भक्तिमार्गीय सन्यासग्रहण करनेकेलिए भी यदि भक्त अपने-आपको समर्थ न पाता हो तो क्या करना चाहिये?

श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि ऐसे व्यक्तिको ऐसे हरि-स्थानोंपर जाकर बस जाना चाहिये जहां भगवत्सेवापरायण भक्तगण निवास करते हों (उदाहरणतया व्रज, चोरासी बैठक, नाथद्वारा, जगदीश, श्रीरङ्ग, पंढरपुर, द्वारका, तिरुपति इत्यादि). इन भगवत्सेवापरायण भक्तोंकी सेवामें परिचर्या अर्थात् सहायक बननेका अवसर मिले तो सबसे अच्छी बात है अन्यथा इनके सत्सङ्गका लाभ तो लेना ही चाहियेञ्च्ड्ड*ञ्च्अ

(* मूलतः गोस्वामी धर्माचार्योंकी गृहसेवामें जो मुखिया, भीतरिया, जलघरिया आदि भगवत्सेवाके सहयोगी देखे जाते है वे इसी तरहके अपने घरको छोड़कर परिचर्यार्थ आनेवाले महाभाग्यवान भगवदीय होते थे-सवैतनिक कर्मचारी नहीं. अतएव इन्हें भगवत्प्रसादी अन्न-वस्त्र देनेकी प्राचीन परिपाटी थी-वेतन नहीं. कालक्रममें वह विकृत होकर तनुजासेवाक्रयमें परिणत हो गई.)

इन भगवदीयोंके साथ रहनेका तात्पर्य यही हैं कि जब वे भगवत्सेवामें रत हों तो हम भी उनकी भगवत्सेवामें सहायक बन कर कुछ भगवत्परिचर्या कर पायें. सेवाके बहिरङ्ग साधनोंको सम्पादित करनेमें उन्हें सहयोग दे पायें और इस तरह तनका सेवामें विनियोग हो. यह सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्जित तनुजा-सेवा नहीं है, यह तो एक पुष्टिमार्गीय सम्बन्धमें बन्धनेवाले एक व्यापक परिवारकी भावना है. एक परिवारमें पिता भगवत्सेवा-अन्तरङ्ग-सेवामें परायण हो तो पुत्र भगवत्परिचर्यामें बहिरङ्गसेवामें परायण होता है. पत्नी सेवा करती हो तो पतिको परिचर्या करनी चाहिये. इसी तरह जन्मना एक परिवारके न भी हों पर पुष्टिमार्गमें जिन दो भक्तोंको एक परिवारकी तरह

साथ रहना हो तो एक अपने घरमें बिराजमान प्रभुकी अन्तरङ्गसेवामें तत्पर रहे और दूसर बहिरङ्गसेवामें. यह अनुज्ञा श्रीमहाप्रभु देना चाहते हैं. साथमें भगवत्सेवा करेंगे तो साथमें भगवत्प्रसाद भी लिया जा सकता है. यह अति उदात्त भावनापर अवलम्बित होता है. सवैतनिक तनुजासेवा अथवा उदरपूर्तिके हेतुसे नहीं. वह तो सिद्धान्तमुक्तावलीमें ही वर्जित किया जा चुका है.

इसमें एक सावधानी किन्तु अपेक्षित है कि न तो इतने अधिक समीप जाना चाहिये किसीके कि एकको दूसरेके दोष दिखलायी देने लगे और न इतने दूर ही रहना चाहिये कि एक भगवदीयद्वारा की जाती भगवत्सेवा या भगवत्कथाके लाभसे दूसरा भगवदीय सर्वथा वञ्चित ही रह जाये (अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति).

अपने घरको छोडकर निकल जानेवाला भक्त भी इस तरह भगवत्सेवापरायण भगवदीयोंके साथ उनके हरिगृहमें वास करते हुए यदि भगवत्सेवा और भगवत्कथा को निभा पाता है तो कभी उनका नाश नहीं होगा. यदि एक भगवदीयकी दूसरे भगवदीयके साथ इतनी घनिष्ठता न भी पनपे कि दोनों साथ मिलजुलकर भगवत्सेवा कर पायें तो भी दोनों साथ मिलकर भगवत्कथा तो कर सकते ही हैं. इस तरह यदि अपने घरको छोड़ दिया हो पर दुःसङ्गसे बचना हो तो पुष्टिमार्गीय अन्य भगवदीयका सत्सङ्ग प्राप्त करते हुए भगवत्कथाका भी आश्रय जो निभा पाते हैं उनका भक्तिमार्गसे अन्यत्र अधःपात नहीं होगा (सेवायां कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढ़ा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम).

इस तरह अन्यत्र जा कर सत्सङ्ग करनेके बजाय घर छोड़कर कहीं एकान्तमें बसनेमें क्या बुराई है? श्रीमहाप्रभुका उत्तर यही है कि जब घर छोड़नेमें भय नहीं तो भगवदीयके सत्सङ्गमें भय कैसा? और यदि इस तरह

सत्सङ्ग करते हुए भी मार्गसे भटक जानेका जिसे भय हो उसे एकान्तवाससे अधिक भयभीत होना चाहिये!

कुछ मिलाकर बात इतनी ही है कि अदृढ़ बीजभाववाले भक्तकेलिए बीजभावको दृढ करनेका उत्तम उपाय स्वयम्के घरमें अव्यावृत्त होकर भगवत्सेवा और भगवत्कथा में तत्पर हो जाना है, वह शक्य न हो तो केवल भगवत्कथामें परायण होकर बीजभावको दृढ़ करनेकी चेष्टा करनी चाहिये. जब संसारासक्ति कम हो जाये तब या तो भक्तिमार्गीय सक्क्यास लेना चाहिये, व्यसनदशा सिद्ध होनेपर, अन्यथा अन्य भगवदीयोंके द्वारा की जाती भगवत्सेवामें परिचारक बनना चाहिये. वह भी शक्य न हो तो ऐसे सेवा-कथा-परायण भगवदीयोंके सत्सङ्गका लाभ लेनेको न तो उनसे अधिक दूर और न उनके अधिक समीप ही रहनेका प्रयत्न करना चाहिये. एकान्तवास ऐसी स्थितिमें बहुत लाभदायक नहीं होता. पर भगवद्विश्वास दृढ़ रखना चाहिये कि हर कल्पमें भगवान् अपने भक्तकी रक्षा करेंगे ही (हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः)

यह समग्र भगवत्शास्त्रोंका गूढ़तम रहस्य है. इसे अच्छी तरह पढ़कर समझकर हृदयमें धारण करनेवालेकी भगवान्में रति दृढ़ होती है.

प्रस्तुत भक्तिवर्धिनीका संस्करण वि. सं. 1977 में प्रकाशित हुए संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेस द्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. श्रीमद् गोस्वामी श्रीरणछोडलालजी महाराजकी सहायतासे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा धीरजलाल व्रजदास सांकलीयाने इसका सम्पादन किया था. इन सभी महानुभावोंका हम हार्दिक कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं.

॥ भक्तिवर्धिनी ॥

अथ पुष्टिमार्गमें अङ्गीकृत ओर भक्तिकी वृद्धिके प्रकारकुं नाहीं जानिवेवारे जीवनके उपर कृपा करिवेवारे श्रीआचार्यजी, स्वप्रकटित मार्गमें प्रवर्तमाना भक्ति ओर ताकी वृद्धिके प्रकार कहिवेकी प्रतिज्ञा करत हें:

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते॥
बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागात् श्रवण-कीर्तनात्॥1॥

यथा=जा प्रकारसूं
भक्तिः=भक्ति
प्रवृद्धा=प्रकर्षकरिके वृद्धिंगत
स्यात्=होय,तथा=वा प्रकारके
उपायः=उपायको
निरूप्यते=निरूपण कियो जाय हे
बीजभावे=बीजभाव
दृढे=दृढ (सति=भयेपे)
तु=तो, त्यागात्=त्यागसों
श्रवण-कीर्तनात्=श्रवण-कीर्तनसों
(भक्तिः=भक्ति, प्रवृद्धा=प्रकष्टरूपसों वृद्धिंगत)
स्यात्=होय हे

भावार्थ : श्रीआचार्यजी आज्ञा करत हें जो स्वमार्गीय भक्तिकी वृद्धि होयवेके उपायको निरूपण होय हे. सो तो स्वमार्गमें कहे भये साधनसूं ओर जो मर्यादामार्गीय साधन हें विनको परित्याग तथा स्वमार्गीय श्रवण ओर कीर्तन को परिशीलन करिवेसूं भाव दृढ होय तब भक्तिकी वृद्धि होय हे.

टीका : यहां कोउ कहे जो भक्तिकी उत्पत्ति ओर ताकी वृद्धिके उपाय तो श्रीभागवत तथा गीताजी प्रभृति ग्रन्थनमे विस्तारसूं वर्णित हें. तब श्रीआचार्यजी ताकेलिये नूतन ग्रन्थ करिवेको परिश्रम क्यों करत हें? एसी शङ्का को समाधान तो यह हे जो श्रीभागवतादिकनमे "दान व्रत तप होम जप स्वाध्याय संयम ओर इतर श्रेय उनकरिके श्रीकृष्णमें भक्ति सिद्ध होय हे" इत्यादि श्लोकन्सूं जो भक्तिकी उत्पत्तिको प्रकार ओर "आपकी कथाके पान करिवेसूं जिनकुं भक्तिकी वृद्धि ओर निर्मल अन्तःकरण भये हें वे, वैराग्य हे सार जामें एसे, ज्ञानकुं प्राप्त होयके आपके स्थानकुं प्राप्त होय हें" इत्यादिक वाक्यन्सूं ताकी वृद्धि निरूपित हे सो दान-व्रतादिक मर्यादामार्गीय साधनन्सूं होय सके हे. ओर वृद्धिको फल ज्ञान अथवा मर्यादामार्गीयभक्ति हे, तासूं अक्षरकी प्राप्ति करायवेमें वो भक्ति उपक्षीण होय जाय हे. तासूं पुरुषोत्तमलीलाको अनुभव करायवेवारी जो पुष्टिभक्ति ओर ताकी वृद्धिके उपायको या ग्रन्थसूं श्रीआचार्यजी निरूपण करत हें सो उचिततर हे.

अब पहिले बीजभाव दृढ होयवेको कह्यो ताको स्वरूप कहत हें जो पुष्टिमार्गके आचार्यद्वारा मार्गरीति अनुसार प्रभुकुं आत्मा प्रभृतिको निवेदन भये पीछे प्रभु स्वतः वा जीवकों शरण सिद्ध करत हें ताकू या ग्रन्थमें 'बीजभाव' कह्यो जाय हे. जेसें क्षेत्रमें बीज बोये पीछे जलसेचनादिक होय तब अमुरादि होय हे, केवल जलसेचन अमुरकी उत्पत्तिमें जेसें असमर्थ हे एसें भक्तिमार्गमें आगे कह्यो बीजभाव भये पीछे श्रवण-मननादि भक्तिकुं उत्पन्न करि सके हें. विना बीजभाव वे अकिञ्चित्करप्राय: हें एसें श्रीहरिरायजी आज्ञा करत हें॥1॥

एसें बीजकी दृढताको प्रकार प्रथमश्लोकसूं कहिके अन्य व्यापारसूंहु वामें विघ्न नाहीं आयवेकेलिये भगवद्भजनरूप उपायकी दृढता सिद्धिकेलिये अब कहत हें:

बीजदाढ्र्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः॥
अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः॥2॥

बीजदाढ्र्यप्रकार:=बीजकी दृढताको
प्रकार, तु=तो, गृहे=धरमें
स्थित्वा=रहिके,स्वधर्मत:=अपने-
धर्मके अनुसार,अव्यावृत्त:=अव्यावृत्त(सन्=होयके)
पूजया=पूजासों
श्रवणादिभि:=श्रवण आदिसों
कृष्णं=श्रीकृष्णकों,भजेत्=भजनो

भावार्थ : स्वधर्माचरणपूर्वक गृहमें रहिके, सेवाप्रतिकूल उद्योगकुं छांडिके, पूजा ओर श्रवणादिक सूं श्रीकृष्णको भजन (सेवा) करनो सो बीजभावकी दृढताको (उपाय) प्रकार हे.

टीका : इतने, पुष्टिमार्गमें उक्त साधनसूं अन्य मर्यादिक साधनको परित्याग करिवेको मूलके 'तु' शब्दसूं सूचित होय हे. ओर पुष्टिमार्गीय साधनमे मुख्य सेवा सो भजनानुकूल गृहमें रहे विना होय सके नाहीं. तासूं मूलमें गृहमें रहिवेको कह्यो हे. ओर धर्म दोय प्रकारके हें. तामें एक तो जाको शरीरमें अन्त आवे सो (देहधर्म) ओर दूसरो आत्मामें जाको अन्त आवे हे सो (आत्मधर्म). तामें सक्ध्यावन्दनसूं लेयकें यागपर्यन्त धर्म स्वर्गादिभोगरूप फलकुं देवेवारे हें सो फल शरीरसूं अनुभूत होय हें, ओर गीताजीमें कह्यो प्रमाण फलभोग होयचुके तब पृथ्वीउपर गिरे हे. तासूं 'स्वधर्म' पदसूं यह धर्म नाहीं लेनो किन्तु आत्मधर्म, जो काहु प्रकारसूं विकृत नाहीं होयवेवारो भगवद्धर्म हे, सो लेनो एसें सूचित होय हे. सो धर्म प्रभुकी सेवा हे. सो श्रीभागवतमें प्रह्लादजीको वचन हे जो "आदर्श(काच)में प्रतिबिम्बित मुखकुं देखिकें अपने मुखमें जो-जो शृंगार होय सोहि प्रतिबिम्बस्थानीय मुखकुं होय. तेसें मनुष्य प्रभुकुं जो-जो मान देय हे सो आत्माकेलियेहि हे" एसें वर्णित भगवत्सेवारूप जो आत्मधर्म सो 'स्वधर्म' पदसूं लियो जाय हे. ओर 'स्वधर्मत:' एसें 'तसिल्'प्रत्ययान्त रूप लिखवेको अभिप्राय तो यह हे जो 'तसिल्'प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होयवेसूं जेसें वामें काहु प्रकारकी विकृति नाहीं होय हे एसें यहांहु अव्यवको प्रयोग कर्यो हे तासूंहु काहु प्रकारसों विकृत न होय एसो धर्म लेवेको अभिप्राय दीसे हे. ओर फलात्मक 'श्रीकृष्ण'के उपादानसूं यह भजन मेरे फलरूप हे एसें जानिके करिवेको बोध होय हे. यामें जो 'पूजा' शब्द हे तासूं

आगमोक्त पूजाको ग्रहण करिवेको नाहीं हे किन्तु श्रीगोपीजन**ननें** “प्रणय पूर्वक दर्शनसूं ये हरिणीयें श्रीकृष्णको पूजन करत भईं” एसें दशमस्कन्धमें कह्यो हे वहां प्रेम पूर्वक दर्शनकों ‘पूजा’के अर्थरूप गिन्यो हे, एसी पूजा यहांहु लेवेकी हे. ओर श्रवणकी जो मूलमें आज्ञा हे सो सेवाके अनोसरमें करिवेकी हे॥2॥

अब प्रभुमें दृढविश्वास होय तो प्रभुही वाको योग-क्षेम चलावत हें परन्तु दृढविश्वास न आवे एसे जीवनकु गौणपक्षमें व्यावृत्ति (उद्योग) करिवेकी आज्ञा करत हें.

व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा॥
ततः प्रेम तथाऽऽसक्तिर् व्यसनं च यदा भवेत्॥3॥
बीजं तद् उच्यते शास्त्रे दृढं यन् नाऽपि नश्यति॥

व्यावृत्तः=व्यावृत्त होयवेपें
अपि=हु, हरौ=श्रीकृष्णमें
चित्तं=चित्तकुं (आसज्य=जोड़िकें)
श्रवणादौ=श्रवण आदिमें
सदा=सदा
यतेत्=प्रयत्नशील रहेनो
ततः=तासूं, प्रेम=प्रेम
आसक्तिः=आसक्ति
च=ओर, व्यसनं=व्यसन
यदा=जब, भवेत्=होय
तत्=वो
शास्त्रे=शास्त्रमें, दृढं=दृढ
बीजं=बीज, उच्यते=कह्योजायहे
यत्=जो, न अपि=कबहु नाहीं
नश्यति=नष्ट होवे हे

भावार्थ : अब कछु उद्योग करनो पड़े तोहु चित्तकुं श्रवणादिसूं प्रभुमेंहि राखिके करनो. एसें करिवेसूं प्रथम प्रेम हृदयमें स्फुरे हे, तापीछे प्रभुमें आसक्ति होय हे, तापीछे प्रभुमें व्यसन होय हे. एसें व्यसन पर्यन्त भाव बढे तब बीजभाव दृढ भयो एसें

जाननो. जा जीवकुं आगे कहे प्रमाण बीजभावकी दृढता भई होय सो केसेंहु भक्तिमार्गसूं सरके नाहीं हे.

टीका : भगवत्सेवामें प्रतिकूल व्यापारको त्याग करिवेकी आज्ञा आगेके श्लोकसूं करी. अब कछु उद्योग करनो पड़े तोहु चित्तकुं प्रभुमेंहि राखिके करनो. ओर व्यावृत्तिमें तथा व्यावृत्तिसूं मुक्त होयके श्रवणादि करने. 'आदि'शब्द मूलमें लिख्यो हे तासूं श्रवण, स्मरण, चिन्तन, कीर्तन प्रभृति अनोसरमें करने. एसें भक्तिमार्गीय भक्तिकी वृद्धि होयवेको उपाय कहिके अब भक्ति बढ़वेको क्रम कहत हें. जो प्रथम तो श्रीआचार्यजीके कुलद्वारा भगवदङ्गीकार सिद्ध होय तब प्रेम इतने स्वत: प्रभुमें प्रवृत्ति करायवेवारो स्नेहको अमुर हृदयमें स्फुरे हे. तापीछे प्रभुमेंही मनकूं लगायवेवारी आसक्ति होय हे, ताकूं 'प्रौढस्नेह' कहे हें. तापीछे एक क्षणहु प्रभुको वियोग सह्यो न जाय एसो प्रभुमें व्यसन होय हे. एसें व्यसन पर्यन्त भाव बढ़े तब बीजभाव दृढ भयो एसें जाननो. जा जीवकुं आगे कहे प्रमाण बीजभावकी दृढता भई हे सो दु:सङ्गादि लौकिकदोष आय मिलवेसूं ओर कालादिकनकी प्रतिकूलतारूप अलौकिक दोषसूंहु भक्तिमार्गसूं सरके नाहीं हे॥3॥

एसें क्रमसूं स्नेह बढ़वेकी रीति कहिके अब स्नेह होयवेमें बाधकरूप प्रभुसिवाय ओर वस्तूनमे स्नेह, गृहमें आसक्ति ओर प्रभुविनाहु कालनिर्वाह ये तीन दोष हें, सो जब प्रभुमें एक भाव बढे तब एक बाधक मिटे, दूसरो भाव बढे तब दोय बाधकदोष निवृत्त होंय ओर जब प्रभुमें व्यसन पर्यन्त भाव होय तब भावविघातक सब दोष दूरी होय हें सो जा क्रमसूं एक भावकी वृद्धिमें एक दोषकी निवृत्ति होय सो क्रम कहत हें :

स्नेहाद् रागविनाश: स्याद् आसक्त्या स्याद् गृहारुचि:॥4॥
गृहस्थानां बाधकत्वम् अनात्मत्वं च भासते॥
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थ: स्यात् तदैव हि॥5॥

स्नेहात्=स्नेहसों
रागविनाश:=रागको विनाश
स्यात्=होय हे
आसक्त्या=आसक्तिसों
गृहारुचि:=घरमें अरुचि
स्यात्=होय हे

गृहस्थानां=घरमें रहेभयेनको
बाधकत्वं=बाधकपनो
च=ओर
अनात्मत्वं=अनात्मपनो
भासते=भासे हे, यदा=जब
कृष्णे=श्रीकृष्णमें
व्यसनं=व्यसन, तदा=तब
एव=ही (भक्त:)
कृताथ:=कृतार्थ
स्यात्=होय, हि=ही

भावार्थ : प्रभुमें प्रीति होयवेसूं अन्यत्र स्नेहको नाश होय हे, और प्रभुमें आसक्ति होयवेसूं गृहादिकमें अरुचि होय जाय हे और गृहमें रहे भये पदार्थ भक्तिमें बाधक ओर अनात्मीय दीखवे लगा हें. ओर जब श्रीकृष्णमें व्यसन होय जाय हे तबही भक्त कृतार्थ भयो कह्यो जाय हे, ये निश्चय हे.

टीका : जब प्रभुमें स्नेह होय तब लौकिकमें स्नेह न रहे. एसें जब प्रभुमें आसक्ति होय तब गृहमेंसूं आसक्ति छूटि जाय हे इतनोहि नाहीं किन्तु गृहमें रहे एसे स्त्री-पुत्र प्रभृति (भगवदीय न होंय तो) मोकों भगवद्धर्म करिवेमें ये सब बाधक हें एसें दीखे हें ओर विनमें अनात्मताकीहु स्फूर्ति होय हे. इतने, भगवदीयके आत्मा तो श्रीकृष्ण हें तासूं जो भगवत्सम्बन्धवारे जीव हें तिनमें अपनेपनेकी स्फूर्ति होय हे, (भगवत्सम्बन्ध रहित) स्त्री-पुत्रादिकनमे अपनेपनेकी स्फूर्ति नाहीं होय हे. क्यों जो वे तो लौकिकासक्तिके कारणरूप हें. वेहु यदि भगवदीय होंय तो भगवदीयपनेसूं आसक्ति बाधक नाहीं हे तासूं विनको बाधकपनो दीखवेमें नाहीं आवे हे.

अब स्नेहवृद्धिकी पराकाष्ठा कहत हें जो जब प्रभुमें व्यसन भयो तब सो जीव कृतार्थ होय हे. इतने, 'अर्थ' जो भक्तिमार्गकी रीतिके अनुसार प्रभुको फलरूपसम्बन्ध सो जाकुं भयो हे एसो जीव होय जाय हे॥5॥

एसें प्रभुमें व्यसनवारेकी योग्यता, भाव ओर फल को निरूपण करिके अब वाके आगेकी व्यवस्था कहत हें:

तादृशस्याऽपि सततं गृहस्थानं विनाशकम्॥
त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु तदर्थार्थैकमानसः॥6॥
लभते सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽप्यधिकां पराम्॥

तादृशस्य=वेसेकुं
अपि=हु, सततं=निरन्तर
गृहस्थानं=घरमें रहनो
विनाशकं=विनाशक हे
(तस्मात्=तासों) त्यागं=त्याग
कृत्वा=करके, यः=जो
तदर्थार्थैकमानसः=वाकेलियेही मन
हे जाको एसो(सन्=होयके)
यतेत्=यत्न करे(सः=वो)
तु=तो,
सुदृढां=सुदृढ
सर्वतः=सबसों, अपि=भी
अधिकां=अधिक
परां=श्रेष्ठ, भक्तिं=भक्तिकुं
लभते=प्राप्त करे हे

भावार्थ : एसे भाववारे जीवकुंहु तादृश भगवदीयके सङ्ग विना घरमें स्थिति हे सो भावको नाश करिवेवारी हे तासूं वाकुं गृहमें रहनो उचित नाहीं हे. तासूं वा भाववारो गृहको त्याग करिके, मनमें एक प्रभुकोंहि मिलवेकी अभिलाषा राखिके, भावकुं वढायवेको यत्न करे तो एसें करते-करते सुदृढ एसी परा भक्तिकुं प्राप्तकरे हे.

टीका : इतने, जो जाको नाश करिवेवारो हे सो वाके समीप रहि न सके. जेसे “हे कमल सरीखे नेत्रवारे! जबसूं आपके चरणारविन्दको स्पर्श भयो हे तबसूं ओर लोगके आगें हम ठाड़े रहि सकें नाहीं हें” एसें ब्रजरत्नरूप श्रीगोपीजन**नने** श्रीठाकुरजीसूं कह्यो हे. ताकी विवृत्तिमें श्रीआचार्यजी आज्ञा करे हें जो जेसें देहके अभिमानवारो पुरुष व्याघ्रकुं देहविघातक समझिके वाकी पास ठाड़ो नाहीं रहि सके हे एसें तादृशीकुं लौकिकासक्तके पास रहिवेसूं भावकी हानि होय जाय हे. तासूं वा भाववारो

गृहको त्यागकरिके, मनमें एक प्रभुकेहि मिलवेकी अभिलाषा राखिके, भावकुं बढायवेकोयत्न करे तो एसें करते-करते सुतरां दृढ एसी भक्तिकुं सम्पादन करेहे.

यहां प्रथम व्यसन पर्यन्त भावकरिके सर्वापनोद्य (सर्व लौकिकासक्तिकूं छुडायवेवारी) भक्ति कहिके पुन: सुदृढ भक्ति कहिवेको अभिप्राय यह हे जो पहिलेकी भक्तिहु फलरूप तो हे परन्तु 'सुदृढ' इतने सर्वात्मभावरूप साक्षात् स्वरूपको अनुभवरूप फल जामें हे एसी भक्तिकुं प्राप्त होय हे. मूलश्लोकमें "लाभ होय हे" एसें कह्यो हे वाको अभिप्राय यह हे जो पूर्व कह्यो जो अत्यन्त गाढभाव ताकरिके विद्यमान देहको जब नाश होय तब लीलामें उपयोगी अलौकिकदेह वाकी होय जाय हे पीछे वा देहसूं साक्षात स्वरूपसम्बन्धि फलकुं प्राप्त होय हे. यह भक्ति फलरूप हे एसें जतायवेकेलिये 'सर्वसूं अधिक' ओर 'पर' एसें मूलमें दोय विशेषण दिये हें. इतने, मुक्त्यादिकसूं अधिक ओर अगणित परमानन्दरूप पुरुषोत्तममें जाको सम्बन्ध हे एसी भक्ति हे, एसें विशेषणद्वयसूं सूचित होय हे॥6॥

अब कदाचित् कोउ भक्तिमार्गीय पूर्वोक्त त्यागको स्वरूप समझे विनाहि "हमहु गृहको त्याग करिके भक्ति बढावेंगे" एसो मनमें निश्यय करिके अधिकार विना यदि गृहको त्याग करे ताकुं एसें करिवेको निषेध ("त्यागे ... तथान्नत:" श्लोकसूं) करत हें. अरु एसे अपक्वभाववारेकुं कोऊ दोष न आवे ओर कालहु निकस जाय एसो सुलभ रस्ता उत्तरश्लोक ("अत: स्थेयं ... न दुष्यति")में कहत हें:

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दु:संसर्गात् तथाऽन्नत:।7।
अत: स्थेयं हरिस्थाने तदीयै: सह तत्परै:।
अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति।8।

त्यागे=त्यागमें
दु:संसर्गात्=दुष्टके संसर्गसूं
तथा=ओर, अन्नत:=अन्नसूं
बाधकभूयस्त्वं=बहोतबाधकपनोहे
अत:=यालिये
हरिस्थाने=श्रीकृष्णके स्थानमें
तत्परै:=वाके परायण
तदीयै:=तदीयके, सह=सङ्ग
स्थेयं=रहनो, (किंवा=अथवा)

अदूरे=दूर नाहिं एसें
वा=ओर, विप्रकर्षे=दूर
(स्थेयं=रहनो)
यथा=जा प्रकारसों, चित्तं=चित्त
न=नाहिं, दुष्यति=दूषित होय

भावार्थ : जाकुं व्यसन पर्यन्त भाव बढ्यो नाहीं हे एसे पुरुषकुं भक्ति बढायवेकेलिये गृह छोड़िवेमें दु:सङ्ग ओर अन्नदोष बहोत बाधक हे. सो दोष न आयवेकेलिये जहां सेवाको प्रवाह चलतो होय एसे प्रभुके स्थानमें प्रभुकी सेवा-स्मरण परायण भगवद्भक्तके सङ्ग निरन्तर रहे; तामेंहु प्रभुमें ओर भक्तमें दोषबुद्धि न होय एसें समीपमें अथवा दूरमें रहनो.

टीका : जाकुं व्यसन पर्यन्त भाव बढ्यो नाहीं हे एसे पुरुषकुं भक्ति बढायवेकेलिये गृह छोड़िवेमें बाधक बहोत हे. पहिले कह्यो जो गृहत्यागी वाकुं बीजभावकी एसी दृढता हे जो वाकुं दु:संसर्गादि दोष कछु बाधा करि सके नाहीं हे. परन्तु याकुं तो विशेष भाव नाहीं होयवेसूं दु:संसर्ग दोष बहोत बाधा करे हे. ओर शरीरनिर्वाहकेलिये लोकमें काहु जगे जानो पड़े वहां जो देय सो सब लेनो पड़े तब वामें प्रभुकुं न समर्प्यो भयो अन्नहु आवे ताके ग्रहणसूं बहिर्मुखपनो होय जाय. एसें ओरहु बहोत दोष होय हे. विनमें मुख्य तो दु:सङ्ग ओर अन्नदोष हे तासूं मूल श्लोकमें दोउको उपादान कियो हे.

तासूं कालनिर्वाह होय ओर दोष न आयवेकेलिये सो (एसे अपक्वभाववारो) जहां स्वमार्गकी (=वैष्णव आगमशास्त्रमें लिखी भई)रीतिके अनुसार सेवाको प्रवाह चलतो होय एसे प्रभुके स्थान जो गोवर्द्धन (तिरुपति, श्रीरङ्गजी, पाण्डुरङ्ग विट्ठलनाथजी, शफोद्धार बेटद्वाराका, द्वारका, रणछोड़जी, जगन्नाथरायजी, बद्रीनाथजी) आदि तामें रहे. तामेंहु भगवद्भक्तके सङ्ग निरन्तर रहे; तामेंहु प्रभुकी सेवा-स्मरण परायण रहे. वहांहु एसे न करे तो दु:सङ्गादिक दोष लग जांय तो सब जीवन छिनमें व्यर्थ होय जाय.

अब निरन्तर एसें स्थिति करिवेसूं कदाचित् कोऊ भगवदीयको अतिपरिचितपनेसूं दोष दीखवेमें आवे तोहु आछो नाहीं तासूं प्रकारान्तरसूं रहिवेकी आज्ञा करे हें जो जेसें प्रभुमें ओर प्रभूके भक्तमें दोषबुद्धि न होय एसें समीपमें अथवा दूरमें रहेनो, परन्तु भगवदीयके सङ्ग विना क्षणवारहु रहेनो नाहीं. तेसें विनकुं अपनीउपर तथा अपनकु

विनकीउपर अभाव आयवे देनो नाहीं. तासूं एसें रहेनो के जामें मनमें कोउ प्रकारको दोष आयवेकुं न पावे॥8॥

एसें प्रभुमें अत्यन्त भाव बढ़वेसूं गृह छूट जाय वाकी ओर अज्ञानसूं गृह छोड़े वाकी सिद्धिके उपाय ओर वाको फल कहे. अब पुष्टिमार्गीय सेवा ओर कथा वामें अन्यतर(दोमेंसूं कोई एक)में आसक्ति राखिवेवारेकुंहु फलकी सिद्धि होय सो कहत हें:

सेवायां वा कथायां वा यस्याऽऽसक्तिर् दृढा भवेत्॥
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वाऽपीति मतिर् मम॥9॥

यस्य=जाकी
सेवायां=सेवामें, वा=अथवा
कथायां=कथामें, वा=हु
दृढा=दृढ, आसक्ति:=आसक्ति
यावज्जीवं=जीवन पर्यन्त
भवेत्=होय हे
तस्य=वाको
नाश:=नाश, क्व=कहूं
अपि=हु, न=नाहीं
(स्यात्=होत हे)
इति=एसी, मे=मेरी
मति:=मति(अस्ति=हे)

भावार्थ : प्रभुकी सेवामें तथा भगवत्कथामें जाकी दृढ आसक्ति जीवन पर्यन्त रहे हे वाको काहु प्रकारसूं नाश न होय ओर पुष्टिमार्गीय फल वाकुं सिद्ध होय वामें संशय नाहीं हे एसें मेरी बुद्धिमें आवे हे.

टीका : श्रीआचार्यजी प्रकटित पुष्टिमार्गानुसारी एसी प्रभुकी सेवामें तथा एतन्मार्गीय भगवल्लीलाकी कथामें जाकी आसक्ति (चित्तके व्यासङ्गपूर्वक दृढ आग्रह) रहे; इतने, काहुकु सेवामें तो काहुकु कथामें ओर काहुकु दोयमें आसक्ति होय सोहु 'यावज्जीवन' नाम जहां तांई देहमें प्राण रहे तहां तांई रहे तो वाको काहु प्रकारसूं नाश न होय ओर पुष्टिमार्गीय फल वाकुं सिद्ध होय वामें संशय नाहीं होयवेकेलिये श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा

करें हें जो मेरी बुद्धिमें एसें आवे हे जो वाको कोऊ प्रकारसूं नाश न होय. ये कहिवेसूं फलकी नि:सन्दिग्धताको बोध होय हे॥9॥

एसें सेवासक्त ओर कथासक्त कुं देखिके कोउ आसक्तिके अभावमेंहु उत्साहसूं सेवा करे तो वाकुं बाधा होय सो ओर ताकी निवृत्तिको उपाय अब कहत हें:

बाधसम्भावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते॥
हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशय:॥10॥

बाधसम्भावनायां=बाधकी
सम्भावनामें, तु=तो
एकान्ते=एकान्तमें
वास:=रहनो, न=नाहिं
इष्यहे
हरि:=श्रीकृष्ण, तु=तो
सर्वत:=सब तरहसूं
रक्षां=रक्षा, करिष्यति=करेंगे
(तत्र=वामें)संशय:=सन्देह
न=नाहिं (अस्ति=हे)

भावार्थ : सेवामें बाधकी सम्भावनामें सेवा छांडिके एकान्तवास करिवेमें हित नाहीं हे. क्यों? जो प्रभु सर्वके दु:खको हरण करिवेवारे हें तासूं प्रभु सब बाधानकु दूर करिके भक्तके भावकी रक्षा करेंगे वामें संशय नाहीं हे.

टीका : सेवा करिवेमें दृढता नाहीं होयवेसूं उद्वेग होय सो ओर भोगकी आसक्ति होय सो सेवामें बाधक समजने. “एसे बाधकी सम्भावनामें मोसूं सेवा नाहीं बनी सके हे तासूं में गृहकुं छांड़िके कोउ एकान्त (स्थल)में जायके भगद्भजन करूंगो” एसो विचारिके सेवाकु न छोड़े. क्यों? जो प्रभु सर्वके दु:खको हरण करिवेवारे हें तासूं हरिनाम हे सो उद्वेगादिककुं मिटायके सेवामें आसक्ति दृढ करेगो. तासूं जेसें बने तेसें सेवा ही करे. एसें करनहारको प्रभु भाव बढावेंगे वामें काहु प्रकारको संशय न करनो. एसें ही कथामें आसक्त होय वाकुं विघ्न आवे तोहु वाकुं कथा न छोड़नी. (यदि एसें करेगो) तो प्रभु सब बाधानकु दूर करिके जामें जाकी प्रवृत्ति होयगी वामें वाके मनकुं निश्चल करेगें एसें विश्वासपूर्वक समजनो॥10॥

अब उपसंहार करत हें:

इत्येवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्वं निरूपितम्॥
य एतत् समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः॥11॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता भक्तिवर्द्धिनी सम्पूर्णा ॥

इत्येवं=या प्रकारसूं
भगवच्छास्त्रं=भगवत्शास्त्रके
गूढतत्त्वं=गूढतत्वको
(मया=मेरे द्वारा)
निरूपितं=निरूपण भयो
यः=जो, एतत्=याकुं
समधीयेत=आछी भांतिसों
अध्ययन करेगो, तस्य=वाकु
अपि=हु
(हरौ=श्रीकृष्णमें)
दृढा=अविचल, रतिः=प्रीति
स्यात्=होयगी

भावार्थ : ऊपर कहे प्रमाण जो वाणीमेंहु नाहीं आय सके किन्तु अनुभवसूं जानिवेलायक गूढ हे तत्त्व जाको एसी भक्तिकी वृद्धिको शास्त्र निरूपित कियो हे. या शास्त्रकुं सम्यक प्रकारसूं अर्थानुसन्धानपूर्वक जो पाठ करे ताकुंहु एसें करत-करत निष्पाप अन्तःकरण जब होय तब प्रभुमें दृढ प्रीति होय.

टीका : इतने, याको अर्थानुसन्धानपूर्वक नित्य पाठ करिवेसूं मार्गमें रुचि होय ओर भक्तिमार्गीय आचार्यद्वारा शरणागति होयवेसूं प्रभुमें दृढरति, इतने रसभावयुक्त स्नेह होय॥11॥
इति श्रीवल्लभचार्यजीविरचित 'भक्तिवर्द्धिनी'की
गोस्वामी श्रीनृसिंहलालजीमहाराज विरचित
व्रजभाषामें संक्षिप्त **टीका** समाप्त भई॥

:

॥श्रीकृष्णाय नमः॥
॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

जलभेद ग्रन्थ-परिचय

जलभेद तथा पञ्चपद्यानि ग्रन्थ कब, कहां और किसकेलिए लिखे गये इसका विवरण कहीं मिलता नहीं है.

जलभेदमें भगवत्कथाके वक्ताके उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं; तथा पञ्चपद्यानिमें श्रोताके उत्तम, मध्यम और

कनिष्ठ स्वरूप निर्धारित किये गये हैं. यद्यपि भागवतके प्रथम स्कन्धका भी वर्ण्य-विषय यही है फिरभी सर्वांशमें दोनों ग्रन्थ प्रथम स्कन्धका ही अनुसरण करते हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता है.

भागवतके प्रथम स्कन्धमें स्वयम् भागवतके वक्ता तथा श्रोता के उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारोंका निरूपण किया गया है. जबकि इन जलभेद और पञ्चपद्यानि में भागवतोक्त धर्म शरणागति तथा निर्गुणा भक्तिके अङ्गभूत, भगवान्के स्वरूप गुण एवम् लीलाओंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनार्थ अपेक्षित, वक्ताओं तथा श्रोताओं के उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारका विवेचन किया गया है. यहां भागवतपुराणके प्रवचन या श्रवण का प्रश्न नहीं है अपितु भागवतानुसारी भगवान्के स्वरूप, गुण, एवम् लीलाओंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनके एक व्यापक सन्दर्भमें ही श्रीमहाप्रभुजीने जलभेद तथा पञ्चपद्यानि ग्रन्थका उपदेश दिया है. अतएव भागवतकेलिए श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं
यदौपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा।
वर्णिनामेव तद्धि स्यात्स्त्रीशूद्राणां ततोन्यथा॥ (भाग. नि. 3।178)
अर्थ:औपनिषद तथा श्रीभागवत के ज्ञानका अधिकार उपनयन संस्कारवाले द्विजोंका ही होता है-अनुपनीत स्त्री या शूद्रों का नहीं.

आजकल चल निकली चन्दा एकत्रित करनेकेलिए होती भागवत सप्ताहकी हास्यास्पद रीतिसे विपरीत भागवतके प्रवचन और श्रवण के कुछ गम्भीर नियम श्रीमहाप्रभु स्वीकारते हैं. अतएव आज्ञा करते हैं कि “भागवत प्रसङ्गो न यथाकथञ्चिद् यत्रकुत्रचिद् कर्तव्य: किन्तु महान्तश्चेद् वहव: शुद्धास्तीर्थनिरता: प्रार्थयेयुस्तदैव प्रसङ्ग: कर्तव्य:... एतादृशेपि श्रोतरि न सहसा भागवतं वक्तव्यं किन्तु तद्हृदयमवगाहयैव... रीतिरियं सदा” (भाग. नि. 1।22-25)

अर्थ:जैसे मनमें आये वैसे, जहां मनमें आजाये वहीं, भागवतका प्रसङ्ग छेड नहीं देना चाहिये. किन्तु अनेक महापुरुष तीर्थवासनिरत शुद्ध श्रोताओंद्वारा प्रार्थना किये जानेपर ही भागवतका प्रसङ्ग छेडना चाहिये. फिर ऐसोंके सम्मुख भी सहसा नहीं पहले श्रोताकी हार्दिक उत्कण्ठा एवम् जिज्ञासुताको अच्छी तरह पहचान कर ही प्रसङ्ग छेड़ना चाहिये. आदि प्रवचनकर्ताओंकी यही रीति थी और आज भी तथा सर्वदा यही रीति हमें निभानी चाहिये.

श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि इसके विपरीत जब अनधिकारी लोग यशोलिप्सा, धनलिप्सा या स्पर्धाके वेशीभूत होकर स्वयम्को भागवतप्रवचनके योग्य अधिकारी मान बैठते हैं और यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रवचन करने लग जाते हैं तो भागवतकें प्रवचन पाठन या पठन का अधिकार तो दूर भागवतोक्त धर्म-पालनके अधिकारी भी वे रह नहीं जाते हैं-"ये पुनरेतानि वाक्यान्याश्रित्य स्वस्यापि पाठाधिकारमापादयन्ति तेषां मात्सर्यादिदोषग्रासेन श्रीभागवतधर्मेष्वप्यनधिकार: किं पुन: पाठे... नतु श्रावणीयं वा विक्ध्यभावात्" (भाष्यप्रका. 1।3।38)

यहां जलभेद और पञ्चपद्यानिमें किन्तु जिस वक्ता या श्रोता को आदर्श माना गया है उसका उपनीत या द्विज होना अनिवार्य नहीं है. क्योंकि इस वक्ताका वेदादि शास्त्रोंका प्रवचनकर्ता होना भी आवश्यक नहीं है. वेदादि शास्त्रोंसे अविरुद्ध भगवत्स्वरूप-गुणलीलाके निर्व्याज अहर्निश चिन्तनमें सप्रेम तत्पर होना ही यहां पर्याप्त है. भागवतमें आता है कि

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोंकितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधव:॥

अर्थ:भक्तोंके मुखसे नि:सृत वाणी, लौकिक भाषामें गाये गये गीतिपद अथवा संस्कृत भाषामें गाये गये गीतगोविन्द जैसे काव्य, प्राणिमात्रके सभी पापोंको नष्ट कर देते हैं. यह सम्भव है कि इनमें छन्द व्याकरणकी दृष्टिसे कुछ

त्रुटियां हो अथवा गानेकी प्रक्रियामें भगवान्नामके अक्षरोंका तानकर गान करनेमें परस्पर सहभाव टूट जाता हो. पर अनन्तकीर्ति भगवानके यशोंकित अनन्त नाम भक्तिमान् वक्ताओंकें मुखसे सुने जानेपर या भक्तिमान् श्रोताओंके सम्मुख गाये जानेपर अथवा स्वयम् भी एकाकितया लिये जानेपर सारे कल्मषोंको दूर कर देते हैं. (सुबो. 1।5।11).

अतएव भागवतमें वक्ता और श्रोता के उन्नीस भेद माने गये हैं. यथा:

अधिकारी वक्ता या श्रोता:
1.निर्गुण 2.सगुण
सगुण:1.असाधारण 2.साधारण
असाधारण:1.सात्त्विक (सा रा ता)
2.राजस (सा रा ता)
3.तामस (सा रा ता)
साधारण:1.सात्त्विक (सा रा ता)
2.राजस (सा रा ता)
3.तामस (सा रा ता)

इस वर्गीकरणमें निर्गुण अधिकारी उत्तम माना गया है. असाधारण अधिकारीके सात्विक-सात्विक राजस-सात्विक आदि नौ भेद होते हैं. ये मध्यम अधिकारी हैं. इसी तरह साधारण अधिकारीके भी पूर्वोक्त रीतिके अनुसार नौ भेद होते हैं और इन्हें कनिष्ठ माना जाता है. यह उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ कक्षा भक्ति, वैराग्य तथा द्विविध ज्ञान (अनुभवपर्यवसायी अर्थज्ञान तथा अनुभवविहीन केवल शाब्दिक ज्ञान)की चारों कसोटीपर खरे उतरनेवालेको उत्तम, अनुभवपर्यवसायी अर्थज्ञान तथा भक्ति रहनेपर भी वैराग्यरहित होनेपर मध्यम तथा वैराग्यरहित केवल शाब्दिक ज्ञान एवम् भक्तिवाले अधिकारीकी कनिष्ठ कक्षा मानी जाती है.

तदनुसार ही जलके भेद भी सुबोधिनीमें उन्नीस ही माने गये हैं, जहां श्रीमहाप्रभु यह विवेचन करते हैं कि “उन्नीस भेद होनेपर भी बहता हुआ जल और स्थिर जल ये दो मुख्य भेद हैं” (द्र. सुबो. 10।3।3) जबकि यहां जल और वक्तृभाव दोनोंके बीस भेद स्वीकारे गये हैं. इससे भी यही सिद्ध होता है कि प्रथम स्कन्धमें निर्धारित अधिकारभेद केवल भागवतके सन्दर्भमें ही विवक्षित है. जबकि यहां भगवत्स्वरूप भगवद्गुण या भगवद्लीलाका भागवतानुसारी या भागवत अविरोधी होना अनिवार्य होनेसे, वक्ताका भी भागवतानुसारी या भागवत अविरोधी होना अनिवार्य है, परन्तु एतावता प्रत्येक वक्ताका भागवतपुराणपर प्रवचनकारी होना आवश्यक नहीं है. यहां तो पुष्टिमार्गीय श्रोताको भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन कैसे वक्ताके सत्सङ्गद्वारा सम्पन्न करना चाहिये यही विवक्षित सन्दर्भ है. अतएव श्रोताके भी उन्नीस भेद न दिखलाकर केवल तीन या चार भेद ही दिखलाये गये हैं. अतएव उन्नीस और बीस के भेदको विवक्षाप्रयुक्त मानना चाहिये.

फलत: पुराणप्रवचनकी अनिवार्य शर्त उपनयन-संस्कार या द्विजत्व अथवा पुरुष होना भी यहां अनिवार्य नहीं लगता है. परन्तु इसके सिवा अन्यगुण जो भागवतके वक्ताकी उत्तमताके परिचायक हैं यथा उसका स्वसम्प्रदायकी परम्पराके अनुसार सत्पुरुषके मुखसे भगवद्लीला एवम् सिद्धान्तका श्रवण किये हुए होना, स्वयम् धनोपार्जनके हेतु भगवत्कथामें प्रवृत्त न होना एवम् ज्ञान-भक्ति-वैराग्य-सम्पन्न होना आदि, उन्हें इस सन्दर्भमें भी आवश्यक माना जा सकता हैं-“वक्ताधिकारी सर्वज्ञ: सम्प्रदायेन सन्मुखात् श्रुतभागवतो भक्तो”... (भाग. नि. 1।23)

जीवनकी सबसे बड़ी उपलब्धि, श्रीमहाप्रभुके अनुसार, चित्तका श्रीकृष्णमें तन्मय हो जाना है. इसके दो साधन दिखलाये गये

1.तदाश्रय-प्रपत्ति
2.तदीयता-भक्ति

विवेकधैर्याश्रयग्रन्थमें तदाश्रयके उपायरूप विवेक धैर्य एवम् अनन्याश्रयका निरूपण किया गया है. इसी तरह तदीयताके उपारूप आत्मनिवेदन सर्वसमर्पण, सर्वभावसे तनुवित्तजा सेवा, भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन आदिका सिद्धान्तरहस्य नवरत्न चतुश्लोकी सिद्धान्तमुक्तावली तथा भक्तिवर्धिनी में निरूपण किया गया है.

भक्तिवर्धिनीमें भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेका उपाय, यदि व्यक्ति अव्यावृत्त हो तो, स्वगृहमें स्ववर्णाश्रमाचारको निभाते हुए भगवत्सेवा-कथामय जीवनयापन करना माना गया है. व्यक्तिके व्यावृत्त होनेके कारण यदि भगवत्सेवाका निर्वाह शक्य न हो तो उसे भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें तत्पर रहना चाहिये, बीजभावको दृढ़ करनेकेलिए बीजभावके दृढ़ होनेपर गृहत्वागकी प्रेरणा भी दी गयी है. गृहत्यागकी शक्यता न हो तो भगवत्सेवा-कथा-परायण भगवदीयोंद्वारा की जाती भगवत्सेवामें परिचारक सहायक बननेका और अथवा भगवत्कथा (जब वे करते हों)में श्रवणार्थ सम्मिलित होनेका विधान भी किया गया है. इस तरह अनेकविध उपायोंसे बीजभावसे लेकर प्रेम आसक्ति व्यसन सर्वात्मभाव या अलौकिक सामर्थ्य तकके विकासकी रूपरेखा दिखलायी गयी है.

इन सभी विकल्प और अनुकल्प द्वारा भक्तिमार्गमें भगवत्कथाकी असाधारण महत्ता एवम् उपादेयता स्पष्ट होती है. भगवत्कथामें वक्ताकी अपेक्षा रहती है श्रवणार्थ; तथा श्रोताकी अपेक्षा रहती है कीर्तनार्थ स्मरण स्वत: भी सम्भव है परन्तु फिरभी किसी समानशील भगवदीयकी

सत्सङ्गतिमें भगवत्स्मरणका एक अलग ही रूप निखरता है इसमें सन्देह नहीं.

कुल मिलाकर श्रोता एवम् वक्ता दोनोंको भगवत्कथाके श्रवणार्थ एवम् कीर्तनार्थ परस्पर-एकदूसरेकी अपेक्षा रहती ही है. ऐसी स्थितिमें योग्य वक्ता तथा योग्य श्रोता के अभावमें न केवल भगवत्कथामें रसाभास होनेकी अपितु बीजभावके भी दृढ़ होनेके बजाय खण्डित होनेकी सम्भावना रहती है. अतएव जलभेदमें योग्य वक्ताका स्वरूप श्रोताके श्रवणाङ्गके रूपमें समझाया गया है तथा पञ्चपद्यानिमें योग्य श्रोताका स्वरूप वक्ताके कीर्तनाङ्गके रूपमें समझाया गया हैं

नित्याभिवन्दनीय श्रीहरिके सर्वतापहारी एवम् सर्वसुखकारी गुण भी वक्ताओंके हृदयके भावपात्रमें भरे होनेपर कुछ न कुछ भिन्न रूप धारण कर लेते हैं. जैसे जल स्वत: शीतल स्वच्छ अव्यक्तमधुर सर्वशोधक एवम् तापशामक होनेपर भी जिस आधरभूमिमें (उदाहरणतया कूप-तलाव-नदी-समुद्र-झरना-नाला-गड्ढे आदिमें) भरा हुआ होता हैं वहांके गुणधर्मोसे युक्त हो जाता है, वैसे ही.

तैत्तिरीय संहिताके सातवें काण्डमें जलके बीसरूप श्रुतिमें गिनाये गये हैं. यथा 1.कूप 2.नहर 3.खेतकी नाली 4.नदीके जलसे बना गड्ढा 5.गन्दे नाले या मोरी के जलसे बना गट्ढा 6.नदीके जलसे बने बड़े तालाव 7.पीने लायक पानीवाले बड़े तालाब 8.सुन्दर सरोजादि पुष्पवाले बड़े सरोवर 9.छोटे तलाव 10.पमबहुल तालाब 11.वर्षाका जल 12.स्वेदजल-पसीना 13.जलप्रताप-झरना 14.ओसके जलबिन्दु 15.बरसाती नदी-नालों जैसा अस्थिर प्रवाहवाला जल 16.बाहरमासी नदियोंका स्थिर सर्वदा समान रूपमें बहनेवाला जल 17.निरन्तर उद्गमवाली ऐसी नदियां जिनका जल वर्षा या ग्रीष्ममें बढ़ता या

घटता हो. 18.समुद्रमें मिलनेवाली महानदियां 19.समुद्र 20.अन्य भी इनमें से भरे गये अथवा गिरे हुए जल.

स्वभावत: एकरूप भी जल अपने इन आधारोंके गुणधर्मोके अनुरूप अनेकरूपता प्रकट करता है. इसी तरह भगवान्के एकरूप गुण भी भगवत्कथाके वक्ताकी योग्यता एवम् भावोंके अनुरूप अनेकरूपता धारण कर लेते हैं. यथा:

1.भगवद्गुणोंका स्वर-ताल-लयाश्रित गान करनेवाले विश्रुत गन्धर्वोके जैसे लोग कुएकी तरह होते हैं. कुछ कुए मीठे जलके होते हैं कुछ खारे जलके कुछ पवित्र शास्त्रीय माहात्म्यवाले होते हैं. यथा न्यग्रोध वृक्षसे उत्तरकी दिशामें स्थित कूप अथवा द्वारकाका दामोदरकूप या व्रजका गोपकूप. कुछ कुए अपवित्र-मलिन जलवाले होते हैं. ऐसे ही सभी भेद गायकोंमें भी होते हैं. कुछ गायक स्वर-तालके अङ्गरूपेण भगवद्वर्णनात्मक शब्दोंका योजन करते हैं, तो कुछ गायन भगवद्वर्णनात्मक शब्दोंके अङ्गरूपेण स्वर-तालका योजन करते हैं. प्रथम प्रकारके गायकोंको खारे जलवाले कुएकी तरह समझना चाहिये और दूसरे प्रकारके गायकोंको मीठे जलके कुएकी तरह गहरे कुएका जल ठंडीमें गरम और गरमी ठंडा लगता है. इसी तरह भाबगाम्भिर्यवाले गायकोंद्वारा किया गया भगवद्गुणगान सांसारिक तापसे तप्त श्रोताको आध्यात्मिक-आधिदैविक शीतलता प्रदान करता है; और सांसारिक मोहसे जडीभूत ठिठुरते हृदयोंको भगवद्भावकी कुछ उष्मा भी इन गायकोंद्वारा किये गये भगवद्गुणगानसे मिल सकती है.

2.पौराणिक-पुराणकथा सुनानेवाले नहरकी तरह होते हैं. नहरका जल अपना स्वयम्का नहीं होता किन्तु किसी नदी या सरोवरसे जुड़ा हुआ होता है. इसी तरह पुराणकथा सुनानेवाले वक्ताका भाव स्वयम् उसका न होकर केवल पुराणकथा करते समय कथावेशसे प्रयुक्त होता है. अतएव अश्रुपात कण्ठावरोध या उल्लास केवल कथाकालमें ही प्रकट होते हैं सर्वदा नहीं.

3.अपने कुटुम्बपोषण घन या यश की कामनासे जो कथा करते हैं वे खेतको जल पहुंचानेवाली नालियोंकी तरह होते हैं. खेतकी नालीके जलका मुख्य प्रयोजन धान्योत्पादन है. उसी तरह इन वक्ताओंकी भगवत्कथाका भी मुख्य प्रयोजन संसार वढ़ाना ही होता है. अत: वही फल श्रोताको भी मिलता है.

4.वेश्या या स्वैरिणी स्त्रियोंसे घिरे, द्यूत और मद्यपान आदि व्यसनोंसे प्रमत्त वक्ता नदीके जलसे बने गन्दे जलके गड्ढेकी तरह होते हैं. इन्हें वेदमें 'प्रदर' कहा गया है तथा इनका आचमन भी निषिद्ध माना गया है.

5.भगवानके गुणगानको आजीविका बनाकर उदर या कुटुम्ब का पोषण करनेवाले गायक या पौराणिकों के भाव, घरकी गन्दी मोरियोंमेंसे निकलनेवाला मलिन जल चारों ओर फैल न जाये इसकेलिए जो गड्ढे खोदे जाते हैं, उनमें भरे हुए जल जैसा अपवित्र होता है. जैसे उस गन्दे जलका स्पर्श अशुचिकर होता है वैसे ही भगवद्गुणगानको आजीविका बनानेवालोंका प्रवचन भी.

6.नदियोंके जलसे जैसे कहीं जलाशय बनाया जाता है या कभी नैसर्गिक रूपसे स्वयमेव भी बन जाता है. इसी तरह गीता भागवत पाञ्चरात्रादि भगवद्शास्त्रोके निरन्तर अभ्याससे व्यक्तिके हृदय और बुद्धिमें भगवद्भावका एक विशाल जलाशयसा भर जाता है. बड़े जलाशयोंका जल न तो धूपके कारण सूख सकता है और न उसे भैस जैसे पशु मलिन ही बना सकते है. ठीक इसी तरह इन शास्त्राभ्यासियोंका भाव न तो सांसारिक तापोंसे शुष्क होता है और न कुर्तक या असम्भावना विपरीतभावनासे मलिन ही.

7.स्वयम् निरन्तर शास्त्राभ्यास करना एक बात है और श्रोताके सन्देहोंको निवारण कर पानेका सामर्थ्य दूसरी बात है. अत: सन्देह निवारक वक्ता मानों पीने लायक पानीवाले बड़े जलाशयकी तरह होते है. ऐसे स्वच्छ निर्मल जलाशयकि जिनमें न तो पम और न शैवाल ही पैदा होते हों.

8.स्वयम् भगवद्शास्त्रोंका निरन्तर अभ्यास तथा दूसरोंके सन्देहोंको भी निवारण करनेकी क्षमता होनेपर भी कभी-कभी वक्तामें स्वयम् भक्तिभाव नहीं होता. परन्तु वह भी यदि प्रकट हो जाये तो ऐसे वक्ताको सुन्दर सरोजवाले रम्य सरोवरकी तरह समझना चाहिये.

9.कुछ वक्ताओंमें भगवत्प्रेम होता है पर वे स्वयम् अल्पश्रुत होते है. ऐसे वक्ताओंको छोटे तालाबोंकी तरह समझना चाहिये, जो स्वयम् स्वच्छ जलवाले होनेपर भी भैंस जैसे पशुओंद्वारा मलिन बनाये जा सकते हैं, अल्प जलराशीके कारण ही. ऐसे ही अल्पश्रुन्तताके कारण इनके भाव कुतकोसे दूषित हो सकते है.

10.जिन वक्ताओंने स्वयम् न तो शास्त्रीय विषयोंका श्रवण भलीभाति किसी सद्गुरुके मुखसे किया हो और न भगवद्भक्ति ही जिनमें पर्याप्त हो, फिर भी जिनकी निष्काम धर्माचरण-कर्मानुष्ठानमें निष्ठा दृढ़ हो, ऐसोंको यदि भगवत्कथा प्रवचन करनेकी वृत्ति जगे तो इनके भाव भी छोटे तलावकी तरह ही समझने चाहिये. छोटे तलावका जल शीघ्र ही सूख भी जाता है और शीघ्र मलिन भी हो सकता है.

11.जिन व्यक्तियोंका मन योगध्यान आदिकी प्रक्रियामें लगा हुआ हो, उनके भाव स्वत: तो निर्मल हो सकते है, परन्तु श्रोताओंसे घिरते ही इनके भावोंमें परिवर्तन आने लगता है. यौगिक साधनाका निखार एकान्तमें आता है. अत: जनतासे घिरे रहनेकी वृत्तिवाले योगीकी समूची योगसाधना निष्फल चली जाती है. अतएव इनका भाव वर्षाजलकी तरह होता है जो स्वयम् स्वच्छ होनेपर भी जहां गिरा वहांके गुणधर्म शीघ्रतया स्वीकार लेता है.

12.केवल तपो-ज्ञान-वैराग्यादिकी साधनामें निरत व्यक्ति जब भगवत्कथाका प्रवचन करते हुए मिलें तो उनके भावको स्वेदजलकी तरह समझना चाहिए. स्वेदजल-पसीना जिसे आता है वह उसके परिश्रमका तो द्योतक होता है, परन्तु दूसरेके कामना वह नहीं होता. इसी तरह व्यक्तिकी तपश्चर्या या

भक्तिहीन शुष्क ज्ञानवैराग्य-साधना स्वयम् व्यक्तिकेद्वारा लिए हुए आध्यात्मिक परिश्रमकी द्योतक तो होती है, परन्तु अन्य श्रोताओकेलिये तो व्यर्थ ही!

13.पर्वतपरसे गिरते जलप्रताप-झरने का जल निर्मल, शीतल, मधुर सतत तथा श्रवण, दर्शन, स्पर्शन, स्नान, आचमन, पान आदिमें मनोहारी तापहारी एवम् सुखकारी लगता है. इसी तरह भगवत्कृपाके कारण अथवा महान् भगवदीयोंकी कृपाके कारण, जिन्हे स्वयम् श्रीहरिके दिव्य मधुर गुणोंका अलौकिक ज्ञान प्राप्त हो गया हो तो ऐसे वक्ताओंके मुखसे भगवद्गुणगान सुनना किसी मनोहारी झरनेके सामने पहुंच जानेकी तरह एक सुखद प्रसङ्ग होता है यह सर्वत्र-सर्वदा सुलभ नहीं होता. जैसे झरनेके सामने पहुंचनेसे पहले, कुछ दूरीपरसे ही उस जलप्रतापकी ध्वनिसे उसके अस्तित्वका बोध हो जाता है. इसी तरह इन भगवदीयोंके पदग्रन्थ आदि रूपमें शब्दोंके श्रवणमात्रसे ही इनकी अलौकिक अनुभूतिका निर्णय हो जाता है.

14.सकाम उपासनाके अङ्गभूत श्रौत या पौराणिक, वरुण, इन्द्र, दुर्गा, गणपति, भैरव, नवग्रह आदि, देवताओंके उपसाक यदि श्रीकृष्णकी कथा करते हों तो उनके भावोंको ओसके बिन्दुओंकी तरह समझना चाहिये. ओसके जलबिन्दु जिस स्थानपर गिरते हैं वहां उभरे हुए दिखलायी पडते हैं. पर वह वास्तविकता नहीं होती. इसी तरह अन्यदेवोपासक वक्ताके मुखसे श्रीकृष्णकथा अन्यदेवोंकी उपासनाभूमिपर श्रीकृष्णद्वारा गिराये गये ओसके क्षुद्र बिन्दुओंकी तरह होती है. ओसकी जैसे केवल देखने भरकी शोभा होती है, इसी तरह इस कृष्णकथाकी केवल श्रवणमात्रकी ही शोभा होती है. स्नान-पानमें ओसके जलबिन्दु अनुपयोगी होते हैं और थोड़ी सी धूप निकलते ही ओझल हो जाते हैं. इसी तरह इनके भाव भी श्रोताकेलिए उपयोगी नहीं होते. कथाकालमें ही केवल प्रकट होकर पश्चाद् वे ओझल हो जाते है.

15.वर्णाश्रमधर्मको निभाते हुए श्रीकृष्णकी नवधा भक्तिमें तत्पर वक्ताओंमें यदा कदा प्रेमावेशके कारण भगवदीय धर्मोका स्फुरण होता रहता है, इनके भावको बरसाती नदीके प्रवाहकी तरह समझना चाहिये.

16.कुछ नदियां बारहमासी होती है. इनमें न तो पूर आता है और न इनका जल घटता है. इसी तरह भगवत्कथामें न जिन्हें प्रेमावेशका पूर आता हो और न उनकी रुचि ही कभी क्षीण होती हो ऐसे मर्यादामार्गीय वक्ताओंके भाव स्थिर प्रवाहवाली नदीके तुल्य होते है.

17.कुछ नदियोंके उद्‌गमस्थलपर निरन्तर पानी उभरता रहता है. अत: इनका प्रवाह कभी रुकता नहीं, पर वर्षा-आतपके कारण इनके जलस्तरमें निरन्तर वृद्‌धि ह्रास होता रहता है इसी तरह जिन वक्ताओंका भाव उनकें आसपासके व्यक्तियोंकी सङ्‌गतिके कारण कभी वृद्‌धिङ्‌गत होता हो और कभी क्षीण होता रहता हो परन्तु भावप्रवाह कभी अवरुद्‌ध न होता हो, तो ऐसोंका भाव अनेक जन्मोंसे चली आ रही भावसाधनाके कारण निरन्तर उद्‌गमवाली नदीके समान होता है.

18.कुछ महानदियां समुद्रगामिनी होती हैं जो ऋतुचक्रसे अप्रभावित रहती हैं. इनमें पूर आता है पर जल कभी कम नहीं होता. जिन वक्ताओंके भाव सङ्‌गदोषसे अप्रभावित रहते है उन्हें समुद्रगामिनी महानदियोंके तुल्य समझना चाहिये.

19.समुद्रोंके अनेक भेद शास्त्रोंमें वर्णित हैं. यथा क.क्षारोद ख.इक्षुरसोद ग.सुरोद घ.घृतोद ङ.क्षीरोद च.दधिमण्डोद छ.शुद्‌धोदया अमृतोद. ये सब अगाघ एवम् वृद्‌धि क्षयरहित होते हैं. इसी तरह, लौकिक गुणोंके मिश्रण, वैदिक गुणोंके मिश्रण तथा लोकवेदमिश्रित गुणोंके मिश्रणसे, भगवद्‌गुणोंके वर्णन करनेवाले समुद्रोपम वक्ताओंके भाव भी अनेकविध होते है.

क.श्रीराम या श्रीकृष्ण को साक्षात् परमेश्वर न मानकर केवल महापुरुष अर्थात् महान् मनुष्य माननेवाले वक्ताओंके भाव क्षारोद समुद्रके जलकी तरह

खारे होते हैं. इनसे भक्तकी तृषा मिट नहीं सकती. भगवदवतारोंके चरित्रकी मानवीय व्याख्या करनेवाले वक्ताओंका भाव भक्तिमार्गीय दृष्टिकोणसे खारा अरुचिकर तथा तृषा अनिवर्तक होता है.

ख.परमात्माको अप्राकृत गुणधर्मोसे युक्त माननेपर भी अवतारोंको प्राकृत गुण-धर्मयुक्त माननेवाले वक्तओंका भाव इक्षुरसोदके तुल्य होता है. गन्ना चूसनेपर प्रारम्भमें मधुर लगता है किन्तु अन्तमें विरस हो जाता है.

ग.स्वयम् मोहवश अथवा मोहप्रवर्तनकी भगवदाज्ञाके वशीभूत होकर जो भगवान्के गुणोंको मायिक मानते हैं तथा ब्रह्मको निर्गुण निराकार निर्धर्मक मानते है, उनकी भगवत्कथाका श्रवण सुरोदके आचमनकी तरह होता है. सुरासे जैसे स्वरूपविस्मृति आदि अनेक प्रमाद प्रकट होते हैं, वैसे ही ब्रह्मको अथवा भगवदवतारोंको निर्गुण अथवा मायिक गुणोंवाला माननेवालोंके उपदेश सुननेसे भी अनेकविध मोह उत्पन्न हो जाते हैं. बहुधा ऐसे वक्ता स्वयम् परम भगवदीय होते है आगाध समुद्र जैसे पर उपदेश इनके भक्तिमार्ग विरोधी होते हैं. जैसे परम भागवत श्रीमहादेवको भगवदाज्ञावश मायावादका प्रवर्तक करना पडा.

घ.भगवान्के दयालुता आदि गुणोंपर जो भार देते हुए भगवत्कथा करते हैं उनसे भगवद्गुणगान सुनना घृतोद समुद्रके आचमनकी तरह भक्तिबलको बढ़ानेवाला होता है.

ङ.श्रीहरिके सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वदु:खहर्ता आदि गुणोंपर भार देते हुए जो भगवत्कथा करते हैं उनसे भगवद्गुणगान सुनना क्षीरोदके आचमनकी तरह होता है. यह स्वादिष्ट-शक्तिवर्धक और पवित्र होता है.

च.केवल वैदिक मर्यादाओंकी स्थापनाके सीमित प्रयोजनको प्रस्तुत कर जो वक्ता भगवदवतारचरित्रोंकी व्याख्या करते हैं उनके भाव दधिमण्डोदकी तरह होते हैं. दधिमण्ड-मठा सुपाच्य तथा स्वादिष्ट होनेपर भी नवनीतके निकल जानेसे सारहीन होता है. वैसे ही भक्तोंको स्वरूपानुभवकेद्वारा परमानन्दका

दान, जो अवतारका मुख्य प्रयोजन है, इनकी भगवद्गुणगानकी रीतिके कारण कथामेंसे बाहर निकल जाता है. फलत: इनकी कथा सारहीन हो जाती है.

छ.शुद्धोद समुद्रको ही श्रीमहाप्रभु 'अमृतोद' भी कहते हैं. श्वेतदीपके चतुर्दिक परिखा-खाईके रूपमें भरे हुए 'अर' और 'ण्य' नामक समुद्रोंका वर्णन वाराह पुराणमें भी उपलब्ध होता है-"अरनामामृताम्भोधि: ण्यनामामृतसागर:" ऐसे ही छान्दोग्योपनिषद्में भी "अरश्च वै ण्यश्च अर्णवौ ब्रह्मलोके... तदैरन्मदीयं सर:" कहा गया है. इनसे प्रतीत होता है कि 'शुद्धोद' और 'अमृतोद' पर्यायवाची हैं.

सनत्कुमारोंको उपदेश देनेवाले समर्षण शेष, अपने आत्मज शुकको भागवत पढानेवाले भगवद्ज्ञानावतार महर्षि बादरायण व्यास, अग्निपुराणके वक्ता अग्नि, वायुपुराणके वक्ता मारुत या हनुमान भी, रहूगण राजाको ज्ञानोपदेश करनेवाले अवधूत जड़भरत, अनेकधा भक्तिशास्त्रोंके उपदेशक नारद, सनत्कुमारके शिष्य तथा विदुरके गुरु मैत्रेय और भी ऐसे पूर्ण भगवदीयोंके उपदेशश्रवणको अमृतोदके पानके तुल्य समझना चाहिये.

जलभेदके इस अंशपर एक स्वतन्त्र लेख लिखनेवाले श्रीश भट्टके अनुसार इन उल्लिखित भक्तोंकी परम्पराकी घरोहरको सम्हालनेकेलिए प्रकट हुए शेषावतार श्रीरामानुजाचार्य, व्यासावतार श्रीविष्णुस्वामी, अग्निके अवतार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, वायुके अवतार श्रीमध्वाचार्य, जडभरतके अवतार श्रीरामानन्द, नारदके अवतार श्रीचैतन्य, सनकके अवतार श्रीनिम्बार्काचार्य आदि मुख्य चार वैष्णव सम्प्रदाय तथा अवशिष्ट उपसम्प्रदायोंके आचार्य या भक्तों के उपदेश भी अमृतोदके तुल्य मानने चाहिये. स्वयम् श्रीमहाप्रभुने भी मुख्य चारों भक्तिसम्प्रदायोंका भगवत्प्रवर्तित होना तृतीय स्कन्धकी सुबोधिनीमें स्वीकारा है-"एवम् चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादित:" कह कर.

अत: इस श्रीश भट्टकी व्याख्यारीतिमें कोई विप्रतिपत्ति दिखलायी नहीं देती हैं.

प्राकृत या मायिक गुणोंसे रहित श्रीविष्णुके सभी अप्राकृत-दिव्य-शुद्ध सच्चिदानन्दरूप गुणोंके वर्णन-स्मरण-कीर्तन करनेवाले ये विचक्षण वक्ता अमृतोद सिन्धुके समान हैं. इनके वचनामृतका पान वस्तुत: जीवनकी सुदुर्लभ उपलब्धि है. इनमें से कुछ पुष्टिभक्तिमार्गीय और कुछ मर्यादामार्गीय हैं पर सभी अमृतोद सिन्धुके समान हैं.

विष्णुदूतोंके वचन जैसे अजामिलके कानोंमें पड़े तो उसकी कृति मति और भावना सभीमें चमत्कारिक परिवर्तन आगया. इसी तरह अकस्मात् भी इन अमृतोदके तुल्य वक्ताओंके एकाद वचन अमृतके बिन्दुपानके समान होनेसे तृप्तिप्रद न भी हों पर निश्चयेन सुखप्रद तो होते ही हैं. और जब इनके वचनामृतोंके सतत श्रवणसे राग अज्ञान, काम, क्रोध आदि मनोविकार दूर हो जाते हैं तो वह अमृतके बिन्दुपानकी तरह नहीं किन्तु लेहनकी तरह समझना चाहिये. अमृतोदके अमृतका ऐसा लेहन कि जिसमें परमानन्दकी अभिव्यक्ति हो जाती है. श्रोता कृतार्थ हो जाता है!

20.इनके अलावा अन्य जो वक्ता या उनके भाव होते हैं उन्हें इन्हीं कूप आदि उन्नीस जलस्थानोंमेंसे भरे गये अथवा गिर गये जलकी तरह समझना चाहिये. तदनुसार उनसे कथा श्रवण करनेके फलका भी यथायथ स्वरूप विचार लेना चाहिये.

इस तरह विष्णुके एकरूप गुण तत्तद् जीवोंकी वागिन्द्रिय-वाणीपर कैसे अनेकरूप धारण कर लेते है और कैसे फल उनसे मिलते हैं आदि बातोंका निरूपण सम्पूर्ण हुआ.

॥जलभेद:॥

अपने (पुष्टिमार्गीय-वैष्णवनकु) सेव्य श्रीकृष्ण केवल भाव करिके हि प्राप्त होय सके हें. विना भावसूं सम्पादित ज्ञानादिकहु प्रभुप्राप्तिमें बाधक हें सो श्रीभागवतादिक सब ग्रन्थनमे विदित हे. तासूं भावरहित कृति, अस्नेह (विना घृतके) भोजनकी नांई फलसम्पादक नहीं होयवेसूं श्रीआचार्यजी महाप्रभुजी निजजनके उपर कृपा करिके विनके भावकी वृद्धि होयवेकेलिये आप भावको निरूपण करिवेकी प्रतिज्ञा करत हें.

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान्।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्व-सन्देह-वारकान्॥1॥

हरिं=श्रीहरिकुं
नमस्कृत्य=नमन करिके
तद्गुणानां=विनके गुणनके
विभेदकान्=विभेद करिवेवारे
विंशतिधा=बीस प्रकारके

भिन्नान्=भिन्न-भिन्न
सर्वसन्देहवारकान्=सब सन्देह
दूर करिवेवारे
भावान्=भावनकु
वक्ष्ये=कहुंगो

भावार्थ : प्रभूनकु नमन करिके भक्तिके साधनमें जो-जो सन्देह हें विनकुं मिटायवेवारे; ओर रजोगुण, तमोगुण ओर सत्त्वगुण विनकुं निवृत्त करिवेवारे न्यारे-न्यारे बीस प्रकारके भावनको में आगे निरूपण करूं हुं.

टीका : इतने जीव प्रभुकुं नमन विना ओर कार्य नहीं कर सके हे एसे जतायवेकेलिये आप प्रथम नमन करिवेकी आज्ञा करत हें. "तद्गुणानां विभेदकान्" या मूलके वाक्यके दो-चार अर्थ होय सके हें.

जेसें प्रभूनके जो सर्वसमत्वादि गुण विनके मिटायवेवारे भाव हें. इतने भक्त यदि भावकुं बढायकें भक्ति करे तो प्रभु आपुनो सर्वसमत्वरूप जो गुण हे ताकुं छांडिके वा जीवके उपर पूर्ण कृपा करे हें. सो बात श्रीगीताजीमें "मैं सर्वप्राणीनकु समान हुं. मेरे कोउ शत्रु ओर मित्र यद्यपि नाहीं हें तोहु जो मेरोहि भजन करे हे सो मेरेमें हे ओर विनमें मैं हुं" एसी आज्ञा स्पष्ट करी हे. अथवा जीवके जो धर्म वामें विलक्षणता करिवेवारे अथवा प्रभुके जो गुण विनको आकर्षण करिके जीवमें दिखायवेवारे सब भाव हें. एसे या वाक्यके अनेक प्रकारके अर्थ श्रीकल्याणरायजी प्रभृति बालक**नने** किये हें. 'भाव'शब्दके यद्यपि अनेक अर्थ होय हें, तोहु यहां तो स्नेह ओर तासूं होयवेवारी अवस्था ही 'भाव'शब्दसूं जाननी. क्यों जो नाट्याचार्य भरतमुनि प्रभृती**नने** 'भाव'को अर्थ स्नेहरूप ही कियो हे. सो "रतिर् देवादिविषया भाव इति अभिधीयते" (देवादिकनमे जो रति=प्रीति हे ताकुं 'भाव' कहे हें) या वाक्यसूं कह्यो हे. गुणनके भेद करिके वे भाव बीस प्रकारके हें. जब प्रभुमें भाव बढ़े तब आपहि सर्वसन्देह नष्ट होय जाय हें. तासूं मूलमें 'सर्वसन्देहवारकान्' एसे कह्यो हे॥1॥

वेदकी तैत्तिरीय श्रुतिमें "कूप्याभ्यः स्वाहा" वहांसूं लेयकें "सर्वाभ्यः स्वाहा" (कृष्णयजुर्वेद तै.सं.7।4।12) वहां तांई जलके भेदको निरूपण हे. ता प्रमाण गुणहु भेदकुं प्राप्त होय हें सो कहत हें.

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः।

यावन्तः=जितने
(भेदाः=भेद)
जले=जलके विषयमें
ताः=माने गये हें
तावन्तः=उतने,
तु=ही
गुणभेदाः=गुणनके भेद
(सन्ति=हें)हि=ही

भावार्थ : "कूप्याभ्यः स्वाहा कूल्याभ्यः स्वाहा" (कृष्णयजुर्वेद तै.सं.7।4।12) इत्यादि तैत्तिरीय संहितामें जलके जितने भेद कहे हें उतनेही श्रीहरिके गुणनके भेद हें यह निश्चय हे.

टीका : जितने जलके भेद तैत्तिरीय श्रुतिमें प्रतिपादित हें वितने हि भावके हु भेद हें. जेसें जलमें तापनिवर्तकपनो, शुद्धि करिवेपनो, पुष्टि करिवेको इत्यादि गुण हें एसे गुण भावमें हु हें एसें जतायवेकेलिये जलको दृष्टान्त हे॥

प्रभुकुं गायन विशेष प्रिय होयवेसूं प्रथम गायकके भावको निरूपण करत हें:

गायकाः कूपसमाशा 'गन्धर्वा' इति विश्रुताः॥2॥
कूपभेदास्तु यावन्तस् तावन्तस् तेऽपि सम्मताः॥

गन्धर्वा=गन्धर्व
इति=यों
विश्रुताः=प्रसिद्ध
गायकाः=गायन करिवेवारे
कूपसमाशाः=कूवाके जलके जेसे हें यावन्तः=जितनें
कूपभेदाः=कूवाके भेद
तावन्तः=वितनें

ते=वे, अपि=हु
सम्मताः=माने गये हें

भावार्थ : गान करिवेवारे 'गन्धर्व'के नामसूं प्रसिद्ध हें. वे गायक कूपके जेसे हें. वे सब गायकें तुल्य नहीं हें. किन्तु जितने कूवाके भेद हें वितने ही गायकनके भेद हें.

टीका : इतने कूपके जलकीनांई विन गायकनको भाव हे. कूपको जल शीतकालमें उष्ण ओर उष्णकालमें शीतल रहे हे, तापकुं दूर करे हे ओर व्यय करिवेसूं आछो होय हे एसें इन गायकनको भावहु जड़ पुरुषकी जड़ताकुं मिटावे हे, संसारके तापसूं तप्त भये पुरुषनके तापकुं निवृत्त करे हे ओर गान करवेसूं बढ़े हे तथा आछो होय हे. रज्जु (रस्सा) करिके जेसे कूवाको जल ग्रहण कियो जाय हे एसें गान करिके ही गायकके भावको ग्रहण करिवेको अभिप्राय यहां दीखे हे. वे सब गायकें तुल्य नहीं हें. किन्तु जितने कूवाके भेद हें वितने ही गायकनके भेद हें. इतने, जेसें कोउ कूवाको जल खारो होय, कोउको फीको होय, कोउको तिक्त जल होय, कोउ परिणाममें सुख देयवेवारे होय ओर कोउ परिणाममें दुःख देयवेवारो होय हे; तेसें गायकहु पुरुषोत्तम, विनकी विभूति, गुणावतार, ओर अंशादिकनकी लीलाके भेदकरिके गान करे हें. तेसें ही सत्त्वादिक गुणनके भेदकरिके कोउ अकाम, कोउ मोक्षकाम, कोउ स्वर्गकाम ओर कोउ लौकिक कामनावारे हें. तासूं विनको भाव कूपके जलकी तुल्य हे. इन भावनको विवरण कपिलदेवजीने देवहुतीजीकुं श्रीभागवतके तृतीयस्कन्धमें कीनो हे. तासूंहि (भावके भेदसूं हि) भक्तिके हु 82 प्रकार होय हें सो श्रीप्रभुचरण**नने** 'भक्तिहंसादिक'में निरूपण किये हें: "श्रवणादि नवकहु अधिकारिके भेदसूं कर्म, ज्ञान, उपासना ओर भक्तिमार्गीयपनके भेदसूं अनेक प्रकारके होय हें" इत्यादि.

अब यहांसूं द्वितीय ओर तृतिय भावको निरूपण करत हें:

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि॥3॥
क्षेत्र-प्रविष्टास् ते चाऽपि संसारोत्पत्ति-हेतवः॥

भुवि=भूतलपे
पारम्पर्ययुताः=परम्परासूं युक्त
पौराणिकाः=पुराणकथा करिवेवारे

कुल्याः=नहर
प्रोक्ताः=कहे गये हें
ते च=ओर वे
अपि=हु
(यदि=जो)
क्षेत्रप्रविष्टाः=खेतमें प्रविष्ट
(तर्हि=तो)
संसारोत्पत्तिहेतवः=अहन्ता-
ममताको कारण बने हें

भावार्थ : कृत्रिम नदी 'कुल्या' नामसूं प्रसिद्ध हे. वाकी नांई पौराणिक हें सो पारम्पर्ययुक्त हें. शरीर ओर स्त्रीको वाचक 'क्षेत्र' शब्द हे. तासूं वे पौराणिक जो देहनिर्वाह अथवा स्त्री-कुटुम्बादिक केलिये पुराण बांचिवेको कार्य करें तो वेहु संसारोत्पत्तिके कारणरूप होय हें.

टीका : इतने जलाशयसूं लेयकें क्षेत्रपर्यन्त कुल्या परम्परागत जलप्रवाहयुक्त होय हे. एसें ही पुराणके अर्थ राखिवेमें पौराणिक परम्परासूं अर्थको सङ्ग्रह करिवेवारे होय हें. सद्गुरून्के पास उपदेश ग्रहणकरिके पुराणके अर्थकुं गुरुसों पढे हें. परि जो पुराणपाठी सद्गुरुसों उपदेश ग्रहणकिये बिना ओर सद्गुरुसों अर्थ जाने बिना, श्रीभागवतादिकमें भाषात्रय ओर आसुरव्यामोहादि लीला वर्णित हे ताके अज्ञानसूं पुराणको अर्थ समझावे तो वासूं कोउ अर्थ सिद्ध नाहिं होत हे. तासूं गुरूपदेशादिककी पौराणिकनकु अत्यावश्यकता रहे हे. ता बिना कथा करे तो सो कथा श्रोताकुं फल देयवेवारी नाहिं होय हे. जेसें कृत्रिम नदी (नहेर) प्रतिदिन प्रयत्न करिवेसूं (अर्थात् बड़े जलाशय अथवा बड़ी नदी सूं जल मिलिवेपे ही) आछी रीतिसूं बहे हे तेसें पौराणिककुंहु निरन्तर पुराणके पाठ करिवेसूं भावको उदय होय हे, अन्यथा नाहीं होत हे एसेंहु यापेसूं जान्यो जाय हे॥3॥

शरीर ओर स्त्रीको वाचक 'क्षेत्र' शब्द हे. तासूं वे पौराणिक जो देहनिर्वाह अथवा स्त्री-कुटुम्बादिककेलिये पुराण बांचिवेको कार्य करें तो वेहु संसारोत्पत्तिके कारणरूप होय हें. इतने, जेसें कुल्याको जल क्षेत्रमें जाय तो धान्य उत्पन्न करिवेमें समर्थ होय हे तेसें पौराणिकहु वृत्तिकेलिये पुराण वाचन करे ओर भीतर भावरहित होय तो श्रोताकुं संसारकी उत्पत्तिके कारण बने हें. जेसे पौराणिक स्त्री-कुटुम्बादिकके पोषणार्थही

पुराणको उपयोग करे ओर आप वाप्रमाण चले नांहि तो संसारकी उत्पत्तिके कारण होंय तेसें पूर्वश्लोकमें कहे गायक प्रभृतिहु यदि स्त्री-पुत्रादिककेलिये गान करें तो वेहु संसारोत्पत्तिके कारणरूप होंय एसें मूलके 'अपि' शब्दसूं सूचित होय हे.

अब चतुर्थ-पञ्चम भावको निरूपण करत हें:

वेश्यादि-सहिता मत्ता गायका 'गर्त'सञ्ज्ञिताः॥4॥
जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः॥

वेश्यादिसहिताः=वेश्या आदिके सङ्ग
मत्ता=उन्मत्त, गायकाः=गायकें
गर्तसञ्ज्ञिताः=गड्ढेके समान
किञ्च=ओर, नीचाः=नीच
गानोपजीविनः
=गायनसूं
आजीविका चलायवेवारे,
तु=तो, जलार्थमेव=जलके अर्थ
गर्ताः=गड्ढाके जेसे जानने

भावार्थ : गायक जो वेश्यादियुक्त होंय, मदमें मत्त होंय विनको भाव गर्त्तके जलकी तुल्य होय हे. गानकरिके हि आजीविका करिवेवारे नीच पुरुषनको भाव उच्छिष्ट (जूठे) जलसमान
होय हे.

टीका : इतने "जेसें वारांगनाको ओर स्त्रीको संसर्ग करिवेवारेनके सङ्गसूं मोह ओर बन्ध होय हे तेसें या जीवकुं ओरके सङ्गमें नाहिं होय हे" एसें श्रीकपिलदेवजीने आज्ञा करी हे. तासूं वेश्यादिकनको सङ्ग महाबाधक हे. स्त्रीको सङ्ग करिकेहु जो प्रभुको भजन करे तो आछो होय सके परन्तु वे भजन (सेवा)हु नाहिं करें हें. क्यों जो मत्त हें. तासूं विनकुं स्वामि-सेवकभावको अनुसन्धान नाहिं रहे हे. एसे गायक श्रीकृष्णके गुणको गान यदि करे हें तो सोहु माहात्म्य जानिके नाहिं करें हें किन्तु उत्तम स्वर ओर गीत में वश होयकें करे हें. तासूं विनको भाव खाड़ाके जलकीनांई कलुषित मान्यो

जाय हे. परन्तु जो निर्मत्सर होयकें प्रभुके गुणगान करिवेवारे हें विनको भाव तो कूपके जलकी तुल्य जाननो॥4॥

गानकरिके हि आजीविका करिवेवारे नीच पुरुषनको भाव उच्छिष्ट (जूठे) जलसमान होय हे. इतने जूठे बासन प्रभृति खासा करें तब सब जूठो जल जा खाड़ामें जमा होय हे वा खाड़ाको जल जेसे शुद्धि करिवेके कार्यमें अयोग्य होत हे तेसें गानोपजीवी नीच पुरुषनको भावहु सत्पुरुषनकु आदर करिवेयोग्य नाहिं होत हे.

अब षष्ठ-सप्तम भावको निरूपण दृष्टान्तपूर्वक करत हें:

ह्रदास्तु पण्डिता: प्रोक्ता भगवच्छास्त्र-तत्पराः॥5॥
सन्देह-वारकास् तत्र सूदा गम्भीर-मानसाः।

भगवच्छास्त्रतत्पराः=भगवत् शास्त्रमें तत्पर
पण्डिताः=पण्डितें, तु=तो
ह्रदाः=ओंडे जलवारो खाड़ा
प्रोक्ताः=कहे गये हें
तत्र=उनमें
गम्भीर-मानसाः=गम्भीर मनके
सन्देह-वारकाः=सन्देह दूर करिवेवारे
सूदाः=सुन्दर जलके कुंडके समानहें

भावार्थ : भगवच्छास्त्र, जो श्रीभागवत-गीता इत्यादि, तामें तत्पर एसे जो पण्डित लोग हें विनको भाव ह्रद (दह)के जलकी तुल्य हे. गम्भीर हे मन जिनको इतने अन्तर्निष्ठावारे ओर भगवच्छास्त्रमें सन्देहकुं मिटायवेवारे जो पण्डित हें विनको भाव आछे जलवारे ह्रदकी तुल्य हे.

टीका : इतने नदी प्रभृतिमें जहां जल बहोत ओंडो निरन्तर रहेतो होय वाकुं 'ह्रद' कह्यो जाय हे. ह्रदमें जेसें जल निरन्तर शीतल रहे हे ओर पश्वादिकनके प्रवेश-पानादिकसूंहु मलिन नाहिं होय हे तेसें पण्डित वक्तानको भावहु सांसारिक तापसूं तप्त नाहिं होय हे ओर कुतर्कादिकसूं हु शंशयवारो नाहिं होय हे ——एसो जतायवेकेलिये जलके ह्रदको दृष्टान्त यहां श्रीमहाप्रभुजीने

दीयो हे॥5॥

गम्भीर हे मन जिनको इतने अन्तर्निष्ठावारे ओर भगवच्छास्त्रमें सन्देहकुं मिटायवेवारे जो पण्डित हें विनको भाव आछे जलवारे ह्रदकी तुल्य हे. इतने जेसें बहोत सुन्दर जलको इकठो समुदाय देखिवेसों ही मनकु प्रसन्न करिवेवारो होय हे तेसें या श्लोकमें कहे एसे पण्डितहु मनके सर्व सन्देहनकु मिटायकें मनकुं प्रसन्न करिवेवारे हें एसें समजनो.

अब अष्टम-नवम भावको निरूपण करत हें:

सरः-कमल-सम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास् तथा बुधाः॥6॥
अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता 'वेशन्ताः' परिकीर्तिताः॥

प्रेमयुक्ताः=प्रेमयुक्त
तथा=ओर, बुधाः=ज्ञानि
कमलसम्पूर्णाः=कमलसूं भर्यो भयो
सरः=सरोवर जेसे
प्रेमयुक्ताः=प्रेमयुक्त
अल्पश्रुताः=अल्पज्ञानि
वेशन्ताः=छोटे तलावके जेसे
परिकीर्तिताः=कहे हें

भावार्थ : पूर्वश्लोकमें कहे एसे अन्तर्निष्ठावारे ओर सन्देहकुं निवृत्त करिवेवारे पण्डितहु यदि प्रभुमें प्रेमवारे होंय तो कमलसों युक्त तलावके जलकी तुल्य विनको भाव जाननो. प्रभुके विषे प्रेमवारे ओर शास्त्रके थोरे अध्ययनवारे पुरुष 'वेशन्त' (छोटे तलाव) जेसे भाववारे होय हें.

टीका : इतने जामें कमल प्रफुल्लित होय रहे हें एसे तलावको जल दर्शनमात्रसूंहि सर्व इन्द्रियनकु सुख करिवेवारो होय हे, वा जलमें सुगन्ध बहोत होयवेसूं भ्रमरादिक हु कमलपे आवे हें ओर बहोत सुन्दर जल होयवेसूं सारस प्रभृति पक्षीहु वाके सौन्दर्यकुं बढायवेवारे होय हें तेसें अन्तर्निष्ठावारे पण्डित, सर्व सन्देहकुं मिटायवेवारे पण्डित ओर प्रभुमें प्रेमवारेन् को भावहु एसे जलकी तुल्य होय हे॥6॥

प्रभुके विषे प्रेमवारे ओर शास्त्रके थोरे अध्ययनवारे पुरुष 'वेशन्त' (छोटेतलाव) जेसे भाववारे होय हें. इतने छोटे तलावको जल बहोत पशु प्रभृतिके आक्रमणकरिके कलुषित होय हे तेसें, वे पुरूष यद्यपि प्रेमवारे हें तोहु शास्त्राध्यन बहोत नाहिं होयवेसूं, दुःसङ्गादिक दोष होय जाय तो विनको भाव क्षीण होय जाय हे एसें जतायवेकेलिये छोटे तलाव जेसो विनको भाव कह्यो हे.

अब दशम-एकादशम भावको निरूपण करत हें:

कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्प-श्रुत-भक्तयः॥7॥
योग-ध्यानादि-संयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः॥

कर्मशुद्धा:=कर्मनके द्वारा शुद्ध
तथा=ओर, अल्प-श्रुत-भक्तय:=
अल्प ज्ञान ओर भक्तिवारे
पल्वलानि=छोटी तलैया जेसे हें
योगध्यानादिसंयुक्ता:=योग,ध्यान
आदिसुं सम्पन्न, गुणा:=गुणें
वर्ष्या=वर्षाको जल
प्रकीर्तिता=कहे जाय हें

भावार्थ : कर्मकरिके शुद्ध परन्तु शास्त्राध्ययन तथा भक्ति जिनकी अल्प हे विनको भाव अतिछोटे तलावके जलकी तुल्य जाननो. योग, ध्यान आदिकरिके संयुक्त पुरुषनके भाव वृष्टिजलके समान गिने जाय हें.

टीका : इतने, विशेष छोटे तलावके जल जेसे वे वक्ताहु कर्मकरिके ईश्वरकुं अर्पणकरें तासूं विनको चित्त शुद्ध होय जाय हे. परन्तु छाटे तलावमें जेसें वराह प्रभृति फिरें तब सब जल कीचयुक्त होयके पान करिवे लायक नाहिं रहे हे तेसें विन वक्ताको भाव—— "अग्निहोत्रकुं होमें" "स्वर्गकी कामनावारो अग्निष्टोम याग करे" इत्यादि श्रुतिके वाक्यन्सूं सकामकुं यागको अधिकार हे, जामें फलको श्रवण न होय वामेंहु विश्वजित्न्यायसूं फलकी कल्पना होय सके हे तासूं कर्म इश्वरकुं अपर्ण करिवेकेलिये करिवेको नाहिं हे किन्तु फलकेलिये हे, ओर जाकुं याग करिवेको अधिकार नहीं हे सोहि भक्तिको अधिकारी हे इत्यादिक कर्मजड़की असद्

(खोटी)बातनके अभिनिवेशसूं——कलुषित (मलिन) होय जाय हे. विनको भाव एसो क्यों होय जाय हे सो कहत हें जो “मेरे लिये कर्म करिवेवारो हो” “मेरे लिये कर्म करिवेसूं हि तु सिद्धिकुं प्राप्त होयगो” “मरेमें मनकुं धारण कर” इत्यादि——प्रभूनके श्रीमुखके वाक्यके अज्ञानसूं विनको भाव एसो होय जाय हे.

‘पल्वल’ ओर ‘वेशन्त’ ये दो पर्याय शब्द हें तोहु “वेशन्तेभ्यः स्वाहा पल्वलेभ्यः स्वाहा” या रीतिसूं वेदमें पृथक् गिने हें तासूं यहां श्रीआचार्यजीनेहु पृथक् दृष्टान्तरूप माने हें. तासूं जलके स्वादके भेदसूं यहां विनको भेद समजनो॥7॥

अब ग्यारहमें भावको निरूपण करत हें: योग, ध्यान आदिकरिके संयुक्त पुरुषनके भाव वृष्टिजलके समान गिने जाय हें. इतने, वृष्टिको जल जब पृथ्वीपे गिरे हे तब सर्व देशमें व्याप्त होय जाय हे, सर्व स्थलमें सुलभ रीतिसूं मिलि सके हे, ओर क्षेत्रादिमें पड़े तो आछो धान्य हु उत्पन्न करि सके हे. तेसें ही योगीकुं हु जेसे योग करती बिरीयां विनको भाव सकल देह, इन्द्रिय प्रभृतीनकु व्याप्त होय जाय हे तेसें सत्पात्रकुं योगाभ्यास करावे तो स्वसमान (आपके भावकी तुल्य) भावकुं उत्पन्न करि सके हे.

अब बारहमें भावको प्रतिपादन करत हें.

तपो-ज्ञानादि-भावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः॥8॥

तपोज्ञानादिभावेन=तप, ज्ञान आदि भावन्सु (संयुक्ताः=संयुक्त)
तु=तो, स्वेदजाः=पसीनाके समान, प्रकीर्तिता=कहे जाय हें

भावार्थ : ‘तप’ इतने पञ्चाग्नि प्रभृतिकुं सहन करनो ओर ‘ज्ञान’ इतने जीव ओर इश्वर के स्वरूपकुं जाननो. सो एसे तपोमार्गी, ज्ञानमार्गी वक्तानके भाव पसीनाके जलकी बराबर जानने.

टीका : इतने, कितनेक लोग तपसूंहि प्रभुकी आराधना करिवेको कहे हें. कितनेक “वा ब्रह्मकुं जानिवेवारे मोक्षकुं प्राप्त होय हे” इत्यादि श्रुतीनको सांचो अर्थ (भाव) नाहिं जानिवेवारे ज्ञानसूंहि मोक्ष मिलवेकी बात करत हें. परन्तु श्रीभागवतके “धन कुल रूप शास्त्र बल तेज प्रताप पुरुषार्थ ओर बुद्धि प्रभृति प्रभुकुं प्रसन्न करिवेवारे नाहिं हे. किन्तु गजेन्द्रकी भक्ति देखिकेहि प्रभुने कृपा करी हे. तासूं भक्तिकरिके हि प्रभु

प्रसन्न होय हें एसें में जानुं हुं" ओर "श्रेयकुं स्रववेवारी आपकी भक्तिकुं छोड़िके केवल ज्ञान सम्पादनमेंहि जो क्लेशकुं धारण करे हे तिनकुं, तुष (छिलका) कूटवेवारेकुं जेसें चोखा कोउ दिन नहीं मिले हे तेसें वाकुं, भगवान् क्लेश ही देयवेवारे होय हें" इत्यादि वाक्यनमे बिना भक्ति केवल ज्ञान ओर केवल तप तथा 'आदि'शब्द मूलमें हे तासूं वर्णाश्रमके धर्म सब व्यर्थ प्रयासरूप गिन्ये हें. भगवत्सम्बन्धसों रहित वर्णाश्रमधर्मकी श्रीभागवत्में निन्दा करि हे. तासूं प्रभुकी भक्ति मुख्य हे. वाकुं छांडिके तप ओर ज्ञान में निष्ठावारे वक्तानके भाव पसीनाकें जलकीनांइ, केवल क्लेशकुंहि प्राप्त होय हें. पसीनाको जल जेसे स्नान, आचमन, ताप मिटायवेमें ओर अन्य कार्यनके उपयोगमें नाहिं आवे हे किन्तु केवल क्लेशकुं देवेवारो होय हे तेसें विन वक्तानको भाव हु समजनो॥9॥

अब तेरहवें भावको निरूपण करत हें:

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर् गुणाः।
कादाचित्काः शब्दागम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः॥9॥

अलौकिकेन=अलौकिकसूं
ज्ञानेन=ज्ञानसूं (युक्ता=युक्त)
कादाचित्काः=कभी-कभी
होयवेवारे, तु=तो
शब्दगम्या=शब्दसूं जाने जाते
ये=जो
हरेः=हरिके
गुणाः=गुण (ते=वो)
पतच्छब्दाः=पड़वेसु होते अवाज
प्रकीर्तिता=कहे जाय हें

भावार्थ : महदनुग्रहपूर्वक प्राप्त कियो जो अलौककि ज्ञान ताकरिके, कदाचित् प्रतीत होयवेवारे ओर वेदसूं जानिवेमें आयवेवारे, प्रभुके गुणनकु जो कहिवेवारे हें विनको भाव पर्वतादिसूं पड़ते झरना जेसे होय हें.

टीका : पर्वतादिसुं पड़तो झरनाको जल जेसे दूरसूं वाकी ध्वनि सुनिके जानिवेमें आवत हे ओर कदाचित् ही प्रतीतिमें आवत हे तेसें ही इन वक्ताके भावहु समझने. ओर धाराको जल जेसें निर्मल, शीतल, माधुर्यवारो ओर स्नान-आचमन-पान करिवेमें मनोहर, तापकुं मिटायवेवारो होय हे तेसें ही एसे वक्तानके द्वारा होते भगवद्गुणकीर्तन हु होते हें.

अब चौदहवें भावको निरूपण करत हें:

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेर् इवोद्गताः।

देवाद्युपासनोद्भूताः=देव आदिनकी उपासनासूं उत्पन्न
भूमेः=भूमिसूं
उद्गताः=उत्पन्न होयवेवारे
इव=जेसे
पृष्वाः=ओसके जल जेसे

भावार्थ : देवादिकनकी उपासनाकरिके उत्पन्न होयवेवारे भाव पृथ्वीपेसूं निकसे जलबुद्बुद् अथवा हिमकण समान होय हें.

टीका : इतने जो मनुष्य देवादिकके पूजनमेंहि "में प्रभुको भजन करुं हुं" एसें मानिवेवारे हें, ओर मूलमें 'आदि'शब्द हे तासूं पितृ, मातृ प्रभृतिनकी सेवाकुहु भगवद्भजनन्तःपाति गिनवेवारे हें, विनको भाव हिमकण अथवा जलपे होयवेवारे बुद्बुद् जेसो समजनो. क्यों जो देवादिकनकी उपासनासूं विभूतिको आराधन होय, पिता प्रभृतिनकी सेवाको फल स्वर्गादिक हे ओर प्रभुकी भक्तिको फल तो स्वरूपानन्दरूप हे. तासूं देवादिककी भक्तिमें ओर प्रभुभक्तिमें जो बड़ो अन्तर हे. वाके अज्ञानसूं वे देवादिककी उपासना करे हें सो विनकी भ्रान्ति हे. ओर जो महापुरुषनको ओर भक्तनको पूजन करिवेकी श्रीभागवतप्रभृति शास्त्रनमे आज्ञा देखिवेमें आवे हे सो तो भगवत्प्रीति, शुद्धि प्रभृतिके साधक होयवेसूं देखिवेमें आवे हे. वा आज्ञाकुं पूर्व देवादिपूजनसूं भिन्न माननी. क्यों जो जेसे भक्तादिके पूजनमें पुरुषोत्तमकी भक्तिको साधकपनो हे तेसें देवादिकके पूजनमें नहीं होयवेसूं वाकुं

भ्रान्तिकल्पित गिन्यो हे. तासूं पुरुषोत्तमकी प्राप्तिकुं इच्छवेवारेनकु पुरुषोत्तमको भजन (सेवा) हि मुख्य हे. सो बात प्रमाणपुरःसर **टीका**ग्रन्थनमे निरूपित हे. सो ग्रन्थके विस्तारके भयसूं यहां लिखे नहीं हे. जेसें तुषारकण अथवा जलबुद्बुद् स्नान, आचमन ओर पानादि में उपयुक्त नहीं होय हें तेसें देवादिककुं पूजवेवारेनको भावहु पुरुषोत्तमकी प्राप्तिमें अनुपयुक्त होयवेसूं जल बुद्बुद्को दार्ष्टान्तिक यथार्थ होय हे.

पञ्चदशम भावको अब निरूपण करत हें:

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः॥10॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः॥
साधनादिप्रकारेण=साधनादिकनके-
प्रकारसूं (युक्तत्वात्=युक्त होयवेसूं)
नवधाभक्तिमार्गतः=नवधाभक्तिमार्गसूं
प्रेमपूर्त्या=प्रेमसूं परिपूर्ण होय
स्फुरद्धर्माः=जाकु-
भगवानके धर्म स्फुरित भये हेंवो
स्यन्दमानाः=निर्झरके जलके समान
प्रकीर्तिताः=कहे गये हें

भावार्थ : वर्णाश्रमादिधर्मरूप साधन पूर्वक नवप्रकारकी भक्तिरूप मार्गसूं, प्रेमपूर्ण होयवेसूं, जिनकों प्रभुके धर्मकी स्फुर्ती होय एसेनको भाव पर्वतादिपेसूं गिरते जलकी तुल्य हे.

टीका : याको स्पष्टार्थ यह हे जो जा जीवको प्रभुने मर्यादामें अङ्गीकार कियो होय सो सब कामनाकुं छांडिके जब वर्णाश्रमधर्मको आचरण करे तब तासूं वाके अन्तःकरण शुद्ध होय हें ओर तब वाकु प्रभुकी भक्ति ही पुरुषार्थरूप हे एसी बुद्धि होय हे. सो वो पूर्वोक्तसाधनके विचारसूं हि श्रवणादिमें प्रयास करे हे. एसेनको भाव प्रस्रवणके जलकी तुल्य हे. इतने पर्वतके उपर वृष्टि होयवेसूं अथवा पर्वतपे तलाव प्रभृति

जलाशय होयवेसूं ता पर्वतपेंसों प्रस्रवणको जल बहोत गिरे हे ओर विनके अभावमें कमती गिरे हे. तेसें पूर्व कह्यो भाववारे वक्तानमे हु साधन ओर चित्त की शुद्ध्यादिककी अपेक्षासूं भावको वृद्धि-ह्रास होय हे एसे समजनो. सो बात श्रीप्रभुचरणने 'भक्तिहंस' ग्रन्थमें कहि हे जो

"प्राथमिक (पहिलो) तो भक्तिके साधन (श्रवण-कीर्तनादि)में प्रवृत्त होय हे. क्यों जो प्रभुद्वारा वाको मर्यादामें हि अङ्गीकार भयो हे. सोहु जहां तांई प्रभुमें स्नेह उत्पन्न भयो होय तहां तांई मर्यादामें रहिके सेवा करे हे. प्रभुमें स्नेह भये पाछें तो सब उपचार स्नेह पूर्वक होयवे लग जाय हे, तब विधिको अप्रयोजकपनो होय हे".

एसें एकादशस्कन्धमेंहु "श्रद्धामृतकथायाम्" यहांसूं लेयकें "कोन्योऽर्थोस्यावशिष्यते" यहां तांईमें हु निरूपण कियो हे. नवधाभक्ति तो 1श्रवण, 2किर्तन, 3स्मरण, 4पादसेवन, 5अर्चन, 6वन्दन, 7दास्य, 8सख्य ओर 9आत्मनिवेदन सो प्रह्लादजीने दैत्यपुत्रनको सप्तमस्कन्धमेंकहिहे.

अब सोलहवें भावको निरूपण करत हें:

यादृशास् तादृशाः प्रोक्ता वृद्धि-क्षय-विवर्जिताः॥11॥
स्थावरास् ते समाख्याता मर्यादैक-प्रतिष्ठिताः।

यादृशाः=जा प्रकारके
प्रोक्ताः=कहे
तादृशाः=ता प्रकारके (यदि=जो)
वृद्धि-क्षय-विवर्जिताः=वृद्धि-
ओर क्षय सूं रहित
मर्यादैक-प्रतिष्ठिता:=केवल मर्यादामें रहे भये(भवेयुः=होंय,
तर्हि=तो)ते=वे
स्थावराः=स्थिर जल जेसे
समाख्याताः=कहे जांय हें

भावार्थ : आगे जो वक्ता कहे उनको प्रेम वृद्धि-ह्रासयुक्त कह्यो. एसे वृद्धि ओर क्षय (न्युनता) जिनके भगवत्प्रेममें नाहीं होत हे ओर जिनको केवल मर्यादामेंहि अङ्गीकार हे एसनको भाव स्थावर (स्थिर) जलके तुल्य हे.

टीका : इतने जेसें स्थिर रह्यो जल बहोत ताप पडवेसूं सूखे नहीं हे ओर स्नानादि सब कार्यमें उपयोगी होय हे तेसें जिनको स्थिर प्रेम हे विनको भाव हु संसारताप ओर कुतर्कादिक सूं कमती नहीं होय हे ओर शुद्ध्यादिकको हेतु हे.

अब सत्रहवें भावकुं स्फुट करत हें:

अनेक-जन्म-संसिद्धा जन्म-प्रभृति सर्वदा॥12॥
सङ्गादि-गुण-दोषाभ्यां वृद्धि-क्षययुता भुवि।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस् ते परिकीर्तिताः॥13॥

अनेकजन्मसंसिद्धाः=अनेक जन्मसूं-
उत्तम सिद्धिकुं प्राप्त
जन्मप्रभृति=जन्मसूं लेके
भुवि=पृथ्विमें, सर्वदा=हमेंशा
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां=सङ्ग-
इत्यादि गुण-दोषन्सूं
वृद्धि-क्षययुताः=वृद्धि ओर क्षय वारे (किंच=ओर) निरन्तरोद्गमयुताः=
निरन्तर जन्मलेवेवारे
(ये व्याख्यातृगुणाः=जो व्याख्या करवेवारेनके गुण)ते=वो, नद्यः=नदि समान
परिकीर्तिताः=कहे जाय हें

भावार्थ : अनेक जन्म करिके आछीरीतिसूं सिद्ध भये गुणवारे ओर जन्मसों ही सत्सङ्ग ओर दुःसङ्ग के गुण ओर दोष करिके प्रेमकी वृद्धि ओर क्षीणता वारे ओर निरन्तर जन्म लेयवेवारेनके भाव नदीकी तुल्य हें.

टीका : इतने नदीको जल वृष्टि ओर घाम (गरमी) करिके बढे ओर घटे हे. भूमि ओर पर्वतादिक के गुण ओर दोष करिके जलहु गुण-दोषयुक्त होय हे, शुद्धि ओर तृप्ति प्रभृतिकुं करे हे. तेसें, उपर कह्यें तिनको भावहु तप-ध्यान-समाधिकरिके पापक्षयद्वारा शुद्ध्यादिककों उत्पन्न करे हे. सत्सङ्गकरिके गुणकुं ओर दुःसङ्गकरिके दोषकुं उत्पन्न करे हे, ओर बढे हे घटे हे. तासूं नदीप्रमाण गिन्ये हें॥13॥

अब अठारहवें भावको निरूपण करत हें:

एतादृशाः स्वतन्त्राश् चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः।
एतादृशाः=एसे
चेत्=जो
स्वतन्त्राः=स्वतन्त्र होंय
(तर्हि=तो)
सिन्धवः=बड़ी नदी जेसे
परिकीर्तिताः=कहे जाय हें

भावार्थ : पूर्वश्लाकमें कहे भाव यदि स्वतन्त्र (उपाधि रहित स्वयंके ही) होंय तो वे आपतेंहि समुद्रमें जायवेवारी नदीकी तुल्य हें.

टीका : जेसें महानदीके जलमें प्रविष्ट भये जलचर समुद्रमेंहु जाय सके हें तेसें उपर कह्ये निष्काम प्रेमवारेहु दयाके समुद्ररूप प्रभुमें प्रवेश करे हें. महानदीके जलकी नांई वे भाव सर्व प्रकारकी शुद्धिकुं उत्पन्न करिवेवारे हें.

अब उन्नीसवें भावको प्रतिपादन होय हे:

पूर्णा भगवदीया ये शेष-व्यासाग्नि-मारुताः॥14॥
जड-नारद-मैत्राद्यास् ते 'समुद्राः' प्रकीर्तिताः।

शेषव्यासाग्निमारुताः=समर्षण,-
व्यास, अग्नि, वायु
जडनारदमैत्राद्याः=जडभरत, नारद, मैत्र आदि
ये=जो, पूर्णाः=पूर्ण
भगवदीयाः=भगवदीय
ते=वो, समुद्राः=समुद्र
प्रकीर्तिताः=कहे जाय हें

भावार्थ : शेष, व्यास, अग्नि, हनुमान, जडभरत, नारद, मैत्रेय प्रभृति जो पूर्णभगवदीय हें वे 'समुद्र' कह्ये हें.

टीका : इतने समुद्रके जलकी तुल्य विन सबनको भाव हे. भक्ति जो सेवा ता करिकें पूर्ण होंय तिनकुं भगवदीय कहे जाय हें.

इतने जिनकुं प्रभुसेवा व्यतिरिक्त ओर स्वार्थ नहीं हे, जिनकुं प्रभुकेलियेही देहादिककी अपेक्षा हे, परंतु देहादिककेलिये प्रभुकी सेवा करिवेकी नाहिं हें एसे भगवदीय रत्नाकरके तुल्य हें. विनको भाव रत्नाकरके जलकी तुल्य समजनो. इन भगवदीयनकी गणना मूलश्लोकमें करी हे. तामें मुख्य शेष हें. सो भगवद्गुणगानमें तत्पर हें. भगवानकी शय्या बनिकें सेवा करे हें सो भगवानकी विभूतिरूप हें. प्रभूनने विनकों "सर्पनमे अनन्त मेरो रूप हे" एसें कहीके अपनी विभूतिरूप गिने हें. व्यासजी प्रभुके कलावतार हें, सदा भगवद्धर्मके निरूपणमें तत्पर हें. अग्नि श्रीकृष्णके मुखारविन्दरूप आप श्रीमहाप्रभुजी जो सर्वांशसूं श्रीकृष्णरूपही हें. हनुमान् श्रीरामचन्द्रजीके गुणगानमें तत्पर हें. जडभरतजी अन्तःकरणमें भावपूर्ण होयवेसूं बहारसूं जड जेसे दीखे हें. नारदजी सदा पुरुषोत्तमके गुणगानमेंहि एकतान हें. पराशरके शिष्य मैत्रेय भगवद्गुणके वक्ता हें. मूलमें 'आदि'पद हे तासूं उद्धवादिकको भावहु समुद्रजलके तुल्य समजनो. जेसें समुद्रको जल चन्द्रकुं देखिकें तरङ्गित होय हे तेसें पूर्व कह्यो भगवदीयहु प्रभुके मुखचन्द्रके दर्शनसों प्रवृद्धभाववारे होयकें सेवा व्यतिरिक्त ओरकुं तुच्छ गिने हें. सो श्रीकपिलदेवजीने "सालोक्य, सार्ष्टी, सामीप्य, सारूप्य ओर एकत्व कुंहु मेरे भक्त नाहिं चाहत हें" एसें आज्ञा करी हे.

समुद्रमें भी क्षार ओर मिष्ट दो भेद हें तासूं स्वरूपभेद ओर ज्ञानभेद करिकें विलक्षण एसे पूर्ण भाववारेनको निरूपण अब करत हें:

लोक-वेद-गुणैर् मिश्र-भावेनैके हरेर् गुणान्॥15॥
वर्णयन्ति समुद्रास् ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः॥

एके=कितनेक लोकवेदगुणः=लोकओरवेदके गुणनसूं
(किंच=ओर)
मिश्रभावेन=मिश्रभावसूं
हरेः=हरिके
गुणान्=गुणनको करे हें
ते=वे, क्षाराद्याः=खारे आदि
षट्=छे, समुद्राः=समुद्र
प्रकीर्तिताः=कहे जाय हें

भावार्थ : कितनेक वक्ता लोकमिश्रभावसूं, वेदमिश्रभावसूं ओर गुणमिश्रभावसूं प्रभुके गुणनको वर्णन करे हें. वे क्षारादि षट्समुद्रके तुल्य हें.

टीका : इतने रामकृष्णादि मनुष्य हें परन्तु विनमें बलादि बहोत हे तासूं मनुष्यसूं अधिक मान्ये जाय हें एसें जानिके प्रभुको वर्णन करिवेवारनको भाव क्षारसमुद्रके जलकी तुल्य समजनो. क्षारजल जेसें तृषानिवृत्ति, तृप्ति प्रभृति सुखदानमें अनुपयोगि होवे हे तेसें पूर्वोक्त वक्तानको भावहु समजनो. एसें ही भगवान् वैराग्यपूर्ण होयवेसूं कोईकी पाससूं कछु ग्रहण नाहिं करे हें ओर इच्छाहु नाहिं करे हें, मनुष्य पवित्र होयवेकेलिये भगवानकु भजे एसो विधि होयवेसूं लौकिक स्वार्थकेलिये भजन, स्तुति, अर्पण प्रभृति करे हें एसें जानिके वर्णन करिवेवारेनको भाव क्षारोदके जलकी तुल्य अग्राह्य जेसो हे.

कितनेक “सो हाथवारे श्रीकृष्णने वराहरूप धरिकें तुम्हारो उद्धार कियो हे” इत्यादि वाक्यनको आश्रय करिकें जगत्कर्ताहि विविध शरीरनमे प्रवेशकरिकें कार्य करे हे ओर कार्य करिके वा शरीरकुं छोड देय हे एसें जानिके हरिके गुणको गान करे हें उनको भाव दधिमण्डोदतुल्य हे. इतनें दधिमण्ड साररहित होयवेसूं पोषण करिवेमें निरूपयोगी हे तेसें विनको भाव हु समजनो. एसेंही भगवान् चिद्रूप विज्ञानपूर्ण सर्वसम ओर मोक्षकेलिये सेवनकरिवेयोग्य हें एसें जानिके वर्णनकरिवेवारेनको भावहु दधिमण्डोदतुल्य हे.

मायाके गुणकरिकेंहि प्रभुमें कर्तापनो हे ता बिना नहिं हे. तासूं मायाके गुणकरिकेंहि हरि सब करे हें एसें जानिके जो भगवद्गुणको वर्णन करे हे ताको भाव सुरोदके जलतुल्य हे. जेसें सुराको स्वभाव विस्मरण करायवेको ओर दोष उत्पन्न करिवेको हे तेसें प्रकृत भाववारेनको भाव हु समजनो.

प्रभु सबके ईश्वर ओर सर्वकार्य करिवेमें समर्थ हें एसें जानिकें जो प्रभुको वर्णन करे हे ताको भाव क्षीरोदके जल जेसो हे. दूधके गुण सरिखे वा भाववारेके गुण हें.

प्रभु महाबलवत्तर हें तासूं अपने भक्तनकुंहु बलवारे बनावे हें एसें जानिकें वर्णन करिवेवारेनको भाव घृतोदके जलकी तुल्य हे. इतने विन भाववारेनको भाव घृतके

समान गुणवारो हे.

प्रभु लक्ष्मीजीके पति हें सेवकनकु भोग-मोक्ष देवेवारे हें एसे जानिकें वर्णन करिवेवारेनको भाव इक्षुरसोद समुद्रके जलकी तुल्य हे. सो इक्षुको रस जेसें मधुर ओर भीतरके तापकुं दूरि करिवेवारो होय हे तेसेंही गुणवारो इनको भावहु होत हे.

ओर शरण आये जीव चाहे जेसें होय तोहु श्रीकृष्ण विनको उद्धार करे ही हें, शरणागतकुं छांडि देत नाहिं हें एसें जानिकें वर्णन करिवेवारेनको भाव शुद्धोदकके जलकी तुल्य गुणवारो जाननो.

अब पूर्णभगवदीयनमे हु जे उत्तम हें तिनकी गणना करत हें:

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः॥16॥
सर्वानेव गुणान् विष्णोर् वर्णयन्ति विचक्षणाः।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास् तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्॥17॥

ये=जो, विचक्षणाः=बुद्धिमान
गुणातीततया=गुणातीतरूपसूं
शुद्धान्=शुद्ध
सच्चिदानन्दरूपिणः=सच्चिदानन्द-
स्वरूपवारे, विष्णोः=विष्णुके
सवकरे हें
ते=वे, अमृतोदाः=अमृतजल
समाख्याताः=कहे गये हें
तत्=विनकी, वाक्पानं=वाणीको पान
सुदुर्लभम्=अत्यन्त दुर्लभभ हे

भावार्थ : जो विचक्षण वक्ता गुणतें पर, तासूं हि सत् चित् ओर आनन्द रूप एसे प्रभुके सर्व गुणनको जानिके विन सब भगवद्गुणनको वर्णन करिवेवारे हें सो अमृतके समुद्रतुल्य हें. तिनकी वाणीको पान (श्रवण) अत्यन्त दुर्लभ हे.

टीका : इतनें "तमुस्तोतार:" एसें वेदके, "जो क्षरसूं पर ओर अक्षरसूं हु उत्तम हे" एसें गीताके, "मेरेमें रह्यो सब निगुर्ण जाननो" एसें श्रीभागवतके ओर "लोककीं नांइ लीला मोक्षरूप हे" एसे व्याससूत्रके वाक्यसूं एसें श्रुति, स्मृति, पुराण ओर न्याय करिकें प्रभुके नाम, रूप ओर धर्मन् को निर्गुणपनेको निश्चय करिकें भगवन्नाम सच्चिदानन्दात्मक हे, भगवान् अक्षरातीत पुरुषोत्तम हें, ताकी सब सामग्री निर्गुण हे, ताकी लीला हू फलरूपा हे, स्मरण करिवेसूं मोक्ष देवेवारी हे एसें निरूपण करिकें प्रभुके सर्व गुण—— नवनीतचौर्य, वेणुनाद, गावर्द्धनोद्धारण आदिकनकु हु गुणातीतपनेसूं जानिकें वर्णन करिवेवारेनको भाव अमृतके समुद्रतुल्य हे. वे भगवत्कृत् चौर्यादिक (लीला)नके कारणकुं जानिवेवारे हें तासूं मूलमें 'विचक्षण' कहे हें. तिनको वाक्पान इतने वाणिको मनमें धारण करनो तथा उपदेश ग्रहण करनो ओर ताको आदरपूर्वक श्रवण करनो सो बहोत दुर्लभ हे. तासूं हि नामके स्वरूप जानिवेकेलिये एसे गुरून् (उपदेशकनके)के शरणमें जायवेकी वेदादिकमें आज्ञा करी हे. ता बिना स्वतः प्राप्तकिये एसे ज्ञान-कर्मादिककुं व्यर्थ कह्यो हे. गुरूपसत्तिपूर्वक भगवद्उपदेश ग्रहण करिकें प्रभुमें पुरुषोत्तमपनेको ज्ञान होय तबही सर्वज्ञता होय. सो बात गीताजीमें आपनेहि कही हे "जो विचक्षण मोकुं पुरुषोत्तम जाने हे सो सब जानिवेवारो सर्वभावकरिकें मेरी सेवा करे हे". ता प्रमाण पूर्वोक्त भक्तहु प्रभुको भजवेवारो होय हे॥17॥

अब वे विचक्षण भक्तनकी वाणीकी महिमाकुं कहत हें:

तादृशानां क्वचिद् वाक्यं दूतानामिव वर्णितम्।
अजामिलाकर्णनवद् बिन्दुपानं प्रकीर्तितम्॥18॥
रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा।
तदा लेहनम् इत्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम्॥19॥

तादृशानां=एसेनके

वाक्यं=वाक्यनकु ,क्वचित्=कभी
दूतानां=सन्देशवाहककी
इव=जेसे, वर्णितकियो हे
(तथा=ओर) अजामिलाकर्णनवत्=
अजामिलने सुन्यो वा तरेहसूं
(तच्छ्रवणमपि=वाको श्रवण भी)
बिन्दुपानं=बिन्दुपानके समान
प्रकीर्तितं=कहेगयेहें, यदा=जब रागाज्ञानादिभावानां=
राग, अज्ञान आदि भावनको
सर्वथा=सब तरेहसूं
नाशनं=नाश, तदा=तब
(तद्वाक्पानं=उनकी वाणीको पान)
स्वानन्दोद्गमकारणं=अपने आनन्दके
उद्गमको कारणरूप बने हे
(इति हेतोः=तासों)लेहनं=चाटनो
इति उक्तं (भवति)=एसे कह्योजायहे

भावार्थ : एसे भगवदीयनकी प्रसन्नतायुक्त जो आज्ञा हे सो भगवानके दूतकी आज्ञाके समान कही हे. इनके वाक्यको श्रवण अमृतबिन्दुके समान हे. जेसें अजामिलने भगवद्दूतनके वाक्यको श्रवण कियो हतो ताकीसी नांई विनके वाक्यको श्रवण अमृतबिंदुके पानकी तुल्य हे. ओर राग (विषयादिकमें प्रीति) ओर अज्ञानादिक भावको जब नाश होय तब स्वरूपानन्दकुं प्रकट करे हे. ताको नाम 'लेहन' कह्यो हे.

टीका : इतनें पूर्वश्लोकमें कहे पूर्णभगवदीय कृपाकरिकें विना आग्रहसूं कहत हें सो वाक्य प्रभुकोहि समजनो. जेसें राजा चाकरद्वारा आज्ञा करे हे तेसें प्रभुहु भगवदीयद्वारा उपदेश करत हें. दूत जेसे राजाके गुणवर्णनमें शमित नहीं होय हे तेसें भगवदीयनकु हु प्रभुके गुणवर्णनमें शङ्का नहीं होय हे. तासूं, प्रभुकी कृपा ओर भविष्यमें फल मिलवेको योग होय तबही एसे भगवदीयनको समागम होय हे. तासूंहि तिनके मुखसूं उपदेश प्राप्त होनो, श्लोकमात्रको श्रवण करनो, शिक्षा सुननी सो अमृतबिन्दुके पानरूप ओर अजामिलके श्रवणकी तुल्य हे. जेसें अजामिलने दूतनके मुखसूं भगवद्धर्मके बलको श्रवण कियो ता पीछे वाकुं नरकको सम्बन्ध छूटिकें

भगवद्धर्मके श्रवणतें उत्तमफलकी प्राप्ति भई तेसें अमृतबिन्दुको पान करिवेवारेनकु हु उत्तमफलकी प्राप्ति होयवेको सूचन या दृष्टान्तसूं होय हे.

या बिन्दुपानसूं अधिक रसास्वाद हे सो कहत हें जो राग (गृहादिमें स्नेह) ओर अज्ञान (भगवत्स्वरूपकुं नहिं पहेचाननो अथवा अविद्या) आदि ओर शोक-मोहादिक को जब नाश होय जाय; इतनें जब रागादिककी वासनाहु न रहे, तब रसास्वाद होय हे. इतनें पूर्व कह्यो बिन्दुपान जब रागादिककी अस्फूर्तिसूं कियो जाय ताकुं लेहन (चाटनो) कह्यो हे. सो जीवकुं भगवदानन्दको अनुभव करायवेवारो हे. जब श्रवणादिकमें व्यसन होय जाय तब जो कथारसको आस्वाद अनुभवमें आवे हे सो अमृतरूप होय हे. तबही जीवमें जो आनन्दको तिरोभाव भयो हे ताको आविर्भाव होय हे ओर प्रभुमें क्रमसूं प्रेम, आसक्ति ओर व्यसन होयवेसूं प्रपञ्चकी विस्मृति होयकें जीव कृतकृत्य होय हे. सो बात श्रीभागवत्के 11वें स्कन्धमें "भक्तिं लब्धवतः साधो किमन्यद् अवशिष्यते" या श्लोकसूं ओर श्रीमहाप्रभुजीने स्वकृत 'भक्तिवर्द्धिनी'नामक ग्रन्थमें "स्नेहाद् रागविनाशः स्याद्" या श्लोकसूं कही हे. ता प्रमाण जीवकुं भक्तिको पूर्णफल तब (व्यसन होयवेसूं ही) प्राप्त होय हे।18-19॥

अब बीसवें भावको निरूपण करत हें:

उद्धृतोदकवत् सर्वे पतितोदकवत् तथा।
उक्तातिरिक्त-वाक्यानि फलं चाऽपि तथा ततः॥20॥

उक्तातिरिक्तवाक्यानि=कहे भये-
वचनन्सूं अलग वाक्यें, तथा=ओर
सर्वे=सब, उद्धृतोदकवत्=बहार-
निकास्ये भये जलकी तरेह(च=ओर)
पतितोदकवत्=पड़े जलकी तरेह
(तेषां=विनको)फलं=फल
अपि=भी
तत:=वासूं, तथा=वेसो

भावार्थ : पूर्वमें कहे भये भावन्सूं युक्त वाक्य अथवा उनके कहवेवारे वक्ता ये सब पात्रमें निकासे अथवा धरतीमें पडे जलकी तरह हें. अर्थात् निकास्यो जल जेसे पात्रके

अनुसार होय जाय हे एसेंही उनको भावहु उनके अनुसार होय हे. ओर एसे वाक्य अथवा भावनको फलहु वेसोही अर्थात् अल्प ही होय हे.

टीका : पूर्व कह्यो जो अमृतोदतुल्य भाववारे हें विनकुं छोड़िकें ओर भाववारेनके भाव विनकी अप्रत्यक्ष दशामें उद्धृतोदककी तुल्य फलकुं सिद्धकरे हें. ओर विन भाववारेनके वाक्य उपरसूं गिरे जलकी बरोबर फलकुं सिद्ध करिवेवारे हें. जेसें कूप प्रभृतिनमे सूं ग्रहण कियो जल जा स्थानसूं आयो होय वा स्थानके गुणके तुल्य गुणवारो होय हे. अमृत तो सर्वदा एकरस हे तासूं वाकु छांड़िकें ओर भाववारेनकी अप्रत्यक्ष दशामें वे भाव उद्धृतोदक (कूवादिकनमे सूं लायो भयो जल) तुल्य गुणवारो होयहे एसें कह्योहे॥20॥

अब ग्रन्थकी समाप्ति करे हें:

इति जीवेन्द्रियगता नाना-भावं-गता भुवि॥
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर् निरूपिताः॥21॥

॥इति श्रीमद्वल्लाभाचर्यविरचितो जलभेदः सम्पूर्णः॥

इति=या तरेहसूं
रूपतः=रूपसूं
फलतः=फलसूं, एव=भी
भुवि=पृथ्विपे
नानाभावंगताः=अनेक भावनकु प्राप्तभये एसे
जीवेन्द्रियगताः=जीवनकी इन्द्रियनमे रहे भये
विष्णोः=विष्णुके, गुणाः=गुण
निरूपिताः=निरूपित किये

भावार्थ : या तरेहसूं स्वरूप ओर फल करिके पृथ्वीमें अनेक भावनकु प्राप्त भये तथा जीवनके मनमें रहिवेवारे जो श्रीहरिके गुण हें सो हमने कहे.

टीका : या प्रकार जीव ओर इन्द्रिय में आयके पृथ्विमें अनेकविध भावरूप भये एसे विष्णु (भगवान्)के गुणनको स्वरूप ओर फल सूं निरूपण कियो एसें श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हें. सो जलके भेद श्रुतिमें जो कहे हें ता प्रमाण गुणके भेदको या ग्रन्थमें वर्णन होयवेसूं याको 'जलभेद' नाम हे.

॥ इति श्रीमद्वल्लाभाचार्यजी विरचित जलभेद ग्रन्थकी
गोस्वामि श्रीनृसिंहलालजी महाराज विरचित
व्रजभाषा **भावार्थटीका** समाप्त भई ॥

पञ्चपद्यानि ग्रन्थ-परिचय

पञ्चपद्यानिमें वर्णित श्रोताका स्वरूप

वक्ताके अधिकार और स्वरूप तथा तदनुसार उनके मुखसे श्रवण-कीर्तनके फलके निरूपणके बाद अब श्रोताके अधिकार तथा स्वरूप का निरूपण श्रीमहाप्रभु पञ्चपद्यानिमें करते हैं.

भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन भगवत्स्वरूपसेवाके साथ-साथ सेवाके अनवसरमें चलता रहे तो वह भगवत्स्नेहके पूर्वोत्तर दल (संयोग एवम् विप्रयोग) दोनोंमें भक्तिके पूर्ण आर्विभावका उपाय बनता है. परन्तु किसी व्यक्तिको भगवत्स्वरूपसेवाकी सुविधा आजीवन सम्भव नहीं हो पाती. ऐसी स्थितिमें केवल भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी प्रेम-आसक्ति-व्यसन-
सर्वात्मभाव या अलौकिकसामर्थ्य आदिके क्रमिक सोपानोंपर भक्तिका अरोहण शक्य बन जाता है.

तदनुसार सेवाके साथ-साथ जो कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनका भी सतत निर्वाह कर पाते हैं वे उतम श्रोता होते हैं. अन्यथा सेवाके अनुकल्पके रूपमें जो भगवत्कथाका निरन्तर समाश्रयण करते हैं वे मध्यम प्रकारके श्रोता होते हैं. जो यदा-कदा श्रवण कर पाते हैं वे निम्न प्रकारके श्रोता होते हैं. यह एक दृष्टि श्रोताके उत्तम-मध्यम-निम्न प्रकारोंको निर्धारित करनेकी दिखलायी देती है.

दूसरी दृष्टि यह है कि शुद्धपुष्टि पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाहपुष्टि के अधिकारिभेदके अनुसार श्रोताकी त्रिविध कक्षायें निर्धारितकी जायें. शुद्धपुष्टि या पुष्टिपुष्टि आदि अधिकारोंकी पहचान पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें-पुष्ट्या विमिश्रा: सर्वज्ञा: प्रवाहेण क्रिया रता:" में दी गयी है.

तीसरी दृष्टि श्रोताके उत्तम-मध्यम-कनिष्ठ अधिकारकी, वक्ताके ज्ञान-भक्ति-वैराग्य गुणोंके अनुरूप 1.जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता 2.रुचि तथा 3.इतर साधनोंके दुराग्रहपूर्ण अनुष्ठान या अभिमान का अभाव, तज्जन्य शुद्र फलोंमें अनासक्ति, इस तरह तीनों गुण जिस श्रोतामें मिलते हों वह उत्तम, दो मिलते हों वह मध्यम; तथा किसी एकाद गुणका विद्यमान होना उसके निम्न अधिकारका द्योतक होता है.

चतुर्थ दृष्टि-पुष्टिमार्गीय उत्तम, मर्यादामार्गीय मध्यम; तथा प्रवाहमार्गीय या चर्षणी श्रोताको अधम माननेकी उचित होनेपर भी यहां अप्रासङ्गिक लगती है. क्योंकि पुष्टिमार्गीय जीवोंकेलिए ही श्रीमहाप्रभुने षोडशग्रन्थका प्रणयन किया है. अत: जिन जीवोंका अपुष्टिमार्गीय होना निश्चित हो उन्हें पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त या भगवल्लीलाका उपदेश ही श्रीमहाप्रभुके अनुसार अनुमोदनीय नहीं है. जलभेदमें भी जो मर्यादामार्गीय वक्ताका स्वरूप दिखलाया गया है वह उन वक्ताओंसे पुष्टिमार्गीय उपदेशकी आशा न रखनेकेलिए ही है. क्योंकि वक्तृचयनमें अधिक सावधानी अपेक्षित है, अत: जलभेद जितना विस्तार पञ्चपद्यानिमें अपेक्षित नहीं है. पांचवी दृष्टिके अनुसार, जैसे शास्त्रार्थ प्रकरणके अन्तिम भागमें भगवत्सेवा करनेवालोंके त्रिविध अधिकार दिखलाये है-उन्हें भगवत्कथाके श्रवणाधिकारका भी उपलक्षण माने तो वह असङ्गत नहीं होगा. यथा:

जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता दो तरहकी हो सकती है:1.प्रमाण (शास्त्र) तथा प्रमेय (भगवान्के स्वरूप गुणधर्म एवम् लीला) दोनोंके बारेमें; अथवा 2.इन प्रमाण या प्रमेय में से किसी एकके बारेमें, इसे केवल 'शब्दनिष्ठा' तथा 'अर्थनिष्ठा' भी कहा जा सकता है

इसी तरह कथारतिके भी दो भेद सम्भव है:1.सामान्य रुचि; और 2.उत्कट रति. इनके परस्पर मिश्रणसे अनेक प्रकारके विकल्प बन सकते है. यथा:
1.कथाश्रवणकी उत्कट रति एवम् कथाके उभयपक्ष-शब्द (प्रमाण) पक्ष और अर्थ (प्रमेय) पक्षमें जिज्ञासुता-श्रवणोत्सुकता रखनेवाले उत्तमाधिकारी ज्ञानी-भक्त जैसे माने जाने चाहिये.

2.कथाश्रवणमें उत्कट रति न होनेपर भी उसमें सामान्य रुचि रखनेवाले तथा कथाके उभय पक्षोंमेंसे शब्द पक्षपर भार देनेवाले शब्दनिष्ठ जिज्ञासु प्रेमके

अभावके कारण मध्यमाधिकारी ज्ञानी जैसे माने जाने चाहिये.

3.कथाश्रवणमें रति रखनेवाले तथा कथाके शाब्दिक प्रमाणपक्षके बारेमें श्रवणोत्सुक न होनेपर भी अर्थ (प्रमेय) पक्षके बारेमें जिन्हें तीव्र जिज्ञासा हो ऐसे अर्थैकनिष्ठ श्रवणोत्सुकोंको ज्ञानाभावके कारण मध्यमाधिकारी भक्त मानना चाहिये.

4.जिन्हें न तो उत्कट रति और न अर्थनिष्ठा (कथाके अर्थ-प्रमेय भगवानके स्वरूप गुण या लीलाके बारेमें श्रवणोत्सुकता) ही तीव्र हो ऐसे सामान्य रुचिवाले-ज्ञान-प्रेम-उभय रहित श्रोताको कनिष्ठ निम्न या अधम कोटीका मानना चाहिये.

(दृष्टव्य शा. नि. “एवं सर्व तत: सर्वं स इति ज्ञानयोगत: य: सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुतम: प्रेमाभावे मध्यम: स्यात् ज्ञानाभावे तथादिम: उभयोरप्यभावे”, कारि. सं 101-2)

छठी दृष्टि यह भी सम्भव है कि आरम्भके मुख्य-मध्यम-अधम श्रवणाधिकार, क्रमश: ‘रसविक्षिप्तमानस’, ‘रसविक्लिन्नमानस’ तथा कदाचित रसावेशसे ‘रसावेशविकलमानस’ विशेषणोंकेद्वारा, भक्तिमार्गीय श्रवणाधिकारके रूपमें विवक्षित हैं, पांचवे अन्तिम श्लोकमें वर्णित ‘अनन्यमानस’ विशेषणद्वारा अन्याश्रयरहित प्रपत्तिमार्गीय श्रवणाधिकार विवक्षित है. पुष्टिभक्तको इस भूतलपर मिलती परमफलकी अनुभूति अलौकिक सामर्थ्य या तनुनवत्वका लाभ प्रपत्तिमार्गीय अधिकारीको नहीं मिलता. पर विद्यमान देहके पातके बाद उन्हे सायुज्य मोक्ष मिल सकता है. अतएव देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मादिके अन्याश्रयके त्यागके कारण इन अधिकारियोंके उत्तम होनेपर भी, विद्यमान देहादिसे भूतलपर परम फलकी अनुभूतिसे वञ्चित होनेके कारण, उन्हें ‘मर्त्य’ कहा गया है. क्योंकि श्रीकृष्णसायुज्यका लाभ इन्हे

मृत्युके पश्चात ही होता है. पञ्चपद्यानिके प्रथम चार श्लोकोमें वर्णित अधिकारियोंको 'मर्त्य' नहीं कहा इससें उनका भक्तिमार्गीय होना ध्वनित होता है.

सर्व. निबन्धमें-"सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवम् फलम्" कारिकाके प्रकाशमें-"एवं देहपातनपर्यन्तं कृष्णैकमानसस्य सायुज्यं शीघ्रमेव भवति कायवाग्विनियोगाभावेपि स्वस्नेहाभावेपि मनोमात्रस्थितौ फलमेतद्" कहकर प्रपत्तिमार्गीय जीवके 'अनन्यमानस' होनेपर उसे उत्तमाधिकारी माना है.

इन विभिन्न दृष्टीकोणोंसे श्रवणाधिकारका विचार करनेपर पञ्चपद्यानिके पांच पद्योंमें: भिन्न-भिन्न कक्षाके पांच अधिकारियोंकी चर्चा है-मुख्याधिकारी एकविध है और अमुख्याधिकारी त्रिविध यों कुल चार प्रकारके अधिकारियोंकी चर्चा है-'मुख्य' तथा 'उत्तम' को पर्यायवाची शब्द मानकर तथा उपक्रम और उपसंहार में एक ही अधिकारीको विवक्षित मानकर कुल त्रिविध अधिकारियोंकी चर्चा है-इनमें से इदमित्थतया किसी एक व्याख्यारीतिका समर्थन जरा कठिन काम है. फिर भी मुख्य और अमुख्य तथा भक्ति और प्रपत्ति के भेदको लक्ष्यमें रखकर आरम्भके प्रथम श्लोकमें मुख्य भक्तिमार्गीय श्रोताका निरूपण तथा अवशिष्ट चार श्लोकमें भक्तिमार्गीय द्विविध अमुख्य श्रोता तथा एक प्रपत्तिमार्गीय श्रोताका वर्णन है ऐसा सोचनेमें कोई असङ्गति सामने नहीं आती है. क्योंकि जो बात श्रीमहाप्रभु कह रहे हैं पांच श्लोकोमें वह इस तरह है:

क.दशमस्कन्धके सातवें अध्यायकी "यछृण्वतोपेत्यरतिवितृण्णा सत्वं च शुद्धत्यचि रेण पुंस: भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत्" कारिकाकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने भगवत्कथाके पांच परिणाम गिनाये हैं.

1.भगवन्त्-चरित्रमें अरतिकी निवृत्ति

2.भक्तिका प्राकट्य
3.सांसारिक तृष्णाकी निवृत्ति
4.सत्त्व-अन्त:करणकी शुद्धि
5.भगवदीयोंके सत्सङ्गरूप सख्यकी वृद्धि

ये पांच परिणाम जिस श्रोतामें प्रकट होने जा रहे हों उसे भगवत्कथाके श्रवणका मुख्याधिकारी मानना चाहिये. अतएव श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि भक्तिरसके आलम्बन-विभावरूप श्रीकृष्णके नामात्मक स्वरूपकी कथाश्रवण-कालमें बाह्यानुभूति तथा भक्तिरस के स्थायिभावरूप (माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह) रसकी आन्तर अनुभूतिके चक्रके तीव्रवेगसे चल पड़नेके कारण जिनका मानस विक्षिप्त सा हो जाता है, उनकेलिए भगवत्कथा दुस्त्यज हो जाती है. अर्थात् वे चाहें या न चाहें उनकी वाणी और कर्णेन्द्रिय निरन्तर भगवत्कथा करते रहने और सुनते रहेनेके व्यसनवाली हो जाती है.

ऐसे कृष्णरसविक्षिप्तमानस श्रोताओंकी भगवच्चरित्रमें से अरति निवृत्त हो जाती है अत: उन्हे 'अरतिवर्जिता' कहा जाता है.

इनका चित न तो लौकिक विषयोंकी ओर आकृष्ट होता है और न वैदिक मोक्षादि फलोंकी ओर ही. सांसारिक विषयोंमें तृष्णाबन्धनके टूट जानेसे इन्हें इन विषयोंमें निर्वृति अर्थात् सुख-सन्तोषकी अनुभूति नहीं होती.

भगवत्कथाकी प्रणालीसे इनके सत्त्व-अन्त:करणकी शुद्धि हुई होनेंसे केवल ज्ञानी या विरक्तों की तरह वैदिक फल स्वर्ग-मोक्ष-अपवर्गकी कामना भी इनके मनमें रह नहीं जाती अत: इन्हे वेदमें भी अनिर्वृत्ति हो जाती है.

ऐसे श्रोता भगवल्लीलाके श्रवणकी उत्सुकताके कारण निरन्तर भगवदीयोंका सख्य या सत्सङ्ग खोजते रहते हैं.
निरोधकी सिद्धिके कारण इन्दें भक्तिमार्गीय मुख्य श्रवणाधिकारी समझना चाहिये.

ख.कुछ श्रोताओंका मन श्रीकृष्णभक्तिके रससे इतना आर्द्र-क्लिन्न हो पाता है कि कथाश्रवणकी वेलामें ये भगवत्स्मृतिसे बिव्हल हो जाते है. भगवत्कथाके शाब्दिक प्रमाणपक्षमें इनकी रुचि तीव्र नहीं होती. परन्तु अर्थनिष्ठा कथाके प्रमेय अर्थात् भगवत्स्वरूप-गुणधर्म-लीलाके श्रवणमें इनकी निष्ठा बड़ी प्रबल होती है, इसी अर्थनिष्ठाके कारण इनमें ज्ञानकी लालसा कम होनेपर भी प्रेमकी स्पष्ट विद्यमानताके कारण इन्हे भक्तिमार्गीय मध्यम कक्षाके श्रवणाधिकारी समझना चाहिये.

ग.कुछ अन्य श्रोताओंमें ऐसी अर्थनिष्ठा नहीं होती पर शब्दनिष्ठा तीव्र होती है. फलत: प्रमाण विवेचनकी प्रक्रियाद्वारा इन्हें नि:सन्दिग्ध ज्ञानके प्राप्तिकी लालसा रहती है. ऐसे श्रोताओंकी आस्था तो स्पष्ट होती है कि केवल श्रीकृष्ण ही सर्वभावसे भजनीय है परन्तु भाव निरन्तर उद्बुद्ध नहीं होता रहता. कभी-कभाक कथारसके आवेशके कारण अथवा प्रपञ्च-विस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिकी तात्कालिक अभिव्यक्तिके कारण ये स्नेहविकल हो पाते है; अन्यथा ज्ञानिजनोचित स्वास्थ्य(!) इनका बना रहता है.

तात्कालिक पूर्ण भावोदयके कारण यह पूर्ण अर्यनिष्ठा भी इनकी तात्कालिक ही होती है. अतएव ये कथाश्रवणकालकी तन्मयताके बाद पुन: अन्यासक्त हो जाते है. ये भक्तिमार्गके अन्तर्गत कनिष्ठ प्रकारके श्रवणाधिकारी है.

घ.प्रपत्तिमार्गीय जीव अन्यमार्गीय श्रोताओंकी अपेक्षा उत्तमाधिकारी माना जा सकता है, पर शर्त इसमें यह है कि देश-काल-द्रव्य-कर्ता मन्त्र-कर्म आदि अनेकविध धार्मिक साधनोंके अभिमानोंको छोड़कर श्रीकृष्णके स्वरूप-गुणधर्म-लीलाओंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें जब उसके मनकी अनन्यरुचि पनप जाये. यह प्रपत्तिमार्गीय श्रवणाधिकार अन्य मर्यादामार्गीय कर्मज्ञानोपासनाके अधिकारोसे तो उत्तम ही होता है.

इस तरह वक्ता एवम् श्रोताके अधिकारोंका विवेचन यहां सम्पूर्ण होता है.

॥ पञ्चपद्यानि ॥

(18)

जलभेदमें 20 प्रकारके विभिन्न भक्त ओर विनके भावन् कों जलको दृष्टान्त देयकें निरूपित किये हें. सो जेसें जल शुष्क वस्तुकुं आर्द्र करे हे तेसें ऊपर लिख्ये भक्तनके भावहु श्रवण करिवेवारे मनुष्यनके हृदयकुं आर्द्र करे हे एसें जतायवेकेलिये जलको दृष्टान्त देयके निरूपण कियो हे. शास्त्रमें जो अष्टादश विद्या लिखी हे ताकरिके प्रतिपादित एसे भगवानके गुणहु अठारह प्रकारके हें, तासूं वे भक्तहु अष्टादश विद्याप्रतिपादित गुणमें तत्पर होयवेसूं केवल मर्यादामार्गीय अष्टादश प्रकारके हें. ओर पुष्टिमार्गीय, शुद्ध तथा मिश्र एसे भेदसूं दो प्रकारके हें. इतने अष्टादश प्रकारके मर्यादामार्गीय भक्त ओर दो प्रकारके पुष्टिमार्गीय शुद्ध तथा मिश्र मिलिकें भक्तनके 20 प्रकार भये. अथवा सात्विकादिक तीन गुणनके परस्पर मिश्रणसूं भावके 9 भेद ओर 1 निर्गुण एसें सब मिलिके 10 भेद भये. सो मर्यादा ओर पुष्टि के दश-दश भेद मिलिकें 20 प्रकारके भक्त भये. तिनके भावहु विनमेंही रहे हें. तासूं बीस प्रकारसूं जलभेदमें निरूपित किये हें.

अब जलभेदमें कहे बीस प्रकारके भक्तनके मुखसूं विनके भावनकु ग्रहणकरिवेवारे श्रोतानको या ग्रन्थमें निरूपण करत हें. सो पुष्टि तथा मर्यादाके भेदसूं दो प्रकारके हें. तामें पुष्टिमार्गीय श्रोता उत्तम हें सो एक प्रकारके हें; ओर मर्यादामार्गीय मध्यम अधम ओर उत्तम एसे भेदसूं तीन प्रकारके हें. एसें कुल चार प्रकारके भक्तनको निरूपण करिवेकेलिये प्रथम मुख्यपनेसूं पुष्टिमार्गीय श्रोतानको निरूपण करत हें.

श्रीकृष्णरसविक्षिप्त-मानसा रतिवर्जिताः॥
अनिर्वृता लोक-वेदे ते मुख्याः श्रवणोत्सुकाः।1।

श्रीकृष्ण-रस-विक्षिप्त-मानसाः=श्रीकृष्णके-
रसमें जिनको मन विक्षिप्त रहतो-
होय एसे भक्त(अन्यत्र=अन्य कहुं)
रतिवर्जिताः=आसक्तिसूं रहित
लोक-वेदे=लोक ओर वेदमें

अनिर्वृताः=आनन्दरहित
(ये=जो)श्रवणोत्सुकाः=सुनिवेमें-
उत्सुक,ते=वे,मुख्याः=मुख्यहें

भावार्थ : श्रीकृष्णको जो भजनानन्दरूप रससों जिनको मन विक्षिप्त होय गयो हे, ओर तासों भगवानके चरित्रनकु सुनिवेमें अप्रीतिसूं वर्जित इतने प्रीतिवारे ओर लोक तथा वेद में जिनकुं आनन्द प्राप्त नाहीं होय हे एसे जो श्रवणमें उत्साहवारे श्रोताजन हें सो मुख्य हें.

टीका : इतने, भगवानके चरित्र नाहीं सुनिवेरूप जो अप्रीति हे सो मर्यादा ओर पुष्टि एसें मार्गके भेदसूं दो प्रकारसूं निवृत्त होय हे. तामें मर्यादामार्गमें जाकुं श्रवण करिवेकी इच्छा होय ओर श्रद्धायुक्त होय ताकुं महत्पुरुषकी सेवासों ओर पुण्यतीर्थके सेवनसों रुचि उत्पन्न होय हे एसें प्रथमस्कन्धमें कह्यो हे. ओर पुष्टिमार्गमें तो जेसें भ्रमरगीतमें व्रजभक्त**नने** कह्यो हे जो "विनकी कथाको अर्थ दुस्त्यज हे" सो रसके स्वभावसूं ही भगवत्कथामें रस उत्पन्न होय हे. तासूं जो भगत्कथामें अरतिकरिके वर्जित कहे हें वे पुष्टिमार्गीय हें एसें समजवेकेलिये ये लक्षण कह्यो हे. एसें पुष्टिमार्गीयश्रोतानकु भगवच्चरित्रके श्रवणमें अप्रीति नाहीं हे एसो निरूपण करिवेकेलिये लोकवेदमें इनकुं आनन्द नाहीं होय हे सो कहत हें; जो प्रवृत्तिमार्गको बोध करिवेवारे अथवा भगवान् विना ओरको भजन बतायवेवारे लोक ओर वेदमें स्वस्थ नाहीं हें. सो भगवानने उद्धवजीकुं व्रजमें सन्देश लेयकें पठाये तब कह्यो हे जो "जिनने लोकके धर्म छोडे हें उनको पोषण में करुं हुं". तासूं यहां "लोकवेदमें अनिर्वृत्त" (लोकवेदे) एसें समस्तपद कह्यो हे सो त्याज्यपनेमें (लोकवेद) दोयनकी तुल्यता जतायवेकेलिये हे. तासूंही पञ्चाध्यायीमें श्रीगोपीज**नने** कह्यो हे जो "दु:खकुं देयवेवारे पतिसुतादिकन्करिके कहा हे?" ओर भ्रमरगीतमें कह्यो हे जो "दु:खके समुद्रमें मग्न भये व्रजको उद्धार करो". इतने दु:खसागरमें निमग्न व्रज हे वाको उद्धार आपही करो परन्तु आपने उद्धृत किये एसे वेदसों हम उद्धार करिवेयोग्य नाहीं हें एसे अभिप्रायसूं प्रार्थना करी हे. एसें पुष्टिमार्गके प्रकारकरिके अप्रीतिके अभावपूर्वक प्रीतियुक्त हें ते मुख्य हें.

अथवा 'मुख्य'शब्दको दूसरो अभिप्राय कहत हें: मुखरूप जो पुष्टिमार्गीय भक्ति हे तामें वे भये हें; इतने भक्तिरूप जो भगवानको मुखारविन्द हे तिनमें संलग्न एसे,

अलकावलीपनेसूं कहीवेमें आवते एसे, पुष्टिमार्गीय जीव केवल भक्तिमात्रको आश्रय करिके रहत हें, ते मुख्य हें.

तहां सन्देह होय जो मूलमें तो “लोक-वेदमें अनिर्वृत हें” एसें कहिके भगवानमे प्रीतियुक्त एसो अर्थ होय हे, श्रवणादिकमें प्रीतियुक्त हें एसो अर्थ तो गौणरीतिसूं आवे हे तासूं मुख्यश्रोतापनो केसें? एसी शङ्का करिके कहत हें जो भगवानमे प्रीतिवारे हें तोहु वियोगकालमें तो श्रवणमेंही उत्साहवारे हें. क्यों जो परोक्षमें विनको सन्देश लायवेवारेमें प्रीति देखिवेमें आवत हे, तासूं श्रवणमें उत्साह स्पष्ट जान्यो जाय हे. तासूं ही भ्रमरगीतके अध्यायमें कह्यो हे जो “उद्धवजीकुं देखिकें; ये प्रभुके चरणाविन्दके आश्रयवारे हें एसें जानिकें सब आडिसूं मिलकें विनकुं घेरलिये”. इतने श्रोताजन आप भगवानके रसमें मग्न हें, भगवानके रससूं विनको मन विक्षिप्त हे, भगवानके चरित्र सुनिवेमें सहज भावयुक्त हें, भगवानके विप्रयोगकी आर्तिकरि युक्त हें ओर भगवानकी वार्त्ताके श्रवणमात्रमेंही एकबुद्धिवारे हें सो पुष्टिमार्गीय श्रोता हें॥1॥

एसें पुष्टिमार्गीय भक्तनको निरूपण करिके मर्यादामार्गीयनको निरूपण करत हें. तामें उत्तम बहोत दुर्लभ हे तासूं मध्यको निरूपण करत हें:

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्-स्मृतिविह्वलाः॥
अर्थैकनिष्ठास् ते चाऽपि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः॥2॥

तु=ओर, विक्लिन्नमनसः=
विशेषकरिकेकोमलमनवारे(च=ओर)
भगवत्स्मृतिविह्वलाः=प्रभुकी-
स्मृतिसूं विकल होयजावेवारे
श्रवणोत्सुकाः=सुनवेमें उत्साहवारे
ये=जो,अर्थैकनिष्ठाः=अर्थमात्रमें-
निष्ठावारे,अपि=हु, ते=वे
मध्यमाः=मध्यम

भावार्थ : विशेषकरिके जिनको आर्द्र मन हे, भगवानकी स्मृतिसों विह्वल हें ओर अर्थमें मुख्यनिष्ठा हें एसे श्रोताजन मध्यम कहे जाय हें.

टीका : इतने भगवानमे परायण होयवेसूं जिनको मन कोमल होय सो 'आर्द्र' कह्यो जाय हे. जेसें आर्द्र (भीज्यो) वस्त्र होय सो सूकेमें धरिवेसूं सूकेकुंहु आर्द्र करत हे तेसें जिनको मन अपने सम्बन्धवारे रूक्षकुंहु आर्द्र करत हे सो शुकदेव आदि जेसे समजनें. मूलमें 'ये' कह्यो हे तासूं सर्वत्र प्रसिद्ध एसे मर्यादामार्गीय कहे हें. ओर 'तु' शब्दसूं पुष्टिमार्गीयनको व्यावर्त्तन किया हे. विक्लिन्नमन तो पुष्टिमार्गीयनको हु होय हे तासूं पुष्टिमार्गीयनके धर्मसूं भिन्न धर्म कहत हें: भगवानकी स्मृतिसों विह्वल हें. इतने श्रवणके समयमें ऐश्वर्यादि षड्गुणसम्पूर्ण एसें भगवानकी स्मृतिसों विह्वल होय हें. ऊपर लिखे एसे दोय धर्मकरिके उत्तमपनो विनमें भासत हे. तासूं स्पष्टरीतिसूं मध्यमपनो बतायवेवारो धर्म कहत हें: अर्थमेंही मुख्य निष्ठावारे हें. इतने मोक्षादि पुरुषार्थ अथवा अपनी कृतार्थता होय येही विनको मुख्य प्रयोजन हे, वामेंही निष्ठावारे हें. मुख्यपनेसूं चरित्रमें निष्ठावारे नाहींहें. अर्थात् फलकी अपेक्षावारे हें तासूं मध्यम गिनेहें.

अब कहत हें जो एसे श्रोताही होय नाहीं. क्यों जो श्रोतानको अर्थमें तात्पर्य होय नाहीं. एसी आशङ्का होय तहां कहत हें जो श्रवणसूं साध्य एसो जो फल तामें इनको तात्पर्य हे. मोक्षादि फलमें तात्पर्यवारे हें तोहु भगवानके चरित्रमें उत्कंठावारे हें तासूं मध्यमपनो हे. जेसें परीक्षितादिकनकु दूसरे करतें पूर्ण वैराग्य होयवेसूं उत्तमपनो हे तथापि उपाधिसहीत प्रवृत्ति होयवेसूं विदुर तथा उद्धवादिककी अपेक्षासूं मध्यमपनो हे. तासूंही गङ्गाजीमें परीक्षितने प्रायोपवेश कियो सो तीर्थके कारणसूं कियो हे. यदि वाके मनमें तीर्थकी अपेक्षा नाहीं होती तो भगवानको चरित्र, दूसरे साधनकी अपेक्षा नाहीं राखिके, जहां बेठके श्रवण करे तहां फलकुं सिद्ध करिवेवारो हे. क्यों, जो भगवानकु जेसें तीर्थकी अपेक्षा नाहीं हे तेसें उनके चरित्रकुंहु नाहीं हे. ओर विदुरजी तो चरित्र सुनिवेकेलिये जहां मैत्रेयजी हते वहां गये हें; इतने वक्ताके सन्निधान जायवेको उद्देश हतो, गङ्गाजीपें जायवेको उद्देश नाहीं हतो, तासूं उत्तमपनो हे. परीक्षित् ओर विदुरजी दोउनको मर्यादापनो तो समान हे तथापि मर्यादामार्गमें जितनी शुद्धि होय तितनी फलमें विशेषता होय; तासूं विदुरजीमें तीर्थाटन ओर सत्सङ्ग सूं श्रवणको अधिकार सिद्ध भयो हे ओर परीक्षितमें तो स्पष्टही हे. तासूंही सिद्धान्तमुक्तावलीमें मर्यादामार्गीनकु गङ्गाजीके तटपे श्रीभागवतमें तत्पर होयके रहीवेकी आज्ञा करी हे॥2॥

एसें मध्यम श्रोताको निरूपण करिवेके पीछे अधम श्रोतानको निरूपण करिवेको प्रयोजन नाहीं हे, तथापि भिन्न रीतिसूं विनको निरूपण नहीं करिके उत्तमके निरूपणमें ही कोउ धर्मसों अधमनको निरूपण करिवेकेलिये उत्तमनको ही प्रथम निरूपण करत हें:

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः॥
तत्त्वावेशात्तु विकला निरोधाद् वा न चाऽन्यथा॥3॥
पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन् न तु सर्वदा॥
अन्यासक्तास्तु ये केचिद् अधमाः परिकीर्तिताः॥4॥

ये=जो, कृष्णत्वं=श्रीकृष्णरूप तत्वकुं
निःसन्दिग्धं=सन्देह रहित
सर्वभावेन=सब भावसूं,विदुः=जाने
ते तु=वेतो, आवेशात्=आवेशसूं
वा=अथवा,निरोधात्=निरोधसूं
विकलाः=विकल, च=परन्तु
अन्यथा=ओर तरहसुं
न=नहीं, तु=ओर
ये=जो, केचित्=कोई
कदाचित्=कबहुक
पूर्णभावेन=पूर्णभावसूं
पूर्णार्थाः=पूर्ण अर्थवारे,तु=तो
सर्वदा=हमेंशा, न=नाहीं
(किंच=ओर)अन्यासक्ताः=अन्यकहुं
आसक्त, ते=वे,अधमाः=हीन
परिकीर्तिताः=कहे जांय हें

भावार्थ : सन्देह रहित जो श्रीकृष्णरूप तत्वकुं सर्वभावसों जो जानिवेवारे हें वे आवेशसूं अथवा निरोधसूं ही विकल होय हें. ओर पूर्णभावसों पूर्णअर्थवारे कबहुंक ही

होय हें, सर्वदा नाहीं होंय हें. ओर अन्यमें आसिक्तवारे हें वे अधम कहे हें.

टीका : इतनें सदानन्द श्रीकृष्णके स्वरूपकुं—— अर्थात् रसात्मक करपादादियुक्त, साकार ओर मायाकुं दूर करिके प्रकट भयो हे एसो शास्त्र ओर अनुभव सों संदेहरहित होयकें जेसो हे तेसो ——जानिवेवारे श्रवणके उत्तमाधिकारी हें.

यहां शङ्का होय जो एसे दृढ ज्ञानवारेनकु श्रवण करिवेकी अपेक्षा न रहे तासूं उनकुं श्रोतापनो केसें? एसी शङ्का के निराकरणमें कहे हें जो वे ज्ञानवारेहु जब ज्ञानसों हृदयमें भगवदावेश होय तब विकल होय जाय हें. तब “हम जानिनेवारे हें” एसी स्फूर्त्ति विनकुं होय नाहीं हे. तब श्रवण करिवेकी उनकुं योग्यता सिद्ध होय हे. तासूंही श्रीभागवतके प्रथमस्कन्धमें कह्यो हे जो “सतत भगवद्भक्त जिनकुं प्रिय हें ओर प्रभुके गुणनने जिनकी मतिको आकर्षण कियो हे एसे श्रीशुकदेवजी श्रीभागवतरूप आख्यान पढे”. तासों एसें पूर्णज्ञानवारेनकु हु श्रवणकी योग्यता कही हे. मूलमें ‘तु’शब्द कह्यो हे तासूं रसावेशवारेनकु उपर कहे प्रमाण मतिविक्षेप नहीं होय हे एसें कह्यो हे. क्यों जो उनकुं तो निरन्तर रसावेश रहिवेसूं ज्ञान कबहु नहीं होय हे. क्यों जो ज्ञान हे सो रसके उदयको प्रतिबंधक हे. तासूंही सर्वव्यापक ओर अपने हृदयमें बिराजिवेवारे प्रभूनको शोध करिवेकी प्रवृत्ति होय हे. सोही बात सिद्धज्ञानवारे श्रीशुकदेवजीनें श्रीभागवतके दशमस्कन्धके फलप्रकरणमें कही हे. तासूंही श्रीटिप्पणीजीमें श्रीगुसांईजीनें आज्ञा करी हे जो “बहिर्मुखनकु आकाशकीसी नांई सर्वत्र व्याप्त हें एसो प्रभुको ज्ञान होय हे. ओर भक्तनकु तो बाहिर प्रकट प्रभुकोही आनन्द अपेक्षित होय हे”. तासूं एकादशस्कन्धमें श्रीभगवानने आज्ञा करी हे जो “ज्ञान-वैराग्य बहोतकरिके भक्तके श्रेयसाधक नाहीं हें”.

यहां शङ्का होय जो भगवदावेशमें तो भगवानकी नांई सर्वज्ञपनो होनो योग्य हे, तब उनकुं विकलता केसें होय, जासूं श्रवणादिकमें प्रवृत्ति होय हे? एसी शङ्का करिके कहे हें जो उनकुं प्रभुके गुणकरिके निरोध होय हे. प्रपञ्चके विस्मरण पूर्वक प्रभुमें जो आसक्ति वाकुं ‘निरोध’ कहत हें. सो केवल गुणश्रवणसूंही होय हे. तासूं निरोधसों वैकल्य होय जाय हे ओर रीतिसूं नाहीं होय हे. एसें श्रोतापनेको उपपादन करिके उनकुं कदाचित् मोक्षादिक अर्थमें निष्ठा होय तब, अर्थमें निष्ठा होय सो तो मध्यममें गिन्ये जांय तासूं मध्यमपनेकी निवृत्तिकेलिये अब कहत हें जो सर्वत्र पूर्ण एसो जो

भगवद्भाव (भगवदावेश ओर निरोधसूं भयो भगवानको ज्ञान) इतने सर्वत्र भगवानकी स्फूर्त्ति, ताकरिकेही जाके सब अर्थ समाप्त भये हें, तासूं ओर स्वार्थ उनकुं नाहीं हे तासूंही (स्वार्थनिष्ठाके अभावसूंही) उनको मध्यमपनो नाहीं हे किन्तु उत्तमपनोही हे. क्यों जो एक भगवानमे ही निष्ठावारे हें.

जब एसें भयो तब तो पुष्टिमार्गीयन्सूं विनमें जुदाई न भई. क्यों जो पुष्टिमार्गीय जेसें प्रभुमेंही निष्ठावारे हें एसें वेहु हें! एसी शङ्का होय तहां कहत हें जो उनको एसो भाव सर्वदा नाहीं रहे हे किन्तु कोउ बखत ही रहे हे. इतनें जब भगवद्गुणको श्रवण करें तबही निरोध होयकें प्रभुनिष्ठ होय जाय हें. ओर पुष्टिमार्गीय तो सदाही भगवन्निष्ठ होयवेसूं सबन्सूं न्यारेही हें. तासूंही शुकादिकनकु सर्वदा लीलानुसन्धान नाहीं हे. जो होय तो “मथुराजीसूं व्रज प्रति गये” एसें तटस्थ रहीकें कथन असङ्गत होय. पुष्टिमार्गीयनके भावको सार्वदिकपनो तो एकादशस्कन्धमें प्रभुनेही कह्यो हे जो “मेरे विषेही जिनकी अनुषङ्गकरिके बुद्धि बंधाई हे एसे श्रीगोपीजन अपनो आत्मा, यह जगत् ओर परलोक उन सबनकु न जानें जेसें समाधिमें मुनिजन ओर समुद्रके जलमें जेसें नदियें अपनो नाम-रूप छोड़िकें प्रवेश करे हें तेसें”. यहां नदीके दृष्टान्तसों समुद्रमें प्रवेश करिवेवारी नदी पूर्वरूपकुं कभी प्राप्त नाहीं होय हे ओर स्वरूपसूं रहे हे तोहु भेदसूं कथन नाहीं होय हे; तासूंही पुष्टिमार्गीयनके विषे भगवदितर स्फूर्त्तिके अभाववारो भाव, भगवदीयपनो ओर भगवानमे ओतप्रोत होयकें रहनो हे. ओर मर्यादामार्गमें तो श्रवणादिकसूं भगवदीयपनो हे तासूं पुष्टिमार्गीय ओर मर्यादामार्गीय में बहोत भेद हे; तासूं विशेष कहा कहनो?

एसें बहिःसंवेदनके अभावकी दशामें मर्यादामार्गीय उत्तमनको निरूपण करिके; बहीःसंवेदनापन्नको निरूपण करिवेकेलिये, बहीःसंवेदनके प्रसङ्गसूं, अधमनको निरूपण करत हें: जो कितनेक अन्यासक्त इतनें ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदिसों उत्कर्षापकर्षयुक्त ओर गृहादिकमें आसक्त इतनें वृत्ति सम्पादनकेलिये अथवा लोककुं सुनायवेकेलिये श्रवण करिवेवारेनकु जलभेदमें “क्षेत्रप्रविष्टास्तेचापि संसारोत्पत्तिहेतवः” या श्लोकमें कह्यो भाववारे ‘अधम’ कहे हें. मूलमें ‘तु’शब्द कहिवेको यह अभिप्राय हे जो प्रभुकी सेवा करिवेकेलिये जो घरमें आसक्तहोंय सो अधम नाहीं हें. उनकोंतो पुष्टिमार्गीय मोक्षरूपपनेसूं उत्तमपनो हे॥4॥

एसें मध्यमें अधमनको निरूपण करिके अब बहीःसंवेदन दशाके विषेहु जिनको अन्यत्र मन नाहीं हे एसे उत्तमनको निरूपणकरतहें:

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु॥
देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म-प्रकारतः॥5॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचित पञ्चपद्यानि समाप्ता ॥

(ये=जो)मर्त्याः=मरणशील
देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म-प्रकारतः=स्थान
काल द्रव्य कर्ता मन्त्र ओर कर्मके प्रकारसूं
श्रवणादिषु=श्रवण आदिमें
अनन्यमनसः=दृढ मनवारे हें
ते=वे, उत्तमाः=उत्तम हें

भावार्थ : देश, काल, द्रव्य, कर्तृ, मन्त्र ओर कर्म के प्रकारसूं जो अनन्य मनवारे हें सो श्रवणादिकमें उत्तम हें.
टीका : इतनें सर्वत्र बहारके पदार्थनको ज्ञान होय तबहु प्रभु सिवाय अन्यत्र जिनको मन न होय वे 'अनन्य' कहे जाय हें. तहां शङ्का होय जो प्रभु सिवाय अन्यत्र जिनको मन नाहीं हे तिनकुं अन्तःसंवेदनमें विशेष कहा? एसी आशङ्का करिके अनन्यचित्तपनेमें प्रकारभेद कहत हें जो देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र ओर कर्म इतने प्रकारसूं अनन्यमनवारे चहियें. इतने अन्तःसंवेदनमें भगवद्रूपसूंही देशादिकनकी स्फूर्त्ति होय हे, देशादिकपनेसूं नाहीं होय हे. क्यों जो केवल भगवदाकार अन्तःकरण भयो होय तब सर्वत्र आवरणको नाश होय जाय हे. ओर बाहिरके पदार्थको ज्ञान होय तब तो ये देशादिक सब भगवद्रूप हें एसी स्फूर्त्ति होय हे. तामें देशादिकनमे भावनामात्रसों भगवद्बुद्धि होय हे. अर्थात् अन्तःसंवेदनमें देशादिकनकी स्फूर्तिही नाहीं होय हे ओर बहीःसंवेदनमें देशादिकनकी स्फूर्त्तिके सङ्ग भगद्बुद्धि होय इतनो अन्तःसंवेदनमें विशेष हे.

तहां शङ्का होय जो अन्तःसंवेदनमें प्रभुपनेसूं देशादिकनमे स्फूर्त्ति होय ओर बहीःसंवेदनमें देशादिकनकी स्फूर्त्तिमें भावनामात्रकी बुद्धि रहे, इतनो तारतम्य क्यों रहे हे? अन्तःसंवेदन ओर बहीःसंवेदन में अन्तःकरणको स्वरूप तो एक ही हे! एसी शङ्का करिके कहत हें जो ये मर्त्य हें तासूं एसें होय हे. अन्तःसंवेदनमें भावनाकरिके भगवद्रूपही होय जायवेसूं अन्यस्फूर्त्ति नाहीं रहे हे. ओर बहीःसंवेदनमें तो मर्त्यपनेसूं देशादिकनकी स्फूर्त्ति रहीवेसूं शास्त्रकरिके उनमें भगवद्बुद्धि रहे हे. एसें जो होय सो मर्यादामार्गमें श्रवणादिकनमे ओर कीर्तन प्रभृतीनमे उत्तम हें॥5॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचित पञ्चपद्यनकी
गोस्वामि श्रीनृसिंहलालजीमहाराज कृता
व्रजभाषा**टीका** समाप्त भई ॥

सन्यासनिर्णय - ग्रन्थ - परिचय

श्रीकृष्णाय नमः । श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
सन्यासनिर्णय की रचना वि । सं । १५५१ में वदरिकाश्रमकी यात्राके अवसरपर नरहरि सन्न्यासीकेलिए की गई ऐसी एक किंवदन्ती मिलती है श्रीयदुनाथजीविरचित श्रीवल्लभदिग्विजयके अनुसार श्रीमहाप्रभुने बदरिकाश्रमकी यात्रा तीन बारकी थी । द्वितीय यात्रामें कृष्णदास मेघनके आपके साथ होनेके उल्लेख तथा व्यासाश्रम पधारनेका उल्लेख भी मिलता है । इस प्रसङ्गकी सूचना वहांके तीर्थपुरोहितको दिये गये वृत्तिपत्रमे भी मिलती है । इस वृत्तिपत्रमें यात्राकाल ' देवाम्भपतिभू (१४३३) मिते ' ' तदनुसार वि । सं । १५६८ उल्लिखित है । अत : यदि वि । स १५५१ वाली किंवदन्ती प्रामाणिक हो तो उसे प्रथम यात्राका काल मानना पड़ेगा । इसकी पुष्टि चौरासी वैष्णवन्की वार्तासे भी होती है : “ सो एक समय नरहर सन्यासी बद्रिकाश्रम फिरते - फिरते आये । तहां श्रीआचार्यजी महाप्रभु पधारे सो नरहर सन्न्यासीको दरसन भये । तब नरहर सन्न्यासी श्रीआचार्यजी महाप्रभुनसों

विनन्ती किये- “ महाराज मैं पहिले सन्न्यास ग्रहण कियो हतो । पाछे आपकी कृपाते भक्तिमार्गमें आयो सो सन्न्यासके प्रकार हैं सो तो मैं जानत हों और भक्तिमार्गको कहा प्रकार है सो मैं जानत नाही । सो मोकों कृपा करि कहिये " तब श्रीआचार्यजी कहे “ तोसों भक्तिमार्गके सन्न्यासको प्रकार कहत हों , तब श्रीआचार्यजी ‘ सन्न्यास निर्णय ' ग्रन्थ करि नरहर सन्न्यासीको पढ़ाय भाव कहि सुनायो । तब नरहर सन्न्यासीके हृदयमें पुष्टिमार्गको सिद्धान्त स्थिर भयो , तब श्रीठाकुरजीकी लीलाको अनुभव भयों सो मग्न होय गये । पाछे श्रीआचार्यजी आगे पधारे । नरहर सन्न्यासी स्वरूपानन्दमें मग्न होय फिरिबो करते ' । श्रीमहाप्रभुके चरित्रवर्णनोंमें सर्वाधिक प्राचीन (वि । स । १६१० में) गदाधर द्विवेदी लिखित सम्प्रदाय प्रदीपमें भी एक ‘ सन्न्यासनिर्णय'का उल्लेख मिलता है । || श्रीवल्लभाः निर्गत्य गङ्गातीरे उपविष्टाः तत्र त्रिदण्डविधिना सन्न्यासनिर्णय उक्तः यथा विष्णुस्वामी तथा यतिर्भूत्त्वा काश्यां गताः ” (चतुर्थ प्रकरण) किन्तु यहां ‘ सन्न्यासनिर्णय ' ग्रन्थवाचक है अथवा ग्रन्थरूपेण निबद्ध न किये गये किसी मौखिक उपदेका वाचक है , यह निश्चित नहीं हो पाता है । इसके अलावा ' त्रिदण्डविधिना ' पदपर भी ध्यान देना चाहिये । क्योंकि षोडशग्रन्थान्तर्गत प्रस्तुत सन्न्यासनिर्णयग्रन्थमें कही भी त्रिदण्डविधिसे सन्न्यास ग्रहण करने या न करने का कोई भी विचार उपलब्ध नहीं होता है । '

इसके अलावा श्रीपुरुषोत्तमजी भाष्यप्रकाश (3।4।42)में-“बहि स्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च” के भाष्यांशकी तथा प्रस्तुत सन्यास निर्णय ग्रन्थकी एकवाक्यता स्वीकारते हैं-“एतस्य प्रपञ्च सन्यास निर्णयग्रन्थादवगन्तव्य:” यहां प्रारम्भमें भक्तिमार्गके मध्यम कक्षाके अधिकारीकेलिए आवश्यक साधनत्यागका विचार इस अधिकरणका प्रमुख उद्देश्य है ऐसा दिखलाते हैं:“अथ भक्तिमार्गीयमध्यमजघन्ययो: फलविचारोत्तरं

मध्यमस्य त्यागरूपं साधनं चिक्त्यते". भागवतके एकादश स्कन्धके अठाहरवे अध्यायमें-"यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्नि: प्रव्रजेतत:" कारिकासे प्रारम्भ कर सोलह कारिकाओंमें पहले भगवान्ने उद्धवको त्रिदण्ड सन्यास का स्वरूप समझाया है और इसके बाद-"ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षक: सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर:" कारिकामें चतुर्थ आश्रमरूप सन्यास से भिन्न एक सन्यास की आज्ञा दी गई है; यह सन्यास की आज्ञा पूर्वोक्त भाष्य (3।4। 42) तथा सन्यास निर्णय ग्रन्थका आधारभूत वाक्य है. उद्धवने भी इस सन्यास की आज्ञाके बाद सर्व परित्याग किया था तथा यह परित्याग मध्यमाधिकाररूप था, यह त्रिविधनामावलोके-"उद्धवादिमध्यमभावबोधकाय नम:" से स्पष्ट होता है. ऐसा श्रीपुरुषोत्तमजी स्वीकारते हैं.

ऐसी स्थितिमें सन्यास निर्णयग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने स्वयम्केलिए लिखा यह कहना कुछ असमञ्जस सा लगता है. क्योंकि सर्वप्रथम तो सन्यास निर्णयग्रन्थमें मध्यामधिकारीके त्यागके प्रकारको प्रतिपाद्य विषय माना गया है; और व्यर्थ ही श्रीमहाप्रभु स्वयम्के बारेमें मध्यमाधिकारिताका निर्णय लें यह सङ्गत नहीं लगता. श्रीपुरुषोत्तमजीके अनुसार तृतीय भगवदाज्ञा भी "लोकपरित्यागविषयिणी" थी. इस आज्ञाका तात्पर्य मध्यमाधिकारवाले सन्यास ग्रहणार्थ लेनेमें कोई विशेष हेतु दृष्टिगत नहीं होता हैं. "स्वीयबन्धनिवृत्यर्थ वेश: सोपि न चान्यथा" में सन्यास चिन्होंको अनियतता या उपेक्षाका जो बोध होता है, वह भी श्रीमहाप्रभुके सर्वथा आग्रहपूर्वक यथाक्रम कुटिचक्र बहूदक हंस तथा परमहंस के क्रमनिर्वाहसे उतना सङ्गत नहीं होता.

इन बातोंको दृष्टिगत रखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि लोकगोचर देहदेशत्यागकी तृतीय भगवदाज्ञाके परिपालनार्थ श्रीमहाप्रभुने सन्यास निर्णय

ग्रन्थमें वर्णित मध्यमाधिकारवाला सन्यास नहीं किन्तु चतुर्थाश्रमरूप नित्य सन्यास ही आपने लिया था: "...आश्रमचतुष्टयपक्षे नित्यसक्क्यासो भवति. तत्र ब्राह्मण्यं, वय: पूर्वाश्रमानन्तर्यं च प्रयोजकं न ज्ञानादि" (सुबो. 3।12। 42). सन्यास निर्णयमें "कर्ममार्गे न कर्तव्य: सुतरां कलिकालत:" वचतद्वारा जिस चतुर्थाश्रमरूप सन्यास की भक्तिमार्गीय जीवोंकेलिए अनुपादेयता, तथा सर्वनिर्णयमें-त्रिदण्डं परिगृहणीत सर्वशास्त्राविरोधि तत्... प्रतिपत्तिरियं सर्वा देहस्य" वचनद्वारा जिस चतुर्थाश्रमरूप शास्त्रविहित सन्यास की ब्राह्मणदेहकेलिए आवश्यकता शास्त्रसम्मत मानी गई है, वही सन्यास का प्रकार श्रीमहाप्रभुने स्वीकारा था.

पुष्टिमार्गमें फलनुभूति इस भूतलपर ही उत्तम मानी गई है-"भगवानेव हि फलं स यथा विर्भवेद् भुवि" (पु. प्र. म.) आगे चलकर सेवाफलमें भी वर्णित उत्तम फल "अलौकिक सामर्थ्य" सर्वेन्द्रियोंसे भगवान्को रसात्मिका अनुभूति इसी भूलतपर स्वीकारी गई है. पर प्रभु जब आचार्यचरणको लोकगोचर देह-देश-त्यागकी आज्ञा प्रदान कर रहे थे, मर्यादामार्गीय रीतिसे, तब तदनुरूप पारमहंस्य सन्यास भी आपने ग्रहण किया! "सक्क्यासेन देहत्वागं करोति स परमहंसो नाम स परमहंसो नाम!" (जाबालोपनिषद्).

अतएव अन्त:करणप्रबोधके-"प्रोढापि दुहता यद्वत् स्नेहान्न प्रेष्यते वरे तथा देहे न कर्तव्यं" तथा सर्वनिर्णयके-"न्यासे सर्वपरित्यागी...तादृशस्य बलाद्वापि देहत्यागो विमुक्तिद:" इन दोनों वचनोंकी तुलना करनी चाहिए.

फलत: सन्यास निर्णय यह सहज सम्भव है कि श्रीमहाप्रभुने बदरिकाश्रमकी प्रथम यात्राके समय नरहरि सक्क्यासीकेलिए ही बनाया हो.

भक्तिवर्धिनीमें यह दिखलाया गया था कि जिनका बीजभाव दृढ़ हो वे गृहत्वाग करके भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तनद्वारा भी अपनी भक्तिको विकसित

कर सकते है. अन्यथा बीजभावके दृढ़ न होनेपर उसे दृढ़ करनेकेलिए व्यक्तिको यथावसर भगवत्सेवा और भगवत्कथा दोनोंको अपनाना चाहिये, यदि वह अव्यावृत्त हो तो. अन्यथा व्यावृत्त होनेकी अवस्थामें अर्थात् निजगृहमें भगवत्सेवाकी शक्यता न होनेपर बीजभावकी द्रढ़ताकेलिए केवल भगवत्कथाके श्रवणादिसे भी प्रेमासक्तिव्यसनकी उत्तरोत्तर अवस्थाओंमें भक्ति विकसित हो सकती है.

भगवत्कथाके श्रवणादिसे जब स्नेह उत्पन्न होता है तब सांसारिक विषयोंमें अनुराग नष्ट हो जाता है-भगवदासक्ति स्थिर होनेपर भगवत्सेवामें अनुपयोगो गृहमें भक्तकी अरुचि हो जाती है-भगवत्सेवार्थ उपयोगमें न आनेवाले घर और घरकी सारी वस्तु भक्तकी भक्तिमें बाधक लगने लगती हैं-धीरे-धीरे यों जब कृष्णभक्ति व्यसनदशापर पहुंच जाती है, तब जीव कृतार्थ हो जाता है. ऐसी व्यसनदशापर पहुंचनेवाले व्यक्तिकेलिए भी भगवत्सेवार्थ अनुपयोगी घरमें सतत निवास करना, कभी भक्तिमें व्यवधानका हेतु बन सकता है. भक्तिका विनाशक हो सकता है. अत: भक्तिकी दृढ़ताकेलिए केवल कृष्णदर्शनकी तीव्र लालसासे जो गृहत्याग कर पाते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट परा सुदृढ़ भक्तिका लाभ होता है (भक्तिवर्धिनी).

इसके बाद भक्तिवर्धिनीमें जो इस प्रकारका त्याग नहीं कर पाते उनके कर्तव्य दिखलाये गये हैं, परन्तु जो त्याग करनेमें समर्थ हों उन्हें वह त्याग कैसे किस अवस्थामें, किस भावनाके साथ और किस लक्ष्यकी प्राप्तिकेलिए करना चाहिये इत्यादि विषयोंका निरूपण नहीं हो पाया. जिनसे स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभती हो और जो गृहत्यागकेलिए भी अपने आपको समर्थ न पाते हो उन्हें यह सुझाया गया था कि उन्हें ऐसे भगवदीयोंके समीप बसना चाहिये कि जो सेवा-कथा-परायण जीवनयापन करते हों. वे यदि छूट दें तो उनकेद्वारा की जाती भगवत्सेवामें सहयोगी-परिचारक भो बनना चाहिये. इसी

सन्दर्भमें भगवत्कथाकेलिए आवश्यक योग्य वक्ता एवम् श्रोताका स्वरूप बीचमें जलभेद और पञ्चपद्यानिमें समझाया गया था. अत: अवशिष्ट गृहत्यागका विचार आवश्यक था ही, जिसे इस सन्यास निर्णय ग्रन्थद्वारा पूर्ण किया जा रहा है.

सर्वनिर्णय निबन्धमें कारिका 191से कारिका 214 तक सन्यास त्याग भक्ति आदि अनेक विषयोंका निरूपण किया गया है, पर वह मुख्यतया पुष्टिमार्गीयोंकेलिए नहीं, अपितुं सभी दैवी जीवोंको लक्ष्यमें रखकर किया गया उपदेश है. अतएव कारिका 196में "भक्ति: स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति. न सोच्यते" वचन उपलब्ध होता है. अतएव वहां, सन्यास ग्रहणके शास्त्रीय प्रकार पर बहुत भार दिया गया है-"त्रिदण्डं परिगृह्णीत सर्वशास्त्रविरोधि तत्" जबकि यहां सन्यास निर्णयमें सामान्य रूपसे "वेश: सोपि न चान्यथा" कहनेमें वह भार दिखलाई नहीं देता. क्योंकि दैवी जीवोंकेलिये आवश्यक सन्यास के सामान्य प्रकारसे भिन्न एक विशिष्ट प्रकारके सन्यास की आज्ञा यहां श्रीमहाप्रभु दे रहे हैं.

सर्वनिर्णयान्तर्गत सन्यास सम्बन्धी विचारके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभु दे रहे हैं. ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ अथवा सन्यास में से किसी भी एक आश्रयमें नैष्ठिक होकर रहा जा सकता है, अथवा क्रमश: उत्तरोत्तर आश्रमोंमें प्रवेश किया जा सकता है, अथवा आयुष्यके चार समान भाग करके एक-एक भागका यापन एक-एक आश्रममें किया जा सकता है. सर्वत्र फल तुल्य ही होता है क्योंकि शास्त्रोमें सभी आश्रमोंकी प्रशंसा मिलती है. ऐसी स्थितिमें समनन्तरक्रम और आयु:क्रम वाले कल्पमें सन्यास एक शास्त्रीय आवश्यकता प्रतीत होती है.

जबकि षोडषग्रन्थान्तर्गत सन्नासनिर्णयमें, कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग या अदृढ़ बीजभावकी अवस्थामें भक्तिमार्गमें भी श्रीमहाप्रभु सन्यास को अनुमोदनीय नहीं मानते.

इन दोनों दृष्टिकोणोंको एकवाक्यता इस तरह घटित हो जाती है कि पुष्टिमार्गीयेतर दैवी जीवोंकेलिए आश्रमक्रम अथवा आयु:क्रम कल्पमें, चतुर्थाश्रमरूप सन्यास वर्णाश्रमधर्मके रूपमें अनिवार्य नहीं है-"अन्त:करणे संस्कारविशेषाधायकत्वं च प्रतीयते सन्यास स्य. स च संस्कार: फलोपकार्यगमित्यावश्यक: सक्क्यासो मर्यादामार्गे. पुष्टिमार्गे त्वन्यैव व्यवस्था-"न ज्ञानं न च वैराग्यं प्राय: श्रेयो भवेदिह" इति वाक्यात्". (अणु. 3।4।17).

अत: पुष्टिमार्गीय साधक यदि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें भगवत्सेवाको निभा पाता है तो गृहत्याग या सन्यास अनावश्यक है-"त्यागे वाङ्मनसोरेव भगवति विनियोगो न सर्वेन्द्रियाणाम् गृहिणस्तु सर्वै: प्रकारैर्भजनं भवति इति परिजनश्च कृतार्थो भवतीति भजने कृत्स्नता" (अणु. 3।4।47). अन्यथा स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभनेपर अर्थात् किसी पुष्टिभक्तके व्यावृत्त होनेपर सर्वप्रथम उसे स्ववर्णाश्रमोचित धर्मोका पालन करते हुए भगवत्कथाके श्रवण-मनन-कीर्तनद्वारा भक्तिके बीजभावको दृढ़ बनाना चाहिये. बीजभावके दृढ़ होनेपर अपने घरमें भगवत्स्वरूपके सेवा-दर्शन-स्पर्शन आदिके संयोगसुखके न मिलनेके कारण तथा पारिवारिक झंझटोंमें भगवद्विप्रयोगजन्य दु:खानुभूतिमें भी व्यवधानोंको देखते हुए गृहत्याग कर देना उचित होता है-"विरहानुभवार्थं तु परित्याग: प्रशस्यते".

बीजभावके दृढ़ होनेपर भक्तको यह स्वतएव समझमें आने लगता है कि-"गृहस्थितेरुत्कृष्टत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण किन्तु भगवता सह स्थित्या

भगवत्कार्यार्थं वा अन्यथा न स्थातव्यम्" (सुबो. 3।1।2).

पुनश्च यहां यह अवधेय हो जाता है कि श्रीमहाप्रभुके समक्ष न तो भक्तिके बीजभावको दृढ़ करनेकी कोई समस्या थी और न स्वगृहमें भगवत्सेवाके अनिर्वाहकी ही. न सतत गृहस्थितिसे भक्तिके बीजभावके विनाशकी ही और न विरहानुभवार्थ परित्यागकी भी. क्योंकि सन्यास में मुक्तिसे अधिक अव्यग्रता तो सम्भव नहीं, जबकि मुक्तिके बारेमें आपका स्पष्ट अभिप्राय है कि-"स्वतन्त्रभक्तानां तु गोपिकादितुल्यानां सर्वेन्द्रियैस्तथान्तःकरणैः स्वरूपेणचानन्दानुभवः अतो भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहितगृऽहाश्रम एव विशिष्यते" (शास्त्रार्थप्रकरण). इसी तरह सर्वोत्तममें आपको-'रासलीलैक
तात्पर्य' कहा गया होनेसे विरहानुभवार्थ भी सन्यास में आपका प्रवृत्त होना बहुत अर्थपूर्ण नहीं रह जाता. स्वगृहमें भगवत्सेवा-कथामय जीवनयापन उत्तमाधिकारका द्योतक है तथा वह सम्भव न होनेपर भगवद्वरहानुभवार्थ सन्यास ग्रहण करना भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारका द्योतक है.

यद्यपि "कृत्स्नभावात्त गृहिणोपसंहार" (ब्रह्मसूत्र 3।4।47) के भाष्यके उपसंहारमें, "कुछ दुर्लभ प्रकारके-राजा आशकरणदास जैसे-भक्त भगवत्सेवा करते हुए भी गृहत्याग कर देते हैं". ऐसा उल्लेख मिलता है. परन्तु उस गृहत्यागके जो कारण वहां दिखलाये गये हैं, वे यों हैं-"केचन भक्ता भाषणादिलीलादर्शनं विना स्थातुमशक्ता प्रचुरभावविवशाशया: गृहांस्त्यक्त्वा वनं गच्छति". स्पष्ट है यह बात श्रीमहाप्रभुपर लागू नहीं होती. अतएव भाष्यकार यही कहते हैं-"तेन भगवद्भजन एव तत्रापि पुष्टिमार्ग एव श्रुतेर्भर: इति ज्ञायते". अत: जिन्हें भगवत्सेवाका सौभाग्य नहीं प्राप्त होता उनकेलिए विरहानुभवार्थ सन्यास का कल्प है. इससे यह सुदृढ़ होता है कि श्रीमहाप्रभुके सन्यास के स्वरूप एवम् प्रयोजन इस सन्यास निर्णयमें

निरूपित भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारके द्योतक सन्यास के स्वरूप एवम् प्रयोजनसे भिन्न ही थे.

अतएव दामोदरदास प्रभृति वैष्णवोंकी सन्यास में भी आपके अनुवर्तनकी प्रार्थनाको श्रीमहाप्रभुने अस्वीकार कर दिया था, श्रीयदुनाथजीके शब्दोंमें, “ततो दामोदरादीनां सहयानार्थं सन्यास ग्रहणार्थं चार्थना जाता. अथाचार्यैः युष्माकं भागवतसक्क्यासोत्स्येव. मत्कार्यार्थम् उद्धवादिवदिहैव स्थातव्यमित्युक्त्वा सन्यास निर्णयः श्रावित”. ‘भागवत सन्यास ’ से आपका तात्पर्य ब्रह्मसम्बन्धगद्यद्वारा आत्मनिवेदनके बारेमें ही प्रतीत होता है. स्वयम् श्रीमहाप्रभुके त्रिदण्डविधिसे सन्यास ग्रहणका प्रयोजन भगवदाज्ञाका पालन ही था अतः वैसी आज्ञाके अभावमें अन्य अनुयाईओंकेलिए सन्यास में आपका अनुवर्तन सर्वथा अनावश्यक था.

नरहरि तो पहले ही सन्यास ले चुके थे. और एक आश्रयसे दूसरे आश्रममें एक बार पहुंचनेके बाद पुनरावर्तन सर्वथा शास्त्रनिषिद्ध है, अतएव वृन्दावनमें पहले नरहरिको त्रिदण्डविधिसे अर्थात् शास्त्रसम्मत रीतिसे सन्यास लिवाया गया और बादमें बदरिकाश्रममें उन्हें इस सन्यास निर्णय ग्रन्थके उपदेशद्वारा भगवद्विरहानुभवमें दीक्षित किया गया!

सन्यास का विधान पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठनेवालेकेलिए शास्त्रमें मिलता है. परन्तु शिष्यैषणामें ये तीनों वासनायें छद्म रूपसे त्रिगुणित हो जाती हैं. पुत्र तो दोचार पैदा हो जायें तो लालसा सन्तुष्ट हो जाती है, परन्तु शिष्यैषणा तो दोचार हजार चेलोंके जुट जानेपर भी सन्तोषका नाम नहीं लेती! अतएव अपने सहज परिवारके पोषणके लिए वित्तकी अपेक्षा उतनी नहीं होती जितनी कि मठ या आश्रमों में जुटें चेलोंके पोषणकेलिए होती है. एक सांसारिक व्यक्ति अपने गुणोंकी कीर्तिकी लालसासे

उतना ग्रस्त नहीं होता जितना कि एक आधुनिक परमहंस अपने त्यागकी कीर्तिकी लालसासे ग्रस्त होता है!

वस्तुत: विरक्तकी त्यागसाधना और त्यागीकी वैराग्यसाधनामें बड़ा अन्तर पड़ जाता है.

वास्तविक वैराग्य व्यक्तिको किसी सीमा तक ऊपर उठा सकता है परन्तु वैराग्यहीन त्याग हमें और नीचे धकेल देता है. श्रीमहाप्रभुजीका सिद्धान्त है कि किसी वस्तुके व्यर्थ त्यागकी अपेक्षा उसे भगवान्को समर्पित कर देना उचित बात है. अतएव जब हम समर्पित नहीं कर पाते तब केवल विरक्तिके आधार पर प्राप्त वस्तुके त्यागके बजाय भगवदनुरक्तिकी तन्मयतामें उसका त्याग किया जाये तो बात बन सकती है!

त्याग अपने-आपमें एक स्वतन्त्र मार्ग होनेकी महत्ता नहीं रखता है. मार्ग तो तीन ही होते हैं:1.कर्ममार्ग 2.ज्ञानमार्ग 3.भक्तिमार्ग. कर्म, ज्ञान या भक्ति के अङ्गरूपेण त्यागकी महत्ता अवश्य मान्य हो सकती हैं, किन्तु इनसे रहित केवलत्याग तो मनुष्यको केवल परिव्राजक ही बना पाता है-कहीं पहुंचाता नहीं!

श्रीमहाप्रभु सन्यास का निर्णय केवल वैराग्यके सन्दर्भमें देना पसन्द नहीं करते है. कर्म, ज्ञान या भक्ति में से किसी एकके साथ वैराग्यके प्रकट होनेपर सन्यास या त्याग का विचार प्रासङ्गिक बनता है. भागवत (11।20।7-8)में आता है कि-“योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोन्योस्ति कुत्रचित्, निर्विण्णनां ज्ञानयोग... कर्मयोगस्तु कामिनां... न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोस्य सिद्धिद:” अर्थात् विरक्तिप्रधान साधनकेलिए ज्ञानयोग, सकाम साधकोंकेलिए कर्मयोग; एवम् न विरक्त और न अतिसकाम ऐसे साधककेलिए भक्तियोग सिद्धिप्रद

होता है. इन कर्म ज्ञान या भक्ति के मार्गपर आगे बढ़नेपर अर्थात् वैराग्यके दृढ़ होनेपर सन्यास का विचार प्रासङ्गिक बनता है.

इस विषयमें सुबोधिनी (3।12।42)में एक विस्तृत स्पष्टीकरण श्रीमहाप्रभुने दिया है. उसका अनुवाद देख लें:

“ब्राह्मणकेलिए यह आवश्यक है कि वह चारों आश्रमोंमें क्रमश: प्रविष्ट हो... किसी एक आश्रममें स्थिर होना भी, वैसी कामना होनेपर, शास्त्रानुमत है... जो ऊर्ध्वरेतस भक्त होते हैं वे चाहें तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आश्रममें स्थिर हो सकते है. सर्वथा वैराग्यरहित अर्थात् उत्कट कामनावालेकेलिए गार्हस्थ्य ही ठीक रहता है. उसे वेदोंके यथाशक्ति अध्ययन करनेके बाद, शास्त्रीय विधिके अनुसार विवाह करके, यावद्जीवन अग्निहोत्रादि कर्मोके अनुष्ठानमें तत्पर होना चाहिये. अतएव आपस्तम्बकारने सभी आश्रमोंको तुल्य माना है. किसी भी आश्रमके कर्तव्योंका यथावत् पालन करनेपर सिद्धि मिलती है. कहीं-कहीं एक आश्रमकी प्रशंसा करनेकेलिए अन्य आश्रमोंकी निन्दा भी दिखलाई देती है. पर वास्तविक तात्पर्य उसका किसी आश्रम-विशेषकी प्रशंसाके रूपमें ही लेना चाहिये. अन्यथा श्रुतिवचनोमें परस्पर विरोधाभास होने लगेगा, जबकि ब्राह्मणोंका यह कर्तव्य है कि किसी भी श्रुति वचनको अप्रामाणिक न माने”.

कर्म, ज्ञान और भक्ति के तीन प्रमुख भेद और तदन्तर्गत अन्य भी उपभेदोंको दृष्टिगत रखनेपर इस प्रस्तुत सन्यास निर्णय ग्रन्थमें कुल आठ प्रकारके सक्क्यासोंके बारेमें हमें निर्णय मिलना है. बोधसौकर्यकेलिए उन्हें इस वर्गतालिकाद्वारा समझा जा सकता है:

सन्यास :1.कर्ममार्गीय 2.भक्तिमार्गीय 3.ज्ञानमार्गीय
1.कर्ममार्गीय:1.कर्मफल (1.त्यागरूप), 2.चतुर्थ (2.आश्रमरूप)
2.भक्तिमार्गीय:1.भक्त्यर्थ (3.भक्ति साधक श्रवणादिक निर्वाहार्थ) (4.भक्ति बाधक गृहादि त्यागार्थ) 2.भक्त्युत्तर (5.विरहानुभवार्थ) (6.प्रपञ्च विस्मृति

पूर्वक भगवदासक्तिस्वभावसिद्ध)
3.ज्ञानमार्गीयः(7.ज्ञानार्थ) (8.ज्ञानोत्तर)

आत्मोद्धारके तीनों ही मार्गोमें सांसारिक अहन्ता-ममताको बाधक माना गया है. सांसारिक अहन्ता-ममतासे ऊपर उठनेके सच्चे उपाय वैराग्यसहित कर्म, ज्ञान अथवा भक्ति तो हो सकते हैं, पर केवल त्याग या सन्यास नहीं. फिरभी भ्रामक उत्साहवश बहुधा लोग स्वमार्गमें पूर्ण निष्ठा तथा वैराग्य के अभावमें ही त्याग या सन्यास की उतावल कर बैठते है और स्वमार्ग तथा सन्मार्ग से भटक जाते हैं!

पुष्टिमार्गीय जीव भी यदा-कदा ऐसे मिथ्याचारवाले त्याग या सन्यास के फेरेमें पड़ सकते हैं. विशेषत: स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभा पानेवाले दृढ़ बीजभाववाले भक्तोंकेलिए श्रीमहाप्रभुने भी गृहत्यागका जो उपदेश भक्तिवर्धिनीमें दिया है, उसका तात्पर्य भलीभांति न समझ पानेके कारण, पुष्टिमार्गीय विवेकके बिना उतावलमें कोई त्याग या सन्यास की गलती कर सकता है. ऐसोंके पल्ले पछतावेके अलावा और कुछ नहीं पड़ता!

अपने पुष्टिमार्गीय जीव ऐसे मिथ्याचारके फेरेमें पड़ कर अपने पुष्टिमार्गीय फलसे भी वञ्चित न रह जाये सारे जीवनको ही एक महापाषण्डका नाटक न बना लें एतदर्थ श्रीमहाप्रभु त्याग सन्यास सम्बन्धी अपने विचारोंको स्पष्ट करते हैं. ताकि त्याग या सन्यास के चक्क्रमें फंसनेवाले सम्भावित पश्चातापसे बच पायें; और जो नरहरि सक्क्यासीकी तरह सन्यास ले ही चुकें हों उन्हें पुन: भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेकी दिशा सूझ पाये पश्चात्तापसे उभर कर!

1.कर्मफल-त्यागरूप कर्ममार्गीय सन्यास :

तत्तद् वर्ण या आश्रम आदिकी दृष्टिसे जो कर्म नियत होते हैं उनका परित्याग उचित नहीं होता. (दृ. गीता 3।8). सर्वनिर्णयके प्रारम्भमें यह कह दिया गया है कि केवल नित्यकर्मका फल आत्मसुखरूप होता है तथा उसके त्याग करनेपर प्रत्यवाय-अपराध लगता है. यही नित्यकर्म ब्रह्मविद्याके सहित हो तो ब्रह्मानन्दका दान भी करता है-"भगवदानन्दरूपं फलं ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य यथोक्तकर्मकर्तुरेव" (सर्वनि. 4) हर सूरतमें वर्णाश्रमाचारादि शास्त्रविहित नित्य कर्तव्योंका त्याग देहाभिमानके बने रहनेतक शास्त्रनुमोदित नहीं है (यावद् देहभिमान: तावद् वर्णाश्रमधर्म एव स्वधर्म सुबो. 3।28।2).

निष्काम कर्मानुष्ठान करनेवाला भी ब्रह्मसंस्थ हो सकता है, ऐसा श्रीशमराचार्य नहीं मानते-तस्माद् य एव ब्रह्मसंस्थ: स्वाश्रमविहितकर्मवतां सोऽमृतत्वमेति. न कर्मनिमित्तविद्याप्रत्ययोर्विरो
धात्" (छां. भा. 2।23।1). किन्तु गीता (3।5।8) के अनुसार श्रीमहाप्रभुके मतमें नियत कर्मका त्याग उचित नहीं होता. अत: ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य या वानप्रस्थ में से किसी भी एक आश्रममें नैष्ठिक व्रत धारण कर स्वाश्रमोचित कर्तव्योंका जो निष्काम अनुष्ठान करता है उसे आत्मसुखरूप कर्ममार्गीय मोक्षकी प्राप्ति होती है (दृ. गीता 2।50-51) यदि ब्रह्मविद्याके साथ कोई निष्काम कर्मानुष्ठान करता है तो ज्ञानमार्गीय ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति भी सम्भव है (दृ. गीता 4।24). भगवद्भक्तिके साथ निष्काम कर्मानुष्ठान करनेवालोंको भजनानन्दकी प्राप्ति भी सम्भव है (गीता 9।34).

बृहदारण्यकोपनिषद् (4।4।22)में-"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन एतमेव विदित्वा मुनि: भवति" कह कर ब्रह्मचर्य, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ आश्रमके कर्तव्योंके निष्काम अनुष्ठानको भी चित्तकी ब्रह्मज्ञानोपयोगी शुद्धिमें विविदिषामें साधन माना गया है.

वेदानुवचन यज्ञ और दान का आश्रमधर्म होना छान्दोग्य (2।23।1) के-"त्रयो धर्मस्कन्धा: यज्ञोध्ययनं दानमिति. प्रथमस्तप एव. द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी. तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्. सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्तोऽमृतत्वमेति". वचनसे एकवाक्यता करनेपर स्पष्ट होता है. 'वेदानुवचन' और 'अध्ययन' समानार्थी है. 'यज्ञ' और 'दान' तो बृहदारण्यक एवम् छान्दोग्य दोनोंमें समानरूपमें मिलते ही हैं. छान्दोग्यमें इन अध्ययन, दान और यज्ञ के ब्रह्मविद्यारहित अनुष्ठानका फल पुण्यलोककी प्राप्ति माना गया है, तथा ब्रह्मविद्यासहित अनुष्ठानका फल 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वेमेति' कह कर ब्रह्मज्ञानोत्पत्तिद्वारा मोक्ष भी माना ही है. 'आचार्यकुलवासी' पदद्वारा इन कर्तव्योंकी आश्रमधर्मता भी स्पष्टकी गयी है.

गीता (12।4।7) में भी भगवान्ने अतएव इन कर्मोके त्यागको अनुचित माना है-"निश्चयं श्रृणुमे तत्र त्यागे... यज्ञदानतप: कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्, यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणां, एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानीतिमे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमं, नियतस्य च सन्यास : कर्मणो नोपपद्यते मोहत्तस्य परित्याग: तामस: परिकीर्त्यते:". कर्म सन्यास और कर्मयोग में कर्मयोगकी उत्तमता दिखलाते हुए कर्मयोगका भी ब्रह्मसंस्थ होकर अनुष्ठान-"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा करोति य: लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा" (गीता 5।10) भगवान्ने सम्भव माना ही है.

कर्ममार्गमें अतएव काम्यकर्म अथवा कर्मफलाशा का त्याग तो उचित माना है किन्तु नियत कर्मोके त्यागको उचित नहीं माना गया है. "अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य: स सक्क्यासी च योगी च न निरग्निनं

चाक्रिय:" (गीता 6।1) आदि अनेक वचनोंसे काम्यकर्म और कर्मफलाशा के त्यागको सच्चा सन्यास माना गया है, नियत कर्मोके त्यागको नहीं.

सर्वनिर्णय (कारिका 246 के प्रकाश)में श्रीमहाप्रभुने कहा है-"गृहस्थस्यैतन्मुख्यम्. एवं कुर्वन् सकुटुम्बो भगवत्सायुज्यमश्नुते. ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्तौ एतत्कर्तव्यम्". इससे सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गमें भी देहाभिमानके बने रहने तक नियत कर्मोके त्याग किये बिना भक्तिमार्गीय कर्तव्योंका पालन आवश्यक होता है. चतुर्थाश्रममें गृहत्याग विहित होनेसे स्वगृहमें भगवत्सेवाके निर्वाहका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता अत: उसमें कृष्णदर्शनलालसाके साथ निरन्तर तीर्थयात्राका उपदेश दिया गया है, यहीं सर्वनिर्णयमें.

अत: पुष्टिमार्गीय जीवकेलिए कर्ममार्गीय दृष्टिकोणसे यावद्-देहाभिमान स्ववर्णाश्रमधर्मका त्याग उचित नहीं है; तथा साधनदशामें भी गृहत्याग उचित कर्तव्य नहीं रह जाता है-"कर्ममार्गे न कर्तव्य:". शास्त्रनियत वर्णाश्रमधर्मोके अनुष्ठानमें काम्यकर्म तथा कर्मफलाशातो त्याज्य हैं ही. "वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षण: स एव मद्भक्तियुतो नि:श्रेयकर: पर: (भाग. 11।18।47).

2.चतुर्थाश्रमरूप कर्ममार्गीय त्याग-

जैसे नैष्ठिक व्रतके साथ ब्रह्मचर्य गृहस्थ या वानप्रस्थ आश्रमोंका विधान है, वैसे ही क्रमश: चतुर्थाश्रममें प्रवेश करनेका भी विधान मिलता ही है. तथा पूर्वोदाहृत बृहदारण्यकके वचनमें ही यह आता है कि "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्त: प्रव्रजन्ति... पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति... नैनं कृताकृते तपत:.." अर्थात् वेदाध्ययन दान, यज्ञ, तप रूप कर्मवाले ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमोंके द्वारा ब्राह्मण जिस ब्रह्मके ज्ञानकी प्राप्ति करना चाहते हैं, सन्यास आश्रमद्वारा

भी उसी ब्रह्मकी प्राप्ति चाही जाती है. पुत्र, धन या लोक के बारेमें सभी तरहकी कामनाओंको छोड़कर जो भिक्षाचर्या करते हैं... उन्हें कृताकृत कर्मोके फल भगतनेका सन्ताप नहीं होता.

जाबालोपनिषद्में भी-"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा, प्रव्रजेद्" यों क्रमश: एक आश्रमके अनन्तर दूसरे आश्रममें प्रवेश करनेका क्रमपक्ष दिखलाया ही गया है.

मनुस्मृति (6।86-87) के भी-"ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा...चत्वार: पृथगाश्रमा: सर्वेपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रनिषेविता यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्" वचनमें क्रमपक्षका उल्लेख मिलता है.

भागवत (11।18।11-27) में वानप्रस्थकी रीति समझाकर चतुर्थाश्रमरूप सन्यास धर्मका निरूपण भी किया गया है. इसके अन्तर्गत त्रिदण्ड- सन्यास की रीति भी समझायी गयी है: "यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु विरागो जायते सम्यङ् न्यस्ताग्नि: प्रव्रजेत्तत:" आदि वचनोंद्वारा.

इससे सिद्ध होता है कि चतुर्थाश्रमरूप सन्यास ग्रहण भी एक नियत कर्तव्यसा है.

जो "तृतोयेऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्" वचनके अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत धारण नहीं कर लेते; अथवा "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" वचनके अनुसार नैष्ठिकगार्हस्थ्यका व्रत धारण नहीं कर लेते, अथवा "अरण्यमियात् ततो न पुनरेयात्" वचनके अनुसार नैष्ठिक वानप्रस्थका व्रत धारण नहीं कर लेते, उन्हें क्रमपक्षकें अनुसार तीन आश्रमोंके बाद चतुर्थ सक्क्यासाश्रममें भी प्रवेश अवश्य करना चाहिये.

इसका अपवाद भी यद्यपि जाबालोपनिषद्में दिखलायी देता है-“यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा. अथ पुनरव्रती वा व्रती वा, स्नातको बाऽस्नातको वा, उत्सन्नाग्निरनग्निको वा. यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्”. किन्तु यह प्रकार सर्वसाधारण नहीं हैं किन्तु अतिविरक्त ब्रह्मज्ञानियोंकेलिए ही है-“एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति सक्क्यासी ब्रह्मविद् इति एवमेव एष” (वहीं). साथ ही साथ यह नहीं भूलना चाहिये ब्रह्मज्ञानी भी इस प्रकारका सन्यास अतिवैराग्यके प्रकट होनेपर ही कर सकते हैं, अन्यथा नहीं. अत: इस वचनमें प्रव्रज्यापर विधिभार नहीं हैं अपितु वैराग्यकी अनिवार्यतापर विधिभार है-“यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत” अन्यथा वैराग्यके अभावमें सन्यास नहीं लेना चाहिये. इसका वर्णन आगे चलकर ‘ज्ञानोत्तर सन्यास ” के रूपमें किया जायेगा.

चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्डधारणात्मक वैध सन्यास पूर्वोदाहृत अणुभाष्य (3।4। 17) के “सच संस्कार: फलोपकार्यगमित्यावश्यक: सक्क्यासो मर्यादामार्गे. पुष्टिमार्गे तु अन्यैव अवस्था” वचनके अनुसार मर्यादामार्गीय साधकोंकेलिए आवश्यक है ही.

चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्डधारणात्मक वैध सन्यास पूर्वोदाहृत अणुभाष्य (3।4। 17)के “सच संस्कार: फलोपकार्यगमित्यावश्यक: सक्क्यासो मर्यादामार्गे. पुष्टिमार्गे तु अन्यैव व्यवस्था” वचनके अनुसार मर्यादामार्गीय साधकोंकेलिए आवश्यक है ही.

भागवत (11।12।31-34) के-“तस्माद मद्भतियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मन: न ज्ञानं न च वैराग्यं प्राय: श्रेयो भवेदिह, यत्कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्, योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा, स्वर्गापवर्गमद्धाम कथञ्चिद् यदि वाच्छति. न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता हृयेकन्तिनो मम, वाछक्त्यपि मया दत्तं

कैवल्यमपुनर्भवम्"() इस वचनमें मोक्षकी भी स्पृहा न रखनेवाले भक्तोंकेलिए ज्ञान-वैराग्य-तप-दान-धर्म आदिकी अपेक्षा रह नहीं जाती है. अत: ऐसे पुष्टिजीवोंकेलिए चतुर्थाश्रमरूप सन्यास भी अनावश्यक ही होता है.

इसके विपरीत ज्ञान-वैराग्यके बिना चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्ड सन्यास लेकर जीनेवालोंकी भागवतमें निन्दाकी गयी है-"यस्त्वसंयतषड्वर्गो प्रचण्डेन्द्रियसारथि: ज्ञानवैराग्यरहित: त्रिदण्डमुपजीवति, सुरानात्मानमात्मस्थं निन्हुते मां च धर्महा, अविपक्वकषायोस्मादमुष्माच्च विहीयते". अत: चतुर्थाश्रमरूप त्रिदण्डधारणात्मक कर्ममार्गीय सन्यास सर्वथा शास्त्रसिद्ध एवम् शुद्ध भी होनेपर कलियुगमें बहोत अनुमोदनीय नहीं है.

पद्मपुराणमें आता ही है कि कलियुगमें भक्ति तरुणी तथा उसके दोनों पुत्र ज्ञान और वैराग्य जर्जरित हो गये हैं-"अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ ज्ञानवैराग्यनामानौ कालायोगेन जर्जरौ". अत: जीर्ण ज्ञान और जीर्ण वैराग्य वाले साधकोंसे त्रिदण्ड सन्यास के नियम निभ पाने कठिन हैं.

श्रीमहाप्रभु अतएव निषेध करते हैं-"सुतरां कलिकालत:"() कलियुगके दुष्प्रभावके कारण ज्ञानवैराग्यरहित अधिकारियोंकेलिए चतुर्थाश्रमरूप कर्ममार्गीय सन्यास वैध होनेपर भी असाध्य न सही पर दु:साध्य तो है ही. अत: सुतरां पुष्टिजीवकेलिए भी अनुमोदनीय नहीं है.

3.भक्तिसाधक श्रवणादिके निर्वाहद्वारा भक्तिकी प्राप्तिकेलिए सन्यास:

भागवत (11।20।9) के-"तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते" वचनके प्रथमालोकनसे ऐसा लगता है कि भगवत्कथा-श्रवणकेलिए यहां सन्यास का विधान किया गया है. वास्तविकता पर यह है कि इस वचनका मुख्य तात्पर्य वैराग्योदय या

कथाश्रद्धोदयके बाद कर्मत्यागके विधानमें नहीं अपितु वैराग्योदय या श्रद्धोदय पर्यन्त कर्मत्याग न करनेमें है.

अत: स्नेहात्मिका भक्तिके साधक श्रवण-कीतर्न-स्मरण-पाद सेवन-अर्चन-वन्दन-दास्य-सख्य-आत्मनिवेदनरूप नौ अङ्गोंके निर्विघ्न अनुष्ठानकेलिए सन्यास लेनेमें पांच विप्रतिपत्तियां है:
1.क्योंकि सन्यास धर्मके अनुसार व्यक्तिको निरपेक्ष और एकाकी विचरण करना चाहिये-"एक: चरेन्महीमेतां नि:सङ्ग: संयतेन्द्रिय:" (भा 11।18।20) जबकि भक्तिके नवविध अङ्ग श्रवणादिके अनुष्ठानकेलिए किसी भक्तिमान् सहयोगीके सत्सङ्गकी अपेक्षा रहती है.

2.क्योंकि श्रवणकेलिए वक्ता, कीर्तन-स्मरणकेलिए ग्रन्थ-तुलसीमाला-गोमुखी; और पादसेवन-अर्चन आदिकेलिए भगवद्विग्रह, अर्चना सामग्री पुष्प नैवेद्यादि या अर्चनापात्र आदि अनेक साधनोंकी रक्षा करनेमें चितके व्यग्र होनेकी सम्भावना रहती है. यह सन्यास के अपरिग्रहके नियमके विपरीत है-"बिभृयाच्चेन्मुनिर्वास: कौपीनाच्छादनं परं त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत्किञ्चिदनापदि (भा. 11।18।15)

3.क्योंकि सन्यास के कारण स्वयम्के ज्येष्ठ आश्रममें अवस्थित होनेका अभिमान जगता है-सभी सक्क्यासी 'स्वामिजी' बन जाते हैं! जबकि भक्तिमें दैन्य अपेक्षित होता है 'दास' बननेका. श्रवणमें तत्वनिर्धारकेलिए कभी वादचर्चा उपयोगी हो सकती है परन्तु सन्यास में वह वर्जित है-"वेदवादरतो न स्यात्" (भाग. 11।12।30) सन्यास में जीवात्मा और परमात्मा के बीच अभेदबुद्धिका अभिमान 'सोहम्' जगाना पड़ता है जबकि भक्ति 'दासोहम्' की भेदबुद्धिसे घटित होती है. भक्तिके प्रारम्भमें भगवान्के स्वामी होनेका और स्वयंके सेवक होनेका अभिमान अधिक उपयोगी होता है.

4.क्योंकि भक्तिके श्रवणादि अङ्गोंकी पुन: -पुन: आवृत्ति विहित है-“तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वर: श्रोतव्य: कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्” (भाग. 2।1।5). इसकी सुबोधिनीमें कहा गया है कि “विहिते श्रवणकीर्तने सदा भवत: त्रयाणां देहपातपर्यन्तमावृतानामेवाभयसाधकत्वम्. उत्तरावधिर्देहपात: एव. पूर्वावधि: संसारभयज्ञानम्”. यह किसी भक्तके समीप रुके बिना सम्भव नहीं है. सन्यास केलिए जबकि निरन्तर एकाकी परिभ्रमण श्रेष्ठ माना गया है-“वासे बहुनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि एकएव चरेद् भिक्षु: (भा. 11।9।10).

5.क्योंकि भक्त्यङ्गभूत श्रवणादि नवविध धर्मोका अन्तिम प्रयोजन भगवत्सेवार्थ योग्यता सम्पादित करना है और सन्यास धर्म साधकको सिद्धान्ताभिमत सेवाके स्वरूपके अयोग्य बना देते हैं.

अत: चतुर्थाश्रमरूप सन्यास या स्वतन्त्र सन्यास , वैद्य या अवैद्य, किसी भी प्रकारका सन्यास भक्तिसाधक श्रवणादिके निर्वाहार्थ अनुमोदनीय नहीं रह जाता है.

4.भक्तिबाधक गृहादिके त्यागद्वारा भक्तिकी प्राप्तिकेलिए सन्यास:

भक्तिवर्धिनीमें कहा गया था कि “गृहास्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते” अत: जब गृहस्थित सकल सम्बन्धिजन और पदार्थ भक्तिमें बाधक होते हों तो उनका परित्याग करना ही चाहिये. फलत: भक्तिकी निर्विघ्न अभिवृद्धि हो पायेगी. परन्तु भक्तिके बीज भावके दृढ़ न होनेकी स्थितिमें इस तरहके गार्हस्थ्यभीतोंका त्याग अन्तमें निरे पाषण्डमें ही कभी न कभी पर्यवसित होता है. भक्तिवर्धिनीमें भी अतएव कहा गया है कि त्यागमें दु:सङ्ग और अन्नदोष के कारण अधिक अध:पातके भयस्थान है. वही बात यहां भी तीन तरहकी विप्रतिपत्तियोंद्वारा समझायी जा रही है.

1.क्योंकि त्याग करनेके बाद भी भिक्षाटनकेलिए पुन: गृहस्थोंके द्वारपर जाना पड़ता है. ये गृहस्थदाता सन्यास लेनेवालेके परिवारसे कोई अलग ढंगके नहीं होते. इनके घरका अन्न भगवान्को निवेदित किया हुआ हो यह जरूरी नहीं. अत: ऐसे अन्नसें मति भ्रष्ट हो सकती है.
2.क्योंकि कलियुगके प्रभावके कारण सब कुछ बाहरसे छोड़ देनेपर भी यह सहज सम्भव है कि आन्तरिक आसक्ति या वासना न टूटे और व्यक्ति त्यागीके बजाय पाषण्डी बन जाये.

3.क्योंकि इस तरह त्यागका पाषण्ड करनेवाले विषयाक्रान्त व्यक्तिके देहमें कभी हरिका आवेश सम्भव ही नहीं.

अत: पुष्टिमार्गीयोंको इस तरहकी अदृढ़ बीजभाववाली भक्तिकी साधनावस्थामें आश्रमरूप या स्वतन्त्र, वैद्य या अवैद्य किसी भी प्रकारका त्याग या सन्यास नहीं लेना चाहिये, यदि भक्तिसुख लेनेकी कामना हो तो.

5.भगवद्विरहानुभावार्थ भक्त्युत्तर सन्यास :

भक्तिवर्धिनीमें भक्तिका व्यसनदशा पर्यन्त विकास दिखलाया गया है. उसके सिद्ध होनेपर, स्वगृहमें निश्चयेन भगवत्सेवाके न निभनेपर; और तीव्र विप्रयोगकी अनुभूतिमें घरबारकी झंझटोंके कारण विघ्नकी सम्भावना दिखलायी देती हो, तब गृहत्यागकी छूट दी जा सकती है. यह सन्यास बीजभावकी दृढताके बाद किया गया होनेसे कभी भी भक्तको पथभ्रष्ट नहीं करता.

भागवत (11।18।28-36) में-"ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षक: सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचर...शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया

चरेत् अन्यांश्च नियमान् ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वर". यहां चतुर्थाश्रमरूप सन्यास से भिन्न एक परित्यागकी आज्ञा स्पष्ट दिखलायी देती है.

इसी स्कन्धके बारहवें अध्यायमें भगवान्ने समझाया है-"केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो खगा मृगा येन्ये मूढ़धियो नागा: सिद्धा: मामीयुरञ्जसा, यं न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोध्वरै: व्याख्यास्वाध्यायसक्क्यासै: प्राप्नुयाद् यत्नवानपि. रामेण सार्घ मथुरां प्रणीते श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ता विगाढ़भावेन न मे वियोगतीव्राधयोन्यं ददृशु: सुखाय... तानाविदन्मय्यनुषङ्बद्धधियस्वमा
त्मानमदस्तथेदं, यथा समाधौ मुनयोब्धितोये नद्य: प्रविष्टा इव नामरूपे... तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च, मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्या हयकुतोभयम्". यहां प्रवृत्तिधर्मकी तरह निवृत्तिधर्मके भी त्यागका विधान किया गया है. भक्तिकी व्यसनदशामें प्रकट होते विगाढ़भाव या सर्वात्मभाव के द्वारा चित्तको निरन्तर भगवदेकतान बनाये रखने और उसमें तीव्र वियोगजन्य तापको सहायक माननेकी इस भगवदनुरक्तिप्रधान वैराग्यमूलक सन्यास की रीतिका ही-"मद्भक्तो... सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेद्" में विधान किया गया है.

गीता (12।6-8)में इसी सन्यास का निरूपण है-"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सक्क्यस्य मत्परा: अन्यनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसां, मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय, निवसिष्यसि मय्येव अत अर्ध्व न संशय:"

वेश:

इस प्रकारके परित्याग करते समय यदि परिवारके लोगोंका मोह अपने बारेमें टूटता न हो तो सक्क्यासीका वेश धारण कर लेना चाहिये. अन्यथा वह अनिवार्य नहीं है.

गुरु:

परित्यागके इस प्रकारमें प्रैषोच्चार आदिकेलिए किसी गुरुकी अपेक्षा नहीं है. पूर्वोदाहृत उद्धवोपदेशमें भगवान्ने गोपिकाओंके भगवदनुरागमूलक वैराग्यके वर्णनद्वारा जैसे उद्धवको भक्तिमार्गीय सन्यास की प्रेरणा दी, तदनुसार इस प्रकारके सन्यास में गुरु व्रजकी गोपिकाओंको ही मानना चाहिये. कौण्डिन्य ऋषिके चरित्र (भविष्योत्तर) में भी इस प्रकारके परित्यागका उदाहरण मिलता है. अत: वे भी गुरुतुल्य है.

साधन:

पूर्वोदाहृत उद्धवोपदेशमें जैसे भगवान्ने गोपिकाओंके सर्वपरित्यागके कारणभूत 'केवल भाव'की प्रशंसा की है, तदनुरूप इस विरहानुभवार्थ सन्यास में केवलभाव ही साधन है.

भावोद्बोधनका उपाय:

भगवान्के मथुरा पधारनेपर जैसे गोपिकाओंको तीव्र विरहानुभूतिके कारण चित्तकी निरन्तर भगवदेकतानता सिद्ध हो गयी थी, उसी तरह अपने घरके व्रजमें जब हमें भगवत्सेवाका सुख न मिल पाता हो, तब भगवान्के मथुरागमनकी भावना करना चाहिये. इस भावनाके कारण भक्तके हृदयमें गोपिकाओंकी तरह तीव्र विरहवेदना प्रकट होने लगेगी... और एकदिन अकस्मात् मन इतना विकल हो जायेगा कि भक्त घरके बाहर निकल पड़ेगा अपने भगवान्को खोजने!

यह त्याग प्रपञ्चके दोषदर्शनमूलक केवल शुष्क वैराग्यसे प्रेरित न होकर प्रभुके दिव्य मधुर गुणोंके प्रति सरस अनुरागसे प्रेरित होता है. अत: परित्यागका यह प्रकार भक्तिमार्गमें प्रशंसनीय है.

त्यागके इस प्रकारको कोई अनुचित न मान बैठे इसीलिए भगवान्ने:"चरेद् अविधिगोचर:" कहकर उत्तमाधिकारियोंकेलिए इस प्रकारके त्यागकी अनुज्ञा तथा मध्यमाधिकारियोंकेलिए आज्ञा दे दी है. अतएव यथाधिकार 'चरेद' के 'अनुज्ञा' और 'आज्ञा' दोनों ही अर्थ स्वीकारनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है. "सूर्य अस्त हो रहा है" जैसे एक ही वाक्यके दो तात्पर्य:ब्राह्मणके सायं सक्ध्यार्थ उद्यत होनेके रूपमें; और गृहिणीके सायंकालके खाना पकानेको उद्यत होनेके रूपमें, अधिकारिभेदसे ले सकते है.

गोपालतापिनी उपनिषद्में-"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनैव अमुष्मिन् मन:कल्पनम् एतदेव च नैष्कर्म्यम्" कह कर इसी भक्तिमार्गीय सन्यास का रूप 'नैष्कर्म्य' पदसे द्योतित किया गया है.

परिणाम:

इस विरहानुभवार्थ परित्यागका परिणाम किन्तु अच्छा नहीं होता! वार्ताप्रसङ्गमें इसके बारेमें एक मजेदार प्रश्न और उत्तर मिलते हैं:
प्रश्न:"तिहारे सेवक ऐसे दुबले क्यों?"
उत्तर:"बरजे हते पर मारगमें आये ताको फल पाय रहे हैं!"

विरहानुभवार्थ जो परित्याग किया जाता है उसमें तदनुरूप भावनाओंको करनेपर एक दिन विरहवेदनाकी टीस मनमें उठी; अथवा भावनाका प्रवाह बहते हुए कहीं किसी भावके सागरमें पर्यवसित हुआ कि हृदयमें प्रेमका सागर लहराने लगेगा! उसकी अनेक लहरें (चक्षूराग मन:सङ्ग समल्प निद्राच्छेद तनुता विषयनिवृत्ति त्रपानाश उन्माद मूर्छा और मरण) उठ कर आत्मा और

देह के दोनों तटबन्धोंको तोड़ देंगी! देह इन्द्रिय अन्त:करण प्राण आत्मा सभी कुछ प्रेमके पूरसे प्लावित हो जायेंगे!

यह प्रेमजन्य विकलता और अस्वास्थ्य भक्तिकी चरमप्रकृति या स्वभाव ही है. इसे लौकिक या प्राकृत अस्वास्थ्यकी तरह नहीं समझना चाहिये. यह तो परमानन्दरूप परमात्माका जीवात्माके साथ घनिष्ठ संस्पर्श हैं! एक प्रेमाद्वैतसे सारे द्वैतोंके प्लावित होनेपर भी बचा हुआ प्रियतम और प्रेमी का भगवान् और भक्त का एक मधुर द्वैत है! इसे ब्रह्मवादी शुद्धाद्वैतज्ञानकी; अथवा ब्रह्मके ज्ञानमार्गीय गुणों (यथा ब्रह्मके सर्वव्यापी होने, सर्वत्र विद्यमान होने, सर्वनिरपेक्ष आत्माराम होने, निराकार-व्यापक होने) की चर्चासे स्वयम् या अन्य कोई मिटा न दे इसकी सावधानी बरतनी चाहिये. क्योंकि यह ज्ञान तथा परमात्मा के ज्ञानमार्गीय गुण भक्तिमार्गीय भावके बाधक होते हैं.

ज्ञान-वैराग्य- सन्यास आदि विशेषताओंके कारण जैसे ज्ञानमार्गीय साधक सत्यलोकमें अवस्थित होता है, वैसे ही भक्तिमार्गीय जीव भावनाके बलपर व्यापिवैकुण्ठमें चलती भगवान्की नित्य व्रजलीलाओंमें अवस्थित हो सकता है. अत: “परमात्मा व्यापक होनेसे मथुरा नहीं जा सकता वह तो सर्वत्र विद्यमान है” ऐसी ज्ञानमार्गीय बातोंसे भावखण्डन नहीं होने देना चाहिये.

स्नेहकी जो दस अवस्थायें चक्षूरागसे मरण पर्यन्त गिनायी, उनमें दसवीं अवस्था मरण तब तक सम्भव नहीं, जब तक विरहदशा सर्वथा असह्य नहीं हो जाती. गाढ़ अनुराग और वियोग के कारण आसक्तिभ्रमन्यायसे भक्तके अन्तरमें भगवान्की सारी लीलायें अनुभूत होती रहती हैं. कभी ये लीलायें बाहर भी प्रकट हो जाती हैं. एक बार बाहर प्रकट हुई कि फिर इनका अप्रकट होना भक्तकेलिए असह्य हो जाता है. वैसा यदि कभी हो जाये तो फिर

भक्तकेलिए प्राणधारण अशक्य हो जाता है. काष्ठमें अग्नि तिरोहित रहती है. परन्तु एकबार यदि पूर्णतया प्रकट हुई तो वह बुझते-बुझते काष्ठको भी पूरी तरहसे जलाकर राख बना देती है. इसी तरह स्थायिभावके रूपमें हमारे अन्तरमें छिपे हुए परमानन्दात्मक श्रीकृष्ण यदि आलम्बन विभावके रूपमें एक बार बाहर प्रकट हो कर तिरोहित हो जाये तो सारे देहादिके बन्धन टूट जाते हैं!

इस स्थितिपर पहुंचनेसे पहले विप्रयोगमें भक्तके प्राणोंको भगवान्के गुण ही टिकाये रखते है. भगवान्के भक्तिमार्गीय गुणोंकी स्मृति अथवा कीर्तन में भक्तको जो पुन:-पुन: सन्तोष मिलता रहता है, उसीसे उसके प्राण अपने प्राणप्रिय प्रभुके सङ्गरहित होनेकी स्थितिमें भी टिके रहते हैं.

विप्रयोगानुभूतिकी इस प्रक्रियामें भगवान्के रसात्मक स्वरूपकी अनुभूति पूर्णतापर पहुंच जाती है. क्योंकि रसशास्त्रकारोंने रतिको द्विदलात्मक अर्थात् संयोग और वियोग रूप माना है. तदनुसार यह विरहानुभूति भी भगवान्के रसात्मक अनुभवका एक अङ्ग ही है. फलत: इस अनुभूतिकी अपूर्णतामें भगवान् प्रकट होकर स्वयम् भक्तकी फलप्राप्तिमें बाधा नहीं पहुंचाते हैं.

एक शमा यह उठ सकती है कि फिर उद्धवकेद्वारा स्वयम् भगवान्ने ज्ञानमार्गीय सन्देश गोपिकाओंको विरहवेदनासे स्वस्थ करनेकेलिए क्यों भेजा? इसका उत्तर यही है कि भगवान्को यह पता था कि उद्धवके ज्ञानका रङ्ग गोपिकाओंपर नहीं चढ़ेगा प्रत्युत उद्धवपर ही गोपिकाओंके प्रेमका रङ्ग चढ़ जायेगा. अतएव भगवान्के सन्देश-स्वास्थ्यवाक्योंको गोपिकाओंने स्वीकारा नहीं.

इसी तरह उनके अनुकरणपर विरहानुभवार्थ परित्याग करनेवालोंको यदि किसी ज्ञानी अथवा मर्यादामार्गीय भक्तद्वारा भावखण्डनकी बातें सुनायी जा

रही हों तो उन्हें अनसुनी कर देनी चाहिये. चाहे वे बातें वेदान्तादि शास्त्रोसे प्रामाणिक ही क्यों न हों.

इन शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी उपेक्षासे भगवान् नाराज हो जायेंगे ऐसे नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि वे दयालु है. अत: जैसे ज्ञानावेशमें शास्त्रीय मर्यादाके उल्लङ्घनका बुरा नहीं मानते वैसे ही भावावेशमें गोपिकाओंद्वारा की गयी भगवदुपदेशकी उपेक्षाका भी बुरा नहीं माना था.

प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके स्वभावसे प्रयुक्त भक्त्युत्तर सन्यास :

भक्तिमार्गीय मध्याधिकाररूप सन्यास , जिन गोपिकाओंकी लोक-वेदत्यागपूर्वक सर्वात्मभाववाली भक्तिकी भावना करते हुए किया जाता है, वह गोपिकाओंका परित्याग न तो आश्रमरूप है और न वैध ही. चतुर्थाश्रमरूप सन्यास केवल ब्राह्मण पुरुषकेलिए ही विहित है, अब्राह्मण या स्त्रियोंकेलिए नहीं. गोपिकाओंका त्याग अतएव किसी शास्त्रविधिसे प्रेरित न था किन्तु उनके चित्तकी भगवदेकतानतासे प्रयुक्त था. उनकी भगवदासक्तिके स्वभावका सहज अङ्ग था.

स्वयम् भगवान्ने उनके इस अनुरागमूलक परित्यागका वर्णन इन शब्दोंमें किया है-"ता: मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिका: ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे"() वस्तुत: गोपिकाओंका त्याग केवल प्रेमभावसे विवश होकर किया गया त्याग था. त्यागका यह प्रकार बहुत दुर्लभ हैं!

7.ज्ञानार्थ सन्यास :

पुष्टिमार्गीय जीवकेलिए ज्ञानार्थ सन्यास बहुत लाभकारी नहीं होता. ज्ञानार्थ सन्यास लेनेसे पहले पूर्वाश्रमके वेदाध्ययन, दान, यज्ञ आदि कर्तव्योंद्वारा चित्तको शुद्ध करना आवश्यक होता हैं. अन्यथा केवल त्याग

या वैराग्य से चित्तशुद्धि कलियुगमें शक्य नहीं है. जो लोग इस तरहका विविदिषा सन्यास कलियुगमें लेते हैं, या तो उन्हें बादमें पछताना पड़ता है और/अन्यथा वे सन्यास का पाषण्ड करनेमें दक्ष हो जाते है. अतएव मनुस्मृति (6।34-37) में कहा गया है कि “आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रिय: भिक्षाबलिपरिश्रान्त: प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते, ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्, अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यध:, अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य तथा सुतान् अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यध:”.

कुछ लोग कहते हैं कि यह अविरक्त विविदिषुकी निन्दा है, विरक्त विविदिषुकी नहीं. यहां विचारणीय यही है कि मोक्षेच्छासे सन्यास लेनेका निषेध किया जा रहा है और मोक्षेच्छा वैराग्यके अलावा और क्या हो सकती है? ऋृणत्रयके अपाकरणके बिना चित्तशुद्धि सम्भव नहीं-अशुद्ध चित्तमें ज्ञान, वैराग्य स्थिर नहीं हो सकते-अत: ऐसोंके द्वारा लिया गया सन्यास पश्चात्ताप अथवा पाषण्ड में ही पर्यवसित होता है.

यह बात सभी तरहके जीवोंपर लागू होती है, अत: पुष्टिमार्गीय जीवोंपर भी श्रीमहाप्रभु अतएव स्पष्ट निषेध करते हैं-“तस्माद् ज्ञाने न सक्क्यसेत्”() ज्ञानप्राप्तिके निमित्त सन्यास नहीं लेना चाहियेञ्च्इ*ञ्च्अ

(*अतएव मुण्डकोपनिषद्में-“अन्धेनैव नीयमाना: यथान्धा:”() आदिमें गृहस्थाश्रम आदिके कर्मोकी निन्दा करके भी विरक्तोंकेलिए उपदेश्य वेदान्तज्ञानके अध्यापन तथा अध्ययन का अधिकार पुन: इन्हींका ही मान्य किया है-“क्रियावन्त: श्रोत्रिया: ब्रह्मनिष्ठा: स्वयं जुह्वत: एकर्षि श्रद्धयन्त: तेषामेवैतां ब्रह्माविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्ण, नैतदचीर्णव्रतोधीते”.)

ज्ञानोत्तर सन्यास :

ज्ञानोत्तर सन्यास स्वभावप्राप्त होता है वैराग्य प्रकट होनेपर. अतएव एतदर्थ आज्ञा नहीं किन्तु अनुज्ञा उपनिषद स्मृति पुराण आदिमें मिलती ही है. जाबालोपनिषद्में-"यदि वेतरथा... यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"() वचनमें यही ज्ञानोत्तर सन्यास विवक्षित है.

फिर भी पुष्टिमार्गीय जीवोंकेलिए इस प्रकारके ज्ञानोत्तर सन्यास की, उसके फलकी तथा ज्ञानकी भी विशेष महत्ता नहीं है. अतएव भागवत् (1।5। 12) में आता है कि-"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाव
वर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्" गीता (12।2-5) में भी ज्ञानमार्गीय अव्यक्तोपासना तथा कृष्णभक्तिके तुलनात्मक महत्वका विचार करते हुए भगवान्ने ज्ञानमार्गीय अव्यक्तोपासनासे कृष्णभक्तिको उपयुक्त माना है- मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता:, ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते सर्वत्रगमचिक्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्, सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धय:, ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता: क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त
चेतसाम्, अव्यक्तता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते".

हजारों वर्षोतक ज्ञानमार्गपर यात्रा करनेके बाद कभी-कभाक जीव श्रीकृष्णकी अनन्यभक्तिकी दिशाकी ओर मुड़ पाता है-"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते, वासुदेव: सर्वमिति स माहात्मा सुदुर्लभ: (गीता 7।19) अत: कृष्णाभिमुख सुदुर्लभ महात्माओंको पुन: अधिक क्लेश देनेवाली अव्यक्तोपासनाके ज्ञानमार्गकी ओर ताकना ही नहीं चाहिये. अतएव कहा जाता है कि-"जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभि: नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्ति: प्रजायते" (पाण्डवगीता 41). अतएव ज्ञानोत्तर सन्यास लेनेवालेको सहस्रजन्मका अन्तराय कृष्णभक्तिके हेतु हो जाता है!

भक्तिमार्गमें भी दोषसम्भावना और उसका निराकरण:

जैसे दोष कर्ममार्ग और ज्ञानमार्गमें दिखलाये, यथा पाषण्ड या विषयासक्ति आदि, वे भक्तिमार्गमें भी सम्भव है!

यह आशंका अनुचित हैं क्योंकि दोषोत्पत्ति तीन तरहसे सम्भव है 1.कालके प्रभावसे 2.जीवात्माके स्वभावसे 3.परमात्माकी इच्छासे.

1.कलियुगका प्रभाव भक्तिमार्गपर नहीं पड़ता है-"पुंसां कलिकृतान् दोषान् द्रव्यदेशात्मसम्भवान् सर्वान् हरति चित्तस्थो भगवान्पुरुषोत्तम:, विद्यातप:प्राणनिरोधमैत्री तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यै: नात्यन्तशुद्धिं लभतेन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते" (भाग. 12।3।45-48)

स्वयम् भगवान् भी गीता (9।30-31)में कहते हैं-"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामन्यभाक् साधुरेव स मन्तव्य: सम्यग् व्यवसितो हि सः, क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति, कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति" अतएव उद्धवोपदेशमें भी भगवान्ने कहा है-"बाध्यमानोपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रिय:, प्राय: प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते" (भाग-11।14।12).

अत: न भक्तिके प्रारम्भमें और न उसकी प्रगल्भतामें कलिकाल अथवा विषयासक्ति भक्तिमार्गमें दोष उत्पन्न कर सकते हैं. पुराणोंमें भी तपस्वी आदिकी तरह भक्तके भटक जानेके कोई दृष्टान्त दिये न ही गये है.

2.जीवात्माकें स्वभावसे दोषोत्पत्तिकी जहां तक सम्भावना थी तो उस अवस्था तक तो भक्तिमार्गमें भी त्याग न करनेकी बात समझायी ही गयी है. भक्तिकी व्यसनदशाके एकवार विकसित होनेपर यदि गृहत्याग किया जाता है तो भटक जानेका कोई भी भय नहीं रहता. क्योकि जैसे-जैसे भक्तिका बीजभाव दृढ़ होने लगेगा वैसे-वैसे लौकिक तथा वैदिक दृष्टिसे भक्त अस्वस्थ होने लगेगा-"लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात्” (नवरत्न 6) यह पहले कहा जा चुका है. ऐसे अस्वस्थ भक्तोंमें, लौकिक अथवा वैदिक दृष्टिसे पुन: स्वस्थ बनानेवाले लौकिक कर्म या वैदिक कर्मोका त्याग एकबार कर देनेपर, जीवके स्वभाववश भी भगवद्भावमें बाधा उपस्थित होनेकी सम्भावना नही रह जाती है.
3.गोपिकाओंको ज्ञानोपदेशद्वारा स्वयम् भगवान्ने विरहव्याधिसे उबारना चाहा था. उद्धवजीको इसी हेतुसे व्रज भेजा गया था. अत: इस अवस्थामें स्वयम् भगवान् बाधा पहुंचा सकते हैं पर ऐसी आशमाका निराकरण पहले ही कर दिया गया है कि भगवान्को पता था कि उद्धवके ज्ञानोपदेशसे व्रजभक्तोंके भावखण्डन होनेके बजाय स्वयम् उद्धवका ज्ञानाभिमान खण्डित हो जायेगा. अत: इस विरहव्याकुलताकी भावतन्मयतामें परमात्मा बाधा पहुंचाता हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये.

भक्तिके बीजभावको आत्मामें रोपित कर-सत्सङ्गादिके अवसरद्वारा उसे सिञ्चित कर-प्रेमात्मना अमुरित कर-आसक्तिके रूपमें पल्लवित कर-व्यसनके रूपमें जब फल परिपक्व होने जा रहा हो तब इस भक्त-मनोरथपूरक भक्तिके कल्पद्रुमको काट देना
स्वयम् हरिके भी बसकी बात नहीं है! फिर काल-कर्म-स्वभावको तो क्या बिसात?

अपने स्तनका दूध पिला-पिलाकर जिस बच्चेको पाल-पोसकर बड़ा किया हो उसे कौन मां खतम होने देगी!

अत: ज्ञानियोंके वाक्यसे भगवान् भक्तोंमें मोह उत्पन्न करते हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये. क्योंकि भागवत् (4।31।12-13) में-“किंवा योगेन साङ्ख्येन न्यासस्वाध्यायोरपि, किंवा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरि: श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थत:, सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मात्मद: प्रिय:” अर्थात् योग साङ्ख्य सन्यास स्वाध्याय या अन्य भी सारे श्रेय:साधनोंको करनेसे

कोई लाभ नहीं, जिनके करनेपर भी हरि आत्मप्रद नहीं होते हों. क्योंकि सारे श्रेयकी अवधि आत्मा होती है और प्राणियोंकेंलिए हरि आत्मरूप आत्मप्रद तथा प्रिय हैं. ऐसी स्थितिमें सर्वदा भक्तपराधीन: रहनेवाले प्रभु-"अहं भक्तपराधीन: ह्यस्वतन्त्र इव द्विज:... नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तै: साधुभिर्विना" (भाग. 9।4।63-64), अपने भक्तोंको न तो स्वयम् मोहित करेगें और न ज्ञानियोंकें वचनसे मोहित होंने देंगे.

अत: बीजभावके दृढ़ होनेपर-भक्तिकी व्यसनदशामें-स्वगृहमें भगवत्सेवा जो न निभ पाती हो-तो ऐसी स्थितिमें गृहका परित्याग कर देना चाहिये. अन्यथा ऐसे घरमें रहनेसे कभी भावका उपशमन भी हो सकता है. भक्त अपने स्वार्थ-अपने प्रभुके रसात्मक अनुभवके लाभ-से वञ्चित हो सकता है. यह श्रीमहाप्रभुका दृढतर अभिप्राय है.

उपसंहार:

इस तरह श्रीकृष्णके प्रसादसे महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा किया गया सन्यास निर्णय कि वह भक्तिके दृढ़ होनेपर ही लिया जा सकता है-अन्यथा ज्ञानमार्गीय या कर्ममार्गीय रीतिसे पुष्टिमार्गमें सन्यास लेना, पुष्टिसोपानोंपर आरोहण करते हुए अध:पतित होनेका कारण बनेगा, पूर्ण हुआ.

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. 1974 में प्रकाशित संस्करणका ओफसेट प्रोसेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. उस संस्करणके सम्पादक थे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास सांकलिया. पोरबन्दरके गोस्वामी 10008 श्रीजीवनलालजी महाराजके आर्थिक सहयोगसे वह संस्करण प्रकाशित हुआ था. इन सभी महानुभावका हम इस पुन: प्रकाशनके अवसरपर हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

:

॥ सन्यास निर्णय: ॥

टीका : पश्चात्तापकी निवृत्तिकेलिये परित्यागको विचार कियो जाय हे. यहां भक्तिमार्गीय जो परित्याग हे तासूं दूसरे सर्वपदार्थनको विचार करिके त्याग करनो. एसो विचार किये बिना परित्याग कियो होय तासूं जो पश्चात्ताप होय ताकी निवृत्तिकेलिये भक्तिमार्गीय-परित्यागके विचारको प्रारम्भ करत हें, एसें कोउ कहत हें.

दूसरे एसें कहत हें जो कर्ममार्गीयनकु वृद्धपनो होय तोहु संसारसूं वैराग्य होयवेको सम्भव होय नाहीं हे, तासूं एसे कर्ममार्गीयनके सङ्गकरिके कदाचित् भगवदीयहु एसें न होय जांय ताके सुखरूप जाको उपाय हे एसे सन्यास के निरूपणकी प्रतिज्ञा हे —— एसें कहिके, शरीर अशक्त होय तब पूर्वदशाको स्मरण करिके वाके मनमें एसो विचार होय जो मेनें प्रथमतेंही भगवानकेलिये क्यों यत्न न कियो? एसो जो भगवदीयनकु ताप होय सोही यहां 'पश्चात्ताप' शब्दसूं कह्यो जाय हे.

कितनेक एसे कहे हें जो भक्ति ओर ज्ञान मार्गमें साधनदशामें ओर सिद्धदशामें कर्तव्यपनेसूं परित्याग कह्यो हे. तामें साधनदशामें पूर्ण वैराग्य नाहीं होयवेसूं आछी भांति परित्यागको सम्भव नाहीं हे, तासूं पाषण्डिपनेके प्रसङ्गकरिके पश्चातापकेलियेही यह परित्याग होय एसो तारतम्य नाहीं जानते होंय एसे भगवदीयहु प्रथम परित्याग करिके पीछे तापयुक्त होंय. तेसें एसे तत्पर भगवदीयनकु देखिकें श्रीआचार्यचरण पश्चात्तापकुं प्राप्त होंय एसें दोउ प्रकारको पश्चात्ताप नाहीं होयवेकेलिये यह प्रतिज्ञा हे.

कितनेक एसें कहत हें जो निबन्धमें आचार्यचरणनने त्रिदण्ड धारण करिवेकी आज्ञा करी हे सो बांचिके पुष्टिमार्गीय जीवहु सक्क्यासाश्रमपनेसूं त्रिदण्डको ग्रहण करिके

पश्चात्तापकुं प्राप्त होय ताकी निवृत्तिकेलिये पुष्टिमार्गीय सन्यास के विचारको आरम्भ करत हें.

कितनेक तो एसें कहत हें जो श्रुतिप्रभृति प्रमाणकरिके सिद्ध एसे रसात्मक जो भगवान् ताको विरहात्मक भावको जो अनुभव सो सर्वात्मभावकरिके शरणागति होय तबही प्राप्त होय सो सर्वपरित्याग बिना होय नाहीं एसो त्यागको स्वरूप नाहीं जानिवेवारे जो पुष्टिमार्गीय जीव हें तिनकुं ज्ञानादिक मार्गनमे हु परित्याग कह्यो हे. तासूं संदेहयुक्त होंय विनकुं विनाविचारसूं परित्याग भयो होय सो पश्चात्तापकेलियेही होय, ताके अभावकेलिये विचारको आरम्भ हे—— एसें कहत हें.

ओर श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजने तो एसो अभिप्राय कह्यो हे जो अन्तःकरणप्रबोधमें जो 'पश्चात्ताप' ओर 'परित्याग' पदको लेख हे सो जा अभिप्रायसूं हे सोही अभिप्राय यहां लेनो चाहिये. सो अभिप्राय एसो दीसे हे जो प्रभूनने देह ओर देश के परित्याग विषयक जब श्रीआचार्यचरणनकु आज्ञा करी तब पुर:स्फूर्तिक विचारकरिके श्रीआचार्यचरणनने जब वाको पालन नाहीं कियो. तब आपकुं पश्चात्ताप भयो. तब लोकत्याग विषयक तीसरी आज्ञा भई ता समय आप विचार करत हें जो भगवान् मेरी उपर प्रसन्न हें किंवा अप्रसन्न हें? जो अप्रसन्न होंय तो मेरी उपेक्षाही करें, परन्तु आज्ञा नाहीं करें. ओर यहां तो तीसरी आज्ञा भई तासूं प्रसन्न हें एसो तो निश्चय होय हे. परन्तु प्रथम दोय आज्ञाको उल्लंघन कियेसूंहु प्रसन्न रहिवेको कहा कारण होयगो? एसो विचार करिवे लगे तब श्रीभागवत्की सूक्ष्मटीकाकी निवृत्ति भई, तासूं दानरूप-देशत्याग ओर माधवभट्ट काश्मीरीकी देहनिवृत्तिसूं वृद्धिरूप-देहत्याग प्रभूनने ही करवायो हे. तासूं प्रथमकी दोउ आज्ञा प्रभुनने ही सिद्ध करी दीनी हे. तेसें तीसरी आज्ञाको अभिप्रायहु जानिवेमें नाहीं आवत हे एसो निश्चय करिके, यद्यपि दोय आज्ञा सिद्धभई हे तथापि प्रभूनने सिद्ध करी हे कछु आपने नाहीं करी, तासूं जो पश्चाताप भयो हे ताकी निवृत्ति केसें होय? एसो विचार करिके तीसरी आज्ञा कहा विषयकी हे? एसे विचारसूंही प्रथमकी दोय आज्ञा नाहीं करिवेको पश्चात्ताप भगवान् निवृत्त करेंगे एसो निश्चय करिके अपनी अवस्थाके सूचन पूर्वक परित्यागके निरूपणकी प्रतिज्ञा करत हें :

पश्चात्ताप-निवृत्त्यर्थं परित्यागो विचार्यते॥

पश्चात्ताप-निवृत्त्यर्थं=पश्चात्ताप दूरि करिवेके अर्थ
परित्यागः=सम्पूर्ण त्याग, विचार्यते
=बिचारत हें

भावार्थ : पश्चात्तापकी निवृत्तिकेलिये जो परित्याग हे ताको विचार कियो जाय हे.

टीका : अथ श्रीआचार्यचरण सन्यास निर्णयग्रन्थको प्रारम्भ करत हें. यहां विचारको लिख्यो हे तासूं विधि-निषेध नाहीं हे. यदि विधानकी आज्ञा करते तो विधि-निषेधसूं सबनकु कर्तव्यपनो आवतो तासूं विधानकी नाहीं करिके विचारकी आज्ञा करी हे.

स्वरूपसूं, साधनसूं ओर फलसूं भक्तिमार्गीय सन्यास तथा अन्यमार्गीय सन्यास पृथक्तया जानिवेमें आवे तो अन्यमार्गीय त्यागको स्वरूप तथा यहां जाको विचार होय हे ताको तारतम्य जान्यो जाय ताकेलिये प्रथम अन्यमार्गीय त्यागकुं कहत हें:

स मार्गद्वितये प्रोक्तो भक्तौ ज्ञाने विशेषतः ॥1॥

सः=वो
विशेषतः=विशेषकरिके
भक्तौ=भक्तिमें (च=ओर)
ज्ञाने=ज्ञानमें (इति=एसें)
मार्गद्वितये=दो मार्गमें
प्रोक्तः=कह्यो हे

भावार्थ : सो त्याग भक्तिमार्गमें ओर ज्ञानमार्गमें विशेषकरिके एसें दोय मार्गनमे कह्यो हे.

टीका : विशेषसूं त्याग, पुष्टिमार्गमें रासमण्डलमण्डनभूत जो व्रजभक्त हें विननेंही कर्यो हे. तासूं “सब विषयनकु छोडिकें हम आपके चरणारविन्दके मूलप्रति प्राप्त भये हें” एसें फलप्रकरणके प्रथमाध्यायमें व्रजभक्तनने कह्यो हे. ओर विनकी लीलामेंही

चतुर्थाध्यायमें व्रजभक्तन् प्रति प्रभूनने कह्यो हे जो “मेरेलियेही लोक वेद ओर सम्बन्धीन् को तुमने त्याग कियो हे” वहां विशेषसूं त्याग कह्यो हे.

तेसेंही ज्ञानमार्गमेंहु परित्याग विशेष(रूप)सूं कह्यो हे. तामें एक विविदिषा-सन्यास ओर एक विद्वत्-सन्यास एसे भेदसूं ज्ञानमार्गके शास्त्रमें निरूपण कियो हे. तासूं ‘विशेषतः’ एसें कह्यो हे॥1॥

ज्ञान, कर्म ओर भक्ति एसें तीन मार्ग एकादशस्कन्धमें भगवानने कल्याण करिवेवारे कहे हें तामे कर्ममार्गहु गिन्यो हे. तासूं कर्ममार्गमेंहु परित्यागकी प्राप्ति होय हे एसी आशङ्का करिके ताको निषेध करत हें:

कर्ममार्गे न कर्तव्यः सुतरां कलिकालतः॥
अत आदौ भक्तिमार्गे कर्तव्यत्वाद् विचारणा॥2॥

कर्ममार्गे=कर्ममार्गमें
कलिकालतः=कलिकालहोयवेसूं
सुतरां=विशेष करिके
न=नाहीं
कर्तव्यः=करिवे योग्य हे
अतः=या कारणसूं
भक्तिमार्गे=भक्तिमार्गमें
आदौ=प्ररम्भमें
कर्तव्यत्वात्=करिवेयोग्य होयवेसूं
विचारणा=विचार(क्रियते=करेहें)

भावार्थ : कलिकाल होयवेसूं कर्ममार्गमें तो परित्याग कर्त्तव्य नाहीं हे. अब दोय मार्ग रहे, तामें प्रथम भक्तिमार्गमें कर्त्तव्यपनो होयवेसूं ताको विचार होय हे.

टीका : इतनें, कर्ममार्गमें यावज्जीवन अग्निहोत्र करिवेको विधि होयवेसूं सन्यास ग्रहणकरिवेको समय नाहीं आवत हे. यद्यपि “आयुष्यको चतुर्थभाग सक्क्यासाश्रम करिके व्यतीत करनों” एसें कोउ स्थलमें कह्यो हे, तथापि कलिदोषकरिके मनुष्यनको

अल्पसामर्थ्य होयवेसूं ओर चतुर्थभाग आयुष्यको अतिजराव्याप्त होयवेसूं आश्रमधर्म अतिकष्टसूंहु सिद्ध होई सके नाहीं. तासूं विपरीतफलसाधकपनो होय. एसें ज्ञानमार्गमें कर्त्तव्यता ओर कर्ममार्गमें अकर्तव्यता जतायकें भक्तिमार्गमें कर्त्तव्यप्रकारको विचार करत हें.

भक्ति ओर ज्ञान एसें दोय मार्गमें कर्त्तव्यता कही हे. तामें प्रथमश्लोकमें प्रथम भक्तिमार्गमें कर्त्तव्यता कही हे तासूं ताको विचार करत हें. इतनें, (परित्याग) कब करनो? केसें करनो! ओर क्यों करनो? ताको विचार करत हें॥2॥

भक्तिमार्गमें श्रवणादि-साधनकी सिद्धिकेलिये कर्तव्यके पक्षको निराकरण करत हें:

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते॥
सहाय-सङ्गःसाध्यत्वात् साधनानां च रक्षणात्॥3॥
अभिमानान् नियोगाच्च तद्धर्मैश्च विरोधतः॥
गृहादेर् बाधकत्वेन साधनार्थं तथा यदि॥4॥
अग्रेऽपि तादृशैरेव सङ्गो भवति नान्यथा॥
स्वयं च विषयाक्रान्तः पाषण्डी स्यात्तु कालतः॥5॥

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं=श्रवण आदि
आछिभांतिसों होसके तदर्थ
सः=वो, कर्तव्यः=करिवे
योग्यहे(एसो), चेत्=यदि
(उच्यते=कहो), न=नाहीं
इष्यते=इच्छवेयोग्यहे(क्यों?)
सहाय-सङ्गःसाध्यत्वात्=सहायता
आकारण
(एवं=या तरहसूं)
तद्धर्मैः=वा धर्मन्सों
विरोधतः=विरोध होयवेसूं
(स=वो; न=नाहीं;
कर्तव्यः=करिवे योग्य हे)
गृहादेः=घर आदिके

बाधकत्वेन=बाधक होयवेसूं
यदि=जो,साधनार्थं=साधनकेअर्थ
(सः=वोसन्यास ;तर्हि=तो)
तथा=वा प्रमाण(न कर्तव्यःयतः=न करनो,क्योंके)अग्रे=आगे,
अपि=हु, तादृशैः=वेसेनको
एव=ही, सङ्गः=सङ्ग
भवति=होय हे
अन्यथा=ओर प्रकारकेनको
न=नाहीं, तु=ओर
कालतः=कालसों
विषयक्रान्तः=विषयमें आसक्त
स्वयं=खुद, च=हु
पाषण्डी=पाखण्डी, स्यात्=होय

भावार्थ : श्रवणादिकनकी प्रवृत्तिकेलिये त्याग करनो एसो पक्ष होय तो सो पक्ष योग्य नाहीं हे. क्यों जो श्रवणादिनकी सिद्धि सहाय ओर सङ्ग सूं होत हे. ओर त्याग (सन्यास)में तो वाके साधन राखने चहिये, तासूं श्रवणादिकनके साधन होय सके नाहीं. आश्रमकी उत्तमताको अभिमान होय ओर सन्यास के धर्मन्सों भक्तिमार्गके श्रवणके धर्मको विरोध हु हे, तासूं श्रवणादिक होय सके नाहीं. ओर गृहादिकके वाधकपनेसूं साधनकेलिये परित्याग करनों एसें जो होय तो त्याग किये पीछेहु एसेनको ही सङ्ग होय, दूसरेनको होय नाहीं. ओर आप कालसूं पाषण्डी होय.

टीका : इतनें, “जो त्यागी होय सो अकेलो निःसङ्ग शान्त होयके फिरे” एसो शास्त्रमें लेख हे. ओर श्रवणादिक करिवेमें सहाय तथा सङ्ग अवश्य चहिये तब श्रवणादिक होय सके. ओर त्याग करिवेमें जाको सङ्ग मिले सो अपने मार्गके अनुसार श्रवणादिक बतावे, पुष्टिमार्गीय श्रवणकुं तो बतावे नाहीं. जेसें :

मायावादी सगरे जगतकुं कल्पित मानिवेवारे होयवेसूं जगतमें रहे एसे वेदनकु हु कल्पित मानत हें. ओर वेदनमे ब्रह्मके जो गुण प्रतिपादित हें सोहु व्यवहारोपयोगी हें,

परमार्थमें नाहीं हें तासूं मायावादी भक्तिमार्गसूं विरुद्ध हें.

नैयायिकनके मतमें जगत्के कर्तापनेंसूं तो ईश्वरकी सिद्धि हे तथापि ज्ञान, इच्छा ओर प्रयत्नादिसूं अतिरिक्त दूसरे धर्म ईश्वरमें हें एसें वे नाहीं मानत हें. तासूं वेहु भक्तिमार्गसूं विरुद्ध हें.

मीमांसक मन्त्रमयी देवता मानत हें. फल देयवेवारो ईश्वर हे एसें नाहीं मानत हें. तासूं मीमांसकनके मतमें तो श्रवणादिक हे ही नाहीं.

——एसें भिन्न-भिन्न मतवारेनको सङ्ग होयवेसूं भक्तिमार्गीय श्रवण सिद्ध होय नाहीं.

ओर शास्त्रविहित सन्यास आश्रमको अङ्गीकार करिके भक्तिके अर्थ परित्याग करे तब तो सन्यास आश्रमके धर्मनको पालन आवश्यक होय जाय. तब तो वामेंही सर्वकाल व्यतीय होय जाय. इतनें श्रवणादिक करिवेको समयही मिले नाहीं. तेसें सक्क्यासाश्रम सबनमे आदरणीय हे. तासों अपनेमें श्रेष्ठताको अभिमान होय, सोहु भक्तिमार्गसूं विरोधी हे. तेसेंही सक्क्यासाश्रम शास्त्रकी आज्ञाके आधीन हे. ओर सन्यास के धर्म तथा भक्तिमार्गीय श्रवणके धर्मनमे परस्पर विरोध हे. तासूं श्रवणादिकनकी सिद्धिकेलिये सन्यास करनो ये पक्ष योग्य नाहीं हे.

कदाचित् भक्तिमार्गीय श्रवणादिकके स्वरूपकुं जो जानतो होय ताकुं गृहस्थितिमें व्यासङ्गकरिके श्रवणादिक होय नाहीं एसे कारणसों त्याग करे तो वाकुहु साधनदशामें जेसो पूर्णभाव भक्तिमार्गमे चहिये वेसो नाहीं होयवेसूं निरन्तर श्रवणादिक होय सके नाहीं. ओर चितकी चञ्चलतासूं एतन्मार्गसूं जो विजातीय होंय विनसूंही सङ्ग होय. ओर जिनकुं भगवद्भाव न होय विनको चित्त विषयाक्रान्त होयवेसूं सेसेनको सङ्ग, अल्पसमय होय तोहु, प्रथमके भावको नाश करिके अपनकु हु विषयाक्रान्त करिवेको सम्भव होय. इतनें प्रथमके भावको निर्वाह नाहीं होयवेसूं त्याग कियो सोहु मुख्यफलकुं सिद्धकरिवेवारो भयो नाहीं. तासूं भक्तिमार्गके विचारमें त्याग करिवेवारो कालक्रमसूं पाषण्डी होय॥3-5॥

यद्यपि भावकी स्थितिमें दुःसङ्ग बाधक हे तथापि भावकी स्थितिकेलियेही त्यागको उपक्रम कियो हे तासूं दुःसङ्ग होयगो तोहु भाव रहेगो एसो पक्ष कोउ कहेतो ताके निराकरणकेलिये अब कहतहें:

विषयाक्रान्त-देहानां नाऽऽवेशः सर्वदा हरेः॥
अतोऽत्र साधने भक्तौ नैव त्यागः सुखावहः॥6॥

(किञ्च=ओर)
विषयाक्रान्तदेहानां=
विषयमें आसक्त देहवारेनको
हरेः=श्रीकृष्णको
आवेशः=आवेश
सर्वदा=सब समयमें
न=नाहीं,
अतः=यासूं
अत्र=यहां, भक्तौ=भक्तिमें
साधने=साधनमें
त्यागः=त्याग
सुखावहः=सुखकारक
न=नाहीं, एव=ही

भावार्थ : विषयकरिके जिनको देह आक्रान्त हे तिनकुं सर्वदा हरिको आवेश न रहे. (मूलमें 'सर्वथा' पाठ होय तो हरिको निश्चय आवेश न रहे, एसो अर्थ समजनों) तासूं साधनरूप भक्तिमार्गमें अथवा भक्तिमार्गकी साधन दशामें त्याग सुखकुं देवेवारो नाहीं होय हे.

टीका : इतनें नेत्र प्रभृति सर्वइन्द्रियनके रूप प्रभृति सब विषय हें. तिनकरिके जिनको देह व्याप्त हे तिनकुं (विषयको आवेश हृदयमें होयवेसूं) हरिको सर्वदा आवेश नाहीं होय हे. क्यों जो इन्द्रियनके विषयमें आसक्ति होय सो प्रभुके आवेशमें बाधक हे. तासूं श्रवणादिक जो साधनरूप भक्ति हें ता(अवस्था)में त्याग करे सो पुरुषार्थकुं सिद्ध करिवेवारो न होय. मूलमें 'एव'कार हे तासूं सर्वथा पुरुषार्थको असाधकपनो कह्यो हे॥ 6॥

तब भक्तिमार्गमें त्याग कहिवेको प्रयोजन नाहीं होयवेसूं त्यागकी व्यर्थता होय हे एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

विरहानुभवार्थं तु परित्यागः प्रशस्यते॥
स्वीयबन्ध-निवृत्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा॥7॥

विरहानुभवार्थं=विरहको
अनुभवकरिवेके अर्थ, तु=तो
परित्यागः=त्याग
प्रशस्यते=प्रशंसा योग्य हे
च=ओर, सः=वो
वेषः=वेष (अपि=भी)
अत्र=यहां
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थे=स्वीयजनन्के
बन्धनकुं निवृत करिवेके अर्थ
अन्यथा=अन्यप्रकारसों, न=नाहीं

भावार्थ : भगवान्के विरहके अनुभवकेलिये तो त्याग उत्तम कह्यो हे. ओर त्यागमें काषाय वस्त्रादिक वेष हें सो अपने सम्बन्धीन्के बन्धनकी निवृत्तिकेलिये हे, अन्यथा नाहीं हें.

टीका : इतनें पुष्टिमार्गीय परित्याग सम्पूर्ण भगवद्भाव भये पीछे होय. क्यों जो भगवान्के विरहको अनुभव तो संयोगसुखको अनुभव भयो होय तब वियोगमें होय. तासूं प्रथम भावपूर्वक भगवान्के श्रीमुखको दर्शन करतो होय, ओर श्रीअङ्गकी सेवा करतो होय, तामें जो आनन्द प्राप्त होतो होय सो वियोगमें दर्शन तथा सेवा को सुख नाहीं मिलवेसूं विरह होय ताको अनुभव करिवेकेलिये गृहादिकको त्याग करे सो उत्तम हे. एसे त्यागमें शुद्धपुष्टिमार्गीय भाववारो होय सोही अधिकारी हे. एसो पूर्णभाववारो जो होय ताकुं सर्वात्मभाववारे जो भक्त हें तिनके सम्बन्धवारी जो रासादिकलीला हे ताको विचार अवश्य होय. ताकरिके ओर ये लीला परमफलरूप हे ताकरिके पूर्व कहे एसे भक्तकुंहु एतन्मार्गीयपनो होयवेसूं एसो फल मिलवेकी अत्यन्त

अभिलाषा होय परन्तु या समयमें वाकी अभिलाषा पूर्ण होय नाहीं ओर पूर्ण करिवेवारेको दर्शनहु होय नाहीं तासूं विरह अवश्य होय. ओर गृहमें जो मनुष्य रहे होंय सो विजातीयभाववारे होयवेसूं विनको सङ्ग याके भावको नाश करिवेवारो होय, ताकरिके विरहको अनुभव होय नाहीं. तासूं गृहको त्याग करनो आवश्यक हे. ओर वाको त्याग जतायवेकेलिये काषायादिक त्यागके वेषकी कल्पना(=व्यवस्था) हे. इतनें, यदि सन्यास को वेष न होय तो स्त्री-पुत्रादिक आयकें प्रतिबन्ध करें. ओर वेष (सक्क्यासिको धारण) कियो होय तो स्त्री-पुत्रादिक देखिकें "ये तो सक्क्यासी होय गयो हे" एसें जानिके दूर रहे तो प्रतिबन्ध करि सके नाहीं. तासूं सक्क्यासीको वेष हे, ओर कछु प्रयोजन नाहीं हे॥7॥

मर्यादामार्गमें तथा पुष्टिमार्गमें गृहको त्याग समान हे तथापि मार्गके भेदको निरूपण करिवेकेलिये त्यागको निमित्त भिन्न बतायकें गुरू ओर साधन को निरूपण करत हें:

कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तत्॥
भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यद् इष्यते॥8॥

कौन्डिन्यः=कौण्डिन्य ऋषि
(च=ओर)गोपिकाः=गोपिजन
गुरवः=गुरु, प्रोक्ताः=कहेगयेहें
च=ओर, तत्=वो
साधनं=साधन
(तदाचरितमेव इति अर्थः=
विनके आचरणही हें एसो अर्थ हे.
किं तत्=वो साधन कहा हें?)
भावनया=भावनासूं
सिद्धः=सिद्ध भयो
भावः=भाव(हे)
अन्यत्=दूसरे
साधनं=साधन
न=नाहीं, इष्यते=अपेक्षितहें

भावार्थ : कौण्डिन्य ऋषि ओर श्रीगोपीजन त्यागके गुरु* कहे गये हें. ओर साधनहु यह हे जो भावनाकरिके भाव सिद्ध होय, ओर साधन इच्छित नाहीं हे.

टीका : इतनें कौण्डिन्य ऋषि अनन्तव्रतके प्रसङ्गमें निरूपित हें ओर श्रीगोपीजन तो प्रसिद्ध हें तासूं विशेष प्रकार नाहीं कह्यो हे.

यद्यपि कौण्डिन्य ऋषि मर्यादामार्गीय होयवेसूं ओर विनकुं एतन्मार्गको ज्ञान नाहीं होयवेसूं उपदेष्टृपनो नाहीं हे, तासूं गुरुपनो सम्भवे नाहीं, तथापि दत्तात्रेयकी नांई वैराग्यमें उपयोगी एसे विनके धर्म शिखवेसूं जेसें दत्तात्रेयनें पृथ्वी प्रभृतीनको गुरुपनेमें अङ्गीकार कियो हे तेसें कौंडिन्यकुं अनन्तके गुणको श्रवण करिके विनकुं मिलवेकेलिये आर्त्ति भई. तासूं विप्रयोगभाव भयो, ताकरिके विकलता होयवेसूं प्रश्न करिवेकुं अयोग्य एसे वृक्षादिनकु हु प्रश्न करिवे लागे. एसें कौंडिन्यको त्याग ओर एतन्मार्गीय-त्याग समान हे तासूं कौंडिन्यमें गुरुपनो कह्यो हे.

ओर श्रीगोपीजनन्हु उपदेश करिवेवारे नाहीं हें तथापि मार्ग प्रकट करिके ओर विनके भावके अनुकूल आचरण करिके ओर पञ्चाध्यायीमें देह प्रभृतीनको विरहसूं त्याग करिके प्रभून्नके समीप गये हें एसो त्याग यहां हु अभीष्ट होयवेसूं विन गोपीजननको गुरुपनो कह्यो हे. ओर अपनेमें श्रीगोपीजननके भावके अनुरूप भावनाकरिके सिद्ध भयो जो भाव ताको साधनपनो उचित हे. दूसरो (दानव्रतादिक)को साधनपनो इच्छित नाहीं हे॥9॥

एसो भाव उत्पन्न भये पीछें जो अवस्था होयवेवारी हे जो बुद्धिकुं फिराई देय तब दुःखके कारणरूप होय, ताकरिके प्राकृतपनो होय जाय एसी आशङ्का को परिहार विनके भावके स्वरूपको निरूपण करिके करत हें:

विकलत्वं तथाऽस्वास्थ्यं प्रकृतिः प्रकृतं नहि॥
ज्ञानं गुणाश्च तस्यैवं वर्तमानस्य बाधकाः॥9॥

विकलत्वं=विकलता
तथा=ओर
अस्वास्थ्यं=अस्वस्थता

(विरहस्य=विरहको)
प्रकृतिः=स्वभाव हे
(तत्=वो)प्राकृतं=प्रकृत
न=नाहीं,
हि=ही हे
ज्ञानं=ज्ञान, च=ओर
गुणाः=गुण, एवं=एसें
वर्तमानस्य=बरतवेवारेकुं
तस्य=विनकुं
बाधकाः=बाधक हें

भावार्थ : विकलपनो तथा अस्वस्थपनो विकलभावकी प्रकृति हे, प्राकृतपनो नाहीं हे. ओर एसे भावमें जो रह्यो हे ताकुं ज्ञान तथा गुण बाधक हें.

टीका : इतनें, जाकु विप्रयोगभाव भयो हे ताकुं विकलता होय, दूसरे काउस्थलमें स्वस्थता न रहे. सो वाके स्वाभाविक धर्म हें, लौकिक नाहीं हे. सो अर्थ युक्त हे एसें जतायवेकेलिये 'हि' अव्यय लिख्यो हे. क्यों जो एकादशस्कन्धमें ज्ञानके निरूपणके प्रस्तावमेंहु "कैवल्यादिक ज्ञानकुंहु सगुणपनो हे" एसें निरूपण करिके "मेरेमें जो ज्ञान रह्यो हे सो निर्गुण हे" एसें कहिकें स्वविषयक ज्ञानको निर्गुणपनो कह्यो हे. जहां मर्यादामार्गमेंहु भगवान्के सम्बन्धिपनेसूं वस्तुको निर्गुणपनो हे तहां साक्षात् सबनसूं अधिक एसे भक्तिमार्गसम्बन्धि भगवद्भावसूं जो धर्म होय हें तिनकुं निर्गुणपनो होय तामें कहा कहेनो? एसो अभिप्राय 'हि' अव्ययसूं सूचित होय हे.

तहां शङ्का होय जो भगवान्के सम्बन्धसूं निर्गुणपनो भले होय तोहु विप्रयोगभावको दुःखात्मकपनो होयवेसूं सबनसूं उत्कृष्टपनों क्यों? एसी शङ्का होय ताको समाधान एसें करनो जो पुरुषोत्तमको स्वरूप रसात्मक हे. ओर रस, संयोग तथा विप्रयोग एसें दोय प्रकारको होयवेसूं विप्रयोगकुंहु रसपनोही हे. तासूं जेसें शोकसूं अश्रु आवें ताकुं दुःखरूपपनो ओर आनंदसूं अश्रु आवे ताकुं सुखरूपपनो हे, तामें अश्रुपनो समान हे तथापि फल समान नाहीं हे तेसें विप्रयोगकुं दुःखरूपपनो नाहीं हे.

एसी विकल अवस्थामें रह्यो एसो विप्रयोगकी भावनावारो जो हे ताकुं सर्वजगत् भगवानको शरीर हे एसो ज्ञान, श्रवण-कीर्त्तन तथा ज्ञानके विषयरूप भगवानके गुण हु बाधक होत हें. इतनें अन्तःकरणमें विप्रयोग भाव रह्यो होय सो सर्वजगत् भगवानको शरीर हे ओर सर्वत्र भगवान् विराजे हें एसे ज्ञानसूं जात रहत हे. तेसें श्रवण-कीर्त्तनादिकके विषयरूप जो भगवानके गुण तासूं भगवानके विरहकरिके जो विह्वलता भई होय सोहु जात रहत हे. एसें ज्ञान ओर गुण को बाधकपनो हे तेसें लौकिक ज्ञान ओर मनकी स्वस्थताके कारणरूप गुणहु विप्रयोग रसके अनुभव तथा फलमें प्रतिबन्धक हें॥9॥

ज्ञानमार्गमें ओर भक्तिमार्गमें घरको त्याग तो समान हे तब ज्ञान तथा मनकी स्वस्थताकुं ज्ञानमार्गमें साधकपनो हे तब भक्तिमार्गमें बाधकपनो केसें? एसी शङ्का के समाधानकेलिये फलभेदकरिके समाधान करत हें:

सत्यलोके स्थितिर् ज्ञानात् सक्क्यासेन विशेषितात्॥
भावना साधनं यत्र फलं चाऽपि तथा भवेत्॥10॥

सक्क्यासेन=सन्यास के द्वारा
विशेषितात्=विशेषभये
ज्ञानात्=ज्ञानसूं
सत्यलोके=सत्यलोकमें
स्थितिः=स्थिति
(भवति=होय हे)च=ओर
यत्र=जहां(यादृशी=जेसी)
भावना=भावना
साधनं=साधन
(तत्र=तहां)
फलं=फल, अपि=हु
तथा=वा प्रकारको
भवेत्=होय हे

भावार्थ : सन्यास सूं उत्तमताकुं प्राप्तभयेः ज्ञानसूं सत्यलोककी गति मिले हे. क्यों जो जा मार्गमें जेसी भावना साधन होय वासूं फलहु वेसोही मिले हे.

टीका : सन्यास करिके विशेष भयो एसो जो ज्ञान तासूं सत्यलोकमें स्थिति होत हे. इतनें, ब्रह्म सर्वत्र व्यापक हे एसो ज्ञान होय ओर वाके सङ्ग सन्यास हु होय तब ब्रह्मलोकमें स्थिति होय. वा विषयमें तैत्तिरीयश्रुतिमें कह्यो हे जो "वेदान्तमें विज्ञानसूं जिननें आछी रीतिसूं अर्थको निश्चय कियो हे ओर सन्यास योगसूं जिनको अन्तःकरण शुद्ध भयो हे एसे जो सक्क्यासि लोग हें वे ब्रह्मलोकमें जाय हें ओर ब्रह्माजीकी मुक्तिके सङ्ग मुक्त होय हें". ओर छान्दोग्यश्रुतिमें तो "या लोकमें जेसे यज्ञवालो पुरुष होय हे तेसोही मरणानन्तर होय हे" एसो कह्यो हे. तामें तैतरीय श्रुतिमें ब्रह्माकी मुक्तिके समयमें मुक्ति होयवेको लिख्यो हे ओर छान्दोग्यश्रुतिमें तो मरणानन्तर भावनानुसार पारलौकिकफल होयवेको कह्यो हे. तासूं जो पुरुषमें भावना साधन हे वहां एसो फल होय. अर्थात् ज्ञानयुक्त जो सक्क्यासी हे वाकुंही ब्रह्मलोकमें स्थिति होयके ब्रह्माके सङ्ग वाको मोक्ष होय हे. तासूं ब्रह्मलोकमें जायवेमें ज्ञानकीही मुख्यता हे. ओर स्वास्थ्य न होय तो ज्ञान स्थिर होय नाहीं, तासूं मनकी स्वस्थता सिद्धकरिवेवारो ज्ञानही हे.

ओर भक्तिमार्गमें साक्षात् पुरुषोत्तमके सम्बन्धकुंही फलपनो हे. ओर पुरुषोत्तम रसात्मक हें एसोही श्रुतिमें कह्यो हे.तासूं इनके सम्बन्धमें विप्रयोगरसात्मक भावकुंही साधनपनो हे. ज्ञान ओर मनकी स्वस्थता प्रभृतीनकु तो भावको नाशकपनो हें. तासूं जहां भावनारूप साधन हे वहां फलहु तेसों होय एसो अभिप्राय छान्दोग्यश्रुतिकोहे॥ 10॥

एसें दोउ मार्गमें प्रकारके भेदकरिके साधन ओर फल को निरूपण करिके ज्ञानमार्गमें फलप्राप्तिमें विलम्ब होय हे ओर भक्तिमार्गमें नाहीं होय हे ताको कारण कहत हें:

तादृशाः सत्यलोकादौ तिष्ठक्त्येव न संशयः॥
बहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा वह्निवत् प्रविशेद् यदि॥11॥
तदैव सकलो बन्धो नाषमेति न चान्यथा॥

तादृशाः=वेसे

सत्यलोकादौ=सत्यलोक आदिमें
एव=ही, तिष्ठंति=रहे हें
न=नाहीं, संशयः=संदेह हे
(भक्तौ तु=भक्तिमें तो)
चेत्=यदि, बहिः=बहार
प्रकटः=प्रकट
स्वात्मा=अपनो आत्मा
वह्निवत्=
अग्निकी तरह
यदि=जो (पुनः=फिर)
प्रविशेत्=प्रवेश करे
तदा=तब, एव=ही
सकलः=सब, बन्धः=बन्धन
नाशं=नाशकुं, एति=प्रप्तहोंय
च=ओर, अन्यथा=दूसरी तरह
न=नाहीं

भावार्थ : सन्यास ग्रहण पूर्वक ज्ञानी होय सो ब्रह्मलोक आदिमेंही स्थिति रहे हे. परन्तु भक्तिमार्गमें तो जो बहार प्रगट भयो स्वात्मा भगवान्, अग्नि जेसें काष्ठमें पुनः प्रवेश करे तेसें, जब भक्तनके अन्तःकरणमें प्रवेश करें तबही वाके सकल बन्धनको नाश होय हे, ओर तरहसूं बन्धनाश सम्भव नाहीं हे.

टीका : सन्यास युक्त जो ज्ञानी हे सो सत्यलोकादिकमेंही रहे हे, वामें संशय नाहीं हे. तासूं ज्ञानमार्गमें मुक्ति होयवेमें विलम्ब होय हे. ओर भक्तिमार्गमें तो जेसें काष्ठके भीतर अग्नि व्याप्त होयके रह्यो भयो हे तथापि काष्ठकों दहन करिवेमें समर्थ नाहीं हे तासूं बाहिरको अग्नि भीतर प्रविष्ट होयके भीतरके अग्निकुं मिले तब काष्ठकुं जेसें दहन करिके अग्निरूप करि देय हे एसें सर्वत्र व्याप्त जो ब्रह्मको स्वरूप हे सो मुक्ति करिवेमें समर्थ नाहीं हे परन्तु बाहिर प्रकट भयो एसो जो आत्मस्वरूप हे सो भीतर प्रविष्ट होयकें भीतरके स्वरूपके सङ्ग मिले हे तबही समग्र सम्बन्धकुं नाशकरिके मुक्त करि देत हे, अन्यथा मुक्त नाहीं होय हे.

इतनें सन्यास युक्त ज्ञानीनकी स्थिति सत्यलोकमें होय हे. तामेंहु जो निष्काम होंय सो तो सत्यलोकमें रहें, जो सकाम होंय सो तो दूसरे लोकमेंहु जाय हें, एसें जतायवेकेलिये मूलमें 'आदि'शब्द कह्यो हे. ओर सत्यलोकमें जितने रहत हें तिन सबनकी मुक्ति ब्रह्माजीके सङ्ग होय हे. तासूं दोय परार्द्ध तांई ब्रह्माजी रहें तब तांई विनकी मुक्ति होयवेमें विलम्ब होय हे. ओर भक्तिमार्गमें तो अग्निको दृष्टान्त दियो हे तासूं एसें जतायो हे जो जेसें काष्ठमें विद्यमान अग्निकुं काष्ठको दाह करिवेमें योग्यता नाहीं हे; परन्तु मथन करिके वामेंसूंही अग्नि प्रकट होयके भीतरके अग्निकुं जब मिले तब वाको काष्ठपनो निवृत्त होयके अग्निपनो सिद्ध होय हे तेसें भक्तनके हृदयमें यद्यपि भगवान् बिराजत हें तथापि विनको भगवद्रूपपनों करिवेमें योग्य नाहीं हे, परन्तु विगाढ भावकरिके बाहिर प्रकट होयके जब भीतरके स्वरूपकुं मिलें तबही ताके प्रतिबन्धकुं दूर करिके वाको भगवद्रूपपनो सम्पादन करे हें. एसो फल सिद्ध करिवेमें दूसरो प्रकार नाहीं हे॥11॥

तहां शङ्का होय जो विगाढ़ भावकुं साक्षात् सङ्गके अभावके कारण सङ्गकेलिये स्वरूपके अनुसन्धानकोहु आवश्यकपनो हे तासूं गुणगानकरिकें स्वास्थ्य क्यों न होय? एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

गुणास्तु सङ्गराहित्याज् जीवनार्थं भवन्ति हि॥12॥

गुणाः=गुण, तु=तो
सङ्गराहित्यात्=सङ्गरहित होयवेसूं
जीवनार्थं=जीवनके अर्थ
भवन्ति=होंय हे, हि=ही

भावार्थ : श्रवण कीर्तन आदिमें सदा आते प्रभुके गुण तो भक्तनके जीवनकेलिये हें, क्योंके प्रभुको सङ्ग जहां तांई न होय तहां तांई भक्त श्रीहरिके गुणन्करकेंही अपनो जीवन राख सके हें.

टीका : सङ्गरहितपनो हे तासूं गुण तो जीवनकेलिये होय हें. इतनें, जीव जबसूं भगवानसूं बिछुर्यो हे तबसूं वाकुं भगवानको सङ्ग नाहीं हे. परन्तु जब तांई भगवानके वियोगकी स्फूर्त्ति नाहीं भई हे तब तांई वाकु वियोगको दुःख नाहीं हे. तासूं जब वाकु वियोगकी स्फूर्त्ति होय तब वियोगको दुःख होय. ता समय वाकी स्वस्थता रहिवेमें भगवानके गुणकुं छांडिके दूसरो कोई साधन नाहीं हे. क्यों, जो भगवान् परमानन्द हें. विनको विरह होय तब जीवन रहे नाहीं. ता समयमें परमानन्दके गुणही जीवनकुं सम्पादन करि सकत हें. सोही बात श्रीगोपीजननने गोपिकागीतमें कही हे: "आपकी कथारूप अमृत हे सो तप्तको जीवन हे". ओर अक्रूरजीके सङ्ग भगवान् मथुराजी पधारे तब भगवानके रथकी ध्वजा ओर रथकी रज देखिवेमें आई तब तांई तो चित्रकीसी नांई सब गोपीजन ठाडे रहे ओर पीछे भगवान् पाछे फिरेंगे एसी आशा निवृत्त भई तब विनको गुणगान करिके शोकरहित होयके दिन व्यतीत

करत भये, एसें कह्यो हे. तहांहु गुणगानको ही जीवनसम्पादनपनों कह्यो हे. तासूं जीवनकेलिये गुणगान होय हे परन्तु वासूं स्वस्थता नाहीं रहे हे॥12।

तहां शङ्का होय जो विप्रयोगभावमें जो रह्यो हे ताकुं भगवानके गुणहु भावके बाधक बने हें तब जिनके विरहकी भावना हे सो भगवान्हु विलम्बकुं सम्पादन करिवेवारे होयवेसूं बाधक केसे नाहीं मानने? एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

भगवान् फलरूपत्वात् नाऽत्र बाधक इष्यते॥
स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यं दयालुर् न विरुद्ध्यते॥13॥

फलरूपत्वात्=फलरूप होयवेसूं
भगवान्=भगवान्, अत्र=यहां
बाधकः=प्रतिबन्ध करिवेवारे
न=नाहीं, इष्यते=इच्छित हें
(भगवता=भगवान्द्वारा)
स्वास्थ्यवाक्यं

=स्वस्थताकारक वचन
न=नाहीं, कर्तव्यं=करिवेयोग्यहें
(यतः=क्योंके)
दयालुः=दयालु, न=नाहीं
विरुद्ध्यते=विरुद्ध होत हें

भावार्थ : भगवान् फलरूप हें तासूं यहां बाधक नाहीं हें. ओर स्वस्थताको वाक्य भगवानकु कर्त्तव्य नाहीं हे. क्यों जो भगवान् दयालु हें तासूं विरुद्ध नाहीं होय हें; अथवा विरोध नाहीं होय हे.

टीका : इतनें या मार्गमें भगवान्ही फलरूप हें ओर विनकी प्राप्तिमें विप्रयोगभावकोही साधकपनों हे. सो यदि न होय तो फलकी प्राप्ति होय नाहीं. तासूं भगवान् यदि प्रतिबन्धक होंय तो फलपनोही सिद्ध न होय तासूं भगवान् बाधक नाहीं हें.

तहां शङ्का होय जो भगवानकु फलात्मकपनो हे ओर फल देयवेकी उनकी इच्छाहु हे तासूं कदाचित् स्वरूपकरिकें विप्रयोगके दुःखकुं निवृत्त नाहीं करें तो भले परन्तु कछुक (आश्वासनके) वाक्य कहिके स्वस्थता क्यों न करत हें? इतनें जेसें नारदजीकुं दर्शन देयकें प्रभु तिरोहित भये तब फेरि दर्शनकेलिये नारदजी यत्न करत हते. तब आकाशवाणीसूं आज्ञा करी जो "निन्दित या लोककुं छांडिके मेरे जनपनेकुं तू प्राप्त होयगो". एसें स्वस्थताको वाक्य कह्यो हे तेसें यहां विप्रयोगभावसूं तप्त भक्तनकु स्वस्थता क्यों नाहीं करत हें? एसी शङ्का होय ताकी निवृत्तिकेलिये कहत हें जो स्वस्थता होय एसो वाक्य भगवानकु कर्त्तव्य नाहीं हे. क्यों जो भगवान् दयालु हें तासूं विरुद्ध न होंय. इतनें, नारदजीके कषाय पक्व नाहीं भये हते परन्तु शुद्धभाववारे हते तासूं स्वस्थता होयवेकेलिये तिरोहित होयकेही वाक्य कहिके स्वस्थ किये हें. ओर यहां तो अन्तर्गृहगताकी नांई विनको प्रतिबन्ध हे सो तत्काल निवृत्त करनो हे सो प्रतिबन्ध विरहके तापके दुःखसूं ओर भीतर आविर्भाव भयेके आलिङ्गनके सुखसूंही निवृत्त करनो हे. क्यों जो विनको भाव उत्कट हे. तासूं एसे भक्तनकु वाक्य कहिकें स्वस्थता करें तो अन्तर्गृहगतानको जेसें शीघ्र फल मिल्यो तेसें नाहीं मिले, तो दयालुपनमें विरोध आवे. तासूं स्वस्थताको वाक्य भगवानकु कर्तव्य नाहीं हे॥13॥

एसें भक्तिमार्गीय सन्यास के स्वरूपको साधन ओर फलके प्रकारको विचार करिके उपसंहार करत हें:

दुर्लभोऽयं परित्यागः प्रेम्णा सिद्ध्यति नान्यथा॥

अयं=ये, परित्यागः=त्याग दुर्लभः=कष्टसाध्य हे
प्रेम्णा=प्रेमसों
सिद्ध्यति=सिद्ध होवे हे
अन्यथा=ओर कोई तरहसों
न=नाहीं(सिद्ध्यति=सिद्ध होय हे)

भावार्थ : या प्रकारको ये भक्तिमार्गीय सन्यास दुर्लभ हे. सो प्रेमसूंही प्राप्त होय सके हे, तप दान आदि साधनन्सूं दुष्प्राप्य हे.

टीका : एसें भक्तिमार्गीय यह परित्याग दुर्लभ हे. सो प्रेमकरिकें सिद्ध होय. अन्यथा व्रत, दान ओर तप आदि साधनसूंहु सिद्धहोय सके एसो नाहीं हे. क्यों जो एसे त्यागकों सिद्ध करिवेको साधन कोउ शास्त्रमें कह्यो नाहीं हे. केवल प्रेमकरिकेंही सिद्ध होय हे. भगवान्मे प्रेम नाहीं होय तो भक्तिमार्गीय त्याग सिद्ध न होय॥

ज्ञानमार्गे तु सक्क्यासो द्विविधोऽपि विचारितः॥14॥
ज्ञानार्थम् उत्तराङ्गञ्च सिद्धिर् जन्मशतैः परम्॥
ज्ञानं च साधनापेक्षं यज्ञादिश्रवणान्मतम्॥15॥

ज्ञानमार्गे=ज्ञानमार्गमें
सक्क्यासः=सन्यास
तु=तो, ज्ञानार्थे=ज्ञानकेअर्थ
च=ओर
उत्तराङ्गं=ज्ञानके उत्तराङ्गरूप
(इति=एसें) द्विविधः=
दो प्रकारको, अपि=हु
विचारितः=विचार्यो हे
पर=परन्तु

जन्मशतैः=सेंकड़ो बरस पाछें
सिद्धिः=फल
स्यात्=होय हे)
यज्ञादिश्रवणात्=यज्ञादिके सुनिवेमें
आयवेसों, ज्ञानं=ज्ञान, च=हु
साधनापेक्षं=साधनकी अपेक्षावारो
मतं=मान्यो हे

भावार्थ : ज्ञानमार्गमें जो सन्यास हे सो तो ज्ञान होयवेकेलिये(=पूर्वाङ्ग) तथा ज्ञान भये पीछें(=उत्तराङ्ग) ऐसें दोय प्रकारको कह्यो हे. परन्तु वा दोउ तरहके सन्यास तथा ज्ञान सूं सेंकडोन् जन्ममें मोक्ष मिले हे. ओर यज्ञादिकको श्रवण हे तासूं ज्ञानहु साधनकी अपेक्षा राखे हे

टीका : ज्ञानमार्गमें ज्ञानकेलिये विविदिषासन्यास ओर विद्वत्सक्क्यास एसे भेदसूं दोय प्रकारके सन्यास कहे हें. ओर यज्ञादिकको श्रवण हे तासूं ज्ञानहु साधनकी अपेक्षा राखे हे; इतनें ज्ञानरूप फलकी सिद्धि सेंकड़ो वर्षनमे होय हे. सो गीताजीमें कह्यो हे जो “ज्ञानवान् हे सो बहोत जन्मनके अन्तमें ये सर्व वासुदेव हे एसें जानिके मेरी शरणमें आवत हे, सो महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हे”. तामें सब वासुदेवरूप हे, एसी शरणागति ज्ञानवानकु बहोत जन्मके अन्तमें होयवेको कह्यो हे॥15॥

अब कलियुगमें सन्यास सूं कछु फल सिद्ध नाहीं होय हे सो कहत हें:

अतःकलौ स सक्क्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा॥
पाषण्डित्वं भवेत् चापि तस्मात् ज्ञाने न सक्क्यसेत्॥16॥
सुतरां कलिदोषाणां प्रबलत्वाद् इति स्थितम्॥

अतः=यासों, कलौ=कलिकालमें
सः=वो, सक्क्यासः=सन्यास
पश्चात्तापाय=पश्चात्तापके अर्थ
(भवति=होय हे)
अन्यथा=ओर कोई प्रकारसों

(च=तो) न=नाहीं
च=ओर, पाषण्डित्वं=पाखंडिपनों
अपि=हु, भवेत्
=होय
तस्मात्=तासों,कलिदोषाणां=
कलिकेदोषनके,सुतरां=वेसेहु
प्रबलत्वात्=प्रबल होयवेसूं
ज्ञाने=ज्ञानमें, न=नाहीं
सक्क्यसेत्=सक्क्यासी होनों
इति=एसी, स्थितम्=स्थिति हे

भावार्थ : तासूं ज्ञानमार्गीय सन्यास कलियुगमें पश्चातापकेलियेही होय हे अन्यथा नाहीं. ओर पाषंडिपनोहु होय हे. तासूं ज्ञानमार्गमें सन्यास ग्रहण न करे. क्यों जो कलिके दोष अतिशय प्रबल हें. तासूं ज्ञानमार्गमें सन्यास कर्तव्य नाहीं हे.

टीका : इतनें, ज्ञान हे सो कर्म, ध्यान तथा भक्ति रूप साधननकी अपेक्षा राखत हे. तामें प्रमाण कहत हें जो ज्ञानकी उत्पत्तिमें सब साधननकी अपेक्षा हे. जेसें कोउ दूरदेशमें प्राप्त होयवेमें अश्वादिककी अपेक्षा होत हे एसें ज्ञानकी प्राप्तिमेंहु सब साधनकी अपेक्षा हे. क्यों जो निष्कामकुंहु यज्ञादि करिवेको श्रुतिमें कह्यो हे. तासूं केवल शम-दमादिककरिकें ज्ञान प्राप्त नाहीं होय हे; किन्तु आश्रमके अनुसार कर्महु सङ्ग होय तब ज्ञान प्राप्त होयवेको व्याससूत्रमें कह्यो हे. एसें विविदिषा सन्यास विषे कहिके विद्वत्सक्क्यास विषे कहत हें:

"ज्ञानसूंही मोक्ष होय हे" एसें वाक्यसूं ज्ञानकी सिद्धि होय ता पाछें मुक्तिरूप फल सिद्ध होय हे. तासूं विद्वत्सक्क्यास मुक्तिको अङ्ग हे. यद्यपि विद्वत् सन्यास मुक्तिको अङ्ग हे तथापि गीताजीके वाक्यमें ज्ञानवारेकुं बहोत जन्म अन्तमें शरणागति होयवेको लिख्यो हे. ओर शरणागतिकुं भक्तिपनों हे तासूं भक्ति विना केवल ज्ञान मुक्तिको साधन नाहीं हे. ओर यज्ञ चित्तकी शुद्धिको कारण हे. सो निष्काम कियो होय तबही चित्तकी शुद्धि करे हे. एसो निष्काम यज्ञ करे तबही चित्त शुद्ध होयके ज्ञान प्राप्त होय हे.

ज्ञानमार्गमें विविदिषा सन्यास में साधननकी अपेक्षा बहोत रहत हे. तासिवाय ज्ञानको उदय न होय. तथाऽपि दुराग्रहसों यदि कोउ सन्यास ग्रहण करे तो वेसो सन्यास पश्चात्तापकेलियेही होय हे; इतनोही नाहीं परन्तु पाषण्डिपनोहु होय हे. क्यों जो शम-दमादिक कछु सिद्ध न भये होंय ओर सन्यास ग्रहण करे तब भिक्षादिककी शुद्धि होय नाहीं. तासूं अन्तःकरणमें अन्नदोषकी सहायतासूं अन्तःकरणकी मलिनता विशेष होयवेसूं काम-क्रोधादिक होयके धर्मसूं पात होय हे. ओर विद्वत्सक्क्यास तो कलियुगमें सम्भवही नाहीं हे, तासूं कलियुगमें सन्यास को निषेध करनहारे शास्त्रकारनने ही एसो निषेध कियो हे जो कलियुगमें सन्यास नाहीं करनों. क्यों जो सन्यास में इतनो प्रयत्न हे एसें जानिकेहु अपनी प्रतिष्ठाकी वृद्धिकेलिये सन्यास ग्रहण करे तो सक्क्यासाश्रमके धर्म निभि सके नाहीं. इतनें वेषमात्रमें सन्यास को पर्यवसान होयवेसूं पाषण्डिपनो होय. तासूं ज्ञानमार्गमें सन्यास ग्रहण न करे. एसें ज्ञानमार्गमें सन्यास ग्रहण करिवेमें बाधक हे; तथापि आग्रहसों सन्यास ग्रहण करे तो कलिके दोष अतिशय प्रबल होयवेसूं वाको पातही होय एसें शास्त्रकारनने निर्णय कियो हे. इतनें श्रीगीताजी तथा श्रीभागवत 11 स्कन्धमें भगवाननने सन्यास ग्रहणकी आज्ञा करी हे तामें विस्तारसूं विवेचन कियो हे. ताकी कर्तव्यताके विचारमें इतनो सिद्ध भयो जो ——

- कर्ममार्गमें जैमिनिके मतमें परित्यागकी अकर्तव्यताहे.
- ज्ञानमार्गमें चतुर्थाश्रमके पक्षकरिकें कर्तव्यपनो हे तोहु कलिकालके कारण आश्रमधर्म निभ न सकें तासूं अकर्तव्यताहे.
- ओर भक्तिमार्गमें कर्तव्यपनेसूं कह्यो हे तोहु सन्यास के स्वरूप तथा धर्म सूं विरोध होयवेसूं श्रवणादिककी सिद्धिकेलिये सन्यास में स्वरूपसूं त्यागकरिवेकी अकर्तव्यताहे.
- तेसें प्रभूनमे स्नेह सिद्ध करिवेकेलिये त्याग करिवेमेंहु सन्यास के स्वरूप तथा धर्म सूं विरोध हे तासूं सन्यास की अकर्तव्यता हे.
- ओर प्रभूनमे प्रेम भये पीछे तो स्वतःही त्याग सिद्ध होय हे तासूं सन्यास की अपेक्षा नाहीं हे.

अब प्रेमकी आरम्भदशामें परित्याग करनों के नाहीं? ताको विचार प्रश्नकी रीतिसूं करत हें:

भक्तिमार्गेऽपि चेत् दोषः तदा किं कार्यमुच्यते॥17॥
अत्रारम्भे न नाशः स्यात् दृष्टान्तस्याप्यभावतः॥
स्वास्थ्यहेतोः परित्यागात् बाधः केनाऽस्य सम्भवेत्॥18॥

भक्तिमार्गे=भक्तिमार्गमें
अपि=हु, दोषः=दोष
तदा=तब, किं=कहा
कार्यं=करनो, इति=एसो
चेत्=हें
दृष्टान्तस्य=दृष्टान्तको
अपि=हु
अभावतः=अभाव होयवेसों
अत्र=यहां
आरम्भे=प्रारम्भमें
नाशः=नाश, न=नाहीं
स्यात्=होय
स्वास्थ्यहेतोः=स्वास्थ्यके हेतुके
परित्यागात्=त्यागसों
अस्य=याको, बाधः=बाध
केन=कोनसूं
सम्भवेत्=सम्भव होय

भावार्थ : भक्तिमार्गमेंहु कलिदोष आय जांय तब कहा करनो? एसी शङ्का होय तहां कहत हेंः जो भक्तिमार्गीय सन्यास के आरम्भमें नाश न होय. क्यों जो भक्तिमार्गमें प्रवृत्त भयेको नाश भयो होय एसो दृष्टान्त नाहीं मिले हे. ओर स्वस्थताके हेतुको परित्याग हे, तासूं वाको बाध कोनकरिकें सम्भवे? नाहीं सम्भवे.

टीका : इतनें, जो दोष ज्ञानमार्गमें कह्यो सोही दोष भक्तिमार्गमें आवे तब कहा करनों? एसी शङ्का होय तहां कहत हें जो भक्तिमार्गमें त्यागके आरम्भमें नाश नाहीं

हे. क्यों जो ज्ञानमार्गमें त्यागके आरम्भ करिवेवारेकुं दुःसङ्ग ओर सहायक आदिकरिकें नाशको सम्भव हे. परन्तु भक्तिमार्गमें तो त्यागको आरम्भ करिवेवारो अलौकिक भगवद्भाव करिकें पूर्ण हे, तासूं दुःसङ्गकी सम्भावनाहु नाहीं हे तासूं वाको नाश नाहीं होय हे.

तहां शङ्का होय जो दुःसङ्ग नाहीं होयवेसूं दुःसङ्गसूं जो नाश होयवेवारो हे ताकी तो सम्भावना नाहीं हे; परन्तु काल, कर्म ओर स्वभाव करिकें नाश होय तो कहा करनों? एसी शङ्का की निवृत्तिकेलिये कहत हें जो मर्यादामार्गीय त्याग करिवेवारे आग्नीघ्र ओर भरतादिकन् को कालादिककरिकें नाश भयो हे सो जेसें देखिवेमें आयो हे तेसें शुद्धपुष्टिमार्गीयनको नाश भयो होय एसो कबहु सुनिवेमें आयो नाहीं हे. क्यों जो कोउको नाश भयो नाहीं हें. ओर भक्तिमार्गको त्याग भगवद्धर्म हे सो निमिराजाने श्रीभागवत 11 स्कन्धके द्वितीयाध्यायमें (भगवद्धर्म कहो, एसो) प्रश्न कर्यो ताके उत्तरमें कवियोगेश्वरनें कह्यो हे जो "भगवानने आपकी प्राप्तिकेलिये उपाय नाहीं जानिवेवारेनकु श्रम विना हि आपकी प्राप्ति होय एसे उपाय जो कहे हें ते भगवद्धर्म हें एसे जानो" एसें कहिके फेरि कह्यो हे जो "जिन धर्मनमे रहिके काहु बिरियां जीव प्रमादयुक्त नाहीं होय हे. नेत्र मुंदिके दोड़तो होय तोहु वाकुं ठोकर न लगे ओर वो गिरेहु नाहीं" यहांसूं आरम्भ करिके "लज्जा रहित होयके भगवद्गुणनके गान करत-करत असङ्ग होयके फिरे" यहां तांइ भगवद्धर्म कह्यो हे. तहां त्यागकोहु बोधन हे तासूं भगवद्धर्मके आरम्भमेंहु नाश नाहीं हे.

तहां शङ्का होय जो भगवद्धर्मके आरम्भमें भले नाश न होय; तथापि देहरक्षाकेलिये भिक्षादिककी आवश्यकता होयवेसूं फलमें विलम्ब होय एसो बाध होयगो सो केसे निवृत्त होयगो! एसी शङ्का की निवृत्तिकेलिये कहत हें जो त्याग करिवेवारेकुं स्वस्थताके कारणरूप चार्यो वर्णनमे भिक्षाकोहु त्याग हे. ओर माला-चन्दन इत्यादिकनको हु त्याग हे, तासूं बाध काहेसूं होय! नाहीं होय. क्यों जो भगवानके विप्रयोगके तापसूं भक्तिमागीर्य त्याग होय हे सो तापकी बाह्य पदार्थसूं निवृत्तिहु नाहीं होय हे. तासूं काहुसूंहु वाको बाध न होय॥17-18॥

एसें दृष्ट ओर अदृष्ट उपायसूं वाको नाशक कोउ नाहीं हे एसें कहिके भगवान्हु अथवा भगवानकी मायाहु वाको बाध नाहीं करि सकत हे सो कहत हें:

हरिर् अत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे॥
अन्यथा मातरो बालान् न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित्॥19॥

अत्र=यहां
हरिः=श्रीकृष्ण (अपि=हु)
बाधां=बाधाकुं
कर्तुं=करिवेकुं, न=नाहीं
शक्नोति=शक्तिमान हें
अपरे=ओर कोई
कुतः=कहांसों
अन्यथा=नहिं तो
मातरः=माताएं
बालान्=बालकनको
स्तन्यैः=दूधसों
क्वचित्=कोउ समय
अपि=हु, न=नाहीं
पुपुषुः=पोषित करें

भावार्थ : या मार्गमें हरि स्वयंहु बाध करिवेमें समर्थ नाहीं हे तो दूसरो केसे बाधा करि सकेगो? ओर यदि हरि बाधा करें तब तो (वो एसी बात कही जायगी के स्वयं) माताहु स्तन्य करिकें बालकनको पोषण न करे.

टीका : इतनें, हरि सर्वदुःखहर्ता हें सोहु या मार्गमें ईश्वर होयवेपेहु बाधा करिवेकुं समर्थ नाहीं होय हें. क्यों जो जाको जेसो स्वरूप हे ताकों तेसो ज्ञान इश्वरकुंही हे तासूं या भावके नाशमें कारणको अभाव हे, एसेंहु प्रभु जानत हें. ओर आप भक्तनके भावके आधीन हें सोहु जानत हें, तासूं आपको अशक्तपनो जानिके बाध करिवेमें प्रवृत्तहु नाहीं होय हें. जहां भगवानसूंहु बाध न होय तहां ओरसूं तो बाध केसें होय सके? तहां दृष्टान्त देत हें जो भगवान् बाध करें तो माताहु स्तन्यकरिकें बालकनको पोषण न करे! अर्थात् स्वधर्मकुं उत्पन्न करिवेवारे तथा वाकी रक्षा करिवेवारे प्रभुही जब बाधा करें तब बालकनकु उत्पन्न करिवेवारी तथा विनकी रक्षा करिवेवारी माताहु

स्तनके दूधसूं बालकको पोषण न करे. यासूं एसें सिद्ध भयो जो काहुसूं वाको नाश न होय.

“ज्ञानिनामपि” वाक्येन न भक्तं मोहयिष्यति॥
आत्मप्रदः प्रियश्चाऽपि किमर्थं मोहयिष्यति॥20॥

ज्ञानिनाम्=ज्ञानिनके
अपि=हु (इति=एसे)
वाक्येन=वाक्यसों
भक्तं=भक्तकों,
न=नाहीं
मोहयिष्यति=मोह करेंगे
आत्मप्रदः=
आत्माको दान
करिवेवारो, च=ओर
प्रियः=प्रिय, अपि=हु
(भगवान्भक्तं=भगवान्
भक्तकों) किमर्थं=क्यों
मोहयिष्यति=मोह करेंगे

भावार्थ : मार्कण्डेयपुराणमें कह्यो हे जो “ज्ञानीनके चित्तकोंहु, समर्थ एसी देवी, बलसूं खेंचके मोहमें डारि देत हें”. तासूं भक्तकुं मोह नाहीं करेंगे. क्यों जो वा वाक्यमें ज्ञानीनके चित्तकुं मोह करिवेको लिख्यो हे. भक्तनकु मोह करिवेको लिख्यो नाहीं हे. ओर भगवान् स्वरूपानन्दके देयवेवारे तथा प्रिय हें, सो क्यों मोहकरेंगे?

इतनें, जो जाको प्रिय होय सो वाके कार्यमें विलम्ब होय ताकु सहन करे तब प्रियपनोही होय नाहीं. ओर जहां स्वरूपानन्द देयवेकी इच्छा होय वहांही ज्ञानीनकु मोह करिवेवारी मायासूं रक्षा करत हें, जहां स्वरूपानन्द देयवेकी इच्छा नाहीं हे तहां इच्छा नाहीं करत हें. जेसें द्विजपत्नीनको “प्रभुनकी पास जायके सेवा करेंगे” एसी बुद्धिसूं सर्व सामग्रीके सम्पादन पूर्वक पति प्रभृति सर्व बन्धूनको त्याग करिके आगमन भयो हतो; तथापि विनकुं स्वरूपानन्द देयवेकी इच्छा नाहीं होयवेसूं भगवाननने “यहां मनुष्यकुं अङ्गसङ्ग प्रीति ओर स्नेहकेलिये नाहीं हे, तासूं मेरेमें मन

लगायवेवारे तुम सब थोरे समयमें मोकुं प्राप्त होउगे" एसो वाक्य कहिके ज्ञानमार्ग जेसो उपदेश दियो. ओर व्रजभक्तनकु स्वरूपानन्द देयवेकी इच्छा विशेष होयवेसूं घरप्रति पाछे जायवेके वचन वेसेंहि कहे; तथापि विनमें रात्रि घोररूप हे, एसें कहिकें "रात्रिमें स्त्रीयन्सूं पाछो जायो न जाय एसो चन्द्रमाके किरणसूं रञ्जित वन तुमने देख्यो" एसें कहिकें उद्दीपनविभावकुं बतायके रहिवेको ओर "लोककी इच्छावारी स्त्रीनकु चाहे-जेसो पति होय तोहु छोडनो नाहीं, वाके बन्धूनको शुश्रूषण तथा प्रजाको पोषण करनों" एसें कहिके लोकिक इच्छावारेनके धर्म बतायकें (स्वरूपानन्दको दान करिवेकी) अपनी इच्छावारेनकु पृथक् सूचित किये. तासूंही द्विजपत्नीनकु मोह भयो, सो वे चलिगईं ओर व्रजभक्तनकु मोह न भयो तासूं विननें प्रत्येक वाक्यनको भगवानकु उत्तर दियो. तेसेंही उद्धवजीके सन्देशके प्रश्नमेंहु भगवानने ज्ञानमार्गीय जेसो सन्देश पठायो; तथापि व्रजभक्तनकु मोह न भयो. तब उद्धवजीनें श्रीगोपीजननकी श्रीकृष्णके आवेशवारे आत्माकि विकलता देखी तब अपने जो सन्देशद्वारा उपदेश कह्यो हतो ताकी निष्फलता ओर विप्रयोगके तापकी अति प्रबलता देखिके विनमें सबन्सूं अधिक ओर अनिर्वचनीय उत्कर्ष देख्यो, ओर अपनमें हीनताकी स्फूर्ति भई. विनके साक्षात् चरणनके स्पर्श करिके नमन करिवेकीहु अपनी अयोग्यता जानिकें विनके चरणरेणुको वन्दन कियो. तामेंहु बहोत रेणून्नकु वन्दन करिवेमें अपनो अधिकार नाहीं जानिके एक रेणुकुंही वन्दन कियो हे. तासूं जहां स्वरूपानन्द देयवेकी प्रभुनकी इच्छा होय वहां ज्ञानमार्गीय वाक्यन्सूं मोह नाहीं होय हे॥20॥

एसें सन्यास निर्णयको प्रतिपादन करिकें वाको उपसंहार करतहें:

तस्मात् उक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्॥
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थाद् इति मे निश्चिता मतिः॥21॥
इति कृष्णप्रसादेन वल्लभेन विनिश्चितम्॥
सन्यास वरणं भक्तौ अन्यथा पतितो भवेत्॥22॥

॥इति श्रीवल्लभाचार्यविरचितः सन्यास निर्णयः समाप्तः॥

तस्मात्=तासों
उक्तप्रकारेण=कहे प्रकारसों
परित्यागः=त्याग
विधीयतां=करनों
अन्यथा=नाहीं तो
स्वार्थात्=स्वार्थसों
भ्रश्यते=च्युत होंय
इति=एसी, मे=मेरी
निश्चिता=निश्चित
मतिः=मति हे
इति=या प्रकारसों
वल्लभेन=श्रीमहाप्रभुजीद्वारा
कृष्णप्रसादेन=श्रीकृष्णकी कृपासों
भक्तौ=भक्तिमें
सन्यास वरणं=सन्यास को वरण
विनिश्चितं=विशेषरूपसों निश्चित भयो
अन्यथा=ओर प्रकारसों
पतितः=पतित, भवेत्=होय

भावार्थ : भक्तिमार्गीय सन्यास को प्रकार एसो हे. तासूं प्रभुनके विरहको अनुभव करिवेकेलिये उपर कहे प्रकारसूं त्याग करनो. यदि एसे नाहीं करेंगे तो स्वार्थसूं भ्रष्ट होंयगे एसी मेरी निश्चित मति हे. एसें श्रीकृष्णके प्रसादकरिकें श्रीवल्लभाचार्यजीने भक्तिमार्गमें सन्यास को वरण निश्चित कियो हे. वारीति बिना दूसरी रीतिसूं सन्यास करिवेवारो पतित होय.

टीका : इतनें सन्यास के दूसरे सब प्रकार दोष सहित ओर असम्भवित हें, तासूं येही प्रकार सन्यास को हे जो भगवाननने उद्धवजी प्रति कह्यो हे. वाही प्रकारसूं सन्यास करनो. ओर जो एसो अधिकार न होय तोहु त्याग करे तो स्वार्थसूं भ्रष्ट होय जाय एसे

निश्चयवारी मेरी बुद्धि हे. क्यों जो एसो त्याग उद्धवजीने कियो हे सो तृतीयस्कन्धके चतुर्थाध्यायमें निरूपित हे. जो “भगवानके विरहसों जाको आत्मा आतुर हे एसो में यहां आयोहुं सो में भगवानके दर्शनको आह्लाद ओर वियोगकी आर्ति करिकें युक्त हुं” एसें विदुरजी प्रति उद्धवजीके वाक्यसूं ऊपर त्यागको स्वरूप कह्यो. ता प्रकारको त्याग ही देख परत हे एसो त्यागको स्वरूप श्रीकृष्णके प्रसादसूंही जान्यो जाय एसो बतायवेकेलिये मूलमें “श्रीकृष्णके प्रसादसूं” कहिवेकी श्रीमहाप्रभूनने आज्ञा करी हे. तासूं भक्तिमार्गमें सन्यास भगवानको वरणरूपही हे. ओर यदि भक्ति विना त्याग करे तो पतित होय.

ग्रन्थके प्रारम्भमें परित्यागको विचार कियो जाय हे एसे कह्यो हे; ओर समाप्तिमें उक्त प्रकारसूं परित्याग करिवेको कह्यो हे; ता पीछें श्रीकृष्णके प्रसाद करिके सन्यास को निश्चय करिवेको कह्यो हे तासूं एसो सूचित होय हे जो श्रीआचार्यचरणनकु देह-देशके परित्याग विषयक दोय आज्ञा भगवानकी भई हती ता प्रामाण नाहीं करिवेको खेद हतो. तहां जब लोकपरित्याग विषयक तीसरी आज्ञा भई तब वा आज्ञाके वाक्यार्थको विचार करिके जा प्रमाण आज्ञा भई वाही प्रकार करिके श्रीआचार्यजीने कियो, तब भगवान् विशेष प्रसन्न होयके श्रीआचार्यजीके मनमें सन्यास के स्वरूपकी सफूर्ति करी, वाकोही बोध अन्तिम श्लोकमें हे.

से ताको अभिप्राय एसो हे जो पूर्वोक्तप्रकारसूं जो परित्यागको विचार कियो ताकरिकें भगवानको प्रिय एसो जो में, वानें भक्तिमार्गमें उद्धवजीकीसी नांई सन्यास को अङ्गीकार निश्चित कियो हे. ओर उद्धवजीकुं “सब छोड़िकें मेरेमें मन प्रविष्ट करिकें पृथ्वीमें फिर” एसी भगवानकी आज्ञा भई हती ता प्रमाण आज्ञा न होय ओर सन्यास ग्रहण करे तो पतित होय. क्यों जो भक्तिमार्गके ओर सन्यास के धर्म परस्पर विरुद्ध होयवेसूं भगवानकी आज्ञा विना ओर अन्तःकरणमें भगवानके विप्रयोगको भाव न भयो होय तोहु सन्यास ग्रहण करे तो भक्तिमार्गसूं च्युत होय॥21-22॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यजी कृत सन्यास निर्णयकी
गोस्वामी श्रीनृसिंहलालजी महाराज विरचित
संक्षिप्त भाषा**टीका** समाप्त भई

निरोधलक्षण ग्रन्थ - परिचय

श्रीकृष्णाय नमः ।।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

निरोधलक्षण ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने गुजरातके आपके शिष्य राजा दवे और माधव दुबे केलिए लिखा था . किंवदन्तीके अनुसार इसका रचनाकाल वि.सं. १५६६ है ' चौरासी वैष्णवोंकी वार्ताके अन्तर्गत इन दोनों भाईओंकी कथा भावप्रकाशमें यों मिलती हैं : " राजा दुबे - माधौ दुबेके माता - पिता मांदे भये तब दोऊ बेटानसों कहें " अब हमको या समें श्रीरनछोड़जीके दरसन करावो तो बहोत आछो " . तब वे दोऊ डोली भाड़े करि माता - पिताको बैठारि श्रीठाकुरजीकों सङ्ग ले चले . सो श्रीरनछोड़जीके दरसन माता - पिताकों कराये . तब तहां कछुक दिनते श्रीआचार्यजी द्वारकामें हते ... तब राजा दुबे - माधौ दुबे लोगनसों पूछे- " इहां कहुं कथावार्ता भगवतचर्चा होत होई तो तहां जैये ... तब एकने कही- " श्रीवल्लभाचार्यजी पृथ्वीपरिक्रमा करि इहां पधारे हैं सो कथा बहोत आछी कहत हैं " ... तब दोऊ भाई प्रसन्न होई आगे आई बैठे . तब श्रीआचार्यजी नन्दमहोत्सवको वर्णन श्रीभागवत दशमस्कन्धके पांचमे अध्यायको वर्णन किये . सो नन्दालयकी लीलाको प्रकट अनुभव दोऊ भाईनकों कराय दिये ... ... श्रीआचार्यजीके पास बड़े सबेरे आई बिनती किये- " महाराज हमको सरनि लीजिये " . तब श्रीआचार्यजी दोऊ भाईनको फेरि न्हवाईके नाम सुनाये ब्रह्मसम्बन्ध कराये . पाछे श्रीआचार्यजी कहे- " अब तुम भगवत्सेवा करो ' ... सो श्रीआचार्यजी श्रीठाकुरजीकों पञ्चामृत स्नान कराई राजा दुबे - माधौ दुबेके माथे पधराये और आज्ञा किये- " सब ठोरते मन छुटाई निरोध करि भगवत्सेवा करो ' . तब राजादुबे - माधौदुबे विनती करि जो " महाराज निरोधको स्वरूप कहा है ? " .. या प्रकार दोऊ भाईनकी दीनता सरल स्वभाव देखिके दशमस्कन्ध जाको '

निरोधस्कन्ध ' कहे हैं ताको आप ' निरोधलक्षण ' ग्रन्थ करि दोऊ भाईनको पाठ करायके कहें- “ तुम दोऊ भाईनको निरोध सिद्ध होईगो ' . सो तत्काल दोऊ भाईनको मन अलौकिक है गयो . लीलारसको अनुभव होन लग्यो . तब श्रीआचार्यजी कहे- “ अब अपने घर जाय सेवा करो ... दैवी जीव आवें तिनकों नाम दीजो . तुमको निरोध सिद्ध भयो और जो तुम्हारो सङ्ग मन लगायके करेगो ताहूको निरोध सिद्ध होयगो ?

पने गाम मणुन्दमें आये . घरमें दोऊ भाई भगवत्सेवा करना लागे . कछुक द्रव्य घरमें हतो तामें निर्वाह करें . काहूसों बहोत बोले नाही . जो आवे तापर दया करिके खानपानको समाधान करे . भगवद्वार्ता करि दोऊ भाई श्रीठाकुरजीकी लीलाके रसमे मगन रहते " भगवान्के भक्तोंमें तथा भक्तोंके भगवान्में तल्लीन ही जानेकी कथा भागवतके दशमस्कन्धमें निरोधलीलाके रूपमें वर्णित हुई है . भगवान्की इस निरोधलीलाके फलस्वरूप , यह वहां कहा गया है कि उन भक्तोंकी ऐसी स्थिति हो गई कि वे सोते - जगते , चलते वार्तालाप करते , क्रीडा या स्नान करते और भोजन करते हुए भी अपनी सारी सुध - बुध खोकर केवल श्रीकृष्ण ही तल्लीन रहते थे- “ शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानाशनादिषु न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ' (भाग १०।९ ०।४६) यह निरोधका परिनिष्पन्न स्वरूप है . योगका लक्षण हमारी केवल चित्तवृत्तियोंका निरोध माना गया हैं “ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ” केवल चित्तवृत्तिका निरोध किन्तु भक्तिमार्गमें अपर्याप्त माना गया है . पुष्टिभक्तिरूप निरोध श्रीकृष्णके संयोग एवम् वियोगको गहराईसे अनुभूत करना है . केवल चित्तवृत्ति ही नहीं अपितु देह , इन्द्रिय , प्राण , मन , बुद्धि , अहङ्कार , चित्त , आत्मा ; तथा अन्य भी आत्मीय वस्तु और परिजनों का कृष्णभजनमें विनियोग या तत्पर हो जाना पुष्टिमार्गीय निरोध है . इस भक्तियोगके निरोधकी व्याख्या उसके

१.कारणलक्षण , २.स्वरूपलक्षण , ३.कार्यलक्षण एवम् ; ४.प्रयोजनलक्षणके आधार पर चार तरहसे दी जा सकती है .

कारणलक्षणः

भागवतके द्वितीयस्कन्धके दसवें अध्यायकी छठी कारिका " निरोधोस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः " में निरोधके कारणलक्षणका निरूपण हुआ है . श्रीमहाप्रभुने भी भागवतार्थ निबन्ध (१०।१४-१७) में इसका विवेचन किया है . वहां यह समझाया गया है कि अपनी दुर्विभाव्य शक्तियोंके साथ श्रीकृष्णका इस धरातलपर क्रीडार्थ प्रकट होना निरोध है . ' निरोध ' के इस तरहके लक्षणमें ' निरोध ' शब्दका रूढार्थ नहीं किन्तु यौगिकार्थ विवक्षित होता है . नवमस्कन्धका वर्ण्य - विषय , भक्ति और दशमस्कन्धका वर्ण्य - विषय निरोध माना गया है . इनके पूर्वापर होनेकी क्रमसङ्गति यह मानी गयी है कि नवमस्कन्धमें निर्दिष्ट भक्ति जिनमें प्रकट होती है ऐसे भक्तोंका , उन्हें विमुक्त करनेकेलिए भगवान्केद्वारा , जो रोध किया जाता है , उसे ' निरोध ' कहते हैं .

स्वरूपलक्षणः

निरोधके कारण - लक्षणकी पहचानके बाद स्वरूपलक्षण सुबोध हो जाता है . प्रपञ्चको सर्वथा भूलकर भगवान्में ही अनन्यतया आसक्त हो जाना निरोधका स्वरूपलक्षण है . " प्रपञ्चविस्मृतिः तस्मात् कृष्णासक्तिश्च वर्ण्यते ' ' . भागवतके नवमस्कन्धमें भक्तिका वर्णन अभिप्रेत है . ऐसी भक्तिवाले जीव प्रपञ्चको भूलकर अनन्यतया भगवान्में आसक्त किस तरह हो पाये , यह दिखलाना दशमस्कन्धमें अभिलषित है . तदनुसार षोडशग्रन्थमें भी , भक्तिवर्धिनीमें पहले भक्तिके विविध प्रकारोंका वर्णन किया गया है ; और बादमें निरोधलक्षण ग्रन्थमें ऐसी भक्तिवाले जीवोंकेलिए अनन्यतया भगवान्में निरुद्ध होनेके उपाय समझाये गये हैं . एतदर्थ भक्तिर्वधिनीमें वर्णित भक्तोंके पांचों प्रकारपर थोड़ासा दृष्टिपात उपयोगी होगाः

इस तालिकापर दृष्टिपात करनेके बाद यह समझ लेना भी आवश्यक है कि षोडशग्रन्थोंमें कौनसा ग्रन्थ किस अधिकारीकेलिए मुख्यतया उपदेशाई है. इसके अन्तर्गत निरोधलक्षण ग्रन्थके उपदेशार्थ अपेक्षित अधिकारीके ज्ञानसे इस ग्रन्थकी, अन्य भक्तिवर्धिनी आदि ग्रन्थोंसे, सङ्गति तथा तात्पर्य का निर्धारण सरल हो जाता है:

ग्रन्थ - किस अधिकारीकेलिए

1.यमुनाष्टक -भक्तिवर्धिन्युक्त पांचोंकेलिए

2.बालाबोध -,, ,, ,,

3.सिद्धान्तमुक्तावली -,, ,, ,,

4.पुष्टिप्रवाहमर्यादा -,, ,, ,,

5.सिद्धान्तरहस्य -2 तथा 4 केलिए

6.नवरत्न -भक्तिवर्धिन्युक्त पांचोकेलिए

7.अन्त:करणप्रबोध -,, ,, ,,

8.विवेकधैर्याश्रय -विशेषत: 4 और 5, सामान्यता सभीकेलिए

9.कृष्णाश्रय -सभीकेलिए

10.चतुश्लोकी -2 तथा 4 केलिए

11.भक्तिवर्धिनी -सभीकेलिए

12.जलभेद -,, ,, ,,

13.पञ्चपद्यानि -,, ,, ,,

14. सन्यास निर्णय -1, 3 तथा 5केलिए

15.निरोधलक्षण -सभीकेलिए

16.सेवाफल -2 तथा 4 केलिए

इस तालिकापर भी दृष्टिपात कर लेनेसे अब निरोधलक्षण ग्रन्थकी सर्वविध अधिकारियोंकेलिए उपयोगिता मान्य करनेपर इसके तात्पर्यनिर्धारणमें क्लेश

नहीं रह जाता है.

जो भक्त अपने गार्हस्थ्यके साथ, राजादुबे-माधौदुबेकी तरह, घरमें भगवान्की सेवा और कथा दोनोंको निभा पाते हों, उनकेलिए गृहत्याग निरर्थक हो जाता है. क्योंकि पूर्वोक्त रीतिसे सेवाकथाके सतत आवर्तनसे ही उन्हें प्रपञ्चकी विस्मृति और भगवान् में आसक्ति दृढ़ हो जाती है. यह मुख्य कल्प है.

स्वगृहमें भगवत्सेवा न निभनेपर, परगृहमें उस गृहस्वामी भगवदीयके परिचारक बनकर उसकेद्वारा की जाती भगवत्सेवामें सहयोग देना अर्थात् परिचर्या करना; और जब वह भगवत्कथा करता हो तब श्रोताके रूपमें उसमें सम्मिलित होना, यह भगवदीय पड़ोसीके निकट रहनेवाले अजातव्यसन भक्तिमार्गीय जीवकेलिए आवश्यक माना गया है. निरोधकी सिद्धिकेलिए यह भी एक गौणकल्प स्वीकारा गया है, गृहत्यागके विकल्परूपमें.

भक्तिवर्धिनीमें इन दोनों कल्पोंको (अर्थात् स्वगृहमें भगवत्सेवा-कथामय जीवनयापन, अन्यथा ऐसे किसी भगवदीयके समीप घर बनाकर रहना और परिचर्यार्थ एवम् कथाश्रवणार्थ उस भगवदीयके समीप घर बनकर रहना और परिचर्यार्थ एवम् कथाश्रवणार्थ उस भगवदीयका सङ्ग करना, यों दोनों कल्पोंको) लक्ष्यमें रखकर-"सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम" आश्वासनद्वारा श्रीमहाप्रभु निरोधसिद्धिकी बात ही समझा रहे हैं. क्योंकि निरोधके अभावमें-"हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायाक्त्यहर्निशम्" इस निरोधलक्षण ग्रन्थके वचनके अनुसार भवसागरमें मग्न होना निश्चित माना गया है. अत: परगृहमें भी भगवत्परिचर्या तथा भगवत्कथाश्रवण की प्रणालीसे निरोधकी सिद्धि स्वीकारनी ही पड़ती है.

कार्यलक्षण:

कारण और स्वरूप के विमर्शके बाद अब निरोधके कार्य अर्थात् इसके कारण पैदा होनेवाले प्रभावोंका विचार आवश्यक हो जाता है.

जो भक्त प्रपञ्चकी विस्मृतिके साथ भगवान्में आसक्ति जोड़ पाता है, उसे भगवान्के संयोग एवम् वियोग की अनुभूति तीव्रतासे होने लगती है. जैसे कि व्रजभक्तोंके बारेमें वर्णन मिलता है-"गोपीनां परमानन्द: आसीद् गोविन्ददर्शने क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्" (भा. 10।19।16). भक्तिवर्धिनीमें इस अवस्थाको 'व्यसनदशा' कहा गया है. निरोधका स्वरूप निष्पन्न होते ही निरोधका प्रभाव अर्थात् व्यसनदशा व्यक्त होने लग जाती है. भगवत्संयोगमें परमानन्दकी अनुभूति और एक क्षण भी भगवद्वियोग सह न पाना यह निरोधका कार्य माना गया है-"भगवद्विरहसामयिक-परमदु:खकारणत्वे सति भगवत्संयोगसामयिकपरमानन्दसाधकत्वं निरोधत्वम्" (निर्णयार्णव).

भगवदनवतार-कालमें भगवत्सेवाका अवसर भगवत्संयोगानुभूति है तथा अनवसर वियोगानुभूति है. अत: कार्यलक्षण भी अवतारकाल और अनवतारकाल दोनों परिस्थितियोंमें उपपन्न हो जाता है.

प्रयोजनलक्षण:

भागवतमें तथा भागवतार्थनिबन्धमें भी निरोधका प्रयोजन मुक्ति एवम् आश्रयभावापत्ति स्वीकारा गया है-"निरोधोस्यानुशयनमात्मन: सह शक्तिभि: मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:, अभावश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते स आश्रय: परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते" (भा. 2।10।6-7). इसी तरह भागवतार्थ-निबन्धमें भी कहा गया है-"भक्ता: पूर्वत्र निर्दिष्टा: ते रोद्धव्या: विमुक्तये, कृष्णे निरुद्धकरणात् भक्ता: मुक्ता: भवन्ति हि" (भा. नि. 10।15-16) और "हरिराश्रय इत्युक्तो मुक्तानामिति वर्णितम्" (भा. नि. 12।17).

षोडशग्रन्थकी निरूपणशैलीसे इसमें थोड़ासा यह अन्तर है कि यहां निरोधोत्तर दो अवस्था 1.मुक्ति; और 2.आश्रयभावापत्ति स्वीकारी गई हैं. षोडशग्रन्थमें जबकि निरोध लक्षण ग्रन्थके बाद आते सेवाफल ग्रन्थमें सेवाके तीन फल 1.अलौकिक सामर्थ्य, 2.सायुज्य; और 3.वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेहो स्वीकारे गये हैं. स्पष्ट है कि इनमें 'सायुज्य' और 'मुक्ति' समानार्थी पद हैं, इसी तरह 'वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेह' और 'आश्रयभावापत्ति' भी अन्ततः एक ही अवस्थाके द्योतक है.

जहां तक 'अलौकिक सामर्थ्य' के अलग होनेका प्रश्न है तो उसमें यह ज्ञातव्य है कि भागवतके दशमस्कन्धमें तामस, राजस एवम् सात्त्विक प्रकारके भक्तोंके भक्तिकी प्रेम, आसक्ति एवम् व्यसनदशा का वर्णन क्रमशः प्रमाण, प्रमेय और साधन के रूपमें हुआ है. साधनके बाद तीनों ही प्रकारके भक्तोंकी फलावस्थाका भी वर्णन किया गया है. निरोधकी यही फलावस्था सेवाफलमें अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें वर्णित है. इसे 'व्यसनोत्तर-कृतार्थता' 'सर्वात्मभाव', 'मानसी सेवा' अथवा 'फलनिरोध' कहो बात एक ही बनती है.

षोडशग्रन्थ पुष्टिमार्गीयोंकेलिए श्रीमहाप्रभुने प्रकट किया है. पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थकी-"भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्" (का. 17) कारिकामें यह समझाया ही गया है कि पुष्टिमार्गमें फल स्वयम् भगवान् हैं, वे गुण या स्वरूप के भेदसे जैसे भी इस भूतलपर प्रकट हों, तदनुसार, उन्हें फल माना जाता है. स्वयम् स्वरूपात्मना इस भूतलपर भगवान्का भक्तोंके बीच प्रकट होना पुष्टिमार्गीय फल है. इसी तरह गुणगानकी प्रक्रियाद्वारा भी भक्तके हृदयमें भगवान्का प्रकट होना फल ही है. दोनों ही तरहके भगवत्प्राकट्यके कारण भक्त प्रपञ्चको भूलकर भगवदासक्त हो पाता है. हर सूरतमें इस भूतलपर यदि भगवदनुभव नहीं होता तो इस देहके छूटनेके बाद भगवान्में सायुज्यरूप मोक्ष मिलेगा अथवा वैकुण्ठ आदि लोकमे सेवोपयोगी देह मिलेगा. ये दोनों ही फल

इस भूतलपर घटित होनेवाली अनुभूति नहीं हैं, अत: पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें परिभाषित पुष्टिमार्गीय फलानुभूतिकी तुलनामें ये कुछ गौण अनुभूतियां हैं. अतएव इन अनुभवोंके सामर्थ्यको 'अलौकिक' नहीं कहा गया है, क्योंकि इनके लौकिक अनुभव होनेकी शमा ही नहीं उठ सकती है. फलनिरोध इस भूतलपर होनेवाली अनुभूति है, मानसीसेवाकी तरह, अत: इसके अनुभवको 'अलौकिक-सामर्थ्य' कहा गया है. अन्यथा भूतलपर घटित होती अनुभूतिको कोई लौकिक समझ सकता है. वास्तविकता जबकि यह है कि वह इस लोकमें घटित होनेपर भी अलौकिक घटना ही है.

निरोध अपने दोनों रूप, अर्थात् साधननिरोध एवम् फलनिरोध, में इस लोकमें घटित होनेवाली अलौकिक घटना है. "प्रपञ्चे क्रीडनं हरे:" वचनमें श्रीमहाप्रभु अतएव भारपूर्वक प्रपञ्च अर्थात् इस लोकका उल्लेख करते है. इस भूतलपर भक्तोंके बीच भगवत्क्रीडा साधननिरोध है. और ऐसी लीलाके कारण जब भक्त जगत्को भूलकर जगदीशमें अनन्यतया आसक्त हो जाता है तो वह फलनिरोध है. इस स्पष्टीकरणके बाद निरोधका प्रयोजनलक्षण सुगम हो जाता है.

भगवदवतारकालमें भूतलपर प्रकट होनेवाले भगवद्रूपकी वह लीला कि जिसका प्रयोजन जीवात्माको सर्वात्मभावका दान करना हो वह 'निरोध' कहलाती है. अवतारकालमें सायुज्यमुक्ति या आश्रयभावापत्ति प्रदान करनेकेलिए, जो वियोगानुभव भगवान् कराते है; और इस तरहके तीव्र वियोगमें, भक्तका निरन्तर भगवान्के गुणगानमें तल्लीन हो जाना भी निरोध ही है. ये दोनों तरहके लक्षण भगवदवतारकालके हैं.

अनवतारकालमें लीलाका स्थान तनु-वित्तजा सेवा ले लेती है और गुणगानका स्थान भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-किर्तन ले लेते हैं. तदनुसार निरोधका प्रयोजन सेवाफलमें वर्णित अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य एवम् वैकुण्ठादिलोकमें सेवोपयोगी देहका लाभ माना जाता है.

अवतारकाल हो या अनवतारकाल सच्चे पुष्टिभक्तकी भक्ति निरुपाधिक-निष्कारण-निष्प्रयोजन ही होती है. भक्त केवल भगवान्को ही चाहता है; मुक्तिको नहीं, पर भक्ति अवाञ्छित फलप्रदान करती ही है. यह तृतीयस्कन्धमें कहा गया है. अत: प्रयोजनलक्षण भक्तके भाव-अभिप्रायको दृष्टिगत रखकर नहीं दिया गया है किन्तु भक्तिके स्वभावको दृष्टिगत कर दिया गया है.

इसके अलावा एक और दृष्टिसे भी निरोधका लक्षण-व्याख्यान किया जा सकता है वह है:

1.करण-निरोध

2.व्यापार-निरोध

3.फल-निरोध

1.करण-निरोध:

सुबोधिनी तथा भागवतार्थनिबन्धके तामसप्रकरणके प्रारम्भमें इस विषयकी विवेचना हुई है कि जीवके स्वभावका बदलना स्वयम् जीवकेलिए सर्वथा अशक्य बात है. अत: जीवके सात्त्विक, राजस या तामस स्वभावोंके अनुरूप स्वरूप धारण कर भगवान् जब भूतलपर प्रकट होते हैं और भक्तोंके बीच लीला करते हैं, तब अपने-अपने स्वभावोंके अनुरूप जीव भगवान्के स्वरूप एवम् लीलाओंमें आसक्त हो ही जाते हैं. इस लीलाविहारी श्रीकृष्णमें आसक्तिके कारण प्रापञ्चिक विषयोमें आसक्ति अनायास स्वतएव टूट जाती है. अथवा स्वार्थबुद्धिरहित केवल भगवदुपयोगिताकी भावनामें रूपान्तरित हो जाती है. यह विलक्षण परिवर्तन जिस लीलाके कारण सम्भव होता है, उस भगवल्लीलाको करणात्मक निरोध माना जाता है.

'करण' यानि असाधारण कारण. दशमस्कन्धमें वर्णित भक्तों-विशेषत: व्रजभक्तोंको जो प्रपञ्चविस्मृति और कृष्णासक्ति की सिद्धि मिली, उसका असाधारण कारण भक्तस्वभावानुरूप भगवद्रूप एवम् भगवल्लीला ही थे. अतएव कहा गया है-"ते नाधीतश्रुतिगणा: नोपासीतमहत्तमा: अव्रतातप्ततपस: सत्सङ्गान्मामुपागता: केवलेन हि भावेन गोप्य: गाव: नगा मृगा: येन्ये मूढधियो नागा: सिद्धा: मामीयुरञ्जसा, यं न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोध्वरै: व्याख्यास्वाध्यायसक्क्यासै: प्राप्नुयाद् यत्नवानपि" (भा. 11।12।7-9). यहां जिस सत्सङ्ग और जिस भाव को स्वप्राप्तिमें भगवान्ने साधन माना है, वह स्वयम्का लीलात्मक सङ्ग तथा लीलासक्तिरूप भाव ही है. अन्य सभी योग साङ्ख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, व्याख्यान, स्वाध्याय एवम् सन्यास रूप साधनोंकी अकिञ्चित्करता स्वयम् भगवान्ने ही वर्णित कर दी है. इसे 'साधननिरोध' अथवा "भगवान्का भक्तोंमें निरोध" माना जाता कहा जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि भक्तोंके स्वभावानुरूप भगवान्की लीला, भक्तोंके निरोध अर्थात् प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का असाधारण कारण है.

2.व्यापार-निरोध:

कारण दो तरहके होते हैं:1.उपादान 2.निमित्त. मिट्टी घडेका उपादान कारण होती है. चक्का, दण्डा आदि उपकरण निमित्त कारण माने जाते हैं. निमित्त कारणके निष्क्रिय होनेपर कार्य उत्पन्न नहीं होता. अत: सक्रिय-क्रियाव्यापार करनेवाले कारणको 'करण' या 'उपकरण' कहा जाता है.

भगवल्लीलाको निरोधकी उत्पत्तिमें करण माना गया है. तदनुसार ही कुछ व्यापार भी होना चाहिये. अत: प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति यह भगवल्लीलाका व्यापार है. जैसे चक्केका फिरना या दण्डेसे फिरना, इन व्यापारोंके कारण चक्का-दण्डा आदि उपकरणोंको 'करण' कहा जाता है.

3.फल-निरोध:

भक्तकें स्वभावानुरूप करण-भगवल्लीला और उसके व्यापार-प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके फलस्वरूप भक्तके प्रापञ्चिक विषयोंके सारे बन्धन टूट जाते हैं. इनका अभाव हो जाता है. यह दो प्रकारसे होता है. या तो भक्तसे सम्बन्धित सारे लौकिक पदार्थ और भावों में भगवदावेश अलौकिकता अर्थात् सच्चिदानन्दात्मकता प्रकट हो जाती है; या फिर लौकिक पदार्थ और भावोंसे मुक्त होकर जीव सायुज्य या वैकुण्ठ आदि लोकोंमें सेवोपयोगी देह प्राप्त कर लेता है. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं-"लौकिकेषु तु भावेषु यत्रैव हरिवेशनं निवर्तते तदेवात्र वन्हेर्दारुमयं यथा" (सुबो. 10।5।1). जिन-जिन लौकिक भावोंमें या पदार्थोंमें भगवदासक्तिके कारण भगवदावेश हो जाता है उन सभी पदार्थो और भावों में तिरोहित चिदंश और आनन्दांश पुन: प्रकट हो जाता है. यों सच्चिदानन्दांशके पूर्ण प्राकट्यके कारण वे ब्रह्मात्मक हो जाते हैं. काष्ठमें तिरोहित अग्नि जैसे एक बार प्रकट हो जाती है तो काष्ठ स्वयम् अग्निरूप हो जाता है. ऐसे ही जिस भक्तमें प्रपञ्चविस्मृतिके साथ भगवदासक्ति प्रकट हो जाती है, उसके सभी पदार्थ और भाव अन्तत: सच्चिदानन्द ब्रह्मका रूप धारण कर लेते हैं. वैसे भी जगतकी प्रत्येक वस्तुका वास्तविक या आन्तरिक स्वरूप तो ब्रह्मात्मक ही होता है, पर अज्ञानवश हमें विपरीत भान होता है और वह भान निवृत्त हो जाता है.

अद्वैतियोंके मिथ्या-मायिक प्रपञ्चकी तरह यह प्रपञ्चका बाधज्ञान नहीं है. न नैयायिकोंके अनित्य प्रपञ्चकी तरह यह प्रपञ्चका नाश ही है. साङ्ख्यके प्राकृत प्रपञ्चकी तरह इसे विकृतिका प्रकृतिमें पुन: लीन हो जाना भी माना नहीं जा सकता है. प्रपञ्चके ब्रह्मात्मक हो जानेका तात्पर्य केवल इतना ही है कि दृष्टा जीवको वह ब्रह्मात्मक होनेपर भी वैसा दिखलाई नहीं देता है, पर निरुद्ध भक्तकी दृष्टिमें अपने प्रियतम परमात्माके अलावा अन्य कुछ आता ही नहीं, फलत: जड़जगतके विभिन्न पदार्थ भी उसे सच्चिदानन्दात्मक

दिखलायी पड़ने लगते हैं. इसी तरह जीवजगत्के भी सभी रूपोंमें ब्रह्मात्मकताका भान होने लगता है. जड़-जीवात्मक जगतकी जड़रूपता एवम् दु:खरूपता तिरोहित हो जाती है. इस अर्थमें इस अवस्थाको कभी 'प्रपञ्चप्रलय' या 'प्रपञ्चनाश' कहा जाता है. यह फलनिरोध है अर्थात् भक्तका भगवान्में निरोध है. इसका प्रयोजनलक्षणके अन्तर्गत विचार हुआ है.

दशमस्कन्धमें भगवान्की लीलाका वर्णन चतुर्धा हुआ है:

1.प्रमाण-निरोध

2.प्रमेय-निरोध

3.साधन-निरोध

4.फल-निरोध

1.भगवान्की प्रमाणरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त अपने स्वभावके अनुरूप धारण किये गये भगवद्रूपको जान पाता हैं. अत: ऐसी लीलाको 'प्रमाणनिरोध' कहा जाता है. प्रमाणलीलाके करण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें प्रेमके रूपमें प्रकट होता है. इसका फल भक्तके हृदयमें प्रमेयकी स्थिरता होती है.

2.भगवान्की प्रमेयरूपा निरोधलीलाके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारण किया गया भगवान्का रूप प्रमेय भक्तके हृदयमें सर्वथा आरूढ हो जाता है. अत: ऐसी लीलाको 'प्रमेयनिरोध' कहा जाता है. प्रमेयलीलाके करण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें भगवदासक्ति-भगवानसे अलावा अन्य सभी विषयोंमें अरुचि-के रूपमें प्रकट होता है. इसके फलस्वरूप भक्त अपने मनोरथोंके अनुरूप भगवान्के रूपकी प्राप्तिके साधनोंमें जुट जाता है.

3.भगवान्की साधनरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारित भगवान्के रूपकी प्राप्तिके साधनोंमें भक्त तत्पर हो पाता है. अत: ऐसी लीलाको 'साधननिरोध' कहते हैं. साधनलीलाके करण बननेपर व्यापार भक्तके

हृदयमें भगवद्व्यसनके रूपमें प्रकट हो जाता है. अब भगवान्के बिना भक्त रह नहीं पाता. फलस्वरूप अपने मनोरथके अनुरूप भगवद्रूप एवम् भगवल्लीलाकी अनुभूति उसे होने लगती है.

4.भगवान्की फलरूपा निरोधलीलाओंके कारण भक्त-स्वभावानुरूप धारित भगवद्रूपकी लीलामें भक्त सम्मिलित हो पाता है. अत: ऐसी लीलाको 'फलनिरोध' कहा जाता है. फलात्मिका लीलाके करण बननेपर व्यापार भक्तके हृदयमें मानसी सेवा, सर्वात्मभाव आदिके रूपमें प्रकट होता है. फलस्वरूप भगवान्के बाह्य-आभ्यन्तर अनुभवोंका चक्र भक्तके हृदयमें निरन्तर चलने लग जाता है. भक्त भगवान्में तन्मनस्क तदालाप तद्विचेष्ट तदात्मक तद्गुणगानपरायण होकर अपने देह-गेहकी सुध-बुध खो देता है! भजनानन्दकी इस पराकाष्ठाकी तुलनामें भक्तको ब्रह्मानन्द कभी सुहाता नहीं है!! ब्रह्मानन्दमें एकरसता होती है शुद्ध-अद्वैतरूप, जबकि भजनानन्दमें अनेकविध मधुरता रहती हैं:द्वैतरूप भी और अद्वैतरूप भी!!!

सायुज्यरूप मोक्ष अथवा ब्रह्मभावार्पात्तरूप वैकुण्ठादि लोकमें सेवोपयोगीदेह भी इस पूर्वोक्त अलौकिक-सामर्थ्यकी तुलनामें भक्तके मनको लुभावने नहीं लगते हैं. भगवत्संयोग सेवा और भगवद्वियोग कथाके अहर्निश चलते चक्रसे बढ़कर केवल विप्रयोगको माना नहीं जा सकता है. यही कारण है कि मुक्ति या आश्रयभावापत्ति की ओर ले जानेवाले भ्रमरगीतमें वर्णित वियोगका स्थान फलप्रकरणमें न हो कर प्रमेयप्रकरणमें है.

मय्यावेश्य मन: कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्, अनुस्मरक्त्यो मां नित्यमचिरान्मामवाप्स्यथ" (भा. 10।47।37) की सुबोधिनीमें इस अवस्थाकी व्याख्या करते हुए श्रीमहाप्रभु कहते हैं-अहं हि कृत्स्न: प्रसादेनापि प्राप्त: कृत्स्नेनैव साधनेन प्राप्तुं योग्य: साच कृत्स्नता अस्यामेवावस्थायां भवति नान्यथा". अर्थात् तामसफलप्रकरणमें भगवान्के रसात्मक रूपका अनुभव

यद्यपि पूर्णतया हो ही गया था, किन्तु वह साधनावस्थाके बाद फलावस्थाके क्रमानुसार न होकर भगवदनुग्रहवश साधनाचरणकी पूर्णतासे पूर्व ही फलानुभूतिके सम्पन्न हो जानेकी लीला थी. अब राजसप्रमेय-प्रकरणमें, अर्थात् जो राजस भक्तोंकेलिए प्रमेयरूपा निरोधलीलाका प्रकरण है, वहां तामसभक्तोंकी तो फलानुभूतिका नहीं किन्तु साधनानुभूतिका ही स्तर हैं.

"आन्तरं तु परं फलम्" (सुबो. 10।26।1) अथवा युगलगीतमें वर्णित "द्वत्रिंशेऽन्तर्गोपिकानां स्वानन्दं भगवान् हृदि पूरयामास तेनैव पूर्णानन्द इतीर्यते" वाला परमफलात्मक वियोग भ्रमरगीतमें वर्णित वियोग, नहीं है. अतएव श्रीप्रभुचरणने इस वियोगानुभूतिका वास्तविक स्वरूप इन शब्दोंमें समझाया है-"एतासां तु अधुनैव बहिस्सङ्गमो अभिलषित: तदभावादस्मदनभिप्रेतामपि अस्मदधिकारविरुद्धामपि ज्ञात्वा ईश्वरभावेनाज्ञापितवान्, अनभिप्रेतमपि बलाद् ग्राहयितुम् इति अनाकर्णनीम् इदं भवति यद्यपि, तथापि प्रियतमसम्बन्धित्वेनैव श्रुतत्वात् तथैव फलिष्यति. नतु उपदेशत्वेनेति ज्ञापनायाग्रे सन्देशपदम्" (टिप्प. 10।44।29). प्रमेयस्वभावके विवश व्रजभक्तोंने वियोग स्वीकारा है निज भाव या अभिलाषा के वश नहीं. भगवत्कथाके श्रवण या कीर्तन का फल, भगवत्स्वरूप एवम् भगवल्लीलाका पहले आन्तर और बादमें बाह्य अनुभव स्वीकारा गया है. बाह्यानुभवके अभावमें केवल आन्तर व्यर्थ होता है-"बाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता" (सुबो. 1।6।1).

इस आन्तर अनुभव और बाह्य अनुभव के सूक्ष्म रहस्यको समझनेकेलिए निरोधके दो और भी रूपोंकों समझना आवश्यक हो जाता है:

क.स्वरूप-गुण-उभयकृत निरोध

ख.केवल गुणकृतनिरोध

क.तामसफलप्रकरणके विवेचनमें श्रीमहाप्रभुने यह समझाया है कि यहां सात अध्यायोंमें अर्थात् 26 वें अध्यायसे लेकर 32 वें अध्याय तक, क्रमश: 1.ऐश्वर्य, 2.वीर्य, 3.यश, 4.श्री, 5.धर्मी, 6.वैराग्य, 7.ज्ञान यों छह भगवद्गुण और सातवें स्वयम् धर्मी भगवान्के स्वरूपका वर्णन अभिप्रेत है.

इस फलरूपा निरोधलीलाके स्वरूपका भलीभांति विमर्श करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि सातों अध्यायोंमें फलरूपलीलाका ही वर्णन अभिप्रेत होनेपर भी धर्मिनिरूपक पांचवे अध्याय तथा ज्ञाननिरूपक सातवें अध्यायका कुछ विशिष्ट महत्त्व है ही. अतएव प्रारम्भमें रूपलीलाके 'बाह्याभ्यन्तरभेदेन' जो दो प्रकार दिखलाये गये हैं, वे इन दो अध्यायोंमें चरमोत्कर्षके रूपमें वर्णित हुए है. धर्मिप्रकरणमें बाह्य संयोगसुखका तथा ज्ञानप्रकरणमें आन्तर संयोगका वर्णन हुआ है.

"ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत् परिवर्तते" की उक्तिके अनुसार यहां परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनोंमें संयोगसुखका ही वर्णन अभिप्रेत है. अतएव इसे फलप्रकरण माना गया है.

ख.इसके विपरीत राजसप्रमेय प्रकरणमें व्रजभक्तोंकी अनुभूतिका स्वरूप श्रीमहाप्रभुने इन शब्दोंमें दिया है-"अन्तर्निष्ठा वा विरहो वा, द्वयमेव, नतु तासामन्या लौकिकी अवस्था" (सुबो. 10।44।48). यहां पूर्वोद्धृत "आन्तरं तु परं फलम्" वचनके आधारपर अन्तर्निष्ठाको तो परमफलरूप मानना ही पडेगा. परन्तु द्वितीयांश विरहकी फलरूप माननेका कोई भी आधार मिलता नहीं है. यह विरह अत: फलरूप न होकर पूर्ववर्णित 'साधनकृत्स्नता' ही है. इसीलिए श्रीमहाप्रभु इसे 'फलरूप' न कहकर 'फलसाधक' कहते हैं.-"...फलसाधकत्वाद् भक्तिमार्गे विरह एव पुरुषार्थ.." विरहावस्थामें किये जाते गुणगानके सुख और भगवत्स्वरूपानुभवके सुखका परस्पर तारतम्य समझाते हुए श्रीमहाप्रभु कहते हैं.-"परं विरलममृतम्. केवल मरणोपस्थितौ

तन्निवर्तकमेवेति, नतु सम्भूयैकत्र रसजनकम्. रसपिण्डयोरिव तव कथायाश्च विशेष:. अन्यथा कथार्थमेव यत्न: कृत: स्यात्. परं विरहे मरणनिवर्तकत्वेन तदुपयोग इति भगवत्त्वेन स्तूयते". भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनके कारण भक्तके प्राण तीव्र विरहवेदनामें भी निकल नहीं जाते टिके रहते है. एतावता भगवान्की तरह भगवद्गुणगानकी भी प्रशंसाकी जाती है. वास्तविकता परन्तु यह है कि भगवत्स्वरूपकी रसानुभूतिमें सुख घनीभूत होता है और भगवत्कथामें वह तरल हो जाता है.

इससे सिद्ध होता है कि केवल गुणकृत निरोधमें बाह्य एवम् आन्तर संयोग सुखकी फलानुभूतिका चक्र सतत नहीं चलता. वहां विरहदु:ख और अन्तर्निष्ठाके संयोगसुखका चक्रवत् आवर्तन चलता है. अत: इसके अर्धांशमें साधनरूपता और अर्धांशमें फलरूपता है. जबकि रसात्मक होनेके कारण द्विदलात्मक; और द्विदलात्मक होनेके कारण संयोग-वियोगात्मक या 'नटवर' वपु रूप भगवान्का फलरूप होना वियोगमें अन्तर्निष्ठके कारण मिलते आन्तर संयोगसुख और संयोगमें स्वरूपानुभूतिके कारण मिलते बाह्य संयोगसुखको लक्ष्यमें रखकर स्वीकारा गया है. आन्तरसुख-दान रसनाटन है तथा बाह्यसुखदान रसरूप प्रत्यग्रभोग है. यह 'बर्हापीडं' श्लोककी सुबोधिनीसे सिद्ध होता है. अत: उत्तरदलमें अन्तर्निष्ठाके अंशमें फलरूपता तथा विरहांश या धर्मिविप्रयोग के अंशमें साधनरूपता है. केवल विरहके फलरूप होनेका उल्लेख श्रीमहाप्रभु अथवा श्रीप्रभुचरणके किसी भी वचनमें मिलता नहीं है. आन्तर संयोग सुख प्रदान करनेवाला विप्रयोग स्वतन्त्र अङ्गीरूप निरोध है. जबकि केवल विरह आन्तरसंयोग-सुखके अभावके कारण, मुक्ति या आश्रयभावापत्ति का अङ्गरूप निरोध माना जाता है. इसे 'केवलगुण-कृत निरोध', 'धर्मिविप्रयोग' 'केवल विरह', 'मुक्त्यङ्ग निरोध' या "आश्रयभावापत्त्यङ्ग निरोध" कुछ भी कहो अर्थ एक ही होता है.

इस तरह निरोधके कारण-स्वरूप-कार्य-प्रयोजन-रूप चतुर्विध लक्षण, त्रिविध स्वरूप कारण-व्यापार-फल-रूप; तथा स्वरूप-गुण-उभयकृत और केवलगुणकृत निरोधके रूपमें अनेकधा भेद-उपभेदोंके विस्तृत विमर्श करनेपर निरोधलक्षण ग्रन्थको समझना एकदम सरल हो जाता है. फिरभी ग्रन्थके अनुवादसे पूर्व एक और स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है. उसे देखनेके बाद ही ग्रन्थानुवाद देखेंगे.

वैसे तो हमने देख ही लिया कि निरोधलक्षण, भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें वर्णित पांचों प्रकारके अधिकारियोंको लक्ष्यमें रखकर उपदिष्ट हुआ है. फिरभी इसे सोपपत्तिक समझ लेना अत्यावश्यक है. सन्यास निर्णय ग्रन्थके-"कौण्डिन्यो गोपिका: प्रोक्ता: गुरव: साधनं च तद्भावों भावनया सिद्ध:" वचनमें व्रजभक्तोंके भावोंका भावनात्मक अनुसरण विरहानुभवार्थं गृहत्याग करनेवालोंकेलिए आवश्यक माना गया था. व्रजभक्तोंके भावोंकी भावना केवल गृहत्यागियोंकेलिए ही है ऐसा नहीं समझना चाहिये. क्योंकि 'भजनीयो व्रजाधिप:' कहकर व्रजभावनाकी उपयोगिता सभी पुष्टिभक्तोंकेलिए सर्वदा ही चतुश्लोकीमें आवश्यक मानी गयी है. इसी तरह पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें पुष्टिजीवोंके फलानुभवके प्रकारमें गुण-स्वरूपका प्रभेद मान्य हुआ ही है. "स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्" वचनद्वारा भगवत्सेवा-कथाकी आवश्यकता चतुश्लोकीमें प्रतिपादित हुई है. अत: सेवा और कथा दोनोंमें ही व्रजभावना आवश्यक है. अत: इस निरोधलक्षण ग्रन्थमें सभीकेलिए सर्वप्रथम व्रजभावनाका स्वरूप समझाया जा रहा है.

निरोधकार्य संयोगसुख-वियोगदु:खकी भावना:

जिन भक्तोंसे सेवा और कथा दोनों निभ पाती हों उन्हें अपने भावके अनुरूप सेवा करते समय गोकुलकी भावना और कथा के समय वृन्दावनकी भावना करनी चाहिये.

गोचारणकेलिए प्रतिदिन भगवान् वृन्दावन पधारते है. तब गोकुलमें वात्सल्यभाववाले नन्द-यशोदा आदि भक्तोंको तथा शृङ्गारभाववाली गोपिकाओंको जैसे विप्रयोगदु:खकी अनुभूति होती है, वैसी दु:खानुभूति विरहवेदना हमें कथाकालमें कब होगी!

सायंकाल गोचारण कर भगवान् गोकुल लोटते हैं. तब गोकुलमें गोपिकाओंको तथा अन्य भी सभी व्रजवासियोंको अनेक रीतिसे भगवत्सेवाद्वारा जैसा संयोगसुख मिलता है, वैसा सुख सेवाके समय भगवान् मुझे कब प्रदान करेंगे!

इस तरह तामसफलप्रकरणके "ज्ञानं भक्तिश्च: सततं चक्रवत्परिवर्तते" वचनमें वर्णित संयोग-वियोग-रूप अवस्थामें निरोधके कार्य सुख-दु:खकी भावना करनी चाहिये.

जिन भक्तोंसे सेवा-कथा एक साथ नहीं निभ पाती, ऐसे मध्यमाधिकारियोंको पहले, राजसप्रमेयप्रकरणमें वर्णित तीव्र विप्रयोग वेदनाकी भावना करनी चाहिये; और बादमें कथाश्रवणकालमें अन्तर्निष्ठाके साथ आन्तरसंयोग सुखकी भावना करनी चाहिये.

उद्धवके व्रज आनेपर उनके साथ भगवत्कथाके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें जैसा एक सुमहान् उत्सव प्रकट हुआ, वैसे उत्सवकी अनुभूति कथा-श्रवण करते समय हमारे मनमें कब होगी! गोकुलमें साख्य-वात्सल्य-भाववाले व्रजभक्तोंको और वृन्दावनमें सख्य-माधुर्य-भाववाले व्रजभक्तोंको उद्धवके साथ भगवद्गुणगान करते समय जैसा आल्हाद अनुभूत हुआ वह मेरे हृदयमें कब प्रकट होगा!

केवल कथाका समाश्रयण करनेवाले भक्तको ऐसी भावना करनी चाहिये. इस तरह यहां निरोधका कार्यलक्षण श्रीमहाप्रभुने सूचित किया है.

निरोधके कारणभूत गुणगानकी आवश्यकता:

कार्यलक्षणको सूचित करनेके बाद श्रीमहाप्रभु निरोधके कारणलक्षणको सूचित करना चाहते हैं.

पूर्वोक्त भावनाओंको करते रहनेपर भी हृदयमें भावोंका उदय सहसा नहीं हो पाता है. महान् भक्तोंकी कृपा होनेपर ही भगवान् ऐसी दया हमपर करते हैं कि हमारे हृदयमें भाव अमुरित हो पाते हैं. इस बीच आनन्दसन्दोह-सुखसिन्धु भगवान् श्रीव्रजाधिपके रूप, गुण, लीला एवम् नामोंका समीर्तन हमें करना चाहिये. इससे भक्तिमार्गपर हमारी यात्रामें हम सुखपूर्वक आगे बढ़ पायेंगे.

श्रीप्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि "तादृशी भावना कार्या यया भावामुरोदय:, श्रीमदाचार्यकृपया भवेद् भावो न चान्यथा... भावो भावनया सिद्ध इति वाक्यात्प्रतीयते, तद्वाक्यपरिनिष्ठानां हृदि भावामुरो भवेत्". अत: श्रीमदाचार्यचरण, श्रीयमुना तथा पुष्टिपथ के आद्यपथिक-गुरु श्रीव्रजभक्तोंकी कृपा होनेपर भगवत्कृपाभाजन बननेका अधिकार प्राप्त होता है.

घी चुपड़ी हुई गरम रोटी और रूखी-सूखी बासी रोटीके स्वादमें बहुत अन्तर पड जाता है. इसी तरह स्नेहभावकी ऊष्मावाले पूर्ण भगवदीयोंके मुखसे, उनकी कृपादृष्टिकी स्निग्धताके साथ, भगवत्कीर्तनका श्रवण जितना सुखद होता है, उतना लौकिक प्रयोजनकी पूर्तिकेलिए ठण्डें दीमागसे जोड़तोड़ बैंठाकर, भगवत्कथामें प्रवृत्त होनेवाले व्यक्तिके मुखसे भगवत्कथा सुनना सुखद नहीं होता. वह तो रूक्ष कीर्तन लगता है. भगवान् गोविन्दके गुणगानमें जैसा सुख श्रीशुकमुनि जैंसे निर्ग्रन्थ आत्माराम मुनियोंको मिलता हैं, वैसा उन्हें अपनी ब्रह्मात्मैक्यकी अनुभूतिमें भी नहीं मिलता हैं. अतएव श्रीशुकके-"परिनिष्ठतोपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्" (भा. 2।1।9) वचनकी व्याख्यामें श्रीमहाप्रभुने विवेचन किया है "आत्मलाभसे उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है. ऐसे शास्त्रीय वचनोंके अनुसांर आत्मपर्यवसायी गुणातीत समाधिमें नित्य स्थित होनेपर भी भागवतके रसकी अनुभूति होनेपर, उसकी अप्राकृतता-दिव्यता समझमें आनेपर, श्रीशुकको यह

समझमें आया कि ब्रह्ममें लीन होनेवालेको जब समाधि-अवस्थाकी गरज नहीं रह जाती, तब ब्रह्मानन्दसे भी अधिक रसप्रद भागवतके कथारसको छोडकर कौन समाधिके चक्करमें पडे!"

इस भगवद्गुणगानके कारण भक्तके हृदयमें भगवदासक्तिरूप स्थायी भाव, जब भगवद्विरहक्लेशके कारण तापयुक्त हो जाता है, तब हृदयमें छिपे हुए भावात्मा भगवान् सदानन्द श्रीकृष्ण कृपायुक्त होकर बाहर प्रकट हो जाते हैं, आलम्बन-विभावके रूपमें.

भावात्मना हृदयमें बिराजें अथवा भावके आलम्बनात्मना बाहर प्रकट हों, भगवान् सर्वत: सर्वथा आनन्दमय ही होते हैं. इस आनन्दमय परमात्माका सर्वात्मभावके रूपमें प्राकट्य उस परमात्माकी परमकृपामयी आनन्दानुभूति है. यह कृपा सुदुर्लभ है. भक्तके हृदयमें भावके रूपमें भरा हुआ सेतु, भगवद्गुणगानके श्रवण-कीर्तनके सरित्प्रवाहसे अहर्निश भरे जानेपर एक दिन छलक जाता है! इस तरह कि भक्तके देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्त:करण, आत्मा तथा अन्य भी आत्मीय वस्तुओंको वह अपनी अलौकिक रसानुभूतिसे प्लावित कर देता है!!

अत: सदानन्द श्रीकृष्णकेद्वारा निरुद्ध अर्थात् पुष्टिमार्गमें अङ्गीकृत जीवोंको चाहिये कि सारी लौकिक आसक्तियोंको छोड़कर केवल भगवान्के गुणगानमें वे तत्पर हो जायें. गुणगानके कारण अन्तत: सर्वत्र ब्रह्मरूपताकी अनुभूति भक्तको अपने देह, इन्द्रिय, अन्त:करण तथा आत्मा से भी होने लगेगी. प्रपञ्चकी अनुभूति रह ही नहीं जाती तो स्मृति कहांसे होगी? फलस्वरूप प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति रूप निरोध सिद्ध हो जाता है.

निरोधके वास्तविक स्वरूपके उपदेशक श्रीमहाप्रभु:

छान्दोग्योपनिषद्में आता है कि देवता देवविद्या और आत्मविद्या का उपदेश तो कर सकते हैं, पर गति तो आचार्य ही दिखला सकते हैं, आचार्यसे जब विद्या मिलती है तो वह सिद्धतम होती है-"ते होचुरुपकौसलैषा सौम्य

तेऽस्मद्विद्या आत्मविद्या च, आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" (4।14।1) "आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्टं प्रापतीति" (4।9।3).

भागवत (5।12।12) में भी गुरुकृपाकी महत्ता महत्पादरजोभिषेकके रूपमें प्रशंसित हुई है-"रहगणैतत् तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यर्विना महत्पादरजोभिषेकम्. यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवाद: प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविधात: निषेव्यमाणोनुदिनं मुमुक्षोर्मतीं सतीं यच्छति वासुदेवे".

इससे सिद्ध होता है कि भगवन्मार्गमे आचार्यकी महत्ता असाधारण है अत: स्वयम् भगवान्ने भी आज्ञा दी है कि "आचार्य मां विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित् न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरु:" (भा. 11।17।27). अर्थात् आचार्यको साक्षाद् भगवद्रूप ही समझना चाहिये-मर्त्यबुद्धिसे आचार्यको देखना आचार्यके साथ असूयाका व्यवहार है. आचार्यके माध्यमसे ही भगवान् अपनी गति व्यक्त करते हैं-"आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति" (भा. 11।29।6).

निरोधके कारणलक्षणमें यह समझाया गया था कि इस भूतलपर भक्तोंके बीच भगवान्का प्रकट होना करणनिरोध है, अर्थात् भगवान्का भक्तोंमें निरुद्ध होजाना है. अतएव श्रीमदाचार्यचरणका भूतलपर प्रकट होना उनका भक्तोंमें निरुद्ध होना ही है. इसे सर्वोत्तमस्तोत्रके चार नामों-"श्रीभागवतगूढार्थ-प्रकाशन-परायण:", "जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्" तथा "सर्वासक्तो भक्तमात्रासक्त:" के अवलोकन करनेपर अच्छी तरह समझा जा सकता है.

श्रीप्रभुचरणने अतएव वल्लभाष्टकमें-"घोषाधीशं तदेमे कथमपि मनुजा: प्राप्नुयु: नैव दैवीसृष्टिर्व्यर्था च भूयान्निजफलरहिता देव वैश्वानरैषा" कह कर श्रीमदाचार्यचरणके प्राकट्यके करणनिरोध होनेकी पुष्टि की है. स्वयम् श्रीमदाचार्यचरणने भी-"अर्थं तस्य विवेचितुं नहि विभु: वैश्वानराद्वाक्पते: अन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवत् श्रीपति: दत्वाज्ञां च कृपावलोकनपटु: यस्मादतोहं मुदा गूढार्थं प्रकटीकरोमि" (सुबो. 1।1।1) कह

कर अपने प्राकट्यकी निरोधरूपता ही ध्वनित की है. वही करणनिरोधरूपता अपने प्राकट्यकी श्रीमहाप्रभु 'अहं निरुद्धो' वचनद्वारा यहां सूचित कर रहे हैं.

पुष्टिमार्गीय जीवोंकी भगवदासक्ति और प्रपञ्चविस्मृति में कहीं कोई बाधा न आ जाये एतदर्थ अपने पृथ्वीपरिक्रमा करके उनके समक्ष स्वयम् भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा के अलावा अन्य सभी वस्तुओंकी विस्तृतिका उदाहरण स्थापित किया. इस व्यापारनिरोधको ही यहां 'रोधेन' पदद्वारा सूचित करते है.

इस व्यापारनिरोधके कारण ही फलनिरोध भी आपके अनुयायीओंमें प्रकट हुआ है. इसका सूचन सर्वोत्तमस्तोत्रमें-"सान्निध्यमात्र-दत्त
-श्रीकृष्णप्रेमा" द्वारा श्रीप्रभुचरणने भी किया हैं. यही 'निरोधपदवी' है, जिसे श्रीमहाप्रभुने पुष्टिमार्गमें भगवान्के द्वारा निरुद्ध या अङ्गीकृत दैवी जीवोंके निरोधकेलिए धारण की है-"रोधेन निरुद्धः निरुद्धानां तु रोधाय निरोधपदवीं गतो अहं ते निरोधं वर्णयामि".

अथवा वार्तामें हम देख गये हैं कि राजा-माधौ दुबे को अपने आज्ञा दी थी-"अब अपने घर जाय सेवा करो, दैवी जीव आवें तीनकों नाम दीजो. तुमको निरोध सिद्ध भयो और जो तिहारो सङ्ग करेगो ताहूंको निरोध सिद्ध होयगो!" यदि यही भाव यहां भी स्वीकारें तो अन्वय यों होगा-"रोधेन निरुद्धो निरोधपदवीं गतो अहं निरुद्धानां तु रोधाय ते निरोधं वर्णयामि". जैसे श्रीमहाप्रभुजीकी सेवा कथामय दिनचर्या-करणनिरोध तथा व्यापारनिरोध-से राजामाधौ दुबे को फलनिरोध-प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति सिद्ध हुई थी, वैसे ही राजा-माधौ दुबे के सेवा-कथामय जीवनसे पुष्टिमार्गमें निरुद्ध अनेक जीवोंको प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्तिका लाभ होगा. यह वरदान श्रीमहाप्रभु इस श्लोकमें दे रहे हैं.

निरोधका स्वरूप:

मुक्ति और आश्रयभावापत्ति, (अर्थात् सायुज्य और वैकुण्ठादि लोकमें सेवोपयोगीदेह) की प्राप्तिकी तुलना में, निरोधकी महत्ता यही है कि वह इस भूतलपर होनेवाली भगवदनुभूति है, जीवन्मुक्तिकी तरह.

सायुज्यमुक्तिमें जीवात्मा परमात्मामें लीन हो जाती है. भक्तके हृदयमें किन्तु ऐसे मनोरथ नहीं चल सकते. भगवान् स्वयम् कहते हैं कि "अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुक्ते" (भाग 3।25।36). अतएव वेणुगीतकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने निरोध और मुक्ति की तुलना: नेत्रवान् व्यक्तिको किसी सुरम्य दर्शनीय स्थल दिखाने और उसे निबिड अन्धकारवाले कूपमें बन्द कर देने से की है-"इदमेव इन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा यथान्धकारे नियता स्थिति: नाक्ष्णो: फलं भवेत् एवं मोक्षोपि इन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा नहि".

इसी तरह आश्रयभावापत्तिके भी अनेक प्रकार वर्णित हुए हैं. उनमें, वैकुण्ठादि लोकोमें नूतन सच्चिदानन्दात्मक दिव्य देह, यदि सेवोपयोगि मिलता हो तो, ऐसे दिव्य देहेन्द्रियोंसे भगवदासक्ति तो सम्भव है ही, अत: उसे भक्त भी स्वीकार सकता हैं. तात्कालिक आवश्यकता परन्तु भक्तको इस भूतलपर इन देहेन्द्रियोंसे अपने प्रियतम परमात्माके अनुभूतिकी है.

प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिसे जीवके सम्पन्न होनेपर यह अनुभूति सम्भव है. अन्यथा श्रीहरि जिन्हें विनिर्मुक्त करते हैं, अर्थात् जिन्हें निरुद्ध नहीं करते, वे भवसागरमें मग्न हो जाते हैं-डूब जाते हैं. यहां इस भूतलपर भगवान्की आन्तर एवम् बाह्य संयोगानुभूतिके कारण; अथवा सेवा और कथा के कारण अहर्निश मोदप्रमोदका अनुभव तो भगवान्के द्वारा निरुद्ध जीव ही कर पाते हैं.

लौकिक रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दोंमें आसक्त अर्थात् संसारावेशसे दूषित हमारी इन्द्रियोंकी दर्शनरति, आस्वादनरति, आघ्राणरति, स्पर्शनरति, श्रवणरति, या अन्य भी कर्मेन्द्रियोंके एवम् अन्त:करणके व्यापारोंमें रतिओंका

अहित दो तरहसे हो सकता है:या तो उन्हें किसी भी प्रकारके निग्रहके बिना लौकिक शुद्र सुखोंकी खोजमें निरन्तर भटकते रहने दिया जाये; या फिर उनका पूर्णतया निग्रह करके उन्हे सर्वथा खतम ही कर दिया जाये, विषयव्यामुख करनेके बजाय. विषयोंसे व्यामुख करनेकी बात तो समझमें आ सकती है पर नेत्रोंको दर्शनरतिसे वञ्चित करनेंमें नेत्रवान्को क्या लाभ हो सकता है? इन्द्रियवृत्तियोंका ऐसा दमन या निरोध 'कूयोग' कहलाता है. श्रीमहाप्रभु कहते हैं-"सर्वेषामेव निरोधने तत्तदधिष्ठातृदेवद्रोहो भवत्येव भगवत्समर्पणे तु तद्वचनेन तदुक्तमेव कृतमिति न कोपि दोष: सम्भवति" (सुबो. 2।4।17) इन्द्रियोंकी रत्यात्मक वृत्तियोंका दमन उचित नहीं है. इसी तरह लौकिक विषयोंमें इन्द्रियवृत्तियोंका दुरुपयोग भी उचित नहीं हैं. अत: इनके दुरुपयोग या अनुपयोग के बजाय कुछ भगवदुपयोग खोज लेनेपर इनका सदुपयोग हो जाता है.

सुबोधिनी (3।14।46) में श्रीमहाप्रभुने इसका विस्तृत निरूपण किया है-"प्राणियोंमें सतरह तरहकी वृत्तियां होती हैं:दस कर्मज्ञान्द्रियोंकी वृत्तियां, चार अन्त:करणकी वृत्तियां, एक देह सम्बन्धी वृत्ति, एक प्राणसम्बन्धी वृत्ति और एक आत्मसम्बन्धी वृत्ति. इन सभी वृत्तियोंकों भगवत्सम्बन्धी-भगवद्विषयक बनानेसे सर्वभवनसमर्थ-सर्वभावापन्न भगवान् प्रसन्न होते है".

यही 'भूमासुख' अथवा 'सर्वात्मभाव' कहलाता हैं. "भूमासम्प्रदादध्युपदेशात्" (1।3।8) ब्रह्मसूत्रमें यह निरूपण किया गया है कि सभी वृत्तियोंसे भगवदनुभूति भूमासुख है-"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति", "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छ्रणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" (छान्दोग्य. 7।23।1 और 7।24।1).

अत: इन्द्रियादिकी वृत्तियोंके सर्वथा अनुपयोग अथवा लौकिक विषयोमें दुरुपयोगमें उनका अहित-अल्पसुख होता है. भूमा-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें उन्हें योजित करना उनका वास्तविक सदुपयोग एवम् हित हैं. इसे ही

“प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति” भी कहते हैं. यह भक्तका भगवान्में निरोध है. भगवत्स्वरूपमें यह मुख्य निरोध जिनकेलिए शक्य न हो उन्हे भगवान्के गुणोंके श्रवण-स्मरण-कीर्तनमें अपना चित्त लगाना चाहिये. मुरवैरी भगवान्के गुणोंमें आसक्ति और प्रपञ्चविस्मृति सिद्ध हो जानेपर, न तो सांसारिक क्लेशोंकी अनुभूति होगी और न भगवद्विरहक्लेशकी ही. भगवान्के गुणानुवादमें भी साक्षात् भगवान्की तरह सुखदानका सामर्थ्य है.

केवल गुणकृत निरोध:

इस केवलगुणकृत निरोधद्वारा यदि भगवान् सुखदान न करते होते तो उन्हें दयालुके बजाय क्रूर ही मानना पडेगा. क्योंकि प्रपञ्चविस्मरणके कारण लौकिक सुखोंके छूट जानेपर, भगवान् यदि भक्तको भगवत्स्मरणकी प्रक्रियामें सुखदान न करते हों तो, भक्ति दु:खनिवर्तक ही मानी जायेगी, सुखप्रद नहीं. परन्तु गुणकृत निरोधमें भी इतनी सामर्थ्य है कि भक्त सांसारिक क्लेश और भगवद्विरहजन्य क्लेश, दोनोंसे ही उभर सकता है.

भागवत (10।87।20) में कहा गया है:“अपने दुर्ज्ञेय आत्मस्वरूपका भक्तोंको सुखानुभव करानेकेलिए भगवान् अनेक रूप धारण करते हैं. इन रूपोंमें भगवान् अनेकविध लीला भूतलपर प्रकट करते हैं. ऐसे भगवच्चरित्रके सुखसागरमें तैरनेवाले भक्त भगवान्के चरणसरोजोंके बीच निवास करनेवाले हंस परमहंसोके कुलमें प्रविष्ट होनेकी कामनासे निजकुल परिवारोंको छोड़ देनेपर भी, अपवर्ग या सायुज्यमुक्तिकी कामना नहीं करते हैं”. यहांकी सुबोधिनीमें कहा गया हैं-“यतोवतीर्णस्य कृष्णस्य चरित्रमात्रश्रवणेपि तादृश आनन्दो जायते येन विचारका: अपवर्गमपि परमानन्दप्रापकं न परिलर्षान्त कदाचिदपि न वाञ्छन्ति... गृहे हि महत्सुखं भवति. तत्सिद्धं विद्यमानं तदपि परित्यजन्ति. यदि भगवति सहस्रांशेनापि आनन्दसन्देहो भवेत् तर्हि विद्यमानं को वा त्यजेत्... चरणसरोजैकाश्रया ये हंसास्तेषां कुलं समूह: तेषां सङ्गार्थ विसृष्टं स्वगृहं यैस्तै: सह परमानन्दो बहुधा भोक्तव्य इति

मोक्षापेक्षयापि भगवत्कथाश्रवणरसोधिको निरूपित:" अत: केवलगुणकृत निरोधकी अवस्थामें भी, प्रपञ्चविस्मृतिके कारण न तो सांसारिक क्लेशकी अनुभूति होती है; और न भगवद्विरहजन्य क्लेशकी अनुभूति ही होती है, भगवदासक्तिवश होती आन्तर संयोगानुभूतिके कारण.

इस गुणकृत निरोधकी प्रारम्भिक अवस्थामें केवल मन, वाणी और श्रवण इन्द्रियोंका ही भगवान्में विनियोग होता है. सकल इन्द्रियोंका नहीं. ऐसी स्थितिमें अवशिष्ट इन्द्रियां कभी अपने-अपने लौकिक विषयोंमें रही आसक्तिके कारण प्रापञ्चविस्मृति अथवा भगवदासक्तिमें बाधा पहुंचा सकती हैं! ऐसी शमा गुणकृत निरोधके बारेमें नहीं करनी चाहिये. क्योंकि गुणकृत निरोधमें भी प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके एक बार सिद्ध होनेपर, सभी इन्द्रियोंसे 'आसक्तिभ्रमन्याय' (प्रेमी या प्रमिका को गाढ़ आसक्तिके कारण एकदूसरेके आगमनकी या उपस्थितिकी भ्रान्ति जैसे होती रहती है) से भगवान्का अध्यास, या भगवान्के गुणोंका अध्यास, लौकिक विषय-व्यक्तियोंमें तथा लौकिक रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि गुणोंमें भी बना ही रहता है. अत: लौकिक विषय इस अध्यासके कारण निरोधमें बाधा उपस्थित नहीं कर सकते.

अतएव छान्दोग्योपनिषद्में इस सर्वात्मभावकी अनुभूतिमें आसक्तिभ्रमन्यायसे होते विभिन्न सञ्चारिभावोंका वर्णन तदादेश अहमारादेश और आत्मादेश के रूपमें किया है-"स एवाधस्तात् स एवोपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात्... स एवेदं सर्वमिति अथातो अहमारादेश एवाहमधस्तादहमुपरिष्टादहम्... अहमेवेदं सर्वमिति. अथात् आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मैवोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्ताद्... आत्मैवेदं सर्वमिति. स एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द: स स्वराट् भवति. तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति". (7।25। 1-2). निरुद्ध भक्तको कभी अपनेसे भिन्न परमात्माकी अनुभूति सर्वत्र होती

है-कभी स्वयम्की ही अनुभूति सर्वत्र होने लग जाती है-कभी अपनेसे अभिन्न परमात्माकी अनुभूति सर्वत्र होने लग जाती है! रासपञ्चाध्यायीमें भगवान्के तिरोहित होनेपर "कृष्णोहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मना" (10।30।19) वचनोंमें गोपिकाओंके इसी तरहके अध्यासका उदाहरण मिलता है.

सर्वविषयोंमें भगवान्के अध्यासके कारण पुन: लौकिक विषयासक्तिमें मनकें भटक जानेकी आशमा भी नहीं करनी चाहिये. क्योंकि उन लौकिक विषयोंमें लौकिक-विषयत्वेन तो विराग ही रहता है. ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य जैसे भगवद्धर्मोके भक्तमें भी आवेशके कारण, इन धर्मोके आवेशसे पूर्व भी परमानन्दरूप भगवान्के धर्मरूप स्थायिभाव-भगवद्रतिके कारण भी लौकिक विषयोंमें विराग स्थिर रह सकता है. सर्वात्मभावको भी भगवद्धर्मरूप माना गया है, अत: सर्वात्मभावरूप भगवद्धर्मके कारण भी लौकिक विषयोंमें विराग स्थिर रह सकता है.

इस विषयवैराग्यके साथ भगवान्के गुणोंके अहर्निश श्रवण-स्मरण-किर्तनके कारण गुणोंके माध्यमसे सर्वदु:खहारी श्रीहरिका आन्तर सुखस्पर्श बना ही रहता है. अत: दु:खी होनेका तो कोई सवाल ही नहीं उठता.

सर्वात्मभावकी अनुभूति ज्ञानमार्गमें भी होती है और भक्तिमार्गमें भी. ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभाव शान्तरसात्मक होता है; तथा भक्तिमार्गीय सर्वात्मभाव यथायथ शृङ्गार सख्य, वात्सल्य या दास्य भावात्मक होता है. ज्ञानमार्गीय सर्वात्मभावमें केवल आत्माना ब्रह्मानन्दकी अनुभूति होती है पर भक्तिमार्गीय सर्वात्मभावमें सर्वेन्द्रिय अन्त:करण तथा आत्मासे भी भजनानन्दकी अनुभूति होती है. अतएव भ्रमरगीतकी सुबोधिनीमें यह कहा गया है कि सकल इन्द्रियोंसे अतीत अधोक्षज भगवान्को सकल इन्द्रियोंका विषय बनाना मुनियोंकेलिए भी दुर्लभ अनुभव है, जो गोपिकाओंको सर्वात्मभावके कारण सुलभ हुआ (सुबो. 10।44।25-27). हरिकथा-वर्णनके

श्रवण-स्मरण-कीर्तनके कारण पनपे इस सरस निरोधका यह उत्कर्ष, ज्ञानमार्गीय रूक्ष नीरस चित्तवृत्तिके निरोधकी तुलनामें, स्वीकारना ही पड़ता है.

हरिकथाके श्रवण-कीर्तनमें दो सावधानियोंकी अतिशय आवश्यकता है. प्रथम तो यह कि इस हरिकथाको, स्पर्धा-ईर्ष्या-द्वेषकी हमारी तुच्छ मनोवृत्तियोंको सन्तुष्ट करनेका माध्यम न बनाया जाये. दूसरे हरिकथाको उदरपूर्ति यश:कीर्ति अथवा चन्दा एकत्रित करनेके लोभवश न किया जाये. अन्यथा यह हरिकथा भक्तिमार्गीय उत्कृष्ट निरोध सिद्ध करनेमें विफल हो जाती है-"अमत्सरै: अलुब्धैश्च वर्णनीया: सदा गुणा:".

गुण-स्वरूप-उभयकृत-निरोध:

अवतारकालमें तो स्वेच्छया स्वरूपका प्राकट्य होता है. अनवतारकालमें स्वरूपके प्रकट न होने के कारण स्वरूपकृत निरोध सम्भव है कि नहीं? यह प्रश्न विचारणीय हैं.

तामसफलप्रकरण (10।26।13) में इस प्रश्नका खुलासा इस शब्दोंमे दिया गया है-"ज्ञानभक्त्योस्तु आविर्भावार्थमुपयोग: आविर्भावश्चेदन्यथासिद्ध: तदा न ज्ञानभक्त्योरुपयोग:. अत्रतु भगवान् स्वतएव आविर्भूत:, मुक्तिदानार्थं सर्वसाधारण्येन. ईश्वरेच्छाया अनियम्यत्वात्. अत: आविर्भाव: स्वेच्छया भक्त्या ज्ञानेन वा. भगवदवतारातिरिक्तकाले द्वयमेव हेतु: अवतारदशायां तु न तयो: प्रयोजकत्वम्. वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभमिति न कूपनदीनामनुपयोग: शमनीय:" अर्थात् भगवदार्विभावकेलिए ज्ञान या भक्ति की आवश्यकता है. अवतारकालमें तो भगवान् स्वेच्छया स्वतएव सभीके समक्ष प्रकट हो जाते हैं. अत: उस समय ज्ञान-भक्ति अनावश्यक हो जाते हैं. एतावता अनवतारकालमें उन्हें अनुपयोगी नहीं मान लेना चाहिये.

सर्वनिर्णय-निबन्ध (का. 228-229) में भगवान्के भक्तिमार्गीय आविर्भावकी प्रक्रिया दिखलायी गयी है:1.साकारब्रह्मवादके सिद्धान्तके अनुसार वस्तुमात्रके ब्रह्मात्मक होनेसे भगवन्मूर्तिके भगवदात्मक होनेमें किसी प्रकारके सन्देहकी

आवश्यकता नहीं है. 2.भक्तिका बीज भगवदनुग्रह ही होता है. अत: भक्तके हृदयमें किसी विशेष भगवन्मूर्तिके प्रति लगाव पैदा होता हो तो उसका बीज, उस मूर्तिरूपद्वारा भक्तोद्धारके, भगवान्के समल्पमें निहित होता है. 3.भक्तके भक्तिमार्गीय भावनामय समल्पके कारण भी भक्तके सेव्य-स्वरूपको "भगवान्के एक विशेष-व्यक्तिगत अवतार" के रूपमें मान्य करना चाहिये.

ब्रह्म व्यापक भी है और साकार भी. अतएव भगवन्मूर्तिको मायिक अथवा चित्तको एकाग्र बननेका एक उपकरण माननेकी रीति वाल्लभ सिद्धान्तसे विपरीत है. "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजाम्यहम्" (गीता) वचनके अनुसार मूर्तिमें साक्षाद् व्रजाधिपकी सच्चे हृदयसे भावना करनेपर सचमुच ही व्रजाधिपका उस रूपमें प्राकट्य होता है.

भगवान्के इस कृपामय समल्प और भक्त के भावनामय समल्पके बलसे प्रकट हरिमूर्तिका ध्यान अपने हृदयमें, भक्तको अन्य सभी रूपोंको भूलाकर, सदा-निरन्तर बनाये रखना चाहिये. यह भगवान्के स्वरूपमें अन्त:करणका निरोध है इसी तरह इसी स्वरूपके नेत्रोंसे दर्शन तथा स्पर्शेन्द्रियसे स्पर्शनकेलिए आतुरता होनी चाहिये. हाथोंको इस स्वरूपकी सेवाकेलिए उद्यत रखना चाहिये. पैरोंको इस स्वरूपके दर्शनार्थ या भजनार्थ दोड़नेको उद्यत रखना चाहिये. कानोंसे भगवद्गुणगान सुनते समय, वे गुण, इसी भगवत्स्वरूपके गुण हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये. वाणीसे कीर्तन, इस स्वरूपके रूपसौदर्यका गुणमाधुर्यका और लीलालावण्यका करना चाहिये.

असमर्पित अन्न, वस्त्र, पुष्प, गन्ध आदिका त्याग पहले ही सिद्धान्तरहस्यमें-असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत्" द्वारा समझा दिया गया है. अत: पुनरुक्ति अनावश्यक है.

यहां यह अवघेय है कि इन्द्रियां तीन तरह की होती हैं:1.जिनका साक्षात् भगवद्विनियोग शक्य हो. यथा नेत्र, त्वचा, कर्ण, वाणी, हस्त, चरण और

अन्त:करण 2.कुछ इन्द्रियोंका विषय भगवत्स्वरूपको साक्षात् नहीं बनाया जा सकता है. जैसे रसना और नासिका. अत: इन्हें भगवत्प्रसादरूप अन्न तथा गन्ध के ग्रहणके व्रतमें दीक्षित करना चाहिये. 3.पूर्वोक्त दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके व्यापर ग्रहणात्मक होते है विसर्जनात्मक नहीं. अत: उनका विषय साक्षात् भगवत्स्वरूप अथवा या स्वरूपसम्बन्धी प्रसादी अन्न-गन्धको बनाया जा सकता है, पर पायु और उपस्थ इन्द्रियोंका व्यापार ग्रहणात्मक न होकर विसर्जनात्मक होता है. अत: इनका विनियोग कथमपि साक्षात् भगवत्स्वरूप या तत्सम्बन्धी पदार्थोके ग्रहणमें शक्य नहीं है. फिरभी पायुसे मलांशत्यागके द्वारा शुद्ध देहको भगवत्सेवोपयोगी बनाया जा सकता है. इसी तरह कृष्णसेवामें सहयोगी सन्ततीके जन्मकेलिए उपस्थका भी उपयोग सम्भव है-"पुत्रे कृष्णप्रिये रति:"

इस तरह जिस इन्द्रियका, साक्षात् अथवा परम्परया भी भगवतस्वरूपमें विनियोग अथवा भगवत्कार्यार्थ उपयोग दिखलायी न देता हो, उसका निश्चयेन अच्छी तरह निग्रह करना चाहिये. इस नियमके पालनसे अनवतारकालमें भी गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोध शक्य बन जाता है.

भक्तको भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा केद्वारा प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति सिद्ध हो जाती है.

निरोधकी सिद्धि साधनावस्थाकी अन्तिम अवधि है. कोई भी साधन षोडशग्रन्थमें वर्णित अष्टाक्षरपञ्चाक्षरमन्त्र (या अन्यत्र वर्णित मन्त्र-"हा हा कृष्ण मुखारविन्दविरहाग्ने" भी) उभयकृत निराधसे अर्थात् कृष्ण-सेवाकथामय जीवनसे परतर-उत्कृष्ट साधन नहीं हैं. न इस षोडशग्रन्थमें वर्णित यमुनाष्टक या कृष्णाश्रय जैसे स्तव (या अन्यत्र भी वर्णित सर्वोत्तम आदि स्तोत्र भी) इस निरोधसे परतर-उत्कृष्ट साधन हैं. भाष्य, निबन्ध आदि ग्रन्थोंमें वर्णित अनेकविध ब्रह्मविद्यायें या सर्वनिर्णय आदि ग्रन्थोमें प्रशंसित तीर्थाटन भी इस गुण-स्वरूप-उभयकृत निरोधसे परतर साधन नहीं हैं.

इस निरोधसे परतर यदि कुछ है तो वह है आगे सेवाफलमें वर्णित होनेवाला अलौकिक सामर्थ्य रूप फल, जो इस निरोधका प्रयोजन है. परन्तु उसे तो 'फलनिरोध' ही पुन: कहा जाता है.

निरोधलक्षण ग्रन्थका प्रस्तुत संस्करण, वि. सं. 1973 में प्रकाशित संस्करणका ओफसेट् प्रोसेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप है. इसमें दिये परिशिष्टोंको हमने यथोचित क्रममें पुनर्योजित किया है. पूर्वसंस्करणके प्रकाशक थे गोस्वामीश्री 1008 श्रीजीवनलालजी महाराज (पोरबन्दर) सम्पादक थे श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास सांकलिया इन सभी महानुभावोंका हम हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

) विभावादि: विविधभावोत्पत्ति:" (अणुभा. 1।1।11). प्रेम ही जब प्रगाढ़ बन कर प्रियतमके रूपमें बाहर प्रकट हो जाता है तो बहि:प्रकट रूपको 'आनन्दमय' कहा जाता है और अन्त:स्थित प्रेमको 'आनन्द' अन्यथा प्रियतम भगवान् आनन्द हैं और भगवत्प्रेम आनन्दमय.
(1.कोष्ठान्तर्गत शब्द लेखकके हैं.)

अणुभाष्य (3।3।10) में यह कहा गया है कि जैसे तन्तुओंके आतान-वितान बुने जानेपर जो पट प्रकट होता है वह तन्तुओसे भिन्न नहीं होता, इसी तरह आलम्बन विभाव (स्वयम् भगवान्) उद्दीपन विभाव (वेणुनाद आदि) अनुभाव (भूभृङ्गादि) तथा सञ्चारिभाव (मानदैन्यादि) के परस्पर आतानवितानमें जिस स्थायिभाव (भगवत्प्रीति) का प्राकट्य होता है वह स्वयम् भगवान्से भिन्न नहीं होता. अत: आनन्द और आनन्दमयका भेद वस्तुगत न होकर विवक्षागत होता है.

अवतारकालमें भगवान् अपनी लीलाओंके द्वारा भक्तोंके हृदयमें अनेक प्रकारके स्नेह प्रकट करते हैं. ऐसे स्नेही भक्त जब भगवद्विरहमें भगवान्के

गुणगानमें तल्लीन हो जाते हैं तब हृदयस्थित स्नेह भगवद्विषयक विविध मनोरथोंके सांचेमे ढलकर स्वयम् भगवान् एवम् उनकी लीलाओंका रूप धारण कर लेता है. अनवतारकालमें इसी तरह सेव्य स्वरूप सेवावार्ताके हृदयमें स्नेह प्रकट करते हैं. यह स्नेह भगवत्कथाके श्रवण, कीर्तन, कालमें भक्तके हृदयमें भगवत्स्वरूपानुभूतिका रूप भी धारण कर लेता है.

तामसप्रमेयप्रकरणकी सुबोधिनीमें अतएव भगवान्का स्वरूप 'नटवरवपु' कें रूपमें वर्णित हुआ है:

"रसानुभूतिके दो प्रकार सम्भव हैं. प्रथम प्रकार होता है:जहां प्रेम (स्थायिभाव-धर्मी) और प्रियतम (आलम्बनविभाव धर्म) दोनोंकी अनुभूति हो. द्वितीय प्रकार होता है:प्रियतम (आलम्बनविभाव धर्म) अनुपस्थित हो, पर प्रेम (स्थायिभाव धर्मी) की अनुभूति हो रही हो, नाट्यमें, द्वितीय प्रकारसे, केवल रति या प्रेम की ही वास्तविक अनुभूति होती है. प्रियतम-आलम्बनविभावके रूपका तो केवल नाटन ही होता है, साक्षात् उपस्थिति नहीं. संयोगमें आलम्बनविभाव और स्थायिभाव दोनों ही उपस्थित रहते हैं. नेत्रोंके समक्ष बाहर आलम्बनविभावरूप भगवान् उपस्थित होते हैं और हृदयके भीतर स्थायिभावरूप भगवद्रति भी अवस्थित होती है. संयोगलीलामें अतएव 'वर'की तरह प्रत्यग्रभोग माना जाता है; और विप्रयोगलीलामें गाढ स्नेहवश 'आसक्तिभ्रम' की तरह अनुभूत होती भगवदुपस्थिति 'नट' की तरह केवल नाटन मात्र है. अत: नटवत् और वरवत् लीला करनेवाले भगवान्के स्वरूपको 'नटवरवपु' कहा जाता है. क्योंकि शृङ्गाररसके अनुसार प्रत्यग्र साक्षात् सम्भोग जैसे वर-पतिका कार्य है, वैसे ही नाट्यमें सम्भोगका नाटन नट-अभिनेताका कार्य होता है. भगवान् एककालावच्छेदेन उभयविधकार्य सम्पन्न करते हैं. बाह्यमें प्रकट होकर रसानुभव प्रदान करनेका; तथा हृदयमें तीव्र आसक्तिवश प्रकट होती अनुभूतिमें रसाभिनय करनेका भी.

ज्ञानियोंद्वारा उपासनार्थ कल्पित रूप हृदयमें अनुभवसुख प्रदान कर सकता है. पर भक्तोंके लिए तो उनके द्वारा भावित रूपको धारण कर भगवान् बाहर भी प्रकट होते हैं. सभी इन्द्रियोंसे अनुभूत होनेका सुख भक्तको प्रदान करते है. इस बहि:प्रकट भावित रूपको मायिक कल्पित; या देहदेहिभावन्यायसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपको आवृत करनेवाला कोई भिन्न रूप नहीं माना जा सकता है. यह भावित-बहि:प्रकट रूप उतना ही पारमार्थिक होता है जितने कि स्वयम् परमात्मा" (सुबो. 10।12।5).

इस प्रसङ्गमें रसशास्त्रीय रीतिके अनुसार निरूपण किया गया है. अतएव भगवद्रतिकी तुलनामें भगवान्को धर्मके रूपमें वर्णित किया गया है. फिरभी लक्ष्यमें रखने लायक बात यहां यह है कि वृन्दावनमें प्रत्यग्रभोक्ताके रूपमें; तथा व्रजकी गोपिकाओंके हृदयमें वृन्दावन की आन्तर लीलानुभूतिके दानद्वारा, रूप एवम् लीला का नाटक करते हुवे, अपना उभयविध (नटवत् और वरवत्) रूप भगवान्ने एककालावच्छेदेन प्रकट किया है. भगवान् स्वयम्को बहि:प्रकट न करें तो ज्ञानियों और भक्तोंके सुखमें कोई तारतम्य नहीं रह जाता है. प्रत्युत भक्तोकेलिए केवल हृदयमें भगवान्का अनुभूत होना तो एक दु:खकी बात बन जाती है! (हृद्येव प्राकट्ये तु मनोमात्रभोग्यत्वम्. बहि:प्राकट्ये सर्वेन्द्रियभोग्यत्वम्. एवं सति चक्षुराद्यविषयत्वे प्रियपदार्थस्य मनोमात्रविषयत्वं दु:खदमित्यनुभवसिद्धमतो भक्तार्थं तथेति. नतु स भगवान् एव तथा आत्मभिन्नवपुषो भूर्ता इत्यर्थ:. (सुबो. टिप्प. 10।18।5).

यदि आनन्दको स्थायिभावात्मक आत्मस्थानीय धर्मी माना जाये तो बहि:प्रकट आनन्दमय स्वरूप अर्थात् आलम्बनविभावरूप वपु उस स्थायिभावसे भिन्न नहीं होता. इसी तरह यदि आनन्दको आलम्बनविभावरूप धर्म माना जाये तो भी प्रत्यग्रभोक्ता 'वर' के रूपसे केवल-रसरूप आनन्दमय धर्मी 'नट' रूप भगवान् भिन्न नहीं होते.

“यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्” (4।1।11) ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें यह कहा गया है कि “जिन भक्तोंको आन्तर भगवदनुभूति होती है या जिन भक्तोंको बाह्य भगवदनुभूति होती है उनके भाव या अनुभूयमान भगवत्स्वरूपमें किसी भी प्रकारका तारतम्य नहीं होता”. आन्तर-संयोगमें भक्तहृदयस्थित भाव भगवदाकार ग्रहण कर लेता है; तथा बाह्यसंयोगमें भगवान् भक्तके हृदयमें भावाकार ग्रहण करते चले जाते हैं. दोनों ही तरह समानता है.

पुरुषोत्तमकी अनुभूतिसे पूर्व अनिवार्य सर्वात्मभाव, अतएव, वियोगकी तरह भक्त-भगवान्के संयोगमें भी स्वीकारा गया है. वेणुगीतकी सुबोधिनीमें सकल इन्द्रियोंके भगवान्में विनियोगको सर्वात्मभाव कहा गया है. वाणीसे भगवान्के साथ संलाप, नयनोंसे दर्शन, बाहुओंसे भगवान्का आलिङ्गन, हाथोसे सेवा, त्वचासे स्पर्श, रसनासे अधरामृतपान, कानोंसे वेणुकूजनका श्रवण, नासिकासे भगवद्गन्धका आघ्राण, चरणोंसे भगवान्के निकट गमन, अन्त:करणसे भगवत्स्वरूपकी भावना, पायूपस्थेन्द्रियोंसे रोमोद्गम और भोग को वेणुगीतमें इन्द्रियवानोंका परमफल माना गया है. सकल इन्द्रियोंके भगवान्में ऐसे विनियोगकी तुलनामें मुक्ति तो भक्तोंको अपनी सर्वविध सम्पूर्ण निष्फलता ही प्रतीत होती है. जैसे किसी नयनवानको सदा-सर्वदाकेलिए अन्धकूपमें धकेल देना या उसे नयनोंसे वञ्चित कर देना दोनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता हैं. जागतिक विषयोंमें अनुरागके नष्ट होनेपर तथा सर्वात्मभावसे सम्पन्न होनेपर भक्तको सकल इन्द्रियोंद्वारा भगवत्स्वरूपानन्दकी अनुभूति मिलती है-“बान्धकानां परित्यागे साधकानां न तद् भवेत्” (वेणुगीत सुबो. कारिका)

इन कारिकाओंमें संयोगकालीन सर्वात्मभावका वर्णन है. श्रीप्रभुचरण उल्लिखित ‘बाधक’का अर्थ प्रापञ्चिक विषयोंमें अनुराग; तथा ‘साधक’का अर्थ सर्वात्मभावपूर्वक भजन करते हैं. सर्वभाव सिद्ध होनेपर ही भक्त सायुज्यमुक्ति (भगवान्में लीन होने) से बच सकता है. अर्थात् प्रस्तुत

सेवाफल विवरणमें विवक्षित प्रथमफल 'अलौकिक सामर्थ्य' के सिद्ध होनेपर ही भक्त, द्वितीयफल 'सायुज्य'से बच सकता है.

तृतीयस्कन्ध-सुबोधिनीके एतद्विषयक विचारोंसे एकवाक्यता करनेपर सायुज्य बाद पुन: नूतन अलौकिक देहकी प्राप्तिका भी एक प्रकार मान्य किया गया हैं. अत: अलौकिक सामर्थ्यके बाद सीधे सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सायज्योपरान्त सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सायुज्य ही केवल, यों फलानुभूतिके अनेक प्रकार सम्भव हैं. परन्तु यह निश्चित है कि इन्द्रियावानोंका मुख्य फल तो सर्वात्मभाव या अलौकिकसामर्थ्य ही है. अन्यथा तृतीयस्कन्धके "हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुक्ते" वचनमें निरूपित गौणफलरूप सायुज्य मिलता है. इन्द्रियादिसे रहित होकर भगवान्के दर्शन-स्पर्शन-श्रवणादिके सुखसे वञ्चित होना इन्द्रियवान् भक्तोंकेलिए एक विडम्बना है!

भ्रमरगीतके "सर्वात्मभावोधिकृतो भवतीनामधोक्षजे" (10।44।27) वचनमें विप्रयोगकालीन सर्वात्मभावका वर्णन है और वेणुगीतमें संयोगकालीन.

यहां यह अवधेय है कि रसशास्त्रीय दृष्टिसे करुणविप्रयोग और शृङ्गारविप्रयोगमें, एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यही है कि जहां पुनर्मिलन निश्चित हो, वहां विप्रयोग शृङ्गाररसात्मक माना जाता है, पर जहां पुनर्मिलन असम्भव हो अथवा जन्मान्तरमें सम्भव हो तो ऐसा विप्रयोग शृङ्गाररस न रहकर करुणरस बन जाता है. "युनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनरलभ्ये विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्य:" (साहित्यदर्पण 3।209) "शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रस:, विप्रलम्भे रति: स्थायी पुन:सम्भोगहेतुक:" (सा. द. 3।226)

परमफल संयोगको मानना चाहिये कि विप्रयोगको, इस विवादमें अतिवादी दृष्टिकोण अपनाने पर, या ते अधूरे शृङ्गारकी महत्ता माननी पड़ती हैं या शृङ्गारविप्रयोग और करुणविप्रयोगके मौलिक भेदकी उपेक्षा हो जाती है.

क्योंकि रसशास्त्रमें यह माना गया है कि विप्रयोगके बिना केवल संयोगानुभूतिमें वह चमत्कृति नही आती है. अतएव पूर्वरागोत्तर मानोत्तर और प्रवासोत्तर संयोगमें विशेष चमत्कृतिका हेतु पूर्वराग, मान या प्रवास जनित विप्रयोगको ही माना गया है-"न विना विप्रलम्भेन सम्भोग: पुष्टिमश्नुते कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते"

श्रीमहाप्रभु भी अतएव जैसे-"बाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता" का विधान करते हैं वैसे ही-"आन्तरं तु परं फलम्" भी स्वीकारते ही हैं. श्रीप्रभुचरणने भी अतएव स्पष्ट शब्दोंमें इसका खुलासा-"स रसस्तु संयोगविप्रयोगाभ्यामेव पूर्णो भवत्यनुभूतो नैकतरेण" (अणु. 4।2।1) कह कर दिया है.

केवल विप्रयोग अथवा केवल संयोग को परमफल मानना भगवान्के 'नटवरवपु' रूपकी अस्वीकृति है. विप्रयोगमें भक्तके हृदयमें भगवान्की आन्तर अनुभूति होती है नटवत्; और संयोगमें भक्तके नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा भगवान्की बाहर अनुभूति होती है, वरवत् श्रीमहाप्रभु किन्तु केवल नटवत् या केवल वरवत् रूपको फल न मानकर 'नटवर वपु' के रूपमें भगवान्को-"इदमेवेन्द्रियवतां फलम्" स्वीकारते हैं.

लौकिक शृङ्गारमें विप्रयोगकालीन आन्तर संयोगकी अनुभूतिको आसक्तिवश पैदा होती केवल भ्रान्ति ही माना गया है क्योंकि नायक अथवा नायिका की अनुपस्थितिमें उनकी अनुभूति वास्तविक नहीं हो सकती है. किसी भी देश अथवा काल में परन्तु सर्वव्यापी सनातन परमात्माका अनुपस्थित होना अकल्पनीय बात है. अनुभूत होते हों या नहीं पर, हृदयमें और हृदयके बाहर, सर्वत्र-सर्वदा भगवान् तो विद्यमान हैं ही. अत: भगवदनुभूतिपर भ्रान्तिकी परिभाषा लागू ही नहीं हो पाती है!

भक्तिके घटक तत्त्व दो माने गये हैं एक माहात्म्यज्ञान और दूसरा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह. यह माहात्म्य भगवान्का ही हो सकता है कि वे बाहर अप्रकट होनेपर भी भक्तके हृदयमें भावात्मना प्रविष्ट होकर भक्तिको

करुणरस होनेसे बचा लेते हैं. इसी तरह सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहमें भी यह सामर्थ्य स्वीकारना पडता है कि उसके वशीभूत होकर भगवान्को भक्तके मनोरथोंके अनुरूप बाहर प्रकट होना पड़ता है.

इस विषयमें श्रीप्रभुचरणकी यह उक्ति मननीय है कि-"भगवद्विरहस्य सर्वसाधारणत्वेपि स्थायिभावात्मकरसरूपभगव
त्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति तस्यैव तदप्राप्तिज: ताप: तदनन्तरं नियमत: तत्प्राप्तिश्च भवति" (अणु. 4।2।11).

भक्तिवर्धिनीमें भक्तिकी चार अवस्था स्वीकारी गयी हैं:

1.बीजभाव

2.प्रेम

3.आसक्ति

4.व्यसन

'भावैरमुरितं' कारिका और उसके व्याख्यानमें, अवतारकालीन सुदृढ सर्वतोधिक भगवद्रति, जो बिना किसी प्रकारके माहात्म्यज्ञानके ही व्रजभक्तोंमें प्रकट हो गयी थी, की चारके बजाय सात अवस्थाओंका वर्णन श्रीप्रभुचरण तथा श्रीहरिरायजी ने किया है: 1.भाव, 2.प्रेम, 3.प्रणय, 4.स्नेह, 5.राग, 6.अनुराग, 7.व्यसन.

भावैरमुरितं महीमृगदृशामाकल्पमासिञ्चितम्
प्रेम्णा कन्दलितं मनोरथमयै: शाखाशतै: सम्भृतम्
लौल्यै: पल्लवितं मुदा कुसुमितं प्रत्याशया पुष्पितम्
लीलाभि: फलितं भजे व्रजवनीशृङ्गारकल्पद्रुम्॥ (श्रीमत्प्रभुचरण)

भाव: प्रेमप्रणय: स्नेहो रागानुरागव्यसनानि।
अमुरकन्दलशाखापल्लवकलिकाप्रसूनफलानीति॥ (श्रीहरिरायचरण)

यह रसशास्त्र और भगवत्शास्त्र के समन्वयपर अवलम्बित भक्तिशास्त्री विवेचन है. अन्यथा केवल रसशास्त्रके अनुसार रतिकी दस अवस्थायें स्वीकारी गयी है:1.चक्षूराग, 2.मन:सङ्ग, 3.समल्प, 4.जागर, 5.तनुता, 6.विषयद्वेष, 7.लज्जात्याग, 8.उन्माद, 9.मूर्छा, 10.मरण. इन्हें भक्तिवर्धिनीमें वर्णित चार अवस्थाओंमें बांट कर देखना हो तो इस तरह देखा जा सकता है:

1.बीजभाव-क.चक्षूराग, ख.मन:सङ्ग, ग.समल्प.

2.प्रेम-क.जागर, ख.तनुता

3.आसक्ति-क.विषयद्वेष, ख.लज्जात्याग

4.व्यसन-क.उन्माद, ख.मूर्छा, ग.मरण

यहां अवधेय यह है कि व्यसनदशामें उन्माद एवम् मूर्छा तक तो बाह्य या आन्तर संयोगकी अनुभूति सम्भव है. अतएव इन्हें निरोधलीलाके अन्तर्भूत माना जा सकता है. क्योंकि निरोध जब भगवत्स्वरूप एवम् भगवद्गुण उभयकृत होता है तो वह स्वयम् फलात्मक होनेसे अङ्गीरूप माना जाता है. अन्यथा केवल भगवद्गुणकृत निरोध एकादश-द्वादशस्कन्धमें वर्ण्य मुक्तिलीला और आश्रयभावापत्तिकी लीलाका अङ्ग होनेसे 'साधनकृत्स्नता' रूप माना गया हैं. मुक्ति या आश्रय लीलाके अङ्गरूप निरोधवाली व्यसनदशामें स्नेहकी दसवी अवस्था मरण सम्भव हो जाती हैं. भक्त इस भौतिक देहको छोडकर या तो भगवान्में लीन हो जाता हैं या फिर नूतन अभौतिक सच्चिदानन्दात्मक दिव्य देह व्यापिवैकुण्ठ-नित्यलीलामें प्राप्त कर लेता हैं-"ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तान् अश्नुते" (अणु 4।4।5).

इस दिव्य देहान्तरसे लभ्य पुन:संयोगकी भगवच्छास्त्रीय दृष्टिसे बड़ी महत्ता है, मुक्तिके रूपमें. रसशास्त्रीय दृष्टिसे किन्तु देहान्तरलभ्य संयोग शृङ्गाररसकी मर्यादासे बहिर्भूत या विपरीत है. अतएव भक्तिशास्त्रमें ऐसे

संयोगकी फलरूपता गौण मानी गयी है-“भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि” (पु. प्र. म.) वचनमें भूतलपर ही आविर्भूत भगवान्को पुष्टिफल मानकर. अतएव भक्तको मुक्ति या आश्रय लीलाकी ओर हठात् ले जानेवाली भक्तिका वर्णन स्वयम् भगवान्ने इन शब्दोंमें किया है-“अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते” भ्रमरगीतपर टिप्पणीमें श्रीप्रभुचरण ऐसी भगवल्लीलाको-“अस्मदधिकारविरुद्धा कहते हैं.

सङ्क्षेपमें 1.अलौकिकसामर्थ्य सर्वात्मभावरूप होनेके कारण संयोग या वियोग दोनों अवस्थाओंमें फलनिरोधरूप है. इसे ‘तनुनवत्व’ या ‘मानसी सेवा’ भी कहा जा सकता है पुष्टिभक्तोंकेलिए यह जीवन्मुक्तिके जैसी अनुभूति है 2.सायुज्य विदेहमुक्ति है, पुरुषोत्तममें लीन हो जाना. 3.वैकुण्ठ आदि लोकोमें सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति नवतनुत्व है. इसे ‘ब्रह्मभावापत्ति’ या ‘आश्रयभावापत्ति’ भी कहा जाता है

॥ निरोधलक्षणम् ॥

अब निरोधलक्षणमें प्रथम निरोधके स्वरूपको विचार कर्तव्य हे. तामें ज्ञानमार्गमें तो वैराग्य पूर्वक यम-नियमादिकन्सों इन्द्रियनको निग्रह कियेसूं ज्ञानमार्गीय साधन कियेसूं विज्ञान होय तब निरोधको फल मिले हे. भक्तिमार्गमें यम-नियमादि साधनको अभाव होयवेसूं निरोधकी सिद्धि केसें होय? एसी शङ्का के समाधानपूर्वक निरोधके स्वरूप-साधनादि; ओर निःसाधनरूप अपने मार्गमें निरोधको फल केसें सिद्ध होय सो श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करत हें. तामें श्रीभागवतके दशमस्कन्धको निरूपण करती

बिरियां “निराधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः” इतने या प्रपञ्चमें प्रभुकी जो क्रीडा वाकों ‘निरोध’ कह्यो हे. सो निरोध तो लीलासृष्टिमें स्थित जो भक्त उनकुं प्रपञ्चविस्मरण पूर्वक सकलेन्द्रियनको प्रभुमें निवेश भयो हतो तेसें होय तब हो

य हे. एसें दशमस्कन्धमें भक्तनकी चित्तवृत्तिको निरोधही भक्तिमार्गीय निरोध कह्यो हे. तामें प्राकट्यदशामें जिनकों साक्षात् अङ्गीकार भयो हे, पुष्टिमार्गीय भावको अमुर जिनके हृदयमें वर्द्धमान हे एसे परम भाग्यवारे; ओर व्रजके सम्बन्धवारेनको तो स्वरूपसूंहि प्रभुने निरोध कियो. अब प्राकट्यदशा नाहीं होयवेसूं आपने अङ्गीकार किये एसे आधुनिक पुष्टिमार्गीय भक्त, निरोधसाधनके अज्ञानसूं कदाचित् ज्ञानमार्गीय निरोधमें प्रवृत्त होय जांय तो ताकी निवृत्तिकेलिये स्वमार्गीय निरोधमें जाकी अपेक्षा हे एसो जो मूलकारण ताको श्रीआचार्यजी निरूपण करत हें.

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादिनां च गोकुले॥
गोपिकानान्तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान् मम क्वचित्॥1॥

गोकुले=गोकुलमें
यशोदायाः=श्रीयशोदाजीकुं
च=ओर, नन्दादीनां=
नन्दरायजी अदिकुं, च=भी
यत्=जो, दुःखं=दुःख
(समजनि=भयो)तु=ओर
गोपिकानां=गोपिकानकु
यत्=जो, दुखं=दुःख
(समजनि=भयो)

: **श्रीयशोदाजीकुं**, नन्दादिकनकु ओर श्रीगोपिजननकु जो दुःख भयो सो मोकुं कबहुं होयगो!

टीका : श्रीगोकुलकों तो प्रभुनने नाना प्रकारके विहारकी इच्छासूं उत्पन्न कृपाकरिकेहि पुष्टिमार्गमें अङ्गीकृत कियो हे, तासूं पुष्टिमार्गाङ्गीकाररूप भावामुर वामें हतो. ता भावके स्वभावकरिके दुःखहु वामें रह्यो हे, जा दुःखरूप कारणसूं प्रभूनको प्राकट्य भयो हे. आगें सुखादिकहु भयो हे. अबहु एसो निरोध ढुंढिवेवारे स्वमार्गीयनकु एसोही दुःख सम्भावनीय हे, जो दुःख निरोधकुं सिद्ध करिकें प्रभुके

प्राकट्यको साधक हे. तासूं वा दुःखकी सर्वदा सम्भावना करिके श्रीमहाप्रभुजी स्वमार्गीयनकु लक्षणावृत्तिसूं सूचित करत हें.

भगवद्विरहसूं भक्तके हृदयमें प्रकट होतो दुःख ब्रह्मानन्दकुंहु तुच्छ करिवेवारो होयवेसूं सर्वोत्कृष्ट हे. ओर अतिदुर्लभ होयवेसूं वाकी सम्भावनामात्र करी हे, परन्तु प्रार्थना नाहिं कीनी हे. तामेंहु सर्वदा नाहिं किन्तु कदाचित् होय एसें कह्यो हे. यदि एसो दुःख हृदयमें प्रकट होइ जाय तो फेर कहा कहेनो? तासों वा दुःखकी सर्वदा उत्कण्ठा करनी एसें सूचन कियो हे.

भगवद्विरहजन्य दुःख तो श्रीमातृचरण ओर श्रीनन्दादिकन् कुं प्रभुके प्राकट्यके पहिले पुत्ररूपसों प्रभुको प्राकट्य, तापीछें विनके लालन-क्रीडन-अवलोकन प्रभृति सम्बन्धि नानाप्रकारके मनोरथरूप हतो ही. तेसें ही श्रीस्वामिनीजी प्रभृतीनने हु प्रभुके प्रकट होयवेकी आशासूं नाना प्रकारके मनोरथ मनमें करि राखे हते तासों विन मनोरथजन्य दुःखहु विनकों प्रभुके प्राकट्यके पहिले हु हतो. आप प्रकट भये ता पीछेहु पूतनादिकनकी क्रूरदृष्टि प्रभून्पें परिवेके कारण, क्रीडामें प्रभूनकी आसक्तिसों भोजनादिकमें विलम्बकरिवेके कारण, गोचारणार्थ पधारें तब पाछें संजा पर्यन्त दर्शन नाहिं होइ सकिवेके कारण एसें अनेक प्रकारके दुःख व्रजभक्तनको प्रभु प्रकट भये पाछें हु होते हते. सो सब दुःख 'यत्' शब्दसूं सङ्ग्रहीत किये हें. सो विस्तारके भयसूं यहां नाहिं लिखसके हें. (विशेष जिज्ञासा होइवेपे श्रीगोकुलनाथ प्रभुचरणनकी संस्कृत **टीका**को अवलोकन करनो)॥1॥

एसे इनके दुःखकी सम्भावना करिकें तापीछें उत्पन्न भये अनिर्वचनीय सुखकीहु सम्भावना द्वितीय श्लोकसूं करत हें:

गोकुले गोपिकानां च सवेषां व्रजवासिनाम्।
यत् सुखं समभूत् तन् मे भगवान् किं विधास्यति॥2॥

गोकुले=गोकुलमें
गोपिकानां=गोपिकानकु
च=ओर, सर्वेषां=सभी
व्रजवासिनां=व्रजबासीनकु

भयो
तत्=वो, सुखं=सुख
किं=कहा, भगवान्=भगवान्
मे=मोकुं
विधास्यति=करेंगे?

भावार्थ : श्रीगोकुलमें श्रीगोपीजनकु ओर सब व्रजवासीनकु जा आछि भांतिसूं सुख भयो वा सुखको दान प्रभु मोकुं करेंगें?

टीका : पूर्वश्लोकमें वर्णित दुःख प्रभुके प्राकट्यमें कारण हे. कारणरूप दुःख पहिले भये पीछें प्रभु प्रकटे हें तापीछें सब सुखरूप होय हे. सो सुख बालभावसूं लेयकें "प्रेंखपर्यम ..."में आन्दोलन, रिङ्गण, दधि-दुग्धादि चौर्यादि लीला, वत्सगोचारणादि, वेणुगीत, गोवर्द्धनोद्धरण आदि सब लीला भक्तमनोरथकुं पूर्ण करिवेकेलिये होयवेसूं सुखरूप हें. ता पीछें विप्रयोग भये पीछेंहु प्रभुकी लीलाको स्मरण करिवेसूं तादात्म्य भयेसूं दुःखको भान नाहीं रह्यो. तासूं सर्वसूं विलक्षण विप्रयोगात्मक सुख श्रीस्वामिनीजी प्रभृतीनकु ओर सब व्रजवासीनकु श्रीगोकुलमें आछीभांति मिल्यो हतो. वाहि सुखकी या श्लोकमें आपश्री अपनेलिये सम्भावना करत हें. या श्लोकमें वर्णित सुख अति दुर्लभ हे तथापि सर्वसामार्थ्यवान् प्रभून्ने आगें जेसें आपतेंही भक्तनकु दियो एसें अबहु आपके सामर्थ्यसूं सो सुख देयगें एसें जतायवेकेलिये मूलमें 'भगवत्'पदको ग्रहण कियो हे॥2॥

एसें निरुद्धनके दुःख ओर सुख के अभिलाषाकी अपनेमें सम्भावना करिकें एसो सुख भये पीछें विप्रयोगजन्य दुःखमें विलक्षण सुख उत्पन्न करिवेवारो काहुप्रकारको उत्सव होय हे जाकी तृतीयश्लोकमें सम्भावना करत हें:

उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा॥
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥3॥

वृन्दावने=वृन्दावनमें
वा=ओर, गोकुले=गोकुलमें उद्धवागमने=उद्धवजीके आयवेपें
यथा=जा प्रकारसूं
सुमहान्=बहोत बड़ो

उत्सवः=उत्सव
जातः=भयो
तथा=वा तरहसूं
मे=मेरे, मनसि=मनमें
क्वचित्=कभी(स्यात्=होय)

भावार्थ : उद्धवजीके आगमनसूं वृन्दावन ओर श्रीगोकुल में जेसें महान् उत्सव भयो एसो मेरे मनमें कबहुं होयगो?

टीका : जेसें पति विदेश गयो होय सो वहांसूं अपने सेवककुं घर भेजे तब वाकी माता प्रभृतिकुं ओर विशेष करिकें वाकी स्त्रीके मनमें अपने स्वामिके स्मरणसूं उत्पन्नभये औत्सुक्यविशेषसूं उत्सव होयवेकी लोकमें रीति हे. यहां प्रस्तुतमेंहु भगवद्भाववारे ओर प्रभुकें सन्देश लेयकें आयवेवारे उद्धवजी उत्सवरूप हें. विनके आगमनसूं बडो उत्सव भयो. ये भगवदीयको आगमन; ओर प्रभुको सन्देश सब अलौकिक होयवेसूं अनिर्वचनीय उत्सव भयो एसें मूलके 'महत्' शब्दसूं जान्योजाय हे. तामें श्रीवृंदावनमें श्रीस्वामिनीनको उत्सव भयो ओर श्रीगोकुलमें मातृचरणादीनकु उत्सव भयेको समज लेनो. उत्सव मानसधर्म होयवेसूं मनमें होयवेकी अभिलाषा राखिवेकी आज्ञा मूलश्लोकमें करी हे. भगवदीयकुं प्रभुके सम्बन्धवारे(भक्त)के समागममें, साक्षात् प्रभु पधारे एसो उत्साह सर्वप्रकारसूं राखनो चहिये. एसें न मानिवेसूं भगवदीयत्व न रहे एसो सिद्धान्त हे. श्रीगोकुलवासी सब तथा श्रीस्वामिनीजी प्रभृति तो सर्वथा प्रपन्न हते. विनकुं उद्धवजीके आगमन पीछे भये सुमहान् उत्सवसूं पहिले "ये भगवद्वेषधारी कोन हे?" एसे विस्मयसूं उत्कण्ठारूप उत्सव भयो. तापीछें जब उद्धवजीकुं भगवदीय जानें तब "हमारे पतिसों सम्बन्धित व्यक्ति हमारे घर आये हें. तामेंहु परम भक्त हें ओर निरन्तर पास रहिवेवारे हें" एसें जान्यो. तब तो "हमारे बड़े भाग्य जो ये प्रभुके समाचार लेयकें आये हें ओर प्रभूनने ही पठाये होयगें, एसें न होय तो सेवक कबहु स्वामिके चरणनकु न छोडे. तासूं प्रभुकीहु हमारे उपर कृपा हे. क्यों जो कृपा न होय तो भगवदीयको आगमन न होय. ओर भगवद्भक्त जामें न आवे सो घरहि न कहवावे. जा घरमें भक्त आवे वामें भक्तके स्नेहसूं प्रभुहु पधारे हें" इत्यादि विचारसूं उद्धवजीकुं जब भगवदीय जानें तब विनको सत्कार करिवेको उत्साह भयो. एसो उत्सव दुर्लभ होयवेसूं श्लोकमें 'क्वचित्' पद कह्यो हे. तासों आधुनिक निरोधमार्गीयनकु हु भगवदीयके सङ्गके अभावको दुःख मनमें राखिवेकी श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करत हें.

एसें करते सर्वप्रकारसूं चित्तको निरोध होय तब प्रभु प्रकट होयकें सुखकोहु दानकरेंगें एसो भाव या श्लोकसूं जान्यो जाय हे॥3॥

यहां शङ्का करे हें जो ज्ञानमार्गमें तो चित्तको जब निरोध होय तब ध्यानादिकरिकें आत्मसुख होय हे; ओर या भक्तिमार्गमें तो दुःखकरिकें चित्तको निरोध होय तोहु दुःखही रहे हे, वामें कोनसो उत्कर्ष हे? एसी शङ्का को समाधान अब करत हें:

महतां कृपया यावद् भगवान् दयियिष्यति॥
तावद् आनन्दसन्दोहः कीर्त्यमानः सुखाय हि॥4॥

महतां=बड़ेनकी
कृपया=कृपासूं
भगवान्=भगवान्
यावत्=जबतांइ
दयियिष्यति=देयवेकी
इच्छा करेंगे, तावत्=तबतांइ
कीर्त्यमानः=जिनको कीर्तन
कर्यो जारह्यो हे वो
आनन्दसन्दोहः=आनन्दके सागर
सुखाय=सुखरूप, हि=ही

भावार्थ : बड़ेनकी कृपाकरिकें जबतांइ प्रभु दया करेंगे तबलों कीर्त्यमान (कीर्तन कराते) आनन्दके निधि प्रभु सुखरूप होय हें.

टीका : भगवदीयके दर्शनमात्रसूं जिनकुं बड़ो उत्सव होय हे ओर सर्वदा भगवदावेशसूं आपही उत्सवरूप हें वे अन्तरङ्ग भक्त महान कहे जाय हें. विनकी कृपातें प्रभु जब दया करे हें तब प्रकट होयके स्वरूपानन्द देय हें. तब प्रकटित बहोत भाववारे भगवदीयके सङ्ग जिनको कीर्तन कियो जाय हे एसे प्रभु साक्षात् उनके अन्तःकरणमें प्रकट होयके सकल इन्द्रियनकी आसक्ति आपके स्वरूपमें करायके सुखको दान करत हें. प्रभुको स्वरूप ओर प्रभुके गुण दोउ इकसार हें. तासों कीर्तन करिवेसूंहु

जब प्रभु आनन्द देत हें तब जब तांइ प्रभुको बाह्य प्राकट्य नाहीं होय तहां तांइ गुणगानही करनो, अन्य कोउ उपाय नाहीं करने एसें या श्लोकसूं जतायोहे.

या श्लोकमें प्रभुकी दया होयवेमें कारण बड़ेनकी कृपा कहि हे. 'महत्त'शब्दसूं श्रीस्वामिनीजी कहे हें एसे समजनो. अथवा एसे भावात्मक स्वरूप आप (श्रीआचार्यजी) को सूचन करे हें. तासूं श्रीमहाप्रभुजीकी कृपा भयेसूंही प्रभु आनन्दको दान करें हें अन्यथा न करें एसोहु सूचन 'महत्'पदसूं होय हे. तासूं कीर्तनद्वाराहु प्रभुनके गुण ता प्रकारके आनन्दकुं देवेवारे हें. तासूं गुणगानहि
करनो॥4॥

प्रभुके गुणको गान तो सब कोउ करत हें, तासूं सबनकु सुख होय हे, तो फिर निरोधवारेनकु गुणगानमें कहा विशेष हे? एसी शङ्का को समाधान अब आगेके श्लोकसूं करत हें:

महतां कृपया यद्वत् कीर्तनं सुखदं सदा॥
न तथा लौकिकानां तु स्निग्ध-भोजन-रूक्ष-वत्॥5॥

महतां=बड़ेनकी
कृपया=कृपासों
(भक्तकृतं=भक्तद्वारा होते)
कीर्तनं=कीर्तन
यद्वत्=जा तरहसूं
सदा=निरन्तर
सुखदं=सुख देयवेवारे
(अस्ति=हें)
तद्वत्=एसे
लौकिकानां=लौकिकनके
(कीर्तनं=कीर्तन)तु=तो
स्निग्ध-भोजन-रूक्ष-वत्=घीवारो
भोजन करिवारेकुं रूखो भोजन
करिवे जेसो, तथा=वेसो
न=नाहिं (भवति=होवे हे)

भावार्थ : बड़ेनकी कृपाद्वारा करे जाते कीर्तन जेसें सदा सुखकुं देवेवारे हें एसें संसारासक्त लौकिद्वारा करे जाते कीर्तन सुखद नाहिं होत हें. जेसें स्निग्ध भोजन शरीरमें सकलेन्द्रियनको पोषण करे हे एसो रूक्षसूं नाहिं होय हे तेसें.

टीका : प्रथमश्लोकमें कहे महान् भगवदीयनकी अपने भावको दान करिवेरूप कृपा, ता करिकें निरोधमार्गीयन्द्वारा परस्पर करे जाते भगवद्गुणगान सदा सुखद होत हें. क्यों जो गुणानुवाद करते बखत भाव बहोत बढिवेसूं सकल इन्द्रियनको स्वरूपहीमें निरोध भयेसूं प्रपंचकी विस्मृतिपूर्वक भक्त भगवदानन्दमें मग्न होय जाय हे. प्रमाणधर्ममें निष्ठावारे भक्त ओर ज्ञानीन् में उपर कह्यो निरोधमार्गीयनके भावको अभाव होयवेसूं कीर्तनादि सुख देवेवारो नाहीं होय हे. लौकिक ओर अलौकिक में जितनो तारतम्य हे इतनो निराधमार्गीय ओर ज्ञानी प्रभृतिमें तारतम्य हे. तासूं निरुद्धनके कीर्तनमें बहोत विशेष हे॥5॥

यहां शङ्का होय जो कीर्तन सुखदेयवेवारो हे तोहु दुःख तो सदा मिटत नाहिं हे तब गुणगानमें कहा उत्कर्ष हे? यासूं तो ज्ञानीनकु सकल इन्द्रिय प्रभृतिको आत्मामें लय भयेसूं अत्यन्त दुःखाभावरूप सुख होय तासों उत्कर्ष प्रमाणसिद्ध दीखे हे! याको समाधान अब करत हे:

गुणगाने सुखावाप्तिः गोविन्दस्य प्रजायते॥
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोऽन्यतः॥6॥

यथा=जा तरहसूं
गोविन्दस्य=श्रीकृष्णके
गुणगाने=गुणनके गानमें
सुखावाप्तिः=सुखकी प्राप्ति
जायते=होवे हे
तथा=वा प्रकारकी
शुकादीनां=शुकदेवजी आदिकनकु
आत्मनि=आत्मामें
न=नाहीं, एव=ही

अन्यतः=अन्य प्रकारसूं, कुतः=केसे

भावार्थ : गोविन्दके गुणगानमें निरूद्धभक्तनकु जेसो सुख होय हे एसो आत्मानन्दमें शुकादीनकु हु नाहीं होय हे तो भक्तिरहितकुं तो कहांते होय?

टीका : यद्यपि शुकदेवजीने ये लीला गायी हे ओर भक्तिरससूं पूर्णहु हें तोहु ये आनन्द उनकुं प्राप्त न भयो एसें कहिवेकेलिये मूलश्लोकमें श्रीशुकदेवजीको नाम ग्रहण कियो हे. तासूं यह जान्योजाय हे जो ये आनन्द प्रभुकी कृपासोंही प्राप्त होय हे, ओर तरहसूं नाहीं होय हे. तामें भगवद्विरहजन्य दुःखही साधक हे. तासूं दुःखही परमपुरुषार्थरूप हे ओर नाहिं हे. जहां आत्मसुखकी अपेक्षा ये दुःखहु सर्वोत्कृष्ट हे तब या दुःखसों साध्य आनन्दकी उत्कृष्टतामें तो कहा कहेनो! एसें कैमुतिकन्यायसूं आनन्दको सर्वोत्कृष्टपनो सिद्ध होय हे. अथवा शुकादिकनकु गोविन्दके गुणगानमें जेसी सुखप्राप्ति होय हे तेसी आत्मानन्दमेंहु नाहिं होय हे तो ओरसूं तो कहांसूं होय? तासूं शुकदेवजीने कह्यो हे जो “में यद्यपि निर्गुणमें निष्ठावारोहुं तथापि उत्तमश्लोक (भगवान्)की लीलासों मेरो चित्त गृहीत भयो हे तासूं श्रीभागवतरूप बड़ो आख्यान पढ्यो हुं”. यापेसूं एसें सूचित भयो जो आत्मसुखसूंहु भगवद्गुणगानमें अधिक आनन्द हे॥6॥

दुःख परमपुरूषार्थरूप होयवेसूं सर्वदा प्रभु निरोधमार्गीयनकु दुःखही देत हें वा (अथवा) कोउ समय सुखको दानहु करत हें? एसी शङ्का को समाधान अब आगेके श्लोकसों करत हें:

क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्॥
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः॥7॥

क्लिश्यमानान्=क्लेशवारेनकु
जनान्=लोगनकु
दृष्ट्वा=देखिके, यदा=जब
कृपायुक्तः=कृपावारे
भवेत्=रहेभये

सर्वं=सब
सदानन्दं=सदा जो आनन्दमय हें
बहिः=बाहर
निर्गतं=निकले(स्यात्=हें)

भावार्थ : जब अपने शरणागतनकु अत्यन्त क्लेशयुक्त देखिकें प्रभु कृपायुक्त होय हें तब सदा आनन्दरूप प्रभु हृदयमें बिराजवेवारो आपको स्वरूप बहार प्रकट करे हें.

टीका : इतनें साक्षात् स्वरूपको सम्बन्ध होयवेकी अभिलाषासूं भक्तमें जब बहोत आर्त्ति (विरह) उत्पन्न होत हे तब क्लेशयुक्त भक्त क्षण-क्षणमें मूर्छा, जागरण आदि अवस्थाको अनुभव करिवे लागत हे. अपने जननकु कष्टयुक्त देखिकें प्रभु जब कृपा करत हें तब भक्तनकी इन्द्रियनकु स्वरूपानन्दसूं सर्वांशकरिकें पुष्ट करिवेकेलिये भक्तके हृदयमें बिराजते अपने भावात्मक स्वरूपकों प्रभु बहार प्रकट करत हें. एसो ये आनन्द एक कृपासूंही सिद्ध होयवेवारो हे तासूं अत्यन्त दुर्लभ हे॥7॥

सर्वानन्दमयस्याऽपि कृपानन्दः सुदुर्लभः॥
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्॥8॥

सर्वानन्दमयस्य=सम्पूर्ण आनन्दमय
प्रभुको, अपि=हु
कृपानन्दः=कृपारूप आनन्द
सुदुर्लभः=कष्टसूं लभ्य
हृद्गतः=हृदयमें रह्यो भयो
(सः=वो)
स्वगुणान्=अपने गुणनकु
श्रुत्वा=सुनिके
पूर्णः=पूर्ण
(सन्=होयके)
जनान्=लोगनकु
प्लावयते=भरी देत हें

भावार्थ : सर्वानन्दमयको कृपानन्द अत्यन्त दुर्लभ हे. हृदयमें बिराजिवेवारे प्रभु अपने गुणनको श्रवणकरिकें पूर्ण होयकें अपने जननकु स्वानन्दनिमग्न करत हें.

टीका : ब्रह्मानन्द पर्यन्त जहां-जहां आनन्दकी गणना भई हे सो आनन्द जिनकुं प्राप्त भये हें विनकुंहु कृपानन्द तो सुतरां दुर्लभ हे. मुक्तिप्रभृतिमें मिलवेवारेको आनंदहु या आनन्दको अंशङ्का त्र हे. अन्य आनन्द साधनसों लभ्य हे ओर ये आनन्द तो एक कृपासों ही प्राप्य होय एसो हे. तासों जब प्रभु वाको दान करें तबही मिल सके हे. तासूं मूलश्लोकमें वाकुं 'सुदुर्लभः' कह्यो हे. इतनें ससाधनकु मिलवेवारो नाहीं हे किन्तु कृपावारेनकु ही सुलभ हे एसो अर्थहु होय हे. ओर एसे प्रभुके सम्बन्धकी अभिलाषाजनित दुःखसूं भये तापसूं भक्त जब परस्पर गुणगान करें हें तब वाको श्रवणकरिकें हृदयमें बिराजिवेवारे प्रभु पूर्णकृपाकरिकें बहार प्रकट होयके अपनेनकु वा रसके समुद्रके तङ्गमें तरण करावत हें. जा-जा इन्द्रियनमे दुःख भयो होय ता-ता इन्द्रियनमे आनन्दपूर्णता करतहें॥8॥

अब ये सब बात कहिवेको प्रयोजन कहत हें:

तस्मात् सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणाः॥
सदानन्दपरैर् गेयाः सच्चिदानन्दता ततः॥9॥

तस्मात्=तासूं
सदानन्दपरैः=सदानन्दपर होयके
निरूद्धैः=निरुद्ध होयके
सर्वं=सबकछु
परित्यज्य=छांडिके
सर्वदा=निरन्तर
गुणाः=गुणनकु
गेयाः=गाने, ततः=वासूं
सच्चिदानन्दताःहे)

भावार्थ : तासूं सर्वको परित्यागकरिकें सदानन्द श्रीकृष्णमें निष्ठावारे सत्पुरुषनके सङ्ग निरन्तर गुणगान करनों. एसे करिवेसूं सच्चिदानन्दपनो होय हे.

टीका : इतनें सर्वसूं उत्कृष्ट कृपानन्द मिल्यो हे तासूं ओर सबको त्याग करिके (इतने वासना सहित सब अहन्ता-ममताको त्याग करिके) उद्भट भावसूं निरन्तर गुणगान करनो येही सेवकको सहजधर्म हे. तासूं भगवदानन्दके अभिलाषीनकु येही निरन्तर करनो.

अब गुणगान करिवेकी आज्ञा तो करी परन्तु लीलाके भेदसों गुण अनेक प्रकारके होयवेसूं केसे गुणको गान करनो? एसी शङ्का की निवृत्तिकेलिये कहत हें जो साक्षात् रसात्मक श्रीपुरुषोत्तम विनके रसात्मक लीलारूप गुणही गान करिवेयोग्य हें. रसात्मक प्रभुमें निष्ठावारे भगवदीयनकेही सङ्ग गुणगान करनें एसोहु अर्थहोय सके हे. तासूं भगवानमे निष्ठा न होय एसेंनके सङ्ग भगवद्वार्ताहुनाहीं करिवेको सूचन होय हे. एसें दुःसङ्गीनके सङ्ग वार्त्तादिक करिवेसूं हानिही होय हे. एक क्षणहु अन्यथाभाव नाहीं होयवेकेलिये 'सर्वदा'पद धर्यो हे. तासूं एक क्षणहु भगवद्गुणगान नाहिं छोडनो. एसेंकरिवेसूंसच्चि- दानन्दता होय हे. जहां ज्ञानमार्गीय परम फलहु गुणगानकोआनुषङ्गिक फल हे वहां साक्षात् परम फलकी तो कहा बात करनी!॥9॥

यहां शङ्का करे हें जो निरुद्धनकु हि सर्वपरित्यागपूर्वक गुणगान करिवेकी आज्ञा कीनी परन्तु साधनमें निष्ठावारेनकु न करी! ताको समाधान अबके श्लोकसूं करत हें:

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः॥
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते॥10॥

रोधेन=संयमसूं
निरुद्धः=निरुद्ध, तु=तो
निरोधपदवीं=निरोधरूप पदकुं
गतः=प्राप्त भयो
अहं=मैं
(लौकिके=लौकिकमें)
निरुद्धानां=निरुद्धनके

रोधाय=रोधकेलिये
ते=वो, निरोधं=निरोधको
वर्णयामि:करुं हूं

भावार्थ : मैं निरुद्धनके मार्गमें अङ्गीकृत हूं ओर सकल इन्द्रियनको प्रभुमें निरोध करिके निरोधकी पदवी इतने निरोधके फलकुं प्राप्त भयो हूं. तासूं आधुनिक निरोधमार्गीनको निरोध सिद्ध होयवेकेलिये निरोधको वर्णन करुं हूं.

टीका : इतनें साक्षात् प्रभूनने मेरो निरोधमार्गमें अङ्गीकार कियो हे, तापाछें सकलेन्द्रियनको रोधकरिकें निरोधके फलकुं प्राप्त भयो हुं. तासूं प्रभूनकी आज्ञासूं आधुनिकनकु हु निरोध सिद्ध करिवेकेलिये यह तोकुं कहुं हुं. मेरे कहे प्रमाण करिवेसूं निरोधकी सिद्धि सर्वथा होयगी एसें श्रीमहाप्रभुजी या श्लोकसूं सूचित करत हें. कोउ भाग्यवानको उद्देश्य करिके आज्ञा करे हें जो "तेरे अर्थ वर्णन करुं हुं". क्यों जो साक्षात् प्रभूनने मेरो निरोधमें अङ्गीकार किये सूंही में याको वर्णन करीसकुं हुं. ओरको ये वर्णन करिवेको सामर्थ्य नाहिं हे एसोहु सूचन होवे हे॥10॥

एसे निरोधके स्वरूपको वर्णन करिके सर्वप्रकारसूं कर्तव्यको निरूपण करत हें:
हरिणा ये विनिर्मुक्तास् ते मग्ना भवसागरे॥
ये निरुद्धास् तएवात्र मोदमायाक्त्यहर्निशम्॥11॥

ये हरिणा=श्रीकृष्णके द्वारा
विनिर्मुक्ताः=विशेषकरिके मुक्त
भये हें, ते=वो
भवसागरे=संसाररूपि सागरमें
मग्नाः=डूबे हें, ये=जो
निरुद्धा:=निरुद्ध हें
ते=वो, एव=ही

अत्र=यहां, अहर्निशं=दिन-रात
मोदं=आनन्दकुं
आयान्ति=प्राप्त करे हें

भावार्थ : प्रभुने जिनकों छांडि दिये हें वे संसारसागरमें मग्न भये हें ओर जिनकों प्रभुने पुष्टिमार्गमें अङ्गीकृत किये हें वे निरन्तर (प्रभुके आनन्दकुं पायके) हर्षकुं प्राप्त होय हें.

टीका : प्रभु सर्वके दुःखको हरे हें तासूं विनको नाम 'हरि' हे. इन हरिनने (स्वानंद दान देयके दुःख मिटायवेकी इच्छा नाहिं होयवेसूं) जिनको त्याग कियो हे वे सब भवसागरमें डूबे हें. इतनें बहोत अन्य साधनमें प्रवृत्त रहें तोहु ये आनन्द प्राप्त नाहिं भयेसूं भवसागरमें डूबि गये हें. ओर स्वानन्दको दान करिवेकी इच्छासूं जिन जीवनकु प्रभूनने पुष्टिमार्गमें अङ्गीकृत किये हें ओर जिनको स्वरूपनिष्ठामें भावही एक साधन हे एसे अपने जन प्रभुकृपासूंही हर्षकुं प्राप्त होय हें. इतने बहार ओर भीतर रसमें पूर्ण होइके आनन्दसमुद्रमें मग्न रहे हें. सोहु क्षणभर नाहीं परन्तु रात्रि-दिनमें क्षणमात्रहु आनन्दको विच्छेद नाहीं होय हे. तासूं ये सिद्ध होय हे जो निरोधमार्गीनकु ही ये आनन्द होय हे, साधनमें निष्ठावारेनकु नाहीं होय हे॥11॥

अब कहे हें जो निरोधमार्गीनकु हु पूर्व रह्यो संसार विद्यमान होयवेसूं तत्-तत् विषयनमे आसक्त इन्द्रियनकु विषयको विस्मरण होनो अशक्य जेसो दीखे हे. जब विषयको विस्मरण न भयो तब तो गुणगानमें प्रवृत्तिहु अशक्य होयगी! एसी शङ्का के समाधान पूर्वक कहत हें:

संसारावेश-दुष्टानाम् इन्द्रियाणां हिताय वै॥
कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्॥12॥

संसारावेश=संसारके आवेशसूं
दुष्टानां=दुष्ट भई
इन्द्रियाणां=इन्द्रियनके
हिताय=हितकेलिये
सर्व=सब

वस्तूनि=वस्तूनकु
ईशस्य=इन्द्रियनके स्वामि
भूम्नः=व्यापक
कृष्णस्य=कृष्णककुं
वै=ही, योजयेत्=लगानी

भावार्थ : संसारके आवेशसूं दुष्ट भयी इन्द्रियनके हितकेलिये सर्व (इन्द्रियन् सहित ऐहिक-पारलौकिक) वस्तुसों सुखरूप ओर सर्वके नियन्ता एसे श्रीकृष्णको सम्बन्ध करायकें विनमें लगावे.

टीका : निरोधरूप सुख देयवेकी इच्छासूं जिनको पुष्टिमार्गमें अङ्गीकार भयो हे एसे जीवनकी यद्यपि अन्य साधनन्मे प्रवृत्ति होय नाहीं. क्यों जो अङ्गीकारके स्वभावसूंही भगवत्स्वरूपमें जेसो स्नेह होय हे एसो स्नेह विषयादिकन्मे होत नाहीं हे. तोहु सम्बन्धजन्य दोषको निवारण करिवेकेलिये श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हें जो संसारावेश इतने विषयभोगादिकन्मे अहन्ता-ममतात्मक आवेशसों दुष्ट भयी इन्द्रियनके; ओर अहन्ता-ममतासूं उत्पन्नभये बन्धनरूप दुःखके अज्ञानसूं वाकी निवृत्ति करिवेमें विमुखतावारी इन्द्रियनके हितार्थ उन सबनकुं संसारके अन्य धर्मन्मे तें छुडायके श्रीकृष्णमें हि लगावे. इन्द्रियनकी सार्थकता वामें ही हे. इन्द्रियनकी (प्रभुमें विनियोग होय तब हि) कृतार्थता होयवेको श्रीभागवतमें “अक्षण्वतां फलमिदं” इत्यादि श्लोकन्सूं कह्यो हे. एसें इन्द्रियादिककुं संसारधर्मतें छुडायकें प्रभुमें योजवेकी आधुनिकनकु शिक्षाहु या श्लोकसूं करी हे. एसें प्रभुमें विनियोग भये पीछें जहां तांई प्रभुको साक्षात्कार न होय तहां तांई गुणगानमेंही आसक्त रहे. एसें करत-करत जब विनमेंही आसक्त होय तब भगवदावेश होय, ओर रीतिसूं न होय॥12॥

एसें सब पदार्थको प्रभून्मे विनियोग कियेसूंहु पूर्वके संसाराध्याससूं विषयन्मे कछुक अहन्ता-ममतारूप संसार तो रहेही. ओर वा विषयको त्याग कियेसूं कछुक मनमेंहु तज्जनित क्लेशहु रहि सके हे तो गुणगानमें सुखही होयवेको केसे कह्यो हे एसी शङ्का होय तहांकहतहें:

गुणेष्वाविष्ट-चित्तानां सर्वदा मुरवैरिणः॥

संसारविरह-क्लेशौ न स्यातां हरिवत् सुखम्॥13॥

मुरवैरिणः='मुर'दैत्यके वेरिके
गुणेषु=गुणनमे
सर्वदा=सदा
आविष्ट-चित्तानां=जिनको
चित्त पिरोयो भयो हे विनकुं
संसार-विरह-क्लेशौ=संसार
ओर विरह सूं जनित क्लेश
न=नहीं, स्यातां=होत हे
हरिवत्=श्रीकृष्णकी तरह
सुखं=सुख(स्यात्=होत हे)

भावार्थ : मुरवैरि (प्रभु)के गुणगानमें निरन्तर आविष्ट चित्तवारेनकु संसार ओर विरह को क्लेश नाहीं होत हे, हरिकी नांई सुख होय हे.

टीका : इतनें आसक्तिसों प्रभुके गुणगान करें तब प्रभुमें जब चित्त आविष्ट होय जाय तब उनकुं पूर्वोक्त संसारत्याग ओर तासूं भये क्लेश की अनुभूति नाहीं होय हे. क्यों जो विनकों तो प्रपञ्चके विस्मरण पूर्वक गुणगानमें चित्तको आवेश होय जावेसों विषयादिकके अध्यासकी सम्भावनाहु नाहीं होय सके हे तो वाके त्यागसूं भयो क्लेश तो कहांते सम्भवे? या सबको विस्तार वेणुगीतके श्रीसुबोधिनीजीमें "जागृत ओर स्वप्न अवस्थामेंहु प्रभुकी क्रिड़ाकों देखत हें" के विवरणमें आपश्रीने कियो हे.

यहां शङ्का करे हें जो आसक्तिजन्य सुखहु विषयजन्य सुखके तुल्यही होयगो! या शङ्का को निरास करे हें जो विषयसुख तो भोगमें आसक्ति बढायवेवारो होयवेसूं वो संसारजनक ही हे; ओर प्रभु जेसें सकल दुःख दूरि करिवेवारे हें ओर संसारके निवर्तक हें तेसें प्रभुकी आसक्तिसो जन्य सुखहु संसारको निवर्तक हे. तासूं पूर्वोक्त संसारासक्ति ओर भगवदासक्ति के सुखमें बहोत वैलक्षण्य होयवेसूं तुल्यताकी सम्भावनाहु नाहीं होय सकत हे. तासूं "हरिवत् सुखम्" एसें सुखमें हरिको दृष्टान्त दियो हे॥13॥

एसें सबनको विषयवासनासों रहित भगवदासक्ति जब दृढ होय तब जो होय सो अब कहत हें:

तदा भवेद् दयालुत्वम् अन्यथा क्रूरता मता॥
बाधशङ्का ऽपि नास्त्यत्र तद् अध्यासोऽपि सिद्धयति॥14॥

तदा=तब, दयालुत्वं=दयालुपनों
भवेत्=होयहे, अन्यथा=नहिंतो
क्रूरता=क्रूरपनों
मता=माने हें, अत्र=यहां
बाधशङ्का =बाधकी शङ्का
अपि=हु, न=नाहीं, अस्ति=हे
(यतः=क्योंके)तदध्यासः=वाको भ्रम
अपि=हु, सिध्यति=सिद्ध होवे हे

भावार्थ : (जब गुणगान सिद्ध होय) तब प्रभुकी दया होय.एसें न होय तो क्रूरता मानी जाय. यामें बाधकी शङ्का हु नाहींहे. निरोधमार्गीकुं प्रपञ्चकी विस्मृति होय जावेसूं अपने देहादिकनमे प्रभुकोही अध्यास सिद्ध होय हे, वाकुं प्रभु अपनेसूं भिन्न नाहीं स्फूरे हें.

टीका : एसें जब अत्यन्त विरहजन्य तापरूप आसक्तिसों सकल इन्द्रियें प्रपञ्चके अध्याससों रहित होंय, स्वरूपात्मकतारूप पूर्ण निरोध जब सिद्ध होय तब प्रभुको दयालुपनो सिद्ध होय. एसे प्रचुरतापात्मक भाव होय तब प्रभु भक्तकुं आश्वासनरूप स्वस्थता प्रदान करीके वाके तापमें प्रतिबन्धक नाहीं होत हें. यदि प्रभु प्रबन्धक होंय तो प्रभुकी क्रूरता मानी जाय. यहां 'क्रूरता'पदको दूसरो अभिप्राय ये हे जो साक्षात् अपनो करिकें जाको अङ्गीकार कियो होय एसो पुरुष प्रभुकुं आछो लगे एसो स्वधर्मरूप कृत्य जब तांइ न करे तब तांइ प्रभुको क्रोध वा जीवपें रहेही हे.

अब शङ्का करे हें जो सर्वत्याग करिके गुणगानमें प्रवृत्ति करे तब तो काल-कर्मादिक प्रतिबन्ध करि सके हें! याके समाधानमें कहत हें जो गुणगानमें बाधकी शङ्का हु नाहीं होय हे तो बाध तो कहांते होय! भक्तकी सकल इन्द्रियनमे प्रभु

आविष्ट होयवेसूं बाध कोन करि सके हे? स्वयं प्रभुहु बाध नाहीं करि सके हें तो ओरकी तो कहा बात करनी? ये सब बात 'सन्नयासनिर्णय' ग्रन्थमें "अत्रारम्भे ..." सूं लेयेकें "हरिर् अत्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे" पर्यन्त कही हे. यहां 'अत्र'=(यहां) पदसूं ज्ञानमार्गमें बहोत विघ्न होयवेको सूचन होय हे.

यहां शङ्का करें हें जो भक्तमें भगवत्स्वरूपके मिलनकी अभिलाषा विद्यमान होय हे. सो अभिलाषा अपने ओर प्रभु के बीचमें भेदज्ञानके कारण ही होय हे. भेदज्ञानको कारण देहादिकको अभिमान होत हे. एसो अभिमान तो बाधरूप मान्यो जाय हे! एसी शङ्का होय तहां कहत हें जो ज्ञानमार्गमें जेसें "सो अहं" एसी स्फूर्ति होय हे तेसें निरोधमार्गीकुं प्रपञ्चकी विस्मृति होय जावेसूं अपने देहादिकनमे प्रभुकोही अध्यास सिद्ध होय हे, वाकुं प्रभु अपनेसूं भिन्न नाहीं स्फूरे हें. जेसें संसारीनकु संसारको अध्यास होय हे एसें भक्तकुं या अवस्थामें साक्षात् पुरुषोत्तमको अध्यास होय हे. तासूं वाको स्वभावही पलट जाय हे एसो 'सिद्ध्यति'पदसूं कह्या हे. ये बात श्रीभागवतमें "तन्मनस्का: तदालापाः" या श्लोकके विवरणमें सविस्तर हे तासूं विशेष जिज्ञासूकुं वापेसूं जान लेनो॥14॥

यहां शङ्का करे हें जो वैराग्य नाहीं होयवेसूं पूर्वोक्त प्राकृत विषयनको अध्यास केसें निवृत्त होयगो? याको समाधान करत हें:

भगवद्धर्म-सामर्थ्याद् विरागो विषये स्थिरः॥
गुणैर् हरेः सुखस्पर्शात् न दुःखं भाति कर्हिचित्॥15॥
भगवद्धर्म-सामर्थ्यात्=भगवानके
धर्मके सामर्थ्यसूं, विषये=विषयमें
स्थिरः=स्थिरपनेसूं
विरागः=वैराग्य(भवति=होय हे)
गुणैः=गुणन्सूं,हरेः=श्रीकृष्णके
सुखस्पर्शात्=सुखद स्पर्शसूं
कर्हिचित्=कबहु, दुःखं=दुःख
न=नहीं, भाति=अनुभवमेंआवेहे

भावार्थ : गुणगान करिवारे भक्तकों भगवद्धर्मके बलसों दुःखको कदाचिदपि भान नाहीं होय हे. सकल ऐश्वर्यादिक गुणयुक्त प्रभुके धर्म गुणगानद्वारा अन्तःकरणमें प्रवेश करे हें. तिनके सामर्थ्यसों प्राकृत विषयमें ओर प्राकृतपनेसूं प्रभुमेंहु एसें धर्मविशिष्ट पुरुषकुं विराग रहेही हे.

टीका : इतने विषयपनेसूं तो सर्वत्र वैराग्यही हे परन्तु तिनकुं पराकाष्ठापन्न अलौकिकानन्दरूप साक्षात् प्रभुमें निरूपधि स्नेहकरिकें केवल तदीयपनेकीही बुद्धि होय हे. सो रासपञ्चाध्यायीमें व्रजभक्तनने प्रभून्प्रति कह्यो हे जो "आप हमकुं घर जायवेकी आज्ञा करत हो सो कछु लौकिक-विषयादिककी इच्छासूं हम आये हें एसी सम्भावना करिकें करत होउगे. परन्तु हम तो सर्वविषयनकु छोड़िकें आपके चरणमूलकी शरण आये हें" इत्यादिक निरूपणसूं जान्योजाय हे. तासूंही प्रभुहु आप कृपा करिके प्रथम कह्यो एसो आनन्द अनुभवावे हें.

यहां शङ्का करे हें जो प्रभु आनन्दको अनुभव करावे हें तब दुःख केसे रहे हे? याके समाधानमें कहत हें जो प्रभुके गुणगान(रूप साधन)सूं सुखको स्पर्श होयवेसूं पूर्ण भये एसे उन (निरधमार्गीयन)कुं सर्वदा तादात्म्य (एकता)सूं दुःखस्वरूपको भानही नहीं होय हे तो दुःखकी सम्भावना तो केसें होय सके? ओर जो तापरूपता देखिवेमें आवे हे ताकुं सुखरूपता होयवेसूं सुखरूपही जाननी॥15॥

अब उपसंहार करत हें:

एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गाद् उत्कर्षो गुणवर्णने॥
अमत्सरैर् अलुब्धैश्च वर्णनीयाः सदा गुणाः॥16॥

एवं=या प्रकारसूं
ज्ञानमार्गात्=ज्ञानमार्गसूं
गुणवर्णने=गुणके वर्णनमें
उत्कर्षो=श्रेष्ठता, ज्ञात्वा=जानिके
अमत्सरैः=ईर्ष्याको छांडिके
च=ओर
अलुब्धैः=लोभ रहित होयकें
सदा=निरन्तर
(हरेः=हरिके) गुणाः=गुण

वर्णनीयाः=वर्णन करने

भावार्थ : एसें ज्ञानमार्गतें गुणगानमें उत्कर्ष जानिके मत्सर ओर लोभ रहित होयके निरन्तर गुणकोही वर्णन करनो.

टीका : साक्षात् भगवदानन्द सर्व इन्द्रियन्सूं स्वाद लियो जासके एसो होयवेसूं, ओर ताके साधनरूप गुणगान्हु सुखरूप होयवेसूं, ओर ज्ञानमार्ग कष्टसाध्य होयवेसूं, ओर ज्ञानको फल अक्षरपर्यवसायी होयवेसूं गुणगान ज्ञानमार्गसूं हु उत्कृष्ट हे एसो जानिके निरोधमार्गीकुं भगवद्भावके अङ्गीकारसूं लेयकें गुणगानही करने ओर कछु साधन नहीं करने. गुणगान करतें-करतें दृढासक्ति होय तब तो आपहितें गुणगान होयवे लागत हें. परन्तु आधुनिक जीवनकी गुणगानमें स्वतःप्रवृत्ति नहीं होयवेसूं गुणगान करिवेको उपदेश दियो जाय हे. गुणगानमें प्रतिबन्धक मात्सर्य ओर लोभ इन दो आन्तर दोषनको निवारण करनो आवश्यक हे. दूसरेको उत्कर्ष सहन न होय सके ताकुं 'मात्सर्य' कहे हें. सो मात्सर्य ओर लोभ कुं छोड़िके गुणगान करनो. इन दोषनकी प्रतिबन्धकताको निरूपण करत हें जो भगवद्भक्तमें मात्सर्य होय तो वामें सौहार्द (मैत्री) न होय. तब विनके सङ्ग प्रभुके गुणगानहु न होय सकें. तासूं मात्सर्यको त्याग करनो. ओर मनमें लोभ होय तब तो अर्थसंचयकोही बिचार रह्यो करे तो भगवदावेश कहांते होय? भगवदावेश न होय इतनोही नहीं किन्तु भगवद्भक्तकुं तो तासूं सर्वस्वकी हानि होय तासूं इन दोउ दोषनको त्याग करनो॥16॥

यहां कहे हें जो भक्तिमार्गको मुख्य सिद्धान्त तो प्रभुकी स्वरूपसेवा करिवेको ही हे. परन्तु प्रकृतमें तो मुख्यपनेसूं गुणगान कह्यो जाय हे सो केसें? एसी शङ्का होय तहां कहत हें:

हरिमूर्तिः सदा ध्येया समल्पादपि तत्र हि॥
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृति-गती सदा॥17॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णाप्रिये रतिः॥
पायोर् मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत् ॥18॥

हरिमूर्तिः=श्रीकृष्णके स्वरूपको
सदा=निरन्तर, हि=निश्चितरूपसूं

ध्येया=ध्यान करनो
समल्पात्=समल्पसूं
तत्र=वहां(मूर्तो=मूर्तिमें)
सदा=हमेंशा, दर्शनं=दर्शन
स्पर्शनं=स्पर्श
स्पष्टं=स्पष्टहोवेहे, तथा=ओर
कृति-गती=कृओर गति
श्रवणं=श्रवण
कीर्तनं=कीर्तन, अपि=भी
स्पष्टं=स्पष्टरूपसूं(भवति=होवे हे)
कृष्णप्रिये=श्रीकृष्णके प्रिय
पुत्रे=पुत्रमें, रतिः=स्नेह
पायोः=मलत्यागेन्द्रियसों
मलांशत्यागेन=मलको त्याग करिके
शेषभागं=बाकीरहे, तनौ=शरीरमें
नयेत्=प्राप्त करनो

भावार्थ : श्रीहरिके स्वरूपको ध्यान सदा करते रहनो. क्योंके भावमात्रसूं हृदयमें प्रगट भये वा भगवत्स्वरूपको दर्शन ओर स्पर्श तो स्पष्ट होय हे. एसें ही करनो, चलनो, श्रवण करनो, कीर्तन करनो येहु स्पष्ट होय हें. श्रीहरिके प्रिय एसे पुत्रादिमें प्रीति करनो, पायु इन्द्रियको जो मलांशत्याग करिवेको धर्म हे सो छोड़िकें शेषभाग शरीरकोही हे एसें समजनो.

टीका : समल्पसोंहु प्रभुके स्वरूपको सदा ध्यान करनो. जेसें भगवत्स्वरूके दर्शन ओर स्पर्श स्पष्ट हे तेसें भगवत्सेवा सम्बन्धि कृति ओर गति हु सदा करनी.

यहां एसो दीखे हे जो प्रभु उद्धारकेलिये साधनमर्यादासूं सबनको अङ्गीकार करे हें. सेवाकर्ताकुं मानसीसेवा फलरूप कही हे. ताके साधनतया मार्गनिष्ठा राखिके (तनुवित्तजा) सेवा करनी आवश्यक हे. ओर जिनको पुष्टिमार्गमें निःसाधनपनेसूं अङ्गीकार भयो हे तिनकों तो अङ्गीकारतेंही प्रभुमें अत्यन्त स्नेहभाव होयवेसूं स्वरूपकी अभिलाषा होय हे. ता करिकें प्रभुके सङ्ग संलापादिरूप भावना होय हे. सो भावना मनके धर्मरूप हे तासूं ता करत-करत मनही भगवत्पर होय जाय तब

मानसी सेवा सिद्ध होय हे. (प्रभून्ने विनको नि:साधनपनेसूं अङ्गीकार कियो होयवेसूं) उनकुं अब सेवाको प्रयोजकपनो नाहीं होयवेसूं भगवद्भाव दृढताकेलिये गुणगान मुख्य हे. तासूं गुणगान करिवेकी आगें आज्ञा करी हे. तासूंही भगवद्वरणके पीछें जिनको बहोत भाव बढ्यो हे एसें कुमारिका पूजादि सब छोड़िकें प्रभूनको गुणगान करन् लगे. ये बातको सविस्तर निरूपण "भूयान् नन्दसुतः पतिः" श्लोकके श्रीसुबोधिनीजीमें कियो हे. साधनमार्गमें शरण आये भक्तहु साधनरूप सेवा करें ता पीछें विनमें भगवत्स्नेह होय हे. स्नेहके अनन्तर अधिक भाव उत्पन्न होय तब गुणगानद्वारा ता भावकी दृढताकेलिये त्याग करे. एसेकुंहु गृहस्थिति भावनाशक होत हे. तासूं गृहादिको त्याग करिके प्रभुमेंही मन राखिकें भावकी वृद्धिको यत्न करें—— एसें भक्तिवर्द्धिनीमें "तादृशस्यापि"सूं लेयकें "त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु तदर्थार्थैक मानसः" पर्यन्त श्लोकमें श्रीमहाप्रभुजीने आज्ञा करी हे. ओर पूर्व कही साधनरूपसेवा ताके कियेसूं स्नेहभाव होय. तासूं (भगवत्सेवाके अनवसरमें जो) विरहतापरूप दुःख होय सो दुःखकी निवृत्ति गुणगानतेंही होय. तासों गुणगानकुं मुख्य कह्यो हे.

अब कहत हें जो ता प्रकार पुष्टिमार्गमें अङ्गीकार भयो हे ताके स्वभावसूंही उत्पन्न भये भावामुर, तासों उत्पन्न भये नानाप्रकारके मनोरथ करिकें प्रभुके स्वरूपको ध्यान करनो. सो स्वरूपही भाव करायवेवारो हे. भक्तके मनमें जब प्रभुसम्बन्धि नानाप्रकारके मनोरथ होत हें तब विनके पूर्ण नाहीं होइवेके कारण भक्तकुं ताप होत हे. सो तापकी निवृत्तिके अर्थ ओर भावके दार्ढ्यार्थ गुणगानही करनें.

यहां शङ्का करे हें जो अपने मार्गमें प्रभुके स्वरूपको ध्यान करिवेको कह रहे हें ओर ज्ञानमार्गमेंहु ध्यान करिवेकी कही हे तो अपने मार्गमें ध्यान कियो जाय हे तामें कहा विशेष? तहां कहत हें जो पूर्वकहे प्रकारसूं नानामनोरथ करिकें स्वरूपमें भावना करनी. एसें करत भावात्मक प्रभु वाही भावनामें प्रकट होयकें दर्शन देय हें, स्पर्श करावे हें. सो सब भक्तकों अनुभव होयहे. तेसें ही सब क्रिया ओर प्रभुके सङ्ग संलाप इत्यादिको हु अनुभव भक्तिमार्गीय भावनासोंही होय जात हे. ज्ञानमार्गमें काहु प्रकारको अनुभव नाहीं होयहे. ओर गुणगानमेंतो समल्पमात्रसूं स्पष्टअनुभव होय हे एसें 'अपि'शब्दसूं सूचित होय हे. एसें भावनामें प्रकट होयके सब दुःख मिटावे हें ये 'हरिमूर्तिः'पदसूं सूचितहोयहे.

यहां शङ्का करे हें जो भगवदङ्गीकार पूर्वक कृपा होय तब ये सब बने एसें "कृपायुक्तो यदा भवेत्" ये श्लोकमें कह्यो. परन्तु प्रभूकी एसी कृपा तो जब

महत्पुरुषनकी कृपा होय तब होत हे सो “महातां कृपया” या श्लोकमें कह्यो. तासूं बड़ेनकी कृपाको सम्पादन किये बिना प्रभुकी प्राप्ति केसें होय? याकों स्पष्ट करत हें जो पूर्व कहे भक्त तो पराकाष्ठापन्न (श्रीपुरुषोत्तम)के रसके भोक्ता ओर मात्सर्यादि दोषन्सूं रहित हें ओर प्रभुके कृपापात्र जे होंय विनमें अत्यन्त स्नेहवारे होय हें. तासूं उनकुं श्रीकृष्ण जाकुं प्रिय हे अथवा फल देवेमें तत्पर एसे श्रीकृष्णकुं जो प्रिय हे एसे भक्तमें पुत्रतुल्य प्रीति होय हे. तासूं वे कृपाकरिके भावको दान करत हें. भावको दान करिवेसूं विनको गुरुपनो सिद्ध भयो ओर जाकुं भाव दियो ताकुं पुत्रपनो सिद्ध भयो. तासूं पुत्ररूपपनो कह्यो हे. ओर अपने मार्गमें तो भाव देवेवारे श्रीगोपीजनही हें तासूं विनको गुरुपनो ‘सन्नयासनिर्णय’ ग्रन्थमें “कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ताः” या श्लोकमें स्फुट कह्यो हे. ओर जेसें पुत्रकुं काहु प्रकारको दुःख देखिकें ताके उपर प्रेम होयवेसूं ताकी निवृत्तिको उपचार करे हे तेसें यहांहु एसी आर्त्ति देखिकें वात्सल्यसूं ता आर्तिकी निवृत्तिपूर्वक भावको दान करत हें. जेसें पुत्रने नानाप्रकारके अपराध किये होंय तोहु वाको विचार नाहीं करिके वात्सल्यही राखे हे तेसें तादृशभक्तनमे हु प्रीतिही राखे हें. सो उनकी प्रीतिहु भावात्मिकाही हे. जेसें तादृश भक्तनको भगवदीयके विषे पुत्रभावहे तेसें पुत्रनकु हु भगवदीयनके विषे पितृ-मातृभाव राखनो एसो यहां सूचित होय हे.

यहां ओर हु गूढ अभिप्राय जान्यो जाय हे. श्रीकृष्णकुं प्रिय तो अनेक होय हें परन्तु “स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत ...” या श्लोकमें वर्णित आनन्दरसरूप श्रीकृष्णको प्रियपनो तो जेसो श्रीमहाप्रभुजीको हे एसो ओरके विषे नाहीं हे. ता प्रीतिको हेतुरूप श्रीस्वामिनीजीको प्रियपनोहु श्रीमहाप्रभूनके उपरही हे, ओरनके विषे नाहीं हे. क्यों जो श्रीमदाचार्यनकु ही विनके भावात्मकपनो ओर विनके भावके मध्यपातिपनो हे. तासूं श्रीआचार्यजीको अभिप्राय एसो हे जो श्रीप्रभुनकु में प्रिय हुं ओर पुत्रके उपर जेसी प्रीति होय तेसी मेरी उपर विनकी (व्रजभक्तनकी) प्रीति हे. तासूं मेरेद्वारा जो अङ्गीकृत होयगो वाके उपरहु विनकी एसी प्रीति होयगी. अथवा “श्रीकृष्णकुं प्रिय एसो जो में ताके उपर प्रीति हे” एसें कहिवेसूं आपकुं विनको भावात्मकपनो ओर विनको अन्तर्गतपनो होयवेसूं आधूनिक जीवनकु आपकी कृपातेंही प्रियपनो होयगो एसेंहु सूचित कियो हे.

एसें श्रीआचार्यनकी कृपासों रतिरूप जो भाव भयो हे सो समग्र प्राकृतांशकुं छुड़ायके क्रमसों अलौकिक साक्षात् भगवदात्मक ता-ता विषयनकु इन्द्रियनमे जुड़ाई देत हें सो दृष्टान्त सहित निरूपण करत हें:

पायु इन्द्रियको जो मलांशत्याग करिवेको धर्म हे सो छोड़िकें शेषभाग शरीरकोही हे एसें समजनो. इतनें मलांशको त्याग करिके शरीरकुं शुद्ध करिवेवारी वोही इन्द्रिय हे एसें समझिवेसूं पायुइन्द्रियको शरीरकी शुद्धिमें उपयोग भयो. ओर "वायुर् मलांशत्यागेन शेषभावं तनौ नयेत्" एसोहु पाठ कोउ **टीका**में अभिप्रेत हे. ताको अभिप्राय एसो हे जो सर्वदेह तथा इन्द्रियनमे व्याप्त होयकें वायु रहत हे. सो भुक्त भई सकल वस्तूनके मलांशकुं बहार निकासिकें शेष जो सारांश होय ताकुं नाडीद्वारा शरीरमें जेसें लेय जात हे तेसें निरोधवारो भक्तहु सब इन्द्रियनको भाव प्रभूनमे लेय जाय, एसें पूर्ण निरोधसिद्ध होय हे॥18॥

सब इन्द्रियनको भगवदासक्तिके स्वभावसूंही भगवत्कार्यमें यथायोग्य विनियोग होयवे लगेगो, तामें उपदेश देवेको क्या प्रयोजन हे? एसी जिज्ञासा होय तहां कहत हें:

यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते॥
तदा विनिग्रहस् तस्य कर्तव्य: इति निश्चयः॥19॥

यस्य=जाको,वा=हु, यदा=जब
भगवत्कार्यं=प्रभुसम्बन्धि कार्य
स्पष्टं=स्पष्टरूपसूं
न=नाहीं, दृश्यते=दीखे
तदा=तब,
तस्य=वाको
विनिग्रहः=विशेषरूपसूं निग्रह
कर्तव्यः=करनो
इति=ये,निश्चयः=निश्चय हे

भावार्थ : जा-जा इन्द्रियको भगवत्कार्य स्पष्ट देखिवेमें नाहीं आवे ता-ता इन्द्रियको निग्रह करनो एसो निश्चय राखनो.

टीका : इतनें यद्यपि एसे भक्तकी इन्द्रियें तो ताके भावके स्वभावसूंही एसी (भगवद्विनियोगवारी) होय हे तथापि लौकिक मनुष्यनको अनुसरिवेसूं जा इन्द्रियको भगवत्कार्य जब स्पष्ट देखिवेमें नाहीं आवे तब लौकिक सबनको त्याग करिके इन्द्रियको निग्रह करनो. अर्थात् इन्द्रियनकु लौकिकमेंसूं फिरायकें भगवत्सम्बन्धमें लगायवेकेलियेही उपर कर्त्तव्यको विधि कह्यो हे॥19॥

एसें पूर्ण निरोधके स्वरूपको निरूपण करिके गुणगान निरोधकुं सिद्ध करिवेवारो होयवेसूं वाके सर्वोत्कृष्टपनेको निरूपण करत हें:

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात्परम्॥20॥

॥इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं निरोधलक्षणं सम्पूर्णम्॥
अतः=यासूं, परतरः=श्रेष्ठ
मन्त्रः=मन्त्र, न=नाहीं
(अस्ति=हे)अतः=यासूं
परतरः=श्रेष्ठ, स्तवः=(अस्ति=हे)
अतः=यसूं,
परतरा=श्रेष्ठ
विद्या=विद्या, न=नाहीं
(अस्ति=हे)अतः=यासूं
परात्परं=श्रेष्ठतम, तीर्थं=तीर्थ
न=नाहीं (अस्ति=हे)

भावार्थ : यासूं पर मन्त्र, स्तोत्र विद्या ओर तीर्थ कोउ नाहीं हे.

टीका : इतने मन्त्र-स्तोत्रादि हें सो लोक-वेदमें कह्ये फलकुं प्राप्त करिवेवारे हें. तासूं लोक तथा वेद में जो कामनावारे हें विनकुं मन्त्रादिकनकी बड़ाई भले होउ परन्तु जाकुं लोक-वेदमें कही एसी कामना नाहीं हे केवल पभुस्वरूपमेंही आसक्ति हे वाकु मन्त्रादिकनकी बड़ाई नाहीं हे. क्यों जो प्रभूनको गुणगान हे सो लोक-वेदसूं विलक्षण

फल देयवेवारो हे ओर लोक-वेदसूं अतीत (लोकवेद जहां पहोंचि नाहीं सके एसो उत्कृष्ट) हे ये जतायवेकुं फलकी स्तुति करी हे. यद्यपि मन्त्रादिद्वारा चित्तशुद्धि होयवेसूं चित्तको निरोध होय हे तथापि वामें क्लेश बहोत ओर फल अत्यन्त अल्प हे. ओर गुणगानद्वारा चित्तको निग्रहहु सुखसूं होय हे तथा फल सबन्सूं उत्कृष्ट होय हे तासूं गुणगानही सबनसूं उत्तम हे एसें जाननो॥20॥

॥इति श्रीवल्लभाचार्य विरचित निरोधलक्षणकी
गोस्वामि श्रीनृसिंहलालजी महाराज
विरचित व्रजभाषा**टीका** समाप्त भई॥

सेवाफलम् ग्रन्थ-परिचय

श्रीकृष्णाय नमः।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।

सेवाफल और उसके विवरणकी रचना श्रीमहाप्रभुने आगरामें विष्णुदास छीपाकेलिए की थी. किंवदन्तीके अनुसार इसका रचनाकाल वि. सं. १५८२ माना जाता हैं ' वार्तामें एतद्विषयक उल्लेख यों मिलता है(.'वैष्णववाणी (अंक ४ वर्ष १९७९) श्रीनागरदास शास्त्री लिखित लेख।)

“सो आगरेके पासके गाममें एक छीपाके घरमें प्रकटे. सो बडे भये, बीस वर्षके, तब ब्याह भयो. सो पिता वस्त्र छाप देय विष्णुदास आगरेमें जाई बेच लावें। सो ऐसे करत

एक समय श्रीआचार्यजी आगरे पधारे. सो विष्णुदास सुन्दर छींटके थान ले आगरे गये. तब श्रीआचार्यजीने कृष्णदाससों कही-“यह छीपाके पास छींट आछी है सो तू ले. जो मांगे सो दे". तब कृष्णदासने विष्णुदाससों कही-“यह छींटके थान सगरे हमकों दे। याके दाम हैं सो तू ले”. सो विष्णुदासने चौगुनौ मोल कह्यो. सो कृष्णदासने सगरे रुपैया गिन दिये. और कहे-“और आछे थान होई सो ले आऊ”

तब विष्णुदास चक्रत होई रहे जो ए तो बड़े महापुरुष अलौकिक जीव हैं जो मोल न कियो, सगरे थान लिये, ताके दाम दिये सो इनको छींट देनो उचित नहीं है। इनको पैसा मेरे घर आवेगो तो सगरो घर बैरागी होई जायेगो तब विष्णुदासने कही- ये सगरे अपने रुपैया लेऊ। मेरे छींटके थान फेरि देऊ”. तब कृष्णदासने कही-“तू बडो मरख दीसत है ते मोल कह्यो सो दाम दिये। अब यह थान कबह फिरै नाही. तेरे टोटा होई तो और हू रुपैया ले. चौगुने तो दाम लिये

तब विष्णुदासने कही-“तुम महापुरुष हो ताते तिहारो द्रव्य घरमें आये सगरो घर बैरागी होईगो. याते मै तुमको नांही बेचत। जो थान न देह तो यह रुपैया हू राखो. और थान हू राखो. परन्तु रुपैया तिहारो मोकों पचे नाहीं'. तब कृष्णदासने कही-“यह थानकी श्रीआचार्यजीने श्रीमुखसों सराहना करिके कहै- लेऊ'. सो तू कोटीन उपाय करे तो यह थान फिरै नाहीं और श्रीआचार्यजी बिना सेवक ओरको कछु लेत नाही...' तब विष्णुदासने कही- “श्रीआचार्यजी कहां हैं?"

उपनिषदमें ठीक ही तो कहा है कि परमात्मा न तो प्रवचनसे मिलता है, न मेघासे और न बहश्रुततासे ही परमात्मा कहां है? किसे मिलता है? उत्तर:परमात्मा जिसे खोज रहा हो वहीं परमात्माको खोज पाता है परमात्मा जिससे मिलना चाहता है वही परमात्मासे मिल पाता है-“यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः” (कठ। १।२।२३).

भारतवर्षकी तीन-तीन परिक्रमाओंमें श्रीमहाप्रभु इन्हीं विष्णुदासोंको तो खोज रहे थे. तभी तो विष्णुदास भी पूछ सके-“श्रीआचार्यजी कहां है?'

निरोधलक्षण ग्रन्थमें कहा गया है कि भक्तोंके बीच भगवान्का इस भूतलपर प्रकट होना करणनिरोध है. प्रपञ्चको भूल कर भक्तोंका भगवान्में आसक्त हो जाना व्यापारनिरोध है. इस प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिके व्यापारद्वारा भक्तके देह, इन्द्रिय, अन्त:करण, प्राण, आत्मा सभीसे सर्वत्र-सर्वदा भगवान्के स्वरूप या लीला का निरन्तर अनुभव होना (मानसी सेवा) फलनिरोध है. तदनुसार विष्णुदासकी छींटपर श्रीमहाप्रभुका रीझना करणनिरोध था. विष्णुदासका"श्रीआचार्यजी कहां हैं?" पूछना व्यापारनिरोध था. और सेवाके बिना ही विष्णुदासको इस ‘सेवाफल' का दान फलनिरोध था “यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्'जीवात्माका वरण करणनिरोध है और परमात्माद्वारा निजरूपका विवरण फलनिरोध है.वार्तामें

आता है कि “तब श्रीआचार्यजी श्रीयमुनाजीके तीर पधारी विष्णुदासको न्हवाई नाम सुनाये ब्रह्मसम्बन्ध कराये. विष्णुदासने विनती करी-“महाराज मैं मूरख हों सो ऐसी कृपा करो जो श्रीभागवत आदि आपके ग्रन्थनमें कछु ज्ञान होई, आपके मारगको सिद्धान्त जान्यो जाई". तब श्रीआचार्यजी 'सेवाफल' ग्रन्थ करी विष्णुदासको सुनाये. सो सुनिके विष्णुदासने विनती करी-“महाराज 'सेवाफल' ग्रन्थके सुनेंते सगरे शास्त्रपुराणको ज्ञान भयो परन्तु 'सेवाफल' ग्रन्थको अभिप्राय समुझिवेमें नाहीं आयो. तब श्रीआचार्यजी कहें-'ग्रन्थ' 'सेवाफल' ऐसो ही कठिन है। भली करी ते पूछ्यो” पाछे आप 'सेवाफल' की टीका करिके सुनाये. तब सगरे मारगको सिद्धान्त विष्णुदासके हृदयारूढ़ भयो सो मगन होई गये... सो विष्णुदास थोरो सो कपडा छापें सो आगरे बेचि आवे जामे देहनिर्वाह होई. और सगरे दिन-रात मानसी सेवा श्रीआचार्यजीके ग्रन्थ श्रीसुबोधिनीजीके भावमें मग्न

सेवाको उद्वेगरहित बनाने के लिए चिन्तात्यागकी बात समझायी गयी है. अन्तःकरणप्रबोध, विवेकधैर्याश्रय तथा कृष्णाश्रय द्वारा इसी पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवामें विघ्नरूप उद्रेग एवम प्रतिबन्धोंसे बचनेके उपाय दिखलाये गये हैं. चतश्लोकीमें इस सेवाका पुष्टिमार्गीय धर्मार्थकाममोक्षकी पुरुषार्थंचतष्टयीमें क्या स्थान है यह दिखलाया गया है. भक्तिवर्धिनीमें इस सेवाके बीजभावसे लेकर व्यसनदशातक होते विकासकी रूपरेखा खींची गयी है. सेवाके अनवसरमें चित्तके भगवत्प्रवण बने रहने में कोई व्यवधान न आये एदतर्थ जलभेद-पञ्चपद्यानिमें भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तनका स्वरूप समझाया गया है. यह सेवा न निभती हो तो भोगासक्तिपर काबू पानेकेलिए गृहत्याग कर देना चाहिये. यह गृहत्याग व्यसनदशा सिद्ध होनेपर ही करना चाहिये. अन्यथा नहीं. सन्न्यासनिर्णयमें यह सावधानी बरतनेकी सलाह दी गयी है. निरोधलक्षणमें इस सेवाके मानसी सेवाके रूपमें विकासके सहायक कारणोंको परिभाषित किया गया है. अब सेवाफलमें उक्त तनु-वित्तजा सेवाका फलित रूप फलनिरोध अर्थात् अलौकिक-सामर्थ्यके रूपमें दिखलाया जा रहा है. यह परमात्माके भूमारूपमें सकल वृत्तियोंका योजन है. इसे 'सर्वात्मभाव' भी कहते हैं.

समग्र षोडशग्रन्थोंकी एकवाक्यता या आधारशिलाके जैसी केन्द्रीय धारणा, पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थके-“भगवद्पसेवार्थं तत्सृष्टिः नान्यथा भवेत्', वचनमें श्रीमहाप्रभुने स्पष्ट कर दी है. अतएव षोडशग्रन्थके उपसंहाररूप सेवाफलमें पुष्टिमार्गीय फलसे भिन्न किसी फलका निरूपण स्वीकारनेपर; अथवा पष्टिमार्गमें भी सेवासे भिन्न किसी कर्तव्य या अवस्थाको पुरुषार्थ या फलरूप माननेपर, उपक्रम-उपसंहार आदि तात्पर्यनिर्धारक अङ्गोंमें परस्पर विसंवाद उपस्थित हो जायेगा. अतएव इस ग्रन्थके उपसंहारमें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं-“कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रमः". ___

इस ग्रन्थमें सेवाफलके रूपमें वर्णित ‘अलौकिक सामर्थ्य', 'सायुज्य' तथा “वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेह' की अनेक व्याख्यायें विभिन्न टीकाकारोंद्वारा दी गयी हैं. ___१) ये तीनों फल पुष्टिसर्गके तीन अवान्तर वर्ग पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाहपुष्टि की त्रिविध कक्षाके जीवोंकें फल हैं. __२) तनुनवत्वरूप अलौकिकसामर्थ्य भवगविरहकी फलात्मिका अनुभूति है. सायुज्य भगवत्संयोगकी फलात्मिका अनुभूति है. नवतनुत्त्वस्वरूप सेवोपयोगिदेह उभयसाधारण अधिकारकोटीका फल है.

___ यह मानसी सेवा परासेवा है, यह सिद्धान्तमुक्तावलीमें कहा गया था. मानसी सेवाकी सिद्धि तनु-वित्तजा सेवा करनेसे होती है, यह भी वहीं कहा गया था. इस पुष्टिभक्तिरूपा सेवाकें अधिकारी पुष्टिजीव ही होते हैं, सभी नहीं, यह पुष्टिप्रवाहमर्यादामें निरूपित किया गया है. सिद्धान्तरहस्यमें पुष्टिजीवोंको पुष्टिभक्तिरूपा सेवामें दीक्षित करनेकेलिए आत्मसमर्पणका प्रकार समझाया गया है। इससे भोगासक्ति पुष्टिभक्तिमें बाधा पहुंचानेमें असमर्थ बन जाती है. नवरत्नमें

३)अलौकिक सामर्थ्य पुष्टिभक्तिका फल है; तथा सायुज्य और सेवोपयोगिदेह मर्यादाभक्तिके फल है.

४)अलौकिकसामर्थ्य, सायुज्य और सेवोपयोगिदेह क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा साधारण कोटीके फल है.

५)संयोगानुभूतिरूप सायुज्य परम फल है। वियोगानुभूतिरूप अलौकिकसामर्थ्य तथा सेवोपयोगिदेह अधिकारसिद्धिरूप अवान्तर फल हैं.

६)अलौकिक सामर्थ्य और सायुज्य पुष्टिभक्तिके फल हैं तथा सेवोपयोगिदेह मर्यादाभक्तिका फल है.

७)अलौकिकसामर्थ्य अति-अन्तरङ्ग सेवाका फल है. अन्तरङ्ग सेवाके द्विविध सायुज्यरूप फल होते हैं:केवल आत्मना अनुभूयमान सायुज्य और अलौकिक, देह, इन्द्रिय, अन्त:करणआत्मना अनुभूयमान सायुज्य. सेवोपयोगिदेह बरिरङ्ग सेवाका फल है.

८)सर्वेन्द्रियोंकी भगवत्परता अलौकिकसामर्थ्य है. देहनाशक विगाढ़भावसे अन्यस्फूर्तिरहित अवान्तर संयोग सायुज्य है. मानसी सेवाकी सिद्धि होनेपर, वैकुण्ठादि भगवद्धामोंमें जैसे देह होते हैं वैसे, सेवोपयोगिदेहकी सिद्धि तृतीय फल

'सर्वात्मभाव', 'व्यसनोत्तर-कृतार्थता', 'तनुनवत्व' या 'मानसीसेवा' कुछ भी कहो, एक ही अवस्थाके विभिन्न पहलुओंका निरूपण है. स्थूल दृष्टिसे शब्दार्थ भिन्न-भिन्न है पर पदार्थ सर्वत्र एक ही है.

भागवतके दशमस्कन्धका वर्ण्य-विषय निरोध है. एकादश स्कन्धका वर्ण्यविषय मुक्ति है. द्वादशस्कन्धका वर्ण्य-विषय आश्रय ब्रह्मभावापत्ति है. इस स्कन्धत्रयीके विषयक्रम तथा श्रीमहाप्रभुके-“एवं भेदत्रयं निरूपितं सायुज्यं वैकुण्ठः जीवन्मुक्तिश्चेति” (सुबो. ३। २५।४०) वचनकी एकवाक्यताको दृष्टिगत करनेपर यहां सेवाफलग्रन्थमें वर्णित फलत्रयका रूप स्पष्टतया निर्धारित हो जाता है. अलौकिकसामर्थ्य फलनिरोध है, इस भूतलपर घटित होनेवाली भक्तोंकी जीवन्मुक्तिकी तरह, जो दशमस्कन्धके भक्तोंके जैसी भगवदनुभूतिका एक अलौकिक प्रकार है. सायुज्य परमात्मामें लय है, विदेहमुक्तिकी तरह, जो एकादशस्कन्धका वर्ण्यविषय है. वैकुण्ठादिषु-सेवोपयोगिदेह आश्रय-ब्रह्मभावपत्ति है, वैकुण्ठादि दिव्य भगवद्धामोंमें दिव्य देह प्राप्त करके पुनः भगवद्भजनके सुअवसरकी प्राप्ति है, जो भागवतके द्वादशस्कन्धका वर्ण्य-विषय है.

इस तरह तीनोंकी एकवाक्यता निर्धारित हो जानेपर निरोधलक्षण ग्रन्थके बाद सेवाफल ग्रन्थकी क्रमसङ्गति भी स्पष्ट हो जाती है. निरोधकी साधनावस्थाका निरूपण निरोधलक्षणमें अभिलषित है तथा निरोधकी फलावस्थाका निरूपण यहां सेवाफलमें. जैसे सेवाकी साधनावस्था, सिद्धान्तमुक्तावली तथा सिद्धान्तरहस्य में विवक्षित है और सेवाकी फलावस्था यहां सेवाफलमें.

विभिन्न व्याख्याकारोंके इस फलविचारके बारेमें इतने जादा मतभेदका कारण एक मधुर कलह है. पुष्टिभक्तिमें भगवान्की संयोगानुभूति परमफल है कि विरहानुभूति. इस प्रश्नका उत्तर देते समय विभिन्न व्याख्याकार अपनी-अपनी भावरुचिके विवश उलझ जाते है. अत: सेवाफल ग्रन्थके अध्ययनसे पूर्व एतद्विषयक श्रीमहाप्रभु-श्रीप्रभुचरणके मन्तव्योंका अध्ययन उपकारक होगा.

तैत्तिरीयोपनिषदमें ब्रह्मको 'आनन्दमय' (२५) कहा गया है और 'आनन्द' (३१६) भी। इसी तरह यहीं (२१७ में) ब्रह्मको 'रस' भी कहा गया है-“रसौ वै सः".. ब्रह्मसत्रके-“आनन्दमयोभ्यासात'सत्रमें दो बातें निर्धारितकी गयी हैं. एक तो ‘आनन्द' पदके साथ ‘मय (ट्)' प्रत्यय प्रचुरताके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है अतः ‘आनन्दमय' का अर्थ होता है:प्रचुर आनन्दरूप। दूसरे ‘आनन्दमय' शब्द परमात्माका वाचक है। इन सारी बातोंको लक्ष्यगत करनेपर दो प्रश्न उठते हैं:

१)क्या ‘आनन्द' और 'आनन्दमय' शब्द पर्यायवाची होनेपर भी अर्थछायाके

भगवान्के द्वारा प्रदत्त भावोंके अनुसार भगवदनुभूतिके अनेक प्रकारोंमें भक्तोंको फलरूपता प्रतीत होती है. अतः सभी व्याख्याकार अपनी-अपनी फलरुचिके अनुसार फलकी व्याख्या करते रहते हैं. इनमें यदि मतभेद दिखलायी पडता है तो

वह भी अपनी-अपनी फलरुचिकी मस्तीका मधुर मतभेद है. अत: मतभेद भी फलात्मक है.

ग्रन्थके तात्पर्यका जहां तक प्रश्न है तो वह भागवत (३।५।३२-४०) के नौ

भक्तिके तीन फल दिखलाये गये हैं:जीवन्मुक्ति सायुज्य और वैकुण्ठलोकप्राप्ति.अतः अलौकिकसामर्थ्य और जीवन्मुक्ति को एकरूप मानना चाहिये तथा वैकुण्ठादिषु सेवोपयोगिदेह और वैकुण्ठलोकप्राप्तिको एकरूप मानना चाहिये ; उभयत्र सायुज्य तो समान है ही. इस एकरूपताको निर्धारित करनेके बाद सुबोधिनीमें जो विस्तृत विवरण फलत्रयका दिया है तदनुसार सेवाफल ग्रन्थमें निर्दिष्ट फलत्रयका भी स्वरूपनिर्धारण सुकर हो जाता है.

अलौकिकसामर्थ्य प्रकट होता है, इस भूतलपर भगवत्सेवा करते हुवे, सकल इन्द्रियोंसे भगवदनुभूतिके रूपमें, यही पुष्टिमार्गीय जीवन्मुक्ति है। इसे 'फलनिरोध', भेदके कारण ब्रह्मके किन्हीं दो रूपोंका निरूपण करते हैं या नहीं?
२)यदि करते हों तो "रसो वै सः' वचनद्वारा ब्रह्मके किस रूपको, क्या आनन्दरूपको अथवा आनन्दमयरूपको, 'रस' कहा जा रहा है?
निश्चयेन कहा जा सकता कि श्रुतिका भार परमात्माकी रसरूपतापर अधिक है क्योंकि स्पष्टतया वहां कहा गया है-"रसो वै स: रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवती".
इस विषयमें श्रीहरिरायचरणकी धारणा है कि परमात्माके बहिःप्रकट साकृति रूपको 'आनन्दमय' कहना चाहिये और भक्तकें हृदयमें प्रकट होती परमात्माके प्रति स्नेहानुभूति या प्रीति को 'आनन्द' कहना चाहिये.
रसशास्त्रमें रति अर्थात् प्रीतिको 'रस' एवम् 'स्थायिभाव' कहा जाता है. जिस व्यक्तिके बारेमें रति या प्रीति होती है उस व्यक्तिको रसशास्त्रमें 'आलम्बनविभाव' कहा जाता है. रसशास्त्रका प्रमुख विवेच्य विषय हमारे प्रमुख मनोभाव, उनके विषय, उद्दीपक, अनुभावक एवम् अङ्गभूत अस्थायी मनोभावोंके स्वरूपोंका निर्धारण हैं. अतः रस अर्थात् स्थायी मनोभावको रसशास्त्रमें धर्मी माना जाता हैं; और इन प्रीति भय क्रोध उत्साह निर्वेद जैसे मनोभावोंके विषय उद्दीपक आदि अन्य सभी अङ्गोंको धर्म माना जाता है.
तदनुसार श्रीहरिरायचरणकी धारणा है कि बहि:प्रकट परमात्माका रूप, क्योंकि भक्तके स्नेहमय स्थायी भावका ही आलम्बनविभागके रूपमें हृदयके बाहर प्राकट्य है अतः, उसे धर्मसहित धर्मी मानना चाहिये। इसके विपरीत भक्तके हृदयमें प्रकट स्थायीभाव, जिसकी स्पष्ट अनुभूति विरहदशामें ही सम्भव है, उसे केवलधर्मी मानना चाहिए, 'एतावान्परं विशेषो यद् बहिःप्रकटं रूपं रसधर्मसहितम् 'आनन्दमय'

शब्देनोच्यते, धर्मिमात्रं केवल भाव रूपम् 'आनन्द' शब्देन इति" (प्रभुप्रादुर्भावविचार) अत: केवल धर्मीको उपनिषद्में 'रस' कहा गया है। श्रीहरिरायचरणके अनुसार 'आनन्द' और 'रस' पर्यायवाची शब्द हैं और 'आनन्दमय' का अर्थ होता है:रसधर्म-आलम्बनविभावहित स्थायिभाव। आनन्दमय' और 'रस' पर्यायवाची नहीं हैं. __ अणुभाष्यमें परन्तु भाष्यकार किञ्चित् भिन्न प्रकार दिखलाते हैं-"अग्रे 'रसो वै सः' इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्य च स्थायिभावात्मकत्वात् तस्यैव आनन्दमययत्वाच्च" (अणुभा। ३। ३।१५) यहां 'आनन्दमय' और 'रस' को पर्यायवाची माना गया है.

ब्रह्मको आनन्दरूप माना गया है-"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" ब्रह्म

अपरिच्छिन्नअनन्तपूर्ण आनन्द है, पर भक्तके हृदयमें जब उस परमात्माकेलिए प्रीति प्रकट होती है तो उसके अनुभवका सुख, ब्रह्मकी केवल तत्वानुभूतिसे कहीं अधिक पूर्णतर-प्रचुर होनेके कारण 'आनन्दमय' कहलाता है। अतः भाष्यकारके मतमें 'रस'का पर्यायवाची शब्द 'आनन्दमय' है. तैत्तिरीयोपनिषद (२५) में अतएव विज्ञानमयकोशके भीतर आनन्दमयकी उपस्थिति दिखलायी गयी है। इस आनन्दमयकी आत्मा आनन्द है यह-'आनन्द आत्मा' (वहीं) कह कर दिखलाया गया है.

ऐसी स्थितिमें आनन्दको धर्मी मानना चाहिये कि आनन्दमयको? यदि आनन्दको धर्मी मानते हैं तो आनन्दमय धर्म बनेगा और यदि आनन्दको धर्म मानते हैं तो आनन्दमयको धर्मी मानना पडेगा. __ हमने देखा कि रसशास्त्र प्रेमको धर्मी मानता है और प्रियतम आदिको धर्म. क्योंकि रसशास्त्र भावविवेचना है और प्रेम एक भाव है. अत: अपने पारिभाषिक अर्थमें प्रियतम रसशास्त्रकेलिए धर्म बन जाता है. क्योंकि प्रियतमके स्वरूप गुणधर्म या विभिन्न प्रकारोंका विवेचन, रसशास्त्रको, प्रेमके जनक और प्रेमके आलम्बन-विषयके रूपमें अभीष्ट है-स्वतन्त्रतया नहीं. भागवतमें भगवान्से भिन्न किसी लौकिक चरित्रके रसात्मक वर्णनका कोई स्थान नहीं है. ऐसे ही ब्रह्मके शुष्क तात्त्विक विवेचनार्थ भी भागवत प्रस्तुत नहीं है. भागवत भगवान्के रसात्मकरूप एवम् लीलाके वर्णनार्थ प्रवृत्त हुयी है. अतएव कभी रसशास्त्रीय परिभाषाओंके सहारे भगवानके स्वरूप एवम लीला का वर्णन होता है तो कभी ब्रह्मशास्त्रीय परिभाषाओंके सहारे भी. कभी भक्तोंकी भक्तिके अङ्गके रूपमें भगवानका वर्णन होता है, तो कभी भगवल्लीलाकें अङ्गके रूपमें भक्त और उनकी भगवद्भक्तिका वर्णन होता है. कभी अतएव भक्तिको धर्मीमान कर तदङ्गभूत भगवान्का धर्मके रूपमें वर्णन होता है (यह रसशास्त्रीय विवेचनशैली है) और कभी भगवान्को धर्मी मान कर उनकी लीलाके अङ्गभूत भक्ति और भक्तों का धर्मरूपेण निरूपण होता है (यह ब्रह्मशास्त्रीय

विवेचनशैली है)। इनमेंसे किसी एकतर परिभाषाके अनुसार विवेचनाका हठाग्रह सरस तो हो सकता है पर सर्वांगीण नहीं.

अतएव भागवतानुसारी भगवान्के रसात्मक रूपके निरूपणमें दोनों वर्णनशैलियोंका यथायथ उपयोग अभीष्ट होता है. भक्तोंके प्रियतम भगवान्को कभी 'धर्मी' कहा जाता है और उनके स्वरूप, गुण एवम् लीला के आकर्षणके कारण प्रकट होती प्रीतिको 'धर्म'.

सुबोधिनी (१।१९।१६) में श्रीमहाप्रभुने यह समझाया है: "स्नेह एक विलक्षण पदार्थ है. स्नेहके आधार और विषय दोनों ही भगवान् ही होते हैं. जितना-जितना कोई भगवानके निकट पहंचता जाता है, उतना उसमें भगवानके ज्ञान, ऐश्वर्य आदि गुणोंका सङ्क्रमण भासित होने लगता है, जैसे अग्निके निकट स्थित वस्तुओंमें उष्णता सङ्क्रान्त होती है. इसी तरह जितनी-जितनी निकटता भगवान्के साथ हमारी बढ़ती जाती है, उतनी-उतनी मात्रामें भगवद्धर्म प्रीति भी हमारे भीतर बढ़ती चली जाती है". प्रीति भगवानका आत्मरतिरूप धर्म है. पर भगवानके निकट होनेपर वह हमारे भीतर भी प्रकट होने लगता हैं अतएव श्रीमहाप्रभु कहतें हैं-"प्रीतिस्तु भगवद्धर्मः" (सुबो। २। २।७)। यह ब्रह्मशास्त्रीय विवेचनशैली है. प्रेम, प्रियतमके कारण, प्रेमीके हृदयमें प्रकट होता है। प्रेमके अति गाढ़ होनेपर, प्रियतमकी अनुपस्थितिमें भी आसक्तिभ्रमन्यायसे, उस प्रेमके कारण प्रियतम भी कभी प्रकट हो सकता है. प्रियतमसे प्रकट होनेके रूपमें प्रेम, धर्म तथा प्रियतम धर्मी माना जाता है. पर प्रगाढ अवस्थामें प्रेमके कारण प्रियतमके प्रकट होनेपर, प्रेम, धर्मी और प्रियतम धर्म बन जाता है। अतः प्रेम और प्रियतम का भेद बड़ा लचीला है-"विरहभावे... तु ज्ञानादिसर्वतिरोधानेन अग्रिमरसानुभवो न भविष्यतीति स्वयमेव (आलम्बनबिभाव एव') तदनुभवात्मको भवतीति ज्ञापनाय विज्ञानरूपत्वमुच्यते. तदनुभवविषयः आनन्दमयः इति तत्स्वरूपमुच्यते. तत्र निरुपधिप्रीतिरेव मुख्या नान्यदिति ज्ञापनाय प्रियस्य प्रधानाङ्गत्वमुच्यते स्थायिभावस्वयंकरूपत्वादात्मत्वमुच्यते। यत: ततएव (स्थायिभावादेव') विभावादिः विविधभावोत्पत्तिः" (अणुभा। १।१।११)। प्रेम ही जब प्रगाढ़ बन कर प्रियतमके रूपमें बाहर प्रकट हो जाता है तो बहि:प्रकट रूपको 'आनन्दमय' कहा जाता है

और अन्त:स्थित प्रेमको 'आनन्द' अन्यथा प्रियतम भगवान् आनन्द हैं और भगवत्प्रेम आनन्दमय.

अणभाष्य (३।३।१०) में यह कहा गया है कि जैसे तन्तओंके आतान-वितान बुने जानेपर जो पट प्रकट होता है वह तन्तुओसे भिन्न नहीं होता, इसी तरह आलम्बन विभाव (स्वयम भगवान) उददीपन विभाव (वेणनाद आदि) अनुभाव (भूभृङ्गादि) तथा

सञ्चारिभाव (मानदैन्यादि) के परस्पर आतानवितानमें जिस स्थायिभाव (भगवत्प्रीति) का प्राकट्य होता है वह स्वयम् भगवान्से भिन्न नहीं होता. अत: आनन्द और आनन्दमय का भेद वस्तुगत न होकर विवक्षागत होता

अवतारकालमें भगवान अपनी लीलाओंकेद्वारा भक्तोंके हृदयमें अनेक प्रकारके स्नेह प्रकट करते हैं. ऐसे स्नेही भक्त जब भगवद्विरहमें भगवान्के गुणगानमें तल्लीन हो जाते हैं तब हृदयस्थित स्नेह भगवद्विषयक विविध मनोरथोंके सांचेमे ढलकर स्वयम् भगवान् एवम् उनकी लीलाओंका रूप धारण कर लेता है. अनवतारकालमें इसी तरह सेव्य स्वरूप सेवावार्ताके हृदयमें स्नेह प्रकट करते हैं. यह स्नेह भगवत्कथाके श्रवण, कीर्तन, कालमें भक्तके हृदयमें भगवत्स्वरूपानुभूतिका रूप भी धारण कर लेता है. ___ तामसप्रमेयप्रकरणकी सुबोधिनीमें अतएव भगवान्का स्वरूप 'नटवरवपु' के रूपमें वर्णित हुआ है: ___ “रसानुभूतिके दो प्रकार सम्भव हैं। प्रथम प्रकार होता है:जहां प्रेम (स्थायिभावधर्मी) और प्रियतम (आलम्बनविभाव धर्म) दोनोंकी अनुभूति हो. द्वितीय प्रकार होता है:प्रियतम (आलम्बनविभाव धर्म) अनुपस्थित हो, पर प्रेम (स्थायिभाव धर्मी) की अनुभूति हो रही हो, नाट्यमें, द्वितीय प्रकारसे, केवल रति या प्रेम की ही वास्तविक अनुभूति होती है. प्रियतम-आलम्बनविभावके रूपका तो केवल नाटन ही होता है, साक्षात् उपस्थिति नहीं. संयोगमें आलम्बनविभाव और स्थायिभाव दोनों ही उपस्थित रहते हैं. नेत्रोंके समक्ष बाहर आलम्बनविभावरूप भगवान् उपस्थित होते हैं और हृदयके भीतर स्थायिभावरूप भगवद्रति भी अवस्थित होती है. संयोगलीलामें अतएव 'वर'की तरह प्रत्यग्रभोग माना जाता है: और विप्रयोगलीलामें गाढ स्नेहवश 'आसक्तिभ्रम' की तरह अनुभूत होती भगवदुपस्थिति ‘नट' की तरह केवल नाटन मात्र है. अत: नटवत् और वरवत् लीला करनेवाले भगवानके स्वरूपको 'नटवरवपु' कहा जाता है. क्योंकि शृङ्गाररसके अनुसार प्रत्यग्र साक्षात् सम्भोग जैसे वर-पतिका कार्य है, वैसे ही नाट्यमें सम्भोगका नाटन नट-अभिनेताका कार्य होता है. भगवान् एककालवच्छेदेन उभयविधकार्य सम्पन्न करते हैं. बाह्यमें प्रकट होकर रसानुभव प्रदान करनेका; तथा हृदयमें तीव्र आसक्तिवश प्रकट होती अनुभूतिमें रसाभिनय करनेका भी.

ज्ञानियोंद्वारा उपासनार्थ कल्पित रूप हृदयमें अनुभवसुख प्रदान कर सकता है. पर भक्तोकेलिए तो उनकेद्वारा भावित रूपको धारण कर भगवान् बाहर भी प्रकट होते हैं. सभी इन्द्रियोंसे अनुभूत होनेका सुख भक्तको प्रदान करते है. इस बहिःप्रकट भावित रूपको मायिक कल्पित; या देहदेहिभावन्यायसे परमात्माके वास्तविक स्वरूपको आवृत करनेवाला कोई भिन्न रूप नहीं माना जा सकता है. यह भावित-

बहिःप्रकट रूप उतना ही पारमार्थिक होता है जितने कि स्वयम् परमात्मा" (सुबो। १०।१२।५).

इस प्रसङ्गमें रसशास्त्रीय रीतिके अनुसार निरूपण किया गया है. अतएव भगवदतिकी तुलनामें भगवान्को धर्मके रूपमें वर्णित किया गया है. फिरभी लक्ष्यमें रखने लायक बात यहां यह है कि वृन्दावनमें प्रत्यग्रभोक्ताके रूपमें; तथा व्रजकी गोपिकाओंके हृदयमें वृन्दावन की आन्तर लीलानुभूतिके दानद्वारा, रूप एवम् लीला का नाटक करते हुवे, अपना उभयविध (नटवत् और वरवत्) रूप भगवानने एककालावच्छेदेन प्रकट किया है. भगवान् स्वयम्को बहिःप्रकट न करें तो ज्ञानियों और भक्तों के सुखमें कोई तारतम्य नहीं रह जाता है. प्रत्युत भक्तोकेलिए केवल हृदयमें भगवान्का अनुभूत होना तो एक दुःखकी बात बन जाती है (हृद्येव प्राकट्ये तु मनोमात्रभोग्यत्वम्। बहिःप्राकट्ये सर्वेन्द्रियभोग्यत्वम्. एवं सति चक्षुराद्यविषयत्वे प्रियपदार्थस्य मनोमात्रविषयत्वं दुःखदमित्यनुभवसिद्धमतो भक्तार्थ तथेति. नतु स भगवान् एव तथा आत्मभिन्नवपुषो भूर्ता इत्यर्थः. (सुबो. टिप्प. १०।१८।५).

यदि आनन्दको स्थायिभावात्मक आत्मस्थानीय धर्मी माना जाये तो बहि:प्रकट आनन्दमय स्वरूप अर्थात् आलम्बनविभावरूप वपु उस स्थायिभावसे भिन्न नहीं होता. इसी तरह यदि आनन्दको आलम्बनविभावरूप धर्म माना जाये तो भी प्रत्यग्रभोक्ता 'वर' के रूपसे केवल-रसरूप आनन्दमय धर्मी 'नट' रूप भगवान् भिन्न नहीं होते.

"यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्" (४।१।११) ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें यह कहा गया है कि "जिन भक्तोंको आन्तर भगवदनुभूति होती है या जिन भक्तोंको बाह्य भगवदनुभूति होती है उनके भाव या अनुभूयमान भगवत्स्वरूपमें किसी भी प्रकारका तारतम्य नहीं होता". आन्तर-संयोगमें भक्तहृदयस्थित भाव भगवदाकार ग्रहण कर लेता है; तथा बाह्यसंयोगमें भगवान भक्तके हृदयमें भावाकार ग्रहण करते चले जाते हैं. दोनों ही तरह समानता है. __ पुरुषोत्तमकी अनुभूतिसे पूर्व अनिवार्य सर्वात्मभाव, अतएव, वियोगकी तरह भक्त-भगवान्के संयोगमें भी स्वीकारा गया है. वेणुगीतकी सुबोधिनीमें सकल इन्द्रियोंके भगवान्में विनियोगको सर्वात्मभाव कहा गया है. वाणीसे भगवान्के साथ संलाप, नयनोंसे दर्शन, बाहुओंसे भगवान्का आलिङ्गन, हाथोसे सेवा, त्वचासे स्पर्श, रसनासे अधरामृतपान, कानोंसे वेणुकूजनका श्रवण, नासिकासे भगवद्गन्धका आघ्राण, चरणोंसे भगवान्के निकट गमन, अन्त:करणसे भगवत्स्वरूपकी भावना, पायूपस्थेन्द्रियोंसे रोमोद्गम और भोग को वेणुगीतमें इन्द्रियवानोंका परमफल माना गया है. सकल इन्द्रियोंके भगवान्में ऐसे विनियोगकी तुलनामें मुक्ति तो भक्तोंको अपनी सर्वविध सम्पूर्ण निष्फलता ही प्रतीत होती है.

जैसे किसी नयनवानको सदा-सर्वदाकेलिए अन्धकूपमें धकेल देना या उसे नयनोंसे वञ्चित कर देना दोनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता हैं. जागतिक विषयोंमें अनुरागके नष्ट होनेपर तथा सर्वात्मभावसे सम्पन्न होनेपर भक्तको सकल इन्द्रियोंद्वारा भगवत्स्वरूपानन्दकी अनुभूति मिलती है-"बान्धकानां परित्यागे साधकानां न तद् भवेत्" (वेणुगीत सुबो. कारिका) __इन कारिकाओंमें संयोगकालीन सर्वात्मभावका वर्णन है. श्रीप्रभुचरण उल्लिखित 'बाधक' का अर्थ प्रापञ्चिक विषयोंमें अनुराग; तथा 'साधक' का अर्थ सर्वात्मभावपूर्वक भजन करते हैं. सर्वभाव सिद्ध होनेपर ही भक्त सायुज्यमुक्ति (भगवान्में लीन होने) से बच सकता है. अर्थात् प्रस्तुत सेवाफल विवरणमें विवक्षित प्रथमफल 'अलौकिक सामर्थ्य' के सिद्ध होनेपर ही भक्त. द्वितीयफल 'सायुज्य' से बच सकता है. __ तृतीयस्कन्ध-सुबोधिनीके एतद्विषयक विचारोंसे एकवाक्यता करनेपर सायुज्य बाद पुनः नूतन अलौकिक देहकी प्राप्तिका भी एक प्रकार मान्य किया गया हैं. अतः अलौकिक सामर्थ्यके बाद सीधे सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सायज्योपरान्त सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति, अथवा सायुज्य ही केवल, यों फलानुभूतिके अनेक प्रकार सम्भव हैं। परन्तु यह निश्चित है कि इन्द्रियावानोंका मुख्य फल तो सर्वात्मभाव या अलौकिकसामर्थ्य ही है. अन्यथा तृतीयस्कन्धके "हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो गतिमण्वी प्रयक्ते" वचनमें निरूपित गौणफलरूप सायुज्य मिलता है। इन्द्रियादिसे रहित होकर भगवानके दर्शन-स्पर्शन-श्रवणादिके सुखसे वञ्चित होना इन्द्रियवान भक्तोंकेलिए एक विडम्बना है.

भ्रमरगीतके "सर्वात्मभावोधिकृतो भवतीनामधोक्षजे" (१०।४४।२७) वचनमें विप्रयोगकालीन सर्वात्मभावका वर्णन है और वेणुगीतमें संयोगकालीन। ___ यहां यह अवधेय है कि रसशास्त्रीय दृष्टिसे करुणविप्रयोग और शृङ्गारविप्रयोगमें, एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यही है कि जहां पुनर्मिलन निश्चित हो, वहां विप्रयोग शृङ्गाररसात्मक माना जाता है, पर जहां पुनर्मिलन असम्भव हो अथवा जन्मान्तरमें सम्भव हो तो ऐसा विप्रयोग शृङ्गाररस न रहकर करुणरस बन जाता है. "युनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनरलभ्ये विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः" (साहित्यदर्पण ३।२०९) "शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः, विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनःसम्भोगहेतुकः" (सा. द. ३।२२६)

परमफल संयोगको मानना चाहिये कि विप्रयोगको, इस विवादमें अतिवादी दृष्टिकोण अपनाने पर, या ते अधूरे शृङ्गारकी महत्ता माननी पड़ती हैं या

शृङ्गारविप्रयोग और करुणविप्रयोग के मौलिक भेदकी उपेक्षा हो जाती है. क्योंकि रसशास्त्रमें यह माना गया है कि विप्रयोगके बिना केवल संयोगानुभूतिमें वह

चमत्कृति नही आती है. अतएव पूर्वरागोत्तर मानोत्तर और प्रवासोत्तर संयोगमें विशेष चमत्कृतिका हेतु पूर्वराग, मान या प्रवास जनित विप्रयोगको ही माना गया है-“न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते" __ श्रीमहाप्रभु भी अतएव जैसे-“बाह्याभावे तु आन्तरस्य व्यर्थता' का विधान करते हैं वैसे ही-“आन्तरं तु परं फलम्" भी स्वीकारते ही हैं. श्रीप्रभुचरणने भी अतएव स्पष्ट शब्दोंमें इसका खुलासा-“स रसस्तु संयोगविप्रयोगाभ्यामेव पूर्णो भवत्यनुभूतो नैकतरेण” (अणु। ४।२।१) कह कर दिया है.

__ केवल विप्रयोग अथवा केवल संयोग को परमफल मानना भगवान्के 'नटवरवपु' रूपकी अस्वीकृति है. विप्रयोगमें भक्तके हृदयमें भगवानकी आन्तर अनुभूति होती है नटवत्; और संयोगमें भक्तके नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा भगवान्की बाहर अनुभूति होती है, वरवत् श्रीमहाप्रभु किन्तु केवल नटवत् या केवल वरवत् रूपको फल न मानकर 'नटवर वपु' के रूपमें भगवान्को- “इदमेवेन्द्रियवतां फलम्” स्वीकारते हैं.

लौकिक शृङ्गारमें विप्रयोगकालीन आन्तर संयोगकी अनुभूतिको आसक्तिवश पैदा होती केवल भ्रान्ति ही माना गया है क्योंकि नायक अथवा नायिका की अनुपस्थितिमें उनकी अनुभूति वास्तविक नहीं हो सकती है. किसी भी देश अथवा काल में परन्तु सर्वव्यापी सनातन परमात्माका अनुपस्थित होना अकल्पनीय बात है. अनुभूत होते हों या नहीं पर, हृदयमें और हृदयके बाहर, सर्वत्र-सर्वदा भगवान् तो विद्यमान हैं ही. अतः भगवदनुभूतिपर भ्रान्तिकी परिभाषा लागू ही नहीं हो पाती है __ भक्तिके घटक तत्त्व दो माने गये हैं एक माहात्म्यज्ञान और दूसरा सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह. यह माहात्म्य भगवानका ही हो सकता है कि वे बाहर अप्रकट होनेपर भी भक्तके हृदयमें भावात्मना प्रविष्ट होकर भक्तिको करुणरस होनेसे बचा लेते हैं. इसी तरह सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेहमें भी यह सामर्थ्य स्वीकारना पडता है कि उसके वशीभूत होकर भगवान्को भक्तके मनोरथोंके अनुरूप बाहर प्रकट होना पड़ता है.

इस विषयमें श्रीप्रभुचरणकी यह उक्ति मननीय है कि-“भगवविरहस्य सर्वसाधारणत्वेपि स्थायिभावात्मकरसरूपभगवत्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति तस्यैव तदप्राप्तिज: तापः तदनन्तरं नियमतः तत्प्राप्तिश्च भवति” (अणु। ४।२।११). भक्तिवर्धिनीमें भक्तिकी चार अवस्था स्वीकारी गयी हैं:

१)बीजभाव २)प्रेम ३)आसक्ति

४)व्यसन 'भावैरङ्कुरितं' कारिका और उसके व्याख्यानमें, अवतारकालीन सुदृढ सर्वतोधिक भगवदति, जो बिना किसी प्रकारके माहात्म्यज्ञानके ही व्रजभक्तोंमें प्रकट हो गयी थी, की चारके बजाय सात अवस्थाओंका वर्णन श्रीप्रभुचरण तथा

श्रीहरिरायजी ने किया है: १.भाव, २.प्रेम, ३.प्रणय, ४.स्नेह, ५.राग, ६.अनुराग, ७.व्यसन.

भावैरङ्कुरितं महीमृगदृशामाकल्पमासिञ्चितम् प्रेम्णा कन्दलितं मनोरथमयैः शाखाशतैः सम्भृतम् लौल्यैः पल्लवितं मुदा कुसुमितं प्रत्याशया पुष्पितम् लीलाभिः फलितं भजे व्रजवनीशृङ्गारकल्पद्रुम्।।

___ (श्रीमत्प्रभुचरण) भावः प्रेमप्रणयः स्नेहो रागानुरागव्यसनानि। अङ्कुरकन्दलशाखापल्लवकलिकाप्रसूनफलानीति।।

(श्रीहरिरायचरण)

यह रसशास्त्र और भगवत्शास्त्र के समन्वयपर अवलम्बित भक्तिशास्त्री विवेचन है। अन्यथा केवल रसशास्त्रके अनुसार रतिकी दस अवस्थायें स्वीकारी गयी है:१)चथुराग, २)मन:सङ्ग, ३)सङ्कल्प, ४)जागर, ५)तनुता, ६)विषयद्वेष, ७)लज्जात्याग, ८)उन्माद, ९)मूर्छा, १०)मरण. इन्हें भक्तिवर्धिनीमें वर्णित चार अवस्थाओंमें बांट कर देखना हो तो इस तरह देखा जा सकता है:

१)बीजभाव-क)चक्षूराग, ख)मनःसङ्ग, ग)सङ्कल्प. २)प्रेम-क)जागर, ख)तनुता ३)आसक्ति-क)विषयद्वेष, ख)लज्जात्याग ४)व्यसन-क)उन्माद, ख)मूर्छा, ग)मरण

यहां अवधेय यह है कि व्यसनदशामें उन्माद एवम् मूर्छा तक तो बाह्य या आन्तर संयोगकी अनुभूति सम्भव है. अतएव इन्हें निरोधलीलाके अन्तर्भूत माना जा सकता है. क्योंकि निरोध जब भगवत्स्वरूप एवम् भगवद्गुण उभयकृत होता है तो वह स्वयम् फलात्मक होनेसे अङ्गीरूप माना जाता है. अन्यथा केवल भगवदगुणकृत निरोध एकादश-द्वादशस्कन्धमें वर्ण्य मुक्तिलीला और आश्रयभावापत्ति की लीलाका अङ्ग होनेसे 'साधनकृत्स्नता' रूप माना गया हैं. मुक्ति या आश्रय लीलाके अङ्गरूप निरोधवाली व्यसनदशामें स्नेहकी दसवी अवस्था मरण सम्भव हो जाती हैं. भक्त इस भौतिक देहको छोडकर या तो भगवान्में लीन हो जाता हैं या फिर नूतन अभौतिक सच्चिदानन्दात्मक दिव्य देह व्यापिवैकुण्ठ-नित्यलीलामें प्राप्त कर लेता हैं-"ब्राह्मण ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तान् अश्नुते" (अणु ४।४।५).

इस दिव्य देहान्तरसे लभ्य पुन:संयोगकी भगवच्छास्त्रीय दृष्टिसे बड़ी महत्ता है, मुक्तिके रूपमें. रसशास्त्रीय दृष्टिसे किन्तु देहान्तरलभ्य संयोग शृङ्गाररसकी मर्यादासे बहिर्भूत या विपरीत है. अतएव भक्तिशास्त्रमें ऐसे संयोगकी फलरूपता गौण मानी गयी है-"भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि" (पु. प्र. म.) वचनमें भूतलपर ही आविर्भूत भगवान्को पुष्टिफल मानकर. अतएव भक्तको मुक्ति या आश्रय लीलाकी ओर हठात् ले जानेवाली भक्तिका वर्णन स्वयम् भगवान्ने इन शब्दोंमें किया

है-“अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुक्त' भ्रमरगीतपर टिप्पणीमें श्रीप्रभुचरण ऐसी भगवल्लीलाको-“अस्मदधिकारविरुद्धा कहते हैं.
सङ्केपमें १.अलौकिकसामर्थ्य सर्वात्मभावरूप होनेके कारण संयोग या वियोग दोनों अवस्थाओंमें फलनिरोधरूप है। इसे 'तनुनवत्व' या 'मानसी सेवा' भी कहा जा सकता है पुष्टिभक्तोंकेलिए यह जीवन्मुक्तिके जैसी अनुभूति है २.सायुज्य विदेहमुक्ति है, पुरुषोत्तममें लीन हो जाना. ३.वैकुण्ठ आदि लोकोमें सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति नवतनुत्व है. इसे 'ब्रह्मभावापत्ति' या ‘आश्रयभावापत्ति' भी कहा जाता है.
समग्र षोडशग्रन्थमें प्रस्तुत सेवाफल ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुके स्वयंकृत विवरणके बावजूद अति क्लिष्ट और सूत्रात्मक भाषामें लिखा गया ग्रन्थ है. छन्दशास्त्रकी दृष्टिसे वैसे तो इस ग्रन्थमें साडे सात कारिकायें हैं, पर वाक्यार्थबोधका दृष्टिसे वाक्यविमर्श करनेपर इसमें पन्दरह सूत्रात्मक वाक्य दृष्टिगोचर होते है। पाणिनीसूत्रोंकी तरह बहुधा इनमें भी-“सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र' नियम लागू होता दिखलायी देता है. तदनुसार उन्हें पृथक-पृथक् करके देखनेका प्रयास अब
हमें करना है. इसमें दो-तीन तत्व मार्गदर्शक मानने पडेंगे. उदाहरणतया पूर्ववाक्यके किसी अंशसे उत्तरवाक्य पूर्ण होता हो तो उसे पूर्ण कर लेना चाहिये. सेवाफलविवरणमें स्वयम् श्रीमहाप्रभुने जिस अस्पष्ट शब्दका जो अर्थ दिया हो उसे कोष्ठकमें रखकर उस अर्थको स्फुट या पूर्ण कर लेना चाहिये. कभी साकाङ्क्ष पदोंकी आकाङ्क्षापूर्तिकेलिए कोष्ठकमें सम्बन्धघटक सर्वनामादिपदोंका विन्यास भी किया जा सकता है. तद्नुसार प्रथम वाक्य तो एकदम स्पष्ट ही मिल जाता है:

1.यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते:

सिद्धान्तमुक्तावलीके-“कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिर्द्ध्यं तनुवित्तजा” वचनमें, चतुश्लोकीके-“सर्वदासर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप: स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य: क्त्रापि कदाचन” वचनमें; तथा भक्तिवर्धिनीके-“बीजदार्ढ्यंप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मत: अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि:” वचनमें सेवाका जो स्वरूप समझाया गया, उसके सम्पन्न होनेपर सेवाकी फलरूपताका स्वरूप यहां समझाया जा रहा है.

2.अलौकिकस्य दाने हि चाद्य: सिध्येन्मनोरथ::

आद्य ग्रन्थ यमुनाष्टकके सातवेंश्लोकमें वर्णित-"ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वमेतावता न दुर्लभतमा रतिर्मुररिपौ मुकुन्दप्रिये!" प्रार्थनामें व्यक्त हुवे मनोरथकी सिद्धि, जब भगवान् अलौकिकसामर्थ्यका दान करते हैं तभी सम्भव है. अन्यथा अलौकिकसामर्थ्यके दानके अभावमें भगवत्सेवापरायण भक्त या तो पुरुषोत्तममें लीन हो जाता है; या फिर वैकुण्ठ आदि भगवद्धामोंमें, भौतिक देहके छूट जानेके बाद, अलौकिक दिव्य सेवोपयोगिदेह प्राप्त कर लेता है.

3.अत्र (सेवायां) फलं (अलौकिकसामर्थ्यं) वा, अधिकारो (सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु) वा (भवतु) काल: नियामक: न (भवति).

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें यह कहा गया था कि पुष्टि जीवोंको उनका फल भगवत्स्वरूपमें ही मिलता है-"कायेन तु फलं पुष्टौ" वही यह भी कहा गया था कि "भगवानेव हि फलं स यथाविर्भवेद् भुवि, गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्" अर्थात् यथाधिकार हृदयमें भगवद्गुणोंका अथवा नयनोंके समक्ष साक्षात् भगवत्स्वरूपका इस भूतलपर प्रकट होना पुष्टिजीवोंकी फलानुभूति है. भगवान् ही जब फल हों; और वे यदि काल-कर्म-कर्ता-मन्त्र-द्रव्य-देश-स्वभाव आदि हेतुओं अथवा साधनोंके अधीन न हों तो, पुष्टिमार्गीय फलात्मिका सेवा अथवा अधिकारात्मिका सेवाका नियामक काल कैसे हो पायेगा?

अलौकिकसामर्थ्य या तनुनवत्व के साथ भगवत्सेवा सम्पन्न हो पाती हो तो वह सेवाकी फलरूपता हैं. अन्यथा वह न होनेपर सेवाके कारण पुरुषोत्तममें सायुज्य या वैकुण्ठ आदि भगवद्धामोंमें सेवोपयोगी नूतन दिव्य देह प्राप्त होता है, भगवत्सेवा करनेवाले भक्तके भौतिक देहके छूटनेके बाद. अत: ऐसी भगवत्सेवा फलरूपा न होकर अधिकाररूपा मानी जाती हैं. फल हो या अधिकार, पुष्टिभक्तिमें भगवान् ही नियामक है, काल-कर्म-स्वाभावादि नहीं.

4.(सेवायां) बाधकं तु उद्वेग: प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्, भगवत: अकर्तव्यं चेद्.:

काल-कर्म-स्वभाव यद्यपि फल या अधिकार में नियामक नहीं हैं, फिर भी फलदान या अधिकारसम्पादनकी भगवदिच्छाके न होनेपर भगवत्सेवामें उद्वेग प्रतिबन्ध अथवा भोग बाधक बन सकते हैं.

जैसे फल तीन माने गये हैं, सेवामें, ऐसे ही विघ्न भी तीन ही माने गये हैं. इनमें उद्वेग के अनेक रूप नवरत्न एवम् विवेकधैर्याश्रयमें दिखलाये गये हैं. वहां आश्रयभावकी दृढताकेलिए अष्टाक्षरका उच्चारण तथा लीलाभावना की बात समझायी गयी है. अतएव उद्वेग और उससे वचनके उपायके बारेमें अब पुन: यहां किसी निरूपणकी आवश्यकता नहीं है. अत: इस सेवाफलके विवरणमें प्रतिबन्ध एवम् भोग रूप विघ्नोंका विचार होगा.

प्रतिबन्ध दो प्रकारके होते हैं:एक साधारण और दूसरा भगवत्कृत. साधारण प्रतिबन्धोंका निवारण लोकचातुरीसे करना चाहिये.

श्रीप्रभुचरणने अपने आत्मजोंको लिखे एक पत्रमें ऐसी लोकचातुरीका उपदेश दिया है "अन्यच्च यवनादयो ठाकुरद्वारे आगच्छन्ति यथापूर्वं भाषणमिलनप्रसादादिकं कार्यम् यद्यपि हार्द न भवति, बाह्यतोपि कार्यम्" ऐसी लोकचातुरीका प्रयोजन निर्विघ्न भगवत्सेवाका निर्वाह ही होना चाहिये. आत्मसम्मानको खोकर सरकारी अफसरोंकी चापलुसीका नहीं. अतएव इसी पत्रमें सावधान भी किया गया है-"सावधानै: सहपरस्परस्नेहै: अबहिर्दृष्टिसेवकपरै: स्थेयम्".

भगवत्कृत प्रतिबन्धका निराकरण जीवके सामर्थ्यके बाहर होता है. अत: उसका विचार बादमें किया जायेगा. इसी तरह द्विविध भोगका विचार भी आगे किया जायेगा.

5.भगवत: सर्वथा अकर्तव्यं चेद् (भगवत्कृतश्चेत् प्रतिबन्ध: तदा) गति: न हि (भगवान् फलं न दास्यतीति मन्तव्यं, तदा अन्यसेवापि व्यर्था, तदा) यथा वा तत्त्वनिर्धार (आसुरोयं जीव इति) विवेक: (तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यमिति, अन्यथा) बाधकानां (त्रयाणां साधन) परित्याग: (कर्तव्य इति) साधनं मतम्.

पुष्टिमार्गीय जीव दैवी होनेके कारण कभी प्रवाहमार्गीय या आसुरी सृष्टिका हो नहीं सकता. फिर भी यह सम्भव है कि उसके देह-इन्द्रिय-प्राण-अन्त:करणमे किसी समय या किसी जन्ममें आसुरभावोंका आवेश हो जाये. अतएव पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें-"आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित्" के द्वारा पुष्टिजीवोंमें आसुरावेशके कारणरूपमें भगवदिच्छाको मान्य किया गया है. सुबोधिनी (3।25।32) में-ये वा देव्यां सम्पदि जाता: तेषामपि (इन्द्रियाणि) देवरूपाणि भवन्ति आसुराण्यपि भवन्ति" कहा गया है. वहीं यह भी कहा गया है कि "भक्तिदेवैरेव भवति नासुरै:" अत: जिस जन्ममें पुष्टिभक्तके देहेन्द्रियादिमें दैवी गुणोंका आवेश प्रबल नहीं होता, उस जन्ममें पुष्टिप्रभु, उस जीवसे फलात्मिका सेवा लेना नहीं चाहते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये. ऐसी स्थितिमें अन्य कोई रह नहीं जाता, जिसके आश्रय या भजनसे भगवत्सेवामें पैदा होनेवाले विघ्न दूर हो पायें, या अन्य कोई उपाय शक्य बन पाये. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं-"तदा अन्यसेवापि व्यर्था"

भगवन्मार्गमें भगवदिच्छाके बिना कोई विघ्न आ नहीं सकते और भगवदिच्छाके कारण आये हुवे विघ्नोंको कोई दूर नहीं कर सकता है. नवरत्नमें अतएव कहा गया है कि "अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनिवेदनं यै: कृष्णसात्कृतप्राणै: तेषां का परिदेवना!" अत: पुष्टिजीवको जब प्रभु संसारासक्तिमें फंसाये रखना चाहते हों तो अन्याश्रय या अन्यभजन से कुछ भी प्राप्त हो नहीं पायेगा.

तत्त्वदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणमें “कृष्णपदेन बहिर्भजनमेव मुख्यमिति निरूपितं “यो वेद निहितं गृहायाम्” इति तु ज्ञानमार्गे” (कारिका 13) कहा गया है. भागवतार्थ प्रकरणमें भी भगवदवतारकालीन भजनका विकल्प ज्ञान माना गया है-“पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा ज्ञानं भक्तिश्च सततं चक्रवत् परिवर्तते” (10।111-113). भक्तिवर्धिनी (4) में भी “व्यावृत्तिपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा” कहा है. इसी तरह “सेवायां वा कथायां वा...” कारिकामें ‘सेवा और कथा’ को उत्तमकल्प माना गया है, तथा ‘सेवा या कथा’ को गौणकल्प माना गया है. अणुभाष्य (4।1।8)में-“एवं बहि:प्राकट्यमुक्त्वा आन्तरं तदाह. भावनौत्कट्यदशायां व्यभिचारिभावात्मकसततस्मृतिरूपध्यानादपि हृदि प्रकट: सन्नासीनो भवतीत्यर्थ:” कहा गया हैं.

इन सभी उद्धरणोंपर लक्ष्यपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सेवाफलमें वर्णित ‘ज्ञानमार्ग’ मर्यादामार्गीय ज्ञानवाला नहीं है, किन्तु पुष्टिमार्गीय ज्ञानको लेकर ही यहां ‘ज्ञानमार्ग’ शब्द प्रयुक्त हुआ है. पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवा भक्ति है तथा भगवद्गुणगान या भगवत्कथा ज्ञान है. भगवद्गुणगानुवादकी प्रणालीसे हृदयमें सतत भवगद्ध्यान या भगवत्स्मृति को बनाये रखना ‘ज्ञान’ कहलाता है. निरोधलक्षणमें-“गुणेष्वाविष्टचित्तानां सर्वदा मुरवैरिण: संसारविरहक्लेशौ न स्यातां हरिवत्सुखम्” कहा गया है. अत: भगवान्के गुणानुवादसे ‘शोकाभाव’ सिद्ध होता है. यह पुष्टिमार्गीय विवेक है.

जिनसे यह कथात्मिका भक्ति भी न निभती हो, उनकेलिये विवेकधैर्याश्रय तथा कृष्णाश्रयमें प्रपत्तिमार्गका निरूपण किया गया है-“अलौकिकमन:सिद्धौ सर्वथा शरणं हरि, एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्” (विवे.13). इसी तरह “अजामिलादिदोषाणां नाशकोनुभवे स्थित: ज्ञापिताखिलमाहात्म्य: कृष्ण एव गतिर्मम... विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषत: पापासक्तस्य दीनस्य कृष्ण एव गतिर्मम” (कृष्णा. 7 और 9) कहा गया है.

पूर्णभक्तिके दो अङ्ग माने गये हैं:एक बाह्य अङ्ग माहात्म्यज्ञान और दूसरा आन्तर अङ्ग सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह. अत: सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहके बिना सेवा-कथाका निर्वाह शक्य नहीं होता. फिरभी माहात्म्यज्ञानपर अवलम्बित शरणागति-आश्रय-प्रपत्तिरूप उपाय शक्य हो तो उसे अपनाना चाहिये. अतएव माहात्म्यज्ञानमूलक होनेके कारण प्रपत्तिमार्गको भी पुष्टिमार्गमें ज्ञान माना जाता है.

प्रतिबन्ध जो भगवत्कृत प्रतीत न होते हों पर हमें पुष्टिभक्तोचित विवेक या धैर्य से वञ्चित करते हों तो, उनसे बचनेके अनेक उपाय नवरत्न तथा विवेकधैर्याश्रय में दिखलाये गये है. यथा प्रार्थनात्याग, अभिमानत्याग, हठत्याग, अनाग्रह, सहिष्णुता, असामर्थ्यभावना, भगवल्लीलाभावना, मनवाणीसे सतत शरणभावना, अन्याश्रयत्याग, दृढ विश्वास तथा प्राप्त सुख-दु:खकी ममताद्वेष रहित स्वीकृति आदि.

उद्वेगके हेतुओं, साधारणप्रतिबन्धके हेतुओं तथा लौकिक भोगके हेतुओंका त्याग करनेपर सेवाका निर्विघ्न निर्वाह सुकर बन जाता है. उद्वेग और उसके विभिन्न हेतुओंके निवारणका उपाय नवरत्न ग्रन्थमें समझाया गया. साधारण प्रतिबन्ध तथा उसके हेतुओंके निवारणका उपाय विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें समझाया गया है. अब लौकिक क्षुद्र भोग और अलौकिक महान् भोगका प्रभेद तथा अन्य भी तत्सम्बन्धी विवेचन आगे किया जायेगा.

6.भोगे अपि बाधकानां परित्याग: एकं साधनं मतम्.:

भोग दो तरहके सम्भव हैं:एक लौकिक भोग और दूसरा अलौकिक भोग. लौकिक भोग त्याज्य होता है. भगवान्को असमर्पित-अनिवेदित वस्तुओंका उपभोग भगवत्सेवामें बाधक बनता है. यह सिद्धान्तरहस्य (कारि.4) में-“अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्ति: कथञ्चन, असमर्पितवस्तूनां तस्माद्

वर्जनमाचरेत्" कह कर समझाया गया है. अत: असमर्पित-अनिवेदन वस्तुओंका उपभोग बाधक है ओर उनका परित्याग हमारे लिये एक साधनके रूपमें कर्तव्य है.

7.तथा भोगे परं निष्प्रत्यूहं साधनम् अपि मतं (यत:) महान् (अलौकिकस्तु) भोग: (फलानां मध्ये) प्रथमे सदा विशते (प्रविशति).

सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थमें जैसे असमर्पितके त्यागकी बात समझायी है, उसी तरह समर्पितके उपयोगकी आवश्यकता भी दिखलायी गयी है-"निवेदिभि: समप्यैंव सर्वं कुर्यादिति... सेवकानां यथा लोके व्यवहार: प्रसिद्ध्यति तथा कार्यं समप्यैंव सर्वेषां ब्रह्मता तत:" भगवान्को समर्पित भगवत्प्रसादरूप स्रक्, गन्ध, वस्त्र, अलमार, अन्न, गृह तथा परिवारिक जन, सांसारिक मोहके नहीं, किन्तु भगवद्भावके वर्धक होते हैं. ब्रह्मको समर्पित सभी कुछ ब्रह्मात्मक हो जाता हैं. जैसे गन्दी नालीका जल गङ्गामें मिल कर गङ्गाजल बन जाता है. अणुभाष्य (3।3।39) में अतएव कहा गया है-"सर्वनिवेदनपूर्वकं गृद्देषु भगवत्सेवां कुर्वतां तदुपयोगित्वेन तेभ्यएव मुक्ति: भवतीत्यर्थ: एतादृशानां गृहा भगवद्गृहा एव आदिपदेन स्त्रीपुत्रपश्वादय: सङ्ग्रह्यन्ते एतेन ज्ञानादिमार्गादुत्कर्ष उक्तो भवति. बाधकानामपि साधकत्वात्" अन्यमार्गमें भोगके साधन अन्नवस्त्रगृहपरिवार आदि बाधक माने जाते हैं, पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवाके अङ्ग बन जानेपर, इन्हें साधक माना जाता हैं. क्योंकि वे लौकिक आसक्तिको बढ़ानेके बजाय शनै:शनै: हमें अलौकिकसामर्थ्य अर्थात् सर्वेन्द्रियोंकी भगवत्परताकी ओर ही ले जानेवाले बनते है. निरोधलक्षण ग्रन्थमें इसे-"संसारावेशदुष्टाना
मिन्द्रियाणां हिताय वै कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्" कहा हैं.

भगवन्निवेदित वस्तुका भगवत्प्रसादके रूपमें उपभोग, सेवाके प्रथम फल अलौकिकसामर्थ्यको प्राप्त करनेकी दिशामें अग्रसर होना हैं. अत: वह अलौकिक भोग होनेसे निष्प्रत्यूह निर्दुष्ट है, महान् है.

8.सर्वविघ्न: अल्पो (भोग:) बलात् घातक: स्यात्:

"यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्" (छान्द. व 7।24।1) इस श्रुतिमें मर्त्यत्वेन निन्दित अल्पभोगका परिहार भगवत्समर्पितके उपभोगसे शक्य बन जाता है. अतएव छान्दोग्योपनिषद्के इसी प्रकरणमें-"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि: सत्त्वशुद्धौ: ध्रुवा स्मृति: स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विमोक्ष: (7। 26।2) वचनद्वारा आहारशुद्धिके उपलक्षणसे प्रत्येक भोगकी शुद्धिकी आवश्यकता दिखलायी गयी है, मर्त्य-अल्प-क्षुद्र लौकिक भोग कभी शोकमोहसे रहित नहीं होता है. अत: अनेकविध शोकमोहरूप विघ्नोंसे युक्त अल्प भोग स्वयम् मर्त्य होनेपर भी मारक होता है. भगवत्सेवोचित भावका बलवान् घातक होता है. अत: लौकिक भोग त्याज्य है.

9.बलाद् एतौ (प्रतिबन्धको) सदा मतौ.:

भक्तिवर्धिनी (6) में कहा ही गया है कि "तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्" अत: लौकिक भोग और भगवत्कृत प्रतिबन्ध भगवत्सेवामें बहुत बलवान् प्रतिबन्धक सदा होते हैं. इनमें लौकिक भोगका त्याग तो शक्य है पर भगवत्कृत प्रतिबन्धका निवारण शक्य नहीं है यह अब आगे कहा जायेगा.

10.द्वितीये (भगवत्कृत-प्रतिबन्धे ज्ञानस्थित्यभावेच) संसारनिश्चयात् चिन्ता सर्वथा त्याज्या.:

सर्वनिर्णय-प्रकरण (कारिका 247) में यह दिखलाया गया है कि किन-किन स्थितियोंमें भगवत्सेवा छोड देनी चाहिये. यथा-

क.आसुरावेशके कारण हमारी इन्द्रियोंकी भगवत्सेवामे स्वत: प्रवृत्ति सम्भव न लगती हो तो हठपूर्वक उन्हें भगवत्सेवामें लगानेपर विक्षेप उत्पन्न हो जाता है. ऐसी स्थितिमें सेवा छोड देनी चाहिये.

ख.अतिवार्धक्य या शारीरिक व्याधियोंके कारण किसी व्यक्तिमें भगवत्सेवार्थ अपेक्षित शक्ति न रह जाती हो तो सेवा छोड देनी चाहिये.
ग.पारिवारिक सामाजिक या राजनैतिक दृष्टिसे जिनके अधीन होनेके कारण हम विवशतया भगवत्सेवा न कर पाते हों तो वह भी एक प्रतिबन्धक सेवामें सम्भव है.
घ.सेवा करते रहनेपर भी निरन्तर चित्तमें अन्यव्यासङ्ग या व्यग्रता बनी ही रहती हो तो भगवत्सेवोचित भावना हृदयमें कदापि प्रकट नहीं हो पाती.
ङ.अन्य पारिवारिक जन भगवत्सेवार्थ अपेक्षित भावनासे रहित हों, या भगवत्सेवामें प्रतिकूल हों, पर वे हमारे द्वारा की जाती भगवत्सेवामें लौकिक हेतुओंके वश सहयोग देनेको बाधित होते हों तो, उन्हें वह सेवा पीडानाशक प्रतीत होगी. ऐसी परपीडाजनक भगवत्सेवा नहीं करनी चाहिये.

श्रीमहाप्रभु स्पष्ट शब्दोंमें आज्ञा करते हैं कि इन स्थितियोंसे सेवा छोड देनी चाहिये. सेवा छोड देनेपर उसका अनुकल्प भगवत्कथा माना गया है. कथानुष्ठान पुष्टिमार्गमें भक्तिकी ज्ञानमार्गसे जुडी हुई सीमाकी तरह हैं. परन्तु यहां इस सीमाके भीतर भी रहना जो शक्य न हो तो माहात्म्यज्ञानमूलक प्रपत्तिमार्गमें अवस्थित होना चाहिये. एतदर्थ विवेक, धैर्य और आश्रय को अपनानेकी बात समझायी गयी है. पर जब वह भी शक्य न हो तो समझ लेना चाहिये कि इस जन्ममें प्रभु हमें संसारावेशसे छुटकारा देना नहीं चाहते हैं.

विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थमें अतएव-“अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरि” कहकर तथा नवरत्न ग्रन्थमें-“चित्तोद्वेग विधायापि हरि: यद्यत् करिष्यति तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्, तस्मात्सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्ण: शरणं मम वद्दभिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मति:” (8-9) के उपदेशके अनुसार चिन्ताका त्याग कर शरणभावना करनी चाहिये.

11.नाद्ये (आद्यफलाभावे) तु (भगवत: आधिदैविकसेवा) दातृता नास्ति:

सेवा निरन्तर करते रहनेपर भी अलौकिकसामर्थ्यके प्रकट होनेके कोई चिन्ह दिखलायी न पडते हो तो सेवाकी न्यूनता नहीं मान लेनी चाहिये. किन्तु भगवान्की आधिदैविकी सेवाके सुखदानकी इच्छा नहीं हैं, ऐसे समझना चाहिये. आधिदैविकसेवा सुखकी पात्रता भगवान्की दातृतापर अवलम्बित है. यह तो कहा ही गया है कि पुष्टिमार्गीय फल या अधिकार की प्राप्ति भगवान्के देनेपर ही होती है, साधनाभिमानसे नहीं.

12.तृतीये (भोगाभाव-सिद्ध्यभावे) तु गृहं बाधकम्:

स्वगृहमें निरन्तर सेवा करते रहनेपर भी भोगाभाव यदि सिद्ध न होता हो तो गार्हस्थ्यगृहको ही बाधक समझना चाहिये. अतएव भक्तिवर्धिनी और सन्यास निर्णय ग्रन्थोमें, ऐसी स्थितिमें, कथाश्रवण परिचर्या या गृहत्याग के अनुकल्पोंको अपनानेकी बात समझायी गयी है.

13.इयं (भगवतो दातृता) अवश्या सदा भाव्या, अन्यत्सर्वं मनोभ्रम:, तदीयैरपि तत् (दातृताभावनं) कार्यं (यतो भगवान्) पुष्टौ नैव विलम्बयेत्.:

नवरत्न ग्रन्थमें कहा गया था कि आत्मनिवेदन करनेवाले पुष्टिभक्तको कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. क्योंकि पुष्टिप्रभु भगवान्, किसी एकाद् जन्ममें लौकिक स्थिति जैसी स्थिति जैसी स्थिति पुष्टिजीवकी करते भी हों, परन्तु गति कभी लौकिक या प्रावाहिकी नहीं करेंगे. अत: भक्तिके भलीभांति निर्वाह न होनेकी स्थितिमें अन्य पुष्टिमार्गीय भगवदीयोंके साथ बैठकर अपने आत्मनिवेदनका स्मरण-भावन करना चाहिये. “भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गति, निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशै: जनै: सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छात: करिष्यति” (1-2).

होता वही है जो भगवदिच्छा होती है. मिलता वही है जो भगवान् हमें देना चाहते हैं. भगवान्की फलदानेच्छा किसीके बसकी बात नहीं है. वह 'अवश्या' है. उसपर किसीका जोर नहीं चलता है. भगवान् परन्तु दयालु भी हैं वे केवल सर्वेश्वर ही नहीं अपितु सर्वात्मा भी हैं. अत: जिस जीवका पुष्टिमार्गमें वरण भगवान्ने कर लिया हो उसे पुष्टिभक्तिके दानमें अधिक विलम्ब नहीं करेंगे. इस तरह भगवान्के पुष्टिफलदाता होनेकी भावना सदा करनी चाहिये.

साथ ही साथ निरोधलक्षण ग्रन्थमें यह भी कहा गया था कि "महतां कृपया यावद् भगवान् दयियिष्यति, तावदानन्दसन्दोह: कीर्त्यमान: सुखाय हि" अत: जिनसे सेवा आदि न निभ पाती हो ऐसे दयनीय पुष्टिजीवोंके प्रति अन्य भगवदीयोंका भी यह कर्तव्य है कि वे भगवान्के ऐसे गुणों एवम् चरित्रोंका कीर्तन करें कि जिससे साधारण पुष्टिजीवोंके हृदय और बुद्धिमें भगवान्के पुष्टिफलदाता होनेकी आस्था एवम् धारणा दृढ हो जाये. यह जिससे सेवाकथामय आदर्श जीवन निभ पाता हो ऐसे एक पुष्टिजीवका दूसरे, जिससे नहीं निभ पाता, उसके प्रति कर्तव्य है. बालबोध ग्रन्थके उपदेशद्वारा श्रीमहाप्रभु अतएव भगवत्सेवार्थ असमर्थ जीवोंमें तदीयता और तदाश्रय के भावोंको उद्बोधित करना चाहते हैं.

जलभेद और पञ्चपद्यानि ग्रन्थमें अतएव वक्ता एवम् श्रोताकी उत्तम-मध्यम-निम्न कक्षायें समझायी गयी है. उनके भलीभांति ज्ञात हो जानेपर जिस पुष्टिजीवसे सेवात्मिका भक्ति नहीं निभ पाती वह भी कथा-श्रवण-कीर्तन-स्मरण आदिकी प्रक्रियाकेद्वारा अपने पुष्टिभावोंके पोषणमें सक्षम हो पाता हैं.

14.गुणक्षोभे अपि एतदेव द्रष्टव्यम् इति मे मति::

भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें यह दिखलाया ही गया है कि स्वगृहमें भगवत्सेवाकथामय जीवनयापन सभी पुष्टिजीवोंकेलिए शक्य नहीं होता. इसके अनुकल्परूप गृहत्यागकेलिए आवश्यक भक्तिका व्यसनदशामें विकास भी

अतएव बहुत दुर्लभ बात है. गृहत्यागका विकल्प किसी भगवदीयकी सत्सङ्गतिमें रहकर भगवत्परिचर्या करना और भगवत्कथाके श्रवण-कीर्तनमें सम्मिलित होना दिखलाया गया है. परन्तु जिस भगवदीयका सत्सङ्ग हम करना चाहते हों उसमें मानव-स्वभाव-सुलभ दोषदर्शन होनेपर भक्तिभावमें बाधा पहुंचनेकी आशमा उठी थी इसके परिहारार्थ एकान्तवासके औचित्यका भी वहां विचार किया गया था. एकान्तवासके बजाय भगवदीयकी सङ्गतिमें 'अदूरे-विप्रकर्षे' की नीति बरतनेका सुझाव दिया गया था. क्योंकि अपरिपक्व सिद्धान्तबोधकी स्थितिमें एकान्तवास करनेपर कभी अपसिद्धान्तोंके स्वाध्यायकी सम्भावना रहती है.

स्वमार्गीय सिद्धान्त अत: स्वमार्गीय वक्ताके मुखसे सुननेका आग्रह रखना चाहिये. "भक्त्याचारोपदेशार्थनानावाक्यनिरूपक:" श्रीमहाप्रभुके ग्रन्थोंका ही स्वाध्याय करना चाहिये. सारे गुणक्षोभ इससे शान्त हो जायेंगे, ऐसा श्रीमहाप्रभुका आश्वासन हैं.

15.अत्र कुसृष्टि: वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रम::

षोडशग्रन्थके उपक्रमरूप यमुनाष्टकमें-"ममास्तु तव सन्निधौ तनुनवत्वम्" कह कर भगवत्सेवार्थ अपेक्षित देहकी नूतनताकी प्रार्थनाकेद्वारा भगवत्सेवाकी महत्ता दिखलायी गयी है. षोडशग्रन्थके उपसंहाररूप सेवाफल ग्रन्थका नामाभिधान 'भक्तिफल' 'कथाफल' 'त्यागफल' 'निरोधफल' या 'प्रपत्तिफल' न कह कर 'सेवाफल' करना; तथा अलौकिकसामर्थ्यके रूपमें सेवाका फल पुन: सेवाको ही मानना भी, पुष्टिमार्गमें सेवाकी महत्ताका ही प्रमाण है.

सिद्धान्तमुक्तावली, पुष्टिप्रवाहमर्यादा, सिद्धान्तरहस्य, 'भक्तिवर्धिनी तथा निरोधलक्षण ग्रन्थोमें शब्दश:, तथा अन्य ग्रन्थोंमें तात्पर्यश: सेवाके महत्त्वके पुन:-पुन: उल्लेखद्वारा जो अभ्यास किया गया है, उसके आधारपर भी पुष्टिमार्गमें सेवाकी असाधारण महत्ता सिद्ध होती है.

चतुश्लोकीमें-“सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप: स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य: क्वापि कदाचन” द्वारा की गयी कृष्णसेवाकी प्रशंसा, तथा निरोधलक्षणमें की गयी-“नात: परतरो मन्त्र: नात: परतर: स्तव: नात: परतरा विद्या तीर्थं नात: परात्परम्” वचनद्वारा अन्य उपायोंकी निन्दा, द्वारा अर्थवादके विचारसे भी भगवत्सेवाकी महत्ता सिद्ध होती है.

श्रीमहाप्रभुके अन्य ग्रन्थोंमें भी यथा निबन्ध भाष्य या सुबोधिनी में सेवाका उल्लेख मिलता है, परन्तु भगवत्सेवाका साङ्गोपाङ्ग-सपरिकर स्वरूप जैसा यहां वर्णित हुआ है, वह अन्यत्र सुलभ नहीं है. सेवाका अन्तरङ्गरूप भाव-भावना है. सेवाके बहिरङ्गरूपमें आत्मसमर्पण, तनुवित्तजा सेवा, गृहस्थित वस्तु एवम् परिजनोंका भगवत्सेवामें विनियोग; तथा अन्य भी नवधा भक्त्यङ्गभूत श्रवण-कीर्तनादि उपाय माने गये है. इन सारी बातोंका जैसा स्पष्ट एवम् सुसङ्गत विचार, अपूर्वतया यहां षोडशग्रन्थोंमें हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है.

पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवाद्वारा किसी फलकी कामना नहीं जाती है क्योंकि सेवाका फल सेवा ही होती है. अतएव विवरणमें-“सेवाया: फलत्रयम्” न कह कर “सेवायां फलत्रयम्” कहा गया हैं अत: तीनों ही फलावस्था षोडशग्रन्थमें मुख्यतया प्रतिपाद्य सेवाके अन्तर्भूत ही हैं. इस फलसमीर्तनसे भी षोडशग्रन्थोंका तात्पर्य भगवत्सेवोपदेशमें ही पर्यवसित होता है.

अन्तिम तात्पर्यनिर्धारक लिङ्ग उपपत्ति माना गया है. अन्य प्रमाणोंसे किसी एक बातका खण्डित होना सम्भव नहीं है, इस तरहका निरूपण करना ‘उपपत्ति’ कहलाता है. अतएव श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि इन सोलह ग्रन्थोंमें मुख्यतया प्रतिपाद्य भगवत्सेवाके स्वरूपको अन्यान्य साधनोंकी तुलनामें गौण बनानेवालेको पुष्टिकी सुन्दर सृष्टिमें कुसृष्टिरूप ही समझाना चाहिये-“कुसृष्टिरत्र वा काचिदुत्पद्येत स वै भ्रम:” ऐसे ही भ्रमोंके निवारणार्थ अन्त:करणप्रबोध लिखा गया है.

इस तरह उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अर्थवाद, अपूर्वता, फल और उपपत्ति रूप छहों तात्पर्यनिर्धारक लिङ्गोके द्वारा यह नि:सन्दिग्धतया सिद्ध होता है कि पुष्टिजीवोंकेलिये स्वगृहमें श्रीकृष्णके पुष्टिस्वरूपकी सेवा, व्रजभक्तोंके भावोंका भावनात्मक अनुसरण करते हुवे, निजतन-मन-धनका भगवान्में विनियोग; तथा उसके अनवसरमें एतद्भाववर्धिका भगवत्कथाका श्रवण-स्मरण-कीर्तन करना प्रथम एवम् चरम कर्तव्य है. यहां-वहां भटकनेवाले चित्तकी सभी वृत्तियोंका निरोध भगवत्सेवा और भगवत्कथा में होना चाहिये. क्योंकि “ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायाक्त्यहर्निशम्!” का नियम ध्रुव और अकाट्य है.

सेवाफल ग्रन्थका प्रस्तुत संस्करण वि. सं. 1973 में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप हैं. उस प्रथम संस्करणमें प्रकाशित न हो पानेके कारण सेवाफलकी जो तीन टीकायें जलभेदके साथ प्रकाशित हुई थी, उन टीकाओंको हमने यथास्थान यहां निविष्ट कर दिया है. इसके अलावा सेवाफलकी मूल कारिका तथा विवरण वहां पृथक्-पृथक् छपे थे, उन्हे यथामति हमने उपर-नीचे योजित किया है.

प्रथम संस्करणमें श्रीपुरुषोत्तमजीके बाद जिस ‘तदनुसारिणां’ की टीका मुद्रित हुई थी, नामनिर्देशरहित, उस टीकाके लेखकका नाम हमें कोटायात्रामें मिल गया. श्रीमन्मथुराधीश मन्दिरके हस्तलिखित ग्रन्थागारकी रजिस्टर सङ्ख्या (210/3) की हस्तलिखित प्रतिमें इस टीकाके “श्रीमथुरानाथात्मज द्वारकेशकृत सेवाफल विवृति प्रकाश” नामका उल्लेख उपलब्ध होता है. कांकरोलीवाले महाराजश्रीके पास इन श्रीद्वारकेशजीके पुत्रके हस्ताक्षरोमें लिखित एक प्रति विद्यमान है, ऐसा ग्रन्थपरिचय लेखकको लिखे एक पत्रमें गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमार (कांकरोली) सूचित करते हैं. श्रीवल्लभवंशवृक्षमें इन श्रीमथुरानाथात्मजश्री द्वारकेशजीका उल्लेख यों मिलता है: (प्रथम/2 गृह. जन्म वि. सं.1852). इसके अलावा कांकरोली विद्याविभागमें स्थित

श्रीव्रजभूषणजी (द्वितीय) की विद्वन्मण्डन टीकाका मङ्गलाचरण तथा यहां 14 वें क्रममें मुद्रित सेवाफलविवृतिप्रकाश टीकाका मङ्गलाचरण समान होनेसे, यह टीका श्रीव्रजभूषणजी विरचित है, ऐसा गोस्वामी श्रीव्रजेशकुमार महाराजश्रीका अनुमान है.

सेवाफल और सुबोधिनी की एकवाक्यताके प्रदर्शक (सुबो. 3।25।32-40) अंशको हम नूतनतया यहां पाठकोंके सुविधार्थ प्रकाशित कर रहे हैं.

प्रथम संस्करणके सम्पादक श्रीमूलचन्द तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल व्रजदास सांकलिया थे. प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग गोस्वामी श्री 1008 श्रीजीवनलालजी महाराज (पोरबन्दर) ने दिया था. इन सभी महानुभावोंका इस पुन: प्रकाशनके अवसरपर हम हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं.

श्रीकृष्णार्पणमस्तु.

॥सेवाफलम् सविवरणम्॥

(21)

अपने मार्गमें स्वतन्त्र-पुरुषार्थपनेसूंही सेवा कीनी जाय हे. ताके फलके निरूपणको ये ग्रन्थ हे. तहां शङ्का होय जो अपनें सेवा करे हें सो स्वतन्त्र-पुरुषार्थपनेसूंही करे हें, सेवासों दूसरे कोउ फल प्राप्त होय एसी अपेक्षासूं तो नाहीं करें हें, तब सेवाके फलको निरूपण केसें? ताको समाधान एसें समजनो जो जीवित पर्यन्त एसी सेवा जा जीवने करी होय ताकों देहावसानमें (अन्तमें) जो गति होय सो यहां 'फल'पदसूं कह्यो हे. इतनें यहां सेवाको फल होयवेको कह्यो हे सो अन्तमें गति होयवे(के अर्थमें)को समजनों. सो फल आजके समयमें जो सेवारूप-भजन होय हे तामें अनुस्यूत जो सर्वात्मभाव रहे हे ताकरिकें प्राप्त होयवेवारो जो विशेष भजनानन्द हे ताहीरूप हे. तासूं विशेष भजनानन्दरूप जो फल हे सो सेवासूं अतिरिक्त (दूसरो) नाहिं हे.

इतनें श्रीगीताजीमें श्रीकृष्णनें अर्जुन प्रति कह्यो हे जो “अन्तमें जा-जा भावको स्मरण करतो-करतो शरीरकुं छोड़े हे ता-ता भावकुं प्राप्त होय हे” ओर “अन्तमें जो मति होय सो गति होय” एसो न्याय हे. तासूं सेवाको फल सेवाही हे एसें समजनों. इतनें सेवासूं दूसरो फल होयवेकी शङ्का करिके जो विरोध बतायो सो विरोध नाहीं हे. सो सेवाको फल केसो होय? एसें जानिवेकी इच्छा होय तहां कहत हें:

यादृशी सेवना प्रोक्ता तत्सिद्धौ फलमुच्यते॥
अलौकिकस्य दाने हि चाद्यः सिद्ध्येन् मनोरथः॥1॥
फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामकः॥

सेवायां फलत्रयम् अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो 1 वैकुण्ठादिषु.

यादृशी=जा प्रकारकी
सेवना=सेवा, प्रोक्ता=कही
तत्सिद्धौ=वाकी सिद्धि होयवेपें
फलम्=फल
उच्यते=कह्यो जाय हे
अलौकिकस्य=अलौकिकके
दाने=दानमें, हि=तो
आद्यः=पहिलो, च=ओर
मनोरथः=मनोरथ
सिद्ध्येत्=सिद्ध होय हे
फलं=फल
वा=हु (भवतु=होय)
अधिकारः=अधिकार
वा=के, अत्र=यहां
कालः=काल
नियामकः=नियामक
न=नाहीं
हि=ही (भवति=होय हे)

भावार्थ : सिद्धान्तमुक्तावली, पुष्टिप्रवाहमर्यादा, सिद्धान्तरहस्य, चतु:श्लोकी, भक्तिवर्धिनी, सन्न्यासनिर्णय, निरोधलक्षण ग्रन्थनमे जा प्रकारकी भगवत्सेवाको उपदेश दियो ता प्रमाण भगवत्सेवा निभवेपे वाकी फलावस्थाको निरूपण अब करत हें. यमुनाष्टकमें तनुनवत्वको जो मनोरथ प्रकट कियो सो तो पुष्टिप्रभु जब पुष्टिजीवकों अलौकिकसामर्थ्यरूप पुष्टिफलको दान करिवो चाहें तबही पूर्ण होत हे. परि प्रभु दान करिवो चाहें अथवा न चाहें, या मारगमें फलसिद्धि किंवा अधिकारसिद्धि में काल नियामक नाहीं बनत हे.(कारिकार्थ).

सेवा करिवेवारे पुष्टिभक्तकी फलानुभूतिके तीन प्रकार हें:(1) अलौकिकसामर्थ्य अर्थात् मानसी सेवा, व्यसनात्मिका भक्ति, सर्वात्मभावरूपा निरोधसिद्धि. (2) सायुज्य अर्थात् साक्षात् पुरुषोत्तममें लीलानुभावकी तत्तत् कालमें सम्भावनावारो लय. (3) वैकुण्ठादि लोकनमे सेवोपयोगिदेहकी प्राप्ति (विवरणार्थ).

टीका : जेसी सेवा (मेनें) कही हे तेसी सेवा सिद्ध होय तब वाको जो फल होय सो या ग्रन्थमें कहत हें. अलौकिकको दान होय तब आद्य (मुख्य फलरूप) मनोरथ सिद्ध होय. फल सिद्ध होय अथवा अधिकार सिद्ध होय तामें काल नियामक नाहीं हे अर्थात् कालकी अपेक्षा नाहीं हे.

सेवाफलको विवरण श्रीआचार्यचरणनने ही कियो हे तामें आज्ञा करी हे जो “सेवायां फलत्रयम्— अलौकिकसामर्थ्यं, सायुज्यं, सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु”. इतनें अलौकिकसामर्थ्य, सायुज्य अथवा वैकुण्ठादिक लोकनमे सेवामें उपयोगी देह मिले, एसें सेवामें तीन फल हें. अर्थात् श्रीआचार्यचरणनने जा रीतिसूं सक्ेह सहित श्रीव्रजभक्तनके भावपूर्वक सेवा करिवेकी आज्ञा करी हे ताही रीतिसूं जीवित पर्यन्त सेवा करे तो अन्तमें फल होय सो कहत हें. सोही बात भक्तिवर्धिनीमें “सेवायां वा कथायां वा” या श्लोकसूं जताई हे. तामें एसो अभिप्राय हे जो “जीवित पर्यन्त सेवामें अथवा कथामें जाकी दृढ आसक्ति होय ताको कोऊ स्थलमें नाश नाहीं हे” एसें कहिके जीवित पर्यन्त सेवा करिवेसूं फल होयवेकोही जतायो हे.

यहां तीन फल होयवेको विकल्प कियो हे सो भक्तिमार्गमें पुष्टि, मर्यादा ओर प्रवाह एसे भेदकरिकें जीवनमे तीन प्रकारको (भगवानको) अङ्गीकार हे; तासूं अधिकारीके भेदकरिकें तीन प्रकारकी सेवा होय हे, तातें फलहु तीन प्रकारको क्रमकरिकें कह्यो

हे. तामें प्रथम पुष्टिसेवाको फल कहत हें जो अलौकिकसामर्थ्य होय. इतनें केवल सर्वात्मभावसूंही प्राप्त होयवेवारो जो भजनानन्द हे ताको अनुभव होय, सो अलौकिक फल हे. सो अपने किये भये कोटि साधनन्सूंहु प्राप्त होय एसो नाहीं हे. ताके अनुभवकी योग्यता करिवेवारो जो अधिकार हे सो 'अलौकिकसामर्थ्य' कह्यो जाय हे. भगवानके विप्रयोगकुं सहन करिसके सो 'अलौकिकसामर्थ्य' एसोहु कोउ **टीका**कारको अभिप्राय हे. एसें दोउ प्रकारके अलौकिकसामर्थ्यमें दृष्टान्तरूप व्रजभक्तही हें.

दूसरो फल सायुज्य कह्यो हे. सो मर्यादामें जाको अङ्गीकार हे ताकुं होय, सो श्रीपुरुषोत्तममें सायुज्य होय, अक्षरमें नाहीं. क्यों जो अक्षरमें सायुज्य तो केवलमर्यादामें ज्ञानादिकन्सूं होय हे. ताकी अपेक्षासूं तो पुष्टिमें विशेष फल होनोही चहिये, सो श्रीपुरुषोत्तममें सायुज्य होय सोही विशेषता समजनी. क्यों जो श्रीपुरुषोत्तममें सायुज्यवारे भक्तनकु तो समय पाय बाहिर प्रकट करिकें *भगवान् भजनानन्दको अनुभवरूप फल देत हें, तासूं पुष्टिमर्यादामें प्रथम सायुज्य, मध्यमें भजनानन्दको अनुभव ओर अन्तमें फेरि वहांही सायुज्य होय हे.

ओर तीसरो फल वैकुण्ठादिकनमे सेवौपयिक देहकी प्राप्तिरूप हे. सो प्रवाहमें जाको अङ्गीकार होय ताकुं होय. यहां जो 'वैकुण्ठ' कह्यो हे सो श्रीलक्ष्मीजीकी प्रार्थनासूं 'रमावैकुण्ठ' लोक सिद्ध कियो हे सो समजनों एसें कोउ (**टीका**कार) कहत हें. ओर कोउ (**टीका**कार) अक्षरात्मक व्यापिवैकुण्ठ कहत हें; तथापि मर्यादामें जाको अङ्गीकार होय ताकुं अलौकिक सामर्थ्य देकें फल देयवेकी इच्छा प्रभु करें तब आद्य (प्रथम फलरूप) मनोरथ सिद्ध होय. ओर प्रवाहमें जाको अङ्गीकार होय ताकुं अलौकिक सामर्थ्यरूप फल कबहु न मिले यह अभिप्राय तो दोउ अर्थमें समानही हे.

आद्य फल सो केवल स्वरूपकरिकेंही साध्य हे एसो जतायवेकेलिये मूलमें 'हि' अव्यय लिख्यो हे. तहां शङ्का होय जो आद्यफल होयवेको अधिकार न होय तो प्रभु केसें मनोरथ पूर्ण करें? एसी शङ्का की निवृत्तिकेलिये कहत हें जो "फल अथवा अधिकार सिद्ध करें वामें काल नियामक नाहीं हे".

टिप्पणी : *जेसें अंतर्गृहगतानकु सायुज्य दियो हे, सो जब विनके संग रमण करिवेकी भगवानकी इच्छा होय तब बाहिर प्रकट करिकें विनके संग प्रभु रमण करत हें ओर

रमणद्वारा भजनानन्दको दानकरिकें फिर सायुज्य करत हें.

अब वामें तीन प्रतिबन्धक हें सो कहत हें:

उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकः॥2॥

सेवायां प्रतिबन्धक त्रयम् उद्वेगः प्रतिबन्धो भोगो वा. त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः.

(किन्तु) उद्वेगः=उद्वेग
प्रतिबन्धः=प्रतिबन्ध
वा=अथवा
भोगः=भोग,
वा=हु
बाधकः=बाधक
स्यात्=होय

भावार्थ : पूर्वोक्त ग्रन्थनमे उपदिष्ट भगवत्सेवाके अनुष्ठानमें, परन्तु, बाधकहु तीन हें: 1.उद्वेग 2.प्रतिबन्ध ओर 3.भोग. सो तीन्यों बाधकनको परित्याग करनों.(का.वि.)

टीका : उद्वेग, प्रतिबन्ध ओर भोग ये तीन सेवाफलमें बाधक हें. इतनें, मनमें उद्वेग रहे तो सेवामें चित्तही रहे नाहीं तब भगवत्प्रवण चित्त होयवेरूप जो सेवा हे सो सिद्ध होय नाहीं, तब फल कहांसूं मिले?

दूसरो बाधक प्रतिबन्ध हे, सो साधारण ओर भगवत्कृत एसे भेदसूं दोय प्रकारको हे. ताको विवेचन आगे आवे हे. ओर तीसरो प्रतिबन्ध भोग हे. इतनें, लौकिकभोगमें आसक्ति होय तब तांई एकाग्रतासूं सेवा होय सके नाहीं, एसें तीन प्रतिबन्ध हें. ओर भगवत्कृत प्रतिबन्ध हे ताकी तो निवृत्ति होय सके नाहीं तासूं उद्वेग, लौकिकभोग तथा साधारण प्रतिबन्ध ये तीन्योंनको त्याग करिवेकी विवरणमें आज्ञा करी हे. जो “त्रयाणां साधनपरित्यागः कर्तव्यः” इतनें तीन्यो प्रतिबन्धनकी उत्पत्तीनके कारणरूप जो होंय ताको त्याग करनो.

तहां शङ्का होय जो सेवा होय ता समय लौकिक अथवा वैदिक कार्य आय पड़ें तब सेवामें प्रतिबन्ध होय सो साधारण प्रतिबन्ध हे; परन्तु यह कार्य लोक-वेदसिद्ध हें तासूं

वाको त्याग तो होय सके नाहीं तब केसें करनो? एसी शङ्काकी निवृत्तिकेलिये विवरणमें आज्ञा करी हे जो लौकिकभोग छोड़ देनों ओर साधारण प्रतिबन्ध हे सो बुद्धिकरिकें छोड़नो; इतनें सेवामें प्रतिबन्धकपनेसूं लौकिक-वैदिककार्यरूप साधारण प्रतिबन्ध आवे तब सेवाके अनवसरमें करिवेको निश्चय करनों; अर्थात् पुत्रके विवाहादिक लौकिक कार्य आवें अथवा कछु वैदिक कार्य आवे तब प्रथमसूंही बुद्धिकरिकें सेवामें प्रतिबन्ध न होय एसी रीतिसूं निर्वाह करनों. ओर प्रथमसूं निश्चय होय सके एसो कोउ आवश्यक लौकिक-वैदिककार्य आय पड़्यो होय तब शरीरादिकसूं वो कार्य करनो परन्तु बुद्धि भगवत्सेवामेंही राखनी, वा कार्यमें राखनी नाहीं. ओर अलौकिकभोग तो तीन्यो फलमें जो मध्यम फल हे तामें मुख्य हे॥2॥

साधारण प्रतिबन्धनको प्रतीकार शक्य होत हे परि भगवत्कृत प्रतिबन्धको नाहीं, एसे समुझाईके साधारण प्रतिबन्धनके प्रतीकारको उपायहु समुझावत हें:

अकर्तव्यं भगवतः सर्वथा चेद् गतिर् न हि॥
यथा वा तत्त्वनिर्धारो विवेकः साधनं मतम्॥3॥
बाधकानां परित्यागो भोगेप्येकं तथा परम्॥
निष्प्रत्यूहं महान् भोगः प्रथमे विशते सदा॥4॥

1भोगो द्विविधः लौकिको अलौकिकश्च. तत्र लौकिकः त्याज्यएव. अलौकिकस्तु फलानां मध्ये प्रथमे प्रविशति 2. प्रतिबन्धोपि द्विविधः साधारणो भगवत्कृतश्च तत्र आद्यो बुद्ध्या त्याज्यः. भगवत्कृतः चेत् प्रतिबन्धः तदा भगवान् फलं न दास्यति इति मन्तव्यम्. तदा अन्यसेवापि व्यर्था. तदा आसुरोयं जीव: इति निर्धारः. तदा ज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाय इति 'विवेकः'.

भगवतः=भगवानको
(फलदानं=फलदेयवेको)
सर्वथा=कोइभी तरहसूं
अकर्तव्यं=न करवेपनों होय
चेद्=जो(तदा=तब)
गतिः=गति, नहि=नाहीं ही
(विद्यते=रहे हे,तस्माद्=तासों)

यथा=जेसे, वा=हु
तत्त्वनिर्धारो=तत्त्वको निर्णय
(भवति=होय)तथा=तेसें
विवेकः=विवेक, साधनं=साधन
मतम्=माननो, भोगे=भोगमें
अपि=हु, बाधकानां=बाधकनको
परित्यागः=त्याग, एकं=एक
(साधनं=साधन,मतम्=मान्यो हे)
(भोगे=भोगमें, अपि=हु)
निष्प्रत्यूहं=निर्विघ्न, परं=श्रेष्ठ
(साधनं=साधन, मतम्=माननो
यस्माद्=क्योंके) महान्=महान्
भोगः=भोग, सदा=सदा
प्रथमे=पहिलेमें
विशते=समावेश होय हे

भावार्थ : भगवानको फलदानेच्छा जब न होय तब जीवके पास कोउ गति-उपाय रहि नाहीं जात हे. तासों "ये जन्म मेरो आसुरावेश वारो हे" एसो तत्त्वनिर्धार करि लेनों. यों विवेकही तहां शोकवारणकों साधन हे. उद्वेग, प्रतिबन्ध अरु भोग के कारणनको अथवा साधननको परित्याग करनों चहिये. भोगहुमें भक्तिबाधक विषयनको परित्याग एक साधन हे, तेसेंही निष्प्रत्यूह (भगवत्समर्पित विषयनको उपभोग) दूसरो अथवा श्रेष्ठ साधन मान्यो जात हे. सो काहेतें? तहां कहत हें जो महान् (भगवत्समर्पित विषयनको) भोग तो अलौकिक सामर्थ्यरूप प्रथम फलके अन्तर्गत होत हे॥3-4॥

विवरणार्थ : (1) भोग दोय प्रकारके होत हें क.लौकिक ख.अलौकिक. तिनमें लौकिक त्याज्य होत हे परि अलौकिक भोग तो अलौकिक सामर्थ्यरूप फलके अन्तर्गत होत हे. (2) प्रतिबन्धहु दोय प्रकारके होत हें—— (क) साधारण (ख) भगवत्कृत्. तहां साधारण प्रतिबन्ध तो लौकिक चातुरीसों दूर होय सके परि जो भगवत्कृत् प्रतिबन्ध होय सो तो "भगवान् मोकों फलदान करिवो नाहीं चाहत हें" एसें मानि लेनो. तोहु अन्याश्रय तो कर्तव्य नाहीं हे परि "मेरे स्वामीनें ये जनम मेरो आसुरावेशयुक्तही राखिवेको विचार्यो हे" एसो आपुने स्वरूपको तत्वनिर्धार जीवकों करि लेनो. अरु प्रभु तो कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् समर्थ हें. अरु निजेच्छासोंही सब कछू अपनी लीला

करत हें, एसे विवेकद्वारा माहात्म्यज्ञानको अवलम्बन करि लेनो तासों व्यर्थ शोकको निवारण होत हे. तासों तीसरी कारिकामें 'विवेक' पद राख्यो हे.

टीका : भगवानको सर्वथा कर्त्तव्य न होय तब तो गति नाहीं हे. तब तो जा रीतिसूं तत्त्वको निर्धार होय वा रीतिसूं विवेक राखनों, येही साधन मान्यो हे.

इतनें, जा जीवऊपर भगवानकी विशेष कृपा होय ताको द्वेषादिक करिवेसूं भगवान् सेवामें जो प्रतिबन्ध करें सो 'भगवत्कृतप्रतिबन्ध' जाननों. तब, भगवान् सर्वसामर्थ्ययुक्त ओर स्वतन्त्र हें ओर विनकी इच्छा वा जीवकी पास सेवा करायवेकी न भई तब सर्वथा फलको अभावही हे, एसें जाननों. तब मनमें एसो विचार होय जो भगवानने प्रतिबन्ध कियो तो दूसरेकी सेवा करिवेसूं दूसरो फल मिलेगो एसे विचारकी निवृत्तिकेलिये विवरणमें आज्ञा करी हे जो "भगवत्कृत प्रतिबन्ध होय तब अन्यकी सेवाहु व्यर्थ हे". कयों, जो व्याससूत्रमें कह्यो हे जो "सब फल भगवान्सूंही मिले हे". इतनें, सर्वफल देयवेवारे प्रभुही हें. ओर दूसरे जो फल देत हें सो प्रभुके आधीन हें. तासूं प्रभुकी फल देयवेकी इच्छा न होय तब दूसरेहु फल देय सकें नाहीं तासूं सर्वथा वाकुं फलको अभावही हे.

तहां शङ्का होय जो सर्वथा फल देयवेकी इच्छा प्रभुकुं न होय सो तो आसुरजीवन् विषे होय हे, दैवीन् विषे तो नाहीं होत हे. ओर ये तो भगवन्मार्गमें आयो हे, सेवा करे हे तासूं दैवी जीव हे, ताकुं सर्वथा फलको अभाव केसें कह्यो जाय? एसी शङ्का की निवृत्तिकेलिये विवरणमें आज्ञा करी हे जो "तदा आसुराऽयं जीव इति निर्द्धारः". इतनें, सुष्टिकी आदिमेंहु प्रभुकी इच्छासूंही आसुरजीव भये तेसें जब प्रभुकी इच्छा जीवकुं आसुर करिवेकी होय तब जीव आसुर होय. तासूं भक्तको अतिद्वेष करे तब वो जीव दैव भयो होय तोहु वाकुं आसुर करें. इतनें, सेवादिकसूं दैव दीखवेमें आवतो होय ओर भक्तको द्वेषहु करतो होय तब तो यह आसुर जीव हे एसेंही जाननों. तासूं प्रतिबन्धके स्वरूपकुं जानिवेवारे जो वैष्णव हें उनकुं तो दुःसङ्गादिकनमे सावधानही रहेनो.

ओर जा जीवकुं सेवामें भगवत्कृत प्रतिबन्ध होय ताकुं पीछें पश्चात्ताप होयकें सेवा नाहीं बनिवेको शोक होय. तब पूर्वसूं वह भक्तिमार्गीय हे तासूं शोक न होयवेकेलिये तत्त्वनिर्द्धारके उपायभूत विवेकरूप साधन कहत हें जो "जा प्रकारसूं शोकको अभाव होय वा प्रकारको ज्ञान राखनो येही साधन हे". तामें उपनिषद्के ज्ञानकी अपेक्षा नाहीं हे किन्तु सांख्य, योग अथवा अन्य उपायसों तत्त्वनिश्चय करिके प्रभूनने ही ये सब

कियो हे, सर्व जगत् ब्रह्मात्मक हे, में कोन हुं, साधन कहा हे, फल कहा हे, दाता कोन हे, भोक्ता कोन हे ——इत्यादिक तत्त्वको निर्धार करनो. तासूं शोक निवृत्त होय. येही अभिप्राय "तदाज्ञानमार्गेण स्थातव्यं शोकाभावाय इति विवेकः" एसें विवरणमें जतायो हे.

विवरणमें "शोकके अभावकेलिये ज्ञानमार्गकरिकें रहेनो" एसें कह्यो हे ताको अभिप्राय एसो दीसत हे जो ज्ञानमार्गकी स्थितिसूं शोकको अभावही फल होय, ज्ञानमार्गीय मुक्ति न होय. परन्तु वाको एसो अभिप्राय हे जो मूलमें "जेसो तत्त्वको निर्द्धार होय एसो विवेक राखनों" एसें कह्यो हे तासूं वा आसुरजीवमेंहु आवेशी ओर सहज एसे दोय भेद हें. तामें जो आवेशी हे सो तो आवेश रहे तब तांइ भक्तको द्वेषादिक करे ओर आवेश मिटिजाय तब भक्तके उपर द्वेषादिकहु मिटिजाय. एसेकुं तो ज्ञानमार्गाकरिकें सत्यलोकमें स्थिति अथवा अक्षरब्रह्मकी प्राप्ति होय. ओर सहजासुर होय गयो होय तासूं सर्वदा भक्त उपर द्वेष राखिकें द्रोह कर्यो करे ताकुं तो ज्ञानमार्गकी स्थितिसूंहु वा मार्गको फल न होय परन्तु शोकाभाव रूप फल होय. इतनें, शरण आयवेवारो जीवहु सहजासुर होय जाय तोहु वाकुं शोकाभावरूप फल तो होय॥3॥

"तीन्यों बाधकको परित्याग करनो" तामें भोग जो बाधक लिख्यो हे सो लौकिक भोग बाधक हे. ओर अलौकिक भोग फलरूप हे तासूं भोगहु एक फलरूप हे ओर एक बाधकरूप हे एसें जाननो. ओर निर्विघ्न महान् भोग हे ताको प्रवेश सदा प्रथमफलमें हे. इतनें, भोगमेंहु अलौकिकभोगरूपफलमें प्रविष्ट हे तासूं वाही प्रकारसूं भोग करनो. ओर दोउ प्रतिबन्धनमे 'पर' नाम भगवत्कृत जो प्रतिबन्ध हे ताको तो त्याग होय सके एसोनाहीं हे तासूं वाकूं छोड़िके दूसरो प्रतिबन्ध हे सो बुद्धिकरिकें छोड़नो.

तहां शङ्का होय जो लौकिकभोग तथा अलौकिकभोगकी तो तुल्यता हे वामें तारतम्य नाहीं दीसत हे! सो शङ्का की निवृत्तिकेलिये अलौकिकभोगमें विलक्षणता कहत हें जो अलौकिकसामर्थ्यरूप प्रथमफलमें भगवत्स्वरूपानन्दके अनुभवरूप भोग जब कियो जाय हे तब वामें कालादिककरिकेंहु अन्तराय नाहीं होय सकत हे, एसें निर्विघ्न अलौकिक भोग सिद्ध होय हे. ओर लौकिकभोगमें तो सदा विघ्न आयोही करे हे तासूं निर्विघ्नताको सर्वथा अभावही हे. एसें लौकिक ओर अलौकिक भोगमें बहोत भेद हे. तासूंही सन्यास निर्णयमें आज्ञा करी हे जो "वामें बाधा करिवेकुं हरिहु समर्थ नाहीं हे तो दूसरो तो कोन कर सके?" तेसें यह भोग स्वरूपसूं, फलसूं ओर

साधनसूं बड़ो हे. क्यों जो विषयानन्द तथा ब्रह्मानन्दकी अपेक्षाकरिकें भजनानन्द बड़ोही हे तासूंही तीन्यों फलनमे अलौकिकसामर्थ्यरूप जो प्रथम फल हे वामें वाको (भजनान्दको) प्रवेश हे॥4॥

ननु साधारणो भोगः कथं त्यक्तव्य:? इति आकांक्षायाम् आह "सविघ्नो अल्पो घातकः स्याद्"इति.

सविघ्नोऽल्पो घातकः स्याद् बलाद् एतौ सदा मतौ॥
सविघ्नत्वाद् अल्पत्वाद् भोगः त्याज्यः. एतौ सदा प्रतिबन्धकौ.

द्वितीये सर्वथा चिन्ता त्याज्या संसारनिश्चयात्॥5॥
द्वितीयो भगवत्कृतप्रतिबन्धः. ज्ञानस्थित्यभावे चिन्ता भावार्थम् आह 'द्वितीय'इति.

नत्वाद्ये दातृता नास्ति तृतीये बाधकं गृहम्॥
आद्यफलाभावे भगवतो दातृत्वं नास्ति. तदा सेवा न आधिदैविकी इत्युक्तं भवति. भोगाभावः तदैव सिध्यति यदा गृहपरित्यागः.

अल्पः=थोड़ो
(च=हु, भोगः=भोग)
सविघ्नः=विघ्नसहित
घातकः=घातक
स्याद्=होय, एतौ=ये दोनों
(लौकिक:=लौकिक,
भोगः=भोग,
भगवत्कृतश्च=ओर भगवानके
द्वारा भयो,प्रतिबन्धः=प्रतिबन्ध)
सदा=हमेंशा
बलाद्=बलपूर्वक
(घातकौ=घातक)
मतौ=माने हें
द्वितीये=दूसरेमें(भगवत्कृतप्रतिबन्धे=

भगवानके करे प्रतिबन्धमें)
संसारनिश्चयात्=संसारको
निश्चय होयवेसूं, चिन्ता=चिन्ता
सर्वथा=हरतरहसूं
त्याज्या=त्यागनी
नतु= (यदि=जो)
आद्ये=पहिलेमें
दातृता=देयवेकी इच्छा
नास्ति=नाहीं हे
(तदापि=तो भी)
तृतीये=तीसरेमें
(लौकिकभोगे=लौकिकभोगमें)
गृहं=घर
बाधकं=बन्धनकारक
(भवति=होय हे)

भावार्थ : तेसेंही अल्पभोग तो अर्थात् लौकिकभोग तो सर्वदा क्षुद्र सुख देयवेवारो, सोहु अनेकविध विघ्नके साथ, हे एसी समज परे तबही छूटि सकत हे. अन्यथा लौकिकभोग अरु भगवत्कृत प्रतिबन्ध भक्तिभावके बलवान बाधक बनि जात हें, एसें मानिके चलनो चहिये. भगवत्कृत प्रतिबन्ध होयवेपे तो अपनी संसारासक्ति तूटिवेवारी नाहीं हे, एसो निश्चय करिके चिन्ताको त्याग करिवोही उपाय हे. सेवा करतहु सेवकके भीतर जब अलौकिक सामर्थ्यको प्राकट्य होत नाहीं तब ताकों प्रतिबन्धही मानि लेनो उचित नाहीं परि अलौकिक सेव्य-प्रभु सेवकद्वारा करी जाती सेवामें आधिदैविकता प्रकट होयवे देवो चाहत नाहीं हें एसे समजनों. लौकिक भोग केसेहु छूटत न होंय तो गृहत्याग करि देनोही आछो (कारिकार्थ).

तहां एक प्रश्न उठत हे जो साधारण भोग केसे छूटि सके? ताको समाधान कहत हें जो लौकिक भोग अनेकविध विघ्नके साथ क्षुद्र सुखकुं देयवेवारो हे तातें त्याज्यही हे. परि जीव जब सावधानी राखत नाहीं तब लौकिक भोग सविघ्न अरु अल्प होयवेपेहु भगवत्कृत प्रतिबन्धकी नांई भगवत्सेवाके भक्तिभावको बलवान बाधक बनि जात हे. तातें पांचमे श्लोकमें 'सविघ्न' अरु 'अल्प' हेतुगर्भित विशेषण हें. भोग काहेकों त्याज्य

हे? तामे भोगके ये दोय विशेषण सविघ्न हे तातें त्याज्य हे अरु अल्पसुख देयवेवारो हे तातें त्याज्य हे, एसे जनावत हें. तेसेंही पांचमे श्लोकमे 'एतौ' कह्यो, तहां 'लौकिकभोग' अरु 'भगवत्कृत प्रतिबन्ध' अभिप्रेत हें. तासों ये दोनों बलवान् बाधक भये. पांचमी कारिकामें दूसरे प्रतिबन्धके होयवेपे चिन्तात्यागकी जो कही तामें 'दूसरे' पदको अभिप्राय भगवत्कृत प्रतिबन्धतें समजनो. तीसरी कारिकामें उपदिष्ट माहात्म्यज्ञानावलम्बी विवेकहु कोऊ राखि न सकत होय ताकी चिन्ताकी निवृत्तिको उपाय 'संसारनिश्चय' हे. जो भवितव्य जाको निश्चित हे ताकुं टारिवेकी चिन्ता करिवेते कछू लाभ होत नाहीं. तातें फेरि भगवत्कृत प्रतिबन्धकी चर्चामें पुनरुक्ति नाहीं. भगवत्सेवा करतहु जब अलौकिक सामर्थ्यको प्राकट्य होत न होय तो ताकुं भगवत्कृतप्रतिबन्ध मानिकें संसारनिश्चय जानि सेवात्याग करिवो उचित नाहीं. सो काहेते? कहत हें जो या जनममें भूतलपे प्रभु अलौकिक सामर्थ्यरूप फलदान करिवो न चाहें तो तेसी सेवा आधिदैविकी न भई जानिये. परि देह छूटे पाछें सेवोपयोगिदेहको दान करिके प्रभु नित्यलीलामें आधिदैविकी सेवा प्रदान करेंगे (विवरणार्थ).

टीका : लौकिकभोग विघ्नसहित हे तथा अल्प हे ओर भगवत्कृतप्रतिबन्ध बलात्कारसूं घातक हे तासूं ये दोउ प्रतिबन्ध माने हें. सो प्रथम (लौकिकभोग) त्यागकरिवेयोग्य हे; ओर दूसरो (भगवत्कृत) प्रतिबन्ध होय तब तो संसारकोही निश्चय हे. तासूं सर्वथा चिन्ता छोड़नी.

इतनें, लौकिकभोगमें आधि-व्याधिरूपी विघ्न बहोत हें, तेसें कर्म तथा कालादिकन्सूंहु विघ्न होयवेको सम्भव हे. तथा स्वरूपसूं, फलसूं ओर साधनसूं हु अल्प हे. ओर भगवत्कृत प्रतिबन्ध सेवासमयमें अवरोधवारो होयवेसूं घातक हे. एसें दोय सदा प्रतिबन्धक माने हें. सो प्रथम त्यागकरिवेयोग्य हे ओर दूसरेमें गति नाहीं. एसें अभिप्रायसूं विवरणमें आज्ञा करी हे जो "एतौ सदा प्रतिबन्धकौ" ये दोय सदा प्रतिबन्धक हें. एसें लौकिकभोग त्यागकरिवेयोग्य हे एसें जतायकें भगवत्कृतप्रतिबन्धको त्याग होय सके नाहीं. ओर ज्ञानमार्गकी स्थितिमें अधिकार न होय एसो मन्दमति होय तब वाकुं फलकी चिन्ता करिके शोक होय ताकी निवृत्तिकेलिये कहत हें जो द्वितीय (भगवत्कृत) प्रतिबन्ध होय तब सर्वप्रकारकरिकें अन्यसूंहु सर्वथा फलके सम्बन्धको अभाव हे तासूं फलविषयिणी चिन्ता छोड़नी. क्यों जो अहन्ता-ममतात्मक जो संसार हे सो सर्वथा अनर्थको मूल हे ताको निश्चय हे.

इतनें भगवत्कृत प्रतिबन्धहोय तब संसारही फल हे दूसरो फल नाहीं हे एसें निश्चयसमजनो॥5॥

भगवत्सेवा करतहु 'आद्य'की——अलौकिकसामर्थ्यकी अनुभूति न होय तब भगवानकु फल देयवेकी इच्छा नाहीं हे एसें जाननो. ओर तृतीयप्रतिबन्ध जो लौकिकभोग हे तामें गृह बाधक हे.

इतनें, "अलौकिकसामर्थ्यरूप फलको अभाव होय तब भगवानकी फल देयवेकी इच्छा नाहीं हे. तब सेवाको आधिदैविकपनो सिद्ध नाहीं होय हे. ओर गृहको परित्याग होय तबही लौकिकभोगको अभाव होय" एसें आज्ञा करी हे ताको अभिप्राय एसो हे जो भगवान् सर्वरीतसूं समर्थ हें ओर अन्तःकरणके सम्बन्धवारे हें तथापि चित्तमें विक्षेपरूप उद्वेग करें तब मानसी सेवा सिद्ध नाहीं होयवेसूं सेवाको आधिदैविकपनो सिद्ध होय नाहीं, तब भगवानमे फल देयवेकी इच्छाको अभाव हे एसें उद्वेगरूप बाधककुं कहिके भोगरूप बाधकमें विचार करत हें जो लौकिकभोगमें गृहही बाधक हे. क्यों जो लौकिक भोग हे सो भगवान्सूं बहिर्मुखता सम्पादन करे हे, सो जब तांई घरमें स्थिति होय तब तांई निवृत्त करो तोहु निवृत्त होय सके नाहीं. तासूंही श्रीमदाचार्यचरणनने निबन्धमें आज्ञा करी हे जो "गृह सर्वात्माकरिकें छोड़नो, सो छूट सके नाहीं तो श्रीकृष्णकेलिये घर जोड़ि देनों; क्यों जो श्रीकृष्ण हे सो अहन्ता-ममतारूप संसारकुं छुड़ायवेवारे हें"॥6॥

अवश्येयं सदा भाव्या सर्वम् अन्यत् मनोभ्रमः॥6॥
तदीयैरपि तत् कार्यं पुष्टौ नैव विलम्बयेत्॥
गुणक्षोभेऽपि द्दष्टव्यम् एतदेवेति मे मतिः॥7॥

इयं=एसी(दातृता=दानेच्छा) अवश्या=कोउको जापे वश नाहींहे एसीहे
भाव्या=भावना करनी
अन्यत्=ओर, सर्वं=सब
मनोभ्रमः=मनको भ्रम हे
(इति=एसो,निश्चयः=निश्चयहे)
तदीयैः=तदीयनकु
अपि=हु, तत्=वो

(भावनं=भावन)कार्यं=करनो
पुष्टौ=पुष्टिमें,
न=नाहीं
एव=ही, विलम्बयेत्=विलम्बकरेंगे
गुणक्षोभे=गुणके क्षोभमें
अपि=हु, एतत्=ये
एव=ही, द्दष्टव्यं=देखनो
इति=एसी, मे=मेरी
मतिः=मति हे

भावार्थ : भगवानकी फलदातृतापे काहुको वश नाहीं. तासों अन्य जो कछु विचार मनमें उपजे ताकों मनोभ्रमही समुझनो॥6॥

भगवत्सम्बन्धी पुरुषनकु हु फल ओर प्रतिबन्धन् को विचार राखनो चहिये. अनुग्रहकरिवेमें श्रीहरि कबहु विलम्ब नाहीं करेंगे. सत्वादि गुणन्करकें जब कोई तरहको विकार उत्पन्न होय तो वा समयहु "प्रभुनेही फलदेयवेमें विलम्ब विचार्यो हे" एसें समझनों एसी मेरी बुद्धि हे॥7॥

टीका : एसें तीन फल तथा तीन प्रतिबन्धको निरूपण करिके अपने सेवकनकु विनको रात्रि-दिवस विचार कर्त्तव्य हे एसो जतायवेकेलिये आज्ञा करत हें जो ये फलत्रयी तथा प्रतिबन्धत्रयी सदा अवश्य विचारणीय हे. विनको जो निरन्तर विचार होय तो भक्तिमार्गमें दूसरो प्रतिबन्ध नाहीं होयगो एसो जतायवेकेलिये कहत हें जो ये तीन फल तथा तीन प्रतिबन्ध छोड़िकें दूसरो सर्व मनको भ्रम हे; अर्थात् दूसरे फलकी ओर दूसरे प्रतिबन्धकी कल्पना करनी सो मनकी भ्रान्तिही हे॥6॥

अब यहां शङ्का होय जो फल तथा प्रतिबन्धको जो उपर निरूपण कियो सो तो जो आपके आश्रित होंय विनकुं घटे नाहीं. क्यों जो विनके देह तथा इन्द्रियादिक सब प्रभुनकु समर्पित हें तासूं सबनकु फलरूप प्रभुको सम्बन्ध हे, तासूं विनकुं तो फल भयोही हे, तो विनकेलिये फल तथा प्रतिबन्ध को निरूपण करनों सो व्यर्थही हे एसी आशङ्का होय तहां कहत हें:

तदीयनकु हु फल तथा प्रतिबन्धादिक की भावना करनी. केवलपुष्टिमें अङ्गीकार होय तब तो फलमें विलम्ब करे नाहीं ओर गुणको क्षोभ होय तबहु साधन येही देखनो एसी मेरी मति हे.

इतनें जिननें ब्रह्मसम्बन्ध कियो हे विनकोंहु फल तथा प्रतिबन्धादिक को भावन करनों. क्यों जो जिनको केवलपुष्टिमें अङ्गीकार होय विनकों तो फल देयवेमें प्रभु विलम्ब करे नाहीं परन्तु आधुनिक जीवनको तो पुष्टिमर्यादामेंही अङ्गीकार होयवेसूं फलसिद्धिमें विलम्ब होय हे. तब प्रेषितभर्तृकाकीसी नांई फलके प्रतिबन्धकी भावना सर्वदा करनीं. तेसें सात्विकादिक गुणकरिकें अन्तःकरणमें क्षोभ होय तबहु फलके प्रतिबन्धादिककीही भावना करनीं. ताकी निवृत्तिकेलिये दूसरे साधन नाहीं करनें एसी मेरी (श्रीवल्लभाचार्यजीकी) मति हे. यहां मेरी मति हे एसें कहिवेको अभिप्राय यह हे जो या विषयमें विचार करत-करत मेरी बुद्धि यहांही निश्चल होयके रही हे. दूसरो साधन मेरी बुद्धिमें नाहीं आवे हे॥7॥

यहां शङ्का होय जो एसें करिवेमें दूषणको आभास होय तब मनमें एसो विचार आवे जो अपनें समर्पणकरिकें तदीय भये तब फल होयवेको सम्भव हे, तासूं प्रतिबन्धादिकको निरूपण कियो सो व्यर्थ हे, एसी शङ्का होय तहां कहत हें:
कुसृष्टिर् अत्र वा काचिद् उत्पद्येत स वै भ्रमः॥

॥ इति श्रीमदवल्लभाचार्यचरणप्रकटितं सविवरणं सेवाफलं ॥

अत्र=यहां
वा=हु
काचित्=कोइ प्रकारकी
कुसृष्टिः=कुसृष्टि
उत्पद्येत=उत्पन्न होय
सः=वो
वै=निश्चयही
भ्रमः=भ्रम हे

भावार्थ : या उक्तिमें जो कोईकुं सन्देहादि उत्पन्न होंय तो वो भ्रममात्र हे॥

टीका : यहां काहु जातकी कुसृष्टि उत्पन्न होय हे सो निश्चय भ्रमरूप होय हे

इतनें, जो तदीय हें विनकुं तो नियमकरिकें फलको सम्भव हे तासूं सत्वादिक गुणन्करिकें मनमें अन्यथाभाव होय सो भ्रम हे. क्यों जो प्रभु स्वतन्त्रइच्छावारे हें एसो निरूपण कियो हे, तासूं प्रभु फल न देंयगे एसी अनुपपत्ति मनमें आवे ताको परिहार तो प्रथमही कियो हे ताकी भावना राखनी॥

॥ इति श्रीवल्लभाचार्यजी विरचित सेवाफलकी
गोस्वामी श्रीनृसिंहलालजी महाराजकृत
व्रजभाषा**टीका** समाप्त भई ॥

॥ पञ्चश्लोकी ॥

(22)

श्रीमहाप्रभूनके अन्यहु उपदेशपरक ग्रन्थनकी न्यांई पञ्चश्लोकीहु सब पुष्टिजीवनके हृदयमें सर्वथा-सर्वदा धारण करि राखिवे जैसो ग्रन्थ हे. याके पांच श्लोकनमे ते साड़े तीन श्लोक तो पुष्टिभक्तिके अङ्गनके उपदेशार्थ हें; अरु डेढ़ श्लोक पुष्टिप्रपत्तिके अङ्गनके उपदेशार्थ हें.

श्रीमहाप्रभूनके मतके अनुसार जीव तीन प्रकारके होत हें: 1.पुष्टिमार्गीय दैवी जीव, 2.मर्यादामार्गीय दैवी जीव ओर 3.प्रवाहमार्गीय आसुरी जीव. तिनको तो वर्णन श्रीमहाप्रभू**ननें** पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद ग्रन्थमें कर्योही हे. तहां तीन प्रकारके मारग/गति, तीन प्रकारके साधन-फल, तीन प्रकारके जीव/देह; अरु तीनही प्रकारनकी तिनकी रुचि/कृतिनको वर्णनहु आपने कियो हे. तोउ भूतलपे जनम लेयके सगरे जीव कबहुंक एक-दूजेके घरनमे हु; तो कबहुंक जो आपुने घरके सगे-सम्बन्धी नाहिं एसेनको हु सङ्ग पायके, मिश्रित भावनको प्रकट करत हें. सो एसे भावमिश्रणके

कारण त्रिविध जीवनकी रुचिमें तथा सामर्थ्यमें हु विविधताको अनुभव होत हे. तातें मर्यादामार्गीय अथवा प्रवाहमार्गीय जीवनके मारग-गति, साधन-फल, जीव-देहस्वरूप; अरु रुचि-कृति आदि सगरे विषयनको निरूपण आपने ताही पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें करि दीनो हे. सो ताकी चर्चा अब यहां करिवेको प्रसङ्ग नाहिं. जे, परन्तु, पुष्टिजीव हें तिनके विविध स्वभाव अरु विविध सामर्थ्य को विचार करिके आपके हृदयमें करुना उपजी जो, कोउ पुष्टिजीव निजमार्गीय होयवेपेहु, स्वभावभेद किंवा सामर्थ्यभेद के कारण पुष्टिभक्तिकी सरणीपे चलिके पुष्टिप्रभूनके अभिमुख जो होय सकत नाहिं तिनकी कहा गति! तासों निजमारगमें निजजीवनको निज पुष्टिप्रभूनके अभिमुख जा काहु सरणीपे चलायके पहुंचायो जाय सके, सो एसो उपाय करिवो चहिये. सो काहेते? जो पुष्टिमारग हे सो तो स्वरूपानन्दके दानार्थ जा जीवको प्रभूनने अङ्गीकार कियो होय ताके लियेही हे. तोउ या मारगमें कबहुंक प्रमेयबल प्रकट करिके प्रभु स्वयं निजजनके सम्मुख प्रकट होत हें; अरु कबहुंक प्रमेयबल प्रकट करत नाहिं. तब जीवकों गुरुकृपातें प्रमाणबलको आसरो लेयके यथासामर्थ्य-यथोपदेश भक्तिमारग अथवा शरणागतिमारग की सरणीकों पकरिके पुष्टिप्रभूनके अभिमुख अग्रसर होंवनो परत हे. तासों श्रुति-सूत्र-गीता-भागवत-पाञ्चरात्रादि प्रमाणनमे भक्ति अरु शरणागति के जोइ-जोइ अङ्ग, स्वरूपघटक बताये हें, तिनकों भक्ति-प्रपत्तिके प्रामाणिक अरु अवश्यकर्तव्य मानिके—— “वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेन तु, क्रियमाणे न धर्मः स्याद् अतस्तस्मान् न मोचनं ... एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तं गतिसाधनसंयुतम्” (स.नि.223-256)वचननके अनुसार शास्त्रविहित अङ्गनकी मर्यादाको तो यथाशक्ति निर्वाह करनो परन्तु प्रधानता तो शास्त्रप्रमाणित पुष्टिप्रभूनके प्रमेयबलको हृदयमें विश्वास राखिवेकी आवश्यक मानी हे. तासों भक्ति अरु प्रपत्ति के शास्त्रप्रमाणित-शास्त्राविहित स्वरूपघटक अङ्गनकीहु मुख्यता जाननी. सो काहेते? तहां कहत हें जो पुष्टिभक्तिको स्वरूप श्रुत्यादि सकल शास्त्रन्सों सिद्धही हे, यामें तो कोउ सन्देह नाहिं, परि वर्णाश्रमधर्म, नित्यकर्म, यागादि, नैमित्तिककर्म, पूजन-व्रत-श्राद्ध इत्यादिक कर्तव्यनकी न्यांइ “पुष्टिभक्ति करो”एसी आज्ञा शास्त्रनमे मिलत नाहिं. याहीते “भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः” (पु.प्र.म.2) वचनमें शास्त्रनमे भक्तिमार्गके निरूपणतें पृथक् पुष्टिमार्गकी परोक्ष सिद्धि जताय दीनि हे.

तातें पुष्टिमार्गीय भक्ति अरु प्रपत्ति के स्वरूपघटक अङ्गनमे निष्ठाधिक्यको उपदेश करनकों अब कहत हें:

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः॥1॥

गृहं=घर
सर्वात्मना=सब तरहसों
त्याज्यं=त्याग करिवेयोग्य
(भवति=होत हे)तत्=वो
त्यक्तुं=छोडिवेकुं
न=नाहीं
शक्यते=शक्य बने
चेत्=यदि,
तत्=वो
कृष्णार्थं=कृष्णके अर्थ
प्रयुञ्जीत=आछीरीतिसोंलगावनो
(यतः=क्यों)
कृष्णः=श्रीकृष्ण
संसारमोचकः=संसारसों छुडायवेवारे
(भवति=होत हें)

भावार्थ : घर, वैसे तो, सर्वथा त्याग करिवे लायकही होत हे; परन्तु सब कोउ घरकों तजि सकत नाहिं. तासों कृष्णकी सेवामें घरकों लगावनो. सो काहेते? जो निजगृहमें कृष्णस्वरूपकों पधारयके जो जीव तिनकी सेवामें तत्पर होत हे, ताकी संसारासक्ति छुड़ायके प्रभु ताकों निजस्वरूपासक्तिरूपा पुष्टिभक्तिको दान करत हें.

टीका : या उपदेशमें एक शङ्का उठत हे जो या कारिकामें कहा पुष्टिभक्तके घरकी हेयताको तत्त्वोपदेश हे अथवा पुष्टिभक्तनको घर तजिवेको कर्तव्योपदेश हे? घरको स्वरूपही जो त्याज्य होय तो एसे घरमें भगवत्स्वरूपकी सेवा काहेकों करनी? जो घरको त्याग सबही पुष्टिजीवनको प्रथम कर्तव्य होय तो जिन जीवन्सों त्याग करिवो न बनि आवे तिनकोंही अनुकल्पतया भगवत्सेवा कर्तव्य होयगी. तब तो गृहत्याग मुख्य

कर्तव्य भयो अरु भगवत्सेवा गौण कर्तव्य. तब तो भक्तिमारगतें त्याग-वैराग्य-संन्यासमार्गकी श्रेष्ठता काहे न सिद्ध होयगी?

तहां समाधान यह जाननो जो घरकों तजिवेकी यहां आज्ञा तो हे नाहिं; तासों या वचनकों कर्तव्योपदेश तो न जाननो. सो घरके स्वरूपको निरूपणही यहां अभिप्रेत होयवेतें या वचनको स्वरूप तो तत्त्वोपदेशकोही हे:जो घर संसारासक्ति बढायवेवारो होयवेते जीवात्माकों भवसागरमें डुबायवेवारो हे.

श्रीमहाप्रभूनको पुष्टिजीवनके उद्धारकी चिन्ता जब होय रही ही, तब पुष्टिप्रभुने साक्षात् प्रकट होयके पुष्टिजीवनको ब्रह्मसम्बन्धके दानकी आज्ञा दीनी. तासों कृष्णसेवाके निजाधिकारकी सिद्धि ब्रह्मसम्बन्धते होत हे. तेसेइ ममतास्पद सकल गृह-धन-धान्य-वस्त्र-पुत्र-कलत्रादि
-परिजननको हु भगवत्सेवामें विनियोग करि सके एसो जीवको अधिकार ब्रह्मसम्बन्धते सिद्ध होत हे. पुष्टिप्रभू**ने** एसोही वचन श्रीमहाप्रभूनको दियो. तातें स्वरूपतः त्याज्यहु घर आत्मनिवेदनकर्ताके सेव्य स्वरूपकी सेवामें विनियुक्त होयवेपे श्लाघ्य बनि जात हे, एसो अभिप्राय यहां जाननो. सिद्धान्तरहस्य ग्रन्थमें ताकोही उदाहरण:रथ्योदकके गङ्गाप्रवाहमें मिलि जायवेते ताकी गङ्गोदक तुल्य पवित्रताके रूपमें दीनो हे. तासों आत्मनिवेदीकों काहु प्रकारकी चिन्ता न करनी.

कृष्णकी सेवामें घरको विनियोग करिवेते घरहु संसारासक्तिवर्धक न होइ भक्तिवर्धक होय सकत हे. तहां सावधानि यह बरतिये जो सिद्धान्तमुक्तावलीमें कहे गये प्रकारसों आपुनेही तनु-वित्ततें कृष्णसेवा निभानी चहिये. अर्थात् भगवत्सेवार्थ न तो अन्य काहुको धन लेनो अरु न अन्य काहुकों धन देनो. आपुने सगे-सम्बन्धी अथवा इष्टजनन् मेंहु जो स्वमार्गीय होंय तिनकोंही अपने सेव्य स्वरूपके दर्शन कराने, सगरे गामकों बुलाय भगवत्सेवाको प्रदर्शन न करनो. अन्यथा घरको तो कृष्णसेवामें निष्काम भक्तिरूप समर्पण-विनियोग भयो नाहिं; उलटे श्रीकृष्णको समर्पण-विनियोग धन संमान प्रतिष्ठा के क्षुद्र उपार्जनमें भयो जानिये. तासों पाषंड अरु देवलकता कोहु दोष लगत हे. श्रीमहाप्रभू**ने** “कृष्णः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते गृहार्थं तं प्रयुञ्जीत गृहं भक्तिनिवारकम्” तो कह्यो नाहिं, तातें भगवत्सेवाकों आजीविका अथवा पदप्रतिष्ठा कमायवेको साधन बनायवेवारेनको आसुरी जीव जाननो॥1॥

भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें पुष्टिभक्तिके बीजभावसूं संपन्न जीवके प्रथम तो दोय प्रकार बताये हें:(1)दृढबीजभाववारे (2)अदृढबीजभाववारे. तामें अदृढबीजभाववारे जीवनकेहु पाछे दोय प्रकार बताये हें. तिनमें प्रथम अव्यावृत्त अरु द्वितीय व्यावृत्त. तहां जा जीवके भीतर 'पुष्टिभक्तिको बीजभाव' कहेते श्रीकृष्णमें निष्काम अचंचला भक्ति सर्वातिशायिनी सिद्ध होय गई होय, तिनकों तो भगवत्स्वरूपानुसन्धान अरु भगवल्लीलानुसन्धान हृदयमें निरन्तर बन्यो रहत हे. ताही कारणसों, गृह-धन-परिजनादिकी कछु अपेक्षा भक्तिमें रहत नाहिं. तासों तिनके कारज तो घर त्याज्यहु नाहिं अरु आवश्यकहु नाहिं. अरु अदृढबीजभाववारेनमे जो जीव अव्यावृत्त होत हें तिनकों तो कृष्णसेवाके सच्चे अधिकारी जानने. सो काहेते? जो "बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः" आज्ञा तहां प्रमाण हे. निज गृहमें रहिके जो भगवत्सेवाकथामें तत्परता निभावत हें, तिनके तो बीजभावके दृढ होय जायवेपेहु, घरके भगवत्सेवोपयोगी होयवेते, तामें हेयताबुद्धि उपजत नाहिं. तातें गृहत्यागहु आवश्यक नाहिं——तेसेइ भगवद्व्यसनके रसोन्मादमें अनजाने गृहत्याग होय जातो होय तो कछु बाधकहु नाहिं. जो अदृढबीजभाववारे जीव व्यावृत्त होत हें, तिनकों आरंभमें भगवत्सेवा अथवा गृहत्याग इन दोनों बातनमे ते काहु एककी उतावली करनी नाहिं. सो काहेते? जो एसे जीवनके काज श्रीमहाप्रभूनने श्रवण-कीर्तन-स्मरण—— अर्थात् 'सेवायां' कल्प नाहिं परन्तु 'कथायां' कल्प ——की प्रधानताको उपदेश दीनो हे. तातेंही श्रवणादिद्वारा एसे जीवनकी श्रीकृष्णरुचि जब वृद्धिंगत होयके भगवदासक्तिको रूप धारण करि लेत हे, तब तिनकों गृहारुचि होत हे, एसी आज्ञा आप करत हें. गृहारुचि सिद्ध होयवेपे गृहस्थकों गृहस्थित सगरी वस्तु तथा पुत्र-कलत्रादि सगे-सम्बन्धीनके विषे "अपनी भगवद्भक्तिमें ये सब कछु बाधक हें तासों मेरे कौन कामके!" एसो भास होत हे. एसो भाव हृदयमें उठिवेके बादहु जो जीव घरको त्याग करत नाहिं, ताके भीतर गृहासक्ति पुनः प्रबलहु होय सकत हे. तासों एसे जीवनको श्रीमहाप्रभु गृहत्याग करिके भगवदीयनके सङ्ग करिवेकी जो आज्ञा देत हें. तहां यह शङ्का होत हे जो 'भक्ति'को अर्थ या मारगमें माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहही मान्यो हे, सो ये दोउ जा जीवमें सिद्ध भये तो कृतकृत्यता भई जानिये, तासों गृहारुचि यद्वा गृहत्याग को कहा प्रसङ्ग? तहां यह जाननो जो उल्लिखित भक्तिको स्वरूप भक्तिकी साधन-फलावस्था उभयसाधारण स्वरूप हे. एसी भक्तिकोहु चरमोत्कर्ष तो भगवानको भक्तमें अरु भक्तको भगवानमे

निरोध सिद्ध भयेते मान्यो हे. तासों पुष्टिजीवनको प्रपंचविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिरूप निरोधकी सिद्धि होय ताही हेतुसों श्रीमहाप्रभु “गृहं सर्वात्मना त्याज्यं”अंशसूं निरूपित गृहत्याग पक्षकों भारपूर्वक निरूपण करत हें. सो ताकेही अनुसन्धानमें अब आगे कहत हें:——

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः सङ्गस्य भेषजम्॥2॥

सङ्गः=सङ्ग
सर्वात्मना=सब तरहसूं
त्याज्यः=त्याग करिवेयोग्य
(भवति=होय हे)सः=वो
त्यक्तुं=छोडनो, न=नहीं
शक्यते=शक्य होय, चेत्=यदि
सः=वो (सङ्गः)
सद्भिः=सत्पुरुषके, सह=साथ
कर्तव्यः=करनो चहिये
(यतः=क्योंके)
सन्तः=सत्पुरुषको, सङ्गस्य=सङ्ग
भेषजं=स्वास्थ्यकारी(भवति=होतहे)

भावार्थ : सङ्ग तो काहुको न करिवोही उचित हे परन्तु परसङ्ग छूटतहु नाहिं; तातें यदि सङ्ग करनोही परतो होय तो सच्चे भगवदीयनको ही करिवो उचित हे.

टीका : अदृढ बीजभाववारे जे कोउ पुष्टिजीव होंय तिनकों भगवत्सेवापरायण भगवदीयनके साथ भगवन्नाम-स्वरूप-लीलाको श्रवण-कीर्तन-स्मरण करनो चहिये. याहीको ‘कथापक्ष’ कहत हें. कथापक्षमें प्रारंभमें गृहत्याग उचित मान्यो नाहिं; परन्तु अन्तमें बीजभाव दृढ होयवेपे ताको कर्तव्योपदेश दियो हे. तहां आरंभिक अवस्थामें अथवा बीजभावके दृढ होयवेके पश्चात्तु जिनको सङ्ग कोउ करिवो चाहत हे, तिनकी परीक्षा करनी के न करनी? सो काहे पूछ्यो जात हे? तहां प्रश्नाशय यह जाननो जो काहुकी परीक्षा करके सङ्ग करिवेकी कहत हो सो शक्य नाहिं. सो काहेते जो परीक्षा

करिके जाको सङ्ग करनो होय ताके गुणदोषनको विचार तो करिवोही परत हे. तहां भागवतमें परदोषदर्शनकी निंदा——"गुणदोषदृशिर्दोषः गुणस्तूभयवर्जितः" (भाग.11।19।45) या वचनमें कीनि हे. अर्थात् परायेके गुणदोषनको देखनो सो तो दोष हे अरु सांचो गुण तो परकीय गुणदोषनको न देखिवोही हे. याको कहा समाधान?

तहां यह जाननो जो गुणदोषके विचार बिना हर कोउको सङ्ग करिवेते, जो दोष अपनेमें न होंय वेहु, सङ्गदोषके कारण अपने भीतर प्रकट होय सकत हें. तातें श्रीमहाप्रभु तो ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेयवेमेंहु——"कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात्" (स.नि.227) या वचनमें गुरुहु के परीक्षणकी आज्ञा करत हें; तहां सामान्य भगवदीयनके परीक्षणमें दोषको कहा विचार? तासूंही शिक्षापत्रमें श्रीहरिरायजी आज्ञा करत हें:

यो वदत्यन्यथावाक्यम् आचार्यवचनाद् जनः।
संसृतिप्रेरको वापि तत्सङ्गो दुष्टसङ्गमः॥
यश्च कृष्णे रतिं नित्यं बोधयत्यप्रयोजनाम्।
निरपेक्षः सात्त्विकश्च तत्सङ्गः साधुसङ्गमः॥
एवं निश्चित्य सर्वेषु स्वीयेष्वन्येषु वा पुनः।
महत्कुलप्रसूतेषु कर्तव्यः सङ्गनिर्णयः॥

अर्थात् श्रीमदाचार्यचरणनके वचनन्सूं जो कोउ अन्यथा वचन उच्चारत होय अथवा संसारासक्ति बढायवेवारी बात करतो होय तो एसे जनके सङ्गकों दुष्टसङ्ग करि जाननो. जो कोउ स्वयं सात्त्विक होय अरु निष्काम=निष्प्रयोजन कृष्णरतिको उपदेश स्वयं निरपेक्ष होयके करत होय, ताको सङ्ग साधुसङ्ग=सत्सङ्ग करि जानिये. या बातको निर्धार मनमें दृढ राखिके आपुने सगे-सम्बन्धीनको अथवा अन्य कोउनको अथवा आचार्यकुलके बालकनको भी सङ्ग करिवेते पूर्व सबहिनको परीक्षण करनो आवश्यक हे. तहां शङ्का होत हें जो भागवतके वचनकी कहा गति जानिये? तहां यह समाधान जाननो जो उत्कट वैराग्यके साधककों लक्ष्यमें राखिके दियो गयो ये उपदेश हे. स्वमार्गमें रूक्ष वैराग्यकी तो कछु महत्ता नाहिं सो काहेते? जो एसो वैराग्य कहा कामको जाते जीवके भीतर भक्ति दृढ न होइ! तातें भागवतको वचन यहां बाधक

नाहिं. तातेंही श्रीमहाप्रभु आज्ञा करत हें जो “अखिल जगत्में सद्बुद्धि राखिके ताको सेवन सत्पुरुष तो करत नाहिं. सो काहेते? जो कहुं-कहुं भ्रांतिहु के कारण असद्विषयमें सद्बुद्धि होय जात हे. तातें समझदार तो कृष्णकोंही भजत हें”(वेदस्तुतिसुबो.23) तासों जेसे असद्विषयमें भ्रांतिवश सद्बुद्धि होय सकत हे तेसेही असत्पुरुषमेंहु सत्पुरुष होयवेकी बुद्धि भ्रांतिवश होय सकत हे. तासों सङ्ग करिवेमें सदसद्विवेक अत्यावश्यक हे.

भगवान्हु गीता(2।62-64)में आज्ञा करत हें जो सङ्गके कारण जीवके भीतर कामना प्रकट होत हे. कामनाके कारण क्रोध, तातें संमोह, तातें स्मृतिविभ्रम, तातें बुद्धिनाश; अरु बुद्धिनाश भयेते दुर्गतिकों पाई नाश होत हे. तातें सङ्गमें सावधानि तो आवश्यक हेही. तातेंही श्रीमहाप्रभु भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें आज्ञा करत हें जो भगवत्सेवापरायण भगवदीयनको हु सङ्ग एसी चातुरीसों करनो जो इतनो समीपहु तिनके न जानो जो उनके कछूक दोषनको रंग स्वयंको लगि जावे; अरु इतनो दूरहु तिनते न रहनो जो उनके भक्तिभावकोहु रंग स्वयंकों न लगि पावे! यातेही जलभेद-पंचपद्यानि ग्रन्थनमे भगवद्गुणगानके कीर्तन किंवा श्रवण करिवेवारे केसे वक्ता अथवा केसे श्रोता के सङ्गको कहा-केसो स्वरूप हे सो उपदेश दीनो हे. तहां वित्तार्थ/वृत्त्यर्थ भगवत्सेवा किंवा भगवत्कथा करिवेवारेनके मुखते भगवन्नामश्रवण किंवा भगवत्कथाश्रवण कबहुं पावनकारी होत नाहिं, तासों एसे उपदेशकनके अथवा कथाकारनके सङ्गकों असत्सङ्गही जाननो.

यहां शङ्का होत हे जो जा सत्सङ्गमें इतनी सावधानि राखनी परे ता सत्सङ्गके करते तो कोउको सङ्ग न करिवोही श्रेयस्कर क्यों नहीं मानत हो? तहां ये समाधान जाने जो सुबोधिनी(10।3।37)के——“सत्सङ्ग अरु भागवत जो हें सो तो भगवानके आधिभौतिक चरणारविंद हें, ज्ञान अरु भक्ति आध्यात्मिक चरणारविंद; तेसेई कृपा करिके प्रकट दर्शन देत स्वरूपके चरणारविंदनको आधिदैविक जानने” या वचनको आशय विचारेते सत्सङ्ग जो हे सो तो भगवानको ही आधिभौतिक चरण हे. तातें भवभयहारी अभीष्टकारी तीर्थास्पद अरु भवसागरते तारिवेवारे आधिदैविक चरणारविंदनके समान माहात्म्यशाली सत्सङ्गहु कों जानिये. तातें बाधक दुःसङ्गके बारेमें सावधानि राखिवेके उपदेशको अभिप्राय सर्वविध सङ्गनके त्याग करिवेको न

जानिये; परन्तु असत्सङ्गकी भक्तिमार्गमें बाधकताके स्वरूपको उपदेश देयवेकोही जानिये.

तहां शङ्का उठत हे जो सर्वकाम मोक्षकाम अकाम किंवा भगवत्काम सबहि प्रकारके जीव भगवद्भजन करिवेके तो अधिकारी हें. तातेंही भगवान्हु कहत हें जो "न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते, भर्जिताः क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते" (भाग.10-22-26) जेसे भूंज्यो के उबाल्यो धान बीज बनिके पुनः उगि सकत नाहिं, तेसेई भगवद्विषयक कामते क्रोधादिकी कोउ दुर्वासना अंकुरित होत नाहिं. भगवच्चरणारविंदको सङ्ग भगवत्कामको तो उद्बोधक होय सकत हे; परन्तु भगवत्कामते अन्य काहु प्रकारकी दुर्वासना प्रकट होत नाहिं. सो सत्सङ्गहु भगवान्को आधिभौतिक चरणरूप होयवेते भगवत्कामको तो उद्बोधन करि सकत हे; परन्तु ताकरि अन्य कोउ दुर्वासना प्रकट होत नाहिं. तातें सत्सङ्गको सङ्गरोगकी औषधि='भेषजं' जाननो. अतएव सङ्ग करिवेते पूर्व सदसद्को विवेक आवश्यक होत हे, जेसे निदान अरु चिकित्सा तें पूर्व सांचे चिकित्सककी खोज. अन्यथा ऊपर जताये दुर्गुणवारे मनुष्यनके दुःसङ्ग पाइके सकल दुर्वासना हृदयमें भरि जायवेते जीवात्माको विनाश ध्रुव हे. तासों सत्सङ्गकी आवश्यकताकों देखिके श्रीमहाप्रभु आज्ञा करत हें:"बाधसम्भावनायां तु नैकांते वास इष्यते, हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः"(भ.व.10)

एसे "भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः, सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः"(भाग.10।51।54) वचनमें निरूपित सत्सङ्गके माहात्म्यको उपदेश भयो. तासों यह जतायो जो भगवत्सेवा-कथाकीर्तनस्मरणकी न्यांइ सत्सङ्गहु भगवत्परिचर्या-श्रवणद्वारा चित्तकों भगवदेकतान करिवेको एक उपाय हे॥2॥

एसे "गृहं सर्वात्मना त्याज्यं" अंशसों निरूपित त्याज्य गृहके स्वरूपके विचारतें भक्तके कर्तव्यरूप सत्सङ्गको उपदेश देयके ताके विकल्परूप "कृष्णार्थं तत्प्रयुंजीत"अंशसूं निरूपित पक्षको उपदेश अब आगेकी कारिकामें देत हें. तहां शङ्का होत हे जो 'विकल्प' क्यों कहत हो? कहा गृहत्यागपूर्वक सत्सङ्ग अरु गृहस्थितिपूर्वक भगवत्सेवा इन दोनों कल्पनमे ते जा जीवकों जो रुचे सो करनो एसो आशय 'विकल्प'को जानिये; अथवा भगवत्सेवा घरमें बनि आवे तो गृहस्थिति अथवा न बनि आवे तो बीजभावके दृढ भये पाछे गृहत्याग, एसे इन दोनों अवस्थानमे

अधिकारविवेक राखिके गृहस्थिति किंवा गृहत्याग कोही केवल विकल्प हे. तहां जिज्ञासा होत हे जो यामें अन्तर कहा पर्यो? तहां समाधान यह जानिये जो प्रथम कल्पमें तो भगवदीयनके साथ सत्सङ्ग करो के भगवत्सेवा करो तामें कछु अधिकारतारतम्य के फलतारतम्य सिद्ध न होयगो. द्वितीय कल्पमें भगवत्सेवाकी मुख्यता राखिके तदनुकूल घरमें स्थिति अथवा तत्प्रतिकूल घरके त्यागको उपदेश स्वीकारवेपे:गृहस्थितिपूर्वक भगवत्सेवा मुख्य कल्प सिद्ध होत हे; अरु गृहत्यागपूर्वक सत्सङ्ग गौण कल्प अर्थात् अनुकल्प. इनमें कौन सो आशय प्रामाणिक जानिये?

तहां पूर्वपक्षमें यह कह्यो जात हे जो (1)भक्तिवर्धिनीमें "सेवायां वा कथायां वा" कह्यो हे ता हेतुतें, (2)सत्सङ्गकों भगवच्चरणारविंदके तुल्य मान्यो हे ता हेतुतें, (3)"स्त्रीणां स्त्रीसंगिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्, क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेद् मामतन्द्रितः, न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्संगिसङ्गतः"(भाग.11।14।29-30) वचनके अभिप्राय विचारेतेहु स्वरूपतः गृहकों तो सर्वथा हेयही मान्यो हे ता हेतुतें; तेसेइ (4)"न रोधयति मां यागो...यथावरुंधे सत्सङ्गो सर्वसङ्गापहो हि मां सत्सङ्गेन हि दैतेया...बहवो मत्पदं प्राप्ताः...ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गाद् मामुपागताः" (भाग.11।12।1-7) वचनके विमर्श कियेतेहु भगवत्सेवा अरु भगवदीयसङ्ग के बीच कोउ तारतम्य लगत नाहिं.

यहां उत्तरपक्ष यों कह्यो जात हे जो (1)"सेवायां वा कथायां वा" वचनमें भगवत्सेवाकथाको समुच्चय उत्तमपक्ष मान्यो जात हे अरु भगवत्सेवा अथवा भगवत्कथा में ते कोउ एकको अवलंबन मध्यमपक्ष. तहांहु इतनो तो अवश्य दृढ करि हृदयमें राखनो जो सेवा-कथाको अवलंबन स्वगृहमें शक्य होय तातें उत्तम कहा होय सके? परन्तु जो शक्य न होय तो भगवत्कथार्थ घरमें रहत अथवा घरमें भगवत्सेवा न होयवेपे बीजभावके दृढ भयेते घरको त्याग करिकेहु भगवदीयनके सङ्ग भगवत्कथाके अवलंबनको उपदेश हे. (2)स्वमार्गीय सेवासिद्धान्तके अनुसार सेव्य स्वरूप भगवानको जड़ प्रतीक नाहिं सो क्यों? जो ब्रह्मवादके अनुसार साक्षात् स्वरूपही मान्यो जात हे. तातें निजसेव्य स्वरूपके चरणारविंदनको तो आधिदैविक जानिके दृढाश्रय राखनो. सत्सङ्गकों श्रीमहाप्रभु आधिभौतिक चरणके रूपमें बरने हें. (3)गृहस्थित पुरुषके काज स्त्रीसङ्ग; उपलक्षणतया स्त्रीके काज पुरुषसङ्ग को दोष महान् बाधक तो मान्यो गयो हे परन्तु यथाभाव कोउ उत्तमाधिकारी भगत्सेवामें

सहयोगीके भावसों, तो कोउ मध्यमाधिकारी त्रिवर्गसाधनमें सहयोगीके भावसों, तो कोउ अधमाधिकारी कामोपभोगमें सहयोगीके भावसों; तो कोउ अधमाधमाधिकारी केवल धनलोलुप होयके परस्पर स्त्रीसङ्ग अथवा पुरुषसङ्ग घरमें करत हें. तासों स्त्रीपुरुषसङ्गकी निंदा "सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते, क्रोधाद्भवति संमोहः..."वचनके अनुसन्धानमें कही बात हे अन्यथा नहीं. तासोंही भागवतमें कह्यो हे जो "तावद् रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहं, तावन्मोहोंऽघ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः"(भाग.10।14।36) तातें भगवत्सेवापरायण भगवदीयकी गृहस्थितिकों श्रीमहाप्रभु निबन्धमें "मुक्तितेंहु उत्तम" कही बखानत हें. सो आधिदैविक साक्षात् प्रभूनके चरणारविंदनको दृढाश्रय राखिवेवारेनके काज गृहके स्वरूपतो हेय होयवेको उपदेश न जाननो. अन्यथा "शावौ करौ नो कुरुतः सपर्याम्"(भाग.2।3।21) वचनमें भगवत्सेवारहित हाथनको शवहस्त जेसे अपवित्र गिनाये हें. तातें जेसे गृहत्यागको बखान करत हो तेसे योगादि उपायन्तें देहत्यागकेहु बखान क्यों नाहिं करत? तातें कहा सिद्ध होत हे? तहां यह जाने जो जेसे गेहको तेसेही देहकोहु स्वरूप हेयही कह्यो हे. तासों हेय होवेते जेसे गृहत्याग करिके सत्सङ्गकों धावत हो तेसे देहसों साध्य सत्सङ्गकोंहु छांडिके अनशनादि कठोर व्रतद्वारा मुक्ति पायवे काहेकों न धावनों? जो कहो के मुक्तितें भक्तिकों श्रेष्ठ मानी हे; तो सत्सङ्गतें तो केवल श्रवणेन्द्रिय-अन्तःकरण-जीवात्मामेंही भक्ति प्रकट होत हे——तहां भगवत्सेवाके कारण तो देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण आत्मा तथा सकल आत्मीय पदार्थनमे भगवत्सङ्गवशात् भगवत्काम उद्बुद्ध होय सकत हे, याते श्रेष्ठ कहा? (4) तेसेइ भागवत-एकादशस्कंधके "न रोधयति..." वचनमें सत्सङ्गकी श्रेष्ठ साधनताको निरूपण कियो हे श्रेष्ठ फलरूपता किंवा इष्टता को नाहिं. पुष्टिजीवके काज साचो फल तो भगवत्स्वरूपसेवनही मान्यो हे:"भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः नान्यथा भवेत्"(पु.प्र.म.12). तासों पूर्वपक्ष दोषयुक्त हे. एसे जो भगवत्सेवा अरु सत्सङ्ग के बीच विकल्प मानत हें; अथवा गृहत्यागको अनुकल्प भगवत्सेवाको मानत हें सो तो सर्वथा मूलवचननमे अनभिप्रेत आशय हे. तासों यहां निष्कर्ष यह जानिये:गृहस्थितिपूर्वक भगवत्सेवारूप मुख्यकल्पको अनुकल्पही गृहत्यागपूर्वक सत्सङ्ग हे; अथवा व्यवस्थित विकल्प जाननो. सो कहा? तहां कहत हें जो भगवत्सेवा निजगृहमें शक्य होय तो सो उत्तम अरु भगवत्सेवा शक्य न होय तो बीजभावके दृढ भये पाछे गृहत्यागपूर्वक सत्सङ्गहु उत्तम. सो एसे सत्सङ्गको निरूपण तो भयो; अब गृहस्थितिपूर्वक भगवत्सेवाको उपदेश अर्थात् "कृष्णार्थं तत्प्रयुंजीत कृष्णः संसारमोचकः"अंशसूं निरूपित पक्षको उपदेश करत हें:

अनुकूले कलत्रादौ विष्णो: कार्याणि कारयेत्॥
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत्॥3॥
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यत: कृष्णबहिर्मुखा:॥

कलत्रादौ=पत्नि आदि
अनुकूले=अनुकूल होंय(सति)
विष्णोः=विष्णु सम्बन्धि
कार्याणि=कार्य
कारयेत्=करावने
उदासीने=उदासीन होंय(सति)
स्वयं=खुद (कुर्यात्=करे);
प्रतिकूले=प्रतिकूल होंय (सति=तो)
गृहं=घरकुं, त्यजेत्=छोडे
तत्त्यागे=विनको त्याग करिवेमें
दूषणं=दोष/अपराध
न अस्ति=नाहीं हे
यतः=क्यों (ते कलत्रादयः)
कृष्णबहिर्मुखाः=कृष्णसूं बहिर्मुख हें

भावार्थ : पत्नी-बहु-बहेन-बेटी पुत्र-पिता-भाई आदि बन्धुबांधव तेसेइ नोकर-चाकर आदि घरमें रहिवेवारे जे कोउ लोग भगवत्सेवानुकूल होंय तो तिनसों विष्णुकार्य=भगवत्सेवा-परिचर्या करावनी. तिनमें जो कोउ उदासीन होय तो ताकों भगवत्सेवार्थ कोउ कार्य न सोंपनो, स्वयंही करि लेनो. तिनपे स्वयं कछु करावत न होय तोउ भगवत्सेवाको विरोध करि जे कोउ प्रतिबन्ध डारत होंय तिनको परित्याग करनो. एसो करत जो कछूक दोष लगे तो कहा करनो? तहां आज्ञा करत हें जो प्रभून्ते बहिर्मुख जीवनको परित्याग करिवेमें काहु प्रकारको शास्त्रीय अपराध होत नाहिं॥3॥

टीका : यहां शङ्का उठत हे जो घर-परिवारके लोग भगवत्सेवानुकूल हें किंवा नहीं ताको ज्ञान केसे पाइये? तहां यह समाधान जानिये जो सर्वनिर्णय निबन्धमें श्रीमहाप्रभु कहत हें:——

विक्षेपाद् अथवाऽशक्त्या प्रतिबन्धादपि क्वचित्॥
अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादिसम्भवे॥

गृहस्थानामपि पूजायां पञ्चदोषसम्भवे...विक्षेपादिति, स्वतःप्रवृत्तिरहितानि इन्द्रियाणि बलाद् भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्शितानि. जरया व्याधिभिर्वा यदा शक्त्यभावो, लोका वा प्रतिबन्धं कुर्वन्ति, स्वस्य वा परम आग्रह उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति, लोकानां वा पीडां कुर्यात्; तत्र पूजा त्यक्तव्या. तदा अन्यत्रापि तथात्वे परदेशे शून्यदेवालये पूजा विधेया. तत्रापि दोषसम्भवे...तदा यत्रैव गत्वा सेवा संपत्स्यते तत्रैव सेवा कर्तव्या(स.नि.का.प्र.247).

इन विक्षेप अशक्ति प्रतिबन्ध अत्याग्रहप्रवेश अरु परपीड़ा रूप पांच दोषनकी व्याख्या ग्रन्थमेंतेही देखि लेनी. सो जिनमें ये पांच दोष न होंय तिनको भगवत्सेवार्थ अनुकूल जाननो. ये दोषहु न होंय अरु रुचिहु प्रकट न करत होंय तो तिनकों उदासीन जाननो. अरु भगवत्सेवामें जे बाधक होंय तिनकों तो त्यागही करनो. परन्तु काहुते सोहु न बनि आवे तो ताकों तो आपुही अन्यत्र कहुं जाय बसनो. सो काहेते? जो भगवत्सेवामें बाधक होय ताकों वैष्णव न जानिये अरु जो वैष्णवधर्मको विरोध करत होय ताके सङ्गकों तो दुःसङ्गही जाननो.

कछूक पाखंडी लोग यहां अकांडतांडव करत हें जो या श्लोकमें—— अनुकूल जे पत्नी आदितें भगवत्सेवा कराय लेवेकी छूट श्रीमहाप्रभू**नने** दीनि हे, तातें यह सिद्ध होत हे जो पति अथवा पिता के वित्तकों लेयके पत्नी अथवा पुत्र आप-आपुने तनुन्तें=देहन्तें भगवत्सेवा करत होंय, तामें सिद्धान्तमुक्तावलीकी 'तनुवित्तजसेवा'की आज्ञाको लेशङ्का त्र बाध होत नाहिं. तासों कहा सिद्ध भयो? जो जेसे पतिकी वित्तजातें पत्नीकी तनुजा सेवामें सिद्धान्तबाध नाहिं; तेसेही वैष्णवनकी वित्तजातें गोस्वामिबालकनकी तनुजा सेवामेंहु कोउ सिद्धान्तबाध माननो नाहिं. तहां यह जाननो जो पतिपत्नी अथवा पितापुत्रादि में घरसंपत्तिको विभाजन जो भयो न होय तब तो जो घरकी संपत्ति होय तहां सबनको अविभक्त स्वत्व रहत हे. तासों पति किंवा पिता के द्रव्यतें पत्नी किंवा संतती भगवत्सेवा करत होंय तामें लेन-देनको व्यवहार भयो मान्यो जात नाहिं. अब कोउ वैष्णव अरु गोस्वामिबालक कीहु संपत्ति परस्पर अविभक्त होय तो तब तो एकदूजेतें द्रव्यकों लेयके भगवत्सेवा करवेमें लेन-देनको व्यवहार भयो न

जानिये परन्तु सो न होय तो लेन-देनको व्यवहार मानिवो परत हे. तहां भगवत्सेवार्थ परद्रव्य लेयवेतें तनुवित्तजा सेवाको स्वरूपविघात अरु सेवाके पश्चात् सेवोपभुक्त सामग्रीकों अपने उपभोगार्थ लेयवेपे देवलकताको महापातित्यकारी दोषहु लगि जात हे.

दूसरे कछूक पाखंडी लोग एसोहु विधान करत हें जो ब्रह्मसम्बन्ध लेय लेवेके पश्चात् अहन्ता-ममता तो राखनी उचित नाहिं, तातें कहा तो गोस्वामिबालकनको धन अरु कहा वैष्णवनको धन!सो काहेते जो——प्रभूनको समर्पित सब कछू प्रभूनको ही होय जात हे, तातें जहां अपने-परायेकी भेददृष्टिही राखनी योग्य नाहिं तहां परद्रव्यतें सेवा न करिवेकी बातको अर्थ कहा? एसे पाखंडवचनके निरसनार्थ एसे पूछनो जो केवल द्रव्यके बारेमेंही अहन्ता-ममता त्यागि देवेकी कहत हो किंवा सबही विषयनमे ? जो कहो के सबही विषयनमे अहन्ता-ममता त्याग दीनि, तो परपति-परपत्नीकोहु भेदभाव भुलाय दीनो कहा? जो कोउ 'हां' कहे तो कहा गोस्वामिबालकनकी बहुजी-बेटीजी वैष्णवके घर जाय सके अरु वैष्णवकी बहुबेटी गोस्वामिबालकके घर रहि सके? जो एसी बात करिवेमेंहु कोउ दोष माने तो सिद्ध भयो जानिये जो अहन्ता-ममता सर्वथा तो मिटी नाहिं. तासों जब अन्य विषयमें मिटी नाहिं, तब भगवत्सेवारूप स्वधर्मकों द्रव्यलालसाकी दुर्वृत्तिके कारण आजीविका न बनानो होय तो, अहन्ता-ममताके न राखिवेके बहाने बनायवेतें लाभ कहा? तातें सिद्धान्तमुक्तावली तथा पंचश्लोकी के दोउ वचननकी एकवाक्यताको विचार कियेतें निजपरिवारके पत्नी-पुत्र-भाई-भोजाई गृहदास इत्यादिकन्ते भगवत्सेवा कराय लेवेतें तनुवित्तजा सेवाके स्वरूपको विघात होत नाहिं; अरु जिनके साथ संपत्ति किंवा चूल्हा कों अविभक्त न राखिके भेदभाव राखिवेमें आवत हे, तिनके तनुतें अथवा वित्ततें भगवत्सेवा करायवेते तनुवित्तजाके नियमको उल्लंघन होत हे.

सुबोधिनी(3।1।2)के "गृहस्थितेः उत्कृष्टत्वं न भगवदीयत्वमात्रेण किन्तु भगवता सह स्थित्या भगवत्कार्यार्थं वा; अन्यथा न स्थातव्यम् इति स्थितिः" वचनके अनुसार गृहस्थितिके पक्षको अवलंबन करिवेवारे आत्मनिवेदी अधिकारीनको स्वात्माको तथा सकल स्वात्मीय पदार्थनको भगवत्सेवामें समर्पण-विनियोग करिवेको उपदेश भयो॥ 3॥

भागवत(11।2।42)के

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युः तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥
——वचनके अनुसार शरणागतितें भक्ति परेशानुभव अरु विरक्ति यों तीनोंही मिली सकत हें, तातें अब भक्तिमार्गमें जो जीव प्रवेशयोग्य हें तिनके काज; किंवा वर्तमान जन्ममें अथवा अवस्थामें योग्य न होंय तोहु, भगवत्-शरणागतिके कारण, वर्तमान जनममें अथवा आगामी जनममेंहु प्रभुभक्तिके जो अधिकारी बनि पावेंगे तिनके काज शरणागतिके अङ्गनको उपदेश करिवेकों डेढ़ कारिका कहत हें.

तहां कछूक प्रश्न होत हें जो इन डेढ़ कारिकाकी शब्दावलीको पांचरात्रके लक्ष्मीतंत्रके सप्तदशाध्यायमें निरूपित षडंग उपायरूप प्रपत्तिके वर्णनतें साम्य प्रकट हे; सो कहा उभयत्र एकही विषय हे किंवा पृथक्-पृथक्? षोडशग्रन्थके विवेकधैर्याश्रयमेंहु आश्रयको उपदेश हे; सो ये उपदेश अरु तहां कियो उपदेश एकही हें किंवा पृथक्-पृथक्? तेसेई रामानुज संप्रदायमेंहु भक्तितें न्यारो एक उपाय प्रपत्तिकों मान्यो हे. सो ता निरूपणमें स्वरूपानुपपत्ति, लक्षणानुपपत्ति, अनुष्ठानानुपपत्ति, विध्यनुपपत्ति, निषेधानुपपत्ति, भेदानुपपत्ति, शक्यत्वानुपपत्ति, प्रसिद्धत्वानुपपत्ति, संप्रदायाविरुद्धत्वानुपपत्ति एसी नवविध अनुपपत्तिनको परिहारहु कियो हे; सो पुष्टिमारगमें मान्य राखनो के नाहिं? अरु जो मान्य न होंय तो वे सगरी अनुपपत्ति श्रीमहाप्रभूनके उपदेशमेंहु प्रसक्त होंय तो तिनको परिहार कहा?

(पुष्टिप्रपत्तिमार्गमें शरणागतिकी छह रीतिनको उपेदेश)
अनुकूलस्य समल्पः1 प्रतिकूलस्य वर्जनम्श्च्इ2॥4॥
करिष्यतीति विश्वासो3 भर्तृत्वे वरणं4 तथा॥
आत्मनैवेद्यकार्पण्ये5-6 षड्विधा शरणागतिः॥5॥

अनुकूलस्य=अनुकूल बनिवेको
समल्पः=निश्चय

प्रतिकूलस्य=प्रतिकूलको
वर्जनम्=त्याग
करिष्यति=करेंगे
इति=एसो
विश्वासो=भरोसो

के रूपमें
वरणं=स्वीकार
तथा=अरु
आत्मनैवेद्यकार्पण्ये=आत्मनिवेदन
तथा दीनता
षड्विधा=छे प्रकारकी
शरणागतिः=शरणागति

भावार्थ : प्रभूनके अनुकूल बनिवेको समल्प, प्रभूनके प्रतिकूलको त्याग, प्रभु सब कछु अपनी इच्छानुसार करेंगे एसो भरोसो, स्वामिके रूपमें प्रभूनको स्वीकार, आत्मनिवेदन तथा दीनता एसें शरणागतिके छे प्रकार होत हें.

टीका:'विवेकधैर्याश्रय'में आश्रयकी साधनामें विवेक अरु धैर्य के बाद आश्रयभावकी मानसिक-वाचिक भावना, अन्याश्रयको परित्याग, दृढ़विश्वास; तथा, शरणभावना हृदयमें दृढ़ राखिके जो कछु सहजमें प्राप्त होय ताको निर्मम सेवन करनो ऐसे चार आंगिक उपायनकी अनुष्ठेयताको उपदेश दीनो. तिन उपायनको अब या ग्रन्थमें उपदिष्ट इन छह उपायनके साथ कहा-कैसो सम्बन्ध जाननो? कहा वे अरु ये उपाय एक ही तरहके उपायनके नामभेदसों उपदेश हें? जो हां कहो तो पुनरुक्तिको दोष होय. अथवा जो दोउ भिन्न-भिन्न रीतिनके उपाय होंय तो इनको अरु विनको समुच्चय जाननो के विकल्प जाननो? जो समुच्चय मानें तो 'विवेकधैर्याश्रय'में उपायोपदेशकी न्यूनताको दोष आवे. जो विकल्प मानें तो जैसे 'अन्याश्रयत्याग' अरु 'भर्तृत्ववरण' तैसे ही 'अविश्वासत्याग' अरु 'विश्वास-राखिवे' में एक सी बातनको विधिमुख अरु निषेधमुख सों उपदेश मिल रह्यो होयवेसूं विकल्प कैसे सम्भवे? इन आशङ्का नके समाधानार्थ अब इन दोउ 'विवेकधैर्याश्रय' अरु या 'पञ्चश्लोकी'

ग्रन्थनमे प्राप्त होते उपदेशनके बीच परस्पर साध्य-साधकभाव जानि लेवो आवश्यक है.

तहां कहत हें जो 'कृष्णाश्रय'स्तोत्रमें "विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य विशेषतः, पापासक्तस्य दीनस्य कृष्णएव गतिर्मम" कह्यो हे सो विवेक हु जब निभतो न होय, तो धैर्यकी तो बात कहा! तहांहुं भगवदाश्रय न छोड़नों ऐसे तो कह्यो ही हे. तैसे ही विवेकधैर्याश्रयमेंहु यह आज्ञा दीनि हे जो "अशक्ये हरिरेव अस्ति सर्वम् आश्रयतो भवेत्" तासों यहां अब वा सर्वसाधक भगवदाश्रयकी सिद्धिके उपायनको उपदेश महाप्रभु या ग्रन्थमें देवो चाहत हें. तासों इन् उपायनके अनुसरेते भगवादाश्रय सिद्ध होत हे. ता करि आश्रयके स्वरूपघटक चार्यों : 1आश्रयभावकी मानसिक-वाचिक भावना, 2अन्याश्रयको परित्याग, 3दृढ़विश्वास; तथा, 4शरणभावना हृदयमें दृढ़ राखिके जो कछु सहजमें प्राप्त होय ताको निर्मम सेवन करनो, ऐसे भवगदाश्रयके चार्यों आंगिक उपायहु आचार्यचरणकी कृपातें सिद्ध होय जायेंगे ऐसे जाननो.

भगवद्गीतामें जो "सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच" वचनतें भगवा**नने** शरणागतिको उपदेश दीनों सो तो मोक्षपर्यवसायिनी शरणागति हे. तासों यहां मर्यादामार्गीय शरणागतिको उपदेश जानिये. श्रीमद्भागवतके "तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहं गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः" या वचनमें पुष्टिमार्गीय शरणागतिको निरूपण हे. ऐसो निरूपण बड़ेनके वचनमें मिलत हे. ताको अभिप्राय यह जो अर्जुन तथा व्रजभक्त दोन्योंनको अन्याश्रय अरु धर्माश्रय निवृत्त करिके आप स्वयं धर्मिरूपसों रक्षक किंवा आश्रय बने सो शरणागति तो उभयत्र समानरूपा सिद्ध भई. अर्जुनकी शरणागति, परन्तु, स्वयं श्रीमुखतें मोक्षपर्यवसायिनी जताई. व्रजभक्तनकी, परन्तु, शरणागतिके द्वारा तिनकी भगवदासक्तिको भगवद्व्यसनभावमें विकास भयो दृष्टिगत होत हे. तासों वो शरणागति पुष्टिमार्गीय सिद्ध भई जाननी.

श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमेंहु "तस्मात् त्वम् उद्धव! उत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च माम् एकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः" या वचनमें सर्वविध उपायावलम्बनको परित्याग अरु उपेय धर्मिरूप साक्षात् श्रीप्रभूनके अवलम्बनको उपदेश मिलत हे.

यहां 'सर्वात्मभाव' पदसों भक्तिकी व्यसनोत्तरदशामें सिद्ध होयवेवारे सर्वात्मभावको शरणागतिमें साधनभाव न विचारनों. क्यों जो
"**भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिः अन्यत्र चैष त्रिक एककालः**
प्रपद्यमानस्य यथा अश्नतः स्युः पुष्टिः तुष्टिः क्षुदपायो अनुघासं
इति अच्युतांघ्रिं भजतो अनुवृत्त्या भक्तिः विरक्तिः भगवत्प्रबोधो
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्! ततः परां शान्तिम् उपैति साक्षात्"

——इन वचनन्मे शरणागतिकों भक्तिके साधनतयाहु उपदेश दियोहे.

तासों मोक्षसाधिका शरणागति मर्यादामार्गीय अरु भक्तिसाधिका शरणागतिको पुष्टिमार्गीय करि जाननो.

श्रीरामानुज सम्प्रदायके अनुसार उपायानुष्ठानके प्रयत्नसों आरब्ध किंवा साध्य धर्माश्रयरूपा शरणागतिकों "मर्कटशावकन्यायकी शरणागति" कहत हें. सो काहेते? जो मर्कटशावक जब अपने प्रयत्नसों अपनी माताके उदरसों दृढ़तापूर्वक चिपकि रहत हे तो माताहु ताकों जहां ऊंचाई के दूरि तांई वह बालक कूदि न पामें तहां ताकों कुदाय सकत हे. तातें मर्कटशावककों स्वप्रयत्न करिवेते ही माताकों दृढ़ आश्रय फलीभूत होत हे. उपेयप्रयत्न अर्थात् साक्षात् प्रभून्के प्रयत्नसों सिद्ध वरदानकी न्यांई प्राप्त होंवती शरणागतिकों धर्म्याश्रयरूपा शरणागति "मार्जारीशावकन्यायकी शरणागति" कहत हें. सो काहेते? जो मार्जारी अपने निरीह शावककों अपने मूंहमें दांतन्सों दबायिके वे दांत गरदनमें गड़े हुं नाहिं अरु एक छपराते दूसरे छपरापे कूदते समय अपनो बालक मूंहमेंते गिरहु ना पड़े, ऐसी सावधानिसों पकरि राखत हे. तैसे ही कबहूक परमेश्वर दुष्ट/दीन जीवकों निजकृपासों अपनी तरफ खेंचि लेत हें. या तरहके प्रभेद अपने सम्प्रदायमें हु मान्य हें. अरु शुद्धपुष्टि तथा मिश्रपुष्टि की शरणागतिके भिन्न-भिन्न प्रकारन्मे तिनकों अन्तर्भाव होत हे.

भगवत्प्रयत्नारब्धा धर्मिशरणागति भगवद्भक्तिमें पर्यवसायिनी होत होय तो ताकों शुद्धपुष्टिरूपा शरणागति जानिये तथा मुक्तिपर्यवसायिनी होत होय तो ताकों मर्यादारूपा जानिये.

1.जीवप्रयत्नारब्धा भक्त्यर्था धर्मिशरणागति मिश्रपुष्टिमें मर्यादापुष्टिके जीवन्को प्रमाणबलसों षड्विध साधक अंग बनी भक्तिकी साधिका होत हे. 2.जीवप्रयत्नारब्धा

भक्त्यंगभूता धर्मिशरणागति मिश्रपुष्टिमें प्रवाहपुष्टिके जीवनको षड्विध साधनबलसों भक्तिको करण बनि भक्तिभाव निभायवेमें सहायिका बनत हे. 3.जीवप्रयत्नारब्धा भक्तिभावके आनुषंगिक फलकी न्यांई स्वतःसिद्ध होंवती धर्मिशरणागति मिश्रपुष्टिमें पुष्टिपुष्टिके जीवनको फलबलसों उनकी भक्तिकी उत्तमताको षड्विध लिंग बनत हे.

जैसे पर्वतपे अग्नि प्रज्वलित हे के नाहिं सो तरहेटीमे ठाड़े पुरुषकों दिखाई परत नाहिं. तोहु तहां शिखरपे धूम उठतो दीखत होय तो सो धूम अग्निके तहां होयवेको लिंग बनि जात हे. ऐसे या पंचश्लोकीमें कहे गये छहों उपाय कहुं-कबहुंक अंग, तो अन्यत्र करण; तो पुनः अन्यत्र लिंग हु बनत हें.

तासों पूर्वमें निरूपित भगवत्प्रयत्नारब्धा धर्मिशरणागतिको भगवद्भक्तिमें पर्यवसान होयवेवारो होय तो कबहुंक प्रमेयबलसों मिश्रपुष्टिके अन्तर्गत मर्यादापुष्टि अथवा प्रवाहपुष्टि के जीवनकोहु भक्तिके अनुकल्पतया षड्विध अंग सिद्ध होंवत हे. तासों जैसे श्रीमद्भागवतके पूर्वोक्त वचनमें "प्रपद्यमानस्य भक्तिसिद्धिः" निरूपित कीनि तैसे तो नहिं परन्तु "प्रपत्तौ नीयमानस्य भक्त्यनुकल्पसिद्धिः" के रूपमें शुद्धपुष्टिरूपा शरणागति हु कबहुंक प्रमेयबलसों सिद्ध होत हे. जैसे चौरासी वैष्णवनकी वार्तामें अम्बालावारे नारायणदासजीकों आचार्यचरण**ननें** कही "तोसों स्वरूपसेवा तो निबहेगी नाहिं. पराई चाकरी करनी घरमें कोउ सेवक नाहिं. तातें हस्ताक्षर लिख देत हों. सामग्री जो बनें सो भोग धरिके महाप्रसाद लीजो. तब ब्रह्मसम्बन्धको गद्यको श्लोक अष्टाक्षर लिखिके नारायणदासकूं दिये... अपनो चरणामृत दीनों अरु 'बालबोध' ग्रन्थ करि पढ़ाये" तासों ही सर्वनिर्णयनिबन्धके प्रकाशमेंहु आप आज्ञा करत हें "एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम् अन्येषां सम्भवेत्तु स्याद्... 'गृहं-धनम्' इति पूर्वाधिकारद्वयाभावे तृतीयं पक्षम् आह... बाह्याभ्यान्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतं नाम्नि चैकं ततस्त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपितः. प्रपत्तिमार्गम् आह... एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तं गतिसाधनसंयुतम्" तासों भक्तिके अनुकल्पतयाहु प्रपत्तिमार्ग किंवा शरणागतिमार्ग उपदिष्ट भयो हे. सो जीवप्रयत्नारब्धहु होय सके अरु भगवत्प्रयत्नारब्धहु. प्रथममें प्रमाण अरु साधन के बल साधक बनत हें अरु द्वितीयमें प्रमेयबल अरु फलबल सिद्ध भये जानिये. सो नारायणदासकों आचार्यचरण**ननें** अपने प्रमेयबलसों भक्तिके अनुकल्पतया शरणागतिद्वारा फलदानको वरदान कीनों. यह लीला आपने मिश्रपुष्टिके जीवनको आश्वस्त राखिवेकों प्रकट कीनि. तैसे ही शुद्धपुष्टिके जीवनको हुं कबहूंक भक्तिके विकल्पतया भगवान् साक्षात् शरणागतिको वरदान करत हें. सो ऐसी

शरणागति मुक्तिमें पर्यवसित न होय पर स्वरूपासक्तिमें पर्यवसित होत होय तो ताकों शुद्धपुष्टिरूपा शरणागति जानिये.

पूर्वमें उद्धृत एकादशस्कन्धके वचनमें "माम् एकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन" वचनमें जो कह्यो ताको अभिप्राय शरणागतिहु इन्द्रियनकी विषयासक्ति, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त अरु आत्मा यों षड्विधा होय तो ताकों सर्वात्मना सिद्ध भई जानिये. तैसे ही भगवद्गीताके "उपद्रष्टा अनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः परमात्मा इति चापि उक्तो देहे अस्मिन् पुरुषः परः" वचनमें शरण्य किंवा आश्रय रूपी प्रभुकेहु छह रूप दिखाये हें.

1.तहां 'उपद्रष्टा' कहेते प्रभु साक्षिभावसों सब कछु देखत हें ऐसे जानिये. सो काहेते? जो जीवात्मा तो उपभोगार्थ जिन इन्द्रियनके सदसद् शुभाशुभ तथा सुखदुःखप्रद विषयनको साक्षात् रागद्वेषोपेक्षाकी दृष्टिसों देखत हे तिनकों प्रभु तो उपद्रष्टा होयके रागद्वेषोपेक्षारहित दृष्टिसों विषयदर्शी द्रष्टाद्वारा देखत हें. तासों जीवके दोष प्रभून्सों छिप नाहिं सकत हें. सो शुद्ध दैन्यभाव राखिके शरणागत जीव प्रभूनके उपद्रष्टा होयवेके भावते प्रतिकूल न होंय ऐसी तरहसों विषयोपभोग करिवेकी इन्द्रियनकी रुचि बनावे तो आनुकूल्यको समल्प सिद्ध भयो जानिये.

2.'अनुमन्ता' कहेते प्रभु जीवकों जीवकी सदसद्वासनानके अनुसार सत्कर्म किंवा असत्कर्म जो करनो होय सो करिवे देत हें, रोकत-टोकत नाहिं, अनुमति देत हें. तासों जीवात्माकों अपने मनके आधीन होयके नहि प्रत्युत अपने मनकों प्रभूनके आधीन बनायि राखिवेकों प्रभूनके प्रतिकूल कोउ कर्म करनो नाहिं. ऐसो होय तो मनको समल्प सिद्ध भयो जानिये.

3.'भर्ता' कहेते जीवको कर्तव्य हे जो बुद्धिप्रेरक प्रभूनको भर्ताके रूपमें बुद्धिपूर्वक वरण करिके तैसो ही भाव तहां दृढ़ राखे. याहीते 'विवेकधैर्याश्रय'में निषिद्ध अन्याश्रयहु छूटि जायगो. सो काहेते? जो अन्याश्रय कियेते भर्तृभाव खण्डित होत हे. कोउ सन्नारी अपने भर्ताके सिवाय अन्य नरके काज अपेक्षाबुद्धि राखत नाहिं. सो बुद्धिद्वारा प्रभूनको भर्ता=पति बनानो शरणागतिको तीसरो अंग किंवा लिंग हे.

4.'भोक्ता' कहेते प्रभु जड़ाजड़ सभी विषयनके एकमात्र भोग करिवेवारे हें. तासों ही महर्षि बादरायणने "अत्ता चराचरग्रहणात्" विधान ब्रह्मसूत्रमें कियो हे. तासों शरणागत जीवको कर्तव्य बनत हे जो काहू वस्तु सम्बन्ध क्रिया अथवा भाव के उपभोग करत भगवद्भोगको भाव करि ताके भगवत्प्रसाद होयवेको भाव चित्तमें राखिके तिनको उपभोग करनों. तहां शङ्का होत हे जो प्रभूनको भोग धरिवो तो भक्तिसाधनामें ही बनि आवे प्रपत्ति किंवा शरणागति की साधनामें सो कैसे सम्भवे? तहां यह समाधान जाननो जो श्रीगोपीनाथ प्रभुचरणननने साधनदीपिकाके "लब्धानुग्रहम् आचार्यात् श्रीकृष्णशरणं जनः...एवं सप्तविधा भक्तिः प्रपन्नाधिकृता भवेत्" वचननमे शरणागत जीवके वेष लिंग आचार आदिको उपदेश करिके नवविधभक्तिनमे ते श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन अरु दास्य यों सात तरहकी भक्तिमें प्रपन्न जीवको अधिकार मान्यो हे. तासों दास्यान्तर्गत भोग धरिवेको प्रकारहु "दास्यं तदेकशरणं तत्प्रसादैकभोजनम्" कह्यो हे. तासोंही मर्यादामार्गीय पूजाके प्रकारमेंहु भगवत्प्रसादके नियमको निर्वाह शक्य हे. वैसे तो यामें यथोक्तरीतिसों वस्तु सम्बन्ध क्रिया अथवा भाव यों सभीनके उपभोगकी बात हे. कछु खाद्यभोजनमात्रकी नाहिं. तासों या उपभोगमें पुष्टिमार्गीय सेवाप्रकारकी रीतिसों सख्य किंवा आत्मनिवेदन के भाववारे भोग धरिवेकी अपेक्षाहु नाहिं. यासों मेरे लायक जो होयगो सो प्रभु मोंकों सिद्ध करि देंगे अरु जामें मेरो हित नाहिं सो वस्तु सम्बन्ध क्रिया अथवा भाव प्रभु कबहुं सिद्ध नाहिं करेंगे. तासों "प्राप्तं सेवेत निर्मम"को भाव राखिवेवारे शरणागत जीवके चित्तमें विश्वासरूप आश्रयभाव दृढ़ होत हे.

5.'महेश्वर' कहेते प्रभूनको देवाधिदेव समझने. जीवहु अपने देहसों अनुष्ठित होते कर्मनके अनुष्ठान अरु फलभोग में स्वयंकों ईश्वरवत् अज्ञानवश मानि सके परन्तु ताकेहु ईश्वर अन्तमें तो प्रभु ही हें सो तिनकों 'महेश्वर' कह्यो जात हे. सो क्यों? तहां कहत हें भगवद्गीतामें भगवान् कहत हें जो
"ईश्वरो अहम्, अहं भोगी, सिद्धो अहं, बलवान्, सुखी,
आढ्यो, अभिजनवान् अस्मि को अन्यो अस्ति सदृशो मया
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इति अज्ञानविमोहिताः"

——या वचनके अनुसार देहसों अनुष्ठित होते कर्म अरु तिनके फलोपभोग में अपने स्वातक्त्र्यकेहु ऊपर महेश्वरके सामने आपुने अहंकारकों विनम्र करिवेते कार्पण्यरूप

आश्रयभाव दृढ़ करि सिद्ध होत हे.

6.'परमात्मा' कहेते प्रभुको स्वरूप परम आत्मा होयवेको जाननो. सो कैसे तहां कहत हें जो श्रीमद्भागवतमें "अहम् आत्मा आत्मनां, धातः!, प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः" कह्यो हे. सो देहकी प्रियताको मूल जैसे आत्माके प्रिय होयवेमें हे, तैसे ही जीवात्माकेहु प्रिय होयवेको मूल परमात्माके प्रिय होयवेमें होत हे. तासों शरणागत जीव आत्मना जब भगवानको प्रिय करि जानत हे, तब आत्मनिवेदन रूप आश्रयभाव सिद्ध भयो जानिये. यह शरणागतिके अन्तर्भूत आत्मनिवेदनकों भक्तिभावान्तर्भूत आत्मनिवेदनसों पृथक् जानिये. सो काहेते? जो शरणागतिमार्गीय आत्मनिवेदन बोधरूप हे परि भक्तिमार्गीय केवल बोधरूप नही अपितु भावरूप अरु समर्पण-विनियोग-पर्यवसायी भगवत्सेवारूपहु होत हे.

ऐसी षड्विधा शरणागति उच्चाधिकारी जीवात्माके भीतर प्रमेयबलतें शरणभावके लिंगतया प्रकट होत हें. मध्यम अधिकारीके भीतर ये छहों भाव ताकी शरणागतिके अंगरूपसों प्रकट होत हें. अरु कनिष्ठ अधिकारीके भीतर करणके रूपमें अनुसरणीय होत हें.

इति श्रीदीक्षितात्मज-श्याममनोहर-विरचिता पंचश्लोकीव्याख्या सम्पूर्णा

॥ साधनप्रकरणम् ॥

(तत्वार्थदीपनिबन्धमें सर्वनिर्णय प्रकरणके अन्तर्गत)

अधुनातु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः॥
स्वाध्यायादिक्रियाहीना: तथाऽऽचारपराङ्मुखाः॥212॥
क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते॥
विक्षिप्तमनसो भ्रान्ता: जिह्वोपस्थ-परायणाः॥213॥
व्रात्यप्रायाः स्वतो दुष्टास् तत्र धर्मः कथं भवेत्॥
षड्भि: सम्पद्यते धर्मस् ते दुर्लभतराः कलौ॥214॥

कालदोषात् शक्तिह्रासे वेदाभावात् सर्वधर्माभावः. तर्हि किं विधेयम् इति आकाङ्क्षायाम् आह अथाऽपि इति.

अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा॥
श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति॥215॥

पाषण्डमतस्वीकारम् अकृत्वा यथाशक्त्यग्निहोत्रादिकं कुर्वन् सदा कृष्णं भजन् भवति भगवदुक्तेनैव मार्गेण ततो मुख्यधर्माभावात् न फलं, भगवद्भजनात् च न पातः, किन्तु कथञ्चित् कलिं तरिष्यति कलिदोषाभिभूतो न भविष्यति इति अर्थः॥215॥

कलौ=कलिकालमें
तु=तो, अधुना=आज-कल
सर्वे=सब, विरुद्धाचारतत्पराः
=विरुद्ध आचारमें परायण
स्वाध्यायादिक्रियाहीनाः=
स्वाध्यायादि क्रियासोंरहित
तथा=ओर
आचारपराङ्मुखाः=सदाचारसों
विमुख, तथा=ओर
क्रियमाणम्=करे जाते
आचारं=आचार हु
विधिहीनं=विधिसों रहित
प्रकुर्वते=करे हें
विक्षिप्तमनसो=विक्षिप्त मनवारे
भ्रान्ताः=भ्रान्त
जिह्वोपस्थ-परायणाः=भोग-
रागमें परायण, व्रात्यप्रायाः=
अधिकतर संस्कार विहीन
स्वत:=आपु/खुद
दुष्टाः=दुष्ट(संजाताः=भयेहें)
तत्र=एसेमें (एतादृशैः=एसे)
(अनधिकारिभिः=अनधिकारीन्द्वारा
क्रियमाणेषु=करेजाते(कर्मसु=कर्ममें)
धर्मः=धर्म, कथं=कोन प्रकारसूं
भवेत्=होय!, धर्मः=धर्म
(तु=तो)

षड्भिः=छेसूं
(देशकालादिभिः=देशकालादिसूं)
सम्पद्यते=सम्पन्न होय हे
ते=वे, कलौ=कलिकालमें
दुर्लभतराः=अति दुर्लभ
(सन्ति=हें)अथापि=तोहु
धर्ममार्गेण=धर्मके मार्गसों
स्थित्वा=रहिके (यः=जो)
श्रीभागवतमार्गेण=भागवतोक्तमार्गसों
कृष्णं=श्रीकृष्णकों, सदा=हमेशा
भजेत्=भजे हे, स=वो
कथञ्चित्=जेसे-तेसे;काहु-
प्रकारसूं, तरिष्यति=तरजायगो

भावार्थ : कलियुगमें या बिरियां सब कोऊ शास्त्रविरुद्ध आचरणमें निरत हें. स्वाध्याय आदि नित्यकर्महु कोऊ करत नाहीं. स्नान-व्रत-प्रायश्चित्तादिकी शुद्धिहु कोऊ पालत नाहीं. कोऊ कछूक मेंड-मरजाद पालत हें सोऊ यथाविधि नाहीं. एसेनको चित्त कहूं एक ठोरपे ठहरत नाहीं. जिह्वा अरु उपस्थ कों सन्तुष्ट करिवेमें ही सर्वत्र भटकत फिरत हें. एसे व्रात्यप्राय: स्वतो दुष्ट मनुष्य धर्मबुद्धितेंहु कछूक कर्म करत होंय तो तातें धर्मानुष्ठान सिद्ध होत नाहीं. सो कहेतें? तहां कहत हें देश-काल-द्रव्य-मन्त्र-कर्ता-कर्मतें धर्म सिद्ध होत हे, सो या कलियुगमें ये छहों शुद्ध मिलत नाहीं. तोऊ बने सो धर्म करत जो श्रीभागवतके अनुसार कृष्णकों सदा भजत हें वे केसेहुं तरी जावेंगे॥ 212-215॥

टीका : अभीके समयमें तो कलिकालके दोषसों सबनकी शक्ति घट गई हे. वेदकी यथार्थ स्थिति नाहीं हे. सब पुरुष विरुद्धाचरणमें तत्पर हें. वैदिक क्रियासों हीन हें. आचारसों रहित हें. “शौचाचारविहीनानां समस्ता निष्फलाः क्रियाः”. तासों करे भये कर्महु सब निष्फल होत हें. यदि कोई पुरुष वैदिक कर्मकुं करे हे तो विधिरहित करे हे. मन एकाग्र नाहीं राखे हे. सदा-सर्वदा भ्रममें ही डूबे रहे आवे हें. जिह्वा-उपस्थके सुखमें परायण रहे आवे हें.

व्रात्यप्राय——वर्णधर्मसों हीन हें. स्वभावसों ही दुष्ट हें. एसें मनुष्यनमे धर्म केसे रहि सके हे? क्योंके देश, काल, द्रव्य, कर्ता, कर्म तथा मन्त्र इन छ पदार्थन्सों धर्म बने हे. या कलिकालमें इन देशादिक छ पदार्थनको शुद्ध मिलनो दुर्लभ हे. कलिकालके दोषसों शक्तिह्रास ह्वे गयो हे तासों वेदको अभाव हे. अतएव सब धर्मनको हु अभाव हे.

तब अनेक प्रकारके सन्तापन्सों दुःखी जीवनकु परम सुखकी प्राप्तिके अर्थ कहा साधन करनो योग्य हे? तहां उत्तर आज्ञा करे हें अथापि धर्ममार्गेण इति.

पाखण्डमतको त्याग करिके, अग्निहोत्रादिकनकु भक्तिके अङ्ग समुझिके, विनको यथाशक्ति पालन करतो भयो सदा श्रीकृष्णकी भक्तिमें परायण रहे तो कलियुगकों तरि जावे हे.

अर्थात् या कलियुगमें मुख्य वैदिकधर्म नाहीं बन सके तासों वेदोक्त फलहु नाहीं होय. भगवद्भजन करतो रहे तो पातहु नाहीं होय. किन्तु कलिके दोष वा भक्तकुं दबाय नाहीं सके हें. अल्प साधन करिके बडे भारी फलकों देवेको कलियुगको स्वभाव वा भक्तके आगें प्रगट होय जावे हे. तब तो भगवदुक्त प्रकारसों श्रद्धापूर्वक भगवत्कथाको श्रवण, भगवद्गुणनको गान-स्मरण, जन्मोत्सवादिक करतो भयो धर्म-अर्थ-कामको भगवानके अर्थ ही आचरण करतो भयो सदा भजन करे हे तब "इमं लोकं तथैवामुम्" (भाग.पुरा.3।25।39) इत्यादि तृतीयस्कन्ध पञ्चविंशाध्यायोक्त जीवन्मुक्तिकुं प्राप्त होवे हे. यासोंहु उत्तम अधिकारी होय तो "परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके" (भगा.पुरा.3।25।37) श्लोकोक्त वैकुण्ठमें अलौकिक भोगकुं प्राप्त होवे हे. अर्थात् सेवाफलकी **टीका**में जो प्रकार लिख्यो हे वाके अनुसार वैकुण्ठादिकनमे सेवोपयोगी देहकुं प्राप्त होवे हे॥212-215॥

अत्र बाधकद्वयं त्यागार्थम् आह अत्रापि वेदनिन्दायाम् इति.
अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणात् तथा॥
नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते॥216॥
भगवन्मार्गे स्थित्वा यदि वेदानाम् अप्रामाण्यं वदेत् कथञ्चिदपि, तदा भगवन्नाम्नो नरकविरोधित्वात् न नरके पातः किन्तु तृतीयमार्गसाधनत्वाद् हीनेषु जायते, शूद्रादिषु

सम्भवति. अतो दृश्यते नीचयोनिषु भगवद्भक्तानां जन्म:. तस्माद् एतद्वयम् अकृत्वा भगवान् सेव्यः॥216॥

शूद्रादियोनौ जातस्य किं फलम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह पूर्वसंस्कारत:इति. पूर्वसंस्कारतस् तत्र भजन् मुच्येत जन्मभिः॥

अत्यन्ताभिनिवेशश्चेत् संसारे न भवेत् तदा॥
एतावन्मात्रताप्यस्ति मार्गेऽस्मिन् मुरवैरिणः॥217॥

संस्कारवशाद् भगवद्भजने जायमाने तस्मिन् देहे वेदादीनां स्मरणाभावान् निन्दाभावेन तुष्टः सन् भगवान् मोचयेद् इति अर्थः. तत्रापि एकं बाधकम् आह अत्यन्ताभिनिवेशश्चेद् इति. संस्कारस्य दुर्बलत्वे ज्ञानाभावात् संसारे अभिनिवेशो भवति. ततो दृढभजनाभावान् न मुच्यते इति अर्थः. अनेन वेदनिन्दया पुनरावृत्ति: उक्ता. पुनः शुद्धसाधनेन जायमानां मुक्तिं न निवारयति. अतो वेदनिन्दाभावे भक्तिमार्गः समीचीनः.

ननु उत्कर्षासहनेन कथं वेदं न निन्देद्! अतः सापायएव अयं मार्ग: इति आशम्य आह एतावन्मात्रतापि अस्ति इति. अनिन्दायां मोक्षः, निन्दायामपि न नरकादिः. वेदातिरिक्तमतेषु भगवन्मार्गे एतावदपि फलम् अस्ति, नतु साफ्यादौ इति तेभ्य: उत्कर्षः॥217॥

अत्र=यहां, अपि=हु
वेदनिन्दायां=वेदकी निन्दामें
तथा=ओर, अधर्मकरणात्=
अधर्मको आचरण करिवेसों
नरके=नरकमें, पातः=पात
(तु यद्यपि=तो यद्यपि)
न=नाहीं, भवेत्=होयगो
किन्तु=पर, हीनेषु=हीनमें
जायते=जन्म होय हे
तत्र=वहां, संसारे=संसारमें
अत्यन्ताभिनिवेशः=अत्यंत अभिनिवेश
चेत्=यदि,
न=नाहीं होय
तदा=तो

पूर्वसंस्कारतः=पहिलेके संस्कारसों
भजन्=भजन करिवेसों
(अनेकैः=बहोत)जन्मभिः=जन्मसों
मुच्येत=मुक्त होवे हे
अस्मिन्=या
मुरवैरिणः=मुरवेरी श्रीकृष्णके
मार्गे=मार्गमें
एतावन्मात्रता=इतनों
अपि=हु, अस्ति=हे

भावार्थ : या मारगहुमें वेदनिन्दा करवेतें तथा अधर्माचरण करवेतें नरकमें तो यद्यपि पात न होयगो परि हीन योनिमें जनम तो मिलेगो. तहां संसारमें यदि अतिशय अभिनिवेश न होय तो पूर्वजन्मके भक्ति-संस्कारनके कारण पुनः अनेक जन्मनको अन्तराय होयवेपे संसारतें मुक्त होय सकत हे. सो काहेतें? तहां कहत हें जो ये मारग मुरारी श्रीकृष्णके अवलम्बनको मारग होयवेतें इतनो सामर्थ्य तो जीवके उद्धारको राखत ही हे॥216-217॥

मूल कारिकामें जो 'कथञ्चित्' पद कहिके भक्तिमार्गद्वाराहु कलियुगके तरिवेमें सन्देह दिखायो ताको कारण कहत हें अत्रापि वेदनिन्दायाम् इति. भक्तिमेंहु दो बाधक हें : 1.भक्तिमार्गमें स्थित होयके वेदकुं अप्रमाण कहे तथा 2.अधर्मको आचरण करे. (भक्तिमार्गमें रहिके यदि एसो करे) तो—— यद्यपि नरकपात होनों योग्य हे, परन्तु भगवानको नाम नरकको विरोधी हे तासों नरकमेंतो वो पुरुष नाहीं गिर सके हे परन्तु ——जन्म-मरणात्मक तृतीय मार्गकुं प्राप्त होयके हीन शुद्रादियोनीनमे उत्पन्न होवे हे. याहीसों नीच योनिमें कबीर, सदन, रैदास आदि भगवद्भक्तनके जन्म दीखवेमें आवे हे. तासों वेदनिन्दा तथा अधर्म को त्याग करिके भगवानकी सेवा करनो योग्य हे॥216॥

शङ्का : वेदनिन्दा तथा अधर्म द्वारा शूद्रयोनिमें गये भये भक्तकी फेर कहा गति होय?

उत्तर: पूर्वसंस्कारत: इति. शूद्रयोनि प्राप्त भयो भक्त पूर्वजन्मके संस्कारसों वा शूद्रयोनिमेंहु भगवानको भजन करे हे. तथा वा देहमें वेदकी याद नाहीं रहे हे तासों

वेदनिन्दाहु नाहीं करे हे. तब प्रसन्न होयकें भगवान् वा भक्तकुं मुक्त करें हें. परन्तु वा जन्ममेंहु एक बाधक हे. पूर्वजन्मको भक्तिको संस्कार दुर्बल होय जाय तो संसारमें अभिनिवेश होयवेसों दृढ भजन नाहीं बनि सके, तो मुक्तहु नाहीं होय. इतने कथनसों वेदनिन्दासों पुनरावृत्ति=जन्ममरण होवे हे यह जतायो. परन्तु शुद्ध भजनसों होयवेवारी मुक्तिकुं पूर्वजन्मकी करी भई वेदनिन्दा नाहीं रोक सके हे. तासों वेदनिन्दा नाहीं करके भगवद्भजन कियो जाय तो भक्तिमार्ग अति श्रेष्ठहे.

तहां भगवन्मार्गकी अपेक्षा वेदके उत्कर्षकुं नाहीं सहतो भक्त वेदनिन्दा क्यों नाहीं करेगो? तथा निन्दा करेगो तो वाको हीनयोनिमें जन्महु होयगो. तब तो भक्तिमार्ग नाशवारो ही भयो! एसी शङ्का नाहीं करनी. क्योंके वेदनिन्दा नाहीं करे तो मोक्ष होय. यदि वेदानिन्दा करे तोहु नरकादिक नाहीं होंय ये सामर्थ हु भक्तिमार्गमें हे ही. वेदातिरिक्त साफ्यादिमार्गमें यदि वेदनिन्दा होय तो अवश्य नरकपात होय. इतने कथन करिके प्रारम्भदशामें सापाय हु भक्तिमार्ग अन्य मार्गनकी अपेक्षा उत्तम हे ये बात जताई॥217॥

जहां तांई निश्चल भक्ति सिद्ध न होय तहां तांई भक्तिमार्गकी प्रारम्भदशा समुझी जावे हे. या प्रकार "यद्यनीशो धारयितुम्" (भाग.पुरा.11।11।22) "अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव" (भग.गीता12।10) इत्यादि गीतावाक्योक्त हीनाधिकारीनकीहु फलद्वारा उत्कर्षता वर्णन करिके "ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सक्क्यस्य मत्पराः" (तत्रैव12।6) इति गीतावाक्योक्त भक्तिमार्गीय मध्यमाधिकारी जे भक्त हें—— वैदिकमार्गके फलके समान जिनकुं फल मिले हे, जिनकुं नाशको भय नाहीं हे, जिनके अर्थ शीघ्र उद्धार करिवेकी भगवाननने प्रतिज्ञा कीनी हे ——उन मध्यमाधिकारीनके फलको वर्णन करें हें सर्वत्यागे इति.

भक्तिमार्गे मुख्यानां फलम् आह सर्वत्यागे इति.

सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे॥
सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फलम्॥218॥

अन्तर्बहिः सर्वत्यागः. स्वामित्वेन कृष्णएव सर्वदा मनोनिवेशनम्. अभ्यासेन तद् भवति. अन्येषां देवानां तद्विभूतित्वेन, तत्सेवकत्वेन वा सन्माननं, यदि स्फुरति. एवं देहपातपर्यन्तं कृष्णैकमानसस्य सायुज्यं शीघ्रमेव भवति. काय-वाग्विनियोगाभावेऽपि स्वस्नेहाभावेऽपि मनोमात्रस्थितौ फलम् एतद् इति अर्थः॥218॥

ततोऽपि विशेषम् आह एतादृशस्तु इति.

एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः॥
यो दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्॥
हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदा॥219॥

पूर्वोक्तो लोके सम्भवत्यपि एतादृशस्तु दुर्लभो यो अग्रे वक्ष्यते. भागवते नारायणपरः प्रशान्तात्मैव लोके दुर्लभ: उक्तः. ज्ञानमिश्रो भक्तः प्रेमयुक्तस्तु ततोऽपि दुर्लभः. तत्रापि सदा प्रेमप्लुत:. तस्य भगवत्सायुज्यं भवति इति किं वक्तव्यम्! इति अर्थः॥219॥

सर्वत्यागे=सर्वत्याग होयवेपे
अनन्यभावे=अनन्यभाव होयवेपे
कृष्णमात्रैकमानसे=एकमात्र श्रीकृष्णमें
मन लग जायवेपे
कृष्णदेवेन=श्रीकृष्णदेवके संग
सायुज्यं=सायुज्यकुं
शीघ्रमेव=जल्दिही
ध्रुवं=अविनाशी
फलं=फलकुं प्राप्त
(भवति=होय हे)
कोटिषु=करोड़नमे , अपि=हु
एतादृशस्तु=एसो तो
पुरुषः=पुरुष
सुदुर्लभः=
सुतरां कष्टसोंमिले हे
य:=जो, दारागारपुत्राप्तान्=
पत्नि-घर-पुत्र-परिवारकुं
प्राणान्=प्राणकुं
वित्तम्=वित्तकुं
इमं=या लोककुं
परं=परलोककुं
हित्वा=छांडिके
कृष्णे=श्रीकृष्णमें
परं भावं=उच्च प्रेमकुं

गतः=प्राप्त भयो होय ओर
सदा=निरन्तर,प्रेमप्लुतः=प्रेमपूर्ण
(भवति=होय)

भावार्थ : सब कुछ छांडिके अनन्यभावतें केवल श्रीकृष्णमें ही जो आपुनो मन लगावतें हें तिनकों कृष्णदेवके साथ शीघ्र ही तथा निश्चिततया सायुज्यरूप फल प्राप्त होत हे. करोडन् पुरुषनमे एसो पुरुष तो सुदुर्लभ होत हे के जो पत्नी-घर-पुत्र-परिवार-मित्र-प्राणनको, धनकों, ऐहिक-पारलौकिककों छांडिके कृष्णमें परमभाववश सर्वदा प्रेमप्लुत रहत होय॥218-219॥

टीका : बाहिरसों देह-वाणीकरिकें सर्वत्याग होय, भीतरसों मनकरिकें सर्वत्याग होय, सर्वदा अपने स्वामी मानिके श्रीकृष्णचन्द्रमें ही मनको निवेश होय तथा यदि हृदयमें स्फुरण होय तो अन्य देवतानकु श्रीकृष्णकी विभूति मानिके, उनके अंश अथवा भगवत्सेवक मानिके सन्मान करनो ——या प्रकार देहपात पर्यन्त कृष्णैकमानस रहे. अर्थात् मृत्यु होय तहां तांई कृष्णके विषे ही चित्त लगायो राखे तो श्रीकृष्णचन्द्रके संग शीघ्र ही सायुज्यफलकुं प्राप्त होय. देह तथा वाणी को श्रीकृष्णमें विनियोग नाहीं होय, प्रेमहु नाहीं होय, केवल अभ्याससों भगवानमे मनकी सर्वदा स्थिति करी जाय तथापि ये फल होय. यहां “अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते” (भग.गीता12।6) या श्लोकको स्पष्टार्थ कियो हे॥218॥

अब उत्तमाधिकारीको वर्णन करें हें: एसो पुरुष क्रोड पुरुषनमे हु दुर्लभ हे जो स्त्री, घर, पुत्र, प्राण, वित्त, ये लोक तथा परलोक कुं छांडिके कृष्णचन्द्रमें परम भावकुं प्राप्त होय. एसे भक्तकी श्रीभागवतमें प्रशंसा कीनी हे : “मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः, सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुनेः” (भाग.पुरा.6।14।5) अर्थ:साधन करिवेवारे क्रोड पुरुषनमे एक मुक्त होय हे. वेसे क्रोडन् मुक्त पुरुषनमे हु नारायणमें परायण पुरुष होनो दुर्लभ हे. ज्ञानमिश्र भक्त यदि प्रेमयुक्त होय वो वासुंहु दुर्लभ हे. या भक्तिको “देवानां गुणलिङ्गानाम्” (वहीं3।25।32) या तृतीयस्कन्धके श्लोकमें वर्णन हे. अर्थ:समल्प-विकल्प रहित देवरूप जाको मन होयजाय, जो पुरुषके इन्द्रियनकी गुणातीत भगवानमे स्वभाव करिकें निष्ठा होय वाकुं

भक्तिकहे हें. “नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्” (वहीं3।25।34) एसे भक्त मुक्तिकुं नाहीं चाहे हें. एसे भक्त कितनेक ही हें. यासों दुर्लभतादिखाई.

जा भक्तिसों भगवान् भक्तके वश होय जावें हें वा भक्तिकी अवस्थाको नाम ‘प्रेम’ कह्यो जावे हे. वा भक्तिकोहु सायुज्य ही फल हे. याको “अनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुमते” (भाग.पुरा.3।25।36) या श्लोकमें वर्णन हे. यासोंहु उत्तमाधिकारीको वर्णन करे हें : तत्रापि सदा प्रमेप्लुतः. जो सर्वदा प्रेममें निमग्न रह्यो आवे वो सबसों उत्तमाधिकारी हे. या प्रसङ्गपे दृष्टान्तको वर्णन करें हें:

“श्रीविठ्ठलनाथजी गुसांईजीकी एक सेवकनी वृद्धा स्त्री हती. श्रीबालकृष्णजीकी सेवा करती हती. अन्य वैष्णव**ननें** वा डोकरीकी श्रीगुसांईजीके आगे निन्दा करी के ये ठाकुरजीकुं बाजरीके दाना भोग धरे हे. ओर कछु सेवा नाहीं करे हे. ये सुनिके श्रीगुसांईजी अचानक वाके घर पधारे. वा समय वो डोकरी प्रभुके आगें, दरिद्रताके कारण दीनतासों, बाजरीके कण भोग धरिके मन्दिरके बाहिर आय बेठी हती. आप भीतर पधारिकें प्रभुन्के दर्शन करते भये. आपनें प्रभुन्सों प्रार्थना करी “आप मेरे संग पधारो. यहां डोकरी आपकुं बडो परिश्रम देत हे”. ये सुनिके ठाकुरजीनें आज्ञा करी: “ये डोकरी दीनताकरिकें प्रेममें निमग्न होयकें बाजरीके कण भोग धरे हे. ये एक-एक कण मोकुं त्रिलोकके व्यञ्जनसोंहु अति प्रिय लगे हें. में या डोकरीकुं सर्वथा नाहीं छोडूंगो”. ये सुनिकें श्रीगुसांईजी बहुत प्रसन्न भये तथा वा डोकरीके भाग्यकी बडी प्रशंसा करी”.

तासों सदा प्रेमनिमग्न ही उत्तमाधिकारी हे. वेसे भक्तकुं भगवान् अलौकिक सामर्थ्यरूप परम फलकुं दे हें. वाके द्वारा भक्त हे सो भगवान्के भजनानन्दको अर्थात् सेवाके आनन्दको अनुभव करे हे. या मुख्य भक्तिके लक्षण श्रीभागवतके तृतीय स्कन्धमें “अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे” (भाग.पुरा.3।29।12) या श्लोकमें लिखे हें. वो ही “दीयमानं न गृह्णाति विना मत्सेवनं जनः” (भाग.पुरा.3।29।13) या श्लोकमें भगवत्सेवाके आनन्दमें निमग्न वो भक्त सेवा विना दीनी भई चार प्रकारकी मुक्तिकुंहु नाहीं ग्रहण करें हें ये बात लिखी हे. एसे भक्तके आधीन भगवान् होय जावे हें. “अहं भक्तपराधीनः” (भाग.पुरा.9।4।63) एसे भक्तकुं ही अलौकिक सामर्थ्यरूप फल मिले हे. ये फल ‘सेवाफल’ ग्रन्थमें स्पष्ट लिख्यो हे. या प्रकार फलको वर्णन करिके सर्व ही मार्गको वर्णन करेहें॥219॥

एवं भक्तिमार्गे फलम् उपपाद्य सर्वमेव मार्गम् उपपादयति विशिष्टरूपम्... इत्यादिना एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तम्... इत्यन्तेन.
विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम्॥

अत्र प्रमेयं विशिष्टरूपम्. यस्य एकैको अंश: काण्डद्वयेन प्रतिपाद्यते स ज्ञानक्रियोभययुतः. सएव च फलम्.

तत्साधनं नवविधा भक्तिस् तत्प्रतिपादिका॥220॥
गीता सङ्क्षेपतस् तस्या वक्ता स्वयमभूद् हरिः॥
तद्विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकम्॥
व्यासः समाधिना सर्वम् आह कृष्णोक्तमादितः॥221॥

तत्रापि साधनं च प्रेमैव. तत्साधनं नवविधा भक्तिः. श्रवणादिव्यतिरेकेण संस्कारवशात् फलकामनया वा जायमाना प्रीतिः गौणी स्यात्. श्रवणादीनां साधनत्वे प्रमाणं गीता. "भक्त्या त्वनन्यया शक्य" (भग.गीता.11।54) इति साधन-साध्यरूपाम् एकीकृत्य आह. गीतायाअपि प्रामाण्यं फलवाक्यात्. कृष्णस्य फलरूपत्वं, परमानन्दरूपत्वात्, पुरुषोत्तमत्वात् च.

गीतार्थं सन्दिग्धं मत्वा विस्तरेण कथनार्थं भागवतं तेनैव रूपान्तरेण कृतम्॥220-221॥

विशिष्टरूपं=विशिष्टरूप
वेदार्थः=वेदको अर्थ
फलं=फल (भवति=होय हे)
प्रेम=प्रेम, च=ही
(तत्फलप्राप्तौ=वाफलकीप्राप्तिमें)
साधनम्=साधन हे.
तत्=वो (प्रेमको)
साधनं=साधन
नवविधा=नव प्रकारकी
भक्तिः=भक्ति(भवति=होय हे)
तत्=वा(भक्ति)को
प्रतिपादिका=निरूपण करिवेवारी
गीता=भगवद्गीता(भवति=हे)
तस्याः=वा(गीतायाः=गीताको)
संक्षेपतः=संक्षेपसूं

वक्ता=कहिवेवारे
स्वयं=खुद, हरिः=श्रीकृष्ण
:कही
सर्वं=सब
व्यासः=श्रीवेदव्यासने
समाधिना=समाधिसों
आह=कही

भावार्थ : वेदके पूर्वकाण्डमें प्रतिपाद्य क्रियारूप तथा उत्तरकाण्डमें प्रतिपाद्य ज्ञानरूप एसें उभयविध शक्तीन्सों विशिष्ट जो वेदार्थ (=कृष्ण) सो भक्तिमार्गको फल हे. या फलकी प्राप्तिको साधन प्रेम हे. सो प्रेम प्रकट होत हे नवधा भक्तिद्वारा. सो या प्रेमरूपा भक्तिको प्रतिपादन गीताने कियो हे. या गीताको संक्षेपमें वक्ताहु अन्य कोऊ नाहीं परन्तु स्वयं श्रीहरि हे. गीताके अभिप्रायकुं समुझिवेमे जो कछु सन्देह होत हे तिन सबनको निर्णय विस्तारसूं भागवत देत हे. भागवतमें व्यासजीने, सृष्टिके आदिमें श्रीहरिने ब्रह्माजीकुं जो उपदेश दियो हतो ताकोही समाधिमें साक्षात्कार करिके निरूपण कियो हे॥220-221॥

टीका : या भक्तिमार्गमें प्रमेय अर्थात् जानिवे योग्य पदार्थ भगवान् ही हें. अर्थात् विनको क्रियारूप अंश वेदके पूर्वकाण्डद्वारा वर्णित भयो हे ओर जिनको ज्ञानरूप अंश वेदके उत्तरकाण्डद्वारा वर्णित भयो हे. भक्तिमार्गमें तो दोऊ अंश सहित अर्थात् पूर्णज्ञान-क्रियावारे भगवान् ही प्रमेय हें, जानिवे योग्य हें तथा भगवान् ही फल हें. भगवानकी प्राप्तिमें प्रेम ही साधन हे. प्रेमको साधन नवधाभक्ति हे. श्रवणादिक नवधाभक्ति किये विना, संस्कारवशसों, फलकामनासों उत्पन्न भई प्रीति 'गौणप्रेम' कहावे हे. श्रवणादि भक्ति भगवत्प्राप्तिके साधन हें. यामें "भक्त्या त्वनन्यया शक्यः" (भग.गीता11।54) इत्यादि गीताके वाक्य प्रमाण हें. या वाक्यमें साध्यरूप प्रेमभक्ति तथा साधनरूप श्रवणादि भक्ति इन दोउ भक्तिनकु एक समुझिके "में एक(=केवल) भक्तिकरिकें ही जान्यो जाऊं हुं तथा दर्शन देउ हुं" या प्रकार आज्ञा कीनी हे. जिन श्रीकृष्णकी प्राप्ति भक्त चाहे हे विन फलरूप कृष्णके वचन श्रीगीताजी हें. तासों परमप्रमाण श्रीगीताजी माने जावें हें. परमानन्दरूप तथा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हें तासों कृष्णही फलरूप हें. संक्षेपसों कहे भये गीताजीके अर्थकुं सन्देह सहित मानिकें

विस्तारपूर्वक वर्णन करिवेके अर्थ उनही श्रीकृष्णचन्द्रने 'कृष्णद्वैपायन' नामसों वेदव्यासजीको रूप धारण करिके श्रीभागवत महापुराण आज्ञा कियो॥221॥

मार्गोऽयं सर्वमार्गाणाम् उत्तमः परिकीर्तितः॥
यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः॥222॥

प्रमाणादीनां चतुर्णामपि एकरूपत्वात् सर्वमार्गापेक्षया अयम् उत्तमो मार्गः. तथाहि, प्रमाणं भगवद्वाक्यम्. वाक्येन प्रवृत्तः साधनम् असाधयन्नपि भगवता कृतार्थीक्रियते. प्रमेयपरिज्ञानं च फलानुभवरूपम्. साधनं च फलादपि अधिकम्. फलं च ज्ञानकर्मादिसाध्येभ्योऽपि अधिकम् इति. अतएव अस्मिन् मार्गे पातभयं नास्ति, प्रमाणप्रवृत्तिम् आरभ्य भगवतो रक्षकत्वात्.

तत्र हेतुः मोचकः सर्वथा यत: इति. स हि सर्वानेव येन-केनचिदुक्तप्रकारेणापि प्रवर्तमानान् मोचयति, मोचकस्वभावत्वात् तत्र स्ववाक्यानुगतान् कथं न मोचयेत्?॥ 222॥

यस्मिन्=जामें
पातभयं=पतनको भय
न=नाहीं, अस्ति=हे
(एतादृशो=एसो) अयं=ये
मार्गः=मार्ग
सर्वमार्गाणाम्=सब मार्गनमे
उत्तमः=उत्तम
परिकीर्तितः=कह्योगयोहे
यतः=क्योंके
सर्वथा=सब तरहसों
मोचकः=मुक्त करिवेवारो
(भवति=होय हे)

भावार्थ : जामें सन्मार्गतें विचलित अथवा भ्रष्ट होयवेको रञ्चकहु भय नाहीं हे एसो यह मारग सब मार्गन्तें उत्तम कह्यो जात हे. सो काहेते, तहां कहत हें जो यह मारग संसारतें जीवकों सर्वथा छुडायवेवारो मारग हे॥222॥

टीका : प्रमाण, प्रमेय, साधन तथा फल ये चारों या मार्गमें एकरूप हें. तासों ये मार्ग सर्वमार्गकी अपेक्षा उत्तम हे. तथाहि, या भक्तिमार्गमें भगवानके वाक्य ही प्रमाण हे. प्रभुके वाक्यमें विश्वास राखिकें प्रवृत्त भयो जो भक्त हे वासों कदाचित् कोई बाधक आयवेके कारण साधन ठीक-ठीक नाहीं बनि सके तथापि भगवान् प्रमेयबलसों भक्तकुं कृतार्थ करे हें. क्योंके आप परम दयालु हें. स्वयं जाने हें के मेरे वाक्यपें विश्वास राखिके भक्तिमार्गमें प्रवृत्त भये भक्तकी यदि दुर्गति होय जायगी तो "न मे भक्तः प्रणश्यति" (भग.गीता9।31) अर्थ:मेरे भक्तको नाश नाहीं होय हे एसी मेरी प्रतिज्ञा वृथा होयगी. तथा या मार्गमें प्रमेय अर्थात् जानिवे योग्य वस्तु भगवान् हें ओर फलहु भगवान् हें. तासों प्रमेयको ज्ञान होनो ही फलको अनुभव करनो हे. साधन जो भक्ति हे वो फलसोंहु अधिक हे. याहीसों भक्त फलरूप भगवानमे लीन होनों नाहीं चाहे हे किन्तु सर्वदा भक्ति ही करते रहनो चाहे हे. फल हे सोहु या मार्गमें ज्ञान-कर्मदिकन्सों साध्य पदार्थन्सों अधिक हे. तासों या मार्गमें दुर्गतिको भय नाहीं हे. क्योंके भगवानके गीता-भागवतादिकनके प्रमाणवाक्यनको सुनिके जा दिनसों जीव भक्तिमार्गमें प्रवृत्त होय हे वा दिनसों वा भक्तकी श्रीभगवान् रक्षा करें हें. क्योंके ऋषि आदिकनके कहे भये प्रकारसोंहु प्रवृत्त भये मनुष्यनकु भगवान् मुक्त कर दे हें, मुक्त करिवेको आपको स्वभाव ही हे, तहां श्रीमुखके वाक्य गीता आदिके अनुसार बर्ताव करिवेवारे भक्तनको उद्धार क्यों नाहीं करेंगे?॥222॥

वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेन तु॥
क्रियमाणे न धर्मः स्याद् अतस् तस्मान् न मोचनम्॥223॥

किञ्च, यदा वेदादीनां कालवशाद् असाधकत्वं ज्ञातं तदा अयं मार्गो भगवता कथितः. तेन इदानीं न अन्यो मार्गः फलाय॥223॥

वर्णाश्रमवतां=वर्णाश्रमवारेनको
मुख्ये=मुख्य (धर्म=धर्म)
नष्टे=नष्ट (सति=होयवेपे)
छलेन=छलसूं
क्रियमाणे=करिवेपे, तु=तो
(तदनुष्ठाने=वाके अनुष्ठानसूं)
धर्म=धर्म (एव=ही)
न=नाहीं, स्याद्=होय

अतः=यासूं
तस्मात्=वासूं
मोचनं=मुक्ति, न=नाहीं
(भवति=हाय हे)

भावार्थ : वर्णाश्रमवारेनके काज वेदादि शास्त्रनमे जेसो मुख्य धर्म निरूपित कियो हे तेसो ताको अनुष्ठान तो अब शक्य हे नाहीं. तातें छलसों यथाकथञ्चित् वा धर्मको अनुष्ठान करेसूंहु धर्म सिद्ध होत नाहीं. तासो तत्तद् वर्णीनके तथा आश्रमीनके काज जेसो धर्म वेदादि शास्त्रनमे निरूपित कियो हे ताके अनुष्ठानतें संसारते बचिवो अब शक्य नाहीं हे॥223॥

टीका : यदि भगवानको मुक्त करिवेको ही स्वभाव हे तो वेदोक्त यज्ञादिद्वारा ही क्यों नाहीं मुक्त करे हें? एसी शङ्का नाहीं करनी. कलिकालके दोषसों वेदादिक मुक्तिके साधक नाहीं होय सके हें. यथावत् यज्ञोपवीतादिक संस्कार भये विना ब्राह्मण्यादि देवतानको प्रवेश देहमें नाहीं होवे हे. तथा आश्रमनमे जेसे आचार कहे हें वे आचारहु नाहीं बनि सके हें. तासों कलियुगमें कियो भयो धर्म नाममात्रको धर्म हे. एसे धर्मसों अपूर्व नाहीं होय. अपूर्व विना मुक्त्यादिक फलहु नाहीं होय. जब भगवाननने या प्रकार जान्यो तब भक्तिमार्गको कथन कियो. तासों अभी कलिकालमें अन्य मार्ग फलदायक नाहीं हें॥223॥

एवं मार्गस्य उत्तमत्वं प्रतिपाद्य सात्विकान् उपदिशति बुद्धिमान्इति.

बुद्धिमानादरं तस्मिन् छले साध्येऽपि दुःखतः॥
त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत्॥224॥

परमादरो बहुषु न सम्भवति. अतएव एकस्मिन् कर्तव्यः. तत्र वेदमार्गापेक्षयाऽपि भक्तिमार्गस्य उत्तमत्वप्रतिपादनात्, साम्प्रतम् अन्यस्य अभावात्, आदरेण भक्तिमार्गे प्रविशेत्. मार्गे प्रवेशङ्का त्रेणैव कृतार्थत्वात्॥224॥

दुःखतः=दुःखसों, अपि=हु
छले=छलसों, साध्ये=साध्य
तस्मिन्=वा, मार्गे=मादेयवेवारे
भक्तिमार्गे=भक्तिमार्गमें

समाविशेत्=आछिभांतिसोंप्रवेश करे

भावार्थ : ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र के वर्णभेदवारे अरु ब्रह्मचारी-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासी आश्रमभेदवारे अधिकारीनके काज वेदादि शास्त्रनमे जो कर्तव्य उपदिष्ट भये हें तिनको अनुष्ठान या कलिकालमें दुःशक होयवेसूं यथाकथञ्चित् मनकुं मनायवेकुं होय अथवा पाषण्डके बिना सम्भव नाहीं होय. तातें ऐसें विधिविहीन अनुष्ठान करिवेसों मोकों मुक्ति प्राप्त होयगी ऐसो मिथ्या आदर छांडिके बुद्धिमान अधिकारिकु ध्रुवफलवारे भक्तिमार्गको आश्रय ग्रहण करिवो उचित हे॥224॥

टीका : या प्रकार भक्तिमार्गकी उत्तमताको वर्णन करिके श्रीवल्लभाचार्यजी महाप्रभुजी सात्विक जीवकुं उपदेश देते हें
बुद्धिमानादरम् इति.

कलियुगमें तो कर्मादिक सर्वथा ही नाहीं बन सकें परन्तु सत्ययुगादिकनमे हु "गहना कर्मणो गतिः" (भग.गीता4।17) इत्यादि गीतावाक्यानुसार (कर्मकी गति गहन बताई हे तासों) दुःखकरिकें सिद्ध होय सके एसे कर्मादिक मार्गनमे आदरको त्याग करनो.

अर्थात् बहुत मार्गनमे परम आदर नाहीं बन सके हे तासों एक मार्गके विषे ही आदर करनों. वेदमार्गकी अपेक्षा भक्तिमार्ग उत्तम हे. तथा अभी अन्य मार्ग विद्यमानहु नाहीं हें. तासों आदरपूर्वक बुद्धिमान् पुरुष भक्तिमार्गमें ही प्रवेश करे.
"अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्,
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः"
——(भग.गीता9।30) इत्यादि गीतावाक्यमें स्पष्ट ये बात लिखी हे के दुराचारीहु पुरुष अनन्य होयकें भगवत्सेवा करतो होय तो वाकुं सत्पुरुष समझनो. तासों भक्तिमार्गमें प्रवेश होत ही जीव कृतार्थ होय जावे हे॥224॥
ननु एवं पाषण्डानामपि वचनानि भवन्ति इति आम्य आह विरुद्धकरणं नास्ति इति.
विरुद्धकरणं नास्ति प्रक्रिया न विरुद्ध्यते॥
कल्पितैरेव बाधः स्याद् अवोचाम प्रमाणताम्॥225॥
न अत्र श्रुति-स्मृतिविरुद्धाचारो, नापि प्रमेयं वेदविरुद्धम्. अतो न अत्र विरुद्धसम्भावनापि. ननु पराश्रया मुक्तिः मायावादादिभिः निराकृतेति कथं न प्रमेयविरोधः? तत्र आह कल्पितैरैव बाधःस्याद् इति. ते हि स्वमात्रं फलत्वेन कल्पयन्ति

तत्तु अप्रामाणिकम्, 'आत्म'शब्दस्य भगवद्वाचकत्वात्. नतु जीवपरत्वं वेदान्तानाम्, नापि जीवस्य फलरूपत्वम्. अतः परमानन्दः अधिको भवतीति न कदापि मुक्तिः स्वाधीना. अतः तत्र स्नेहएव तत्प्राप्तिहेतुः. अतो युक्त्यापि भगवन्मार्गस्य प्रामाण्यं साधितम् इति अर्थः॥225॥

(अत्र भक्तिमार्गे=या भक्तिमार्गमें)
विरुद्धकरणं=विरुद्धक्रिया
न=नाहीं, अस्ति=हे
प्रक्रिया=प्रक्रियाहु
न विरुद्ध्यते=विरुद्ध नाहीं हे
(शास्त्रप्रामाण्यस्य=शास्त्रके प्रामाण्यको)
बाधः=बाध
कल्पितैः=कल्पित
(प्रकारैः=प्रकारसूं)
एव=ही, स्यात्=होय हे
प्रमाणताम्=प्रमाणताकुं
अवोचाम=कहे हें

भावार्थ : या भक्तिमार्गमें वेदादि शास्त्रन्तें विरुद्ध तो कछु करिवो हे नाहीं. तेसें ही या मार्गकी प्रक्रियाहु वेदादिशास्त्रन्तें विरुद्ध नाहीं हे. तोऊ अविहित होयवेतें वेदादिशास्त्रनको प्रामाण्य तो बाधित होय सके! एसी शङ्का को समाधान यों जाननो जो भक्तिको प्रकार अविहित होयवेपेहु वेदादि शास्त्रनमे अनिरूपित नाहीं हे. तातें भक्तिप्रक्रिया कल्पित नाहीं हे सो प्रमाण कह्यो॥225॥

टीका : श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करें हें, जेसे पाषण्डी लोग अपने मार्गनमे जीवनकु फंसायवेके अर्थ अपने मार्गकुं सब मार्गन्सों उत्तम बतावें हें तासों जा प्रकार पाखण्डीनके वचन होवे हें वा प्रकार हमारे वचनकु मति मानियो. क्योंके पाषण्डीनके मतनमे जेसें श्रुति-स्मृतिसों विरुद्ध आचरण होवे हे एसें या भक्तिमार्गमें श्रुति-स्मृतिसों विरुद्ध आचरण नाहीं हे. वेदमें जो परमात्मा परब्रह्मरूप प्रमेयको प्रतिपादन हे वाहीकुं भक्तिमार्गमें प्रमेय मान्यो हे. तासों भक्तिमार्गमें वेदविरुद्धकी सम्भावना न करनी.

शङ्का : मायावादीनने वेदमें जो 'आत्मा' शब्द हे वाकुं जीवको नाम मान्यो हे. तब शरीर सम्बन्धी जीवात्मा वेदको प्रमेय भयो ओर वाही जीवात्माके आधीन मुक्ति होनों माने हें. तब उनके मतानुसार स्वाधीन मुक्ति भई. ओर भक्तिमार्गमें तो परमात्माकुं प्रमेय मान्यो हे ओर मुक्तिहु उनहीके आधीन मानी हे. तब वेदको तथा भक्तिमार्गको एक प्रमेय केसे भयो?

उत्तर: कल्पितै: इति. मनःकल्पित वाक्यन्सों उन वादीनने "तरति शोकमात्मवित्" (छान्दो.उप.7।1।3) "आत्मलाभात् न परं विद्यते" () आत्माकुं जानिवेवारो शोककुं तरि जावे हे इत्यादि वाक्यनमे 'आत्मा' शब्दको अर्थ शरीर सम्बन्धी जीवात्मापरक लगाय लीनो हे. याहीसों वेदार्थके सन्देह दूर करिवेवारे व्यासजीनें "अनुपपत्तेस्तु न शारीर:" (ब्रह्मसूत्र1।2।3) या सूत्रमें वेदमें ब्रह्मप्रकरणपठित 'आत्म'शब्द परब्रह्मवाचक हे, जीववाचक नाहीं हे ये निर्णय कियो हे. तासों वे वादी अपने जीवकुं फलरूप मानें हें ये बात प्रमाण विरुद्ध हे. वेदमें 'आत्म'शब्द भगवानको वाचक हे. वेदान्तभाग जीवपर नाहीं होय सके हे. जीव फलरूपहु नाहीं होय सके हे. क्योंके जीवमें सत्ता-चैतन्य दो ही गुण हें. भगवानमे सत्ता, चैतन्य ओर आनन्द एसें तीन पदार्थ हें. आनन्द भगवानमे अधिक हे, जीवमें नाहीं हे. जीव तो अंश हे. भगवान् तो जीवसों अधिक हें. तामें "अंशो नानाव्यपदेशात्" (ब्रह्मसूत्र2।3।43) "अधिकन्तु भेदनिर्देशात्" (ब्रह्मसूत्र2।1।22) इत्यादि व्याससूत्र प्रमाण हें. तासों भक्तिमार्ग तथा वेद दोउनके प्रमेय भगवान् एक ही हें. तासों मुक्तिहु दोनों भगवानके आधीन हें, जीवके आधीन नाहीं हें. तासों भगवानकी प्राप्तिको कारण स्नेह ही हे. या प्रकार युक्तिसोंहु भक्तिमार्गकुं प्रामाणिक बतायो॥225॥

सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि॥
तस्य सर्वम् अशक्यं स्यान् मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि॥
कृपायुक्तस्यतु यथा सिध्येत् कारणमुच्यते॥226॥

परम् अत्र न सर्वेषां फलमुखाधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते॥226॥

यस्य=जाकुं
हरिकृपा=श्रीकृष्णकी कृपा
सर्वथा=काहु प्रकारसूं

चेत्=यदि, न=नाहीं
भविष्यति=होयगी
तस्य=वाकुं, अस्मिन्=या
मार्गे=मार्गमें, अपि=हु
सुतराम्=सुतरां
सर्वं=कछु
हि=
निश्चितरूपसूं
अशक्यं=अशक्य
स्यात्=होय
कृपायुक्तस्य=कृपावारेकुं
तु=तो, यथा=जा प्रकारसूं
सिद्ध्येत्=सिद्ध होवे
(तथा=वा प्रकार)
कारणम्=कारण/उपाय
उच्यते=कहे हें

भावार्थ : तोऊ जा व्यक्तिपे हरिकृपा रञ्चकहु न होय ताकों तो या मार्गतेहुं कछु सिद्ध होयवेवारो नाहीं हे. परि जापे भगवत्कृपा हे ताकों या मार्गतें केसें फल सिद्ध होय सकत हे ताके कारणनको निरूपण श्रीमहाप्रभु अब करत हें॥226॥

शङ्का : यदि ये मार्ग सर्वोत्तम हे तो सब ही बुद्धिवारे पुरुष यामें क्यों नाहीं प्रवृत्त होत हें?

उत्तर: सबही पुरुषनकु या भक्तिमार्गमें फलदायक अधिकार नाहीं हे. जापें भगवानकी कृपा हे वाहीकुं भक्तिके मुख्यफलकी प्राप्ति होय हे. पापनाश तो "देवोऽसुरो मनुष्यो वा" (भाग.पुरा.7।7।50) इत्यादि वाक्यानुसार दैव-आसुर कोऊ जीव होय, भक्ति करिवेसों मुक्त होय ही हे. भगवानकी कृपा तो भक्तिमार्गमें रुचिसों जाननी. भगवानकी कृपा विना या मार्गमें रुचि नाहीं होय हे. तहां, या जीवकी भक्तिमार्गमें रुचि हे के नाहीं हे ये केसे जान्यो जाय? ताको समाधान करत हें: वेष, भाषा, आचरण आदिसों मार्गकी रुचि ज्ञात होय हे. अर्थात् जो पुरुष सदा तिलक-

कण्ठी आदि भक्तके वेशकुं धारण करतो होय, दृढताके वचन बोलतो होय, एकान्तमें तथा सबनके सम्मुखहु भगवानके नामनकु जपतो होय, भक्तिमार्गके आचारनके अनुसार सदा बर्ताव करतो होय तब जाननों के या पुरुषकी भक्तिमार्गमें रुचि हे॥ 226॥

तत्र आदितः साधनानि आह कृष्णसेवापरम् इति.
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्॥
श्रीभागवत-तत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्॥227॥

यो हि गुरुः सेवाम् उपदेक्ष्यति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा कथं न स्वयं कुर्याद्! इति सेवापरएव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति दम्भादिरहितम् इति. सेवा च प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी. अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथाकरणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह श्रीभागवततत्त्वज्ञम् इति. जिज्ञासुः नतु कौतुकाद्याविष्टः. भजनं सर्वभावेन तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा कर्तव्या॥227॥

जिज्ञासुः=जानिवेकी इच्छावारो
कृष्णसेवापरं=श्रीकृष्णकी सेवामें परायण
दम्भादिरहितं=सम्भ आदिसों रहित
श्रीभागवततत्त्वज्ञं=श्रीभागवतके तत्त्वकुं जानिवेवारे
नरं=पुरुषकुं
वीक्ष्य=आछि भांतिसों देखिकें
आदरात्=आदरसूं (तं=वाकुं; गुरुत्वेन=गुरुरूपसूं)भजेत्=भजे

भावार्थ : जो कृष्णकी सेवामें तत्पर रहतो होय, लोकैषणा किंवा शिष्यैषणा आदि दुर्गुणनके वश दम्भादिसों रहित होय, श्रीभागवतके अनुसारी मुख्य तत्त्व श्रीकृष्ण तथा कृष्णभक्ति कों आछी रीतिसों जानत होय एसे पुरुषकों जिज्ञासु शिष्य गुरुत्वेन आदर दे।227॥

शङ्का : भगवत्कृपासों ही उद्धार होय जायगो साधन करिवेको कहा काम हे?

उत्तरः भगवानके अनुग्रहसों तो भक्ति प्रकट होय हे. प्रकट भई प्रेम-भक्तिकुं साधनकी अपेक्षा हे. तहां गुरुकी उपासना प्रथम साधन हे. “निरालम्बो यथा लोके स्थानभ्रष्टो निगद्यते, हरेः कृपाविशिष्टोऽपि गुरुहीनस् तथैव च” ( ) अर्थः जा पुरुषको

कोई आलम्बन नाहीं होय वाकुं लोकमें स्थानभ्रष्ट कहे हें. एसें ही भगवत्कृपा सहितहु पुरुष यदि गुरुहीन होय तो वाकुंहु स्थानभ्रष्टके समान समुझनो. तासों (जिज्ञासुको) प्रथम (कर्तव्य हे) कृष्णसेवामें परायण होय वाकुं गुरु करनों. जो गुरु ओरनकु सेवा करिवेको उपदेश दे हे वो गुरु स्वयं भगवत्सेवाकुं उत्तम जानेगो तो स्वयं भगवत्सेवा क्यों नाहीं करेगो! तासों सेवापरायण होय वो ही गुरु (करिवे योग्य होत) हे. तहांहु कोई निमित्तसों सेवा नाहीं करतो होय. काम, लोभ, प्रतिष्ठा के अर्थ कपटसों सेवा नाहीं करतो होय. तथा सर्वप्रमाणनके सारभूत श्रीभागवतके अनुसार ही कीनी भई सेवा पुरुषार्थ सिद्ध करिवेवारी हे. अन्यथा, मनके अनुसार विपरीत सेवासों फलसिद्धि नाहीं हे. तासों श्रीभागवतके तत्त्वकुं जानिवेवारो होय वाकु गुरु करनों. ओर शिष्यकुं गुरुके समीप जिज्ञासु होयके जानों चहिये, कैतुकाविष्ट होयके जानों योग्य नाहीं हे. आदरपूर्वक, सर्वभाव करिकें, ऐहिक-पारलौकिक सहित आत्माको (प्रभुकुं) निवेदन करिके, आदरपूर्वक गुरुकी आज्ञा प्रमाण सदा करतो रहे. ता पीछे गुरु जा प्रकार भगवत्सेवा करनों सिखावें ताके अनुसार भगवत्सेवा करनो योग्य हे॥227॥

सच दुर्लभ: इति. तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह तदभावे इति.

तदभावे स्वयं वाऽपि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्॥
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्॥228॥

क्वचिद् देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते हरे: मूर्तिं कृत्वा भजेत्. अयमेव अस्य प्रकार: उत्तमः. यन् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. तत्र मूर्ते: भगवत्वं त्रेधा निरूपयति तद्रूपम् इति. वस्तुविचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् "एनम् उद्धरिष्यामि" इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो भक्तिमार्गानुसारेण आह तत्र च स्थितम् इति. मूर्तौ स्थितम्. परं यत्र हस्त: तत्र हस्त: तत्-तदवयवेषु तत्-तदयवा: इति॥228॥

तदभावे=वाके अभावमें
स्वयं=खुद, वापि=भी
हरे:=श्रीकृष्णकी मूर्तिं=मूर्तिकुं, कृत्वा=करिके
क्वचित्=कहूं, सदा=हमेंशा
परिचर्यां=परिचर्या
कुर्यात्रूप
तत्र=वहां

च=ही
स्थितम्=रह्यो भयो हे

भावार्थ : कृष्णसेवामें तत्पर, दम्भादिक दोषन्सों रहित तथा श्रीमद्भागवतपुराणके मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्वकुं जानिवेवारो कोऊ गुरु यदि मिलतो न होय तो आपु ही भगवत्स्वरूपकों पधरायके कहूं सर्वदा सेवा करनी. सो काहेतें जो सर्वनामरूपनको धारण करिवेवारे श्रीहरि निजमूर्तिमें काहेकों विद्यमान न होंयगे?॥228॥

टीका : तहां श्रीवल्लभाचार्यजी कलियुगकुं बलिष्ठ देखकें आगें होयवेवारे मनुष्यनमे गुरुपनेके लक्षणको अभाव विचारिके अपने ही स्वरूपमें पुष्टिमार्ग अर्थात् "पोषणं तदनुग्रहः" (भाग.पुरा.2।10।4) या वाक्यानुसार अनुग्रह विशिष्ट भक्तिमार्गके गुरुत्वको स्थापन करते भये सेवाको प्रकार दिखावें हें तदभावे इति.

जा देशमें भक्तिमार्गके विरोधी नाहीं रहते होंय एसे कोई देशमें स्थित होयकें भगवानकी मूर्तिकी सेवा करे. अर्थात् भगवानके स्वरूपमें "ये मेरे स्वामी हें" या प्रकारको भाव राखिकें, आपुनकु भगवानको सहजदास समुझिके, दासके कार्यकुं करतो रहे.

यहां कथाश्रवण, भगवानके प्रसन्नताके अर्थ धर्म-अर्थादिकनको आचरण आदि धर्मनको प्रथम वर्णन नाहीं करके प्रथम मूर्तिसेवाको प्रकार दिखायो हे ताको कारण ये हे के सब साधननमे ये मुख्य साधन हे. क्योंके मूर्तिमें कियो भयो वस्त्र, आभूषण, नैवेद्यादिक उपचार साक्षात् भगवानकु अङ्गीकार करायो समुझ्यो जावे हे.

तहां मूर्तिमें तीन प्रकारसों भगवत्त्वको निरूपण करें हें. प्रथम तो सर्वपदार्थ भगवद्रूप हे तासूं मूर्तिहु भगवद्रूप हे. विशेषता इतनी अधिक हे: जेसें प्रह्लादजी आदि भक्तनके अर्थ स्तम्भादिकनमे सों आप प्रकट भये हें एसें ही सेवा करिवेवारे भक्तके उद्धारार्थ आप मृत्तिका आदिकके माध्यमसों मूर्त्तिरूपमें प्रकट होत हें. जेसें इन्द्रद्युम्नके उद्धार करिवेके अर्थ दारुब्रह्मरूप श्रीजगन्नाथरायजी प्रकट भये. तक्षकद्वाराहु जेसी इच्छा हती वेसो ही आकार भगवदाविष्ट चन्दनके काष्ठको प्रकट भयो ये बात जगन्नाथमाहात्म्यमें प्रसिद्ध हे. एसें ही मूर्ति सिद्ध होयवेमें जीवकी कृतिद्वाराहु जेसें

स्वरूपसों प्रकट होयवेकी इच्छा होय हे वेसें ही स्वरूपको प्रादुर्भाव होय हे. भक्तिमार्गानुसार तो भगवानको स्वरूप मूर्तिमें स्थित हे ये निश्चय राखनों॥228॥

तत्र हेतुः

साकार-व्यापकत्वाच्च मन्त्रस्यापि विधानतः॥
श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः॥229॥

व्यापकं साकारं ब्रह्म इति. अतः सर्वे कटकाद्युपचाराः भगवदवयवेष्वेव साक्षात्कृता भवन्ति. उपासनामार्गानुसारेणापि मूर्तावेव भगवद्भजनं भवति इति आह मन्त्रस्यापि विधानतः इति. न्यासादिपूर्वकं सर्वपूजा. मूर्तौ विशेषम् आह श्रीकृष्णम् इति. मूर्त्यन्तरे द्व्यन्तरितत्वम्. यथावत् मुख्यतया प्राप्तैः द्रव्यैः उपचाराः कर्तव्याः॥229॥

यथालब्धोपचारकैः=प्राप्त भये
उपचारन्सूं, भक्त्या=भक्तिसूं
श्रीकृष्णं=श्रीकृष्णकुं
पूजयेद्=पूजे
साकार-व्यापकत्वात् =साकार
ओर व्यापक होयवेसूं, च=ओर
मन्त्रस्य=मन्त्रके
अपि=हु, विधानतः=विधानसों

भावार्थ : अनिन्दित वृत्तिसों तथा सहजतया उपार्जित होय एसी भगवत्सेवापूजौपयिक सामग्रीन्सों भक्तिपूर्वक श्रीकृष्णमूर्तिको पूजन करनों. सो काहेतें? तहां कहत हें जो परमात्मा सर्वव्यापी हें, सो कछू मूर्तिकों छांडिके सर्वव्यापी नाहीं हें. अर्थात् सर्वव्यापी होयवेतें निजमूर्तिमेंहु विद्यमान् तो हें ही. तहां शङ्का होत हे जो एसी व्यापकता तो परमात्माकी अशुद्ध जुगुप्सित पदार्थनमे हु हे, सो तहांहु क्यों भगवत्पूजनको उपदेश नाहीं करत हो? तहां कहत हें जो जुगुप्साजनक अशुद्ध आकार किंवा मूर्तिनमे सर्वव्यापी परमात्माके पूजनके मन्त्र किंवा विधि शास्त्रगोचर होत नाहीं हे परि मूल आकारके रूपवारी मूर्तिमें साकार-व्यापक परमात्माके पूजनकी मन्त्र-विधि शास्त्रगोचर हे॥229॥

टीका : जहां मूर्त्तिके श्रीहस्त-चरणारविन्द हें वहां ही भगवानकेहु हस्त-चरणादिक हें. मूर्तिके सब अवयवनमे भगवदवयव हें. क्योंके भगवान् साकार-व्यापक ब्रह्मरूप हें. तासों कडा, किरीट, कुण्डल आदि उपचार भगवानके अवयवनमे ही साक्षात् अङ्गीकृत होय हें. उपासनामार्गके अनुसार मन्त्र सहित न्यासपूर्वक पूजाहु मूर्त्तिमें ही श्रेष्ठ होय सके हे. तासों ज्ञानी, भक्त तथा उपासनामार्गी इन तीनोनकु ही मूर्तिपूजन करनों योग्य हे.

अन्य देवतानकी मूर्त्तिमेंहु पूजन होय सके हे परन्तु वहां दो व्यवधान होवें हें. भगवानको अंश अक्षरपुरुष (ये प्रथम अन्तराय ओर), वाके अंशावतार तथा अन्य देवता उनको आवेश (ये दूसरो अन्तराय). सो लोहके गोलामें जेसे अग्निको आवेश होत हे तेसें मूर्त्तिमें (अन्यान्य देवतानको) आवेश होत हे. श्रीकृष्णकी मूर्तिमें अंशी मूलरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको ही आवेश होत हे. तासों श्रीकृष्णकी ही प्रेमसहित सेवा करनी. राजाधिराजको जा प्रकार उपचार कियो जाय हे ता रीतिसों सेवा करनी. जितनें पदार्थ प्राप्त होंय विनसों उपचार=उचित सत्कार करतो रहे॥229॥

तत्रापि भक्तिमार्गानुसारेण उपचारा: मुख्या: इति आह यथा सुन्दरतां याति इति.

यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैर् आभरणैरपि॥
अलमुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरःसरम्॥230॥

सप्रेम इति अनुद्वेगार्थम्. स्थानं मन्दिरम्. तदलमारपूर्वकमेव भगवदलमरणं कर्तव्यम् इति अर्थः॥230॥

वस्त्रै:=वस्त्र
आभरणै:=आभूषणकेद्वारा
अपि=हु
यथा=जा प्रकारसूं (भगवन्मूर्ति:)
सुन्दरतां=सुन्दरताकुं
याति=प्राप्त करे
तथा=वा प्रकारसों
स्थानापुर:सरं=स्थानादि पूर्वक
सप्रेम=प्रेम सहित
अलमुर्वीत=शृंगारे

भावार्थ : भगवत्स्वरूपके बिराजवेके स्थानके अलमरण पूर्वक वस्त्रन्सों तथा आभूषणन्सों भगवन्मूर्ति जेसें सुन्दर दर्शन देवेवारी बनि जाय तेसें सप्रेम भगवन्मूर्तिकूहुं शृंगारादि धरावने॥230॥

टीका : भक्तिमार्गकि अनुसार ही भगवत्सत्कार करनो योग्य हे. जेसें अत्यन्त सुन्दरता प्रकट होय एसी रीतिसों प्रेमसों वस्त्र-आभूषण धारण करावने. प्रेम सहित सेवा करिवेसों चित्तको उद्वेग मिटे हे. प्रथम मन्दिरकी सोहनी, मन्दिरवस्त्र, छिडकाव, मांडना आदिकन्सों सेवा करनी. या प्रकार चन्दोवा, पिछवाई, सिंहासन, शैय्याजी आदि पदार्थनकी सेवाहु प्रथम ही कर राखनी. तासों समयपें विलम्ब नाहीं होय॥ 230॥

एवं प्रवृत्तस्य भार्यादीनां विनियोगम् आह भार्यादिरनुकूलश्चेद् इति.

भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम्॥
उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत्॥
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपरायुखाः॥231॥

भार्यादिकं गृहम्. विष्णुपरायुखा भार्यादयः, अन्यथा परित्यागे दोषएव. अनेन अवैष्णवैः सह अस्मिन् मार्गे न स्थातव्यम् इति उक्तं भवति॥231॥

भार्यादि:=पत्नि आदि
अनुकूल:=अनुकूल, चेत्=होंयतो
भगवत्क्रियां=भगवत्सेवाकुं
कारयेद्=करावे
उदासीने=उदासीन होयवेपें
स्वयं=खुद, कुर्यात्=करे
प्रतिकूले=प्रतिकूल होयवेपें
गृहं=घरकुं, त्यजेत्=छोड़दे
तत्त्यागे=विनके त्यागमें दोष
न=नाहीं, अस्ति=हे
यतो=क्योंके
विष्णुपरायुखा:=श्रीकृष्णसूंविमुखहें

भावार्थ : परिवारके भार्या आदि सदस्य यदि अनुकूल होंय तो विनसोंहु भगवत्सेवा करावनी. परि वे यदि उदासीन होंय तो न करावनी, अर्थात् आपु ही करनी. अरु यदि वे भगवत्सेवाको विरोध करत होंय तो विनको परित्याग करनो. सो काहेते? तहां कहत हें जो विष्णुविमुखको संग करिवो महान बाधक हे. तातें एसे विष्णुविमुख भार्यादि परिवारजननके त्यागमें कछू दोष नाहीं हे॥231॥

टीका : स्त्री-पुत्रादिकन्सोंहु सदा भगवत्सेवा करवाते रहेनो. क्योंके सेवामें सहायताकी अपेक्षा रहे हे. पुरुष प्रभूनको वस्त्र-आभूषणादि धारण करावें जितने समयमें स्त्री व्यञ्जन सिद्ध करले तो भोग आयवेमें विलम्ब नाहीं होय. यदि स्त्री-पुत्रादिकनकी
साधनप्रकरणम्
साधनप्रकरणम्
भगवत्सेवा करिवेमें उदासीन वृत्ति होय, अर्थात् सेवामें प्रीति नाहीं होय तो विनसों सेवा न करवावे, आप स्वयं ही सेवा करे. क्योंके आग्रह करके स्त्री-पुत्रादिकन्सों सेवा करवायवेमें उनकुं क्लेश होय ओर क्लेशसहित करी भई सेवाको अङ्गीकार भगवान् नाहीं करें हें. यदि स्त्रीपुत्रादिक प्रतिकूल अर्थात् सेवाके विरोधी होंय, आपुनकोहु सेवा करिवे नाहीं देत होंय, तो उनकुं छांडि देनें. सेवासों प्रतिकूल भये विना स्त्रीपुत्रादिकनके त्यागमें दोष हे.

स्त्री-पुत्रादिकनको ही नाम यहां 'गृह' हे. "गृहिणी गृहम् उच्यते". उनहीको त्याग हे, घरको त्याग नाहीं हे. घर छांडिवेसों तो सेवाहु नाहीं बन सके हे. "ततो दु:स्सङ्गम् उत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्" (भाग.पुरा.11।26।26) इत्यादि प्रमाणानुसार भगवान्सों बर्हिमुख स्त्री-पुत्रादिकनके त्यागमें दोष नाहीं हे. ये कहिके अवैष्णवके सङ्ग नाहीं बेठनो ये बातहु जताई॥231॥

जीवने प्रकारम् आह सर्वथा वृत्तिहीनश्चेद् इति.
सर्वथा वृत्तिहीनश्चेद् एकं यामं हरौ नयेत्॥
पठेच्च नियमं कृत्वा श्रीभागवतमादरात्॥232॥

याममात्रं भगवत्सेवां विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्. पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम्. "अचौराणाम् अपापानाम्" (भाग.पुरा.7।11।30) इति वचनात्. जीविकायां चित्तं व्यापृतं पुन: भगवति योजनार्थम्

उपायम् आह पठेच्च नियमं कृत्वा इति. अनेन अल्पबहिर्मुखतायामपि भागवतम् अनुसन्धेयम् इति उपायः कथितः॥232॥

सर्वथा=सब प्रकारसों
वृत्तिहीन:=आजीविकाबिनाकोहोय
चेद्=तो, एकं=एक
यामं=प्रहर, हरौ=
श्रीकृष्णमें
नयेत्=लगावे, आदरात्=आदरसों
नियमं=नियम, कृत्वा=करके
श्रीभागवतम्=श्रीभागवत्कुं च=
अवश्य, पठेत्=पढे

भावार्थ : आजीविकामें व्यापृत होयवेके कारण समय पूरो-पूरो न मिलत होय तोऊ एक याम (अहोरात्रको अष्टमांश) जितने समयको तो भगवदर्थ विनियोग करनो ही, तेसें ही आदर पूर्वक श्रीभागवतकोहु पाठ नित्य-नियमसों करनो॥232॥

टीका : जीवननिर्वाहको प्रकार दिखावे हें. सर्वथा=कोई प्रकारकी जीविका न होय तो प्रहर भर भगवत्सेवा करके पाछें अनिषिद्ध उपायसों जीवन(=व्यापारादिक) करे. (पारिवारिक) परम्परासोंहु यदि निषिद्ध वृत्ति चली आती होय तो वाकुंहु छोड देनो योग्य हे. यद्यपि भक्तिमें सब जीवनकु अधिकार हे परन्तु आहारकी शुद्धि भयेसों सत्वशुद्धि, अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि होय हे. तासों शुद्धवृत्तिसों जीविका करनी.

जिविकाके कार्यमें लगे भये चित्तकों पाछो भगवानमे लगायवेके अर्थ उपाय बतावे हें पठेच्च इति. नियमपूर्वक श्रीभागवतको पाठ करनो. थोडीहु बहिर्मुखता प्रतीत होय तो श्रीभागवतको पाठ करनो. ये ही भगवानमे चित्त लगायवेको उपाय हे॥232॥

एतद् भजनम् आन्तरं मुख्यम्. तत्र यथा बहिर्भजने प्रतिकूलपरित्याग: तथा आन्तरभजनेऽपि प्रतिकूलपरित्यागम् आह सर्वं सहेत इति.

सर्वं सहेत परुषं सर्वेषां कृष्णभावनात्॥
वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत्॥233॥

यथा गृहम् अव्याकुलं बहिःपूजायां कर्तव्यं तथैव हृदयम् अव्याकुलं विधेयम्. “तथाऽरिभिर् न व्यथते शिलीमुखैः” (भाग.पुरा.4।3।19) इति वाक्याद् दुष्टानां वचनेन क्षोभो भवति. तत्र तानि वचनानि हितत्वेन ग्राह्याणि. अत्यन्तं विरुद्धानि चेत् प्रकारभेदेन. तत्र उपपत्तिम् आह कृष्णभावनाद् इति. कृष्णएव अस्मान् उपदिशति “बहिर्मुखतया न स्थातव्यम्” इति अर्थः. उत्तमगुरुद्वयशिक्षा अनुसन्धेया इति आह वैराग्यम् इति॥233॥

कृष्णभावनात्=श्रीकृष्णकी भावनासों
सर्वेषां=सबनके, सर्वं=सब
परुषं=तिरस्कार
सहेत=सहन करे
वैराग्य=
वैराग्य, च=ओर
परितोषं=सन्तोषकुं
सर्वथा=कोऊ प्रकारसूं
न=नाहीं, परित्यजेत्=छोड़े

भावार्थ : कोउ कछु कटु बात कहे तब वा व्यक्तिके मुखसों प्रभु मेरो अभिमान दूर करिवो चाहत हें एसी भावना करिके चित्तकों अव्याकुल राखिवो उचित हे. अप्राप्त विषयनमे वैराग्य अरु प्राप्त विषयनमे परितोष कबहु छांडने नाहीं॥233॥

टीका : ये सेवा आन्तरीय मुख्य हे. अर्थात् जेसें श्रीगङ्गाजीको प्रवाह समुद्रमें सर्वदा अविच्छिन्न मिलतो रहे हे वा प्रकारसूं प्रेमप्लुत होयकें सर्वदा श्रीकृष्णमें मनकी अविच्छिन्न गति राखनों ‘मानसीसेवा’ हे. ये मुख्य हे. जेसें बाहिर-देहसों सेवा करिवेमें सेवाविरोधी पदार्थको त्याग हे एसें भीतर-हृदयमें सेवा करिवेमेंहु जो विरोधी होंय उनके त्यागको वर्णन करे हें सर्वं सहेत इति.

जेसें स्वरूपसेवा करिवेमें गृहकी व्याकुलता दूर करनी आवश्यक हे एसें ही आन्तरसेवा करिवेके अर्थ हृदयकी व्याकुलताकुं दूर करनीहु आवश्यक हे. जेसो कष्ट शत्रुके बाण लगवेसों नाहीं होय हे एसो दुष्टनके बचनन्सों हृदयमें क्षोभ होय हे. यदि उनके वचनसों हृदय व्याकुल होय तो भीतरकी सेवा (आन्तर्भजन) नाहीं बन सके.

तासों दुष्टवचननको अपने हितकारी समुझिके सुनि लेने. यदि वे वचन अत्यन्त विरुद्ध होंय तो “श्रीकृष्ण ही मोसों आज्ञा करें हें के बहिर्मुख होयकें नाहीं रहनों” एसें समुझि लेनो. परन्तु हृदयमें क्षोभ नाहीं होयवे देनो. उत्तम गुरुकी जो दोय शिक्षा उनकुं याद राखनों (उत्तमगुरुद्वयके सम्बन्धमें श्रीभागवतके 7।13।34 मेंहु देखनो). वैराग्य एवं सन्तोष कबहु नाहीं छोडने. आसक्ति राखिवेसों कपोत जेसे स्त्री-पुत्रादि सहित जालमें फंस गयो एसे आसक्ति राखिवेसों गृहस्थी फंस जावे हे. तासों वैराग्य राखनों. सन्तोष राखिवेसों पिङ्गला वेश्या कान्ताशा छांडिके सुखपूर्वक सोय गई. तासों सन्तोष कबहु नाहीं छोडनो॥233॥

एवं सहने हेतुभूतं विचारम् आह एतद् इति.
एतद् देहावसाने तु कृतार्थः स्यान् न संशयः॥
इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत् सदा॥234॥

भृतकः समयमिव देहावसानमेव चिन्तयेत्. एकापि परिचर्या सकृत् कृता परमपुरुषार्थदा इति. परं विद्यमानदेहस्य निष्कृत्यर्थं सदा परिचरेत्॥234॥

एतद्देहावसाने=या देहके
अवसान भयेपें, तु=तो
कृतार्थ:=कृतार्थ
स्यात्=होयगो (तत्र=तामें)
संशय: न (अस्ति)=शङ्का नाहीं हे
इति=एसो
मनसा=मनसूं
निश्चित्य=निश्चय करिके
सदा=हमेंशा, कृष्णं=कृष्णकी
परिचरेत्=परिचर्या करे

भावार्थ : या देहके छूटिवेपें मोकों भगवत्प्राप्ति निश्चित ही होयगी एसो मनमें दृढ विश्वास राखिके सर्वदा कृष्णकी परिचर्या (भजन) करनी॥234॥

एसें सहन करिवेको कारण ये हे के जेसें लोकमें सेवक स्वामीकी सेवा करते समय ये दृढ विश्वास राखे हे के “सेवाके अन्तमें फल अवश्य मिलेगो. तासों कब सेवा पूरी होय——कब फल मिले” एसें ही “कालं प्रतीक्षन् विमदो विमत्सरः” इत्यादि

वाक्यानुसार नारदजी अपनी मृत्युकी बाट देखते-देखते भगवत्स्मरण-कीर्तन परायण रहे आये हते. देहान्त भये पीछे भगवत्पार्षद होय गये. या प्रकार ही "देहके अन्तमें में अवश्य कृतार्थ होऊंगो" एसो दृढ निश्चय राखिके जहां तांई बन सके तहां तांई बाह्यसेवा——तनुजा-वित्तजा तथा आन्तरसेवा——मानसीकुं करतो रहे. ये सब ऊपर कह्यो उपदेश हीनाधिकारी तथा मध्यमाधिकारी के अर्थ हे. उत्तमाधिकारीकों तो भगवत्साक्षात्कार होयवेसों सेवामें आनन्द प्रकट होय जावे हे. फिर वो "विनामत्सेवनं जनाः" (भाग.पुरा.3।29।13) मुक्तिकुंहु नाहीं चाहे हे. सेवाकुं स्वतःपुरुषार्थरूप मानिकें वाके आनन्दमें निमग्न भयो सर्वदा सेवा ही करतो रहे हे.

तहां मन्द-मध्यमाधिकारी ये शङ्का करें के हमसों सर्वदा तो सेवा नाहीं बन सके! ताको ये उत्तर हे के एक वार करी भई प्रेम सहित एकहु सेवा परमपुरुषार्थकुं देवेवारी हे. श्रीभागवतमें लिखे हें "सकृदिष्ट्वादिपुरुषं परुषो याति साम्यताम्" (भाग.पुरा.6।18।66) अर्थ: एक बेर पूजन करके पुरुष भगवानके समानताकुं प्राप्त होय जावे हे. तहां शङ्का होय जो एक सेवासों ही कृतार्थता होय जायगी तब सर्वदा सेवा क्यों करनो? एसी शङ्का नाहीं करनी. क्योंके बाहिरकी सेवामें देहको जीवके ऊपर बडो उपकार हे. तासों वाके बदलेमें जीवकुंहु देहसों सेवा करायके देहकुं कृतार्थ करनों योग्य हे. नित्यप्रलयपक्षके अनुसार देह क्षण-क्षणमें अन्य होती चली जाय हे. उन क्षण-क्षणमें उत्पन्न होयवेवारे देहनकु कृतार्थ करिवेके अर्थ कोईभी क्षण सेवाविना नाहीं रहनों चहिये. तथा दण्डादि धारण करनों जेसे ज्ञानीदेहको निश्चय करायवेवारो हे तेसें भक्तदेहको निश्चय करायवेवारी सेवाहे॥234॥

ननु क्व देशे, कथं वा परिचरेद्? इति आकाङ्क्षायाम् आह सर्वापेक्षाम् इति.

सर्वापेक्षां परित्यज्य दृढं कृत्वा मनः स्थिरम्॥

दृढविश्वासतो युक्त्या यथा सिद्ध्येत् तथाचरेत्॥
वृथालाप-क्रिया-ध्यानं सर्वथैव परित्यजेत्॥235॥

सापेक्षम् असमर्थं भवतीति मूलं भगवदर्थे स्थापयित्वा साधनाभावाद् वैकल्यं जातमपि निवार्य चित्तं भगवत्येव स्थिरीकृत्य यथा पुत्रः पितरि मातरि वा विश्वासं करोति तथा दृढविश्वासो लौकिकयुक्त्या यथैव पूजा सिद्ध्यति तथैव कर्तव्यमिति लौकिकयुक्तिरेव उपदिष्टा. तद्युक्तिसिद्ध्यर्थं वृथालापादिकं प्राप्तं निषेधति वृथालाप इति. काय-वाङ्-मनसा स्वभावतः प्रवृत्तां क्रियां त्यजेत्॥235॥

सर्वापेक्षां=सब अपेक्षानको

परित्यज्य=त्याग करिके
मन:=मनकुं
दृढं=दृढ
कृत्वा=करिके
दृढविश्वासतो=दृढ विश्वाससों
युक्त्या (च)=ओर युक्तिसों
स्थिरं (कृत्वा)=स्थिर करिके
यथा=जा प्रकारसूं
(मन:दृढंस्थिरं)सिद्ध्येत्=होय
तथा=तेसें, आचरेत्=आचरण करे
वृथा=अनावश्यक
आलापक्रियाध्यानं=बोलनो-क्रिया-
-ध्यानकुं, सर्वथा=सब प्रकारसों
एव=निश्चित रूपसों
परित्यजेत्=पूर्णरूपसूं छोडे

भावार्थ : काहुसों कछू अपेक्षा न राखिवेतें मनमें दृढता सिद्ध होत हे. तेसें ही दृढ विश्वासतें अरु युक्ति (चातुरी)तें मन स्थिर होय सकत हे. सो मनकी दृढता अरु स्थिरता बनी रहे तेसो ही आचरण करनो चहिये. (काया, वाणी, अरु मन सों) वृथा क्रिया, वृथा आलाप तथा वृथा ध्यान कबहु न करनो॥235॥

टीका : अथवा

"वैधोपयोगोर्वरितस्य भूयो वैधोपयोगः प्रतिपत्ति- रुच्यते" ( ) तहां कोन देशमें केसे परिचर्या करनी एसी आशङ्का भई तहां आज्ञा करे हें सर्वापेक्षाम् इति. सब अपेक्षानकु छांडिके अर्थात् भगवानके अर्थ स्थापन करके, मनकुं भगवानके अर्थ अर्पण करके, सेवाके साहित्यमें अशक्यतासों कोई पदार्थकी हीनता देखिके हृदयमें उत्पन्न भई जो विकलता वाको निवारण करके, अर्थात् "माता-पिता पुत्रको हित ही करे हे एसे भगवान् मेरो हित ही करेंगें" एसो दृढ विश्वास करके, चित्तकुं भगवानमे ही स्थिर करके जेसी रीतिसों सेवा सिद्ध होय वेसे ही बरताव करनों. "मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च" (भाग.पुरा.11।19।22) या वाक्यमें "मेरे ही अर्थ भक्तनकु अङ्गनकी चेष्टा करनी चहिये" ये जो भगवानने आज्ञा कीनी हे यासों सेवाको ही श्रीमुखसों उपदेश दीनो हे.

चित्तकों एकाग्र राखे बिना कीनी भई सेवा आधिदैविकी नाहीं होय. तासों चित्तकुं एकाग्र राखनों. जितनेमें सेवा-साधन सिद्ध होय उतनो ही उपायचातुर्य करनो, अधिक नाहीं करनो. सेवार्थ लौकिक उपाय करिवेमें बहिर्मुखताहु नाहीं होय हे. लौकिक उपायादि करते समय देह-वाणी-मन इनकी वृथा चेष्टा नाहीं करनी. अर्थात् वाणीसों वृथा भाषण नाहीं करनो. शरीरसों वृथा चेष्टा नाहीं करनी. मनमें वृथा लौकिक पदार्थनको ध्यान नाहीं करनों॥235॥

यद्-यद् इष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः॥
येन स्यान् निर्वृतिश्चित्ते तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्॥236॥

भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्. तत् क्लिष्टं त्रिविधं 1.लोकक्लिष्टं 2.आत्मक्लिष्टं 3.चित्तक्लिष्टं च इति. अत: अक्लिष्टं निरूप्यते. लोके यद्-यद् इष्टतमम् आम्र-द्राक्षादि, आत्मन: अत्यन्तं प्रियं दुग्धादि, सन्मार्गोपार्जितं, न अन्येषां भागरूपम्, चिरकालमनोरथचिन्तितम्, अन्तःकरणप्रियम्. तेनैव चित्तनिर्वृतिः. इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्॥236॥

लोके=लोकमें
यद्-यद्=जो-जो
इष्टतमं=सबसूं अधिकअभिलषित
च=तथा, यत्=जो
आत्मन:=आपुनकु
अतिप्रियं=अत्यन्त प्रिय
चित्ते=चित्तमें, येन=जासूं
निर्वृति:=प्रसन्नता
स्यात्=होय, तद्=वो
ध्रुवं=निश्चित
कृष्णे=कृष्णके निमित्त
साधयेद्=लावे

भावार्थ : कोऊ वस्तु अज्ञान, भ्रम अथवा दुर्व्यसन के मोहतें कोउकों आछी लागती होय तोऊ लोकमें जाकों गर्हित मानी जाती होय ताको समर्पण प्रभूनको न करनो, परि लोकमें जाकों इष्टतम मान्यो जातो होय सोही वस्तुको समर्पण प्रभूनको करनो. तेसेंही पुष्टिभक्तिमार्गमें व्रजाधिपके भावतें सेवाको भाव राख्यो हे सो व्रजलीलामें जो

वस्तु प्रभूनको रुचत हे ताको समर्पण करनो. जा वस्तुके भगवत्सेवामें समर्पण करिवेतें अन्तत: चित्तमें क्लेश होतो होय एसी असन्मार्गोपार्जित वस्तूनको समर्पण प्रभुसेवामें न करनो परि जाके समर्पणतें चित्तमें परम सुख उपजतो होय ताकोही समर्पण भगवत्सेवामें करनो॥236॥

टीका : क्लेश रहित सन्मार्गसों उपार्जित साधनसों सेवा करनी. अन्यायसों अथवा क्लेशपूर्वक उपार्जित पदार्थनकु भगवानके अर्थ अर्पण नाहीं करनो.

क्लिष्ठपदार्थ तीन प्रकारको होवे हे: 1.लोक जामें क्लेश पावे, 2.आत्मा जामें क्लेश पावे एवं 3.चित्त जामें क्लेश पावे. एसे पदार्थ भगवानके अर्थ अर्पण नाहीं करनें.

आगें अक्लिष्ट पदार्थको निरूपण करें हें: "यद्यदिष्टतमं लोके यच्चति प्रियमात्मनः" (भाग.पुरा.11।11।41) ये आधो श्लोक श्रीभागवत एकादशस्कन्धोक्त भगवद्वाक्य हे. लोकमें जो इष्टतम अर्थात् अत्यन्त अभिलाषाके योग्य जो वस्तु होय; जेसें दाख, आम्रफल, केला आदि; तथा जो वस्तु आत्माकों अत्यन्त प्यारी होय जेसें दुग्ध, नवनीत आदि; ये वस्तुहु सन्मार्गसों उपार्जित करी भई होंय, अन्याय, चोरी आदिसों लाई गई न होंय; तथा कोईको विन वस्तूनमे हिस्सा नाहीं होय; तथा जा पदार्थको बहुत कालसों मनोरथ होय रह्यो होय; जा पदार्थके प्राप्त होयवेसों चित्तमें आनन्द आवे—— एसें पदार्थ भगवानकु अर्पण करनें. इनसों इतर पदार्थनको निषेध करिवेके अर्थ ये कथन कियो हे॥236॥

सेवा मुख्या, नतु पूजेति मन्त्रमात्रपूजापरो न भवेद् इति आशयेन आह स्वयं परिचरेद् इति.

स्वयं परिचरेद् भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभिः॥
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत्॥237॥

धर्मार्थतां व्यावर्तयति भक्त्या इति. वस्त्रप्रक्षालनम् अतिबहिरङ्गमिति तद्ग्रहणम्. प्रधानावृत्तौ अङ्गानि आवर्तन्तइति प्रधानावृत्तिम् आह एककालम् इति. अनेन बहुकालमपि पूजनं निरूपितम्॥237॥

वस्त्रप्रक्षालनादिभि:=वस्त्र धोने
इत्यादिरूप बहिरङ्गसेवा

स्वयं=आपु, भक्त्या=प्रेमसों
(भगवन्तं=भगवानको)
परिचरेत्=परिचर्या/सेवा करे
एककालं=एक समय
द्विकालं=दोसमय
वा=अथवा, त्रिकालं=तीन समय
वा=अथवा, अपि=हु
पूजयेत्=सेवा करे

भावार्थ : श्रीठाकुरजीके सिंहासन, खण्ड-पाट, चोकी, शय्या आदिके वस्त्रनको प्रक्षालन, तेसेंई भोग धरिवेके पात्रनकु मांजनो, तेसें मटकीमें जल भरनो आदि सेवा स्वयमेव भक्तिभावसों करनी. केवल प्रात:कालमें अथवा प्रात:-मध्यान्ह यों दोय बिरियां अथवा प्रात:-मध्यान्ह-सायं यों तीन्योही बिरियां भगवत्सेवा करनी॥237॥

टीका : सेवा मुख्य हे, पूजा मुख्य नाहीं हे. तासों सेवायोग्य पदार्थनको सञ्चय करिवेमें परिश्रम पडतो समुझकें सेवा छोडिके केवल मन्त्रन्सों मनमें पूजा करिवेमें परायण नाहीं होय जानों.

"आदरः परिचर्यायाम्" (भाग.पुरा.11।19।21)
"विनामत्सेवनं जनाः" (पूर्ववत्)
"सेवानुरक्तमनसामभवोपि फल्गु" (भाग.पुरा.5।14।44)

इत्यादिक वाक्यनमे सेवा ही मुख्य राखी हे. आगे साधनमें पूजा करिवेको उपदेश कियो हे तहांहु भगवानके समीप स्थित होयके वस्त्र, अलमार आदि धारण करायवेकी जो प्रधान सेवा हे वाको 'पूजा'शब्दसों ग्रहण करनो, वेदोक्त तथा तन्त्रोक्त पूजाको वहां ग्रहण नाहीं हे. वा पूजाको प्रकार तथा फल सेवाके प्रकार-फलसों भिन्न हे. क्षर-अक्षरसों उत्तम जो परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हें सो केवल भक्तिसों ही प्राप्त होवे हें.

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया" (कठ.उप.2।23)
"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया" (भग.गीता11।23)
"न रोधयति मां योगो न साम्यं धर्म उद्धव!,
न स्वाध्याय: तपस्त्यागः" (भाग.पुरा.11।12।1)

इत्यादि श्रुति-स्मृति-पुराणनके वाक्यन्सों यज्ञ, दान, पूजा, तप, योग आदि जितनें साधन हे उनसों परब्रह्मकी प्राप्ति नाहीं होय हे ये बात सिद्ध होवे हे.

"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" (तत्रैव11।14।21)

"भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति" (तत्रैव)

"धर्मान् सक्त्यत्यज्य यः सर्वान्
मां भजेत् स सत्तमः" (तत्रैव11।11।32),

"तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनम्" (तत्रैव11।12।14)

इत्यादि भगवानके वाक्यन्सों भक्तिकरिकें ही पुरुषोत्तम परब्रह्मकी प्राप्ति होय हे ये सिद्धान्त हे. तहां 'भक्ति'शब्द "भज् सेवायाम्" धातुसों सिद्ध होय हे. तासों 'भक्ति'नाम सेवाको हे. श्रुति-स्मृति-तन्त्रनमे वा सेवाको प्रकार दिखायो हे एसे मान्यो जाय तो श्रुति-स्मृतिके कहे भये अन्य साधनन्सों परब्रह्मप्राप्तिको निषेध हे तेसें भक्तिद्वाराहु परब्रह्मप्राप्तिको निषेध सिद्ध होयगो. यदि एसे ही मानें तो "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" (पूर्ववत्) इत्यादि वाक्यनमे "एक भक्तिद्वारा ही मेरी प्राप्ति होय हे" ये लिखी हे तासों विरोध आवे हे. तासों श्रुति-स्मृति-तन्त्रनमे मुख्य भक्तिको विधान नाहीं हे. श्रीकृष्णनेंहु

"भक्तियोगः पुरैवोक्तः" (तत्रैव11।19।19)

"तानाविदन् मय्यनुसङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्"
(तत्रैव11।12।12)

"केवलेनहि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः" (तत्रैव11।12।8)

इत्यादि वाक्यन्सों वेदमन्त्रादिविधिसों रहित ब्रजवासीनकी भक्तिकुं मुख्य राखी हे. जेसें एक स्वामीके दो सेवक हें. एक सेवक मासिक द्रव्य लेवेके अर्थ जा कार्यकी स्वामी आज्ञा करतो जावे हे वा कार्यकुं वो करतो जावे हे. दूसरो सेवक सब कामना छांडिके स्वामीकी सेवाकुं ही परमफल मानिके, आज्ञाकी अपेक्षा न राखिके, स्वामीकी अभिलाषाके अनुसार आगे-सुं-आगें प्रेमपूर्वक सर्व सेवा करे हे. पहिले सेवकके समान वैदिक-तान्त्रिक भक्तिवारेकुं समुझनो. अर्थात् जेसे-जेसे वेद तथा तन्त्र में भगवान् पूजा करिवेकी आज्ञा करें हें वाके अनुसार वो सेवक स्वर्गादि अथवा मुक्ति आदि पदार्थके अर्थ पूजा करतो जावे हे. दूसरे सेवकके समान अविहित प्रेमलक्षणा भक्ति करिवेवारेकुं समुझनों. जेसे यशोदाजी आदि गोप-गोपी वेद-तन्त्रादिकमें पूजा करिवेकी जेसी आज्ञा हे वाकी अपेक्षा न राखिके श्रीकृष्णचन्द्रकी अभिलाषाके अनुसार स्नेहसों सेवा करते हते. शुकदेवजीनेहु "नायं सुखापो भगवान्" (भाग.पुरा.10।9।21) "नेमं विरिञ्चो न भवो" (तत्रैव10।9।20) इत्यादि श्लोकनमे

विहितभक्ति करिवेवारे ब्राह्मादिकनकी अपेक्षा प्रेमलक्षणा भक्ति करिवेवारी यशोदाकी प्रशंसा करी हे. परन्तु ये भक्ति जहां तांई प्रेम नाहीं होय तथा प्रभुनके अभिप्रायकुं नाहीं जान्यों जाय तहां तांई नाहीं बन सके हे. तहां तांई वेद-तन्त्रानुसार पूजा अवश्य करते रहेनो. या मुख्य भक्तिमार्गमें आये जीवनकु जहां तांई प्रेमद्वारा प्रभुको अभिप्राय विदित नाहीं होय तहां तांई जिन भक्तनकु प्रभुनको अभिप्राय विदित हे, जिनके आधीन प्रभु होय रहे हें उनके आचरणनके अनुसार आचरण करनो चहिये. "देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च" (तत्रैव10।28।1) जेसे वे सेवा करें वेसे ही सेवा करनो चहिये. तहां स्वयं शुद्ध होयकें तथा सेवाके साधन गृह-द्रव्यादिकनकु शुद्ध करके कृष्णसेवा करनो.
"इष्टं दत्तं तपो जप्तं वित्तं यच्चात्मनः प्रियम्,
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्,
मयि सञ्जायते भक्तिः उद्धवात्मनिवेदिनाम्"
(तत्रैव11।19।24) इत्यादि भागवतके वाक्यानुसार स्त्री, पुत्र, द्रव्य, देहादि सहित आत्माकुं भगवानके आगें निवेदन करिवेसों ये सब पदार्थ शुद्ध होय जावे हें ये ही आत्मनिवेदनको प्रकार श्रीवल्लभाचार्यजीके प्रति साक्षात् भगवा**नने** पवित्रा एकादशीके दिनां रात्रिमें आज्ञा कियो हे वो श्रीवल्लभाचार्यजीने 'सिद्धान्तरहस्य'में वर्णन कियो हे. निवेदन करिवेसों सब पदार्थमेंसों अपनों सम्बन्ध दूर होय जावे हे. ब्रह्मसम्बन्धी अर्थात् "सब पदार्थ भगवानके हें" एसी बुद्धि होय जाय तब सेवाकी योग्यता होय हे. ता पीछे पूर्ण भक्तनने जेसें प्रभुनकी इच्छानुसार सेवाके क्रम बांधे हें उनके अनुसार घण्टा, शफनाद आदिसों लेयकें शयन पर्यन्त सेवा करनों. तहां घण्टा-शफनादादिक वेद-तन्त्रानुसार या मार्गमें क्यों होवें हें? एसी शङ्का नाहीं करनी. भगवदिच्छानुसार ही शफनादादि क्रम आचार्यनने बांधे हें, तन्त्रानुसार नाहीं हें. प्रसङ्गः

प्रथम श्रीनाथजीके यहां शफनाद नहीं होते हते. एक दिन श्रीविट्ठलनाथजीनें सांजकी सेवा करिवेके अर्थ मन्दिरके किंवाड खोले वा समय श्रीनाथजीको बागा फट रह्यो हतो. ये देखिकें विचार करिवे लागे. इतनेमें गोविन्ददासनें आयकें कही "महाराज! श्रीनाथजी श्यामढाकपेसों कूदिके पधारे वा समय बागा फट गयो हे. कछु टूक श्यामढाकपें लटक रह्यो हतो ताकुं लायोहुं".

वा दिनसों शफनाद तीन बेर करनों ता पाछें 10 पल ठहरिके मन्दिरके किंवाड खोलनो एसो क्रम प्रारम्भ भयो. या प्रकार जितनों सेवाक्रम हे सो सब भगवानकी अभिलाषाके अनुसार बंध्यो भयो हे. उत्तमाधिकारी जीवकुं रहस्यग्रन्थके देखिवेसों स्फुट होय जावे हे. तासों स्नेहपूर्वक स्वयं अपने हाथन्सों श्रीप्रभुनके वस्त्र-जलाशयपे जायके धोनें, उपवनमेंसों फल-पुष्पादिक ल्यावनें, सेवाके अतिबहिरङ्ग साधनकुंहु अपने हाथन्सुं करनों. जेसें कृच्छ्रादिकनके उपवास कष्ट पायकेहु धर्मप्राप्तिके अर्थ करनें पडे हें या प्रकार धर्मसिद्धिरूप प्रयोजन विचारिके सेवा नाहीं करनी. जेसे स्त्री प्रियपतिकी सेवा स्नेहसों करे हे एसी प्रीतिपूर्वक अपने अहोभाग्य समुझिकें प्राणप्रिय प्रभुनकी सेवा करनीं.

साधनावस्थामें रहे भये भक्तकुं प्रभूनकु अमुक वस्तु अङ्गीकार करानी ये केसें मालुम पड़ सके? ये शङ्का तो नाहीं करनी. क्योंके सिद्धावस्था भये पीछे तो प्रभु स्वयं अनुभव जतावेंगे. जहां तांई एसो अधिकार नाहीं हे तहां तांई "यच्चाऽतिप्रियमात्मनः" (पूर्ववत्) "तत्तन् निवेदयेन् मह्यम्" (तत्रैव11।11।42) इत्यादि वाक्यानुसार जा पदार्थमें अपनी प्रिय समुझके इच्छा होय वा पदार्थकुं प्रभुकों अङ्गीकार करावनो. अर्थात् जहां तांई साक्षात् अनुभव नाहीं होय तहां तांई भक्तके हृदयमें स्थित होयके अपनें अङ्गीकार करिवेके अर्थ उन-उन पदार्थनमे भक्तकी इच्छा करावें हें.

प्रधानकी आवृत्ति होयवेसों वाके अङ्गनकीहु आवृत्ति होय हे. तहां प्रधान=सेवा जो वस्त्रालमार-नैवेद्यादि समर्पणरूप पूजा हे वाकी आवृत्ति करनों. एक काल, दो काल अथवा प्रातः-मध्याह्न-सायं या प्रकार त्रिकाल पूजन करनो. अधिक स्नेह होय तो बहुकालहु पूजन करे. अर्थात् समयानुसार नानाभांतिके व्यञ्जननको अनेकवार अङ्गीकार करावे. जेसें जा माताको पुत्रपें स्नेह होय हे वो पुत्रके लालन-पोषणमें दिनकुं व्यतीत करे हे, क्षणभरमें दूर होनो दुखःरूप समुझे हे, वा प्रकार प्रेमप्लुत भक्त प्रभुसेवाके वियोगकों दुःखरूप समुझे हे॥237॥

अत्र नित्यकर्मादीनाम् अङ्गत्वम् आह स्वधर्माचरणम् इति.
स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्मात् च निवर्तनम्॥
इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयम्॥238॥

स्वधर्मा: अग्निहोत्रादय:. विधर्मा: निषिद्धाः. न अत्र शक्त्या इति, सर्वथा निषिद्धं न कर्तव्यम्. इन्द्रियाण्येव अश्वा:. एतन् निग्रह: इष्टदेशप्रापकः. एतत् त्रयं क्रीडार्थमपि न त्यजेत्॥238॥

शक्त्या=शक्ति अनुसार
स्वधर्माचरणं=स्वधर्मको आचरण
विधर्मात्=विधर्मसों
निवर्तनम्=दूर रहनो, च=ओर
इन्द्रियाश्व-विनिग्राह:=
इन्द्रियरूपी अश्वन्पें अमुश
(एतत्)त्रयं=ये तीन
सर्वथा=कोउ प्रकारसों/कबहु
न त्यजेत्=नाहीं छोड़ने

भावार्थ : अपनी शक्तिके अनुरूप शास्त्रोक्त वर्णाश्रमादि धर्मनको अनुष्ठान करनो, तिनको लोप न करनो. शास्त्रविरुद्ध कर्मन्तें सर्वथा बचनो. तेसेंई पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय अरु अन्त:करण ये ग्यारह अश्वरूप हें. सो इनकी लगाम हाथमें न राखे तब ये इनपे आरोहण करवेवारी जीवात्माकूं पटक देत हें. सो इन तीन्योनको त्याग न करनो॥238॥

टीका : नित्यकर्मादिक स्वधर्मनकु सेवाके अङ्ग समुझिकें विनकों सेवाके अवकाशमें करनो. “धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तः” (भाग.पुरा.
11।19।27) “श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते” (तत्रैव10।47।24)
इत्यादिकनमे वर्णाश्रमादि सब धर्मनकु श्रीकृष्णचन्द्रमें भक्ति सिद्ध होयेवेके अर्थ करने ये बात स्पष्ट लिखी हे. देह-द्रव्यके सामर्थ्यके अनुसार अग्निहोत्रादिक धर्म करने. सामर्थ्य होते जीव नाहीं छुपावनो. विधर्म ओर निषिद्धधर्म को आचरण कबहु नाहीं करनो. निषिद्ध कार्यकुं सर्वथा नाहीं करनों. इन्द्रियरूप घोडानकु रोके रहनों. जेसें घोडाकुं अन्यत्र रोककें एक मार्गमें ही चलायो जाय तब अभिलषित देशमें ले जाय हे (तेसें इन्द्रियनके सङ्ग बरताव करनों). अर्थात् महाराजोपचारसों भगवत्सेवा करे. पाछें भगवानके प्रसादी नानाव्यञ्जननकु भक्तनकु देकें अपनें भोजन करनो. उन व्यञ्जननकु “अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थम्” (भाग.पुरा.6।19।20) इत्यादि भागवत

वचनानुसार “ये आत्मशुद्धि करिवेवारो महाप्रसाद हे” एसी बुद्धि राखनी. “जीह्वाकी प्रसन्नताके अर्थ भोजन करुंहुं” एसी बुद्धि न राखनी. तथा आगेसों आछी सामग्री प्रभुनको अर्पण करिवेके अर्थ अच्छे-बुरे व्यञ्जननकी परीक्षाके अर्थ सब सामग्रीनको स्वाद लेनो. अपनी धर्मपत्नीके साथहु इन्द्रियकी प्रसन्नताके अर्थ कभी सङ्ग नाहीं करनो किन्तु सेवामें चित्तके उद्वेग करिवेवारे कामकी निवृत्तिके अर्थ सङ्ग करनों.

ये तीनों कर्म क्रीडाके अर्थहु कबहु नहीं छोडने. आसक्ति इन तीनोंनकी बाध करिवेवारी हे. जो कछु इन तीनोंनको विरोधी होय वाकुं शीघ्र छोड देनों. सामान्य वचन धर्मादिकनको उपलक्षण हे. अर्थात् धर्मादिकके अर्थहु 1.स्वधर्माचरण 2.विधर्मसों निवर्तन 3.इन्द्रियविनिग्रह इन तीनोंनको नाहीं छोडनें. अन्यथा परोपकारार्थ इन्द्रियनिग्रहके त्यागको सम्भव होयगो॥238॥

सङ्गः त्रयाणां बाधकः. तत् परित्यजेद् इति आह एतद्विरोधि इति.

एतद्विरोधि यत्किञ्चित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेत्॥
धर्मादीनां तथा चास्य तारतम्यं विचारयन्॥239॥

सामान्यवचनं धर्मादीनाम् उपलक्षणम्. परार्थमपि इन्द्रियनिग्रहाभावसम्भवात्. पूजाविरोधि धर्मादिकन्तु त्यक्तव्यमेव इति अत्र विचारम् आह धर्मादीनाम् इति. भगवद्भजनस्य मोक्षः फलं परोपकारादि-सर्वधर्माणामपि क्षयिष्ण्वेव फलम्. अतः उभयो: अन्तरं ज्ञात्वा परोपकारादिधर्मा न कर्तव्या यदि पूजाविरोधिनो भवन्ति॥239॥

यत्किञ्चिद्=जो कछु
एतद्विरोधि (चेत्)=याके
विरोधि होंय, तत्तु=विनकों तो
शीघ्रं=झटसों, परित्यजेत्=त्यागे
तथाच=अरु
धर्मादीनां=धर्म आदिको
च=ओर
अस्य=याको(भगवद्भजनस्य)
तारतम्यं=ऊंच-नीच,विचारयन्=
बिचार करिके(एतद् भगवद्भजनविरोधि
धर्मादिकमपि)शीघ्रं=झटसों

परित्यजेद्=त्यागे

भावार्थ : जिन देश-काल-व्यावृत्ति-स्त्री-पुरुष-ग्रन्थादिकनके संग करिवेतें स्वधर्माचरण, विधर्मनिवर्तन तथा इन्द्रियनिग्रह तें विरोधिभाव हृदयमें उपजत होंय एसे सबहिनको परित्याग करनो. तेसेंई स्वधर्माचरण, विधर्मनिवर्तन अथवा इन्द्रियनिग्रहहु कहुं-कबहुक भगवद्भजनमें बाधक बनते होंय तो धर्म तथा धर्मी के तारतम्यको विचार करिके तिनहुको त्याग करनो.

टीका : तथा पूजाविरोधि धर्मादिककोहु त्याग करनो. या विषयमें विचार वर्णन करे हें. भगद्भजनको फल अचल मोक्ष हे. परोपकारादि सर्व धर्मनको फल क्षयवारे स्वार्गादिक हें. तासों पूजा तथा सर्वधर्मनको अन्तर जानिके पूजाके विरोधि परोपकारादि जो धर्म होंय तो उनकोंहु छोड देनें, सेवाकुं छोडके नाहीं करने, अवकाशमें करने॥239॥

अत्र मार्गे पूजासाधनानाम् अनुवृत्तौ कारणम् आह यथा-यथा इति.

यथा-यथा हरिः कृष्णो मनस्याविशते निजे॥
तथा-तथा साधनेषु परिनिष्ठा विवर्धते॥240॥

श्रवण-कीर्तनादिना हरिश्चेद् हृदये निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति इति अर्थः॥ 240॥

हरि:=भक्तनके दु:ख हरिवेवारे
कृष्ण:=श्रीकृष्ण
यथा-यथा=जेसें-जेसें
निजे=अपने
मनसि=मनमें
आविशते=प्रवेश करे हें
तथा-तथा=तेसें-तेसें
साधनेषु=साधननमे

परिनिष्ठा=पूर्ण निष्ठा
विवर्धते=आछी भांतिसों बढ़े हे

भावार्थ : भक्तिकी सर्वविध बाधानकु हरवेवारे हरि तथा भक्तिभावको स्वरूपानन्दसूं पोषण करवेवारे कृष्ण अपने मनमें जेसें-जेसें अधिक प्रवेश करत हें तेसें-तेसें भक्तिके साधनमें भक्तकी परिनिष्ठा वृद्धिंगत होत जात हे॥240॥

टीका : या मार्गमें पूजाके साधननकी अनुवृत्ति होयवेमें कारण बतावें हें यथा-यथा इति. जेसें-जेसें श्रवण-कीर्तनादिकन्सों हृदयमें भगवानको आवेश होय हे तेसें-तेसें प्रधान=सेवाके साधननमे श्रद्धा बढती चली जाय हे. अर्थात् भगवानको जब पूर्ण आवेश होय जावे हे तब सर्वदा सब कालमें प्रधान=सेवाको निर्वाह होयवे लग जाय हे॥240॥

अत्र बाधकानां विशेषम् आह कृष्णे सर्वात्मके इति.

कृष्णे सर्वात्मके नित्यं सर्वथा दीनभावना॥
अहमारं न कुर्वीत मानापेक्षां विवर्जयेत्॥241॥

मनसि स्वस्य दीनता भावनीया. सर्वाधिष्ठानेषु सर्वलोकेषु च यत्र भगवद्बुद्धिः भवति बुद्धिश्च कर्तव्या. अन्यकर्तृकापमानेऽपि न अहमारं कुर्यात्. भगवतः सकाशान् मानापेक्षां च वर्जयेत्॥241॥

सर्वात्मके=सबनके आत्मारूप
कृष्णे=कृष्णमें,
नित्यं=नित्य
सर्वथा=सब प्रकारसों
दीनभावना (कर्तव्या)=
दीनताको भाव करनो
अहमारं=अभिमान
न कुर्वीत=नाहीं करनो
मानापेक्षां(च)=ओर
मानकी अपेक्षाहु, विवर्जयेत्=छोड़नी

भावार्थ : श्रीकृष्ण सर्वोपादान, सर्वाधार तथा सर्वान्तर्यामी होयवेतें सर्वात्मक हें. तासों सर्वदा-सर्वथा-सर्वत्र दीन होयके रहेनो. काहूकों अपनो अहङ्कार न जतावनो. तेसेंई "में दीन होयके रहत हों, अहङ्कार हु करत नाहीं तातें मोकों मान मिलिवो चहिये" एसी साधनप्रकरणम्
साधनप्रकरणम्
अपेक्षाहु नाहीं राखनी॥241॥

टीका : अभी प्रायः श्रवण-कीर्तनादिक करिवेवारेनके हृदयमेंहु भगवानको आवेश नाहीं होय हे. येही कारण हे के श्रवण-कीर्तनादिक पूरे बन नाहीं सकें हें. तासों श्रवण-कीर्तनादिके बाधकनको त्याग वर्णन करे हें कृष्णे सर्वात्मके इति. मनमें सदा दीनता राखनी. सब ठिकानें जड वस्तूनमे तथा सब लोकनमे सब जीवनमे भगवद्बुद्धि करनी. ओर यदि कोई अपनो अपमान करे तथापि अहङ्कार नाहीं करनो. भगवान्सों अपनी मानकी अपेक्षा नाहीं राखनी॥241॥

एतत् सिद्ध्यर्थम् उपायम् आह सर्वथा तद्गुणालापम् इति.

सर्वथा तद्गुणालापं नामोच्चारणमेव वा॥
सभायामपि कुर्वीत निर्भयो निःस्पृहस् ततः॥242॥

सर्वथा सर्वत्र भगवदुत्कर्षवर्णने पूर्वोक्तं सिद्ध्यति. दैत्यानां सन्निधानेऽपि निर्भयः. फलाभावाय निस्पृह: तत: इति॥242॥

तत:=तासों
सर्वथा=सर्व प्रकारसों
निर्भय:=भय रहित
निस्पृह:(भूत्वा)=स्पृहारहितहोयके
सभायाम्=सब जननके सम्मुख
अपि=हु
तद्गुणालापं=वाके गुणनको गान
वा=अथवा
नामोच्चारणम्=नामको उच्चार
कुर्वीत=करे, एव=ही

भावार्थ : तासों सर्वथा निर्भय तथा निस्पृह होयके सभामेंहु भगवद्गुणोत्कर्ष घोषित करनो अथवा भगवन्नामोच्चारण करत रहनो॥242॥

टीका : ये सिद्ध होयवेके उपायको वर्णन करे हें. सदा भगवानके गुणनको गान अथवा भगवानके नामको उच्चारण सभामेंहु निर्भय-निस्पृह होयके करते रहनो. अर्थात् सब ठिकानें भगवानको उत्कर्षवर्णन करिवेसों पूर्वोक्त सिद्ध होय हे. तासों आसुर जीवनके समीपहु फलकी इच्छा छांडिके भगवानको उत्कर्षवर्णन करतो रहे॥242॥

केवलं नामोच्चारणादेः कदाचिद् असाधकत्वमपि भवेदिति मुख्यं साधनम् आह साधनं परमेतद्धि इति.
साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादरात्॥
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकम् अदम्भतः॥243॥
सर्वदा श्रीभागवतकीर्तनेन पूर्वोक्तं सिद्ध्यति॥243॥

एतद्=ये, हि=निश्चय ही
परं=श्रेष्ठ, साधनं=उपाय
निर्हेतुकम्=हेतु विना
अदम्भत:=दम्भ विना
आदरात्=
आदरसों
श्रीभागवतं=श्रीभागवत महापुराण
प्रयत्नेन=प्रयत्न पूर्वक
पठनीयम्=पढनो चहिये

भावार्थ : भक्तिभावके वर्धनार्थ भगवद्गुणनको गान तथा भगवन्नामोच्चारण तेंहु प्रमुख साधन निर्हेतुक (लोकोपकार अथवा पाषण्ड करिवेके हेतुसों नाहीं) अदम्भ (उदरंभरी कथामें अश्रुपातादिके भावुकताप्रदर्शनके दम्भसों नाहीं), आदरभावसों नित्यनियमके प्रयत्नतें (मर्यादामार्गीय प्रणालीवारी धुंधुकारीमोचक सप्ताह-कथाके श्रवणके नियमसों नाहीं!) श्रीभागवत्को पाठ करनो॥243॥

केवल नामोच्चारणादिक कदाचित् साधक नाहीं होंय तो मुख्य साधनको वर्णन करें हें साधनं परम् इति.

सर्वदा श्रीभागवतको कीर्तन करिवेसुं पूर्वोक्त सिद्ध होय हे. तासों ये हि परम साधन हे के कपट छांडिके, कामना छांडिके, आदरपूर्वक, प्रयत्न करके श्रीमद्भागवतजीको पाठ सर्वदा करते रहनों. इतने कथनसों

"श्रद्धां भागवते शास्त्रे निन्दाम् अन्यत्र चापि हि"
(भाग.पुरा.11।3।26)

"सर्वभूतेषु मन्मतिः" (भाग.पुरा.11।19।21)

"वचसा मद्गुणेरणम्" (भाग.पुरा.11।19।22)

इत्यादि एकादशस्कन्धके वाक्यनको सिद्धान्तवर्णन कियो॥243॥

अत्र वैष्णवमार्गे वेदमार्गविरोधो यत्र तन् न कर्तव्यम् यदि अनित्यो धर्मो भवेत्. नित्येऽपि वेदविरोधः सोढव्य: इति आह: शङ्ख-चक्रादिकं धार्यम् इति.

शङ्ख-चक्रादिकं धार्यं मृदा पूजाङ्गमेव तत्॥
तुलसीकाष्ठजा माला तिलकं लिङ्गमेव तत्॥244॥

"वह्निनैव तु संयुक्तं चक्रमादाय वैष्णवः, धारयेत् सर्ववर्णानां हरिसालोक्यकाम्यया" इति तप्तमुद्राधारणं काम्यम्. "शफ-चक्रं मृदा यस्तु कुर्यात् तप्तायसेन वा, स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः" इति स्मृतिविरोधश्च. "शफादिचिह्नरहितः पूजां यस्तु समाचरेत्, निष्फलं पूजनं तस्य हरिश्चाऽपि न तुष्यति". अतो मृदा शफ-चक्रादिधारणं पूजाङ्गत्वाद् अवश्यं कर्तव्यम्. निषेधस्तु केवलएव, न पाषण्डत्वसम्पादकः. मृदा निषेधम् उपक्रम्य तप्तायसे पर्यवसानवचनात् च. किञ्च, ब्राह्मणस्य धारणं निषिद्धम्, वैष्णवस्य च विहितम्. तत्र ब्राह्मणश्चेद् वैष्णवो भवेत्, तत्र पूर्वात् परबलीयस्त्वन्यायेन वचनमिति वैष्णवधर्मानुसरणं कर्तव्यम्.

नच पाषण्डत्वसम्भवः. "किं पुनर् ब्राह्मणाः पुण्याः" (भग.गीता.9।33) इति वाक्यात् प्रमाण-प्रमेययोः प्रमेयं बलिष्ठम् इति च वेदनिषिद्धदेवतापरत्वएव पाषण्डत्वम् इति स्थितिः. धर्मविरोधो न अत्र बाधकः. तत: उक्तं शफचक्रादिकं मृदा पूजाङ्गत्वेन धार्यम् इति. तथा तुलसीकाष्ठजा मालापि धार्या. तस्या यद्यपि न नित्यत्वं तथापि वैष्णवत्वख्यापिका परम्परासिद्धा. तदुल्लङ्घने पारम्पर्यं बाध्येतेति नित्यतुल्या माला.

किञ्च, "धारयन्ति न ये मालां हैतुकाः पापबुद्धयः, नरकान् न निवर्तन्ते दग्धाः क्रोधाग्निना हरेः" इति वचनान् नित्यत्वमपि.

तिलकं च, “दण्डाकारं ललाटे स्यात् पद्माकारं तु वक्षसि, वेणुपत्रनिभं बाह्वोर् अन्यद् दीपाकृतिर् भवेद्” इति तिलकं माला च यज्ञोपवीतवद् वैष्णवत्वबोधकम्॥244॥

शङ्खचक्रादिकं=शङ्ख-चक्रआदि
मृदा=माटीसूं
धार्यं=धारण करने, तत्=वो
पूजाङ्गमेव=सेवाके अङ्गभूत
(भवति=होय हें)
तुलसीकाष्ठजा=तुलसीके काष्ठसों
बनी भई, माला=माला
तिलकं (च)=अरु तिलक
लिङ्गमेव=वैष्णवकेअनिवार्यचिह्न
तद् (भवति)=होय हें

भावार्थ : शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, अष्टाक्षरादि मन्त्रनकी मुद्रा धारण करनी. सो काहेतें? तहां कहत हें जो मुद्राधारण करे बिना भगवत्पूजन निष्फल होत हे तासों मुद्राधारण पूजनको अङ्ग हे. तेसेंई तुलसीकाष्ठकी माला अरु तिलक अपनी वैष्णवताको चिह्न हे. तासों वैष्णवत्वके आत्मगौरवसों तिलकमालाको धारणहु अवश्यकर्तव्य हे॥244॥

टीका : या वैष्णवमार्गमें नित्यसुं भिन्न सकाम धर्मनमे जहां वेदविरोध होय वो धर्म नाहीं करनो. भक्तिमार्गके नित्यधर्मनमे तो वेदविरोधहु सहि लेनो. जेसें वस्त्र-भूषणधारण तथा नैवेद्यादिक समर्पण आदि मुख्य सेवा करिवेमें सक्ध्या-अग्निहोत्रादिकको काल नाहीं साध सके तो एसो वेदविरोध सहि लेनों. जब अवकाश होय तब सक्ध्या=अग्निहोत्रादि कर्म करनें. ताको वर्णन करें हें शफचक्रादिकम् इति.

रामानुज-माध्वादिकनके मार्गसों या मार्गमें बाहिरके प्रकार विषयमें विलक्षणता दिखावें हें. “वह्निनैव तु संयुक्तम्” या श्लोकको अर्थ : अग्नि सहित चक्रकुं लेकें वैष्णव धारण करे, सब वर्णनको भगवानके सालोक्यकी कामनाके अर्थ. या श्लोकमें तप्तमुद्राधारण काम्य बतायो हे. “शफचक्रं मृदा” या श्लोकको अर्थ: “शफ-चक्रनकु मृत्तिकासों अथवा ताते लोहसों जो करे हे वो शूद्रके तुल्य सम्पूर्ण द्विजकर्मसों बाहिर

निकासिवे योग्य हे" या स्मृतिको विरोधहु हे. "शफादिचिह्नरहितः" या वाक्यको अर्थः "शफ-चक्रादिकन्सों रहित जो पूजा करें हें वाको पूजन निष्फल हे. भगवान्हु तुष्ट नाहीं होय हें". प्रथम श्लोकमें काम्यत्व तथा द्वितीय श्लोकमें निषिद्धत्व लिख्यो हे. तिनसुं तृतीय श्लोकसों प्राप्त नित्यत्वको बाध नाहीं होय हे. तासों पूजाके अङ्ग समुझिकें मृत्तिकासों शफ-चक्रादिकनको धारण अवश्य करनों. निषेध हे सो तो पूजा विना केवल शफ-चक्रादि धारणको हे. पूजाङ्ग समुझिकें धारण करिवेवारेनकु पाषण्डित्व सम्पादक नाहीं हे. मृत्तिकादिकके निषेधको उपक्रम करके तप्तलोहसों चक्रादि धारण करिवेमें पर्यवसानवचन हे. तासों तप्तमुद्रा धारणमें ही निषेधकी प्राप्ति हे, सेवाङ्ग समुझिके मृत्तिकासों चक्रादि धारणको निषेध नाहीं हे.

किञ्च, द्वितीय श्लोकसों ब्राह्मणकुं शफादि धारण निषिद्ध हे. "शफादिचिह्नरहितः" या तृतीय श्लोकसूं वैष्णवकुं शफादि धारणको विधान हे. तहां ब्राह्मण यदि वैष्णव होय तो वाकुं "पूर्वसों पर बलवान् हे अन्यथा परविधान व्यर्थ होयगो" या न्यायके अनुकूल वैष्णवधर्मके अनुसार वर्ताव करनो योग्य हे. निषेधक स्मृति तो वैष्णवधर्म रहित केवल संस्कारमात्र वारे ब्राह्मणमें चरितार्थ हे.

शङ्का : ब्राह्मणकों वैष्णवधर्माचरण करिवेमें पाषण्डित्वको सम्भव होयगो?

उत्तर: "किं पुनर् ब्राह्मणाः पुण्याः" (भग.गीता9।33) या गीतावाक्यमें ब्राह्मणको वैष्णवधर्मसों निःसन्देह उद्धार होनों लिख्यो हे. प्रमाण तथा प्रमेय इनमें प्रमेय बलवान् हे. पाखण्डिपनो तो वेदनिषिद्ध अर्हत्-बुद्ध आदि देवतानकी उपासनासों होय हे. तासों कितनेक वैदिकधर्म तथा वैष्णवधर्मनको परस्पर विरोध बाधक नाहीं हे. जेसें दत्तात्रेय, दुर्वासा आदिकनकु पाषण्डि नाहीं मानें हें किन्तु वैदिक धर्मन्सों योगके धर्मनकु विलक्षण मानिकें समाधान करें हें तेसें भक्तनमे हु पाषण्डिताकी सम्भावना नाहीं करनी. वैदिकधर्मन्सों भगवद्धर्मनकु विलक्षण मानिके समाधान करनो. अतः मृत्तिकासों सेवाङ्ग समुझिकें शफ-चक्रादिक मुद्रा धारण करनी. तथा तुलसीकाष्ठकी मालाहु सर्वदा धारण करनी. यद्यपि कितनेक वचनसों नित्यता नाहीं हे तथापि वैष्णवताकी जतायवेवारी हे ओर "साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद् भवेत्" या ब्रह्माण्डपुराणके वचनसों महात्माको आचरणहु वेद जेसो ही प्रमाण हे. तुलसीकाष्ठकी मालाकों सर्वदा धारण करनों परम्परासोंहु सिद्ध हे. वाको उल्लङ्घन करिवेमें परम्पराको बाध होय. तासें मालाहु नित्यकर्मके तुल्य हे.

किञ्च, “धारयन्ति न ये मालां हेतुकाः पापबुद्धयः,
नरकान् न निवर्तन्ते दग्धाः क्रोधाग्निना हरेः”
अर्थः मालाकुं जे नास्तिक पापबुद्धिवारे नाहीं धारण करें हें वे मनुष्य भगवानके क्रोधाग्निसों जले भये नरकसों पाछें नाहीं आवें हें——या वचनसों मालाधारण नित्य हे.

तिलकहु दण्डके आकारको ललाटपें करनों. कमलके आकारको वक्षस्थलपें करनों. वंशके पत्रके आकारको दोनों बाहुन्पें करनों. अन्य तिलक दीपकी ज्योतिके आकारवारे करने. जेसें यज्ञोपवीत द्विजत्वको जतायवेवारो हे एसें तिलक-माला वैष्णवताके जतायवेवारे हें॥244॥

एकादश्युपवासादि कर्तव्यं वेधवर्जितम्॥
तथा कृष्णाष्टमी चापि सप्तमी वेधवर्जिता॥
अन्यान्यपि तथा कुर्याद् उत्सवो यत्र वै हरेः॥245॥

एकादशीव्रतं च षट्पञ्चाशद्वेधरहितं कर्तव्यम्. पूर्वम् अन्यथाकरणेऽपि भगवन्मार्गप्रवेशानन्तरं पञ्चपञ्चाशद्घटिका दशमी चेत् तदा एकादशी त्याज्या. जन्माष्टमी तु सूर्योदयानन्तरं सप्तमी चेत् तदा त्याज्या “उदयाद् उदयात् प्रोक्ता हरिवासरवर्जिता” इति वाक्यात्.

अन्यान्यपि रामनवमीप्रभृति-व्रतानि भगवन्मार्गे कर्तव्यानि. नृसिंहजयन्तीव्रतम् उत्सवश्चेत् कर्तव्यम्. तथा वामनजयक्त्युत्सवकरणे एकादश्याम् उपोषणम् अकृत्वापि द्वादश्याम् उपोषणं कर्तव्यम्. किं बहुना उत्सवः प्रधानभूतः. भुक्त्वा च उत्सवो निषिद्धः, भगवदावेशाभावात्. एवं पूजामार्गे उत्सवयात्रा सहिता पूजा कर्तव्या इति निरूपितम्॥245॥

वेधवर्जितम्=वेधको अंश छांडिके
एकादश्युपवासादि=एकादशिके
उपवासादिक, कर्तव्यं=करनो
तथा=एसेंही
सप्तमीवेधवर्जिता=सप्तमीके वेधसों
रहित, कृष्णाष्टमी=श्रीकृष्ण अष्टमी
चापि(कर्तव्या)=हु करनी
तथा=तेसेंही

अन्यानि(व्रतानि)=अन्य व्रतादिक
अपि=हु, कुर्याद्=करने
यत्र=जामें
वै=निश्चय
हरेः=हरिको
उत्सवो(भवति)=उत्सव होय
भावार्थ : दशमीके वेधसों रहित एकादशीके दिना उपवासादि करनें. तेसेंई सप्तमीके वेधसों वर्जित कृष्णाष्टमीको व्रतहु करनो. तेसेंई अन्य व्रतहु करने जिनमें श्रीहरिको कोऊ उत्सव पड़तो होय॥245॥

टीका : एकादशीको व्रतहु छप्पन घडीके दशमीको वेध रहित करनों योग्य हे. पूर्वमें अन्य प्रकारसों व्रतादिक करतो होय परन्तु भगवान्मार्गमें प्रवेश भये पाछें पचपन घडी दशमी होय तोहु वा एकादशीको त्याग करनो, दूसरे दिना व्रत करनों. सूर्योदय भये पीछे सप्तमी होय तो वा जन्माष्टमीको त्याग करनों. अर्थात् द्वितीय दिन व्रत करनों. तामें "उदयाद् उदयात् प्रोक्ता हरिवासरवर्जिता" इत्यादि वाक्य प्रमाण हें.

भगवन्मार्गमें अन्यहु रामनवमी आदि व्रत करने. नृसिंहजयन्ती व्रत उत्सव होय तो करनो. तेसें ही वामनजयन्ती व्रतहु करनों. अर्थात् वामनद्वादशीके दिन क्रमानुसार वामनप्रादुर्भावोत्सव करनों. वा दिन उपवास करनों. वाके पूर्व एकादशीके दिन उपवासकी सामर्थ्य नाहीं होय तो नाहीं करनों. बहुत विस्तारपूर्वक कथन्सों कहा प्रयोजन हे! उत्सव मुख्य हे. भोजन करके उत्सव करिवेको निषेध कियो हे. भोजन किये पाछें भगवानको आवेश नाहीं होय हे.

तात्पर्य ये हे: जन्माष्टमीको उपवास तो आवश्यक हे. अन्य तीनों जयन्तीके उपवास तो देहसों तथा द्रव्यसों वा दिन सेव्यस्वरूपको उत्सव करिवेकी सामर्थ्य होय तो उत्सवके अङ्ग समुझिकें करनें. क्योंके भोजन करे पीछे भगवदावेश नाहीं होय हे. तथा जिनकुं पुराणवाक्यन्सों राम, वामन, नृसिंहादिकनमे पूर्णपुरुषोत्तमकी स्फूर्ति होय उनकुं तो उनकी जयन्ती अवश्य करनी.

एसें दिवाली आदि पर्व, रथयात्रा-स्नानयात्रा आदि यात्रा तथा जन्माष्टमी आदि महोत्सवनकु एकाकी तथा द्रव्य-देहसों करिवेकी सामर्थ्य होय तो एकाकी करने. अपनी एककी सामर्थ्य नाहीं होय तो अन्य कुटुम्बीनके सङ्ग होयकें

महाराजाधिराजकी जा प्रकार परिचर्या होय हे वा प्रकार श्रीकृष्णकी सेवा करते भये पर्व-यात्रा-महोत्सवनकु करनो॥245॥

उपसंहरति. एतत्सर्वम् इति.

एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्॥
अन्येषां सम्भवेत्तु स्यात् यते: पर्यटनं वरम्॥246॥

गृहस्थस्य एतन् मुख्यम्. एवं कुर्वन् सकुटुम्बो भगवत्सायुज्यम् अश्नुते. ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवक-साधनसम्पत्तौ एतत् कर्तव्यम्. अन्यथा अन्यएव उपायः कर्तव्यः. तम् अग्रे वक्ष्यति. सक्क्यासिनस्तु पूर्वापेक्षयाऽपि अग्रिमएव उत्तम एवम् इति आह यतेः पर्यटनम् इति॥246॥

सर्वम्=सब, एतत्=ये
गृहस्थस्य=ग्रहस्थकेलिये
प्रयत्नेन=प्रयत्नसों
प्रकीर्तितम्=विस्तारसों कह्यो
अन्येषां (यदि)=अन्यन्सों यदि
सम्भवेत (तदैव कर्तव्यम्)=
सम्भव होय तो ही करनों
यते:=सक्क्यासीकुं
पर्यटन=फिरते रहनो
वरं=श्रेष्ठ, स्यात्=होय हे

भावार्थ : यहां तक दियो सगरो उपदेश गृहस्थ पुष्टिमार्गीकि तांई दियो हे. परि जो पुष्टिमार्गी गृहस्थ न होंय तिनतेंहु शक्य होय तो तिनकोंहु याही प्रमाण स्वधर्मानुष्ठान करनो. जो सक्क्यासी पुष्टिमार्गी होंय ताकों पर्यटन ही श्रेष्ठ हे॥246॥

टीका : साफ्य, योग, ज्ञान, कर्म आदिकनको उपदेश देयके अन्तमें उद्धवजीके प्रति श्रीकृष्णनें "पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान्" (भाग.पुरा.11।29।11) या श्लोकमें ये ही उपदेश दियो हे. एसें पूजामार्ग अर्थात् पूजाप्रधान सेवामार्गमें उत्सव-

यात्रा-पर्व सहित सेवा करिवेको जो निरूपण कियो ताको उपसंहार करे हें. गृहस्थकुं ये सेवा मुख्य हे. जेसें "सगृहः सपशुः सुवर्गं लोकमेति" ( ) इत्यादि श्रूतीनमे वैदिककर्म करिवेवारे यजमानको स्त्री-पुत्र-पशु सहित स्वर्गमें प्राप्त होनों लिख्यो हे. तेसें पूर्वाक्त रीतिसों सेवा करिवेवारो भक्तहु कुटुम्ब सहित भगवानके सायुज्यकुं प्राप्त होवे हे.

ब्रह्मचारी, विधवा, वीतरागादिकनकु हु साधनसम्पत्ति होय तहां तांई तो सेवाही करनी चहिये. सेवाके साधन नाहीं बन सकें तब तो अन्य उपाय करने. वा उपायकुं आगें कहेंगे. सक्क्यासीकुं तो आगेको उपाय करनो ही उत्तम हे सो कहत हें यतेः पर्यटनम् इति. सक्क्यासीकुं तो पर्यटन करनों श्रेष्ठ हे॥246॥

गृहस्थानामपि पूजायां पञ्चदोषसम्भवे पर्यटनमेव श्रेष्ठम् इति आह विक्षेपाद् इति. विक्षेपाद् अथवा शक्त्या प्रतिबन्धादपि क्वचित्॥

अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादिसम्भवे॥
तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा॥247॥

1.स्वतःप्रवृत्तिरहितानि इन्द्रियाणि बलाद् भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्शितानि. 2.जरया व्याधिभिर् वा यदा शक्त्यभावः. 3.लोको वा प्रतिबन्धं कुर्वन्ति. 4.स्वस्य वा परम आग्रह: उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति. 5.लोकानां वा पीडां कुर्यात् ——तत्र पूजा त्यक्तव्या. तदा अन्यत्रापि तथात्वे परदेशे शून्यदेवालये पूजा विधेया. तत्रापि दोषसम्भवे तीर्थपर्यटनं कर्तव्यम्, पापानां प्रतिबन्धकरूपाणां नाशाय. तदा यत्रैव गत्वा सेवा सम्पत्स्यते तत्रैव सेवा कर्तव्या.

स्वतन्त्रतया तीर्थाटनप्रकारम् आह सर्वेषाम् इति. विष्णुभक्तिप्रकारत्वात् सर्वाधिकारः॥247॥

क्वचिद्=कबहुक
विक्षेपाद्=विक्षेपके कारण
अथवा क्वचिद् अशक्त्या=
अथवा कबहुक अशक्तिके कारण
क्वचित् प्रतिबन्धाद्=
कबहुक प्रतिबन्ध आजाय तो
क्वचिद् अत्याग्रहप्रवेशे=कबहुक
मनमें अत्याग्रह होय जाय तो

क्वचित् परपीडादिसम्भवे=कबहुक
परपीडा होयवेपें, सर्वेषाम्
(अपि)=सबनको
वर्णिनां=ब्राह्मणादिक वर्णवारेनको
तीर्थपर्यटनं=तीर्थनको पर्यटन
श्रेष्ठं(भवति)=उत्तम साधनहे

भावार्थ : कबहुक भगवद्भजनमें स्वतोरुचि न होयवेपेहु हठात् भजन करिवेपे मानसिक विक्षेप होत हे. अथवा स्वत: रुचिशील होयवेपेहु कबहुक रोगादिजन्य शारीरिक अशक्तितेहुं भजन दुष्कर ह्वे जात हे, कबहुक घर स्वत: समर्थ होयवेपेंहु घर आदिके बडरे भगवद्भजनविरोधी होयवेतें तामें प्रतिबन्ध करत हें. कबहुक बडरे प्रतिबन्ध न करत होंय तोऊ भजनकर्ताको एसो मूढाग्रह बंधी जात हे जो भजन करत भगवान्तें भिन्न अन्य सब कछूकी सुधि रहत हे परि भगवानकी नाहीं. कबहुक भजनीय भगवानकी सुधीके आवेशमें भजनकर्ताको निज भजनप्रक्रियाके विस्तारतें परिवारजनकों कहा पीडा होत हे ताकी सुधी रही न जात हे. तासों एसी अवस्थानमें सबहिनके काज तीर्थपर्यटनकों ही श्रेष्ठ समुझनो॥247॥

टीका : गृहस्थनकु हु सेवामें पांच दोष हें. वे जब आय जावें तब तीर्थाटन करनों श्रेष्ठ हे. उन दोषनकु बतावें हें. स्वतः सेवामें प्रवृत्त नाहीं होयवेवारी इन्द्रियनको बलात्कारसों सेवामें लगायी जांय हें तब एसी इन्द्रियें चित्तमें विक्षेपकुं उत्पन्न करें हें, ये प्रथम दोष हे. वृद्धावस्थासों अथवा रोगके कारण सेवा करिवेकी सामर्थ्य नाहीं रहनो ये द्वितीय दोष हे. कुटुम्बके अथवा अन्य लोग सेवाकुं नाहीं करवे दें ये तृतीय दोष हे. अपने हृदयमें खोटो आग्रह उत्पन्न होय जाय जासों अज्ञानरूप अन्धकारमें धंस्यो भयो मनुष्य भगवानको ही स्मरण नाहीं कर सके हे ये चतुर्थ दोष हे. सेवा करिवेवारो अन्य जीवनकु पीडा देयवे लग जाय ये पांचमो दोष हे. ये पांच दोष होंय तहां सेवाको त्याग करनों. यदि जहां सेवा करे तहां ही दोष आय जावें तो परदेशमें शून्यदेवमन्दिरमें पूजा करनी. वहांहु दोषको सम्भव होय तो सेवाप्रतिबन्धक पापनकु दूर करिवेके अर्थ तीर्थपर्यटन करनों. जहां गयेसों सेवा बन सके वहां ही सेवा करनी. तीर्थाटनकी गौणता दूर करिवेके अर्थ स्वतन्त्रतासों तीर्थाटनको प्रकार दिखावे हें. जेसें

विष्णुभक्तिमें सर्व जीव अधिकारी हें तेसें ही तीर्थाटनहु विष्णुभक्तिको प्रकार हे. तासों यामें सबनकु अधिकार हे॥247॥

वर्णाश्रमयुक्तानामपि वर्णाश्रमधर्मैः तीर्थानि विकल्प्यन्त इति आह यज्ञाः इति.

यज्ञास् तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः॥
अतस् तेष्वप्रतिग्राही तद्दिनान् नाधिकस्य हि॥248॥
हतत्रपः पठन् नित्यं नामानि च कृतानि च॥

भारते हि यज्ञानां तीर्थानां च तुल्यता निरूपिता. तत्र अटनप्रकारम् आह अतस्तेष्वप्रतिग्राही इति. तीर्थप्रवेशदिवसेतु उपवासः. अग्रिमदिवसे यदि अन्नमात्रमपि नास्ति तदा तावन्मात्रं ग्राह्यं, नतु ततो अधिकम्. अटनस्य नित्यत्वात् न चिरकालं स्थितिः. उच्चैः नामसमीर्तनं तत्र अङ्गम्. अन्तर्भगवत्स्मरणञ्च.

एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत् कृष्णतत्परः॥249॥
देहपातनपर्यन्तम् अव्यग्रात्मा सदा गतिः॥
उत्तमोत्तमम् एतद्धि पूर्वम् उत्तमम् ईरितम्॥250॥

एकाकी पर्यटेत्. न अत्र "नैकः प्रपद्यताध्वानम्" इति स्मृतिदोषः. पथि भोगाद्यर्थं स्पृहा न कर्तव्या. शान्तश्च चित्ते भवेत्.

एवम् अधिकाराभावे भिन्नम् उपायं वक्ष्यतिः कृष्णएव तात्पर्यं नतु तीर्थादौ. देहपातनपर्यन्तं च पर्यटनम् "देहान्ते कृतार्थो भविष्यामि" इति. सदा शुद्धश्च भवेत्. सक्ध्यावन्दनवत् प्रत्यहं तस्य गमनम्. अस्मिन् पक्षे अन्तः कृष्णः सर्वदा स्फुरतीति उत्तमोत्तम्॥248-250॥

हरिणा=हरिद्वारा
यज्ञाः=यज्ञ, कृताः=करे
समानि=एक सरिखे
च पुनः=ओर फेरि
तीर्थानि (कृतानि)=तीर्थें हु
(वाके समान) करे, अतः=तासों
तेषु=विनमें
अप्रतिग्राही=कछु ग्रहण करे विना
तद्दिनात्=वा दिनसूं, हि=ही
अधिकस्य=अधिकको

न=नाहीं, नामानि=नामनकु
च=अरु, समानि=सरिखे
कृतानि (इति)=करे हें तासों
नित्यं=नित्य
हतत्रप:=समोच छांडिके
पठन्=पाठ करते भये
एकाकी=इकेले
निस्पृह:=स्पृहा रहित
शान्त:=शान्त होयके
अव्यग्रात्मा=व्यग्र भये बिना
सदागति:=सतत फिरते भये
कृष्णतत्पर:=कृष्णमें तत्पर होयके
देहपातनपर्यन्तं=देह छूटि न जाय
वहां तांई, पर्यटेत्=पर्यटनकरतोरहे
पूर्वम्=पहिले, उत्तमम्=उत्तम
ईरितं=कह्यो (साधनम्)
एतद्=ये, हि=ही
उत्तमोत्तमं(यत:)=उत्तमेंहु उत्तम

भावार्थ : प्रभु श्रीहरिने यज्ञ, तीर्थ अरु अपने नाम समान माहात्म्यवारे बनाये हें. तातें यज्ञ-तीर्थ-नाम-परायण भक्तकों एक दिनातें अधिक परिग्रह करनो नाहीं. लज्जा छांडिके नामोच्चारण करनो. तातें काऊ प्रकारकी स्पृहा न राखनी. एकाकी (अर्थात् जनसंग्रहार्थ यज्ञ-तीर्थ-जपको दम्भ न करनो), शान्त होयके काऊ प्रकारसों अपने आपकों व्यग्र बनाये बिना, कहूं एक ठोरपे स्थिर भये बिना, देहपातपर्यन्त कृष्णतत्पर होई पर्यटन करनो. ये अब जो आगे कहेंगे सो उत्तमोत्तम उपाय हे. अब लग जो उपाय बतायो उत्तम उपाय हतो परि अब जो उपाय कही रहे हें सो उत्तमोत्तम उपाय हे. सो काहेतें? तहां भगवद्वचनको प्रमाण देत हें॥248-250॥

टीका : वर्णाश्रमधर्मवारे मनुष्यनके अर्थहु वर्णाश्रमधर्मनके सङ्ग तीर्थनको विकल्प कियो हे. महाभारतमें तीर्थ तथा यज्ञ कों समान लिखें हें. भगवा**नने** हु तीर्थ करें हें.

तीर्थयात्राको प्रकार दिखावे हें : तीर्थस्थलमें जा दिना प्रवेश करे ता दिना उपवास करनों. दूसरे दिना अन्नमात्र नाहीं होय तो जितनेमें उदर भर जाय उतने ही अन्नकी याचना करनी. तीर्थमें दान नाहीं लेनो. नित्य विचरते रहेनों. बहुतकाल एक स्थानमें नाहीं रहेनो. ऊंचे स्वरसों समोच छांडिकें भगवानके नामनको कीर्तन करते रहनों तीर्थाटनको अङ्ग हे. भीतर भगवानको सर्वदा स्मरण राखनों॥248॥

एकाकी रहनो. मार्गमें इन्द्रियनके विषयभोगनके अर्थ स्पृहा नाहीं करनी. चित्तकुं शान्त राखनो.

जो मनुष्य एसो अधिकारी नाहीं हे ताके अर्थ अन्य उपाय आगे आज्ञा करेंगें. श्रीकृष्णकी प्राप्तिमें तात्पर्य हे. तीर्थादिकनमे तात्पर्य नाहीं हे. तासों "श्रीकृष्ण मोकुं कब दर्शन देंगें" एसी उत्कण्ठा सदा तीर्थाटन करते बनाये राखनी॥249॥

देहपात नाहीं होय तहां तांई विचरतो रहे. "देहपात भये पीछे में अवश्य कृतार्थ होऊंगो" एसो निश्चय राखनों. सदा शुद्ध रहनों. सक्ध्या-वन्दन जेसे नित्य कियो जावे हे तेसे नित्य ही तीर्थाटन करते रहनो. या पक्षमें अन्तःकरणमें सर्वदा श्रीकृष्ण स्फुरण होवे हे. तासों ये पक्ष उत्तमोत्तम हे॥250॥

अत्र सम्मत्यर्थं भगवदुक्तश्लोकद्वयम् आह "गृहं...", "धनम्..." इति.

गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते॥
कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत कृष्णः संसारमोचकः॥251॥
धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते॥
कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः॥252॥

सर्वात्मना=सब तरहसूं
त्याज्यं(अपि)=त्यजवे योग्यहु
गृहं=घरकुं, त्युक्तुं=छांडिवेकुं
न शक्यते=शक्तिमान् न होय
चेत्=तो, कृष्णार्थं=कृष्णके अर्थ
तन्नियुञ्जीत=वाकोविनियोगकरे

(यत:=क्योंके)कृष्ण:=श्रीकृष्ण
संसारमोचक: अस्ति=संसारसूं
छुडायवेवारेहें,सर्वात्मना=सबतरहसूं
त्याज्यं(अपि)=त्यजवे योग्यहु
धनं=धनकुं,
त्युक्तुं=छांडिवेकुं
न शक्यते=शक्तिमान् न होय
चेत्=तो,कृष्णार्थं=कृष्णकेअर्थ
तत् प्रयुञ्जीत=वाको आछी
भांतिसोंविनियोगकरे
(यत:=क्योंके)कृष्ण:=श्रीकृष्ण
(धनगतस्य=धनमें रहे भये)
अनर्थस्य=अनर्थके
वारक:=वारण करिवेवारे
(अस्ति=हें)

भावार्थ : घर तो सर्वात्मना त्याज्य (तजिवे योग्य) ही होत हे परि ताको त्याग करनो यदि शक्य न होय तो ताको विनियोग संसारमोचक कृष्णमें करनो चहिये. तेसेंई सर्वात्मना त्याज्य धनकोहु त्याग शक्य न होय तो वाको प्रयोग कृष्णसेवार्थ करनो. सो काहेतें जो श्रीकृष्ण अनर्थके वारक हें॥251-252॥

टीका : या विषयमें सम्मतिके अर्थ भगवानके आज्ञा किये भये दो श्लोकनकु कहे हें गृहं सर्वात्मना इति.

गृहकोहु सर्वात्मना त्याग करनों. यदि घर नाहीं छोड्यो जाय तो कृष्णके अर्थ घरको विनियोग करनों. कृष्ण संसारसों छुडायवेवारे हें.

सर्वात्मना धनको त्याग करनों. यदि वो धन नाहीं त्याग कियो जाय तो श्रीकृष्णके अर्थ वाको विनियोग करनों. कृष्ण अनर्थके दूर करिवेवारे हें॥251-252॥

पूर्वाधिकारद्वयाभावे तृतीयं पक्षम् आह अथवा इति.
अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतम् आदरात्॥
पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्॥253॥

वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि॥
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्॥
त्रयाणां येन केनापि भजन् कृष्णम् अवाप्नुयात्॥254॥
"बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतम्,
नाम्नि चैकं ततस् त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपितः"
॥253-54॥

अथवा=अथवा
श्रीभागवतं=श्रीभागवतपुराणकुं
शास्त्रम्=शास्त्रकुं
आदरात्=आदरपूर्वक
सर्वदा=हमेंशा, सर्वहेतुविवर्जितं=
सर्व हेतुसूं रहित होईके
प्रयत्नेन=प्रयत्न पूर्वक
पठनीयं(भवति)=पाठकरनोचहिये
कण्ठगतैरपि प्राणै:=प्राण कण्ठ
तांई आय जांय तो हु
(भागवतं) वृत्त्यर्थं=भागवतकुं
आजीविकाके अर्थ
न एव=नहीं ही
युञ्जीत=उपयोग करनो
तदभावे=वाके अभावमें
यथा=जेसे,
एव=हु
स्यात्=होय, तथा=वेसे
निर्वाहम्आचरेत्=जीवननिर्वाहकरे
त्रयाणां=तीनमेंसूं
येन केन-अपि(उपायेन)=जा कोई भी उपायसूं
भजन्=भजन करिवेसूं
कृष्णम्=कृष्णकुं
अवाप्नुयात्=प्राप्त करेगो

भावार्थ : अथवा स्वगृहमें श्रीकृष्णसेवाहु निभ न सके अरु तीर्थाटनहु न बनि आवे तो निरन्तर आदरसों श्रीभागवतको पाठ करनो. परि श्रीभागवतके पाठसों अन्य कोऊ हेतु जुरि न जाय वा बातकी अत्यन्त सावधानी राखनी. तहां आजीविकाके हेतुसों तो प्राण गलामें आय अटके होंय तोऊ भागवतकथातें अपनो निर्वाह न चलावनो. भागवतकथाकी आजीविका न करिवेपें दूसरी कोई आजीविका अनुकूल न परत होय तो जेसी रीतसूं निर्वाह चलत होय तेसें चलावनो परि आजिविकार्थ भागवतकथा नहीं ही करनी. गृहसेवा अरु तीर्थाटन अरु भागवतपाठ इन तीनों उपायनमे एकहु उपाय आछी तरह कियेतें भक्तकों कृष्णप्राप्ति होत हे॥253-254॥

टीका : पूर्वोक्त कहे दोउ अधिकार जिनमें नाहीं हें विनके अर्थ तृतीय पक्ष कहे हें अथवा इति. सब कामना छांडिके तथा आदरपूर्वक प्रयत्न करकें सदा श्रीभागवतको पाठ करनों. श्रीभागवतद्वारा अपनी वृत्ति प्राण कण्ठमें चले जावें तथापि नाहीं करनी. वृत्तिके अभावमें जेसे निर्वाह बन सके तेसे निर्वाह करनो. परन्तु श्रीभागवतकों वृत्तिके अर्थ विनियोग नाहीं करनों. “स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः” (मुण्ड.उप.2।1।2) इत्यादि श्रुत्यनुसार भगवानको एक बाह्य रूप हे. वो सब पदार्थनके बाहिर रहे हे. दूसरो आन्तररूप हे वो सब पदार्थनके भीतर रहे हे. तीसरो आपको रूप शब्दनमे रहे हे तासों तीन प्रकारसों भक्तिमार्गको वर्णन कियो हे॥253-54॥

प्रपत्तिमार्गम् आह जगन्नाथे विट्ठले च इति.
जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरङ्गे वेमटे तथा॥
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्परः॥255॥
एतन् मार्गद्वयं प्रोक्तं गतिसाधनसंयुतम्॥

विकल्पएव एषां स्थानानाम्. प्रपत्तौ ब्रह्मास्त्रन्यायस्य बाधकत्वात्. पूजाप्रवाहो भगवत्सान्निध्यप्रबोधकः॥255॥

जगन्नाथे=श्रीजगन्नाथपुरिमें
विट्ठले=पाण्डुरङ्ग श्रीविट्ठलनाथजीके
धाममें, च=अरु
श्रीरंगे=श्रीरङ्गजीमें

वेंकटे=श्रीवेमटमें
तथा=एसेंही
यत्र=जा स्थानमें
पूजाप्रवाह:=पूजाको प्रवाह
स्यात्=होय, तत्र=वहां
तत्पर:=पूजादि परायण होयके
तिष्ठेत=रहे, एतन्=ये
मार्गद्वयं=दोउ मार्ग
गतिसाधनसंयुतं=उपाय सहित
प्रोक्तं=कहे

भावार्थ : पुरुषोत्तमक्षेत्रस्थ जगदीशजी, भीमा तटपे पंढरपुर विठोबा, श्रीरंगजी, तिरुपति बालाजी तेसेंई जहां वैष्णवी पूजाप्रणाली प्रचलित होय तहां भगवन्मूर्तिके पूजादिमें तत्पर होयके रहनो. तासों एसे वैदिक मार्ग अरु भक्तिमार्ग को वा-वा मार्गपे चलिवेके उपायनके साथ वर्णन कियो॥255॥

टीका : प्रपत्तिमार्ग अर्थात् शरणमार्गको वर्णन करें हें जगन्नाथे इति. "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (भग.गीता18।66) या गीताके श्लोकमें सर्वधर्मनकु छांडिके एक भगवानके ही शरण जानो लिख्यो हे. वाहीके अनुसार गुरुके द्वारा भगवानके शरण जानो, फेरी अन्याश्रय छांडिके श्रीभगवानको ही दृढ विश्वास राखनों. जेसें हनुमानजीकुं ब्रह्मास्त्रसों राक्षसनने बांध दीनें पाछें सन्देह भयो "वानर बहुत प्रबल हे. ब्रह्मास्त्रकुं तोड डारेगो. तासों अन्य अस्त्रन्सोंहु बांधनों" एसें विचारिके जब ब्रह्मास्त्रको विश्वास छांडिके अन्य अस्त्रन्सों बांधवे लगे तब हनुमानजी ब्रह्मास्त्रसों छूटि गये. एसें ही भगवानके आश्रयमें सन्देह करके जब अन्य देवको आश्रय कियो जाय हे तब वो भक्त शरणमार्गसों पतित हो जाय हे. याहीसों "मामेकं शरणम् व्रज" (तत्रैव) या वाक्यमें 'एकम्' पद कह्यो हे. अर्थात् "एक मेरे ही शरण आव, दूसरेको आश्रय मत कर". भगवान् देहादि सङ्घातकों सेवाके अनुकूल करें अथवा अत्यन्त आसुर सङ्घात होंय तो सङ्घातसों छुडाय दें तब जाननों जो शरणागति सिद्ध भई. ता पाछें सेवामें जाकी रुचि होय, भगवानके स्वरूप जानिवेकी इच्छा होय तथा भगवच्छास्त्रनमे परायण रहे तब जाननों याको ये अन्तिम जन्म हे. अर्थात् याको

पुनः जन्म नाहीं होयगो. शरणधर्म सिद्ध हायवेके अर्थ ही कृष्णाश्रयस्तोत्र श्रीआचार्यचरणनने प्रकट कियो हे. शरणागत मनुष्यकुं श्रीजगन्नाथजी, श्रीपुण्डरीक, श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीरङ्गनाथजी, श्रीवेंकटेशजी इत्यादि स्वरूपनके समीप रहनों चहिये. अन्यहु कोई भगवद्धाम होंय जहां सदा पूजाको प्रवाह होय तो वहां रहनों चहिये. पूजाप्रवाह हे सो भगवानके सन्निधानकों जतायवेवारो हे.

या श्लोकके आवरणभङ्गमें श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजनें एसो क्रम लिख्यो हे : प्रथम तो भगवानकी कृपाके अमुरको स्वतः अथवा वैष्णवके सङ्गसों उद्बोध होय तब या मार्गमें रुचि होय. ता पाछें या मार्गमें प्रवेशकी इच्छा होय. तत्पश्चात्त कृपाको अमुर दृढ होय तब ये मार्ग सब मार्गसों उत्तम दीखे. ता पाछें द्वारभूत गुरुके द्वारा भगवानके शरण आवे. पाछें सत्सङ्ग करकें श्रीआचार्यचरणनमे "ये भगवान् हें" एसी अभेदबुद्धि होय, तदनन्तर सर्वोत्तमस्तोत्रादिकन्कें पठन्सों गुरुकी सेवा करतो रहे. ता पाछें भगवदीयनको सङ्ग करके पूर्वरीतिके अनुसार भगवानकी सेवा करतो रहे. स्वमार्गीय ग्रन्थनकु सुनिवे-देखिवेसों प्रतिबन्धक निवृत्ति होंय तब दोषनिवृत्ति तथा सेवाके उपयोगी गुणनकी प्राप्ति होय. ता पाछें वारं-वार भगवत्सेवाकी आवृत्ति करतो रहे तो सकुटुम्बकुं भगवत्प्राप्ति होय. उन कुटुम्बवारेनमे हु जो सेवामें उदासीन रहें अथवा सेवाको विरोधी होय वाकुं भगवत्प्राप्ति न होय. पूर्वमें कहे भये पञ्चदोषनकी यदि सम्भावना होय तो तीर्थाटन करिके दोष निवृत्ति करनों. दोषनिवृत्ति भयेसों सेवा करी जाय तो भगवत्प्राप्ति होय. सेवाको अनधिकार होय तो श्रीभागवताश्रय करनों. वामेंहु अधिकार नाहीं होय तो पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधनामावलीको आश्रय करनों. उत्तमाधिकारमें तो तीर्थपर्यटन श्रेष्ठ हे. वामेंहु अनधिकार होय तो शरणागत होयके सहस्रनामादिकनको पाठ करतो भयो जहां पूजाप्रवाह होय तहां समीप अथवा दूर स्थित रहनों. कहे भये प्रकारनके अनुसार बर्ताव करिवेसों साधक भक्त फलोन्मुख होय हे तथा फलकी प्राप्ति होत हे. प्रपत्तिमार्ग अर्थात् शरणमार्ग भक्तिमार्गको अनुकल्प हे. तासों भक्तिमार्गमें ही याको प्रवेश हे.

यहां तांई फल-साधन सहित वैदिकमार्ग तथा भक्तिमार्ग को निरूपण कियो हे.
॥ इति श्रीवल्लभाचार्य विरचित तत्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयमें
साधनप्रकरणकी श्रीगोकुलदास मुखीयाजी रचित व्रजभाषा**टीका** सम्पूर्ण भई ॥

॥ शिक्षाश्लोकी ॥

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वर: प्रभु: श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

श्रीमहाप्रभून्द्वारा विरचित इन शिक्षापद्यन्पे श्रीद्वारिकेशजीकी व्याख्याहु मिलत हे. तासों कहुं-कहुं वा व्याख्याको आशयहु ग्रहण करते भये मूल श्लोकनको यथामति अनुवाद अरु व्याख्यान करत हों.

इन शिक्षापद्यनके प्राकट्यकी वार्ता एसे कही जात हे : 'अन्तकरणप्रबोध' ग्रन्थमें वर्णित लोकगोचर देहदेशपरित्यागकी तीसरी भगवदाज्ञाके पश्चात् विक्रम संवत् 1587 की जेठ वदी दसमीके दिना अडेल गांवमें श्रीमहाप्रभूनको सन्यास ग्रहण करिवेको मन भयो. सो 'सन्यास निर्णय' ग्रन्थमें उपदिष्ट अष्टविध सन्यास नमे तें द्वितीय प्रकारको सन्यास —— जो पालनके काज स्वयंकेलिये तो स्वीकार्यो. ये चतुर्थाश्रमरूप कर्ममार्गीय प्रकारको सन्यास हे. एकादस स्कन्ध तथा अन्यहु सभी शास्त्रवचन सों अविरुद्ध एसे शिखा-सूत्रके त्यागसों रहित त्रिदण्ड धारण करिवेको या सन्यास में प्रकार रहत हे. या सन्यास के ग्रहण करिवेकी रीतिमें गृहत्यागार्थ भार्याज्ञाकीहु अपेक्षा बताई हे. सो तो कई बिरियां मांगिवेपेहु श्रीमहालक्ष्मीजीनें गृहत्यागकी आज्ञा दीनि नाहिं. तब आपनें अपनी दिव्य इच्छातें अपनी पर्णकुटीमें अग्नि प्रज्वलित कीनि सो देखिके श्रीमहालक्ष्मीजीनेंहुं आपसों कह्यो "बाहिर निकसो, बेगि बाहिर निकसो". तब तो गृहत्यागकी आज्ञा सिद्ध भई मानिके आप करक-कौपिन लेयके घरसों बाहिर निकसि गये. पाछे तें अग्निहु शान्त ह्वे गयो. फेरि यथाविधि सन्यास ग्रहण करिके आप तो अडेलतें काशी नगरीकू पधारि गये. तातें लोकगोचर देशत्यागकी आज्ञा तो सिद्ध भई परन्तु लोकगोचर देहत्यागकी आज्ञाके पालन करिवेकों आपनें मासपर्यन्त अनशन कियो अरु पाछे आठ दिना आपनें मौनधारणहु करि लीनो. तब अडेलतें श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीगुंसाईजीहु अपनें सेवकन् तथा कुटुम्बीजनन् के सङ्ग श्रीमहाप्रभूनके दर्शनकों तहां काशी पधारे. तहां सबननें प्रार्थना कीनि जो "अब हमारो कर्तव्य कहा?" सो मौन धारण करि राख्योहुतो तासों

गङ्गाजीकी तटभूमिपे लिखिके साढ़े तीन श्लोकनको उपदेश श्रीमहाप्रभूनने अपनें सुतनको तथा सेवकनको दीनो. तातें या ग्रन्थकों 'शिक्षाश्लोकी'हु कहत हें.

तहां यह शङ्का होत हे जो सन्यास निर्णय ग्रन्थमें तो आपनें विरहानुभवकी सिद्धिके काज परित्यागको उपदेश कियो हे. सो प्रकार आपनें काहेको अनुसर्यो नाहिं? यहां यह समाधान जाननो जो भक्तिके दोय पक्ष हें: एक तो सेवा अरु दूसरी कथा. 'कथा' कहेतें भगवानके रूप-गुण-नाम-लीलाको श्रवण-कीर्तन-स्मरण कह्यो जात हे. तहां लीलाभावना अथवा लीलाकीर्तन के सङ्ग सेवामें तत्पर होयवेतें उभयपक्षको अनुष्ठान सिद्ध होत हे. तातें सेवापक्ष तो मुख्य कल्प हे. परन्तु या मुख्य कल्पमेंहुं पांच प्रकारके बाधक श्रीमहाप्रभूनने निबन्धमें गिनाये हें:

(1) लौकिक विषयनमे राग-द्वेषकी प्रबलताके कारण इन्द्रियनकी भगवत्सेवामें सहज अरुचि होवे तोऊ हठात् सेवा करिवेके प्रयासतें चित्तमें विक्षेप (खीज-अन्यमनस्कता-उद्वेगादि) प्रकटे तब सेवा छांडि देनो उचित हे.
(2) भगवदिच्छा विपरीत होयवेतें असाध्य रोगादिजन्य शारीरिक अशक्ति-अक्षमता होय अरु हठात् सेवा करे तब कोमल स्वभाववारे प्रभुनको परिश्रम होत हे. तातें सेवा न करिवो आछो.

(3) अपुष्टिमार्गीयके घरमें जनम होयवेके कारण घरके बडेनको भगवत्सेवाविरोधी भाव होय तासों एसे प्रतिबन्धमें सेवा न करिवो आछो. कथापक्षमें तो याकों प्रतिबन्ध गिन्यो नाहीं हे परि सेवापक्षमें प्रतिबन्ध होयवेतें सेवाको त्याग करि देवो उचित हे. काहेतें? जो अपनें भगवत्सेवाके दुराग्रहके कारण अपनें सेव्य प्रभूनको अनादर अथवा निन्दा कहुं घरमें कोऊ करे नाहिं.

(4) सेवोपयोगी सामग्रीनको जुटायवेको अत्याग्रहहु सेव्य प्रभूनमे तें अपने चित्तकी तत्परताको नाश करिके तामसी वृत्तिकों बढावत हे. तब सेवा करिवे करतें न करिवो अधिक उचित होत हे.

(5) सेवाकर्ता घरमें स्वयं बड़ो होय अरु छोटेनको प्रभूनमे भाव न होय तोहु सेवा करावे तब स्वार्थ समोच अथवा भय के कारण छोटेनको सेवामें जुटिवो परत हे. अरु

तब वे आन्तरिक पीडाके साथ सेवा करत हें. ता करि प्रभून्नको सुख नाहीं होत हे. सो सेव्य प्रभून्नको सुख न देयवेवारी सेवा करिवे करतें न करिवो उचित हे.

तासों इन बाधकनको अभाव होय तबहि सेवा हे सो पुष्टिजीवको मुख्य कर्तव्य बनत हे. तासों इन बाधकनके साथ भक्तिभाव होयवेपेहु सेवा न करिके कथापक्षको ग्रहण उचित मान्यो गयो हे. तातेंही 'भक्तिवर्धिनी'में भक्तिकी व्यसनदशा सिद्ध होयवेपे कथापक्षमें सम्पूर्ण गृहत्यागको; अथवा निबन्धमें समय-समयपे तीर्थयात्राके व्याजसों अल्पकालिक गृहत्यागको हु प्रकार समुझायो हे. इन गृहत्यागनके प्रकारनको भगवद्विरहानुभवार्थ करिवेको प्रकार श्रीमहाप्रभून्नने समुझायो हे. काहतें? जो पुष्टिसृष्टिको भूतलपे प्राकट्य हे सो तो श्रीकृष्ण स्वरूपकी सेवाके हेतुही हे. सो जा जनम वर्ष मास दिन, अथवा कृपातिशय होय तो, प्रहर घडी अथवा क्षणमात्र भगवत्सेवाके बिना बीते तब विरह-ताप जो न होवे तो कछूक आसुरावेशही जाननो. सो भक्तिकी व्यसनावस्था प्राप्त करिवेपे भगवत्सेवाके बिना विरहताप तो अवश्यंभावी होत हे. तातें घरमें सेवा जातें निभती न होय ताकों विरहानुभवार्थ परित्यागको आपने उपदेश गौणकल्पके रूपमें दियो हे. तहां कर्तव्योपदेश गृहपरित्यागको हे, विरहानुभवको नाहीं. अरु प्रयोजन तहां विरहानुभव हे, गृहपरित्याग नाहीं. काहेतें गृहपरित्याग तो अनीश्वरवादी जैन-बौद्धहु करत हें परि उनको परित्याग भगवद्भक्ति को अङ्ग नाहीं हे. आप स्वयं तो भगवद्वदनावतार अरु भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड हें सो भक्तिमार्गके गौणकल्पको अनुसरिवेकी आवश्यकता आपुको कहा? तातें आपके सन्यास को प्रकार 'सन्यास निर्णय' तथा 'भक्तिवर्धिनी' (सं.नि.7, भ.व.1,6) में कहे प्रकार को न हतो 'सर्वनिर्णय-निबन्ध' (219-220) में कहे प्रकारकोही हतो.

साक्षात् स्वरूपकी सेवा जो कोऊ स्वगृहमें स्वतनुवित्त-परिजननके समर्पणपूर्वक करतो होय ताकों तो सेवा छांडिके विप्रयोगानुभवार्थ कथापक्षको अवलम्बन चलायके करनो तो भक्तिमार्गीय पाषण्ड हे. बहोत सेवा छूटि जाय अथवा नित्यक्रममें जब सेवाको अनवसर होय तब विरहानुभवार्थ कथा-स्मरण पक्षको भक्तिमार्गीय प्रकार पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त हे तातें—— "सेवायां वा कथायां वा" वचनमें प्रथम कर्तव्य तथा उल्लेख सेवाको हे. तैसेही—— "स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यं" वचनमें अन्तमेंहु अत्याज्यतया उल्लेख तो भजन अर्थात् सेवा कोही हे.

सो विरहानुभवकामना सेवापक्षमें तो सम्भवे नाहीं. काहेतें? सेवा करत साक्षात् सेव्य स्वरूपकी संयोगानुभूति स्वतः छांडिके विप्रयोगानुभूति करिवेके काज कोऊ गृहत्याग करे तब तो भगवत्प्राप्तिकी कामना खण्डित भयी जानिये. अथवा भगवन्मूर्तिमें भगवद्भाव खण्डित भयो जानिये. जेसें कोऊ प्रेमिका अपनें प्रियतमतें बिछुरवो नाहीं चाहत हे परि कबहु विधिवशात् बिछुरे तो ताकों विरहताप होत हे. परि कोऊ व्यभिचारिणी अपनें जारसों मिलवेकी आतुरतामें जब पतिके परदेशगमनको हृदयमें मनोरथ करत होय, अर्थात् बिछुरवो चाहत होय, तहां पतिप्रेम खण्डित भयो तब जानिये.

जेसें वर्तमान्कालमें कछुक स्वमार्गीय शास्त्री हु अपनें मांथे बिराजते स्वरूपकी सेवा छांडिके ठोर-ठोरपे भागवतसप्ताह करत हें. इन भागवतकथानमे कथा कहत-कहत कण्ठावरोध अरु अश्रुपात को आडम्बरहु जतावत हें. मानो भक्तिकी व्यसनदशा सिद्ध होय गयी होय! परि वस्तुतः अपने सेव्यस्वरूपमें एसी परमासक्ति सिद्ध भई होय तो काहेकों सेवा छांडिके ठोर-ठोर भटकिवो चहिये! जब सेवा छांडिके उदरभरणार्थ ठोर-ठोर भटकिवो आछो लागत हे तब तो स्वरूपासक्ति खण्डित भई जानिये, अरु स्वरूपासक्तिके अभावमें प्रकट कण्ठावरोध अरु अश्रुपात कोहु मूल कारण विप्रयोग न होई पाषण्डयोगही होत हे.

तासों विप्रयोगार्थ सन्यास में कर्तव्योपदेश गृहीय भोगवासनाके त्यागार्थ हे, अरु प्रयोजनोपदेश वैराग्यसाधनाको न होई विप्रयोगसाधनाको हे, “भोगाभावः तदैव सिद्ध्यति यदा गृहपरित्यागः”—— “तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्” इन वचनन्सों. सोहु गृहमें भगवत्सेवाके अनिर्वाहकी दशामें. तातें भक्तिमार्गमें यह गौणकल्प भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डायमान् श्रीमहाप्रभूनको अपेक्षित नाहीं हे.

भक्तिको पूर्वाङ्ग महात्म्यज्ञानकों मान्यो हे. तासों महात्म्यज्ञानके सिद्ध भयेतें लोकेषणा, वित्तेषणा अथवा बाह्यविषयसुखेषणा को माहात्म्य स्फुरत नाहिं हे तातें अज्ञानिजन सुलभ भ्रमयोग सम्भवे नाहीं. अरु भक्तिको उत्तराङ्गतो सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेहकों मान्यो हे. ता करि आधुनिक शास्त्रीनकी उदरंभरीकथामें प्रकट होतो विप्र (पाषण्ड) योग (वित्तोपार्जनको उपाय) हु सम्भवे नाहीं. तासों सिद्ध होत हे जो श्रीमहाप्रभूनने जा प्रकारको सन्यास ग्रहण कियो सो चतुर्थाश्रमरूप कर्ममार्गीय सन्यास ही हतो. सोहु लोकगोचर देह-देश परित्यागकी भगवदाज्ञा पालनमें

आनुषङ्गिक कर्म हतो. तासोंही 'अन्तःकरणप्रबोध'में आप आज्ञा करत हें:"आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत्".

यहां शङ्का होय सके जो तब श्रीहरिरायजीनें अपने अनेक ग्रन्थनमे अरु श्रीमहाप्रभूनने 'निरोधलक्षण'ग्रन्थमें "यच्च दुःखं यशोदायाः नन्दादीनां च गोकुले गोपिकानान्तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान् मम क्वचित" वचनमें विरह-दुःख की जो कामना दरसाई ताकी सङ्गति कहा जानिये?

यहां सर्वप्रथम श्रीमहाप्रभूनके वचनको अभिप्राय भगवानमे जीवको निरोध केसे सिद्ध होय ताकी साधनाके रूपमें सेवाके अनवसरमें कोनसी भावना करनी सो समुझावनो हे. तहां कह्यो जो "जेसे गोचारणकी बिरियां नन्दयशोदा अरु गोपीजनन् कों विरह-ताप रहतो एसो विरहताप, सेवाके अनवसरमें, मोकों कब होयगो!" सो एसो मनोरथ जगायवेको उपदेश या श्लोकमें हे. याहि ग्रन्थके दूसरे श्लोकमें "गोचारण करिके व्रजमें पधारते प्रभूनके कारण जेसो सेवासुख गोकुलमें गोपिका तथा सकल व्रजवासीन् कों होत हे तेसो सुख मोकों भगवत्सेवा करत कब होयगो!" याके मनोरथ जगायवेकोहु उपदेश हे. तेंसे हि तीसरे श्लोकमें जिन पुष्टिभक्तन्सों काहु कारणसों भगवत्सेवा निभती न होय तिनकों उद्धवागमनके समय बिरह-तापकी तीव्रतावश भगवत्कथाको महान उत्सव सिद्ध भयो तेंसे कोऊ भगवदीयके साथ भगवत्कथाके सत्सङ्गके सुमहान् उत्सवके मनोरथ जगायवेकोहु उपदेश हे. इन तीन श्लोकनमे —— 'मम'-'मे'-'मे मनसि'यों उत्तमपुरुषवचनको प्रयोग श्रीमहाप्रभूनने कियो हे सो, जेसे कृष्णाश्रयमें "विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्य...मम" प्रयोग कियो हे सो स्वाभिप्रायक न होई निजजनाभिप्रायक हे तेंसे समुझनो. काहेतें? पुष्टिमार्गीय जीवनको शरणागति करत बिरियां आपुनी नि:साधनताकी भावना करनी चईये ताके उपदेशार्थ हे, तेंसेही सेवा-कथोभयपरायण अथवा केवलकथापरायण पुष्टिभक्तनको केसी भावना करिवेतें उनकी भक्ति निरोधदसाकूं प्राप्त होत हे ताके उपदेशार्थ हे. काहेतें? श्रीमहाप्रभू आप स्वयंकेलिये तो "अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवींगत:" आज्ञा करत हें. तातें निरोधकी फलदशाको आप तो सर्वदाही अनुभव करत हें. तातें निरोधकी साधनरूपा भावनाको मनोरथ आपुनें स्वयंके काज कियो होय सो सम्भवे नाहीं.

अरु श्रीहरिरायजी भगवत्सेवातें अधिक विप्रयोगकों मानतहुते तो काहेतें सेवा छांडिके अरु सन्यास ग्रहण करिके विप्रयोग न किये? तातें आपको तात्पर्य हु नित्यसेवाके अनवसरमेंही विप्रयोगकी परमफलताकों स्वीकारिबो उचित हे.

सो या शिक्षाश्लोकीमें मुख्यत्वेन पांच उपदेश श्रीमहाप्रभूननें दिये हें:

(1) जो पुष्टिमार्गीय जीवकों कबहु बहिर्मुख नाहीं बननो चईये.

(2) जो पुष्टिमार्गीय जीवकों अपने पुष्टिप्रभुकी भक्ति अथवा शरणागतिहु लोकार्थितासों नाहीं करनी.

(3) या लोकमें अथवा परलोकमें पुष्टिजीवके सर्वस्व तो पुष्टिप्रभु श्रीकृष्णही होत हें.

(4) तासों सर्वथा कृष्णार्थी ह्वेके सर्वभावसों कृष्णसेवा करनी.

(5) जा पुष्टिजीवको जामें हित होय एसो सगरो काम श्रीगोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णही करत हें. काल-स्वकर्म-स्वभाव-अन्यदेव अथवा अन्य काहुकी कछू सामर्थ्य यहां नाहिं हे एसो विश्वास सर्वदा राखनो.

तहां सर्वप्रथम पुष्टिमार्गीय जीवकों कबहु बहिर्मुख नाहीं बननो चईये सो कहत हें:

यदा बहिर्मुखा: यूयं भविष्यथ कथञ्चन॥
तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोऽप्युत॥1॥
सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान् इति मतिर् मम।

यदा=जब, यूयं=तुम
कथञ्चन=कोईभी प्रकारसूं
बहिर्मुखा:=बहिर्मुख
भविष्यथ=होउगे
तदा=तब, कालप्रवाहस्था:=
कालप्रवाहमें रहे भये
देहचित्तादय:=देह-चित्त आदि
अपि=भी,
उत=निश्चयही

युष्मान्=तुमकुं
सर्वथा=सब तरहसूं
भक्षयिष्यन्ति=खाय जांयगो
इति=एसो, मम=मेरो
मति:=माननो
(अस्ति=हे)

भावार्थ : जब तुम कोऊ प्रकारतें बहिर्मुख बनि जाओगे तब कालके प्रवाहमें बहिवेवारे तिहारेही देहचित्तादि तिहारोही भक्षण सर्वथा करि लेंगे एसो मेरो मानिवो (मत) हे.

कालप्रवाह अरु भक्तिप्रवाह

टीका : लोकमें जो कछु जडवस्तु उत्पन्न होत हे ताको आज नाहीं तो कालि नाश तो होतही हे. तेंसेही जीवसृष्टिमेंहु जो जनमत हे ताको मृत्युहु अवश्यंभावी हे. तातें लोकमें जो कछु व्यक्त अथवा प्रकट हे सो कोउ न कोउ दिना अव्यक्त अथवा तिरोहित होय जायवेकूं कालके प्रवाहमें बहि रह्यो हे. ये कालहु काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषके मूलरूप अक्षरब्रह्मको एक सामर्थ्य हे. इन पञ्चविध तत्त्वन्सों घटित क्षर जगतको उपादान अक्षरब्रह्म हे. अरु जब कोऊ प्रवाही जीव, काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषरूपमें व्यक्त एसे क्षर जगत्में अक्षरब्रह्मको खोजत नाहिं तब ताकों कालप्रवाहमें बह्यो जातो जानिये. सो कालप्रवाहमें व्यक्तसों सब कछु अव्यक्त अरु अव्यक्त ह्वे पुनि-पुनि क्षर जगत्में व्यक्त होत रहत हे. परि जो ज्ञानी अक्षरब्रह्मकों प्राप्त करि लेत हे सो क्षर व्यक्तसों छूटिके अक्षर अव्यक्तताकों प्राप्त करि लेत हे.

जेसें सूरजकी धूप अथवा प्रभामण्डल सूरज के चारों ओर व्यापि रहत हे—— जेसें पुष्पकी सुगन्ध उपवनमें चारों ओर व्यापि रहत हे, तेंसे पूर्ण पुरुषोत्तम दिव्य नराकृति श्रीकृष्णके चारों ओर पूर्ण पुरुषोत्तमकी धर्मरूप अपरिच्छिन्न सत्ता, चेतना अरु आनन्द कूं 'अक्षरब्रह्म' कहत हें. तातें अक्षरब्रह्म, याहि जगत्को 'उपादान्कारण'हु कह्यो जात हे, सो पूर्ण पुरुषोत्तमको धर्मरूप हे अरु धामरूपहु हे. सो काहेतें? जो उपनिषद्में कह्यो गयो हे जो "परमात्मा अपनी महिमामें अवस्थित हे, अन्यत्र कहुं नाहीं". तातें ज्ञानमार्गी पुरुषोत्तमके अव्यक्त धामकों प्राप्त करत हें अरु भक्तिमार्गी अक्षरधाममें बिराजमान धामी पुरुषोत्तमकों प्राप्त करत हें. सो काहेतें? तहां यह जाननो जो ज्ञानीकों पुरुषोत्तमके केवल माहात्म्यको साक्षात्कार होत हे. जेसें

कस्तुरीमृगकों कस्तुरीकी सुगन्ध तो मिलत हे परि कस्तुरी मिली सकत नाहीं. सो काहेतें? जो कस्तुरीमृग अरु कस्तुरी के बीच आत्यन्तिक अभेदभाव होयवेतें. अरु कोऊ स्त्री-पुरुष अपनें वस्त्रपे अथवा अङ्गपें कछूक सुगन्धी अत्तर लगाय लें तब जा सुगन्धी पुष्पको अत्तर लगायो होय ताकी सुगन्ध तो आवे. सुगन्धी अत्तर लगाय कोऊ घरमें प्रवेश करे तब काहुकू भ्रमणाहु ह्वे जात हे मानों सुगन्धी पुष्प घरमें आये होंय! परि एसी भ्रमणाके कारण पुष्पकी प्राप्ति होत नाहीं. सो काहेतें? सो पुष्पकी कृत्रिम सुगन्ध धारण करिवेवारे पुरुष अरु ता सुगन्धकों सहज धारण करिवेवारे पुष्प के बीच आत्यन्तिक भेद होत हे. तेंसे हि अज्ञानी प्रवाही जीवनकोहु वा भूमा-परमानन्दकी कृत्रिम अरु क्षुद्र मात्रावारे विषयसुखमें कबहु परमानन्दकी उपलब्धि होय सकत नाहीं. जेसें गुलाबमें फूलके शोखीनको सुगन्धी गुलाबको फूल मिलिवेपें पुष्प अरु सुगन्ध अर्थात् धर्मी अरु धर्म दोऊ मिलि जात हें तेंसे भक्तनको माहात्म्यज्ञानके तथा सुदृढ सर्वतोधिक स्नेहके बलसों अक्षरधाम तथा धामी पुरुषोत्तम उभयकी प्राप्त ह्वे जात हे. तहां माहात्म्यज्ञानके बलतें जब अभेद स्फुरतो होय तो सुदृढ स्नेहके बलतें भेदहु स्फुरत हे अरु सुदृढ स्नेहके बलतें अभेद स्फुरतो होय तो माहात्म्यज्ञानके बलतें भेदहु स्फुरत हे. तासों भक्तिमें भेदसहिष्णु अभेद वारो तादात्म्य स्फुरत हे.

तासों भक्त तो क्षर-व्यक्त जगतके उपादान भूत अक्षर अव्यक्तके धाममें नित्य विहार करिवेवारे दिव्य-व्यक्ति एसे पुरुषोत्तमको अवलम्बन प्राप्त करिके जन्म-व्याधि-जरा-मृत्युमूलक शोक-मोहवारे विषयानन्दतें; अरु अज-अव्याधि-अजर-अमर परि केवल शान्तरसात्मक ब्रह्मानन्दतेंहु, बचिके दिव्य-लीला-विग्रहवारे सर्वरसात्मक पुरुषोत्तमानन्दकों प्राप्त करि सकत हे.

तातें विषयानन्द तो कालकी सरिताके प्रवाहमें प्रकट होयवेवारे शोक-मोहके आवर्तनमें जीवकों फंसायिके डुबोय देत हे. ब्रह्मानन्द तो एसो जानिये जो जलमें डुबि जायवेके डरतें कोऊ जलके समीप न जात होय तो ताकों श्राप अथवा वरदान देयके कोई जलरूपही बनाय दे! सो जल तो जलमें डुबे नाहीं परि जलकों जलपानको सन्तोष अरु जलस्नानतें प्राप्त स्वच्छता-शुद्धता अरु जलविहारकी प्रसन्नता को लाभहु तो मिलि सकत नाहीं! तातें भक्तकवि दयारामभाई कहत हें : “जलने शो जलनो स्वाद जन जुदो रहि पामें आह्लाद. सेवो श्रीकृष्ण कृपाळ!”

तातें विषयानन्दीके देहेन्द्रियादि कालप्रवाहके शोक-मोहके आवर्तनमें प्रवाही जीवनको डुबोय देत हें. ब्रह्मानन्दी तातें डरिके देहेन्द्रियादिकनको छांडिके अक्षरब्रह्मके ऐकात्म्यमें दुबकि जात हे. परि भक्तिकी सरिता तो कृपासिन्धुके परमानन्दकी लहरीनको अलौकिक सुख देहेन्द्रियादिकन्सों दिवायवेपेंहुं कबहु डुबोवत नाहीं. तातें श्रीमहाप्रभु आज्ञा करत हें—— जो भक्तिभावपूरित भगवत्समर्पित विषयनको प्रसादग्रहणरूप अलौकिक उपभोगकों छांडिके कोऊ स्वमार्गीय जीव जब असमर्पित विषयनके उपभोगमें फंसि जात हे तब—— वो जीव शास्त्रमर्यादातेंहु चूक्यो अरु पुष्टिभक्तितेंहु रहित भयो. सो वा जीवके देहेन्द्रियादिकही कालप्रवाहमें जीवकों बहाइके शोक-मोहके आवर्तनमें फंसायिके वाको सर्वनाश करि देत हें. तातें पुष्टिजीवकों कबहु बहिर्मुख जीवनकी नांई भक्तिभावरहित होनो न चहिये.

तहां ये शङ्का होत हे जो अपनो मारग तो प्रमेयबलको मारग हे अरु विधि-निषेधको प्रमाणबल प्रमेयके आगे तो टिक सकत नाहिं. तातें पुष्टिमारगमें पुष्टिप्रभुसों सम्बन्ध जुरे पाछे कालकी कहा सामर्थ्य जो पुष्टिप्रभून्तें छुडायके अङ्गीकृत निजजनको नाश करि सके! सेवाफलहुमें “फलं वा ह्यधिकारो वा न कालोऽत्र नियामक:” तेंसे हि सर्वनिर्णयनिबन्धहुमें “अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्म-करणात् तथा, नरके न भवेत् पात:” कह्यो हे. तातें कालकी कछु सामर्थ्य या प्रमेयमारगमें सम्भवे नाहीं.

या शङ्का को समाधान एसे जानिये जो श्रीमहाप्रभूनकी आज्ञानुसार भक्तिमारगपे चलत कोऊ पुष्टिजीवतें अज्ञानवश अथवा प्रमादवश कछु शास्त्रविरुद्ध कृत्य ह्वे जाय ताकों हीनयोनि तो मिले परि नरकपात न होय. तेंसे हि सेवाफलके वचनको अभिप्रायहु यों जाननो जो अलौकिक सामर्थ्यकी अथवा सायुज्य-सेवोपयोगिदेहकी प्राप्तिमें कालकी नियामकता नाहिं. परि या हि सेवाफल ग्रन्थमें भोग, उद्वेग अरु प्रतिबन्ध कों सेवाफलकी प्राप्तिमें बाधक तो मानें हि हे. तासों प्रमेयबलके भरोसे कोऊ या मारगमें स्वच्छन्दता बरतिवो चाहे तोहु कछु हानि नाहीं एसे न मानिये. सो काहेतें? तहां यह जाननो जो आत्मसमर्पण भयेतें जिन पञ्चविध दोषनकी सेवामें बाधकता निवृत्त होत हे ता आत्मसमर्पणकी इतिकर्तव्यतामें सामिभुक्तको समर्पण अरु असमर्पितको उपभोग वर्जित मान्यो हे. तासों सामिभुक्तके समर्पण अरु असमर्पितके उपभोग कियेतें समर्पण हि पूर्ण न भयो जानिये. तब जीवकोहु अङ्गीकार भयो न जानिये. तब कालकों एसे जीवको भक्षण करिवेमें कहा बाधा परि सके?

कथञ्चन

तासों या मारगमें श्रीमहाप्रभु तथा श्रीप्रभुचरण की आज्ञानको जो जानि-बूझिके उल्लंघन करत हे ताकों गुरुद्रोही, मार्गद्रोही तथा भगवद्द्रोही जाननो. अरु तीन्योंनको जो द्रोह करत हे सो तो आत्मद्रोह हि करत हे.

तासों सिद्धान्तमुक्तावलीमें कही गयी रीतिसों विरुद्ध जब कोऊ नादसृष्टिको अथवा बिन्दुसृष्टिको स्वमार्गी केवल तनुजा सेवा अथवा केवल वित्तजा सेवा करत होय तो ताको अध:पात निश्चित जानिये. सो काहेतें? तहां यह समझनो जो तनुवित्तजा सेवाको तनुजा अरु वित्तजा सेवामें विभाजन कियेतें देवद्रव्यतें भगवत्सेवाको प्रकार व्यापारधंधा की न्यांई चलत हे. तातें देवलकता, देवद्रव्यापहार अरु देवद्रव्योपभोग को अपराध लागत हे. सो श्रीमहाप्रभून्ने स्पष्ट आज्ञा कीनी हे——

"सो तो भोग श्रीठाकुरजी आपहीके द्रव्यको आरोगे सो आपही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायेगो सो मेरो नाहीं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहु न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. तातें वा प्रसादमेंतें भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो. वाकेलिये गोअन्नको खवायो अरु बच्यो सो श्रीजमुनाजीमें पधरायो".

तासों भगवत्सेवार्थ जो बिन्दुसृष्टि के जघन्यकोटीके स्वमार्गी लोकार्थी बहुधा नादसृष्टिकों वित्तजा सेवा करिवेकी आज्ञा करत हें अरु नादसृष्टि केहु दुर्भागी लोकार्थी जीव तनुजासेवा करायवेकों वित्तजा सेवा करत हें तिनकों श्रीमहाप्रभून्के मार्गमें महापतित बहिर्मुख करि जाननें. ये प्रथम प्रकार भयो बहिर्मुखताको.

तेसें हि 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभून्ने समुझायो हे जो पुष्टिजीवकों लौकिक-वैदिक कपटसों निभानें अरु वैष्णवी भक्ति निष्कपट सहजतासों निभानी. यासों विरुद्ध जायके कोऊ लोकेषणा अथवा वित्तेषणा अथवा शिष्येषणा सूं वशीभूत होयके अपने सेव्यप्रभून्के बड़े-बड़े मनोरथ जनताकों दिखायवेको करत होय तब लौकिक-वैदिक तो निर्लज्ज-निष्कपट कियो जानिये परि वैष्णव भक्ति तो कपटतें सिद्ध भयी जानियो. सो येहु बहिर्मुखताको दूसरो प्रकार हे.

तेंसे हि 'सिद्धान्तरहस्य' ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभून्ने आज्ञा कीनि हे जो "निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्याद् इति स्थिति:" अरु "सेवकानां यथा लोके व्यवहार: प्रसिद्ध्यति, तथा कार्यं

समर्प्यैव". तासों निवेदित सर्वसमर्पणात्मिका सेवाके काज ब्रह्मसम्बन्ध दियो——लियो चहिये. परि जाकी सेवामें एसी रुचि अथवा सामर्थ्य न होय ताकोंहु आत्मनिवेदनकी दीक्षा देयवेपें अनधिकारीकों मन्त्रदान करिवेरूप नामविक्रयापराध होत हे. सो एसे मन्त्रक्रेता अरु मन्त्रविक्रेता दोनोंनको बहिर्मुख जानिये. ये तीसरे प्रकारकी बहिर्मुखता हे.

तेंसेही 'नवरत्न'के प्रकाशमें श्रीप्रभुचरण स्पष्ट आज्ञा करत हें—— "दाने हि न स्वनियोग: नतु निवेदने" अर्थात् अपनें सेव्य प्रभूनको स्वयं सेवाकर्ता अथवा अन्य काहुने जो कछु सेवोपयागी अन्न-वस्त्र-आभूषण आदि वस्तु अथवा द्रव्य दान किंवा भेट रूपेण दीनि होय ताको, भगवत्प्रसादको बहानो करिके, आपुनें उपभोगमें लावनी नाहीं. तातें 'सिद्धान्तरहस्य'में—— "दत्तापहारवचनं तथाच सकलं हरे:, न ग्राह्यम् इति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्" वचनकोहु कछूक स्वार्थान्ध स्वमार्गी एसो अर्थ करत हें जो या मारगमें तो दानको प्रकार हे ही नाहीं. सो काहेतें? तहां ऊपर कह्यो वचन कहि सुनावत हें. परन्तु आत्मनिवेदनानन्तरहु जो कछु अपने प्रभूनको अपन् अथवा अन्य कोऊ कछू भेट धरे सो तो समर्पण नाहिं, ताकों तो दानही समझनो चहिये. अन्यथा कोऊ वैष्णव कछू वस्तु अथवा द्रव्य गोस्वामिबालकनकोहु गुरुभेटके रूपमें धरिके "निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्याद्" कहिके काहे पाछे लेय सकत नाहिं? सो काहेतें? तहां उल्लिखित वचन—— "दत्तापहारवचनं... न ग्राह्यमिति भिन्नमार्गपरं मतं" काहेतें प्रमाण नाहिं बनोगे?

कोऊ कहत हें—— जो वैष्णव जनताहु तो आपुनीही हे, अरु वेहु आपुनेंही गुरुनको तथा गुरुनके सेव्य प्रभूनको आपुनेंही मानिके जो कछु भेट-सामग्री पधरावत हें, सो आपुनी स्वामित्वकी आपुनेही कार्यमें लगावत हें. तातें जेसें आपुनें घर-परिवारमें कोऊ गृहस्थ कछूक द्रव्य के वस्तु देवे सो दान न होई, आपुनेंही कार्यमें विनियोग कह्यो जात हे तेसेंही क्यों न समझिये? सो सुनत एसो भाव जगत हे मानो "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्". सो एसो औदार्य अरु कुटुम्बभाव होयवेपे जेसें गोस्वामि बालकनके ठाकुरके काज जनताको द्रव्य लियो जात हे तेसें जनताके ठाकुरजीनके काज गोस्वामिबालक काहे भेट-सामग्रीको विनियोग नाहिं करावत हें! तासों या देवलकताके छल-प्रपञ्चकोंहु बहिर्मुखताको चोथो प्रकार करि समझनो.

तेंसेही अन्त:करणप्रबोध, विवेकधैर्याश्रय तथा कृष्णाश्रय ग्रन्थन्द्वारा श्रीमदाचार्यचरणनें पुष्टिजीवनको यह समझायो हे जो आपुनें पुष्टिप्रभुको लौकिक स्वामीकी नांई न माननो अरु वे पुष्टिजीवकों सुख-दु:खमें जेसेंहु राखत हें तेंसे रहिके आपुनि शरणागति तथा भक्ति के भावकी सुरक्षा करनी. तहां विवेकधैर्यहु कबहु छूटि जात होंय तोहु आपुनी अनन्यता छोड़नी नाहीं. सो काहेतें? तहां कहत हें अन्य देवनकी शरणागति अथवा भक्ति तें श्रीकृष्णकी शरणागति तथा भक्ति की भावना शिथिल होत हे. सो ताके शिथिल भये पाछे विवेक अरु धैर्य रहें तो कहा लाभ अथवा गये तो कहा हानि, या मारगमें विवेक अरु धैर्य की जो कछु आवश्यकता हे सो शरणागति अरु भक्ति की रक्षाके लिये. सो जेसें नेत्र होयवेपे आछो दीखे ताकरि उपनेत्र (चश्मा) की अपेक्षा रहत हे परि आंधरे भये पीछे तो आपुनो अन्धत्व ओरनको दीसे नाहिं. तातें हरे चश्मा कोऊ पहरत हें. परि चाल-ढालतें कोन न जानि जात हे जो चश्मा तो पहिरवेवारेकी आंधरी आंख कोऊ देख न पावे ताके काज पहिरी राखे हें, चश्मा कछु देखिवेके नाहिं हें. तासों अन्याश्रयको अपराधहु श्रीकृष्णशरणागत अथवा श्रीकृष्णभक्त पुष्टिमार्गीयकेलिये तो बहिर्मुखताकोही पांचमो प्रकार जानिये.

तेसेंही चतु:श्लोकीमें श्रीमहाप्रभुनें उपदेश दियो हे जो अपने सेव्य प्रभुकों अलौकिक निधि मानि व्रजभक्तनके सर्वविधभावन्सों भजिवो चहिये. तहां अपने माथे बिराजते स्वरूपकों आपुनो सर्वस्व न मानि कोऊ अन्यके माथे बिराजते ठाकुरजीकों वैभव, मेंड-मरजाद-अपरस अथवा अन्य कछुक आडम्बरपूर्ण अथवा वास्तवमें भावपूर्ण उपाधिनके वश अन्यासक्ति करे तथा व्रजभक्तनके निश्छल भावनकी भावना अपना माथे बिराजते ठाकुरमें न राखे सोहु अपने माथे बिराजते ठाकुरको सुख विचारि न सके. सो कीनि भई सेवाहु बिनकीनिसि बनि जावे. तातें आधुनिक स्वमार्गीय वैष्णवनमे सार्वजनिक देवलयनमे बिराजते स्वरूपनकी स्वयंके माथे बिराजते ठाकुरकी व्यापारिक प्रणालीसों करि जाती सेवावारे ठाकुरजीकों साक्षात् पुरुषोत्तमरूपसों मानिवो अरु स्वगृहमें सिद्धान्तरीतिसों करि जाती सेवावारे स्वरूपकों गुरुभावसों भजिवेकी जो भ्रान्ति फेलाई जावे हे सोहु बहिर्मुखताको छठो प्रकार हे.

तेंसेई भक्तिवर्धिनी, जलभेद आदि ग्रन्थनमे कोनकों सेवा-कथा उभयपक्षको अवलम्बन करनो अरु कोनकों केवल कथापक्षतेंहु कारज सरि सके; तथा सेवा जासों स्वगृहमें निभे नाहीं ताकों सेवापरायण भगवदीयकी परचारगी “अदूरे विप्रकर्षे वा यथा

चित्तं न दुष्यति” वचनोक्त प्रकारसों करनी इत्यादि सब प्रकार बतायो हे. तहां भाव दृढ भये बिनाहु अरु अव्यावृत्त होयवेपेंहु जो कोऊ कथाकल्पको ग्रहण करत हें सो यदि सेवायोग्यता प्राप्त करिवेकों करत होंय तब तो कछू दोष नाहिं परि अर्थ-ख्याति आदि दुष्ट प्रयोजनवश यदि कथाकल्पको ग्रहण करत हें, “सेवायां वा कथायां वा” वचनके छलतें, तब सो सातमो प्रकार बहिर्मुखताको समझनो.

तेंसेई आपुनें घरमें सेवा न निभवेतें सेवापरायण भगवदीयकी परचारगीको जो उपदेश दियो ताके छलसों वा भगवदीयकी तनुवित्तजाकों जो तनुजा अथवा वित्तजा सेवामें खण्डित करि देत हें सोहु बहिमुर्खताको आठमों प्रकारही हे. मूलमें तो याहि आज्ञाको विचार करिके प्राचीन गोस्वामी बालक वैष्णवनको अपने ठाकुरजीकी सेवामें परचारगीकी आज्ञा देत होयगें. सो वर्तमानमें कलिकालके बलवान होयवेतें श्रीमदाचार्यरणके अलौकिक वंशजहु सिद्धान्तविपरीत तनुजा सेवा करिवेवारे जघन्यप्रकारके पुजारि बनि गये और वैष्णव वित्तजा सेवा करिवेवारे दर्शनार्थी, मनोरथी अरु भ्रष्टी-ट्रष्टी बनि गये. तहां श्रीमहाप्रभुनको शिक्षाश्लोक सांचो पर्यो जानिये!

श्रीद्वारिकेशजीनें बहिर्मुखताके कारणतया चार बात दिखलाईहें——

1.अन्याश्रय
2.असर्मित वस्तुको उपभोग
3.असदालाप
4.असत्सङ्ग.

(1).

तहां शरणागति तथा भक्ति दोउमें अन्याश्रय बाधक होत हे. नित्य-नैमित्तिक श्रौत कर्म तथा वर्णाश्रमीनको अवश्यानुष्ठेय संस्कार-प्रायश्चित-श्राद्धादि स्मार्त कर्मनमे कर्माङ्ग जे अन्य देव हें तिनके पूजन-वन्दनमें अन्याश्रय दोष नाहिं हे. परि अन्यदेवनको उपासनाभक्तिके काज जे मन्दिर हें तिनमें दर्शन पूजन स्तवन प्रसादग्रहण करिवे स्वतः-चलायके जइवो निश्चितरूपसूं अन्याश्रय मान्यो जाय हे. कहुं जात मारगमें कोऊ अन्यदेवको मन्दिर आवे तहां वन्दनव्यवहार अन्याश्रय नाहिं हे. कामनापूर्तिके काज तो श्रौतकर्ममेंहु अन्यदेवनको पूजन-व्रत-प्रार्थना अन्याश्रयही होत हे. सो आन्याश्रयतें जीव बहिर्मुख ह्वे जात हे.

(2).
असमर्पितको उपभोग शरणागतिमें बाधक होत नाहीं. परि शिक्षाश्लोकी
शिक्षाश्लोकी

भक्तिके सेवाकल्प, घरमें ठाकुर स्वामिभावतें बिराजत हें, सो तामें असमर्पितको उपभोग कियेतें सेवकभाव खण्डित होत हे. ता करि निज सेव्यप्रभूनकी भावात्मिका निज स्वामिताहु तिरोहित ह्वे जात हे. तातें सामिभुक्तसमर्पण अरु असमर्पितोपभोग ये दोऊ बहिर्मुखता सम्पादक हें. बहुरि समर्पण अपने घरमें बिराजते प्रभूनकोही सम्भव हे. दूसरेके माथे बिराजते ठाकुरजीकेलिये जो कछु कोऊ देत हे ताकों समर्पण न जानि दान किंवा भेटही जाननी चईये. सो ये प्रकार देवद्रव्यको भयो ताके उपभोगतें देवद्रव्योपभोगको पातित्यकारी अपराध होत हे. तेसेंई सेवाकर्ता स्वयंहु भेट धरिवेके विशेषभावतें जो कछु निज प्रभूनको देत हे सोहु देवद्रव्य भयो, जाके उपभोगतें पुष्टिजीव महापतित ह्वे जात हे. सो तो असमर्पितके उपभोगहुतें महत्तर अपराध हे.

(3).
असदालाप, जातें चित्तकी भगवत्प्रवणतामें व्यवधान होय सोहु जीवके बहिर्मुख बनिवेको हेतु बनत हे. ये शरणागति अरु भक्ति उभयत्र बाधक हे.

(4).
असत्सङ्ग तो जेसें प्राचीनकालमें भक्तिभावविरोधी स्त्री-पुरुषनको सङ्ग कह्यो जातो तेसें द्रव्योपार्जनके हेतु भागवतकथा करिवेवारेनको सङ्ग तथा टी.वी.-विडीयोको सङ्गहु बहिर्मुख बनायवेमें वर्तमानमें अति प्रबल दीखत हे. येऊ शरणागति अरु भक्ति दोनोंमें बाधक हे.

सो इन चार्यों दोषन्तें बहिर्मुखता प्रकट होत हे तहां सन्देह नाहीं, परन्तु, एसोहु बहुधा होय सके जो कोऊ अन्य कोऊ कारणतें प्रथम बहिर्मुख बने ता पाछें बहिर्मुखताके कारण वा जीवकी अन्याश्रय, असमर्पितोपभोग, असदालाप अथवा असत्सङ्गमें प्रवृत्ति होय. तातें ये चारि जेसें बहिर्मुखताके कारण हें तेसेंइ अन्यहु कारण होय सके हें.

बहिर्मुखता

तहां शङ्का होत हे जो बहिर्मुख भयेतें आसुरावेश अरु आसुरावेशतें कालप्रवाहपात अरु कालप्रवाहपाततें सर्वनाशको भयमर नियम तो कोऊ समझि सके परि काहे-काहेतें बाहिर्मुख्य सम्भवे ताकी जानकारी भये बिना कोऊ बचिवो चाहत होय तोउ केसें बचे?

तहां समाधानरूपेण ये जानिये जो 'बहिर्मुखता'पद को वेसे तो प्रथम अभिप्राय भगवद्विमुखतामें हें. तहां 'भगवद्विमुखं' न कही जो 'बहिर्मुख'को प्रयोग कियो ताको अभिप्राय एसो हे जो मर्यादामार्गमेंहु जीव भगवद्विमुख होय सके, सो भगवद्विमुखता पुष्टिमार्गीयकी नांई मर्यादामार्गीय दोषहु होय सकत हे. पुष्टिमार्गमें परि भगवानको स्वरूप आन्तरिक भावात्मक तयाही प्रकट होत हे. अरु भावात्मना हृदयके भीतर प्रकट होयके श्रीमहाप्रभुकी कानीतें दृष्टिगोचर बाह्य स्वरूपमें अयो-गोलकन्यायतें तादात्म्य प्राप्त करत हे. सो सर्वप्रथम तो व्यापिवैकुण्ठस्थित पुष्टिभक्तनके भावानुरूप भगवानको भावात्मक स्वरूप होत हे. सोई स्वरूप भूतलपेहु पुष्टिजीवनपे कृपा करि पुष्टिलीलाके सुखदान करिवेकों व्रजमें पूर्ण कलान् सहित प्रकट भयो. ताहि स्वरूपकी भक्ति करायके पुष्टिजीवनको पुष्टिभक्तिरूप फलदान करिवेकों श्रीमदाचार्यचरणको भूतलपे प्राकट्य हे. तातें राम, नृसिंह, वामन आदि अनेक रूपन्तें भगवानने पुष्टिलीला कीनि हे, तोऊ श्रीमदाचार्यचरण प्रवर्तित पुष्टिमारगी सम्प्रदायमें श्रीमदाचार्यचरणके भावसों भावात्मक "सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप:, स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य: क्वापि कदाचन" वचनसिद्ध पुष्टिस्वरूपही भजनीय हे. ओर सगरे रूप भगवानके यथायथ वन्दनीय पूजनीय स्मरणीय होय सकें परन्तु स्वगृहमें नित्यतया भजनीय नाहीं. तातें श्रीमदाचार्यचरणके भावानुसारी भावात्मक व्रजधीश श्रीकृष्णकी शरणागति अथवा एसे श्रीकृष्णके श्रीबालकृष्ण श्रीमदनमोहन श्रीविट्ठलनाथ श्रीगोवर्धननाथ आदि अनेक रूपनमे तें कोई एक स्वरूपमें "ये मेरे माथे बिराजतो मेरो ठाकुर हे" एसो भाव जब कोऊ स्थापित करत हे तब श्रीमहाप्रभूनके भावात्मक अनेक स्वरूपनमे सेवाकर्ताके सेवामनोरथकों पूर्ण करिवेकों पुष्टिभक्तभावात्मक एक विलक्षण स्वरूप प्रकट होत हे, श्रीमदाचार्यचरणनकी कानितें.

तासों शरणागति अथवा भक्तिके कथाकल्पमें श्रीमहाप्रभूनके आन्तरिक भावसों भावात्मक स्वरूप अथवा भक्तिके सेवाकल्पमें श्रीमहाप्रभूनके तथा सेवाकर्तकिहु आन्तरिक भावन्सों भगवत्स्वरूप भावात्मक होत हे. सो अखण्डब्रह्मवादके विचारतें तो घटपट-गोगर्दभादि सकल जड-जीवको विस्तार ब्रह्मही हे परि भजनीयता तहांही मान्य हे जहां श्रीमदाचार्यचरणनके भावसों भावात्मकताको प्राकट्य हे. सो स्मरण, भजन अथवा शरण के अनुष्ठानमे जो-जो सावधानी अपेक्षित हे सो-सो अतिशय भार देयके श्रीमहाप्रभूनने कहि दीनि हे. तेसेंई जिनके न पालिवेतें तिनके स्मरणविरोधी, भजनविरोधी तथा शरणविरोधी जो-जो दुष्परिणाम प्रकट होत हें सो हु बताय दीने हें. तिन सगरे अपराधन्तें श्रीमहाप्रभूनके भावात्मक पुष्टिपुरुषोत्तमके सङ्ग जीवको सम्बन्ध तिरोहित ह्वे जात हे. अन्तरमें भावरूपसों बिराजमान् भगवत्स्वरूपतें विमुख होयवेके कारण जीव 'बहिर्मुख' कह्यो जात हे. तासों बहिर्मुखता पुष्टिमार्गीय दोष हे.

तासों श्रीमदाचार्यचरणनके उपदेशानुसार शरणागति अथवा भक्ति कियेतें श्रीमहाप्रभूनके भावसों विभावित पुरुषोत्तमको प्राकट्य अरु श्रीमदाचार्यचरणनके उपदेशविरुद्ध गुरुतर अपराधन्तें श्रीमहाप्रभुभावविभावित पुरुषोत्तमको तिरोधान होत हे. ता करि भगवद्भावकोहु तिरोधान होत हे. अरु तातें जो भगवद्विमुखता होत हे सोई पुष्टिमार्गमें बहिर्मुखता कही जात हे. याकों जानि लेवेपे भगवदङ्गीकृत पुष्टिजीवकों बहिर्मुखतातें बचिवेको उपायहु सुबोध्य होय जात हे.

यदा यूयं भविष्यथ

तहां शङ्का होत हे जो श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीगुंसाईजी तो साक्षात् बलराम-कृष्णको प्राकट्य हें. "श्रीवल्लभप्रतिनिधिं तेजोराशीं दयार्णवं गुणातीतं गुणानिधिं श्रीगोपीनाथम्"—— 'अपर: कृष्णावतारो जगति श्रीविट्ठल:" आदि वचन या मारगमें सर्वमान्य हें. तेसेंई श्रीमहाप्रभूनके साक्षात् सेवकहु दामोदरदास प्रभृति नित्यलीलापरिकरके महानुभाव हें. तिनकों एसे कठोर वचन कृपानिधि श्रीमहाप्रभु केसें कहे?

तहां समाधान ये जानिये जो श्रीमहाप्रभूनकी द्विविध सृष्टि हे : वंशज अरु उपदेशज. सो वंशज तो सगरे बिन्दुसृष्टि अरु उपदेशज नादसृष्टि कहवावत हें. तहां "यथा पिता तथा पुत्र:" अरु "यथा गुरु: तथा शिष्य:" परम्परान्यायतें भविष्यमें होयवेवारे कोऊ

नादसृष्टि अथवा बिन्दुसृष्टि के अपने आपकूं श्रीमहाप्रभुके समान मानिके मिथ्या अहङ्कार करिके जगतमें पुजायिवे लगें तो तिनकी पूजनीयताकी कसोटी या शिक्षाश्लोकीकों जानिये. या कसोटीपे खरो सुवर्ण सिद्ध होयवेपे "यथा पिता तथा पुत्रः"——"यथा गुरुः तथा शिष्यः" परम्परान्याय प्रामाणिक जानिये. अन्यथा या कसोटीपे खोटो ठहरिवेपे परम्परान्यायमें कछु व्यवधानको निश्चय करि लेवो आछो. तातें सर्वनिर्णय-निबन्ध कारिका "कृष्णसेवापरं वीक्ष्य ... जिज्ञासुरादरात्" के प्रकाशमें गुरुपरीक्षा अरु शिष्यपरीक्षा को उपाय श्रीमहाप्रभूनने समझायो हे. तासों वा समय विद्यमान बिन्दुसृष्टिको अरु नादसृष्टिको यहां 'यूयम्' पदसों परामर्ष न जानिये परि "यदा... भविष्यथ" के मध्यपाती 'यूयम्' पदतें भविष्यमें तिहारी परम्परामें होयवेवारी बिन्दुसृष्टि अरु नादसृष्टि के जीव जब बहिर्मुख ह्वे जावेंगे तब विनके कालप्रवाहस्थ देहचित्तादि विनको भक्षण करि जावेंगे एसी अर्थद्योतनात्मिका वाणी हे.

सर्वथा भक्षण

तहां एक शङ्का होत हे जो बहिर्मुखके देह-चित्त आदि कालप्रवाहस्थ होयके पुष्टिजीवको भक्षण करि जावेंगे एसे कह्यो परि ता करि कहा आत्मनाश, अथवा आत्माको पुष्टिमार्गमें वरण कियो हे सो वरणनाश अर्थात् बीजभावको नाश, अथवा अष्टाक्षर अथवा ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षाके कारण साम्प्रदायिकी शरणागति अथवा भक्ति के अधिकारको नाश; अथवा शरणागति अथवा भक्ति के स्वरूपको नाश; अथवा इनके अनुष्ठान कियेहु तें कोऊ फलसिद्धि न होयेगी सो फलनाश, अथवा अन्य कछु कोऊ प्रकारको नाश, इनमेंते कहा जानिये?

तहां आत्माकों भगवद्गीतामें "देही तो सर्वदा अवध्य होत हे" कहिके अविनाशी सिद्ध किये हें, तातें आत्मनाश तो सम्भवे नाहीं. तेसेंई मार्गवरणनाश किंवा बीजभावनाश हु सम्भवे नाहीं. सो काहेतें? तहां श्रीगुसांईजीको वचन "अङ्गीकृतिश्चनित्या" प्रमाण करि जानिये. तातें बीजभाव अथवा पुष्टिमार्गाङ्गीकृति तो नित्य होयवेतें अलौकिक हे. ताको लौकिक दोषपूर्णा मति, रति अथवा कृति तें नाश सम्भवे नाहीं. साम्प्रदायिकी शरणागति अथवा भक्ति के अधिकारको जो लौकिक स्वरूप वर्तामानमें हे वामें तो बहुतेरे पुष्टिमार्गी श्रीमहाप्रभूनके सिद्धान्तसों सर्वथा विरुद्धाचरण—— अन्याश्रय, असमर्पण, असत्सङ्ग, असदाचार, असद्विचार, असद्भाव आदि अपराध करत जात हें अरु स्वयंको 'पुष्टिमार्गी'हु बतावत हें. बहुधा पुष्टिमार्गकोही नाम लेयके श्रीमहाप्रभूनकी आज्ञाकी उपेक्षा, अन्यथाव्याख्या अथवा

तिरस्कृतिहु करत हें. तिनकों या मारगमेंते बाहिर निकासिवेको कोऊ लौकिक उपाय तो हे नाहीं. उदाहरणतया अर्थोपार्जनके काज भागवतसप्ताह, छप्पनभोग आदि भगवत्सेवाङ्गभूत मनोरथ, सोहु असम्प्रदायिजनके द्रव्यसोंहु कराई लेवेमें चूकत नाहीं, एसेनको सम्प्रदायमेंते बाहिर निकासिवेको कोऊ लौकिक उपाय तो हे नाहीं. तातें सम्प्रदायमें अधिकारनाशहु सम्भवे नाहीं. तातें परिशेषतया शरणागति अरु भक्ति को स्वरूपनाश अरु फलस्वरूपतया प्राकट्यसम्भावनाको नाशही 'सर्वथा भक्षण'को आशय करि जानिये.

इति मति: मम
पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें श्रीमहाप्रभूनने आज्ञा कीनि हे जो या मारगमें फल तो स्वयं भगवानही होत हें परि या भूतलपे विनको प्राकट्य अनेक प्रकारन्तें सम्भव हे:

कोऊ पुष्टिजीव जाको केवल पृथक्शरणमार्गमें पुष्टिप्रभुनें वरण आदि कियो होय ताके काज भगवान् आश्रय अथवा आश्रयणीय रूपतें प्रकट होत हें.

कोऊ पुष्टिजीव जाको पुष्टिप्रभुनें वरण साङ्गोपाङ्ग भक्तिके काज न कियो होय तब ताके काज केवल पूजनीय अथवा केवल सेवनीय अथवा केवल श्रवणीय अथवा केवल कीर्तनीय अथवा केवल स्मरणीय रूपतें भूतलपे प्रकट होत हें.

पुष्टिप्रभु जा रूपतें जेसे पुष्टिजीवके काज भूतलपे प्रकट होत हें प्रभुके ता रूपमें जीवकों प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति सिद्ध ह्वे जात हे. तातें विवेक-धैर्य सहित अनन्याश्रयकों शरणागतिकी फलरूपता जानिये. तेसेंई तनुवित्तजाके क्रमसों चित्तकी भगवत्प्रवणता सिद्ध भयेतें सेव्यस्वरूपकी मानसी सेवाकों अथवा देहेन्द्रियप्राणान्त:करण, तद्धर्म तथा दारागार-पुत्राप्तादि सकल परिकरके साथ पुष्टिजीवकी कृष्णसेवापरापणतातें अलौकिक सामर्थ्यरूपा सेवाकों फलरूपा जानिये. तेसें भगवल्लीलाके श्रवण-कीर्तन-स्मरण कियेतें प्रेमासक्तिव्यसन सिद्ध भयेतें श्रवणभक्ति, कीतर्नभक्ति अथवा स्मरणभक्ति की फलरूपता जानिये.

ये फलरूपताको प्राकट्य भावात्मक पुष्टिप्रभुकोही प्राकट्य हे—— कबहुक केवल आन्तर, कबहुक केवल बाह्य अरु कबहुक आन्तर-बाह्य उभयथा, परि या तरहको प्राकट्य होत हे श्रीमहाप्रभुद्वारा उपदिष्ट प्रकारसों शरणागति अथवा भक्ति कों निभायवेपे ही. अन्यथा काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यरूप मनोदोषनकी उपाधिन्सों कल्पित प्रकारतें शरणागति अथवा भक्ति कियेतें भावात्मक पुष्टिप्रभुको

प्राकट्य होत नाहीं. तातें शरणागति अरु भक्ति को अविनाशी बीजभावहु अमुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होत नाहीं एसो दृढ निश्चय करि जाननो. तातें षोडशग्रन्थ, निबन्ध आदि ग्रन्थन्सों विपरीत जो कछु प्रकार या मारगमें श्रीमहाप्रभून्को नाम लेके चलायो जात हे सो सगरो बहिर्मुख होयवेकोही अनुष्ठान हे. यामें निजजनकों कोऊ प्रकारको संशय अथवा अन्यथाभाव होय सके नाहीं. अरु जाकों यहां असम्भावना किंवा विपरीतभावना होत हे ताकों बहिर्मुख जाननो तातें श्रीमहाप्रभु "इति मति: मम" कहत हें.

तहां शङ्का होत हे जो भक्तिवर्धिनीमें आपने आज्ञा कीनि हे—— "सेवा अरु कथामें किंवा सेवा-कथामेंते कोऊ एकमेंहु जाकी दृढ आसक्ति होत हे ताको कबहु नाश न होयगो". या वचनतें ये सिद्ध होत हे के यदि कोऊ अर्थोपार्जनार्थ सेवा-कथा करत होय तोहु एसे बहिर्मुखकोहु नाश होय सकत नाहीं.

या शङ्का के समाधानरूपेण कहत हें जो पुष्टिमार्गीय जीवकों निजप्रभुकी शरणागति अथवा भक्ति करत कबहु लोकार्थिता न लावनी——

न लौकिक: प्रभु: कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्॥2॥

कृष्ण:=श्रीकृष्ण
लौकिक:=लौकिक
प्रभु:=स्वामि, न=नाहीं
(अस्ति=हे, तस्मात्=तासों)
लौकिकं=लौकिककुं
(भावं=भावकुं)
न=नाहीं, एव=ही
मनुते=माने हें

भावार्थ : (प्राकृत धर्मनके अनाश्रय अरु अप्राकृत निखिल धर्मरूप होयवतें) श्रीकृष्ण कछु लौकिक प्रभु तो हें नाहीं. तातें भजन करिवेवारेके लौकिक भावनको पोषण नाहीं करत हें.

न लौकिक: प्रभु: कृष्ण:

टीका : ऐहिक अथवा परलौकिक कोऊ विषयकी कामना होयवेपे ताकी पूर्तिकेलिये यदि कोऊ भगवानकी शरणागति करे तब शरणागति तो भई साधन अरु वो ऐहिक किंवा पारलौकिक विषय भयो फल. तब शरणागतिमें फलबुद्धि उपजत नाहीं. तासों शरणागत जीवमें नि:साधनभावहु प्रकट होत नाहीं. तब शास्त्रविधिकी आधीनता मानिके शास्त्रानुसार शरणागति करे सो ता प्रकारकी शरणागतिकों मर्यादामार्गीय शरणागति जानिये. शरणागतिको पुष्टिमार्गीय प्रकार तो श्रीकृष्णके प्रति अनन्यमना ह्वेके अर्थात् श्रीकृष्णतें भिन्न अन्य ऐहिक किंवा पारलौकिक विषयक कामना राखे विना जब जीव शरणागत होत हे तब जानिये.

तहां शङ्का होत हे जो या कलिकालमें शुद्ध-शुद्ध निष्कामता किंवा भगवत्कामना तो कोटी जीवनमे ते एक जीवमेंहु सम्भवे किंवा नाहीं याको सन्देह होत हे. तासों पुष्टिमार्गीय शरणागति तो अशक्योपदेश सिद्ध होयगो.

यहां समाधान यह जानिये जो जीव कोऊ सकाम होय अकाम होय मोक्षकाम होय किंवा सर्वकाम होय, सबहि पुष्टिशरणागतिके अधिकारी हें. परि पुष्टिशरणागतिको अनुष्ठान आपुनी ऐहिक वा पारलौकिक कामनाकों पूर्ण करिवेको नाहीं करिवो चईये. जेसे कोऊ वित्तकामी होय अरु वित्तकामनाकी पूर्तिके काज कछू लौकिक उद्यम करत होय तो तातें पुष्टिमार्गीय शरणागतिमें अनधिकार फलित भयो न जानिये. परि धनकामनाकी पूर्तिके काज कोऊ श्रीकृष्णको आश्रय करे तो अनाश्रयको अपराध आयपर्यो जानिये. लौकिक कामनाकी पूर्ति लौकिक उद्यमतें करिवेमें अन्याश्रय अथवा अनाश्रय को कोऊ प्रसङ्ग नाहीं. तेसेंई स्वास्थ्यकामी कोऊ चिकित्सकतें ओषधी मांगिके सेवन करे तामें अन्याश्रयदोष अथवा भगवदाश्रय त्याग को कछू विचार नाहीं हे. परि स्वस्थ होयवेके काज कोऊ श्रीकृष्णके मन्त्रनको अनुष्ठान अथवा पूजा-बलि-यात्रा आदि को अनुष्ठान करे तो विवेक-धैर्य-आश्रय छूट्यो जानिये.

एसेंई भक्तिके विषयमेंहु समझिके अपनी ऐहिक-पारलौकिक विषयनकी कामनापूर्तिको साधन कृष्णभक्तिको बनाईवो उचित नाहीं. ताको एसो अभिप्राय न जानिये जो सर्वथा निष्काम होयवेपेही भक्तिको अधिकार मिलत हे. निज भक्तिकों फलरूप मानिके भक्तिको अनुष्ठान पुष्टिभक्ति हे. तामें लोक-वेदके विषय-प्रयोजनको मिश्रण पुष्टिभक्तिको बाध जानिये.

मनुते नैव लौकिकम्

तहां शङ्का होत हे जो श्रीकृष्ण तो सर्वसमर्थ हें तातें अपने शरणागत किंवा भक्त जीवनके लौकिक मनोरथ पूरण करिवेमें विनको कहा घटि जावेगो अथवा परिश्रम होयगो, सो काहेतें जीवकों अपराधी कहत हो?

तहां समाधानरूपेण ये जाननो जो भगवान समल्पमात्रतें सकल सृष्टिकों प्रकट करत हें सोई सर्वसमर्थ भगवान् पुष्टिमारगमेंहु आश्रयणीय अरु भजनीय हें. तोऊ वाही भगवानको सर्वसामर्थ्यरूप धर्म माहात्म्यज्ञानसों केवल ज्ञातव्य हे, आश्रयणीय अथवा भजनीय नाहीं. आश्रयणीय तथा भजनीय तो धर्मी श्रीकृष्णही हें. सो स्वत: तो श्रीकृष्ण सर्वसमर्थ परमेश्वर हें तामें कछू सन्देह नाहीं तासों हि परिश्रमहु होय सकत नाहीं. तोऊ जा भावसों श्रीमहाप्रभूनने आश्रयणीय किंवा भजनीय मान्यो है वा भावसों तो प्रभूनको परिश्रम होत ही हे. जेसे कोई स्वयंके घरमें अपने वस्त्र-पात्र आदिको प्रक्षालन स्वयं करत होय तोऊ अपने ससुरके अथवा मित्रके घर जब जात हे, तहां जमाईतें अथवा मित्र-अतिथितें वाके वस्त्र-पात्र आदिनको प्रक्षालन करायवेमें परिश्रमको भाव लोकमें मानत हें, यहांहु तेसेंई जाननो. तातें सिद्धान्तमुक्तावलीके "लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा" वचनकी व्याख्या करत श्रीगुसांईजीने आज्ञा कीनि हे :

कोऊ आजीविकाके काज भजन करत होय ताकी कहा गति? याको समाधान श्रीमहाप्रभु 'लोकार्थी' पदसों देत हें. 'लोक'पदको अभिप्राय लौकिक विषयनमे हे. सो लौकिक विषयनकी कामना राखिके कोऊ कृष्णकों भजे तब तो भजनहु व्यापार-धंधाकी न्यांई लेन-देनको व्योहार भयो. सो भगवानके संग एसो व्योहार तो अनर्थरूप हे. तासों एसे भजनकों भक्ति न जानिये. सो भजन जब भक्तिरूप न होय तब क्लेशरूप बनि जात हे. तातें एसे भजन करिवेवारो क्लेशही पावत हे. ताकों ऐहिक क्लेश तो होतही हे परि परलोकहु ताको नष्ट होत हे. सो काहेतें? तहां कहत हें एसे प्रकारके भजनकों निषिद्धाचरण मान्यो हे तासों. जाकों या मारगको ज्ञान स्वल्पहु हे सो तो एसो निषिद्धाचरण कबहु करत नाहीं. परि सर्वथा स्वमार्गीय ज्ञानसों रहित कोऊ एसो निषिद्धाचरण करे. तहां शङ्का होत हे जो लोकार्थी तो लौकिक विषयनकोही भजत हे कृष्णकों नाहीं. ताको समाधान एसें जानिये जो जब कोऊ लोकार्थी लौकिक विषयनकी कामना पूरण करिवेकों कृष्णके भजनमें प्रवृत्त होत हे

सो ताकी भ्रान्ति जानिये. सो काहेतें? तहां कहत हें लोकार्थीको भजनीय स्वरूप श्रीकृष्णको न रहि सकत हे वेसो दीखत होय तोऊ".

यासों सिद्ध होत हे जो लोकार्थितासों कृष्णभजन करिवेपे कृष्णको भावात्मक स्वरूप तिरोहित ह्वे जात हे. क्लेशरूप भजनही केवल रहि जात हे, परमानन्दरूप कृष्ण नाहीं. तातें कृष्णसेवाके छलतें जनतासों द्रव्य मांगिवेवारेनकी सेवाकों परमानन्दरूप कृष्णभजन न जानि लोकार्थिको क्लेशरूपभजन जाननो चईये.

तातेंई निबन्धमें श्रीमहाप्रभूनने मूर्तिमें भगवानकी त्रिविध स्थितिनको निरूपण कियो हे (1) सब कछु ब्रह्मात्मक हे तातें आधि भौतिक मूर्तिहु ब्रह्मात्मक हे (2) शास्त्रनमे मूर्तिपूजाकी आध्यात्मिक विधि मिलत हे तातें मूर्तिपूजन शास्त्रानुमोदित आध्यात्मिक कर्म हे (3) भक्तिमार्गमें जीवविशेषके उद्धारके काज मूर्तिविषयमें भगवानकी भावात्मिका विशेष आधिदैविक उपस्थिति होत हे. तासों उपरि कही प्रथम (1) बातमें तो भगवन्मूर्तिकों कोऊ पूजे के तोरे—— तातें आत्मपोषण करे के उदरपोषण करे —— निश्छल स्नेहसों भजे के भजनपाखंडको छल-छद्म करे—— स्तुति करे के निन्दा करे—— सांसारिक बन्धनसों छूटिवो चाहे के मूर्तिद्वारा सांसारिक कामनाकों पूर्ण करिवेके मोहपाशमें बंधिवो चाहे, कछू अन्तर परत नाहीं.

दूसरि (2) बातमें मूर्तिपूजाकी शास्त्रविधिमें स्वार्थप्रतिष्ठा तथा परार्थप्रतिष्ठा भेद हे. तहां स्वार्थ अर्थात् पूजा करिवेवारेनें स्वयं तथा स्वयंके परिवारके लोगनके काज मूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठा कीनि होय तब दूसरेके द्रव्यतें पूजन करिवो महान् पातित्यको कारण देवलकता जानिये. अरु मूर्तिमें प्राणप्रतिष्ठा परार्थ अर्थात् जनताके काज कीनि होय तहां पूजार्थ समर्पित पत्र-पुष्प-अन्न-वस्त्रादिके भगवत्प्रसादतया पुनर्ग्रहणमें कछू दोष गिन्यो नाहीं परि भगवन्मूर्तिकों भेट धरिवेमें आयो द्रव्य-रत्न-भूमि आदिके पुनर्ग्रहण अथवा देवमूर्तिकों भेंट धरिवेमें आयो धृतदीप जेसी साधारण वस्तुकोंहु निज उपयोगमें लाईवो देवद्रव्यापहार हे. सो तो महान् पातक कर्म गिन्यो हे—— एसों कियेते विष्ठा खायवेवारे शूकरकी योनि मिलत हे. या पुष्टिमारगमें, परन्तु, परार्थ प्रतिष्ठाको प्रकार मान्य न राख्यो होयवेतें या दोषकों श्रीमहाप्रभु—— "दत्तापहारवचनं तथा च सकलं हरेः, न ग्राह्यम् इति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम्" कहत हें. सो काहेतें? जो या मारगमें तो "गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः, अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णम्" अरु "सेवकानां यथा लोके व्यवहारः... तथा समर्प्यैव कार्यम्" अरु "तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा" एसे अनेक

वचनसों निजगृहमें निजस्वामीकी निजअहन्ना-ममतास्पद उपलब्ध सकल श्रेष्ठ वस्तूनके समर्पणद्वारा प्रेमसेवाको भाव राख्यो हे तातें. तासों देवद्रव्यापहारको दोष लागत नाहीं. जेसे संसारमें कोऊ धर्मशाला आदिके निर्माणके हेतु अथवा जीर्णोद्धारके हेतु अन्य काहुतें द्रव्ययाचना करत होय ताकों कोऊ भिक्षुक अथवा द्ररिद्र मानत नाहीं. परि जेसे कोऊ स्वयं अपने रहिवेके घरके निर्माण हेतु अथवा जीर्णाद्धार के हेतु अन्य काहुतें द्रव्ययाचना करत हे ताकों जनता दरिद्र-भिक्षुक मानत हे. सो काहेतें, जो स्वार्थनिर्मित गृहके कारज स्वद्रव्य खरचवेंमें जो समरथ नहीं ताहीसों परद्रव्य मांगत है. तहां स्वाभिमानी तो ऋण मांगत हे परि दीन-दरिद्रकों तो भिक्षा मांगिवेमेंहु समोच होत नाहीं!

तेसेंई स्वार्थप्रतिष्ठापित देवताकी सेवा-पूजाके काज कोऊ परद्रव्यकी याचना करत हे ताकों भक्तिमार्गीय दारिद्ग्र समझनो. एसे दीन-दरिद्र होयवेतें बहुधा आचार्यवंशजहु अपने माथे बिराजते सेव्यस्वरूपकी नित्यसेवा-मनोरथके काज जनतातें समाधानी राखिके द्रव्ययाचना करत हें. याकों भक्तिमार्गीय दारिद्ग्र करि समझनो आछो. को-कोऊ पुनि भक्तिमार्गीय दारिद्ग्रके कारण अरु देवलकताके दुर्व्यसनके कारण आचार्यवंशजके माथे बिराजते सेव्यस्वरूपकी स्वार्थ-परार्थ (अर्थात् उभयार्थ) प्रतिष्ठापिततकीहु निर्लज्ज घोषणा करत हें. सो कहा अपनी भार्याकोहु स्वार्थ-परार्थ अर्थात् उभयार्थ मानत हें! तहां यह जाननो जो नीति, आत्मगौरव तथा लज्जा के त्याग कियेपें कहा नाहीं सम्भवे? सिद्धान्तमें तो पुष्टिस्वरूपके परार्थप्रतिष्ठाकी रीति ग्रन्थनमे तो कहुं उपदिष्ट भई नाहीं हे. वार्तामेंहु किशोरीबाईकी वार्तामें याहीको निरूपण भयो हे. श्रीनाथजीके स्वरूपकीहु श्रीमहाप्रभु तो देवालयमें नाहीं परि नन्दालयकेही भावसों काहु भक्तके निजगृहमें प्रतिष्ठा करिवो चाहत हुते. परि सदु पांडे आदि सगरे व्रजवासीनके मना करिवेके कारण भगवदाज्ञावश देवालयमें प्रतिष्ठा भई. अरु ब्रह्मसम्बन्ध रहित बंगालीनको सेवाधिकार प्रदान करनो पर्यो. ताकोंहु कोऊ मूढजन पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त मानत हें! तब तो रजस्वलाकों सेवाकी अनुमति दीनि ताकोंहु पुष्टिसिद्धान्त मानिवो चईये! श्रीनाथजीके अनुकरण करिके जो-जो पुष्टिमार्गी अपने सेव्य प्रभून्की परद्रव्यतें परार्थ सेवा करत हें तिनकों ब्रह्मसम्बन्धरहित बंगालीनको अपने सेव्य प्रभून्की सेवा सोंपीके पृथ्वीप्रदक्षिणा करिवेको गृहत्यागहु काहेतें प्राप्त न होयगो!

श्रीनाथजीकी सेवाके अधिकारी बनेतें यहलोक-परलोकको बिगार होत हे ताकी वास्तविकताहु स्वयं श्रीगोवर्धनधरप्रभुनें एसे बरनी हे के “जाको बिगार होनो होयगो सो आपुही अधिकारकी इकलाई ओढिवेकों झुकि जावेगो”. सो श्रीनाथजीकी सेवाको प्रकार यदि पुष्टिसिद्धान्त होय तो पुष्टिसिद्धान्ततें बिगार होत हे येहु स्वीकारनो परेगो.

तहां यह शङ्का होत हे जो पुष्टिप्रभु तो उत्तम वस्तुके भोक्ता हें सो स्वामीके सुखके काज कोऊ सेवक याचनाहु करत होंय तो “सेवकानां यथा लोके व्यवहार: प्रसिद्ध्यति” की आज्ञाको अनुसरण काहेकों न मानिवो?

तहां उत्तर यह जाननो जो “सेवायां लौकिकी रीति: स्नेहस्तत्र नियामक:” सो सेवाकी रीति तो लौकीकी हे परि भक्तिमार्गमें प्रीतिको भाव लौकिक नाहीं. सो काहेतें जो सेव्यस्वरूप जो भावात्मक है सो लौकिक भाव राखिवेपे तो सेव्य स्वरूपहु लौकिक भावात्मक ह्वे जात हे. तेसेंई अलौकिकभाव राखिवेपे सेव्यस्वरूपहु अलौकिक भावात्मक ह्वे जात हे. तासों सेवामें लौकिक रीतिको अङ्गीकार पुष्टिप्रभु या लोकमें स्थित पुष्टिजीवपे अनुग्रह करिवेंको करत हें. परि पुष्टिजीवकों प्रभुके अलौकिक स्वरूप तथा माहात्म्य को बिचार हृदयमें राखिके प्रीतिको भाव तो अलौकिकही राखिवो उचित हे. अन्यथा या लोकमें अलौकिक प्रभुतें सम्बन्ध जुरिवोहु कठिन हे. तासों प्रीतिरहितहु सेवारीतितें भक्तिको प्रारम्भ तो ह्वे सकत हे परि प्रीतिरहित सेवाकों तो क्रियामात्र जाननी. तेसेंई सेवारीतिसों रहित प्रीतिको प्रकार भक्तिमार्गीय गौण कथापक्ष हे. तासों रीति अरु प्रीति को समन्वय करिवेकों सिद्धान्तमुक्तावली तें चतुश्लोकी अरु भक्तिवर्धिनी तें सेवाफल ग्रन्थनको उपदेश श्रीमहाप्रभूनने कियो हे.

जेसे रासलीलामेंहु “क्रिया सर्वाऽपि सैवात्र परं कामो न विद्यते” श्रीमहाप्रभूनने भगवत्पक्षमें समुझायो तेसेंई जीवपक्षमेंहु सेवालीलामेंहु “क्रिया सर्वाऽपि लौकिकमेव परं लौकिको भावो न विद्यते” समुझिवो उचित हे. तासों सिद्धान्तरहस्यके “सेवकानां यथा लोके व्यवहार: प्रसिध्यति” अरु “न लौकिक: प्रभु: कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्” वचनमेंहु विरोधाभास मानिवो उचित नाहीं हे.

वर्तमानमे पुष्टिमारगके नामसों चलते मन्दिर-हवेलीनमे तो निजस्वामीकी सेवा निजगृहमें न करिके सार्वजनिक देवालयमें होत हे. सो हु निजतनु-वित्त-परिजनतें करिवेके ठिकानें पगारदार नोकरन्सों जनताकी भेट-सामग्रीतें परिवारपोषणके काजही होत हे. सो शास्त्रविधिके विचार कियेतें साक्षात् श्रीमदाचार्यवंशजनमे हु

देवलकता तथा देवद्रव्यापहार यों दोन्यो दोषनकी प्रबलता भई हे. सो “समरथकों नाहीं दोष गुसांई” किंवा “सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान्” मेंते यथाभाव कोऊ एक वचनको प्रमाण मानिके चित्तकों शान्त करि लेनो! सो काहेतें? जो श्रीमहाप्रभुको “न लौकिक: प्रभु: मनुते नैव लौकिकं” वचन प्रमाण हे.

परन्तु एसी भगवत्सेवाकों कृष्णसेवा न जानि क्लेशसेवाही जानिये. ता सेवाके दर्शनकोंहु कृष्णदर्शन न जानि क्लेशदर्शन जानिवो उचित हे. ता सेवामें धरी भोग-सामग्रीकोंहु कृष्णप्रसाद न मानि क्लेशप्रसाद मानिवो उचिततर हे. तामें अपने द्रव्यके विनियोगहुकों भगवदर्थ विनियोग न जानि क्लेशार्थ विनियोगही मानिवो उचिततम हे.

तासों भगवत्तिरोधायक लौकिक भाव न राखि कहा भाव राखिनो सो आगे समझावत हें:

भावस् तत्राऽप्यस्मदीय: सर्वस्वश्चैहिकश्च स:॥
परलोकश्च ..... ॥

तत्रापि=वामेंहु
अस्मदीयो=अपुनो
भाव:=भाव
ऐहिक:=यालोकसम्बन्धि
च=ओर
परलोक:=परलोक
च=हु, सर्वस्व:(कृष्णएव अस्ति इति
ज्ञेयं=श्रकृष्णही हे एसो जाननों)

भावार्थ : तहांहु हमारो भाव तो येही जाननों जो अपनो तो या लोकमें अरु परलोकमेहु कोऊ सर्वस्व होय तो वो तो केवल श्रीकृष्णही हे अन्य कोऊ नाहीं.

अस्मदीयो भाव:

टीका : निबन्धमें ज्ञानदृष्टिसों सर्वत्र वस्तुमात्रमें अपरिच्छिन्न ब्रह्मकी, सर्वोपादानतया, सर्वनामरूपधारकतया तथा सर्वनियामकतया हु विद्यमानताको निरूपण कियो हे. तातें भगवन्मूर्तिमेंहु सच्चिदानन्द ब्रह्मकी प्रकट सत्ता अरु अप्रकट चैतन्य तथा आनन्द मान्य हे.

तेसेंई कर्मोपसनाकी शास्त्रविधिके अनुसार जो (अ)विचारक ब्रह्मकों निराकारही केवल मानत हें तिनकोंहु यज्ञवेदीमें किंवा मूर्तिरहित शून्यमन्दिरमें किंवा मनमन्दिरमेंहु अपरिच्छिन्न तत्त्वको स्थानपरिच्छेद किंवा ध्यानपरिच्छेद तो करिवोही परत हे. तब साकार-व्यापकतावादी पुष्टिमार्गीयनकोहु अपरिच्छिन्न परमात्माको मूर्तिके परिच्छेदमें भजनमें काहेको समोच? तहां शास्त्रीय निषेध होय तो ताको विचार ह्वे सके परि शास्त्रनमे हु मूर्तिपूजाको विधान तो उपलब्ध होतही हे. सो यहां कछू बाधक हे नाहीं. यों निरूपण करिके ज्ञानमार्गसों अरु कर्मोपासनामार्गसों मूर्तिभजनकी उपपत्ति दीनि हे सो केसे जो——

1."साकारव्यापकत्वात्" ज्ञानमार्गीय उपपत्ति

2."मन्त्रस्यापि विधानत:" कर्मोपासना मार्गीय उपपत्ति

3."तद्रूपं तत्र च स्थितं (श्रीकृष्णं यथालब्धोपचारै: भक्त्या पूजयेद्)" भक्तिमार्गीय उपपत्ति दीनी.

तहां अनेकानेक स्वांशभूत जीवनमे ते कोऊ विरले एक जीवको जेसें प्रभु स्वरूपानन्ददानके काज वरण करत हें, तेसेंई अनन्तरूप किंवा सर्वरूप भगवानके कोऊ एक मनोज्ञरूपको भक्तहु भजनार्थ वरण करत हे सो वो रूप परमात्माको भक्तिभावनात्मक रूप गिन्यो जात हे.

सो भजनकर्ता जब निज भजनीय स्वरूपके भावसों भजन करे तब पुष्टिपुरुषोत्तमको प्रादुर्भाव तहां श्रीमहाप्रभुनकी कानिते जानिये. परन्तु धनसंग्रह किंवा लोकसंग्रह के भावसों भजन करे तब वा भगवन्मूर्तिकों पुष्टिपुरुषोत्तम न जानिके लौकिककामनापूर्तिको लौकिक साधन जानिये.

तासों श्रीमहाप्रभु आज्ञा करत हें जो कृष्णके भजनीय स्वरूपकों लौकिक भावते छुवाईवो आछो नाहीं. भजनीय स्वरूपकों अपनो सर्वस्व जानिके भजिवो श्रीमहाप्रभूनके भावसों भजन करिवेको प्रकार हे. अपनी ऐहिक-पारलौकिक सबहि कामनानको प्रमुख विषय अपने सेव्य स्वरूपकों जाने—— अपने ऐहिक-पारलौकिक प्रमुख स्वामि-सखा-सुत-बन्धु-आत्मा-धन अपने सेव्य स्वरूपकों जाने-माने अरु एसे भावसों भजे सो "अस्मदीयो भाव:" अन्यथा "विजातीयो भाव:".

तहां शङ्का होत हे जो 'विवेकधैर्याश्रय' ग्रन्थमें तो——

“ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरि:
दु:खहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरि:
अहङ्कार कृते चैव पोष्य-पोषण रक्षणे
पोष्यातिक्रमणे चैव तथाऽन्तेवास्यतिक्रमे
अलौकिकमन:सिद्धौ सर्वथा शरणं हरि:”

कह्यो हे. तासों ऐहिक अथवा पारलौकिक दु:खनकी निवृत्ति, तिनके कारणीभूत पापनकी निवृत्ति, तिन पापन्सों जन्य भयकी

निवृत्ति, कछूक कामना, ऐहिक अथवा पारलौकिक पूर्ण न होती होय तब, यों सबही अवस्थानमे शरणागतिको उपदेश दियो हे. सो यहां कहे जात प्रकारतें ताकी सङ्गति केसे जानिये?

ताको समाधान एसें जाने जो श्रीमहाप्रभुने दु:खहानि, पाप, भय, कामादिकी अपूर्ति, भक्तद्रोह आदि जो गिनाये हें सो ऐहिक किंवा पारलौकिक के उदाहरण रूपसों गिनाये हें. मूल तो ‘ऐहिके’——‘पारलोके’ पदनके प्रयोगतें सगरी बात आय गयी. सो इन दोउ पदनमे सप्तमी विभक्तिके प्रयोगको अभिप्राय—— “मोक्षं इच्छा” की न्याईं वैषयिक आधार नाहीं. तेसेंई “चर्मणि द्विपिनं हन्ति” की न्याईं निमित्तकर्मयोगके अभिप्रायहुतें न समझनी. या सप्तमी विभक्तिको प्रयोग “गोषु दुह्यमानासु गत:”——“ब्राह्मणेषु अधीयानेषु गत:” की भावलक्षणार्थक सप्तमी विभक्ति जाननी. अन्यथा शरणागति तो साधन भई अरु पाप, भय, कामादिकी अपूर्ति, भक्तद्रोह, भक्तिके अभाव ये सगरे फलरूप बनि जायेंगे. तब शरणागति कियेते भय होत हे —— पापहु लगत हे—— कामादि सगरे अपूर्ण रहि जात हें—— भक्तनको द्रोह ह्वै जात हे एसो भयमर अभिप्राय घटित होत हे. तासों “ऐहिके-पारलोके” पदनको अभिप्राय एसो जानिये जो या लोक किंवा परलोक तें सम्बन्धी कोऊ कार्य जीवतें अशक्य किंवा सुशक्य होय तहां श्रीकृष्णको आसरो राखनो. कोऊ करिवे लायक कार्य होय परि जीवके सामर्थ्यतें सिद्ध न होत होय तो भगवदाश्रय राखिके विचलित न होनो. जो प्रभुने ये कार्य मेरे लिये अशक्य बनायो हे सो यामें मेरो कछू भलो हि

विचार्यो होयगो. अरु जीवके सामर्थ्यतें शक्य होय तोऊ अहङ्कार न करनो परि भगवदाश्रयको भाव राखिके एसे विचारनो जो प्रभुने ये कार्य मेरेसों शक्य बनायो हे.

तासों ऐहिक-पारलौकिक फलके साधनतया शरणागतिको उपदेश नाहीं परि ऐहिक-पारलौकिक कोऊ कार्य जीवसों अशक्य होय किंवा सुशक्य सब अवस्थान्मे भगवदाश्रय राखनो पुष्टिजीवको कर्तव्य हे. तातें 'शिक्षाश्लोकी' अरु 'विवेकधैर्याश्रय' में कछू विरोधाभास नाहीं हे.

... ... तेनायं सर्वभावेन सर्वथा॥3॥
सेव्यः ... ...॥

तेन=तासों (कारणेन=कारणसों)
अयं=ये (श्रीकृष्णः)
सर्वभावेन=सर्व भावसों
सर्वथा=सर्व प्रकारसों
सेव्यः=सेवा करिवेयोग्य हे

भावार्थ : ये पुष्टि मारग श्रीमहाप्रभून्ने अपने पुष्टिभावनात्मक पूर्ण पुरुषोत्तमकों आलम्बन बनायके प्रवर्तित कियो हे. तातें पुष्टिपुरुषोत्तमको भजन निखिल पुष्टिभावन्सों ही करिवो उचित हे.

टीका : शास्त्र, सम्प्रदाय, अधिकार, देश-काल, सामर्थ्य अरु रूचि (बीजभाव) की विविधताके कारण मार्गहु अनेकविध हें. तहां पृथक्-पृथक् फल पृथक्-पृथक् अधिकारी जीवनको मिलत हे सो सर्वनिर्णयमें सविस्तर निरूपण भयो हे.

पुष्टिमार्गके प्रवर्तनको आशय 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा'में श्रीमहाप्रभून्ने अरु श्रीवल्लभाष्टकमें श्रीप्रभुचरणनें प्रकट कियो हे. सो वेसे तो भूतलपे एक निश्चित देशमें अरु निश्चित कालमें प्रकट कियो परि 'चतुःश्लोकी'में "स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन" वचनकी विवक्षाके विचारतें पुष्टिजीवनको सबरे देशनमे अरु सबरे कालनमे व्रजाधिपको भजनही प्रमुखतम स्वधर्म हे.

तहां शङ्का होत हे जो भूतलपे ये भारत देश तो एक छोटो भूखण्ड हे; अरु सृष्टिके प्राकट्यकाल सहस्र परिवत्सरतें प्रारम्भ करि श्रीमहाप्रभूनके प्राकट्यकाल पर्यन्त कहा पुष्टिजीव कोऊ भूतलपे प्रकटे नाहीं कहा? अरु प्रकटे कहिये तो "सोपि तैस्तत्कुले जात: ... पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते" वचनानुसार ता समय अर्थात् श्रीमहाप्रभूनके प्राकट्यसों पूर्व सहस्रावधि परिवत्सरनमे मर्यादामार्गीय परिवारमें किंवा प्रवाहमार्गीय परिवारमें जन्मग्रहण करिवेवारे पुष्टिजीवनके पुष्टिभजनको कहा प्रकार? तेसेंई पुष्टिमार्गकी केवल 500वर्ष पर्यन्त स्थितिकी सांची-खोटी किंवदन्तीहु प्रचलित हे. सो ताके पश्चात् कहा पुष्टिजीवनको लोप जानिये अथवा जीव रहत हें परि मार्गलोप ह्वे जात हे अथवा जीव अरु मार्ग के विद्यमान रहत हु पुष्टिको लोप ह्वे जात हे?

यामें ये विचारणीय हे जो पुष्टि तो प्रभुको नित्यधर्म हे सो ताको लोप कबहु होय सकत नाहीं. पुष्टि निर्विषयहु सम्भवे नाहीं, तातें पुष्टिजीवको लोप हु सम्भवे नाहीं. सो प्रभुको नित्यधर्म पुष्टि अरु ताके विषयीभूत पुष्टिजीवनके रहते हु यदि पुष्टिमार्ग न रहतो होय तो नित्यधर्म हु मोघ धर्म बनि जाय. तासों पुष्टिमार्ग हु रह्यो चईये. तब श्रीमहाप्रभूनके प्राकट्यसों पूर्व हु अरु पांचसो वर्ष पश्चात् हु पुष्टिमार्गकी विद्यमानता तो रहत ही हे.

तेसेंई जो मार्गकी स्थिति केवल पांचसो वर्षन् पर्यन्त सीमित होय तो इन पांचसो वर्षनके आगे-पाछे सृष्ट्यारम्भ अरु प्रलय पर्यन्तकी सुदीर्घ अवधिमें पुष्टिजीवनको प्रकट राखिवेको प्रयोजन कहा? जो प्रकट न मानें तो गद्यमन्त्रमें सहस्रपरिवत्सर-परिमित कालिक विप्रयोगको जो निरूपण कियो सोहु सिद्ध न होवेगो. तासों पूर्वकालमें पुष्टिजीवकी विद्यमानता होयवेपे पांचसो वर्षके उत्तरकालमेंहु विद्यमानता स्वीकारनी उचित हे. तासों इन शङ्का नको कहा समाधान जानिये?

तहां यह समाधान जाननो जो प्रभूनके मन, वचन अरु स्वरूप तें प्रकट भये प्रवाहमार्ग, मर्यादामार्ग अरु पुष्टिमार्ग सृष्टिलीलाके प्रकार होयवेतें यावत्सृष्टि विद्यमान रहत हें. तासों मार्गकी विद्यमानता तत्तद् मार्गस्थ जीवकी विद्यमानताको प्रमाण जानिये. तेसेंई मार्ग अरु मार्गस्थ जीवनकी विद्यमानता तत्तद् मार्गीय साधन अरु फल

की विद्यमानताके हु प्रमाण होत ही हें. तासों श्रीमहाप्रभूनके पूर्वहु पुष्टिमार्ग, पुष्टिजीव, पुष्टिसाधन अरु पुष्टिफल की विलक्षण विद्यमानता सिद्ध होत हे.

तहां यह शङ्का होत हे जो तब श्रीमहाप्रभूनको वैशिष्ट्य कहा? तहां जानिये जो मार्गादि हते पर सम्प्रदाय न हतो. तासों तत्तद् पुष्टिमार्गीय अधिकारीनको तत्तद् पुष्टिफलकी प्राप्ति पुष्टिप्रभूनके तत्तत् प्रकारवारे स्वरूपन्तें प्रमेयबलतें होत रही होयगी. सो ताके कोऊ प्रमाण अथवा प्रकार को सम्प्रदाय न हतो. तासों पुष्टिमार्गके प्रमाणबल अरु साम्प्रदायिक प्रकारकों प्रकट करिवेको असाधारण——अलौकिक वैशिष्ट्य श्रीमहाप्रभूनको ही हे. तासों साधारण पुष्टिमार्गमें पुष्टिप्रभूनको श्रीमहाप्रभूनके हृदयके भावानुसारी भावात्मक होनो आवश्यक नाहीं हे. तासों श्रीमहाप्रभूनके प्राकट्यसों पूर्व पुष्टिजीव प्रह्लादके काज पुष्टिप्रभु नृसिंह रूपतें स्तम्भमेंते प्रकटे, बलिके काज वामनरूपतें प्रकटे, शबरी-हनुमान् प्रभृति भक्तनके काज श्रीरामरूपतें प्रकटे, व्रज-मथुरा-द्वारकाके पुष्टिजीवनमे कोऊके काज सुत, कोऊके काज बन्धु, कोऊके काज सखा, कोऊके काज प्रियतम, कोऊके काज शिष्य, कोऊके काज गुरु, कोऊके काज पति, कोऊके काज स्वामी आदि अनेक रूपन्तें प्रकटे. इनमेंते कोऊ एक भावतें प्रभूनको भजिवो पुष्टिके प्रमेयबलके विचारतें उत्तम होयवेपेहु; श्रीमहाप्रभुके सम्प्रदायमें पुष्टिप्रभु सर्वभावात्मक हें. सो प्रमाणबलके विचारतें श्रीमहाप्रभुके भावात्मक स्वरूपको भजन श्रीमहाप्रभूनके भावकी भावना हृदयमें राखिके ही भजन करिवेपे श्रीमहाप्रभूनके भावात्मक पुष्टिप्रभूनको प्रकट करिवेवारो बनत हे. तासों आधुनिक सिद्धान्तद्वेषी जननके द्वारा घड़े गये भाव यथा श्रीगोवर्धनधर के स्वरूपमें सर्वोद्धारकताके भावसों सेवा करनी, अन्य सभी आचार्यवंशजनके सेव्यस्वरूपमें वैष्णवोद्धारकताके भावसों सेवा करनी अरु साधारण पुष्टिमार्गीय वैष्णवनके सेव्यस्वरूपमें स्वसेवकोद्धारकताके अथवा गुरुके भावसों सेवा करनी ये सगरे प्रकार शिक्षाश्लोकीके उपदेशसों विरुद्धभावकी भावनाके प्रकारवारे होयवेतें पुष्टिजीवकों बहिर्मुख बनायके वाकी सेवा अरु सेव्य में श्रीमहाप्रभूनके भावके विलोपक ही जानने.

... ... सएव गोपीशो विधास्यत्यखिलं हि नः॥

सएव=वो ही
गोपीश:=गोपीनके इश्वर
न:=अपनो
अखिलं=सबकछू
हि=निश्चय ही
विधास्यति=सिद्ध करेंगे

भावार्थ : सर्वभावसों सेव्य गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण ही अपनो अखिल ऐहिक अरु पारलौकिक हित सिद्ध करेंगे, दूसरो कोऊ काल-कर्म-स्वभाव-विभूतिनकी साधकताकी मति राखनी नाहीं न बाधकताकी भीति.

टीका : अन्तमें या उपदेशमें श्रीमहाप्रभु कहत हें जो श्रीगोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णमें अनन्यभावकों विसारिके कोउ पुष्टिजीव काल-कर्म-स्वभावके आधीन कछूक साधननको आसरो लेवे अथवा अन्य देवको आसरो लेवे सो पुष्टिजीवकों साधक नाहीं परि बाधक होत हे तेसो निरूपण करत हें. सो काहेतें जो श्रीकृष्ण कहत हें—— "मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि" तासों सगरे प्रपञ्चकों बिसारिके जो प्रभुमें अनन्यभाव स्थापित करि सकत हे तिनकों निरुद्ध जानिये. ये फलरूप निरोध हे परि साधनरूप निरोधको स्वरूप यातें हु अतिशय विलक्षण हे. सो कहा जो श्रीमहाप्रभूनने दशमके प्रारम्भमें बतायो हे जो जीव आपुने स्वभावको छांडिके भगवत्स्वभावानुरूप सरलतासों बनि सकत नाहीं तातें प्रभु अपने कृपाभाजन जीवके स्वभावके अनुरूप स्वरूप धारण करिके वाके सम्मुख प्रकट होत हें. प्रकट होयके एसी लीला प्रभु करत हें जातें जीव सब कछू बिसारिके भगवानमे परमासक्त ह्वे जात हे. तातें प्रभुको भूतलपे प्रकट होनो सोहि 'साधननिरोध' कह्यो जात हे अरु भूतलपे विद्यमान् भक्तको अन्य सब कछू बिसारिके निज प्रभूनमे अनन्यासक्त ह्वे जानो 'फलनिरोध' कह्यो जात हे. सो लीलार्थ प्राकट्यके कल्पमें लीलाकालिक निखिल पुष्यिमार्गी जीवनको साक्षात् अनुभवाभिगम्य स्वरूपको प्राकट्य हे. अरु श्रीमहाप्रभुप्रवर्तित पुष्टिसम्प्रदायमें आधुनिक एतत्सम्प्रदायी तत्तद् भक्तकों सेवा किंवा कथा रूपा भक्तिमें स्व-स्वानुभावनाभिगम्य स्वरूपको प्राकट्य हे. तातें भजनीय किंवा स्मरणीय प्रभूनको

भक्तमें निरोध अरु सेवापरायण किंवा कथापरायण भक्तको प्रभूनमे निरोध क्रमश: साधनावस्थाको अरु फलावस्थाको अनन्यभाव गिन्यो जात हे.

तहां साधनरूपा अनन्यताके भङ्ग होयवेतें किंवा फलरूपा अनन्यताके भङ्गतें पुष्टिभावको भङ्ग होत हे.

यहां शङ्का उठत हे जो इन साधनरूपा अरु फलरूपा अनन्यताके भिन्न-भिन्न स्वरूप केसें जानिये? तहां समाधान जो इतर देव अरु इतर साधन को आश्रय छांडिके जब कोऊ श्रीकृष्णको कृष्णाश्रयस्तोत्र अरु अष्टाक्षरमन्त्रके अनुसार अपनो अनन्याश्रय बनावत हे सोतो प्रपत्तिमार्गीय साधनरूपा अनन्यता. सोई अनन्यता जब या जीवकों विवेक-धैर्य-आश्रय ग्रन्थोक्त प्रकारतें सिद्ध ह्वे जात हे तब प्रपत्तिमार्गीय फलरूपा अनन्यता सिद्ध भई जानिये. तेसेंई ब्रह्मसम्बन्ध लेयके जब आधुनिक पुष्टिसम्प्रदायी निजमस्तकपे निजसेव्यस्वरूपकों पधरायके निजगृहमें बिराजमान् स्वरूपकी सेवामें निजतनु-वित्त-मन-परिजनकों लगावत हे तब ता भक्तविशेषमें भगवत्स्वरूपको निरोद्ध भयो जानिये. एसी साधनरूपा प्रभुगत अनन्यतातें स्वसेव्यस्वरूपेतर किंवा स्वसेव्यस्वरूपसेवानुयोगी इतर सकल पदार्थनकी विस्मृतिपूर्वक सेव्यस्वरूप अरु तिनकी सेवामें परमासक्ति सिद्ध होत हे. याकोंहि फलरूपा निरुद्धता किंवा अनन्यता जाननी. तासों यथायथ प्रपत्तिमार्गीय अरु भक्तिमार्गीय साधनरूपा अरु ता करि साध्य फलरूपा अनन्यताके बिना या मारगमें कछु सिद्ध होत नाहीं. प्रभुकों अनन्य बनायवेतें जीवहु अनन्य बनि सकत हे एसो पुष्टिसम्प्रदायको माहात्म्य श्रीमहाप्रभुके प्रमेयबलतें प्रकट हे. सो काहेतें? जो जीवके अनन्य बनिवेतें भगवानको अनन्य बनिवो सो तो मर्यादा परि पुष्टि याते विपरीत.

तासों निज सेव्यस्वरूपकों छांडिके यत्र-तत्र-सर्वत्र भटकिवेवारेंकों पुष्टिमार्गके अनन्यफलके सौभाग्यसों वञ्चित जाननो. कहुं-कहुं श्रीमहाप्रभूनके इन शिक्षाश्लोकीके पद्यनके साक्षात् श्रीगोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णद्वारा जोडे गये डेढ श्लोक अधिक मिलत हें——

मयि चेद् अस्ति विश्वास: श्रीगोपीजनवल्लभे।
तदा कृतार्था यूयं हि शोचनीयं न कर्हिचित्॥

मुक्तिर् हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।
मयि=मेरेमें
श्रीगोपीजनवल्लभे=
श्रीगोपीजनवल्लभमें
श्रीकृष्णे=श्रीकृष्णमें
विश्वासः=विश्वास
अस्ति=हे, चेत्=यदि
तदा हि=तब तो
(यस्मात् कारणात्)
यूयं=तुम
कृतार्थाः=कृतार्थ
(तस्मात्)कर्हिचित्=कबहु
शोचनीयं=चिन्ता करिवे जेसो
न (अस्ति)=नाहीं हे
अन्यथारूपं=अन्यथा रूपकों
हित्वा=छांडिके
स्वरूपेण=स्वरूपसों
व्यवस्थितिः=स्थित होनो
मुक्तिः (ज्ञेया)=मुक्ति जाननी

भावार्थ : श्रीगोपीजनवल्लभ मेरेमें यदि विश्वास हे तो तुम कृतार्थ ही हो. तातें कछु शोचनीय नाहीं हे. सो काहेतें जो अपने अन्यथारूप (बहिर्मुखता)को छांडिके श्रीकृष्णाभिमुख रहिवो ही तिहारी मुक्ति हे.

या तरहसों गोस्वामीश्रीदीक्षितात्मज श्याममनोहर द्वारा
शिक्षाश्लोकीकी व्याख्या सम्पूर्ण भई

॥साधनदीपिका॥

(25)

(मङ्गलाचरण)

ता नः श्रीतात-पत्-पद्मरेणवः कामधेनवः॥
नाकस्य तरवोऽन्येषां स्युः कल्पतरवो यथा॥1॥

यथा=जेसें
अन्येषां=अन्यनकी
(इच्छापूरकाः=इच्छाकी
पूर्ति करिवेवारे)
नाकस्य=स्वर्गके
तरवः=वृक्ष
कामधेनवः=कामधेनुरूप
(च सन्ति तथा=होत हें वेसे)
नः=हमारे (तु=तो)
ताः=वो
श्रीतात-पत्-पद्मरेणवः=
पिताके चरणकमलनकी रज
(एव=ही)
कल्पतरवः=कल्पतरु
(कामधेनवः च=अरु कामधेनुरूप)
स्युः=होउ

भावार्थ : जेसें अन्यनकी इच्छाकी पूर्ति करिवेवारे स्वर्गके वृक्षें ओर कामधेनु होत हें तेसें हमारेलिये तो हमारे पिता महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके चरणकमलनकी रज ही कल्पतरु अरु कामधेनु समान होउ.

श्रुति-स्मृति-शिरोरत्न-नीराजित-पदाम्बुजम्॥
यशोदोत्सङ्गललितं वन्दे श्रीनन्दनन्दनम्॥2॥

श्रुति-स्मृति-शिरोरत्न-नीराजित-पदाम्बुजं=श्रुति-स्मृतिरूपी उत्तम रत्नन्सों जिनके चरणकमल शोभायमान हें एसें
यशोदोत्सङ्गलालितं=श्रीयशोदाजीकी गोदमें क्रीडा करते
श्रीनन्दनन्दनम्=श्रीनन्दरायजीके पुत्र श्रीकृष्णकों
(अहं=में) वन्दे=वन्दन करत हों

भावार्थ : श्रुति-स्मृतिरूपी उत्तम रत्नन्सों जिनके चरणकमल शोभायमान हें एसें श्रीयशोदाजीकी गोदमें क्रीडा करते श्रीनन्दरायजीके पुत्र श्रीकृष्णकों में वन्दन करत हों.

(या ग्रन्थमें उपदिष्ट बातनमे प्रमाण श्रुति स्मृति पुराण तन्त्र आदि शास्त्रनकी श्रीमदाचार्यचरणद्वारा प्रकट करि व्याख्या हे)

भक्तिमार्ग-वितानाय योऽवतीर्णो हुताशनः॥
सएव नः परं मानं शेषमस्य प्रमान्तरम्॥3॥

यः=जा, हुताशनः=अग्निने
भक्तिमार्ग-वितानाय=भक्तिमार्गके प्रचारके अर्थ
अवतीर्णः=अवतार धारण कियो हे
स एव=वो ही
नः=हमारे काज
परं=सर्वोत्कृष्ट
मानं (अस्ति)=प्रमाण हे
प्रमान्तरम्=अन्य सब प्रमाण
अस्य=याके
शेषम् (अस्ति)=अङ्गभूत हें

भावार्थ : भक्तिमार्गको प्रचार करिवेकों वैश्वानरस्वरूप श्रीवल्लभाचार्यचरण**नने** भूतलपें अवतार धारण कियो सो विनके वचन ही हमकों परम प्रमाणरूप हें, अन्य सब प्रमाण विनके वचननके अङ्गभूत अथवा विनसों गौण प्रमाण हें.

वेदत्रयी-शिरोभाग-सूत्र-व्याख्यान-सम्मताम्॥
भक्तिशास्त्रानुसारेण कुर्वे साधनदीपिकाम्॥4॥

वेदत्रयी-शिरोभाग-सूत्र-व्याख्यान-सम्मताम्
=तीनों वेदके शिरोभागरूप उपनिषद् ब्रह्मसूत्रके भाष्यसों अविरुद्ध प्रकारसों
भक्तिशास्त्रानुसारेण=भक्तिशास्त्रके अनुसार
साधनदीपिकाम्=साधनदीपिकाकी रचना (अहं)कुर्वे=में करूंहूं

भावार्थ : तीनों वेदके शिरोभागरूप उपनिषद् अरु ब्रह्मसूत्र के महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित भाष्यतें अविरुद्ध प्रकारसों भक्तिशास्त्रके अनुसार 'साधनदीपिका' ग्रन्थकी रचना में करूं हूं.

(श्रीहरिभजनकी आवश्यकताके उपपादनके साथ ग्रन्थको उपक्रम)
"आत्मा वार" इति श्रुत्या दर्शनैकफलो विधिः॥
श्रवणाद्यैः प्रतिज्ञातः "तं भजेत्"-"तं रसेदि"ति॥5॥
"तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः॥
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्"॥6॥
पुरुषस्याविशेषेण संसारं प्रजिहासतः॥
हरेर् आराधने मुक्तिः ... ...

आत्मा=परमात्मा
वा अरे=अवश्य,इति=या
श्रुत्या=श्रुतिसों
श्रवणाद्यैः=श्रवण आदि करिवेसों
दर्शनैकफल:=दर्शन ही जहां फल
होत हे एसी, विधिः=विधि
प्रतिज्ञातः=कही हे
तं=वाको,भजेत्=भजनकरे तं=वाको
रसेत्=आनन्द अनुभव करे
इति=एसो(अपि=हु)
उक्तम्=कह्यो हे
"भारत!=हे अर्जुन!
तस्मात्=तातें
अभयम्=अभयकूं

इच्छता=इच्छवेवारेकों
ईश्वरः=ईश्वर
सर्वात्मा=सबनके आत्मा
भगवान्=भगवान्
हरिः=श्रीकृष्ण
श्रोतव्यः=श्रवण करिवेयोग्य
कीर्तितव्यः=कीर्तन करिवेयोग्य
च=अरु स्मर्तव्यः=स्मरण
करिवेयोग्यहे, संसारं=संसारकों
प्रजिहासतः=छांडिवेकी इच्छा
करिवेवारे, पुरुषस्य=पुरुषकूं
अविशेषेण=समानरूपसों
हरेः=हरिके
आराधने=आराधनमें
मुक्तिः=मुक्ति
(भवति)=होतहे

भावार्थ : "आत्माको दर्शन करनो चहिये, श्रवण करनो चहिये, मनन करनो चहिये, निदिध्यासन करनो चहिये" या श्रुतिवचनमें परमात्मदर्शनके अर्थ परमात्माके श्रवण-मनन-निदिध्यासनकी आज्ञा हे. तेसें ही "वाको भजन करे" "वाको रसानुभव करे" एसेहु श्रुतिवचन हें॥5॥

श्रुतिकी न्यांई स्मृतिमें हु "तासों हे भारत! अभय प्राप्त करिवेकी इच्छा राखिवेवारे मनुष्यकूं सबनके आत्मा, भगवान्, ईश्वर श्रीहरिको श्रवण-कीर्तन-स्मरण करने चहिये" एसें कह्यो हे॥6॥

इन सब वचनन्सों यह सिद्ध होत हे के अहन्ता-ममतात्मक संसारकूं छांड़िवेकी इच्छा करिवेवारे मनुष्यकों प्रभुको आराधन ही मुक्तिरूप जाननो॥7॥

(तहां क्यों1 अरु केसो2 गुरु आवश्यक होत हे ताको निरूपण)

.....तत्प्रकारो निरूप्यते॥7॥
"माहात्म्यज्ञानपूर्वोहि सुदृढः सर्वतोऽधिकः॥
स्नेहो'भक्ति'रिति प्रोक्तःतयामुक्तिर्न चान्यथा"॥8॥
माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम्॥

शास्त्राणाम् उपयोगोऽत्र तत्राकांक्षा गुरोर् भवेत्त्र्इ1॥9॥
“कृष्णसेवा-परं वीक्ष्य दम्भादि-रहितं नरम्॥
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात्”2॥10॥

(अतः परं)=तासों अब
तत्प्रकारो=वाके प्रकारको
निरूप्यते=निरूपण करत हों
महात्म्यज्ञानपूर्व:=माहात्म्यके
ज्ञानपूर्वक, हि=निश्चितरूपसों
सुदृढः=सुदृढ
सर्वतोधिकः=सबसों अधिक
स्नेह:=स्नेह, भक्तिः=भक्ति हे
इति=एसें, प्रोक्तः=कह्यो हे
तया=तातें
मुक्तिः=मुक्ति होत हे
अन्यथा=ओर काहु प्रकारसों
न च=नाहीं होत हे
माहात्म्यज्ञापनाय=माहात्म्यको
जनायवेके काज
गुणकर्मणाम्=गुण-कर्मनको
श्रवणम्=सुननो एव=निश्चित रूपसों
(साधनम्)=साधनहे,अत्र=यामें
शास्त्राणाम्=शास्त्रनको
उपयोगः=उपयोग/आवश्यकता
(अस्ति)=होतहे
तत्र=तामें
गुरोः=गुरुकी
आकांक्षा=आवश्यकता
प्राप्तिकी इच्छावारो
कृष्णसेवापरं=कृष्णसेवामें तत्पर
दम्भादिरहितं=दम्भआदिसोंरहित
श्रीभागवततत्त्वज्ञं=भागवतपुराणके

तत्त्वकों जानिवेवारे,नरम्=नरकों
वीक्ष्य=परीक्षण करिके
आदरात्=आदरसों
भजेत्=भजन करे

भावार्थ : तासों अब भगवद्भजनरूप मुक्तिकी प्राप्ति जा साधनसों होय वा साधनके प्रकारको निरूपण करत हों. शास्त्रमें भक्तिके लक्षणको निरूपण "प्रभुके माहात्म्यके ज्ञान पूर्वक प्रभुमें सुदृढ अरु सबसों अधिक स्नेह इतनें भक्ति एसें कह्यो हे. एसी भक्तिसों ही मुक्ति होत हे, अन्य काहु प्रकारसों मुक्ति नाहीं होत हे" या प्रकारसों कह्यो हे॥8॥

या वचनमें प्रभून्के गुण-कर्मनको श्रवण करनो ताकों माहात्म्यज्ञानको साधन कह्यो हे. सो तो शास्त्रतें होई सकत हे तातें शास्त्रके अध्ययनकी आवश्यकता परत हे. शास्त्रको अध्ययन गुरु विना न सम्भवे तातें गुरुकों ही सर्वप्रथम साधन मान्यो गयो हे॥9॥

तातें प्रभून्को माहात्म्यज्ञान प्राप्ति करिवेकी इच्छावारो जीव जो कृष्णसेवामें तत्पर होय, दम्भ आदिसों रहित होय अरु श्रीमद्भागवतपुराणके तत्त्वकों जानिवेवारे नरको परीक्षण करिके आदरसों भजन करे॥10॥

(स्वमार्गीय गुरुको प्रथम कर्तव्य : भगवत्प्रपत्तिके काज दैवी जीवनको प्रेरित करनों)
देहद्रोण्या यियासूनां परं पारं भवाम्बुधेः॥
गुरुणा कर्णधारेण *1ह्युत्तार्या स्वोपदेशतः॥11॥
"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं योवै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै॥
तं ह देवम् आत्म-बुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये"॥12॥
"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज "॥
इति श्रुत्या तथा स्मृत्या प्रपत्त्यादेशङ्का दितः॥13॥

देहद्रोण्या=देहरूपीनावद्वारा
भवाम्बुधेः=भवसागरकी
परं=पल्ली, पारं=पार
यियासूनां=जायवेकी इच्छावारेकों
स्वोपदेशतः=अपने उपदेशन्सों

हि=ही
कर्णधारेण=कर्णधाररूपी
गुरुणा=गुरुद्वारा उत्तार्याः=पार उतारने चहिये
यः=जो, पूर्वं=पहिले
ब्रह्माणं=ब्रह्माजीकों
विदधाति=बनावत हे
यः=जो, वै=निश्चितरूपसों
तस्मै=विनकों, वेदान्=वेदनको
च=हु, प्रहिणोति=दानहुदेतहें
तं=वा, ह=प्रसिद्ध

आत्मबुद्धिप्रकाशं=आत्मतया
बुद्धिसों प्रकाशित होयवेवारे
देवम्=देवकों, अहं=में
मुमुक्षुः=मुक्त होयवेकी इच्छावारो
वै=पूर्णरूपसों, शरणं=शरण
प्रपद्ये"=जात हों
सर्वधर्मान्=सब धर्मनको
परित्यज्य=पूर्णतया छांड़िके
माम्=मेरे, एकं=एकके
शरणं=शरण, व्रज=आय जा
इति=एसी, श्रुत्या=श्रुतिनमे
तथा=अरु, स्मृत्या=स्मृतिनमे
आदितः=प्रारम्भसों
प्रपत्त्यादेशम्=शरणागतिकोआदेशहे

भावार्थ : देहरूपी नावके द्वारा संसारसमुद्रकी पल्लीपार जायवेकी इच्छावारेकी नावकों ताको कर्णधार-नाव खेयवेवारो गुरु अपने उत्तम उपदेशन्तें पार उतारे॥11॥

श्वेताश्वतर उपनिषद्में कह्यो हे जो "जो पूर्वमें ब्रह्माजीकों प्रकट करत हे अरु तिनकों वेदनको दान देत हें वा आत्मबुद्धिसों प्रकाशित होयवेवारे देवकी शरणमें मैं जात हों"॥12॥

भगवद्गीतामेंहु भगवानने स्वमुखसों अर्जुनकों आज्ञा कीनि हे जो “सब धर्मनको त्याग करिके केवल मेरे शरण आव” एसें श्रुति अरु स्मृति में सर्व प्रथम शरणागत होयवेको आदेश हे॥13॥

(स्वमार्गीय द्विजकुलके शिष्यनको कर्तव्य)

प्रेम्णोपदेश-श्रवणात् *2प्रपत्तिः प्रेम-कारणम्॥
अतो मूलाभिषेको हि कार्यस् तेनास्य सेवने॥14॥
नहि देहभृता शक्यं कर्म त्यक्तुम् अशेषतः॥
अतः स्वधर्माचरणं भार-द्वैगुण्यम् अन्यथा॥15॥
स्वधर्माचरणं शक्त्या ह्यधर्मात्तु निवर्तनम्॥
इन्द्रियाश्व-विनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत् त्रयं॥16॥
इति भागवतो धर्मः श्रीमदाचार्य-सम्मतः॥
भक्ति-शास्त्रानुकूल्येन स्वधर्माचरणं भवेत्॥17॥

प्रेम्णा=प्रेमके सहित
उपदेशश्रवणात्=उपदेश सुनिवेसों
प्रपत्तिः=शरणागति ही
प्रेमकारणम्=प्रेमको प्रकट
करिवेको कारण
(भवति)=होत हे
अतः=तातें, तेन=वाकों
(मुमुक्षुणा)=मुमुक्षुकों
अस्य=याके
(भगवतः)=भगवानके
सेवने=सेवनमें
मूलाभिषेकः=मूलमें अभिषेक
कार्य=करनो
देहभृता=देहवारेतें
कर्मः=कर्मको
अशेषतः=पूर्णरूपसों
त्यक्तुं=त्याग करनो
न=नाहीं, हि=ही

शक्यम्=सम्भवहे, अतः=तातें
स्वधर्माचरणम्=स्वधर्मानुसार
आचरण(कार्यं)=करनो
अन्यथा=नहिं तो
भारद्वैगुण्यम्=दुगनो भार
(स्यात्)=होत हे
शक्त्या=शक्ति अनुसार
हि=ही
स्वधर्माचरणम्=स्वधर्मको आचरण
अधर्मात्=अधर्मतें, तु=तो
निवर्तनम्=सर्वथा दूर रहनो
इन्द्रियाश्वविनिग्राहः=इन्द्रियरूपी
अश्वनको निग्रह करनो
(एतत्)=ये, त्रयं=तीन
सर्वथा=कबहु, न=नाहीं
त्यजेत्=त्यागने
इति=ये, श्रीमदाचार्यसम्मतः=
श्रीवल्लभाचार्यजीकों मान्य
भागवतः=भगवत्सम्बन्धि
धर्मः=धर्म (अस्ति)=हे
स्वधर्माचरणं=स्वधर्मको आचरण
भक्तिशास्त्रानुकूल्येन=
भक्तिशास्त्रके अनुकूल रहिके
भवेत्=होत हे

भावार्थ : उपर्युक्त लक्षणवारे गुरुके मुखतें श्रद्धाप्रेमसों भगवच्छास्त्रके उपदेशको श्रवण करिवेतें भक्तिके कारणरूप भगवानको शरण सिद्ध होत हे. कलिकालमें कल्याणकारी सब शास्त्रीय साधन जब दु:साध्य होय गये हें तब अन्यान्य साधननमे श्रम नाहीं करिके सर्वमूलभूत भगवत्-शरणरूप उपायको ही सेवन करनो॥14॥

देहधारीतें कर्मनको पूर्णरूपसों त्याग सम्भव नाहीं होत हे. तासों अपने-अपने वर्ण अरु आश्रम के धर्मानुसार कर्म करने. एसें न करे तो स्वधर्माचरणकी उपेक्षा अरु

स्वच्छन्द आचरण एसें दोय दोष आय परें॥15॥

तासों शक्ति अनुसार स्वधर्मको आचरण करनो, अधर्माचरण सर्वथा न करनो ओर इन्द्रियरूपी अश्वनको विशेषरूपसों निग्रह करनो. इन तीन्यों बातनको त्याग सर्वथा न करनो॥16॥

या प्रकारको भागवत धर्म महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकों मान्य हे. निज वर्णाश्रमधर्मके आचरण करिवेमेंहु भक्तिशास्त्रसों अनुकूल वर्णाश्रमधर्मको आचरण करनो इतनो विशेष हे॥17॥

(तहां निजशाखाके अनुसार षोडशसंस्कार तथा तन्मूलक आह्निक शौचाचार1-6 आदि भक्त्युपयोगी होयवेतें द्विजशरीरके धारण करिवेवारेनके काज आवश्यक होत हें)

गर्भाधानादि-संस्कारैः द्विजैर्मौञ्ज्यन्त-सम्भवैः॥
देहः संशोधनीयो हि हरिभावो न चान्यथा ॥18॥

मौञ्ज्यन्त-सम्भवैः=
मौञ्जीबन्धन पर्यन्त होते
गर्भाधानादि-संस्कारैः=
गर्भाधान आदि संस्कारसों
द्विजैः=द्विजनको
देहः=देह, हि=अवश्य
संशोधनीयः=शुद्ध करनो चहिये
अन्यथा=एसें न करे तो
च=निश्चय ही
हरिभावः=ब्रह्मभाव
न=नाहीं
(भवति)=होत हे.

भावार्थ : गर्भाधान संस्कारसों लेयके मौञ्जीबन्धनरूप यज्ञोपवीत संस्कार पर्यन्त सब संस्कारन्सों द्विज इतनें ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य अपने देहको संशोधन करे. एसें करेतें देह पवित्र होई तब देहमें भगवद्भावकी योग्यता सिद्ध होत हे अन्यथा नाहिं॥18॥

शौचाचार-विहीनस्य आसुरावेश-सम्भवात्॥

ततः स्वाह्निक-धर्माणाम् आचारोऽपि प्रसज्यते॥19॥

शौचाचारविहीनस्य=
शुद्धि आदि आचारसों रहितकों
आसुरावेशसम्भवात्=आसुरावेश
होयवेकी सम्भावना होयवेतें
ततः=तातें
स्वाह्निकधर्माणां=अपने दैनिकधर्मनके
आचारः=आचार, अपि=हु
प्रसज्यते=प्राप्त होत हें

भावार्थ : जो व्यक्ति शुद्धि आदिके आचारको यथाविधि पालन नाहिं करत हे तिनके देहेन्द्रियनमे आसुरावेश होयवेकी पूर्ण सम्भावना रहत हे. तातें अपने-अपने नित्य कर्मनको आचरणहु करनो चहिये॥19॥

स्नानं1 सक्ध्याजपो2 होमः3 स्वाध्यायः4 पितृतर्पणम्ञ्च5॥
वैश्वदेवकदेवार्चा6 इति षट्कर्मकृद् भवेत्॥20॥

(सः)=वो
स्नानं=स्नान
सक्ध्याजपः=सक्ध्या अरु जप
होमः=होम
स्वाध्यायः=अधीत वेदको आवर्तन
पितृतर्पणम्=
पितृनको तर्पण
वैश्वदेवक-देवार्चा=वैश्वदेवके
देवको अर्चन, इति=इन
षट्कर्मकृत्=छे कर्म करिवेवारो
भवेत्=होय

भावार्थ : सो छे नित्यकर्म या प्रकार जानें : शास्त्रविधिसों स्नान, सक्ध्या ओर जप, होम, पढ़े भये वेदको आवर्तन, पितृतर्पण, वैश्वदेवके देवको पूजन——इन छे

कर्मनको द्विज नित्य करे॥20॥

यथा हि स्कन्ध-शाखानां तरोर्मूलाभिषेचनम्॥
तथा सर्वार्हणं यस्मात् परिचर्याविधिर्हरेः॥21॥
अतस् तदनुरोधेन नित्यकर्मकृतिर् वरा॥
अन्यथातु कृतिर्व्यर्था त्रैवर्ग्यविषया यतः॥22॥

यथा=जेसें, तरोः=वृक्षके
मूलाभिषेचनं=मूलमें कर्यो जातो
जलको सेचन, हि=ही
स्कन्ध-शाखानां=छोटी-बड़ी
शाखानकु (अपि=हु
भवति)=प्राप्त होय जाय हे
तथा=ताही प्रकारसों
हरेः=हरिकी
परिचर्याविधिः=सेवाविधि हु
(अस्ति)=हे, यस्मात्=वासों
सर्वार्हणम्=सबनको पूजन
(भवति)=होय जात हे
अतः=तासों
तदनुरोधेन=वाके अनुसार
नित्यकर्मकृतिः=नित्यकर्म करने
वरा=श्रेष्ठ(स्यात्)=होत हें
अन्यथा=एसें न करे तब
तु=तो, कृतिः=कर्यो भयो
व्यर्था=निष्फल
(स्यात्=होत हे
यतः=क्योंके
(सा)=वो कृति
त्रैवर्ग्यविषया=त्रिवर्ग सम्बन्धी
(भवेत्)=होत हे

भावार्थ : जेसें वृक्षके मूलमें जल डारिवेतें वृक्षके पत्र, छोटी-बड़ी शाखा आदि सब भागनमे जल आपुही पहोंचि जात हे तेसें ही श्रीकृष्णकी सेवाविधिसों सबकी पूजा होय जात हे. तातें वा अनुसार ही नित्यकर्म करनो उत्तम हे. यदि एसें न करे तो (जेसें वृक्षके मूलमें जल न डारे ओर वाके डाली-पत्तान्पें जल डारतो रहे तो जलहु व्यर्थ जाय अरु वृक्षहु सूकि जाय एसें) सब कर्म निष्फल होइ जात हें. क्यों? जो कर्मन्सों पूज्य तो पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हें, विनकों छांड़िके कर्म करे तो कर्मबन्धनसों छूटिवेके स्थानपें कर्मन्सों ओर अधिक बंध जाय. क्यों? जो एसे कर्म तो धर्मार्थ-कामरूप त्रिवर्गकोंही सिद्ध करत हें॥22॥

गर्भाधानादिसंस्कारैः स्वशाखोक्तैर् द्विजो युतः॥
गुरुं प्रपद्येद् ... ...॥

अतः=तातें
स्वशाखोक्तैः=अपने वेदकी
शाखामें कहे अनुसार
गर्भाधानादिसंस्कारैः=
गर्भाधान आदि संस्कार
युतः=वारो
(द्विजः)=ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य
गुरुं=गुरुके, प्रपद्येत्=शरणमें जाय

भावार्थ : तातें जो द्विज त्रिवर्गमें बंधिवो न चाहत होय तो ताकों अपने वेदकी शाखामें निरूपित गर्भाधान आदि संस्कारसों संस्कृत होयके भक्तिमार्गीय गुरुकी शरणमें जायवो उचित हे.

(द्विजेतर शिष्यनके कर्तव्यको निरूपण)
.....अन्यस्तु सदाचारोऽस्य संश्रयात्॥23॥

अस्य=याके
(द्विजस्य)=द्विजको
संश्रयात्=भलीभांतिसों आश्रय लेयके
अन्यस्तु=अन्य तो

(द्विजेतरस्तु)=द्विजसों भिन्न तो
सदाचारः=सदाचार परायण
(सन्)=होयके(गुरुं=गुरुके
प्रपद्येत्)=शरणमें जावे

भावार्थ : ओर जो द्विज न होय तो शास्त्रमें कहे अनुसार द्विजनकी परिचर्या करे ओर सदाचार परायण रहिके भक्तिमार्गीय गुरुकी शरण जावे॥23॥

(प्रपत्तिमार्गमें दीक्षितनकोक वैष्णवाचारकोख परिपालन करनो. तामें प्रथम सप्तविध भक्तिग/1-7 को उपदेश)

लब्ध्वानुग्रहम् आचार्यात् श्रीकृष्णशरणं जनःक॥
धारयेत् तिलकं मालां वैष्णवाचारतत्परः॥24॥

आचार्यात्=आचार्यतें
अनुग्रहम्=कृपा,च=ओर
श्रीकृष्णशरणं=श्रीकृष्णके
शरणमन्त्रकी दीक्षा
लब्ध्वा=प्राप्त करिके
जन:=दीक्षित जन
वैष्णवाचारतत्परः=
वैष्णवमार्गके आचारमें तत्पर
(सन्)=होयके
तिलकं=ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक
च=ओर, मालां=माला कों
धारयेत्=धारण करे

भावार्थ : पुष्टिभक्तिमार्गमें रुचिवारो व्यक्ति पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके सुयोग्य आचार्यवंशजकी कृपा प्राप्त करिके सर्वप्रथम विनतें श्रीकृष्णके नाममन्त्रवारी शरणदीक्षाकों प्राप्त करे. एसें भगवन्मार्गमें दीक्षित होयके ललाटपे कुंकुमसों ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक अरु कण्ठमें तुलसीकाष्ठकी माला सदा धारण करे॥24॥

सर्वस्वं हरिसात्कार्यं त्यजेत् सर्वम् अवैष्णवम्॥

हिंस्र-काम्याऽन्यदेवार्चा यदि नित्यं च लौकिकम्॥25॥

(ततः=ता पाछें
तेन)=वाकों, सर्वस्वं=सब कछु
हरिसात्कार्यम्=हरिकेअधीनकरनो
(च=अरु, सः)=वो
अवैष्णवम्=वैष्णवमार्गसोंभिन्न
सर्वं=सब, त्यजेत्=छांड़े :तथा कामनावारेकर्म
अरु अन्य देवतानको अर्चन
त्यजेत्,=छांड़े,
नित्यं=प्रतिदिनाकरिवेकेकर्म
च=हु, यदि=जो
लौकिकं=लौकिक
(चेत्=होंय
तदपि)=भये पाछें अपनो सर्वस्व श्रीहरिके आधीन करनो. जो कछु अवैष्णव आचार पूर्वमें करत होंय सो सब छोड़ने. जीवहिंसा जामें होती होय एसे कर्म, काम्य कर्म अरु अन्यदेवतानकी पूजा-अर्चना सब छांड़े. नित्य-नैमित्तिक शास्त्रीय कर्महु यदि वैष्णवमार्गसों विपरीत होंय तो विनकों हु छांड़े. एसें ही लोकतः प्राप्त वैष्णवतासों विपरीत कार्यनको हु त्याग करे॥25॥

पूर्वभाण्डादिकं सर्वं परित्यज्य विशुद्धितःख॥
श्रवणादिपरो नित्यं हरेः प्रेमास्पदो भवेत्॥26॥

पूर्वभाण्डादिकं=पहिलेके
पात्र आदि, सर्वं=सब कछु
परित्यज्य=काढ़िके
विशुद्धितः=विशेष पवित्रतातें
नित्यं=सदा श्रवणादिपरः=श्रवणादिमें परायण
(सन्)=होयके
हरेः=श्रीकृष्णको
प्रेमास्पद:=प्रेमभाजन
भवेत्=बनें

भावार्थ : दीक्षित होयवेतें पहिले अपने उपयोगमें आवते सब पात्रादिक काढ़िके नवीन पात्रादिक लावने. स्ववर्णाश्रमानुसार विशेष आग्रहसों स्नान-खान-पान-वस्त्र-स्पर्श आदिमें सदा शुद्धि राखे. एसेंही भगवत्सम्बन्धी श्रवण-कीर्तनादिमें सतत तत्पर रहे. एसें करेतें भक्त प्रभुकों प्रिय होत हे॥26॥

हरेर्गुणानां श्रवणं ज्यायोभ्यः शृणुयात् सदाग/1॥
जातशिक्षः यवीयोभ्यः कीर्तयेदन्यथैकलःग/2॥27॥

हरेः=हरिके
गुणानां=गुणनको
श्रवणं=श्रवण
(कुर्यात्)=करे
ज्यायोभ्यः=बड़ेन्तें
(च)=हु, सदा=सदा
शृणुयात्=श्रवण करे
जातशिक्षः=स्वयं अध्ययन(सन्)=करिके
यवीयेभ्यः=छोटेन्कें तांई
कीर्तयेत्=कीर्तन करे
अन्यथा=नहिं तो
एकलः=इकलोहु
(कीर्तयेत्)=कीर्तन करे

भावार्थ : बड़ेन्सों सदा भगवत्सम्बन्धी श्रवण करे. जो श्रवण कीनो होय वाकी दृढताके अर्थ स्वयंहु वाको अभ्यास करे. सङ्गी भक्तनके आगें भगवत्कीर्तन करे. सत्पुरुषको सङ्ग प्राप्त न होय तो इकलो ही भगवत्कीर्तन करे॥26॥

अतिसुन्दररूपाणि लीलाधामानि संस्मरेत्श्इग/3॥
पादसेवा हरेः कार्या सर्वसम्पन्निकेतनैःग/4॥28॥

हरेः=हरिके
अतिसुन्दररूपाणि=अत्यन्त

सुन्दर रूपनको , च=अरु
लीलाधामानि=लीलाधामनको
संस्मरेत्,=सतत स्मरण करे
सर्वसम्पन्निकेतनैः=अपने घर-
धन-सम्पत्तिसों, हरेः=प्रभुके
पादसेवा=चरणकमलकी सेवा
(अपि)=हु
कार्या=अवश्य करनी

भावार्थ : जेसें भगवत्सम्बन्धी श्रवण-कीर्तन करे एसें ही प्रभुके सर्वाधिक सुन्दर स्वरूप अरु प्रभुके अलौकिक लीलाधामन् को हु सतत स्मरण करतो रहे. एसेंही प्रभुके चरणकमलकी सेवाहु अपने घर-धन आदि सर्वस्वके विनियोगपूर्वक अवश्य करे॥ 27॥

अर्चनं प्रत्यहं तस्य विधिना नियमेन चग/5॥
वन्दनं चरणाम्भोजे तस्य भावनयाखिलेग/6॥29॥

प्रत्यहं=प्रतिदिन
नियमेन=नियमसों
विधिना=विधिसों
तस्य=विनको
अर्चनं=अर्चन
(कुर्यात्)=करे
च=ओर,
अखिले=सब
जगति=जगत्में
तस्य=विनकी
भावनया=भावनासों
चरणाम्भोजे=विनके चरणकमलमें
वन्दनं=वन्दन, (कुर्यात्)=करे

भावार्थ : माहात्म्यज्ञानपूर्वक लोकविलक्षण उपचारन्सों प्रतिदिन नियमसों प्रभुकी सेवा करे. समग्र जगत्में भगवदात्मकताको भाव राखिके अपनेमें भगवदंशताको दैन्यपूर्वक स्मरण करिके श्रद्धा पूर्वक प्रभुके चरणकमलमें वन्दन करे॥29॥

दास्यं तदेकशरणं तत्प्रसादैक-भोजनम्च्इग/7॥
एवं सप्तविधा भक्तिः प्रपन्नाधिकृता भवेत्॥30॥

तदेकशरणं=एक वाको ही शरण
तत्प्रसादैकभोजनं=वाके उच्छिष्ट
प्रसादको ही भोजन
दास्यं=दासपनों, एवं=एसें
सप्तविधाः=सात प्रकारकी
भक्तिः=भक्ति(के काज)
प्रपन्नाधिकृता=शरणागतिमें
अधिकारी, भवेत्=होत हे

भावार्थ : एकमात्र श्रीकृष्णको ही आश्रय (अनन्यता) अरु श्रीकृष्णकों समर्पित पदार्थको ही भोजन (समर्पित जीवन) ताकों 'प्रभुको दासपनो' कहत हें. या प्रकारसों श्रवणसों लेयकें दास्य पर्यन्त सात प्रकारकी भक्तिके सम्यग् अनुष्ठानसों शरणागति सिद्ध होतहे॥30॥

(प्रपत्तिमार्गमें दीक्षितनको वैष्णव व्रतोत्सवघ पञ्चयज्ञङ तीर्थवासच वैष्णवतिलकादि बाह्याभ्यन्तर चिह्नकोछ-ज धारण आदिको उपदेश)
पूर्वविद्धं परित्याज्यं व्रतं तद्विष्णुपञ्चकम्॥
*4जयन्ती तूदयेऽन्येन दुष्टान्याप्यरुणोदयात्॥31॥

विष्णुपञ्चकं=विष्णुसम्बन्धीपांच
(चार्यों रामनृसिंहवामनकृष्णजयन्ती
अरुपांचमी एकादशीको) व्रतं=व्रत
पूर्वविद्धं=पूर्वतिथिके वेधवारे
(चेत्)=होंय तो, तत्=तिनकों
परित्याज्यम्=तजने

जयन्ती=जन्मोत्सव
तु=तो, उदये=सूर्योदयमें
अन्येन=दूसरी तिथिन्सों
दुष्टा=दूषित, (च)=अरु
अन्या=दूसरी
(एकादशी)=एकादशीअपि=हु
अरुणोदयात्=सूर्यादयतें
(दुष्टा=दोषवारी
चेत्)=यदि होय तो
त्याज्या=तजनी

भावार्थ : पूर्व तिथिको जा तिथिमें वेध आंवतो होय वा दिन एकादशी, जयन्ती आदि विष्णुपञ्चक व्रतोत्सव तजने. सूर्योदय कालमें जो तिथि होय वाहीकों वा दिनकी तिथि मानिके श्रीकृष्णजयन्ती आदि उत्सव करने. एसें ही एकादशी हु अन्य तिथिके वेधवारी होय तो तजनी.

वर्षाश्रितान्युत्सवानि स्वाश्रितान्यपि यान्युतघ॥
तानि सर्वाणि हरये *5ह्यनुकूलानि चार्पयेत्॥32॥

यानि=जो
वर्षाश्रितानि=वर्षभरके
उत्सवानि=उत्सव, उत=अरु
स्वाश्रितानि=स्वमनोरथजनित
अपि च=हु (उत्सव)
अनुकूलानि=अनुकूल
(चेत्)=होंय तो
तानि=तिनकों
सर्वाणि=सभी तरहसों
हि=अवश्य
हरये=हरिकों
अर्पयेत्=अर्पित करे

भावार्थ : वर्षभरमें आंवते उत्सव अरु स्वमनोरथसों जनित उत्सव हु साधन-सम्पत्ति, स्वास्थ्य, समय आदिकी अनुकूलता होय तो विन सबकोंहु अवश्य प्रभुनके साथ मनावनें॥32॥

श्राद्धानि चोत्तमान्येव वैश्वदेवं च दैवकम्॥
हरेः प्रसादतः कुर्यात् ततस् तृप्तिरनुत्तमा॥33॥

उत्तमानि=उत्तम
श्राद्धानि=श्राद्ध, च=अरु
वैश्वदेवं=वैश्वदेव
दैवकं=देव सम्बन्धी
च=अवश्य, हरेः=हरिके
प्रसादतः=प्रसादसों
कुर्यात्=करनें,
ततः=तासों
(पितृणां=पितृनको
च=अरु,देवानां)=देवतानको
अनुत्तमा=उत्तमोत्तम
तृप्तिः=सन्तोष
(भवति)=होत हे

भावार्थ : उत्तम श्राद्धादिक अरु विश्वेदेव सम्बन्धी अरु अन्यहु देवता सम्बन्धी सर्व कार्य आग्रहसों भगवन्महाप्रसादसों ही करे. तातें पितृनको अरु भगवानके कर्मसचिव देवतानको हु उत्तममोत्तम तृप्ति होत हे॥33॥

प्रसादोऽपि बलिः कार्यः स्वात्मसंस्कारएव सः॥
अन्नस्य चात्मनश्चापि तत्संस्कारेण तत्परः॥34॥

बलिः=भूतयज्ञ, अपि=हु
प्रसाद:=भगवन्महाप्रसाद(सों) कार्यः=करनो, सः=वो
स्वात्मसंस्कार:=अहे

(अतः)=तातें
अन्नस्य=अन्न, च=अरु
आत्मनः=आत्माको
च अपि=हु
तत्संस्कारेण=वा संस्कारसों
तत्परः=तत्पर
(भवेत्)=होनो

भावार्थ : गोग्रास आदि भूतयज्ञहु प्रभुके महाप्रसादसोंही करने. वो अपने आत्माको संस्कार ही हे. तातें अन्न अरु आत्मा के वा ही संस्कारसों तत्पर रहेनो॥34॥

विप्रा गावो हरेर्भक्ताः सदा पूज्या हरेः प्रियाः॥
गृहस्थस्यातिथिर्यस्मात् पूज्यो दीनो दयास्पदःङ॥35॥

विप्राः=ब्राह्मण, गावः=गाय
हरेः भक्ताः=भगवद्भक्त
यस्मात्=क्योंके, हरेः=हरिके
प्रियाः=प्रिय होत हें
(तस्मात्)=तातें
सदा=सदा, पूज्या=पूज्य
(ज्ञेयाः)=जानने
गृहस्थस्य=गृहस्थकों
अतिथिः=अतिथि
पूज्यो=पूज्य, (भवति)=होत हे
दीनश्च=दुःखी, दयास्पदो=दयापात्र
(भवति)=होत हे

भावार्थ : ब्राह्मण, गाय अरु भगवद्भक्त प्रभुकों प्रिय हें तातें इन सबनको सत्कार अवश्य करनो. याही प्रकारसों गृहस्थकों अतिथि हु पूज्य होत हे. गृहस्थकों दुःखी जनन्पें दयाभाव राखनो॥35॥

जगन्नाथे द्वारिकायां श्रीरङ्गे व्रजमण्डले॥
यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् तत्र तिष्ठेच्च तत्परः॥36॥

जगन्नाथे=जगन्नाथपुरीमें द्वारिकायां=द्वारिकापुरीमें
श्रीरङ्गे=श्रीरङ्गजीमें
व्रजमण्डले=व्रजमण्डलमें
यत्र=जहां, च=कहुं
पूजाप्रवाहः=पूजाको अनवरत क्रम
स्यात्=होय
तत्र=तहां
तत्परः=भगवानमे परायण
(सन्=होयके)तिष्ठेत्=रहनो

भावार्थ : जगन्नाथपुरी, द्वारकापुरी, व्रजमण्डल आदि भगवत्स्थाननमे जहां-कहु अनवरत भगवत्पूजा अनुष्ठित होती होय तहां भगवानमे परायण होयके रहे॥36॥

गङ्गादि-तीर्थ-वर्येषु यथा चित्तं न दुष्यतिच॥
श्रवणाद्यैः भजेदेवं श्रीभागवततत्परः॥37॥

गङ्गादितीर्थवर्येषु=गङ्गाजी
आदि श्रेष्ठ तीर्थनमे
यथा=जेसें, चित्तं=चित्त
न=नाहीं
दुष्यति=दूषित होवे
एवं=एसें
श्रीभागवततत्परः=श्रीभागवतमें तत्पर
(सन्=होयके)एवं=तथा
श्रवणाद्यैः=श्रवण आदिसों
(प्रभुं)=प्रभुकों भजेत्=भजे

भावार्थ : गङ्गाजी आदि श्रेष्ठ तीर्थनमे , अति निकटता आदिके कारण तीर्थके अनादर आदिरूप दोषन्सों चित्त जेसें दूषित नाहीं होय वा प्रकारसों श्रीभागवतमें तत्पर होयके प्रभुको श्रवणादिसों भजन करे॥37॥

ऊर्ध्वपुण्ड्राणि मृन्मुद्रा तुलसी-काष्ठजापि स्रक्॥
बाह्यामान्यान्तराणि स्युः भक्तेः शान्ति-विरक्तयः॥38॥

ऊर्ध्वपुण्ड्राणि=ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक मृन्मुद्रा=गोपीचन्दनसों नामादि मुद्रा

तुलसीकाष्ठजा=तुलसीकाष्ठकी
स्रक्=माला, अपि=हु
भक्तेः=भक्तिके
बाह्यामानि=बाह्य लक्षण,(च=अरु)
शान्तिविरक्तयः=शान्ति तथा विरक्ति
आन्तराणि=आन्तर लक्षण, स्युः=होत हें

भावार्थ : ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक, गोपीचन्दनसों नामादिमुद्रा अरु तुलसीकाष्ठसों बनी माला ये भक्तिमार्गीकि बाह्य लक्षण हें. एसें ही शान्ति तथा विरक्ति भक्तिमार्गीकि आन्तर लक्षण हें॥38॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च॥
दया दानं च विज्ञानं श्रद्धा दैवात्मसम्पदः॥39॥
दैवात्मसम्पदः पुंसः भक्तिर्भवति नैष्ठिकीछ-ज॥

शम:=आन्तर इन्द्रियन्पें संयम
दमः=बाह्य इन्द्रियन्पें संयम
तपः=कष्टकों सहनो
शौचं=पवित्रता
क्षान्ति:=धैर्य/क्षमाशीलता
आर्जवं=सरलता
दया=दया, दानं=दान
विज्ञानं=तत्त्वज्ञान,श्रद्धा=श्रद्धा च
=इत्यादि
दैवात्मसम्पदः=दैवी जीवके गुण
एव=निश्चय(सन्ति=हें)
दैवात्मसम्पदः=दैवी जीवके गुणवारे
पुंसः=पुरुषकों

भक्तिः=भक्ति, च=निश्चित
नैष्ठिकी=दृढनिष्ठावारी
भवति=होत हे

भावार्थ : आन्तर तथा बाह्य इन्द्रियन्पें संयम, कष्टसहनो,शास्त्रीय सदाचारके अनुसार पवित्रता राखनी, धैर्य/क्षमाशीलता, सरलता, दया, दान, तत्त्वज्ञान, श्रद्धा इत्यादि दैवी जीवनके गुण जाननें.एसे दैवी गुणवारे पुरुषकों भगवद्भक्ति निश्चयही दृढनिष्ठावारी होत हे॥39॥

(इन गुणनके कारण भक्ति जब सर्वात्मभावापन्ना1 होवे तब या लोकमें प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति2 अरु वैकुण्ठादि भगवल्लोकमें सेवोपयोगी देहकी प्राप्ति3हु फलित होत हे)
यया 'सर्वात्मभावा'ख्या परा सिद्धिः स्वयं भवेत्झ्इ1॥40॥

यया=जा(नैष्ठिक्या=दृढ,भक्त्या=भक्तिसों)
'सर्वात्मभावा'ख्या='सर्वात्मभाव'
नामसों जानी जाती
परा=उत्कृष्ट,सिद्धिः=सिद्धि
स्वयं=आपुही
भवेत्=सिद्ध होत हे

भावार्थ : नैष्ठिकी भक्तिके कारण 'सर्वात्मभाव' नामसों प्रसिद्ध उत्कृष्ट सिद्धि स्वयं ही प्राप्त होत हे॥40॥

सर्ववस्तुषु वैराग्यं दोषदृष्ट्या विभावयेत्॥
दमनाद् इन्द्रियाणां च सन्तुष्ट्यापि च सिध्यति॥41॥

दोषदृष्ट्या=दोषवारी दृष्टिसों
सर्ववस्तुषु=सब वस्तूनमे
वैराग्यं=वैराग्यकी
विभावयेत्=विशेषरूपसों भावना करे
इन्द्रियाणां=इन्द्रियनके

दमनाद्=दमनतें, च=अरु
सन्तुष्ट्या=सन्तोषतें
अपि=हु
च=निश्चितरूपसों(तद्=वो)
सिध्यति=सिद्ध होत हे

भावार्थ : दोषदृष्टि राखिके सर्व वस्तूनमे वैराग्यकी विभावना करे. इन्द्रियन्पें संयम अरु सन्तोष राखिवेतें हु अवश्य वैराग्य सिद्ध होत हे॥41॥

सर्वत्रैव विरक्तस्य रागः स्याद् नन्दनन्दने॥
तेनासक्तिश्च व्यसनं प्रपञ्चास्फुरणं2 भवेत्॥42॥

सर्वत्र=सब ठिकाने
विरक्तस्य=विरक्तकों, एव=ही नन्दनन्दने=श्रीकृष्णमें
रागः=प्रेम,स्याद्=होत हे
तेन=वातें,आसक्तिः=असक्ति
व्यसनं=व्यसन
प्रपञ्चास्फुरणं=प्रपञ्चकी विस्मृति
च=हु,भवेत्=होत हे

भावार्थ : जो सर्वत्र वैराग्यवारो होय वाकों ही नन्दनन्दन श्रीकृष्णमें प्रेम होत हे. प्रेमतें आसक्ति होत हे, आसक्तितें व्यसन अरु प्रपञ्चकी अस्फूर्ति पूर्वक मनको भगवानमे निरोध सिद्ध होत हे॥42॥

एवं निरुद्धचित्तस्यानुगृहीतस्य चेशितुः॥
लीलाप्रवेशो3ऽपीष्टश्च "तस्मान् मच्छरणो"क्तितः॥43॥

एवं=या प्रकारसों,ईशितुः=ईशके
अनुगृहीतस्य=कृपावारे
च=अरु
निरुद्धचित्तस्य=निरुद्ध चित्तवारेको
"तस्मान्=तातें मच्छरण(म्)"=में शरण हूं
उक्तितः=या उक्तिसों

लीलाप्रवेशः=भगवल्लीलामें प्रवेश
च=अरु, इष्टः=इष्ट
अपि=हु,(भवति=होत हे)

भावार्थ : या प्रकारसों जाको चित्त प्रभुमें निरुद्ध भयो होय अरु जाके ऊपर प्रभुकी कृपा भई होय वाको लीलामें प्रवेश हु इष्ट ही हे सो गोवर्धनोद्धरणके समय भगवानके "तातें में ही गोकुलको आश्रय हूं ..." (भाग.पुरा.10।22/25।18) इत्यादि वचनतें सिद्ध होत हे॥43॥

(एसे तादृशी वैष्णवनकी या भूतलपे स्थिति अन्य जीवनके जेसी काल-कर्म-स्वभावाधीन होत नाहीं)

न पापं स करोत्येव प्रमादे त्वाशु निष्कृतिः॥
अज्ञात-स्खलितानां च हरिरेव परा गतिः॥44॥
सः=वो, पापं=पाप
न=नाहीं, एव=ही
करोति,=करे हे
प्रमादे=अज्ञानमें, तु=तो
आशु=शीघ्र
निष्कृतिः=छुटकारा(भवति=होत हे)
अज्ञातस्खलितानां=अज्ञानसों
पतित भयेनके, च=निश्चित
हरिः=हरि, एव=ही, परा=अन्तिम
गतिः=उपाय/साधन, (अस्ति)
=हें

भावार्थ : एसो भगवदीय कबहु पापकर्म नाहीं करत हे. कबहुक अज्ञानतें कोउ निन्दित/निषिद्ध आचरण होय जाय तो हु शीघ्रही वाके अपराधतें छूटी जात हे. तातें अज्ञानतें जिनको स्खलन होत हे विनकी एकमात्र गति श्रीहरि ही हें॥44॥

*6हरिर् भक्तापराधेषु दययैव प्रसीदति॥
दोषेषु न गतिस्तस्मात् दोषान् सम्परिवर्जयेत्॥45॥

(यस्मात्)=क्योंके
भक्तापराधेषु=भक्तके अपराधनमे
दोषेषु=दोषनमे
अन्या=दूसरो
गतिः=उपाय
न=नाहीं,(अस्ति=हे)
तस्मात्=तातें
दोषान्=दोषनको
सम्परिवर्जयेत्=सम्पूर्ण रूपसों छोड़े
हरिः=हरि
दयया=दयातें, एव=ही
प्रसीदति=प्रसन्न होत हें

भावार्थ : भक्तनकी अपराध अथवा दोष मेंहु भगवदतिरिक्त अन्य कोई गति नाहीं हे. तातें दोषनको पूर्णरूपसों त्याग करनो. तथा हरि विनपें दया करिके प्रसन्न ही रहत हें एसो विश्वास राखनो॥45॥

अशून्या दिवसा यामाः मुहूर्त-घटिका-लवाः॥
भगवद्भजनैः कार्याः संसारासक्तिरन्यथा॥46॥
दिवसाः=दिवस
यामाः=प्रहर; तीन घण्टा
मुहूर्त-घटिका-लवाः=
48 मिनिट, 24 मिनिट, क्षण
भगवद्भजनैः=भगवद्भजनसों
अशून्याः=रहित नाहीं
कार्याः=करने
अन्यथा=नहिं तो
संसारासक्तिः=संसारमें आसक्ति
(भवति)=होय जात हे

भावार्थ : दिवस, प्रहर, घड़ी, क्षणमात्र हु भगवद्भजन विना न रहेनो. भगवद्भजन विना क्षणमात्रहु रहे तो संसारासक्ति होय जात हे॥46॥

(जेसें श्रीहरिको भजन, तेसेंइ श्रीहरिकी भावना राखिके गुरु अरु वैष्णव भक्तन् के प्रतिहु नमन, अर्चन तथा दैन्य निभावने)

गुरुसेवा गुरोराज्ञा गुरौ श्रीहरिभावना॥
गुरौ भयं गुरौ सिद्धिः प्रपन्नः परिभावयेत्॥47॥

(प्रप**ननें** न=शरणागतकों)
गुरुसेवा=गुरुकी सेवा
(कर्तव्या=करनी)गुरोः=गुरुकी
आज्ञा=आज्ञा(पालनीया=पालनी)
गुरौ=गुरुमें,श्रीहरिभावना=
श्रीहरिकी भावना(कार्या=करनी)
गुरौ=गुरुमें,
भयं=भय
(स्थापनीयम्=राखनो)(च=अरु)
गुरौ=गुरुमें,सिद्धिः=सिद्धि
(अस्ति इति=हे एसें)
प्रपन्नः=शरणागत शिष्य
परिभावयेत्=आछी भांतिसों भावना करे

भावार्थ : शरणागत शिष्य गुरुकी सेवा करे, गुरुकी आज्ञाको पालन करे, गुरुमें श्रीहरिकी भावना करे, गुरुको भय राखे, गुरुमें सिद्धिकी भावना करे. एसें प्रकारसों शरणागत शिष्य रहे॥47॥

भक्तवृन्दान् नमेद् अर्चेद् दृष्ट्वा हृष्येत्(/हर्षं) समानयेत्॥
भक्तेष्वेवं हरिं साक्षात् प्रसादेन व्यवस्थितम्॥48॥

भक्तवृन्दान्=भक्तजननको
नमेद्=नमन करे
अर्चेद्=सत्कारकरे(तान्=विनकों)
दृष्ट्वा=देखिके
हृष्येत्,=प्रसन्न होय(गृहं=घरमें)
समानयेत्=बुलावे
भक्तेषु=भक्तनमे ,एवं=एसें
प्रसादेन=कृपासों
व्यवस्थितं=बिराजते,साक्षात्=साक्षात्
हरिं=हरिकों प्रणाम करे, विनको सत्कार करे, अपुने घरमें विनकों बुलावे. भक्तनके हृदयमें भगवान् सदा प्रसन्नतासों बिराजत हें तातें भक्तनमे भगवानको देखे॥48॥

विना भक्तप्रसङ्गेन सदगुरोः कृपया विना॥
श्रीभागवतशास्त्रेण विना भक्तिः कथं भवेत्॥49॥

भक्तप्रसङ्गेन=भक्तके सङ्गके
विना=बिना,सद्गुरोः=सद्गुरुकी
कृपया=कृपाके,विना=बिना
श्रीभागवतशास्त्रेण=श्रीभागवत शास्त्रके
विना=बिना,भक्तिः=भक्ति
कथं=केसें,भवेत्=होय

भावार्थ : भक्तके सङ्ग विना, सद्गुरुकी कृपा विना तथा श्रीभावगवत शास्त्र विना श्रीकृष्णमें भक्ति केसें होय सके?॥49॥

विना गद्गदकण्ठेन द्रवता चेतसा विना॥
विना नृत्येन गानेन हरिप्रीतिः कथं भवेत्?॥50॥

गद्गदकण्ठेन=भगवदावेशसों

गद्‌गदित कण्ठके,विना=विना
चेतसा=चित्तकी द्रवता=भगवत्स्नेहसों द्रवता
विना=विना, नृत्येन=नृत्यके
(च=अरु)गानेन=गानके,विना=विना
हरिप्रीतिः=हरिमें प्रेम, कथं=केसें, भवेत्=होय

भावार्थ : कीर्तन करत भगवदावेशसों कण्ठ गद्‌गदित न होय, स्मरण करत भगवत्प्रेमसों चित्त आर्द्र न होय, नृत्य-गान सहित भगवद्भजनके विना प्रभुमें प्रेम केसें होय?॥51॥

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया॥
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"॥51॥

एषा=ये,गुणमयी=गुणवारी
दैवी=दैवी, मम=मेरी
माया=माया, हि=निश्चय ही
दुरत्यया=कष्टसों जीतीजाय एसी (अस्ति=हे,अतः=तातें)ये=जो
माम्=मोकों, एव=ही
प्रपद्यन्ते=शरणागत होंयहें,ते=वो
एतां=या,मायां=मायाकों,तरन्ति=तरिसकेहें

भावार्थ : ये गुणमयी मेरी दैवी माया निश्चय ही कष्टसों जीती जा सके एसी हे. तातें जो मेरी शरणमें आवे हे वो ही मेरी या मायाकों तरि सके हे॥51॥

(सृष्टिके कर्ता केवल भगवान् हें, तासों ये सृष्टि भगवदात्मिका हे1, सो या सृष्टिमें पुष्टिजीवकों भजनानन्दानुभवके प्रदानार्थ प्रकट किये हें2, तासों पुष्टिजीवकों भगवदनुग्रहार्थ नियोजित करनोंहु भगवत्सेवा ही हे3)

क्रीडार्थम् असृजत् पूर्वं स्वात्मना स्वात्मकं जगत्॥
तत्र कायभवा पुष्टिः लीलासृष्टिर् अनुत्तमा॥52॥

(भगवान्=भगवाऩने)पूर्वं=पहिले
स्वात्मना=आपुसों

स्वात्मकं=स्वात्मक-भगवदात्मक
जगत्=जगतकों अर्थ
असृजत्=प्रकट कियो
तत्र=तामें,कायभवा=कायातें प्रकट
अनुत्तमा=उत्तमोत्तम
लीलासृष्टिः=लीलासृष्टि पुष्टिः=पुष्टिजीवनकी(अस्ति)=हे

भावार्थ : भगवानने पहिले तो क्रीडाके अर्थ आपुसों स्वात्मक इतनें भगवदात्मक जगत् प्रकट कियो. ता जगत्में जो दैवी जीव हैं तिनको अपनी कायातें प्रकटी पुष्टिसृष्टिकी उत्तमोत्तम लीलामें अङ्गीकार कियो॥52॥

वामांश-सम्भवानान्तु भजनानन्दलब्धये॥
विसृष्टानां ततोऽन्येषां नान्या साधनपद्धतिः॥53॥

भजनानन्दलब्धये=भजनानन्दको
दान करिवेके अर्थ
विसृष्टानाम्=विशेष हेतुसों प्रकट भये
वामांश-सम्भवानाम्=वाम अंशसों
प्रकटभयेनको,अन्येषां=अन्यनको
तु=तो,
ततः=तातें
अन्या=भिन्न दूसरो
साधनपद्धतिः=उपाय, न=नाहीं
(अस्ति)=हे

भावार्थ : प्रभुके वाम अंशसों प्रकट भये जीव के जिनकों प्रभूनने भजनानन्दको दान करिवेकों प्रकट किये हें विनकों यातें भिन्न दूसरो कोई उपाय नाहीं हे॥53॥

"यस्यायम् अनुगृह्णाति भगवान् आत्मभावितः॥
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्" ॥54॥

अयं=ये

आत्मभावितः=आत्मासोंभावित
भगवान्=भगवान्,यस्य=जाकु
अनुगृह्णाति=अनुगृहकरेहें सः=वो, लोके=लोकमें
च=अरु, वेदे=वेदमें
परिनिष्ठिताम्=अत्यन्त स्थिर
मतिं=मतिकों,जहाति=त्याग दे हे
भावार्थ : आत्मतया भावित भगवान् जापें कृपा करे हें वो भक्त लोक अरु वेद में परिनिष्ठित अपनी मतिकों हु त्याग दे हे॥54॥

अनुग्रहे नियोज्योऽतः संग्रहः श्रुतिसम्मतः॥
महतां समयो मानं महान्तोऽत्र हरेः प्रियाः॥55॥

अतः=तातें(एतादृशः=एसे)
अनुग्रहे=अनुग्रहमें
नियोज्यः=प्रेरित करने
(भवति=चहिये)(तादृशं=वेसो
तु=तो)संग्रहः=संग्रह
श्रुतिसम्मतः=वेद सम्मत
(अस्ति=हे)अत्र=यहां
मानं=प्रामाण
महतां=महापुरुषनको
समयः=समय/व्यवहार(अस्ति=हे)
हरेः=हरिके, प्रियाः=प्रिय
महान्तः=महान्,मति स्थिर होय तदर्थ लोक-वेदमें आसक्त दैवी जीवनको भगवद् अनुग्रहमार्गके प्रति प्रेरित करने चहिये. एसो लोकसंग्रह (परोपकार) हु वेदसम्मत ही हे. यहां प्रमाण महान् पुरुषनको आचर हु हे. भगवानको जे प्रिय हें वे ही वस्तुतः महान् हें॥55॥

(श्रीमद्भागवतके "रतिरासो..." 3।7।18 श्लोकमें निरूपित भजनानन्दकी उपलब्धिके काज आत्मसमर्पणादि साधननको निरूपण)
अतस् तदनुरोधेन 'रतिरासो' यथा भवेत्॥

तदर्थं वरणं कार्यं *श्रीगोपालमहामनोः॥56॥

अतः=तातें
तदनुरोधेन=वाके अनुसार
यथा=जेसें 'रतिरासः'=रतिरासरूप भजनानन्द
भवेत्=सिद्ध होय
तदर्थं=वाके अर्थ
श्रीगोपालमहामनोः=श्रीगोपालमन्त्रको/"रतिप्रादुर्भावो भवतु सततं श्रीपरिवृढे" या स्तोत्रको, वरणं=वरण, कार्यं=करनो

भावार्थ : ("यत्सेवया भगवतः ...रतिरासो भवेत्" श्लोकमें गुरुसेवाकों भक्त्युपयोगी बताई हे) तातें गुरुकी आज्ञाके अनुसार जेसें रतिरासरूप भजनानन्द सिद्ध होय वाके अर्थ गोपालमन्त्र अथवा परिवृढाष्टक **स्तोत्रको नित्य अनुसन्धान करनो॥56॥**

नायमात्मा प्रवचनैर् न धिया न बहुश्रुतैः॥
लभ्यते वरणं हित्वा वृतं संवृणुते श्रुतेः॥57॥

अयं=ये,आत्मा=परमात्मा
वरणं=वरण,हित्वा=विना
न=न,प्रवचनेन,=प्रवचनसों
न=न,धिया=बुदिसुनवेसों
लभ्यते=प्राप्त होत हे
वृतं=नियम,च=तो
संवृणुते=वरण करे हे
श्रुतेः=श्रुतिसों
(प्रामाण्यात्=प्रामाण्यसों)

भावार्थ : ये परमात्मा वरण विना न प्रवचनसों, न बुद्धिसों, न तो बहुत सुनिवेसोंहु प्राप्त होय सके हे. वरणको ये नियम श्रुतिसों प्रसिद्ध हे.

स्मृत्वा स्वीयवियोगाग्निं तापदाहो भवाम्बुधौ॥
ततः सर्वं समर्प्यैव श्रीगोपालमनुं श्रयेत्॥58॥

भवाम्बुधौ=भवसागरमें
तापदाहः=तापजन्य दाह
(अस्ति=हे, इति=एसें) स्वीयवियोगाग्निं=अपनेवियोगाग्निको
स्मृत्वा=स्मरण करिकेततः=तातें
सर्वं=सब,समर्प्य=समर्पितकरिके
एव=ही, श्रीगोपालमनुं=गोपालमन्त्रको, श्रयेत्=आश्रय करे

भावार्थ : या भवसागरमें भगवद्वियोग अग्निदाहके समान् है. तातें (गद्यमन्त्रोक्त प्रकारसुं) भगवद्वियोग जन्य अग्निको स्मरण करिके वा वियोगाग्निकी निवृत्तिके अर्थ सब कछु प्रभूनकु अर्पण करिके श्रीगोपालमन्त्रको आश्रय करे॥59॥

"इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृतं यच्चात्मनः प्रियम् ॥
दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्" ॥59॥

इष्टं=यज्ञादि, दत्तं=दान
तप:=तप, जप्तं=जप
वृत्तं=व्रत
आत्मनः=स्वयंकों
प्रियम्:इष्ट इतनें यज्ञादि अरु पूर्त इतनें दान-जप-तप-वृत आदि कर्मनको अरु अपने प्रिय स्त्री, पुत्र, घर, प्राण आदि कोहु भगवत्सेवाके अर्थ निवेदन करे॥59॥

"इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया॥
नारायणपरो मायाम् अञ्जस्तरति दुस्तराम्" ॥60॥

"इति=या प्रकारसों
भागवतान्=भगवान् सम्बन्धि
धर्मान्=धर्मनको, शिक्षन्=जानिके
तदुत्थया=वातें उत्पन्न भक्त्या=भक्तितें
नारायणपरः=नारायण परायण
(सन्)=होयके
दुस्तराम्=कठिनतासों तरि सकें एसी

मायाम्=मायाकों, अञ्जः=शीघ्र, तरति=तरि जाय हे

भावार्थ : एसे प्रकारसों भागवतधर्मनको जानिके, वातें उत्पन्न भई भक्तिसों नारायणमें परायण होयके भक्त दुस्तर मायाकोंहु शीघ्रतासों तरि जाय हे॥60॥

एवं योगीश्वरोक्तेन भक्तिमार्गेण यो यजेत्॥
सएवातीत्य कलिजान् दोषान् गच्छेत् परं पदम्॥61॥

एवं=एसें
योगीश्वरोक्तेन=योगीश्वरनके कहे
भक्तिमार्गेण=भक्तिमार्गसों
यः=जो, यजेत्=भजन करे हे
सः=वो, एव=ही कलिजान्=कलिकालके
दोषान्=दोषनको
अतीत्य=पार करिके
परं=उत्तम, पदम्=फलकों
गच्छेत्=प्राप्त करे हे

भावार्थ : एसें (एकादशस्कन्धमें निरूपित) योगीश्वरोक्त भक्तिमार्गसों जो भगवानको भजन करे हे वो कलिदोषनको पार करिके उत्तम पदकों प्राप्त होत हे॥61॥

(ताहां भक्तिमार्गमें निषिद्ध एसी कछूक बातनको निरूपण)
नावैष्णवैः सह वसेन् न तैः संसर्गमाचरेत्॥
प्रसङ्गेषु हरिं ध्यायेत् ... ...

अवैष्णवैः=अवैष्णवके
सह=सङ्ग, न=न, वसेत्=रहे
तैः=विनको, संसर्गम्=संसर्ग
न=न, आचरेत्:करनो

भावार्थ : अवैष्णवनके सङ्ग न रहे, विनको संसर्ग हु न करे. क्वचित् सङ्ग होयवेपें हरिको ध्यान धरे. ...

... ... स्नायात् कर्मणि मन्त्रतः॥62॥
देहशुद्धिः सदा कार्या करशुद्धि: विशेषतः॥
स्वपात्रं भगवत्पात्रं स्नानपात्रं न मेलयेत्॥63॥

कर्मणि=कर्मनमे
मन्त्रतः=मन्त्रसों
स्नायात्=स्नान करनो
देहशुद्धिः=देहकी शुद्धि
सदा=सदा
कार्या=अवश्य करनी
करशुद्धिः=हाथनकी शुद्धि
विशेषतः=विशेषरूपसों, कार्या=करनी
स्वपात्रं=अपने बासन
भगवत्पात्रं=भगवत्सेवोपयोगी बासन
स्नानपात्रं=स्नानके बासन
न=नाहीं, मेलयेत्=मिलाने

भावार्थ : कर्ममें मन्त्रसों स्नान करे॥62॥

स्नानादिसों देहकी शुद्धि सदा राखनी. एसें ही दोउ हाथनकी शुद्धिहु विशेष सावधानी राखिके करनी. अपने उपयोगमें आतेबासन, भगवत्सेवोपयोगी बासन अरु स्नानके पात्रन् कों मिलाने नाहीं॥63॥

एवं वस्त्रेऽपि विज्ञेये *9शुद्ध्यशुद्धी स्ववैष्णवैः॥
गोपयेत् स्वागमाचारं पाकसेवां हरेरपि॥64॥

एवं=एसें, वस्त्रे=वस्त्रके विषे
अपि=हु,स्ववैष्णवैः=अपने वैष्णवन्सों
शुद्ध्यशुद्धी=शुद्धि तथा अशुद्धि
विज्ञेये=जानने
स्वागमाचारं=अपने
आगमशास्त्रोक्त आचार हरेः=हरिकी

पाकसेवां=रसोईकी सेवा
अपि=हु
गोपयेत्=गुप्त राखनी
भावार्थ : वस्त्रनके विषेहु एसें ही समजनो. स्वमार्गीय वैष्णवन्सों शुद्धि-अशुद्धिकी समझ लेनी. परम्परासों प्राप्त स्वमार्गीय अन्तरङ्ग आचार तथा प्रभुकी रसोई आदिकी सेवाकों हु अन्यन्सों गुप्त राखनी॥64॥

(भगवत्सेवामें व्यवहार्य शुद्ध वस्तूनको उपदेशः)
सौवर्णैः राजतैस् ताम्रैः पात्रैर् व्यवहरेत् परैः॥
पाके स्वीयान् सतीर्थ्यांश्च सवर्णान् सन्नियोजयेत्॥65॥

परैः=दूसरेन्सों/ऊत्तमसों
सौवर्णैः=सोनेके, राजतैः=चांदीके
ताम्रैः=तांबाके, पात्रै:=पात्रन्सों
व्यवहरेत्=व्यवहार करे
पाके=रसोईमें
स्वीयान्=परिजननको, (च=अरु)
सतीर्थ्यान्=समान गुरुवारे
सवर्णान्=समान वर्णके लोगनको
सन्नियोजयेत्=सम्मिलित करे

भावार्थ : सोने, चांदी, तांबा के पात्रनको व्यवहारमें लेवे. रसोईमें परिवारके लोगनको अरु समान गुरु होंय एसे समान वर्णके लोगनको सम्मिलित करे॥65॥

समर्प्यैव शुचिः पूर्वं हरयेऽन्यत्र योजयेत्॥
द्विमुखं शुचि पात्रं तु ह्यंशुकं लोमजं शुचि॥66॥

शुचिः=शुद्ध वस्तु
पूर्वं=प्रथम, हरये=हरिकों
समर्प्य=सर्पित करके,एव=ही
अन्यत्र=अन्य कोउ कार्यमें
योजयेत्=उपयोग करे पात्रं=पात्र, तु=तो

द्विमुखं=दो मुंहवारो(झारी/करवा)
शुचि=शुद्ध,लोमजं=ऊनसों बन्यो
हि=, अंशुकं=वस्त्र
शुचि=शुद्ध

भावार्थ : शुद्धवस्तु प्रथम प्रभूनको समर्पित करे ता पाछें अन्य कार्यमें उपयोग करे. स्नान-पान-प्रक्षालनादि कार्यके तांई दो मुंहवारे (झारी/करवा) पात्र शुद्ध माने जांय हें. एसें ही ऊनके वस्त्र शुद्ध माने जांय हें॥66॥

कार्पासमाहतं शुद्धं नवकौसुम्भयुक् शुचि:॥
विप्रैर्व्यवहृतं तीर्थम् आरामं च गृहं शुचि:॥67॥

कार्पासम्=सूतीवस्त्र
आहतं=धोयोभयो
शुद्धं=शुद्ध
नवकौसुम्भयुक्=नवीन-
लालरंग्योभयो, शुचि:=शुद्ध
विप्रैः=ब्राह्मणद्वारा
:जात हें

भावार्थ : सूती वस्त्र धोयो भयो, नवीन रङ्ग्यो भयो शुद्ध कह्यो जात हे. ब्राह्मणद्वारा उपयोगमें लियो जातो जल पवित्र मान्यो जात हे. एसें ही आराम (बगीची अर्थात् गामके बाहर उपवनमें निर्मित अतिथिनिवास) तथा घर शुद्ध कह्यो जात हे॥67॥

(भगवत्सेवामें जो परायण होंय तिनकों अन्यदेवाश्रय तो निषिद्ध होयवेपें हु अन्यदेवनको अपमान कबहु न करनो. तासों कहा-केसे करनो ताको प्रकार)

नान्यदेवं व्रजेद् नैव प्रसक्तौ ह्यपमानयेत्॥
तीर्थेषु तीर्थदेवानां भूदेवानां समर्चनम्॥68॥

अन्यदेवं=अन्यदेवके पास न=नाहीं, हि=ही, व्रजेत्=जाय
प्रसक्तौ=सम्मुख होय जांय तो
नैव=कबहु नाहीं
अपमानयेत्=अपमान करे

तीर्थेषु=तीर्थनमे
तीर्थदेवानां=तीर्थदेवनको
भूदेवानां=ब्राह्मणनको
समर्चनम्=पूजन, (कुर्यात्)=करे

भावार्थ : वैष्णवनको अन्य देवके पास कबहु न जानो. क्वचित् प्रसङ्गवश अन्य देवके सम्मुख होय जायें तब विनको अपमान कबहु न करे. तीर्थनमे तीर्थदेवतानको तथा पुरोहित ब्राह्मणनको सत्कार करे॥68॥

(कलियुगमें सन्यास , अग्निहोत्र आदि तो शक्य न होयवेतें स्मार्ताग्निकों धारण करनो)

सन्यास श्चाग्निहोत्रं च कलौ नैव यथाविधिः॥
सन्दिग्धधर्मसेवापि क्लेशायैवाल्पमेधसाम्॥69॥

कलौ=कलिकालमें
सक्क्यासः=सन्यास , च=अरु
अग्निहोत्रं=अग्निहोत्र
च=हु
यथाविधि=विधिकअनुसार
न एव=शक्य ही नाहिं(भवतः=हें)
अल्पमेधसाम्=अल्पबुद्धिवारे
सन्दिग्धधर्मसेवापि=सन्देहवारो धर्माचरण
क्लेशाय एव=क्लेशजनक ही
(भवति)=होत हे

भावार्थ : कलिकालमें सन्यास अरु अग्निहोत्र शास्त्रकी आज्ञा अनुसार शक्य नाहिं. अल्पबुद्धिवारे मनुष्य कर्तव्यके विषे सन्देहवारो होइके कछु धर्मकार्य करे तो वेसो धर्माचरण यथाविधि नाहीं होयवेतें क्लेशको ही कारण बनत हे॥69॥

समर्थस्तु तयोः कुर्याद् विद्वान् स्मार्ताग्निधारणम्॥
न्यासाश्रमात् पतन् मर्त्य आरूढपतितोऽगतिः॥70॥

समर्थः तु=सामर्थ्यवारो तो
विद्वान्=बुद्धिमान्,तयोः=दोयमेंते
स्मार्ताग्निधारणम्=स्मार्ताग्निको धारण
कुर्यात्=करे.
न्यासाश्रमात्=सक्क्यासाश्रमतें
पतन्=गिरवेतें, मर्त्यः=मनुष्य
आरूढपतितः=आरूढपतित बनि
अगतिः=सद्गतितेरहित(भवति=होतहे)

भावार्थ : तातें एसी विषम स्थितिमें समर्थ विद्वान् होय सो सन्यास अरु अग्निहोत्र के स्थानपें स्मार्त अग्निकों धारण करे. क्योंके अधिकार विनाहु जो सन्यास आश्रममें जात हे सो कोउ फलकों प्राप्त न करिके अरूढपतित होत हे॥70॥

यद्यप्येवं हि गार्हस्थ्यं वर्णधर्मेण दुष्करम्॥
तथाप्यायातपतितं तद् बिभृयाद् देहयात्रया॥71॥

एवंहि=याहि प्रकारसों
यद्यपि=यद्यपि
वर्णधर्मेण=वर्णधर्मसों
गार्हस्थ्यं (अपि)=गृहस्थधर्म हु
दुष्करम्=कठिन
(अस्ति)=हे,
तथापि=तोहु
आयातपतितं=आय पर्यो हे तातें
तद्=वाको
देहयात्रया=देहयात्राके साथ
बिभृयात्=निर्वहन करनो

भावार्थ : या प्रकार गृहस्थाश्रममें रहिके जो स्मार्ताग्निकों धारण करे हे वातें हु वर्णधर्मके अनुसार गृहस्थाश्रम यद्यपि कठिन हे तोहु क्योंके अनायास गृहस्थाश्रममें आय पर्यो हे तातें जेसें हु बनि आवे तेसें देहयात्राके साथ ताकों निर्वाह तो करे॥71॥

न गार्हस्थ्यं विना देह-यात्रा-धर्मोऽपि सिध्यति॥
अतस्तस्मिन् स्थितस्यैव यत्किञ्चित् सिद्धि-सम्भवः॥72॥

(यतः=क्योंके)
गार्हस्थ्यं=गृहस्थधर्म,
विना=विना
देह-यात्रा-धर्मः=देहयात्राके धर्म
अपि=हु, न=नाहीं
सिध्यति=सिद्ध होत हें अतः=तातें
तस्मिन्=वामें
स्थितस्य एव=रहे भयेकों ही
यत्किञ्चित्=कछुक
सिद्धि-सम्भवः=सिद्धिकी
सम्भावना, (भवति=रहतहे)

भावार्थ : गृहस्थाश्रमके विना पितृकर्म, पुत्रोत्पत्ति आदिके अभावमें देहयात्राके अन्य धर्महु सिद्ध होइ सकत नाहीं. अन्य आश्रमधर्म तो कालबलसों दुष्कर होय गये हें तब गृहस्थधर्ममें रहे भयेकों ही कछुक सिद्धि
प्राप्त होयवेकी सम्भावना शेष रहे हे॥72॥

आश्रमो द्विविधः कौर्मे तत्रोदासीनको गृही॥
आद्येऽपि नैष्ठिकश्चाक्त्ये वैष्णवोऽधिकृतस्ततः॥73॥

कौर्मे (पुराणे)=कूर्म पुराणमें
आश्रमः=गृहस्थाश्रम
द्विविधः=दो प्रकारको
प्रोक्तः=कह्यो हे
तत्र=तामें, एकः=एक
उदासीनकः='उदासीन'
अपरः=दूसरो
गृही='गृही' कहवावत हे
आद्ये=प्रथम ब्रह्मचर्याश्रममें
अपि=हु,नैष्ठिकः=निष्ठावारो,च=अरु

अक्त्ये=अन्तिम सक्क्यासाश्रममें
वैष्णवः=वैष्णव
अधिकृतः=अधिकारी
(इत्यपि=एसोहु=कह्यो,अस्ति=हे)

भावार्थ : कूर्मपुराणमें सब आश्रमनको श्रुतिसिद्ध द्वैविध्य बतायो हे. तामें प्रथम ब्रह्मचर्याश्रममें:
1.मरणपर्यन्त ब्रह्मनिष्ठ ह्वैके प्रथमाश्रममें रहिवेवारेकूं 'नैष्ठिक-ब्रह्मचारी' जाननो. अरु
2.विधिवद् वेदाध्ययन करिके गृहस्थाश्रममें जायवेकी इच्छावारेकूं 'उपकुर्वाण-ब्रह्मचारी' जाननो.

गृहस्थ हु 1.'उदासीन' अरु 2.'साधक' एसें दोय प्रकारको कह्यो हे. तामें कुटुम्बके भरण-पोषणादिमें फंस्यो भयो गृहस्थ 'साधक' कह्यो जात हे. अरु देव-ऋषि-पितरके ऋणनकु चुकायके घर-धन-परिवारकों छांडिके जो इकलो ही मोक्षेच्छासों विचरण करतो रहे वाकों 'उदासीन' कह्यो जात हे. एसें ही वानप्रस्थ हु 'तापस' अरु 'साक्क्यासिक' एसें दोय प्रकारके होत हें. सक्क्यासी हु 'पारमेष्ठिक' अरु 'भिक्षु' एसें दोय प्रकारके होत हें :

सर्वेषामाश्रमाणान्तु द्वैविध्यं श्रुतिदर्शितं।
ब्रह्मचार्युपकुर्वाणो नैष्ठिको ब्रह्मतत्परः॥
योऽधीत्य विधिवद् वेदान् गृहस्थाश्रममाव्रजेद्।
'उपकुर्वाणको' ज्ञेयो 'नैष्ठिको' मरणान्तिकः॥
'उदासीनः' 'साधक'श्च गृहस्थो द्विविधो भवेत्।
कुटुम्बभरणायत्तः साधकोऽसौ गृही भवेत्॥
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य त्यक्त्वा भार्याधनादिकम्।
एकाकी यस्तु विचरेद् उदासीनः स मौक्षिकः॥
तपस्तप्यति योऽरण्ये यजेद् देवान् जुहोति च।
स्वाध्याये चैव निरतो वनस्थः 'तापसो' मतः॥
तपसा कर्षितोऽत्यर्थं यस्तु ध्यानपरो भवेत्।
'साक्क्यासिकः' स विज्ञेयो वानप्रस्थाश्रमे स्थितः॥
योगाभ्यासरतो नित्यम् आरुरुक्षुर्जितेन्द्रियः।

ज्ञानाय वर्त्तते भिक्षु: प्रोच्यते 'पारमेष्ठिक:'॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यान् नित्यतृप्तो महामुनि:।
सम्यग्दर्शनसम्पन्न: स योगी 'भिक्षु'रुच्यते"॥
(कूर्मपुरा.2।76-84)

(द्विजेतर पुष्टिमार्गीयनके कर्तव्यको निर्देश)
शूद्रस्तु हिंस्रकार्येण निषिद्धस्याशनेन च॥
निवृत्तोऽसौ भजेत् कृष्णं महद्भिरनुकम्पितः॥74॥

शुद्र: तु=शूद्र तो
हिंस्रकार्येण=जामें जीवहिंसा होय
एसे कार्यसों, च=अरु
निषिद्धस्य=निषिद्धान्नके
अशनेन=भोजनसों
निवृत्तः=निवृत्त होयके
महद्भि:=बड़ेन्सों
अनुकम्पितः=कृपा प्राप्त करिके
असौ=या, कृष्णं=कृष्णकों
भजेत्=भजे

भावार्थ : द्विजेतर लोग जामें जीवहिंसा होय एसी आजीविका, कार्य आदिको तथा निषिद्ध भोजनको त्याग करिके बड़ेनकी कृपा प्राप्त करिके कृष्णभजन करनो॥74॥

स हितं हरिभक्तानां ब्राह्मणानां चरेद् गवाम्॥
पादसेवा च महतां यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः॥75॥

स=वो
हरिभक्तानां=भगवद्भक्तनको
ब्राह्मणानां=ब्राह्मणनको
गवाम्=गायनको
हितं=हित होय एसो
चरेत्=आचरण करे

महतां=बड़ेनके
पादसेवा=चरणनकी सेवा
च=हु, (तेन=वाकों
करणीया)=करनी चहिये
यद्वृत्त्या=जावृत्तिसों,हरिः=हरि
तुष्यते=प्रसन्न होत हें

भावार्थ : द्विजेतरकों भगवद्भक्त, ब्राह्मण अरु गायन् को हित होय एसे कार्य करने. भगवानने गीतामें द्विजेतरनको कार्य द्विजनकी परिचर्या बतायी हे सो करनी. एसे स्वधर्माचरणमें परायण होयवेपें हरि निश्चय ही प्रसन्न होत हें॥75॥

दानं व्रतं पैतृकं च शौचं शान्तिम् अथाश्रयेत्॥
हरिमेव भजेत् प्रेम्णा तेन सिध्यति सत्वरम्॥76॥

दानं=दान,व्रतं=व्रत
पैतृकं=श्राद्ध-तर्पणादि
शौचं=पवित्रता,अथच=अरु
शान्तिम्=सन्तोषरूप शान्तिको
आश्रयेत्=आश्रय करे
प्रेम्णा=प्रेमसों, हरिम्=हरिको
एव=ही, भजेत्=भजे
तेन=तातें,सत्वरम्=शीघ्र
सिध्यति=सिद्धि होत हे

भावार्थ : दान, व्रत, श्राद्ध-तर्पणादि पितृसम्बन्धी कार्य अवश्य करने. शास्त्रानुसार शुद्धि-पवित्रता अरु यथालाभ सन्तोषरूपा शान्ति राखनी. एसें करत प्रेम-भक्तिसों श्रीकृष्णको ही भजन करेतें शीघ्र सिद्धि प्राप्त होत हे॥76॥

न वेदश्रवणं कार्यं स्पर्धासूयादिनान्यतः॥
न्यग्भावेन प्रपन्नोऽसौ भवेद् दासो हरेर्गुरोः॥77॥

(तेन)=वाकों, अन्यतः=अन्यसों
स्पर्धासूयादिना=स्पर्धा-ईर्ष्या आदिसों
वेदश्रवणं=वेदको श्रवण
न=नाहीं, कार्यम्=करनो
न्यग्भावेन=दीनतासों
प्रपन्नः=शरणागत
असौ=ये
हरेर्गुरोः=हरि-गुरुको
दासः=दास, भवेत्=बने
भावार्थ : द्विजेतरनको अन्यन्सों स्पर्धा अथवा ईर्ष्या के भावसों जामें विनको अधिकार नाहीं हे एसो वेदको श्रवणादि नाहीं करनो. दीन भावसों शरणागत होयके हरि-गुरुको दास बनिके रहनो॥77॥

(स्त्रियनके भगवद्भजनकी रीतिको निरूपण)
सधवा भर्तृभावेन विधवा पुत्रभावतः॥
श्रीकृष्णं संश्रयेत् साध्वी जितचित्तेन्द्रिया शुचिः॥78॥

जितचित्तेन्द्रिया=चित्त-
इन्द्रियन्पें संयम वारी
शुचिः=पवित्र
साध्वी=सती
सधवा=सौभाग्यवती
भतृभावेन=पतिभावसों
विधवा=विधवा स्त्री
पुत्रभावतः=पुत्रभावसों
श्रीकृष्णं=श्रीकृष्णको
संश्रयेत्=आश्रय करे

भावार्थ : चित्त अरु इन्द्रियन् पें संयमवारी, पवित्र आचरणवारी साधुस्वभावकी सौभाग्यवती स्त्री पतिभावसों अरु विधवा स्त्री पुत्रभावसों श्रीकृष्णको आश्रय करे॥ 78॥

पति-पुत्रादि-बन्धूनाम् आनुकूल्येऽस्य सेवनम्॥
तदभावे भजेद् भक्त्या कीर्तनैः श्रवणैः स्मृतैः॥79॥

पतिपुत्रादि-बन्धूनाम्=पति,
पुत्रादि तथा बन्धुजन
आनुकुल्ये=अनुकूल होंय तो
अस्य=या(श्रीकृष्णस्य=श्रीकृष्णकी)
सेवनम्=सेवा
(कार्यम्=करनी)
तदभावे=वाके अभावमें
कीर्तनैः=कीर्तनसों
श्रवणैः=श्रवणसों
स्मृतैः=स्मरणसों
भक्त्या=भक्तिपूर्वक
भजेद्=भजन करे
भावार्थ : परिवारके पति-पुत्रादि परिजन तथा बन्धुजन यदि अपने अनुकूल होंय तो श्रीकृष्णकी स्वगृहमें सेवा करनी. वे लोग यदि अनुकूल न होंय तो भक्तिभावसों प्रभुके श्रवण कीर्तन अरु स्मरण करने॥79॥

तेषामेव तथात्वेतु परिचर्या समन्दिरात्॥
हरेर्गुरोः सम्भवति ह्यस्वतन्त्राः स्त्रियो यतः॥80॥

तेषाम्=विनके, एव=ही
तथात्वे=वेसे(प्रतिकूल)होयवेपें
तु=तो,
समन्दिराद् हरेः=कोउभगवत्स्वरूपके
देवालयस्थ होयवेके कारण
(अथवा)गुरोः=गुरुके कारण

परिचर्या=परिचर्या
(पूजा/सेवामेंबनिआवेसोपरचारगी)
सम्भवति=सम्भवहे,यतः=क्योंके
स्त्रिय:=स्त्रीजन,हि=तो
अस्वतन्त्राः=पराधीन
(भहें)

भावार्थ : प्राय: स्त्रीजन क्योंके अपनी इच्छानुसार कार्य करिवेकुं समर्थ होत नाहिं अत: यदि पति पुत्र आदि अरु बन्धुजन अनुकूल होंय तब ही विनके सङ्ग मिलिके घरमें श्रीकृष्णकी यथायोग्य सेवा-परिचर्या सम्भव होत हे. अन्यथा मर्यादामार्गीय विधिसों काहु देवालयमें बिराजमान भगवत्स्वरूपकी अर्चनामें अथवा पुष्टिमार्गीय गुरुकी भगवत्सेवामें परचारगी करिवेते स्त्रीजननकु थोड़ो-बहोत भजन शक्य हे॥80॥

स्वतन्त्रतायां दोषो हि स्त्रीणां सर्वत्र जायते॥
अतस्तया तथा भूत्वा हरिः सेव्यस्तदिच्छया॥81॥

स्त्रीणां=स्त्रीजननको स्वतन्त्रतायां=स्वतंत्रतासोंबरतवेपेंतो
हि=निश्चय,सर्वत्र=सबठिकानें
दोष:=दोष,जायते=होत हे
अतः=तातें,तया=विनकों
तथा=वेसे(अस्वतन्त्रैव=अस्वतन्त्र ही)
भूत्वा=रहि
तदिच्छया=परिवारजननकी इच्छाके
अनुसार अथवा भगवदिच्छानुसार
हरिः=हरिकी
सेव्यः=सेवा करनी चहिये

भावार्थ : पति-पुत्रादिक अनुकूल नाहीं होंय तथापि स्त्रीजन यदि विनकी इच्छासों विरुद्ध आचरण करत हें तब विनकी सर्वत्र निन्दा होत हे, तातें चित्तमें क्लेश होत हे. अत: जिनके आश्रित होंय विनके प्रतिकूल न होइके, प्रभुकी वेसी ही इच्छा हे एसी भावनासों धैर्य धारण करिके प्रभुको आन्तर भजन अथवा भगवत्सेवापरायण भगवदीयकी परिचारगीद्वारा भगवद्भजन करनो॥81॥

चित्रमात्रेऽपि सेवा स्यात् प्रतिबन्धे गुरोर्गिरा॥
छलेनापि भजन् कृष्णं मुच्यते गोपिकादिवत्॥82॥

प्रतिबन्धे=प्रतिबन्ध होयवेपें
गुरोः=गुरुकी
गिरा=आज्ञासों
चित्रमात्रे अपि=चित्रमात्रमें हु
सेवा=सेवा
स्यात्=होइ सकत हे
छलेन अपि=छलसों हु
कृष्णं=कृष्णकों, भजन्=भजवेतें
गोपिकादिवत्=गोपीजननके जेसें
मुच्यते=मुक्त होत हे

भावार्थ : प्रतिबन्ध होयवेपें (अथवा शिला-धातुसों निर्मित भगवत्स्वरूपकी सेवा करि सकवेकी अनुकूलता न होय तो) गुरुकी आज्ञा लेयके श्रीकृष्णके चित्रस्वरूपकी हु सेवा होइ सकत हे. कृष्णावतारमें कर्मकाण्डी ब्राह्मणनकी पत्निएं अपने पतीनकी आज्ञा विना, विनके विरोध करिवेपें हु प्रभूनको यज्ञकी सामग्री अरोगावे गयीं विनको हु उद्धार जेसें प्रभूनने कियो हतो तेसें वर्तमानमें हु ज्येष्ठ परिजननकी आज्ञा विना हु भगवत्सेवा करिवेतें उद्धार होत ही हे॥82॥

पुरुषापेक्षया स्त्रीणां हृदयं मृदु दृश्यते॥
अतस्तदनुरागोऽत्र सद्य एवाभिषज्यते॥83॥

पुरुषापेक्षया=पुरुषनकी अपेक्षा
स्त्रीणां=स्त्रीजननके
हृदयं=हृदय, मृदु=नरम
दृश्यते=देख्योजातहे,
अतः=तातें
तदनुरागो=विनको अनुराग

अत्र=यहां,सद्य=शीघ्र
एव=ही
अभिषज्यते=सिद्ध होय जात हे

भावार्थ : पुरुषनकी तुलनामें स्त्रीजननके हृदय कोमल होत हें. तातें प्रभुमें विनको अनुराग पुरुषनके करते शीघ्र होय जात हे॥83॥

कामदोषो हि नारीणां कनकानां यथा रजः॥
तज्जये विजितः कृष्णः कृष्णः स्त्रीणां प्रियो यतः॥84॥

कनकानां=सुवर्णमें
यथा=जेसें, रजः=रज
(दोषः=दोष, तथा)=तेसें
नारीणां=स्त्रीजननमे हु
हि=निश्चय, कामदोषः=कामदोष
(भवति)=होत हे.
तज्जये=ताकों जीतवेतें
कृष्णः=श्रीकृष्ण
विजितः(भवति)=जीते जात हें
यतः=क्योंके, कृष्णः=श्रीकृष्ण
स्त्रीणां=स्त्रीनको
प्रियः=प्रिय, (अस्ति)=हें

भावार्थ : सुवर्णको दोष जेसें रज होत हे तेसें स्त्रीनमे दोष काम होत हे. पुष्टिभक्ति तो क्योंके निर्गुण होत हे तातें कामभावपें विजय पावें तो स्त्रीजन निर्गुणभावसों शीघ्र ही प्रभूनको स्वाधीन करि सकत हें. श्रीकृष्णतो नहिंतो हु स्त्रीनको प्रीय होतहीहें!॥84॥

उदकी च प्रसूता स्त्री अशुचिश्च तथा पुमान्॥
दर्शन-स्पर्शनादीनि सेव्यमूर्तेर् विवर्जयेत्॥85॥

उदकी=मासिकधर्मवारी
च=अरु, प्रसूता=प्रसूता

स्त्री=स्त्री, तथा=अरु
अशुचिः=सूतकी/अपवित्र
पुमान्=पुरुष,
च=हु
सेव्यमूर्तेः=सेव्य मूर्तिके
दर्शन-स्पर्शनादीनि=दर्शनस्पर्श आदिको
विवर्जयेत्=त्याग करे.

भावार्थ : अटकाववारी किंवा जच्चा होय सो एसी स्त्री तथा सूतकी अरु अपवित्र अवस्थावारे स्त्री-पुरुष सेव्य प्रभुस्वरूपके दर्शन-स्पर्श आदि न करें॥85॥

(सेव्य भगवत्स्वरूपके प्रकार1 सेवाको प्रकार2 स्वरूपप्रतिष्ठाको प्रकार3 स्वरूपकी शुद्धिको प्रकार4 स्वरूप कहांते प्राप्त करनो ताको प्रकार5 इत्यादि विषयक उपदेश)

चित्रमूर्तिरविज्ञानां पराधीनात्मनामपि॥
शुचिश्लक्ष्णामपीच्यां च गुरुदत्तां भजेद् वरैः1॥86॥
तीर्थतोयैर्निजैर्मन्त्रैः संस्कृतां सुमनोहराम्॥
लघ्वीमेव भजेद् मूर्तिं यथालब्धोपचारकैः2॥87॥

शुचिश्लक्ष्णाम्=पवित्र अरु सुकुमार
च=अरु, अपीच्यां=अति सुन्दर
गुरुदत्तां=गुरुसों प्राप्त
(मूर्तिं)=भगवत्स्वरूपकों
भजेद्=भजे, वरैः=श्रेष्ठ तीर्थतोयैः=तीर्थके जलसों
निजै: मन्त्रैः=अपने मन्त्रसों
संस्कृतां=संस्कार करी भई
सुमनोहराम्=सुन्दर-मनोहर
लध्वीमेव=छोटी सी
मूर्तिं=भगवन्मूर्तिको
यथालब्धोपचारकैः=सहजतासों

उपलब्धवस्तून्सों,भजेद्=सेवाकरे.
अविज्ञानां=अल्पज्ञानीनको
पराधीनात्मनाम्=(तथा)
पराधीन लोगनको,अपि=हु
चित्रमूर्तिः=चित्रस्वरूप
(सेव्या=सेवायोग्यभवति=होतहे)

भावार्थ : पवित्र, सुकुमार अरु अति सुन्दर एसे गुरुसों प्राप्त भगवत्स्वरूपकी सेवा करनी. श्रीयमुनाजी जेसे श्रेष्ठ तीर्थके जलसों, सम्प्रदायपरम्परासों प्राप्त निजमन्त्रसों संस्कार करे भये सुन्दर मनोहर बहुत बड़े नहीं एसे भगवत्स्वरूपकी सहजतासों उपलब्ध वस्तून्सों सेवा करे. जिनकों सेवाविधि आदिको पूर्ण ज्ञान न होय ओर/अथवा पराधीन होयवेतें अन्य भगवत्स्वरूपकी सेवा करिवेकी अनुकूलता जिनकों न होय तिनकों चित्रस्वरूपकी सेवा करनी ही उचितहे॥86-87॥

नात्र प्राणप्रतिष्ठादि व्यापकत्वादजीवतः॥
स्थान-शुद्ध्यर्थमेवैतत् शब्दार्थमपि सद्गुरोः3॥88॥

व्यापकत्वात्=व्यापक होयवेतें
अजीवतः=जीवात्माकी न्यांई
केवल प्राणाध्यासयुक्त होयवेपेही
देहमें कहुं प्रविष्ट होयवेकी
क्षुद्रसामर्थ्य न होयवेतें
अत्र=यहां(मूर्तौः)=मूर्तिमें
प्राणप्रतिष्ठादि=प्राणप्रतिष्ठा
आदि संस्कारविधि
(आवश्यकः=
आवश्यक)
न=नाहीं हे, एतत्=ये
(संस्कारः)=संस्कार
स्थानशुद्ध्यर्थमेव=भौतिक-स्थान

(शिलाधातु आदि)की शुद्धिकेलिये
सद्गुरोः=सद्गुरुकी
शब्दार्थमपि=आज्ञाके
अर्थहु निरूपित भयेहें

भावार्थ : परब्रह्म श्रीकृष्ण तो सर्वव्यापक होयवेतें अरु मनुष्य-देवता आदीनके जेसें प्राकृत नाहीं होयवेतें श्रीकृष्णके सेव्यस्वरूपमें प्राणप्रतिष्ठा आदि शास्त्रीय विधि करिवेकी पुष्टिभक्तिसम्प्रदायमें आवश्यकता नाहीं. पूर्वश्लोकमें कहे संस्कार तो(जा शिला-धातु-काष्ठ आदिसों मूर्ति बनी हे वा)स्थानकी शुद्धिके अर्थ अरु गुरुकी आज्ञा प्राप्त करवेके अर्थ होतहे॥88॥

अशुचिस्पर्शने तस्याः तथा पञ्चामृतैरपि॥
होमैर्दानेन संशोध्या वैदिकेन निजात्मवत्च्इ4॥89॥

तथा=अरु,तस्याः=वाकों,
अशुचिस्पर्शने=अपवित्रकोस्पर्श
होयवेपें,निजात्मवत्=अपने जेसें
पञ्चामृतैः=पञ्चामृतसों
होमैः=होमसों,दानेन=दानसों
तथा=अरु,वैदिकेन=वैदिक
(कर्मणा=कर्मसों)अपि=हु
संशोध्या=शुद्ध करनी

भावार्थ : कबहुक सेव्य भगवत्स्वरूपकों अपवित्रको स्पर्श होय जाय अथवा कोई अवैष्णव वाके दर्शन करि जाय तो जेसें स्नानादिसों अपन् अपनी शुद्धि करत हें तेसें सेव्यस्वरूपकी शुद्धि हु पञ्चामृत, होम, दान तथा वैदिक कर्म आदिसों करनी॥89॥

गुरुदत्तां स्वयंलब्धां भक्तैरपि सुपूजिताम्॥
व्यङ्गाङ्गीमपि सेवेत यदि भावो न बाध्यते5॥90॥

गुरुदत्तां=गुरुके द्वारा पधराइ भई
स्वयंलब्धां=स्वयंकूं प्राप्त भई
भक्तैरपि=भक्तन्सों
सुपूजितां=सेवित
व्यङ्गाङ्गीम्=खण्डित,अपि=हु
(मूर्तिं=मूर्तिकी)सेवेत=सेवा करे
यदि=यदि भाव:=भाव
न बाधते=बाधित न होतो होय(तर्हि=तो)

भावार्थ : गुरुद्वारा पधराई, स्वयंकूं कहुंते प्राप्त भई होय, अथवा पूर्वमें अन्य कोउ भगवदीयने जाकी सेवा करी होय एसी अथवा
यदि भाव बाधित न होतो होय तो खण्डित होय गई होय एसी हु भगवन्मूर्तिकी सेवा करे॥90॥

(नित्यसेवाके स्वरूपके उपदेशको उपक्रम)

(1. उपक्रम)
प्रातरारभ्य मध्याह्नावधिः चैवापराह्णके॥
तत्तल्लीलानुभावेन भजेत् स्व-गुरु-सम्मताम्॥91॥

प्रातः=सवेरेसों
आरभ्य=आरम्भ करके
मध्याह्नावधिः=मध्याह्न पर्यन्त
चैव=अरु,अपराह्णके=सायंकालमें
तत्तल्लीलानुभावेन=तत्-तत्
लीलाकी भावनासों
स्वगुरुसम्मताम्=अपने गुरुकों सम्मत
(मूर्तिं=मूर्तिकों),भजेत्=भजे

भावार्थ ः : प्रात:कालसों आरम्भ करके मध्याह्न पर्यन्त तेसेंई सायंकालमें तत्तत्कालानुरूप प्रभून्की लीलाकी भावना करते भये अपने गुरुकी सम्मति होय एसे

भगवत्स्वरूपकी सेवा करे॥91॥

वस्त्रैश्च भूषणैर् गन्धैः नैवेद्यैर् व्यञ्जनैः शुभैः॥
देश-काल-विभूतीनाम् अनुसारेण सेवनम्॥92॥

देश-काल-विभूतीनाम्=देश,कालअरु-
द्रव्य के बारेमें अपनी सामर्थ्यके
अनुसारेण=अनुसार,शुभैः=शुभ
वस्त्रैः=वस्त्रन्सों,भूषणैः=आभूषणन्सों
गन्धैः=सुगन्धित पदार्थन्सों
च=अरु,नैवेद्यैः=निवेदनार्ह
व्यञ्जनैः=व्यञ्जनन्सों
सेवनम्=सेवा(कुर्यात्=करे)

भावार्थ : देश, काल अरु द्रव्य सम्बन्धी अपनी सामर्थ्यके अनुसार प्राप्त उत्तम वस्त्र, आभूषण, अत्तर-चन्दन-केशर-गुलाबजल आदि सुगन्धित पदार्थ तथा विविध प्रकारके आरोगायवेकी सामग्रीन् सों श्रीकृष्णकी सेवा करे॥92॥

प्रेम्णा परिचरेत् साधुः यावज्जीवं समाहितः॥
तेनास्य भावना-सिद्धिः यया स्यात् कृत-कृत्यता॥93॥

साधुः=सत्पुरुष,यावज्जीवं=जीवन पर्यन्त
समाहितः=एक चित्त होयके
प्रेम्णा=प्रेमसों
परिचरेत्=सेवाकरे,तेन=तातें
अस्य=याकी
भावना-सिद्धिः=भक्तिभावकी सिद्धि
(भवति=होत हे),यया=जातें
कृतकृत्यता=कृतकृत्यता,स्यात्=होतहै

भावार्थ ः सत्पुरुषकों जीवनपर्यन्त एकनिष्ठ होयके प्रेमसों श्रीकृष्णकी सेवा करनी. एसें सेवा करेतें भक्तिभाव दृढ़ होत हे. भक्तिके दृढ़ भयेतें भक्त कृतकृत्य होय जात हे॥93॥

(2.प्रात:कालमें जागरणके पश्चात्त भगवत्स्मरण1 स्नान2 शौच3 आचमन4 आदिके नियम)

प्रातः पाश्चात्ययामेऽसौ समुत्थाय शुचिर्धिया॥
स्मरेद् भगवतो लीलां गायेत् तस्य गुणान् गिरा॥94॥

प्रातः=सवेरे
पाश्चात्ययामे=पाछिले प्रहरमें
असौ=वो,समुत्थाय=जागिके
शुचिः=शुद्ध होयके
धिया=बुद्धिपूर्वक
भगवत:=भगवानकी लीलां=लीलाको
स्मरेत्=स्मरण करे
गिरा=वाणीसों
तस्य=विनके,
गुणान्=गुणनको
गायेत्=गान करे

भावार्थ ः सूर्योदयके पूर्व प्रहरमें जागिके शुद्ध होइ बुद्धिपूर्वक भगवानकी लीलाको स्मरण करे अरु वाणीसों भगवानके गुणनको गान करे॥94॥

प्रातः कृत्यं ततः कार्यं बहिर्गत्वा यथोदितम्॥
मुखशुद्धिस्ततो नित्यं सौगन्धाभ्यञ्जनं भवेत्॥95॥

ततः=ता पाछें
बहिः गत्वा=घरसों बाहिर जायके
यथोदितम्=शास्त्राज्ञानुसार
प्रातःकृत्यं=प्रात:कृत्य
कार्यम्=करनो
ततः=ता पाछें
मुखशुद्धिः=मुखकी शुद्धि
नित्यं=प्रतिदिन
सौगन्धाभ्यञ्जनं=सुगन्धी तेलसों

मालिश, भवेत्=होय.

भावार्थ ः ता पाछें घरसों बाहिर जायकें मलोत्सर्गादि देहकृत्य करने. मुखशुद्धि करनी. ता पाछें सुगन्धयुक्त तेलसों शरीरपें मालिश करनी॥95॥

मलस्नानं गृहे कार्यं तप्तोदकपरोदकैः॥
तस्योपरि श्रीयमुनाजलैः स्नानं स्तवैश्च वा।96॥
तीर्थस्थाने मलस्नानं कृत्वा तीरेऽभिमज्जनम्॥

गृहे=घरमें
मलस्नानं=मलस्नान
तप्तोदकपरोदकैः=समोये जलसों
अथवा परोदकसों,कार्यम्=करनो
तस्य=ताके,उपरि=ऊपर
श्रीयमुनाजलैः=श्रीयमुनाजलसों
वा=अथवा
स्तवै:च=स्तवनसोंहु स्नानं=स्नान
(कार्यं=पाछें,(एव=ही)
तीर्थस्थाने=तीर्थस्थानमें
तीरे=तटपें
अभिमज्जनम्=स्नान
(कर्तव्यम्=करनो)

भावार्थ ः घरमें मलस्नान समोये जलसों अथवा परोदकसों करनो. मलस्नान करे पाछें यदि उपलब्ध होय तो श्रीयमुनाजलसों अरु उपलब्ध न होय तो सामान्य जलसों ही स्नानमन्त्रके उच्चारपूर्वक स्नान करनो. अरु तीर्थमें स्नान तो मलस्नान करे पाछें ही करनो. सो काहेते जो शास्त्रमें निर्णय दियो है:

"नित्यं नैमित्तिकं चैव क्रियाङ्गं मलकर्षणं,
तीर्थाभावेतु कर्तव्यम् उष्णोदकपरोदकै:"
(आचारमयूख, मलापकर्षस्नानम् यमस्मृतिकारिका),
"स्नानं नदीदेवखातह्रदेषु च सरस्सु च,
पञ्चपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिणि"

(तत्रैव, अथ स्नानं, योगयाज्ञवल्क्यकारिका)

"परसत्ताके अनुत्सृष्टजले मृत्पिण्डपञ्चकोद्धरणाभावे न स्नायाद् इति अन्तिमार्धार्थः" (टीकायाम्).

(3. स्नान करे पाछें वस्त्रधारण करिवेकी1, घरकों लोटवेकी2, तिलक-छापा धारण करिवेकी3, भगवच्चरणामृत लेयवेकी4, तुलसीमाला धारण करिवेकी5, प्रातःसक्ध्या-जपकी रीति6)

ततस्तु धारणं शुद्धकौशेयाम्बरयुग्मयोः1॥97॥
पादुकाभिर्गृहे यानं स्पर्शनं नैव कस्यचित्त्रइ2॥

ततः=ता पाछें, तु=तो
शुद्धकौशेयाम्बरयुग्मयोः=शुद्धरेशमीदोवस्त्र
धारणं=धारण
(कृत्वा=करिके)
पादुकाभिः=पादुका पहरिके
गृहे=घर प्रति यानं=गमन(कर्तव्यम्=करनो)
कस्यचित्=काहुको
स्पर्शनं=स्पर्श
नैव=सर्वथा न
(कर्तव्यम्=करनो)

भावार्थ ः ता पाछें शुद्ध रेशमी वस्त्र धारण करिके, पांवनमे पादुका पहरिके घर आनो. बीचमें काहुको स्पर्श करनो नाहीं॥

कुमुमस्योर्ध्वपुण्ड्राणि द्वादशाङ्गेषु नामभिः॥98॥
शंख-चक्रादि-मुद्राश्च गोपी-चन्दन-मृत्स्नया3॥

द्वादशाङ्गेषु=बारह अङ्गन्पें
नामभिः=नामन्सों

कुमुमस्य=कुमुके, ऊर्ध्वपुण्ड्राणि=
ऊध्वपुण्ड्र तिलक करने
गोपीचनन्दन-मृत्स्नया=
गोपीचन्दनकी माटीसों
शंखचक्रादिमुद्राः=शंख-चक्रादि
मुद्रा, च=हु
(अमनीया)=अमित करनी
विशुद्धये=इन्द्रियनकी
आध्यात्मिक शुद्धिके अर्थ.

भावार्थ ः बारहों अङ्गन्पें भगवन्नामनको उच्चारण करते भये कुमुमसों ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक करने. गोपीचन्दनकी माटीसों शंख-चक्रादि साम्प्रदायिक मुद्रा हु अमित करनी. एसे करेतें इन्द्रियनकी भगवत्सेवाके लायक आध्यात्मिक शुद्धि होत हे॥

चरणामृतपानं च लेपश्चापि विशुद्धये4॥99॥
ततस्तु तुलसीमालां धृत्वा5 सक्ध्यां समाचरेत्च्इ6॥

चरणामृतपानं=चरणामृतको पान च=अरु, लेप: चापि=लेपहु
(कर्तव्यौ)=करने
ततः=ता पाछें, तु=तो
तुलसीमालां=तुलसीकी माला
धृत्वा=धारण करिके
सक्ध्यां=सक्ध्याकर्म
समाचरेत्=करनो.

भावार्थ ः ता पाछें प्रभूनके चरणामृत-जलको पान अरु अङ्गन्पें लेपन करनो. ता पाछें *तुलसीकी माला-कंठी धारण करिके सक्ध्या-जपादि करने.

(4. भगवत्सेवारम्भविधि)
परिचर्या हरेः कार्या परिवारजनैः सह॥100॥
गत्वा हरिपदं पद्भ्यां स्तुत्वा द्वारं प्रणम्य च॥
प्रविश्य मार्जनैर्लेपैः पात्राणां शोधनं चरेत्॥101॥

परिवारजनैः=परिवारजननके
सह=सङ्ग, हरेः=हरिकी
परिचर्या=सेवा,कार्या=करनी
हरिपदं=प्रभुके बिराजवेके स्थानमें
पद्भ्यां=पांवन्सों चलके
गत्वा=जायके
द्वारं=भगवन्मन्दिरके द्वारको
स्तुत्वा=स्तवन करिके
प्रणम्य=दण्डवत् प्रणाम करिके
च=अरु
प्रविश्य=भीतर प्रवेश करिके
मार्जनैः=मांजीके,लेपैः=लींपीके
पात्राणां=पात्रनकी
शोधनं=शुद्धि,चरेत्=करे

भावार्थ ः परिवारके लोगनके सङ्ग मिलिके प्रभूनकी सेवा-परिचर्या करे. पांवन्सों चलके प्रभूनके बिराजवेके स्थानकों जाय. भगवन्मन्दिरके द्वारनके आगें स्तुति-प्रणाम करिके मन्दिरके भीतर प्रवेश करे. सुवर्ण-रजतादिके पात्रनको मांजिके अरु माटीके पात्रनको लींपीके शुद्ध करे॥101॥

(5. भगवत्प्रबोधन)
सम्भृत्य सर्वसम्भारं प्रातराशादिपूर्वकम्॥
प्रबोध्य श्रीहरिं प्रेम्णा मुखशुद्ध्यंशुकादिभिः॥102॥
अलंकृत्य ततः सिंहासने समुपवेशयेत्॥

प्रातराशादिपूर्वकम्=मङ्गलभोगआदिसजायकें सर्वसम्भारं=सर्ववस्तु-सामग्री
सम्भृत्य=साजिके
श्रीहरिं=प्रभूनको,प्रेम्णा=प्रेमसों
प्रबोध्य=जगायके,मुखशुध्यंशुकादिभिः=
आचमन-मुखवस्त्र करायके

अलंकृत्य=अलमार आछी-
भांतिसों धरायके,ततः=तापाछें
सिंहासने=सिंहासनपें
समुपवेशयेत्=पधरावने

भावार्थ ः मङ्गलभोग, जलपानकी झारी आदि सर्व वस्तु पहिलेसों ही साजिके राखनी. ता पाछें प्रभूनको प्रेमसों जगावने. आचमन-मुखवस्त्र करायके अस्तव्यस्त भये आभूषणनको आछी भांतिसों धरायके प्रभूनको सिंहासनपें पधरावने॥

(मङ्गलभोग, आरती, स्नान की विधि)
हैयङ्गवीनपक्वान्नैः ताम्बूलैः सुजलैर्यजेत्॥103॥
ततो नीराजनं कार्यं मङ्गलं गीतवाद्यकैः॥

हैयङ्गवीनपक्वान्नैः=ताजो माखन,
पक्वान्नसों, सुजलैः=सुन्दरजलसों
ताम्बूलैः=बीरीसों,यजेत्=सेवा करे
ततः=ता पाछें,गीतवाद्यकैः=
गायन-वादन सहित,मङ्गलं=मङ्गल
नीराजनं=आरती,कार्यम्=करनी

भावार्थ ः मङ्गलभोगमें ताजो माखन, ठोर-मठरी आदि पक्वान्न, सुमधुर ताजा जल समर्पे. ता पाछें भोग सरायके बीरा समर्पे. समयानुरूप वाद्य सहित मङ्गलाके कीर्तन करे. पाछें मङ्गल आरतीकरे॥

अभ्यङ्गोन्मर्दनैः स्नानं गृहस्नानविधानतः॥104॥
स्तुत्वा कलिन्दजां स्नाते कुर्यात् सम्प्रोञ्छनांशुकम्॥

अभ्यङ्गोन्मर्दनैः=तेल-उबटन मलिके
गृहस्नानविधानतः=घरमें स्नानकरवेसम्बन्धिशास्त्रीय विधानसों
कलिन्दजां=श्रीयमुनाजीकी स्तुत्वा=स्तुतिकरिके
स्नानं=स्नान करावनो
स्नाते=स्नान होय जावेपें

सम्प्रोञ्छनांशुकम्=अङ्गवस्त्र
कुर्यात्=करावनो

भावार्थ ः सुगन्धित तेल-आंवरा-चन्दन-केशर आदि समर्पिके, घरमें स्नान करिवेके शास्त्रीय विधानसों, श्रीयमुनाजीकी स्तुति कररिके प्रभूनको स्नान करावने. तापाछें अति कोमल सूतिवस्त्रसों श्रीअंगपोंछनो॥

(शृंगार धराने, बीड़ा धरनो, आरसी दिखावनी, ऋतु-कालानुसार सजावट धरनी, पाछे गावत-बजावत दूप-दीप-आरती करती बिरियां यदि निजजन भक्त होंय तो तिनकों दर्शन कराने होंय तो कराने)

शृङ्गारं रङ्गितैर् वस्त्रैः चित्रैराभरणैरपि॥105॥
मायूरमुकुटै रम्यैः वेणुवेत्रैः सुमाल्यकैः॥
वितानैः प्रसरैः शुभ्रैः प्रतिसारैर्नवैर्नवैः॥106॥
जल-क्रीडोपस्करैश्च ताम्बूलामोद-दर्पणैः॥
व्यजनैर् जलभृङ्गारैः देशकालानुसारिभिः॥107॥
अलंकृत्यैव सप्रेम स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्॥
तौर्यत्रिकेन तत्रापि धूप-दीपादिनार्तिकम्॥108॥

(ततः=ता पाछें)रङ्गितैः=रंगे भये
वस्त्रैः=वस्त्रन्सों,चित्रैराभरणैः=
विविध आभरणसों,रम्यैः=सुन्दर
मायूरमुकुटैः=मोरपंखके मुकुटसों
वेणुवेत्रैः=बंसी-छड़ीसों
सुमाल्यकैः=सुन्दर मालासों
नवैः नवैः=नवीन-नवीन
शृङ्गारं=शृंगार(कृत्वा=करिके)शुभ्रैः=उज्वल
वितानैः=चंदोवा,प्रसरैः=बिछौना प्रतिसारैः=पिछवाई,च=अरु
जल-क्रीडोपसवस्तून्सों
देशकालानुसारिभिः=देश-काल
अनुसारी, सप्रेम=प्रेम सहित
अलंकृत्यैव=शृंगार धरायके

स्वीयान्=निज,भक्तान्=भक्तनको
प्रदर्शयेत्=दर्शन करावे
तत्र अपि=तहां हु
तौर्यत्रिकेन=नृत्य-गीत-वाद्यसों
धूपदीपादिना=धूप-दीप आदिसों आर्तिकम्=आरती(कुर्यात्=करे)

भावार्थ ः ता पाछें ऋतु-कालके अनुसार रंगे भये वस्त्र, विविध आभरण, सुन्दर मोरपंखके मुकुट, बंसी-छड़ी, सुन्दर माला अरु नवीन-नवीन आभूषण सों प्रभूनके शृंगार करे. उज्वल चंदोवा, बिछौना, पिछवाइ अरु जलक्रीडाकी वस्तु आदिकूं सजावे. ता पाछें नृत्य, गीत और वाद्य सहित धूप-दीप-आरती करती बिरियां यदि निजजन भक्त होंय तो तिनकों दर्शन कराने होंय तो करानें॥108॥

(6. भोग समर्पण, अवशिष्ट सक्ध्याजपादि)
ततो नानाविधैः शुद्धैश्चतुर्विध-सुभोजनैः॥
सम्भृतं स्वर्णपात्रन्तु हरेरग्रे निवेदयेत्॥109॥

ततो=ता पाछें
नानाविधैः=विविध प्रकारके
शुद्धैः=शुद्ध,चतुर्विध-सुभोजनैः=
चार प्रकारके स्वादिष्ट भोजनसों
सम्भृतं=पूर्ण
स्वर्णपात्रं=सोनेके पात्रकों
तु=तो, हरेः=हरिके
अग्रे=आगें,निवेदयेत्=पधरावे.

भावार्थ ः ता पाछें विविध प्रकारके लेह्य, चोष्य, पेय अरु खाद्य एसें चार्यों प्रकारके शुद्ध स्वादिष्ट भोजनसों पूर्ण सोनेके पात्रकों हरिके आगें पधरावे॥109॥

तुलसीं शंख-तोयेन गायत्र्यास्मिन् निधाय च॥
"एतत् समर्पितं देव भक्त्या मे प्रतिगृह्यताम्" ॥110॥
राजभोगं समप्यैवं, बहिर्गोग्रासम् आचरेत्॥
ततोऽवशिष्टं जाप्यादि माध्याह्निकम् इहाचरेत्॥111॥

अस्मिन्=यामें(पात्रे=पात्रमें)
शंख-तोयेन=शंखके जलसों
गायत्र्या=गायत्रीमन्त्रसों
तुलसीं=तुलसीकों,निधाय=पधरायके
च=अरु, हे देव=हे देव
मे=मेरेद्वारा
भक्त्या=भक्तिसों
समर्पितं=समर्पित,एतत्=ये
प्रतिगृह्यताम्=गृहण करो
(इति=एसें,निवेदनं=निवेदन
कुर्यात्=करे)एवं=अरु
राजभोगं=राजभोग
समर्प्य=समर्पिके
बहिः=बहार
गोग्रासम्=गोग्रास
आचरेत्=रहे
जाप्यादि=जप आदि
माध्याह्निकम्=मध्याह्नसक्ध्या
इह=यहां,आचरेत्=करे.

भावार्थ ः ता पाछें गायत्री मन्त्रके उच्चारणपूर्वक शंखके जलसों भोगके पात्रनमे तुलसी पधरायके विज्ञप्ति करे : “हे देव मेरेद्वारा भक्तिभावसों समर्पित ये भोग-समग्रीको स्वीकार करो”. या प्रकारसों राजभोग समर्पिके (श्रीनन्दरायजी-श्रीयशोदाजी श्रीकृष्णकों भोजन करावेतें पहिले भूतयज्ञके शास्त्रीयविधानानुसार गोग्रास देत हें वा भावसों) बहार गोग्रास देनों. ता पाछें शेष रहे जप आदि करने॥110-111॥

(7. राजभोग आरती अरु सेवानवसरके कार्य)
ततस्त्वाचमनं दत्वा ताम्बूलं माल्यजां स्रजम्॥
अपसार्य विशोध्यात्र नैवेद्यं जलमानयेत्॥112॥

ततः=ता पाछें, तु=तो
आचमनं=आचमन(कारयित्वा=करायके)

ताम्बूलं=बीरी
माल्यजां=बेनीसों सिद्ध करी भई
स्रजं=माला दत्वा=देयके
नैवेद्यम्=भोग
अपसार्य=सरायके,अत्र=यहां
विशोध्य=गीलो छन्ना फिरायके
जलम्=जल, आनयेत्=लावे
भावार्थ ः ता पाछें समय भये प्रभूनको आचमन करायके बीरा पुष्पमाला-पुष्पगुच्छ समर्पने. भोग धरे होंय सो सब सरायके वा स्थानकूं शुद्ध करनो. प्रभूनको अरोगायवेकूं जलकी झारी पधरावनी॥112॥

ततो राजविभूतीनाम् आदर्शैश्चामरैर्भजेत्॥
गीताद्युत्सवतो ह्येनं नीराज्य च प्रणम्य च॥113॥
हृदि कृत्वा पिधायास्य मन्दिरं बहिराव्रजेत्॥
स्रग्-गन्धादि शिरो-धृत्वा प्रणम्यैव गृहं व्रजेत्॥114॥
माध्याह्निकं समाप्यैव श्रीमद्भागवतं पठेत्॥

ततो=ता पाछें
राजविभूतीनां=राजविभूतिनकी
न्यांई, आदर्शैः=दर्पणसों
चामरैः=मोरछलचमरपंखान्सों
भजेत्=सेवा करे
गीताद्युत्सवत:=गीत-वाद्य-नृत्य
उत्सव आदिसों, हि=हु
नीराज्य=आरती करिके
च=अरु, प्रणम्य=प्रणामकरिके
च=अरु, एनं=ऐसेइनप्रभूनको
हृदि=हृदयमें
कृत्वा=धारण करिके
अस्य=इनके
मन्दिरं=मन्दिरकों

पिधाय=बन्द करिके
बहिः=बाहिर,आव्रजेत्=जाय
स्रग्-गन्धादि=माला-चन्दनादि
शिरो-धृत्वा=माथें चढ़ायके
प्रणम्यैव=प्रणाम करिके
गृहं=घरकों, व्रजेत्=जाय
माध्याह्निकं=मध्याह्नकालीनकर्मकों
समाप्यैव=पूर्ण करिके
श्रीमद्भागवतं=श्रीमद्भागवत
पठेत्=बांचे.

भावार्थ ः ता पाछें राजधिराज प्रभूनको दर्पण दिखावे, चामर ढुरावे, प्रभूनके आगें नृत्य-वाद्य सहित कीर्तन गान करे. मध्याह्न आरती करिके प्रभूनको प्रणाम करे. प्रभूनको हृदयमें धारण करिके भगवन्मन्दिरके द्वारनको मङ्गल करिके बाहिर जाय. भगवत्प्रसादरूप माला-बीरा-चन्दनादिकों माथें चढ़ायके द्वारकों प्रणाम करिके (अपने ही घरपरिसरमें स्थित भगवन्मन्दिरसों भिन्न अपने) निवासस्थानकों जाय. मध्याह्नकालीन कर्मकों पूर्ण करिके श्रीमद्भागवत बांचे॥114॥

(8. भगवन्महाप्रसाद ग्रहण करिके पाछें करिवेके कृत्य)
ततो भक्तजनेभ्योऽस्य प्रसादं शक्तितो भजेत्॥115॥
समागतेभ्यो विप्रेभ्यो दीनेभ्यश्च यथायथम्॥
दत्वा स्वीय-जनैर्भुक्तिः वैश्वदेवोऽपि तत्र वै॥116॥

ततः=ता पाछें
भक्तजनेभ्यः=भक्तजननको
अस्य=याको,प्रसादं=महाप्रसाद
शक्तितः=शक्ति अनुसार
भजेत्=देवे,समागतेभ्यः=आये भये
विप्रेभ्यः=ब्राह्मणनको
दीनेभ्यः=गरीबनको
च=हु,यथायथम्=कछुक-कछुक

दत्वा=देयके
वैश्वदेवः:पाछें घर आये भक्तजननको प्रभूनको महाप्रसाद शक्ति अनुसार देय. एसें ही आये भये ब्राह्मणनको अरु गरीबनको हु यथायोग्य महाप्रसाद-दान-दक्षिणा देवे. वैश्वदेव हु महाप्रसादसों ही करे. ता पाछें परिवारजनके सङ्ग भगवन्महाप्रसादको भोजन करे॥115-116॥

ततो वार्तां स्वकीयानां बहु-पापैरनाकुलाम्॥
यात्रार्थमेव सेवेत नाभिवेशोऽत्र सञ्चरेत्॥117॥
सम्पन्न-वृत्तिः भक्तानां शास्त्राणि परिभावयेत्॥
सर्वथा वृत्यभावेतु याममात्रं भजेद् हरिम्॥118॥
दरिद्रश्च कुटुम्बार्तः विद्वान् भागवतं पठेत्॥
अविद्वानस्य सेवायां साहाय्यं श्रवणं च वा॥119॥

ततः=तापाछें,बहुपापैः=बहुत पापसों
अनाकुलाम्=चित्तकों व्याकुल-
न करे एसी,स्वकीयानां=परिवारजनकी
वार्तां=बातचीत,(जीवन)यात्रार्थमेव=
जीवनव्यवहार चलायवेके अर्थ
सेवेत्=करे, अत्र=तामें
अभिवेशः=अभिनिवेश/लगाव
न=नाहीं,सञ्चरेत्=करे
भक्तानां=भक्तनके बीच
सम्पन्न-वृत्तिः=धनसम्पन्नहोयसो
शास्त्राणि=शास्त्रनको
परिभावयेत्=अवगाहन करे.
सर्वथा=पर्याप्त भलीभांति
वृत्यभावे=वृत्तिके अभावमें
तु=तो,याममात्रं=एकयाम
हरिं=प्रभूनकी,भजेत्=सेवाकरे
दरिद्रश्च=अत्यन्त गरीब,च=अरु
कुटुम्बार्तः=पारिवारिकप्रतिबन्धवारो

विद्वान्=पढ़्यो-लिख्योहोयतो
भागवतं=भागवतको
पठेत्=पाठ करे.
अविद्वान्=पढ़्यो-लिख्यो न
होय तोअस्य=विद्वान् भक्तकी
सेवायां=सेवामें,साहाय्यं=सहायता
च=अरु,श्रवणं=श्रवण
वा=हु(कुर्यात्=करे)

भावार्थ ः ता पाछें बहुत पापसों चित्तकों व्याकुल न करे एसी जीवनव्यवहार चलायवेमें उपयोगी अनिवार्य एसी परिवारजन सम्बन्धि बातचीत करे. परन्तु तामें अपने मनको अभिनिवेश/लगाव न राखे. धनसम्पन्न भक्तनको सेवाके अनवसरमें शास्त्रनको अवगाहन करनो. धनसम्पन्न न होय तो एक याम प्रभूनकी सेवा करिके शेष समयमें आजीविकाके उपाय करने. तामें हु जो असमर्थ एसो कोई अत्यन्त गरीब भक्त होय अरु पारिवारिक प्रतिबन्धवारो होय तातें यदि एक समय हु भगवत्सेवा करि न सके तो, पढ़्यो-लिख्यो होय तो, भागवतको पाठ करे. यदि पढ़्यो-लिख्यो न होय तो जो विद्वान् भक्त प्रभुसेवा करतो होय वाकी परिचर्या करे अरु वो जब भगवद्गुणगान, भागवतपाठ आदि करे तब वाको श्रवण करे॥119॥

(9. सायंकृत्यके पाछें प्रभूनके उत्थापनको प्रकार)

सायंसक्ध्याथ पुण्ड्राणि धृत्वा ताम्बूलतो मुखम्॥
संशोध्याचम्य शुद्धोऽसौ प्रभोरुत्थापनं चरेत्॥120॥
कन्दमूलैः फलैर्गव्यैः सुमाल्यैः सुजलैरपि॥
सन्तोष्य मुरजादीनां सङ्गीतेनापि तोषयेत्॥121॥
गायेद् भक्तकृतैः पद्यैः हृद्यैर्लीलारहस्यकैः॥
ततो नीराजयेन् नाथम् आयान्तं व्रजमण्डले॥122॥

अथ=अब
ताम्बूलतः=बीरीसों
मुखं=मुखकों
संशोध्य=शुद्ध करिके
आचम्य=आचमन करिके

पुण्ड्राणि=ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक
धृत्वा=धारण करिके
सायंसक्ध्या=सायंकालीन सक्ध्या
(कार्या)=करनी
शुद्धः=शुद्ध भयो भक्त
असौ=ये, प्रभोः=प्रभुके
उत्थापनं=उत्थापन,चरेत्=करे
कन्दमूलैः=कन्दमूल,फलैः=फल
गव्यैः=दूध-दही आदि
सुमाल्यैः=माला
सुजलै: अपि=जल हु सों
सन्तोष्य=प्रसन्न करिके
मुरजादीनां=मृदङ्ग आदिसों
सङ्गीतेन अपि=सङ्गीतसों हु
तोषयेत्=रिझावे
हृद्यैः=हृदयके भावसों
लीलारहस्यकैः=लीलारहस्यके
भक्तकृतैः=भक्तनके द्वारा रचित
पद्यैः=पद्यन्सों, गायेत्=गावे
ततः=तापाछें,व्रजमण्डले=व्रजमंडलमें
आयान्तं=पधारते भये
नाथं=प्रभून्की
नीराजयेत्=आरती करे.

भावार्थ ः ता पाछें आचमन करिके, बीरीसों मुखकों शुद्ध करिके, ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करिके सायंकालीन सक्ध्या करनी. एसें शुद्ध भयो भक्त प्रभुके उत्थापन समयकी सेवा करे. उत्थापन भोगमें कन्दमूल, फल, दूध-दही आदि समर्पे. माला धरावे. नवीन जलसों झारी भरे. मृदङ्ग आदि वाद्य-सङ्गीतसों प्रभून्को प्रसन्न करे. हृदयके भावसों भक्तनके द्वारा रचित लीलरहस्यके पद्यन्सों भगवल्लीलाको गान करे. ता पाछें व्रजमण्डलमें पधारते भये प्रभून्की आरती करे॥122॥

(10. शयनभोग, शयनारती आदि कृत्य)
सायंकालेऽपि नैवेद्यं यथा-विभव-विस्तरः॥
नीराजनं च शयनं यथायोग्यं विभावयेत्॥123॥

सायंकाले=संजाकालमें,अपि=हु
यथा-विभव-विस्तरः=सामर्थ्यानुसार-
यथायोग्य विस्तारसों
नैवेद्यं=भोग
नीराजनं=आरती
शयनं=शयन,च=अरु
यथायोग्यं=जेसें बनि आवे तेसें
विभावयेत्=करे.

भावार्थ ः संझा समय हु सामर्थ्यके अनुसार विस्तारसों भोग धरावने, आरती करनी अरु प्रभूनकों शयन करावने॥123॥

(11. सोयवेसों पूर्वके कृत्य)
सायंसक्ध्या-ऽऽहुतीश्चापि कृत्वा भुक्त्वा निवेदितम्॥
कथयेद् शृणुयाद् वापि लीलां भगवतोऽन्वहम्॥124॥
ततः शयीत शुद्धोऽसौ भावयन् भगवत्पदम्॥
सुतार्थिनी स्वपत्नी चेद् व्रजेत् तां जेतुमिन्द्रियम्॥125॥
इत्येवं यस्य दिवसा यान्ति भक्तस्य भूतले॥
सएव कृतकृत्योऽस्ति हरिस्तमनुश्लिष्यति॥126॥
सायंसक्ध्याहुतीः=सांझकीसक्ध्या
अरुहोम, चापि=हु
कृत्वा=करिके
निवेदितं=निवेदित
भुक्त्वा=भोजन करिके
अन्वहं=दिनके पाछिले समयमें
भगवतः=भगवानकी
लीलां=लीलाकों
कथयेद्=कहे, वा=अथवा

शृणुयाद् अपि=सुने हु
ततः=तातें,शुद्धः=शुद्ध
असौ=ये
भगवत्पदं=भगवानके चरणको
भावयन्=भावन करत-करत
शयीत=शयनकरे,स्वपत्नी=पत्नी
सुतार्थिनी=पुत्रकी कामनावारी
चेत्=यदिहोय
इन्द्रियं=इन्द्रियकूं
जेतुं=संयममें राखिवेकूं
तां=वाकेनिकट,व्रजेत्=जाय
इत्येवं=या प्रकारसों
भूतले=भूतलपें, यस्य=जा
भक्तस्य=भक्तको
दिवसाः=दिवस
यान्ति=व्यतीत होत हे
सएव=वोही
कृतकृत्यः=कृतकृत्य
अस्ति=हे
हरिः=हरि,तम्=वाकों
अनुश्लिष्यति=प्राप्त होत हें.

भावार्थ ः ता पाछें संझा समयके सक्ध्या-होम करिके प्रभूनको निवेदित करे महाप्रसादको भोजन करिके दिनके पाछिले समयमें प्रभूनकी लीलानको श्रवण-कीर्तन करे. या प्रकार दिनभर भगवदेकतान रह्यो शुद्ध भक्त भगवानके चरणनको भावन करत-करत शयन करे. पत्नी यदि पुत्रकी कामनावारी होय तो अपनी इन्द्रियें असंयत न होय जांय एसी भावनासूं वाके निकट जाय. या प्रकारसों भूतलपें जा भक्तको दिवस व्यतीत होत हे वो निश्चय ही कृतकृत्य हे, हरि वाकों प्राप्त होवें हें॥ 126॥

(ग्रन्थको उपसंहार)

इत्येवं भक्तिशास्त्रेषु यदाचारो निरूपितः॥
तदाचारं भजेदत्र नान्यथा गतिरिष्यते॥127॥

इति श्रीमद्भगवद्वदनावतार-श्रीवल्लभदीक्षिततनुज-श्रीगोपीनाथ-दीक्षित-विरचिता साधनदीपिका समाप्ता

इत्येवं=या प्रकारसों
भक्तिशास्त्रेषु=भक्तिशास्त्रमें
यद् आचारो=जो आचर
अत्र=यहां
निरूपितः=निरूपित भयो हे
तद् आचारं=वा आचारको
भजेद्=अनुसरण करेतें
अन्यथा=अन्यथा
गतिः=गति
न=नाहीं,इष्यते=इष्ट हे.

भावार्थ ः या प्रकारसों या भक्तिशास्त्रमें जो आचार निरूपित भयो हे वा आचारको अनुसरण करनो. यासों अन्य प्रकारसों आचरण भक्तनको इष्ट सिद्धिप्रद नाहीं हे.

इति श्रीमद्भगवद्-वदनावतार-श्रीवल्लभदीक्षित-तनुज-श्रीगोपीनाथ-दीक्षित-विरचित साधनदीपिकाको व्रजभाषा भावानुवाद समाप्त भयो

॥ श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचिता चतुःश्लोकी ॥

(पुष्टिमार्गीय जीवनके ऐहिक पारलौकिक सर्वविध हितनको करिवेवारे व्रजाधिप ही भजनीय हें)
सदा सर्वात्मभावेन भजनीयो व्रजेश्वरः॥
करिष्यति सएवास्मद् ऐहिकं पारलौकिकम्॥1॥

सदा=सदा
सर्वात्मभावेन=सर्वात्मभावके साथ

व्रजेश्वर:=व्रजके अधीश
भजनीयो=भजन करिवे लायक हें.
स=वे, एव=ही
अस्मद्=अपनो
ऐहिकं=या लोकके सम्बन्धी
(च)=अरु
पारलौकिकम्=परलोकसम्बन्धी
(हितं)=भलो, करिष्यति=करेंगे

भावार्थ : सर्वात्मभावसों सदा व्रजके अधीश श्रीकृष्णकी सेवा करनी चहिये. वे ही स्वीय भक्तनको या लोकके सम्बन्धी अरु परलोकसम्बन्धी भलो करेंगे.

(पुष्टिमार्गीयकों कबहु अन्याश्रय न करनों अरु स्वमार्गीयजननमे अनात्मभाव हु न राखनो)
अन्याश्रयो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः॥
स्वकीयेष्वात्मभावश्च कर्तव्यः सर्वथा सदा॥2॥

अन्याश्रयो=अन्यदेवनको आश्रय
न=नाहिं, कर्तव्यः=करनो
सः तु=वो अन्याश्रय तो
सर्वथा=सभी तरहसों
बाधकः=पुष्टिभक्तिमें बाधा
करिवेवारो(भवति)=होत हे.
च=अरु
स्वकीयेषु=स्वमार्गीय जननमे
सर्वथा=सभी तरहसों
सदा=सर्वदा
आत्मभावः=आत्मीयताको भाव
कर्तव्यः=निभावनो.

भावार्थ : अन्यदेवनको आश्रय कबहु नाहिं करनो. क्यों? जो अन्याश्रय पुष्टिभक्तिमें सभी तरहसों बाधा करिवेवारो होत हे. पुष्टिभक्तिमार्गीनको स्वमार्गीय जननमे सभी तरहसों सर्वदा आत्मीयताको भाव निभावनो॥2॥

सदा सर्वात्मना सेव्यः कृष्णः कालादिदोषनुत्॥
तद्भक्तेषु च निर्दोषभावेन स्थेयमादरात्॥3॥

सदा=सर्वदा
सर्वात्मना=सभी प्रकारसों
कालादिदोषनुत्=काल-कर्म-
स्वभावके दोषन्कू हरिवेवारे
कृष्णः=व्रजाधिप श्रीकृष्ण
सेव्यः=सेवनीय, च=अरु
तद्भक्तेषु=तिनके भक्तनमे
निर्दोषभावेन=दोषभाव लाये बिना
आदरात्=आदरभाव राखिके
स्थेयम्=रहेनो.

भावार्थ : सर्वदा सभी प्रकारसों काल-कर्म-स्वभावके दोषन्कू हरिवेवारे व्रजाधिप श्रीकृष्ण सेवनीय हें. अरु पुष्टिभक्तनको श्रीकृष्णके तिनके भक्तनमे दोषभाव लाये बिना आदरभाव राखिके रहेनो.

भगवत्येव सततं स्थापनीयं मनः स्वयम्॥
कालोऽयं कठिनोऽपि श्री-कृष्णभक्तान् न बाधते॥4॥

सततं=निरन्तर
स्वयम्=अपने प्रयाससों भगवति=भगवानमे
एव=ही
मनः=अपनो मन
स्थापनीयं=लगावनों
अयं=ये, कालो=कलिकाल
कठिनो=कठिन

अपि=भी (होयवेपे)
श्रीकृष्णभक्तान्=श्रीकृष्णके भक्तनको
न=नाहीं
बाधते=बाधा करत हे.

भावार्थ : निरन्तर प्रयत्न पूर्वक भगवानमे ही अपनो मन लगावनों. यदि एसें रह्यो जाय तो ये कलिकाल कठिन होयवेपेहु श्रीकृष्णके भक्तनको बाधा नाहीं करि सकेगो.

इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरविरचिता चतुःश्लोकीको
व्रजभाषा भावानुवाद समाप्त

॥पादानुक्रमणिका॥

(पुष्टिविधानम्)
भगवतः (सेवाफलम् 3) अग्नित्वं वर्णितं ते कविभिरपि सदा (श्रीवल्लभाष्टकम् 8) अग्रत: पत्युरेव (श्रीवल्लभाष्टकम् 3) अग्रेऽपि तादृशैरेव (संन्यासनिर्णय: 5) अघौघतमसावृतम् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 7) अङ्गीकृतौ समर्याद: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 10) अङ्गीकृत्यैव गोपीश- (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 10) अचिक्त्यमहिमाऽमेय: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 22) अजामिलाकर्णनवद् (जलभेद: 18) अजामिलादिदोषाणाम् (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 7) अज्ञातस्खलितानां च (साधनदीपिका 44) अज्ञानतिमिरान्धस्य (मङ्गलाचरणम् 3) अज्ञानादथवा ज्ञानात् (नवरत्नम् 4) अज्ञानाद्यन्धकारप्रशमनपटुता (श्रीवल्लभाष्टकम् 8) अञ्जस्तरति दुस्तराम् (साधनदीपिका 60) अत आदौ भक्तिमार्गे (संन्यासनिर्णय: 2) अत एवेतरौ भिन्नौ (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 11) अत: शिवश्च विष्णुश्च (बालबोध: 11) अत: सर्वोत्तमं स्तोत्रम् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 35) अत: स्थेयं हरिस्थाने (भक्तिवर्धिनी 8) अतः कलौ स संन्यासः (संन्यासनिर्णय: 16) अतः सर्वात्मना शश्वत् (चतु:श्लोकी 4) अतः सेवापरं चित्तम् (नवरत्नम् 7) अतः स्वधर्माचरणम् (साधनदीपिका 15) अतदीयतया चापि (बालबोध: 18) अतस्तदनुरोधेन (साधनदीपिका 22) अतस्तदनुरोधेन (साधनदीपिका 56) अतस्तस्मान् न मोचनम् (साधनप्रकरणम् 223) अतस्तस्मिन् स्थितस्यैव

(साधनदीपिका 72) अतस्तु ब्रह्मवादेन (सिद्धान्तमुक्तावली 12) अतस्तेष्वप्रतिग्राही (साधनप्रकरणम् 248) अतिगम्भीरतात्पर्यः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 13) अतिप्रियाय तदपि (बालबोधः 15) अतिसुन्दररूपाणि (साधनदीपिका 28) अतो मूलाभिषेको हि (साधनदीपिका 14) अतोऽत्र साधने भक्तौ (संन्यासनिर्णयः 6) अतोऽन्यविनियोगेऽपि (नवरत्नम् 3) अतोऽस्तु तव लालना (श्रीयमुनाष्टकम् 7) अत्यन्ताभिनिवेशश्चेत् (साधनप्रकरणम् 217) अत्यागे योगमार्गो हि (बालबोधः 9) अत्याग्रहप्रवेशे वा (साधनप्रकरणम् 247) अत्रापि वेदनिन्दायाम् (साधनप्रकरणम् 216) अत्रारम्भे न नाशः स्यात् (संन्यासनिर्णयः 18) अथवा सर्वदा शास्त्रम् (साधनप्रकरणम् 253) अथापि धर्ममार्गेण (साधनप्रकरणम् 215) अदूरे विप्रकर्षे वा (भक्तिवर्धिनी 8) अदेयदानदक्षश्च (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 11) अधमाः परिकीर्तिताः (पञ्चपद्यानि 4) अधर्मकरणात् तथा (साधनप्रकरणम् 216) अधिगतामनेकस्वनैः (श्रीयमुनाष्टकम् 3) अधुनातु कलौ सर्वे (साधनप्रकरणम् 212) अनन्तगुणभूषिते (श्रीयमुनाष्टकम् 4) अनन्यभक्तहृदयः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 5) अनन्यमनसो मर्त्याः (पञ्चपद्यानि 5) अनाग्रहश्च सर्वत्र (विवेकधैर्याश्रयः 5) अनात्मत्वं च भासते (भक्तिवर्धिनी 5) अनिर्वृता लोकवेदे (पञ्चपद्यानि 1) अनुकूलस्य संकल्पः (पञ्चश्लोकी 4) अनुकूले कलत्रादौ (पञ्चश्लोकी 3) अनुग्रहः पुष्टिमार्गे (सिद्धान्तमुक्तावली 18) अनुग्रहे नियोज्योऽतः (साधनदीपिका 55) अनेक क्षितिप श्रेणी (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 15) अनेकजन्मसंसिद्धाः (जलभेदः 12) अनेकमार्गसंक्लिष्ट (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 17) अन्तःकरण! मद्वाक्यम् (अन्तःकरणप्रबोधः 1) अन्तःकरणगोचरः (विवेकधैर्याश्रयः 3) अन्नस्य चात्मनश्चापि (साधनदीपिका 34) अन्यथा क्रूरता मता (निरोधलक्षणम् 14) अन्यथा पतितो भवेत् (संन्यासनिर्णयः 22) अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थात् (संन्यासनिर्णयः 21) अन्यथा मातरो बालान् (संन्यासनिर्णयः 19) अन्यथा रूपयन्ति (श्रीवल्लभाष्टकम् 3) अन्यथा सर्वदोषाणाम् (सिद्धान्तरहस्यम् 4) अन्यथातु कृतिर्व्यर्था (साधनदीपिका 22) अन्यथाभावमापन्नः (सिद्धान्तमुक्तावली 20) अन्यस्य भजनं तत्र (विवेकधैर्याश्रयः 14) अन्यान्यपि तथा कुर्यात् (साधनप्रकरणम्) अन्याश्रयो न कर्तव्यः (द्वितीया चतुःश्लोकी 2) अन्यासक्तास्तु ये केचित् (पञ्चपद्यानि 4) अन्येषां सम्भवेत्तु स्यात् (साधनप्रकरणम् 246) अपरं तत्र पूर्वस्मिन् (सिद्धान्तमुक्तावली 4) अपरिज्ञाननष्टेषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 5) अपेक्षितजलादीनाम् (सिद्धान्तमुक्तावली 15) अप्राकृतनिखिलधर्मरूपमिति (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 1) अप्राकृताखिलाकल्प (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 32) अभावत् तत्र दुःखभाक् (सिद्धान्तमुक्तावली 15) अभिमानश्च सक्त्याज्यः (विवेकधैर्याश्रयः 3) अभिमानान् नियोगाच्च (संन्यासनिर्णयः 4) अमत्सरैर् अलुब्धैश्च (निरोधलक्षणम् 16) अमृत्युम् अकरोत् क्षणात्

(श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 7) अरणमस्तु मे तत्पदम् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 7) अर्चनं प्रत्यहं तस्य (साधनदीपिका 29) अर्थैकनिष्ठास्ते चाऽपि (पञ्चपद्यानि 2) अलमुर्वीत सप्रेम (साधनप्रकरणम् 230) अलौकिकमनःसिद्धौ (विवेकधैर्याश्रय: 13) अलौकिकस्य दाने हि (सेवाफलम् 1) अलौकिकास्तु वेदोक्ता: (बालबोध: 3) अलौकिकेन ज्ञानेन (जलभेद: 9) अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता: (जलभेद: 7) अवश्येयं सदा भाव्या (सेवाफलम् 6) अविश्वासो न कर्तव्यः (विवेकधैर्याश्रय: 15) अवोचाम प्रमाणताम् (साधनप्रकरणम् 225) अव्यग्रात्मा सदा गतिः (साधनप्रकरणम् 250) अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णम् (भक्तिवर्धिनी 2) अशक्ये वा सुशक्ये वा (विवेकधैर्याश्रय: 11) अशक्ये हरिरेवास्ति (विवेकधैर्याश्रय: 9) अशक्ये हरिरेवास्ति (अन्त:करणप्रबोध: 10) अशून्या दिवसा यामाः (साधनदीपिका 46) अशूरेणाऽपि कर्तव्यम् (विवेकधैर्याश्रय: 8) अशेषभक्तसम्प्रार्थ्य (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 33) असतश्चाक्रमं सहेत् (विवेकधैर्याश्रय: 7) असमर्पितवस्तूनाम् (सिद्धान्तरहस्यम् 4) अहं निरुद्धो रोधेन (निरोधलक्षणम् 10) अहमारं न कुर्वीत (साधनप्रकरणम् 241) **अहङ्कारे** कृते चैव (विवेकधैर्याश्रय: 12) **अहङ्कारे** विमूढेषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 4) **अहङ्कारे** ऽथवा लोके (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 18) अहन्ताममतानाशे (बालबोध: 7) आ
आचारोऽपि प्रसज्यते (साधनदीपिका 19) आचार्यरत्नं सर्वानु (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 23) आज्ञा पूर्वं तु या जाता (अन्त:करणप्रबोध: 5) आज्ञैव कार्या सततम् (अन्त:करणप्रबोध: 4) आत्मनि ब्रह्मरूपे हि (सिद्धान्तमुक्तावली 12) आत्मनैवेद्यकार्पण्ये (पञ्चश्लोकी 5) आत्मप्रदः प्रियश्चाऽपि (संन्यासनिर्णय: 20) आत्मा वार इति श्रुत्या (साधनदीपिका 5) आत्मानन्दसमुद्रस्थम् (सिद्धान्तमुक्तावली 16) आद्येऽपि नैष्ठिकश्चाक्त्ये (साधनदीपिका 73) आनन्द: परमानन्द: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 7) आनन्दैकस्वरूपात् त्वदधिभु यदभूत् (श्रीवल्लभाष्टकम् 6) आनुष्टुभमिहच्छन्दः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 2) आपद्गत्यादिकार्येषु (विवेकधैर्याश्रय: 4) आमृते: सर्वत: सदा (विवेकधैर्याश्रय: 6) आम्नायोक्तं यदम्भो भवनमनलत: (श्रीवल्लभाष्टकम् 6) आरामं च गृहं शुचि: (साधनदीपिका 67) आरूढपतितोऽगतिः (साधनदीपिका 70) आर्तेष्वत्युग्रमोहासुरनृषु युगपत् (श्रीवल्लभाष्टकम् 5) आश्रमो द्विविधः कौर्मे (साधनदीपिका 73) आश्रयोऽतो निरूप्यते (विवेकधैर्याश्रय: 9) आसक्तौ भगवानेव (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 18) आसक्त्या स्याद् गृहारुचि: (भक्तिवर्धिनी 4) आसुरावेशसम्भवात् (साधनदीपिका 19) आह कृष्णोक्तमादितः (साधनप्रकरणम् 221) इ

इच्छामात्रेण मनसा (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 9) इति कृष्णप्रसादेन (संन्यासनिर्णय: 22) इति जीवेन्द्रियगता (जलभेद: 21) इति निश्चित्य मनसा (साधनप्रकरणम् 234) इति भागवतान् धर्मान् (साधनदीपिका 60) इति भागवतो धर्मः (साधनदीपिका 17) इति मे निश्चिता मतिः (संन्यासनिर्णय: 21) इति श्रीकृष्णदासस्य (अन्त:करणप्रबोध: 10) इति श्रीवल्लभोऽब्रवीत् (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 11) इति श्रुत्या तथा स्मृत्या (साधनदीपिका 13) इति षट्कर्मकृद् भवेत् (साधनदीपिका 20) इत्यानन्दनिधे: प्रोक्तम् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 33) इत्येवं कथितं सर्वं (बालबोध: 20) इत्येवं भगवच्छास्त्रम् (भक्तिवर्धिनी 11) इन्द्रियाणां हिताय वै (निरोधलक्षणम् 12) इन्द्रियाश्वविनिग्राहः (साधनदीपिका 16) इन्द्रियाश्वविनिग्राहः (साधनप्रकरणम् 238) इमानि नामरत्नानि (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 28) इयं तव कथाऽधिका (श्रीयमुनाष्टकम् 8) इयं श्रीरघुनाथस्य (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 31) इष्टं दत्तं तपो जप्तम् (साधनदीपिका 59) उ

उक्तां प्राप्नोत्यसंशयम् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 34) उक्तातिरिक्तवाक्यानि (जलभेद: 20) उग्रप्रतापो वाक्सीधु (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 15) उत्कर्षो गुणवर्णने (निरोधलक्षणम् 16) उत्तम: किं सदा स्थित: (अन्त:करणप्रबोध: 3) उत्तमः परिकीर्तितः (साधनप्रकरणम् 222) उत्तमाः श्रवणादिषु (पञ्चपद्यानि 5) उत्तमोत्तममेतद्धि (साधनप्रकरणम् 250) उत्पद्येत स वै भ्रमः (सेवाफलम् 8) उत्सवः सुमहान् यथा (निरोधलक्षणम् 3) उत्सवो यत्र वै हरेः (साधनप्रकरणम् 245) उदासीने स्वयं कुर्यात् (पञ्चश्लोकी 3) उदासीने स्वयं कुर्यात् (साधनप्रकरणम् 231) उद्धवागमने जात: (निरोधलक्षणम् 3) उद्धृतोदकवत् सर्वे (जलभेद: 20) उद्वेगः प्रतिबन्धो वा (सेवाफलम् 2) उपाधिनाशे विज्ञाने (सिद्धान्तमुक्तावली 13) उपासनादिमार्गाति (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 24) उभयोस्तु क्रमेणैव (सिद्धान्तमुक्तावली 19) उष्णत्वैकस्वभावोऽप्यतिशिशिरवच: (श्रीवल्लभाष्टकम् 5) ऊ

ऊर्ध्वपुण्ड्राणि मृन्मुद्रा (साधनदीपिका 38) ऋ

ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता (बालबोध: 8) ऋषिरग्निकुमारजः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 2) ऋषिरग्निकुमारस्तु (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 5) ए

एकं तस्माद् विलक्षणम् (सिद्धान्तमुक्तावली 3) एकं यामं हरौ नयेत् (साधनप्रकरणम् 232) एककालं द्विकालं वा (साधनप्रकरणम् 237) एकाकी निस्पृहः शान्तः (साधनप्रकरणम् 249) एकादश्यां महानिशि (सिद्धान्तरहस्यम् 1) एकादश्युपवासादि (साधनप्रकरणम् 245) एतत् सर्वं प्रयत्नेन (साधनप्रकरणम् 246) एतत् सहनम् अत्रोक्तम् (विवेकधैर्याश्रय: 9) एतदेवेति मे मतिः (सेवाफलम् 7) एतद्विरोधि यत्किञ्चित् (साधनप्रकरणम् 239) एतद् देहावसाने तु (साधनप्रकरणम् 234) एतद् बुध्वा विमुच्येत (सिद्धान्तमुक्तावली 21) एतन् मार्गद्वयं प्रोक्तम् (साधनप्रकरणम् 256)

एतादृशस्तु पुरुषः (साधनप्रकरणम् 219) एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् (जलभेद: 14) एतावन्मात्रताप्यस्ति (साधनप्रकरणम् 217) एवं चित्ते सदा भाव्यम् (विवेकधैर्याश्रय: 13) एवं ज्ञात्वा ज्ञानमार्गात् (निरोधलक्षणम् 16) एवं तस्मान् निरूपित: (सिद्धान्तमुक्तावली 19) एवं निरुद्धचित्तस्या- (साधनदीपिका 43) एवं योगीश्वरोक्तेन (साधनदीपिका 61) एवं वस्त्रेऽपि विज्ञेयम् (साधनदीपिका 64) एवं श्रीयदुनायकं किल घन- (मङ्गलाचरणम् 7) एवं सदा स्म कर्तव्यम् (चतु:श्लोकी 2) एवं सप्तविधा भक्तिः (साधनदीपिका 30) एवं सर्गस्तु तेषां हि (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 16) एवं स्वशास्त्रसर्वस्वम् (सिद्धान्तमुक्तावली 21) एवम् आश्रयणं प्रोक्तम् (विवेकधैर्याश्रय: 17) ऐ

ऐहिकं पारलौकिकम् (द्वितीया चतु:श्लोकी 1) ऐहिके पारलोके च (विवेकधैर्याश्रय: 10) क

कथनीयगुणाकरः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 13) कथमु हन्ति दुष्टानपि (श्रीयमुनाष्टकम् 6) कदाचिद् अपमानेऽपि (अन्त:करणप्रबोध: 2) कदाचिन् न तु सर्वदा (पञ्चपद्यानि 4) कमलजा सपत्नीव यत् (श्रीयमुनाष्टकम् 5) कमलजासपत्नि! प्रिये! (श्रीयमुनाष्टकम् 8) करणः शत्रुतापनः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 21) करशुद्धि: विशेषतः (साधनदीपिका 63) करिष्यति न संशय: (भक्तिवर्धिनी 10) करिष्टति सएवास्मत् (द्वितीया चतु:श्लोकी 1) करिष्यतीति विश्वासो (पञ्चश्लोकी 5) करिष्यन् प्रकटं हरि: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 3) कर्णयो: कर्णिकारम् (मङ्गलाचरणम् 8) कर्णराजद्विमुक्तम् (मङ्गलाचरणम् 11) कर्तव्य इति निश्चयः (निरोधलक्षणम् 19) कर्तव्य: सर्वथा सदा (द्वितीया चतु:श्लोकी 2) कर्तव्यं वेधवर्जितम् (साधनप्रकरणम् 245) कर्तव्यत्वाद् विचारणा (संन्यासनिर्णय: 2) कर्तव्यश्चेत् स नेष्यते (संन्यासनिर्णय: 3) कर्तुं बाधां कुतोऽपरे (संन्यासनिर्णय: 19) कर्मं त्यक्तुम् अशेषतः (साधनदीपिका 15) कर्मजाड्यभिदुष्णांशुः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 8) कर्मणा जायते यत: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 26) कर्ममार्गप्रवर्तकः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 18) कर्ममार्गे न कर्तव्यः (संन्यासनिर्णय: 2) कर्मशुद्धाः पल्वलानि (जलभेद: 7) कलिकालतमश्छन्न (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 2) कलिन्दगिरिमस्तके (श्रीयमुनाष्टकम् 2) कलिभुजङ्गमासादितम् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 7) कलौ च खलधर्मिणि (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 1) कलौ नैव यथाविधिः (साधनदीपिका 69) कलौ भक्त्यादिमार्गा ही (विवेकधैर्याश्रय: 17) कल्पद्रुमनवामुरः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 9) कल्पितैरेव बाधः स्यात् (साधनप्रकरणम् 225) कश्चिदेव हि भक्तो हि (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 4) का ममाधमता भाव्या (अन्त:करणप्रबोध: 3) कादाचित्काः शब्दागम्याः (जलभेद: 9) कापट्यात् तेषु नान्यथा (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 20) कामचारस्तु लोकेऽस्मिन् (सिद्धान्तमुक्तावली 11)

कामशास्त्राणि च क्रमात् (बालबोधः 4) कायवाङ्मनसा त्यजेत् (विवेकधैर्याश्रयः 8) कायेन तु फलं पुष्टौ (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 10) कारयेद् भगवत्क्रियाम् (साधनप्रकरणम् 231) कार्पासमाहतं शुद्धम् (साधनदीपिका 67) कार्यस्तेनास्य सेवने (साधनदीपिका 14) कार्यौ शास्त्रप्रवर्तकौ (बालबोधः 12) कालिन्दीं स्वगुरुं गिरिं गुरुविभुम् (मङ्गलाचरणम् 7) कालिन्दीपुलिनप्रियः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 10) कालोऽयं कठिनोऽपि श्री- (द्वितीया चतुःश्लोकी 4) किं वा प्रोक्तेन बहुना (विवेकधैर्याश्रयः 16) किं स्याद् इति विचारय (अन्तःकरणप्रबोधः 9) किन्तु हीनेषु जायते (साधनप्रकरणम् 216) किमर्थं मोहयिष्यति (संन्यासनिर्णयः 20) कीर्तनं सुखदं सदा (निरोधलक्षणम् 5) कीर्तयेद् अन्यथैकलः (साधनदीपिका 27) कीर्त्यमानः सुखाय हि (निरोधलक्षणम् 4) कुर्याद् उच्चावचान्यपि (विवेकधैर्याश्रयः 16) कुर्वे साधनदीपिकाम् (साधनदीपिका 4) कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः (जलभेदः 3) कुसृष्टिरत्र वा काचित् (सेवाफलम् 8) कूपभेदास्तु यावन्तः (जलभेदः 3) कृतम् आत्मनिवेदनम् (नवरत्नम् 4) कृताखिलशरीरभृत् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 29) कृतार्थः स निगद्यते (बालबोधः 7) कृतार्थः स्यात् तदैव हि (भक्तिवर्धिनी 5) कृतार्थः स्यान् न संशयः (साधनप्रकरणम् 234) कृतार्थोऽसि सुखी भव (अन्तःकरणप्रबोधः 8) कृतिर्विजयतेतराम् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 31) कृते स्वान्वयकृत् पिता (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 22) कृपयैतत्कथाप्रदः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 17) कृपाजलधिसंश्रिते (श्रीयमुनाष्टकम् 4) कृपादृग्वृष्टिसंहृष्ट (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 14) कृपानन्दः सुदुर्लभः (निरोधलक्षणम् 8) कृपायुक्तस्य तु यथा (साधनप्रकरणम् 226) कृपायुक्तो यदा भवेत् (निरोधलक्षणम् 7) कृष्णं परिचरेत् सदा (साधनप्रकरणम् 234) कृष्णं विज्ञापयाम्यहम् (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 10) कृष्णः कालादिदोषनुत् (द्वितीया चतुःश्लोकी 3) कृष्णः संसारमोचकः (पञ्चश्लोकी 1) कृष्णः संसारमोचकः (साधनप्रकरणम् 251) कृष्णएव गतिर् मम (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 1-9) कृष्णनामसहस्रस्य (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 20) कृष्णप्रेमा विमुक्तिदः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 17) कृष्णभक्तान् न बाधते (द्वितीया चतुःश्लोकी 4) कृष्णभक्तिप्रवर्तकः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 7) कृष्णमात्रैकमानसे (साधनप्रकरणम् 218) कृष्णमेव विचिन्तयेत् (सिद्धान्तमुक्तावली 16) कृष्णलीलारसाविष्टः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 4) कृष्णलीलैकसर्वस्वः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 11) कृष्णवर्त्मसमुद्भवः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 9) कृष्णसेवा सदा कार्या (सिद्धान्तमुक्तावली 1) कृष्णसेवापरं वीक्ष्य (साधनदीपिका 10) कृष्णसेवापरं वीक्ष्य (साधनप्रकरणम् 227) कृष्णसेवारसाब्धिः (श्रीवल्लभाष्टकम् 6) कृष्णस्य सर्ववस्तूनि (निरोधलक्षणम् 12) कृष्णात्मा स्वसमर्पकः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 26) कृष्णात् परं नास्ति दैवम् (अन्तःकरणप्रबोधः 1) कृष्णाधरामृतास्वाद-

(श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 6) कृष्णानुग्रहसंल्लभ्य: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 17) कृष्णार्थं तत्प्रयुञ्जीत (साधनप्रकरणम् 252) कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत (पञ्चश्लो. 1) कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत (साधनप्रकरणम् 251) कृष्णाश्रयम् इदं स्तोत्रम् (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 11) कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम् (सिद्धान्तमुक्तावली 12) कृष्णे सर्वात्मके नित्यम् (साधनप्रकरणम् 241) कृष्णे स्वात्मनि निश्चय: (सिद्धान्तमुक्तावली 11) कृष्णो हि यत् साक्षिकम् (मङ्गलाचरणम् 9) कृष्णोऽनर्थस्य वारकः (साधनप्रकरणम् 252) केवलश्चेत् समाश्रित: (बालबोध: 18) केवलान्धन्तमोगा: (श्रीवल्लभाष्टकम् 3) कोटिष्वपि सुदुर्लभः (साधनप्रकरणम् 219) कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता: (संन्यासनिर्णय: 8) क्रान्तसर्वोऽपि शश्वत् (श्रीवल्लभाष्टकम् 1) क्रियमाणं तथाचारं (साधनप्रकरणम् 213) क्रियमाणे न धर्मः स्यात् (साधनप्रकरणम् 223) क्रिया सा सापि स्यात् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 4) क्रीडार्थम् असृजत् पूर्वम् (साधनदीपिका 52) क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वा (निरोधलक्षणम् 7) क्लिष्टो भवति सर्वथा (सिद्धान्तमुक्तावली 16) क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णम् (सिद्धान्तमुक्तावली 17) क्लेशायैवाल्पमेधसाम् (साधनदीपिका 69) क्वचित् पाण्डित्यं चेत् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 4) क्वाप्युपाहर्तुम् इच्छ- (श्रीवल्लभाष्टकम् 4) क्षणात् सर्वत्वमायान्ति (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 22) क्षणेन परितोषितः (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 6) क्षान्तिरार्जवमेव च (साधनदीपिका 39) क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः (जलभेद: 16) क्षार्तितापो जनेषु (श्रीवल्लभाष्टकम् 7) क्षितिमण्डलमण्डनः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 20) क्षेत्रप्रविष्टास्ते चाऽपि (जलभेद: 4) ख
ख्यापनाय त्रिलोक्याम् (श्रीवल्लभाष्टकम् 8) ग
गङ्गातीरस्थितो यद्वत् (सिद्धान्तमुक्तावली 13) गङ्गात्वं सर्वदोषाणाम् (सिद्धान्तरहस्यम् 8) गङ्गात्वेन निरूप्या स्यात् (सिद्धान्तरहस्यम् 9) गङ्गादितीर्थवर्येषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 3) गङ्गादितीर्थवर्येषु (साधनदीपिका 37) गङ्गायां च विशेषण (सिद्धान्तमुक्तावली 7) गङ्गासागरसङ्गमे (अन्त:करणप्रबोध: 5) गणितानन्दकं बृहत् (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 8) गतः प्रेमप्लुतः सदा (साधनप्रकरणम् 219) गतिसाधनसंयुतम् (साधनप्रकरणम् 256) गन्धर्वा इति विश्रुताः (जलभेद: 2) गर्भाधानादिसंस्कारैः (साधनदीपिका 18) गर्भाधानादिसंस्कारैः (साधनदीपिका 23) गायका 'गर्त'सञ्ज्ञिताः (जलभेद: 4) गायकाः कूपसमाशा (जलभेद: 2) गीतसङ्गीतसागरः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 23) गीता संक्षेपतस् तस्या (साधनप्रकरणम् 221) गुणक्षोभेऽपि दृष्टव्यम् (सेवाफलम् 7) गुणगाने सुखावाप्ति: (निरोधलक्षणम् 6) गुणदोषादिवर्णना (सिद्धान्तरहस्यम् 8) गुणभेदास्तु तावन्त: (जलभेद: 2) गुणस्वरूपभेदेन (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 17) गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः (जलभेद: 8) गुणा विष्णोर्निरूपिताः

(जलभेद: 21) गुणातीतं गुणनिधिम् (मङ्गलाचरणम् 10) गुणातीततया शुद्धान् (जलभेद: 16) गुणास्तु सङ्गराहित्यात् (संन्यासनिर्णय: 12) गुणेष्वाविष्टचित्तानाम् (निरोधलक्षणम् 13) गुणैरन्यः को वा (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 4) गुणैर् हरेः सुखस्पर्शात् (निरोधलक्षणम् 15) गुरवः साधनं च तत् (संन्यासनिर्णय: 8) गुरुं प्रपद्येद् अन्यस्तु (साधनदीपिका 23) गुरुणा कर्णधारेण (साधनदीपिका 11) गुरुसेवा गुरोराज्ञा (साधनदीपिका 47) गुरौ भयं गुरौ सिद्धिः (साधनदीपिका 47) गुरौ श्रीहरिभावना (साधनदीपिका 47) गूढतत्वं निरूपितम् (भक्तिवर्धिनी 11) गृहं सर्वात्मना त्याज्यम् (पञ्चश्लो. 1) गृहं सर्वात्मना त्याज्यम् (साधनप्रकरणम् 251) गृहस्थस्य प्रकीर्तितम् (साधनप्रकरणम्) गृहस्थस्यातिथिर्यस्मात् (साधनदीपिका 35) गृहस्थानं विनाशकम् (भक्तिवर्धिनी 6) गृहस्थानां बाधकत्वम् (भक्तिवर्धिनी 5) गृहादेर्बाधकत्वेन (संन्यासनिर्णय: 4) गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः (भक्तिवर्धिनी 2) गोकुले गोपिकानां च (निरोधलक्षणम् 2) गोकुलेशं भजन्ते (श्रीवल्लभाष्टकम् 8) गोकुलेश्वरपादयोः (चतु:श्लोकी 4) गोपगोगोपिकाप्रियः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 24) गोपयेत् स्वागमाचारम् (साधनदीपिका 64) गोपिकानान्तु यद्दुःखम् (निरोधलक्षणम् 1) गोपिकाविरहाविष्टः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 26) गोपीसम्बन्धिसत्कथः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 13) गोब्राह्मणप्राणरक्षापरः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 16) गोवर्धनस्थित्युत्साहः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 29) गोवर्धनागमरतः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 10) गोवर्धनाचलसख: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 24) गोवर्धनाद्रिमखकृन् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 11) गोविन्दरायाभिधम् (मङ्गलाचरणम् 7) गोविन्दस्य प्रजायते (निरोधलक्षणम् 6) गौरमम्भोञ्जवक्त्रम् (मङ्गलाचरणम् 11) ग्रहकृन् मन्त्रवित्तमः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 23) घ

घनाघननिभे सदा (श्रीयमुनाष्टकम् 4) घोषाधीशं तदेमे कथमपि मनुजा: (श्रीवल्लभाष्टकम् 2) च

चक्षुरुन्मीलितं येन (मङ्गलाचरणम् 3) चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च (मङ्गलाचरणम् 5) चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा (मङ्गलाचरणम् 5) चतुर्वर्गविशारद: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 30) चत्वारोऽर्था मनीषिणाम् (बालबोध: 2) चरणाब्जरजोधन: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 33) चर्षणीशब्दवाच्यास्ते (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 22) चाण्डाली चेद् राजपत्नी (अन्त:करणप्रबोध: 2) चाद्यः सिद्ध्येन् मनोरथः (सेवाफलम् 1) चानन्दैकस्वरूपस्तदखिलमुचितम् (श्रीवल्लभाष्टकम् 6) चारुहासे करोति (श्रीवल्लभाष्टकम् 4) चित्तं प्रति यदाकर्ण्य (अन्त:करणप्रबोध: 11) चित्तोद्वेगं विधायाऽपि (नवरत्नम् 8) चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् (नवरत्नम् 3) चिन्ता काऽपि न

कार्या (नवरत्नम् 1) चिन्तासन्तानहन्तार: (मङ्गलाचरणम् 1) चिन्तितज्ञो महाबुद्धि: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 24) चेतस्तत्प्रवणं सेवा (सिद्धान्तमुक्तावली 2) छ
छले साध्येऽपि दुःखत: (साधनप्रकरणम् 224) छिद्रा व्योम्नीव चेतना: (सिद्धान्तमुक्तावली 12) ज
जगतो हितकारकौ (बालबोध: 11) जगत् तु त्रिविधं प्रोक्तम् (सिद्धान्तमुक्तावली 10) जगदाश्चर्यरसकृत् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 25) जगद्विषयसागरे (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 7) जगद्वन्द्यपदाम्बुजः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 24) जगन्नाथे द्वारिकायाम् (साधनदीपिका 36) जगन्नाथे विट्ठले च (साधनप्रकरणम् 255) जडनारदमैत्राद्या: (जलभेद: 15) जडवद्गोपभार्यवत् (विवेकधैर्याश्रय: 6) जनशिक्षाकृते कृष्ण- (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 12) जन्मप्रभृति सर्वदा (जलभेद: 12) जप्यं कृष्णरसार्थिभि: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 35) जयतिपद्मबन्धो: सुता (श्रीयमुनाष्टकम् 2) जयन्ती तूदयेऽन्येन (साधनदीपिका 31) जलार्थमेव गर्तास्तु (जलभेद: 5) जातशिक्षः यवीयोभ्यः (साधनदीपिका 27) जाता राज्ञा च मानिता (अन्त:करणप्रबोध: 2) जिह्वोपस्थपरायणाः (साधनप्रकरणम् 213) जीवदेहकृतीनां च (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 7) जीवदेहक्रियाभेदै: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 1) जीवनार्थं भवन्ति हि (संन्यासनिर्णय: 12) जीवस्वास्थ्यप्रदो महान् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 17) जीवा: स्वभावतो दुष्टा: (बालबोध: 16) जीवास्ते ह्यासुरा: सर्वे (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 24) जीवेश्वरविचारेण (बालबोध: 2) ज्ञातलीलोऽतिमोहन: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 27) ज्ञानं गुणांश्च तस्यैवम् (संन्यासनिर्णय: 9) ज्ञानं च साधनापेक्षम् (संन्यासनिर्णय: 15) ज्ञानमार्गे तु संन्यास: (संन्यासनिर्णय: 14) ज्ञानाञ्जनशलाकया (मङ्गलाचरणम् 3) ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग: (सिद्धान्तमुक्तावली 19) ज्ञानार्थम् उत्तरङ्गश्च (संन्यासनिर्णय: 15) ज्ञानाऽभावे पुष्टिमार्गी (सिद्धान्तमुक्तावली 17) ज्ञानिनामपि वाक्येन (संन्यासनिर्णय: 20) ज्ञापिताऽखिलमाहात्म्यः (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 7) ज्ञेयं सा जलरूपिणी (सिद्धान्तमुक्तावली 5) ज्यायोभ्यः शृणुयात् सदा (साधनदीपिका 27) त
तं प्रपद्ये हुताशम् (श्रीवल्लभाष्टकम् 1) तं भजेत्-"तं रसेदि"ति (साधनदीपिका 5) तं ह देवम् आत्मबुद्धिप्रकाशम् (साधनदीपिका 12) तक्रवद्देहवद्भाव्यम् (विवेकधैर्याश्रय: 6) तच्च सत्यं विभो! यत् (श्रीवल्लभाष्टकम् 6) तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते (पञ्चश्लो. 1) तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते (साधनप्रकरणम् 251) तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते (साधनप्रकरणम् 252) तटस्थ नवकानन (श्रीयमुनाष्टकम् 1) तत: प्रेम तथाऽऽसक्ति: (भक्तिवर्धिनी 3) तत: संसारदु:खस्य (सिद्धान्तमुक्तावली 2) ततः किमपरं ब्रूहि (चतु:श्लोकी 3) ततः सर्वं समर्प्यैव (साधनदीपिका 58) ततः स्वाह्निकधर्माणाम् (साधनदीपिका 19) ततस्तृप्तिरनुत्तमा (साधनदीपिका 33) ततो निश्चिन्ततां व्रजेत्

(चतु:श्लोकी 2) ततोऽन्यत्र विपर्यय: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 21) ततोऽन्यत्र विवर्जयेत् (विवेकधैर्याश्रय: 14) तत्कथाक्षिप्तचित्तस् तत् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 26) तत्तदाप्नोत्यसंशयम् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 29) तत्तु शीघ्रं परित्यजेत् (साधनप्रकरणम् 239) तत्त्यागे दूषणं नास्ति (पञ्चश्लो. 4) तत्त्यागे दूषणं नास्ति (साधनप्रकरणम् 231) तत्त्वावेशात्तु विकला (पञ्चपद्यानि 3) तत्प्रकारो निरूप्यते (साधनदीपिका 7) तत्प्रसादैक-भोजनम् (साधनदीपिका 30) तत्र कायभवा पुष्टिः (साधनदीपिका 52) तत्र तिष्ठेच्च तत्परः (साधनदीपिका 36) तत्र तिष्ठेत तत्परः (साधनप्रकरणम् 255) तत्र धर्मः कथं भवेत् (साधनप्रकरणम् 214) तत्राकांक्षा गुरोर्भवेत् (साधनदीपिका 9) तत्राप्येतद् इहोच्यते (सिद्धान्तमुक्तावली 9) तत्रैव देवतामूर्ति: (सिद्धान्तमुक्तावली 7) तत्रोदासीनको गृही (साधनदीपिका 73) तत्संस्कारेण तत्परः (साधनदीपिका 34) तत्साधनं नवविधा (साधनप्रकरणम् 220) तत्सारभूतरासस्त्री (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 16) तत्सिद्धौ फलमुच्यते (सेवाफलम् 1) तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा (सिद्धान्तमुक्तावली 2) तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 12) तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम् (साधनप्रकरणम् 236) तत्तच्छास्त्रे तयो: कृता (बालबोध: 13) तथा कार्यं समर्प्यैव (सिद्धान्तरहस्यम् 8) तथा कृतिगती सदा (निरोधलक्षणम् 17) तथा कृष्णं परं ब्रह्म (सिद्धान्तमुक्तावली 14) तथा कृष्णाष्टमी चापि (साधनप्रकरणम् 245) तथा च सकलं हरे: (सिद्धान्तरहस्यम् 6) तथा तथा साधनेषु (साधनप्रकरणम् 240) तथा तेषां फलं भवेत् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 17) तथा देहे न कर्तव्यम् (अन्त:करणप्रबोध: 9) तथा निर्वाहमाचरेत् (साधनप्रकरणम् 254) तथा निवेदने चिन्ता (नवरत्नम् 5) तथा ब्रह्माऽपि बुद्ध्यताम् (सिद्धान्तमुक्तावली 6) तथा मे मनसि क्वचित् (निरोधलक्षणम् 3) तथा सर्वार्हणं यस्मात् (साधनदीपिका 21) तथा स्थानपुरःसरम् (साधनप्रकरणम् 230) तथापि यावता कार्यम् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 14) तथाप्यायातपतितम् (साधनदीपिका 71) तथाल्पश्रुतभक्तयः (जलभेद: 7) तथाऽन्तेवास्यतिक्रमे (विवेकधैर्याश्रय: 12) तथाऽऽचारपराङ्मुखाः (साधनप्रकरणम् 212) तथैव तस्य लीलेति (नवरत्नम् 8) तथैवेश्वर शिक्षया (बालबोध: 3) तथोपायो निरूप्यते (भक्तिवर्धिनी 1) तदक्षरश उच्यते (सिद्धान्तरहस्यम् 1) तदनुगत्वमेवास्तु मे (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 6) तदप्राप्तौ वृथा मोक्ष: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 35) तदभावे यथैव स्यात् (साधनप्रकरणम् 254) तदभावे स्वयं वाऽपि (साधनप्रकरणम् 227) तदर्थं प्रक्रिया काचित् (बालबोध: 8) तदर्थं वरणं कार्यम् (साधनदीपिका 56) तदर्थार्थैकमानस: (भक्तिवर्धिनी 6) तदा कालप्रवाहस्था: (शिक्षाश्लोकी 1) तदा किं कार्यमुच्यते (संन्यासनिर्णय: 17) तदा भवेद् दयालुत्वम् (निरोधलक्षणम् 14) तदा लेहनमित्युक्तम् (जलभेद: 19) तदा विनिग्रहस्तस्य (निरोधलक्षणम् 19) तदा विशेषगत्यादि (विवेकधैर्याश्रय: 4) तदा सर्वं

सदानन्दम् (निरोधलक्षणम् 7) तदाप्तौ तद्गतार्थता (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 35) तदाश्रयतदीयत्व (बालबोध: 19) तदीयत्वं तदाश्रय: (बालबोध: 15) तदीयत्वं भवेद् ध्रुवम् (बालबोध: 18) तदीयै: सह तत्परै: (भक्तिवर्धिनी 8) तदीयैरपि तत् कार्यम् (सेवाफलम् 7) तदुक्तमपि दुर्बोधम् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 4) तदेवैतत्प्रकारेण (सिद्धान्तमुक्तावली 5) तदैव सकलो बन्ध: (संन्यासनिर्णय: 12) तद्धर्मैश्च विरोधतः (संन्यासनिर्णय: 4) तद्रूपं तत्र च स्थितम् (साधनप्रकरणम् 228) तद्रूपेण सुसेव्यते (बालबोध: 10) तद्वद् अत्रापि चैव हि (सिद्धान्तरहस्यम् 9) तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् (जलभेद: 17) तद्विस्तारो भागवतम् (साधनप्रकरणम् 221) तद् अध्यासोऽपि सिद्धयति (निरोधलक्षणम् 14) तद्गुणानां विभेदकान् (जलभेद: 1) तद्दिनान् नाधिकस्य हि (साधनप्रकरणम् 248) तद्दु:खं स्यान् मम क्वचित् (निरोधलक्षणम् 1) तद् बिभृयाद्(?) देहयात्रया (साधनदीपिका 71) तद्भक्तेषु च निर्दोष- (द्वितीया चतु:श्लोकी 3) तनुनवत्वमेतावता (श्रीयमुनाष्टकम् 7) तनू भक्त्यागमौ मतौ (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 6) तन्न यच्छति कर्हिचित् (बालबोध: 14) तन्नामानि सदाश्रये (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 1) तन्नामाष्टोत्तरशतम् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 4) तन्निमन्त्रणभोजकः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 12) तन्मार्गस्थापनाय हि (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 18) तपोज्ञानादिभावेन (जलभेद: 8) तमहं सर्वदा वन्दे (मङ्गलाचरणम् 2) तया मुक्तिर्न चान्यथा (साधनदीपिका 8) तया सकलसिद्धय: (श्रीयमुनाष्टकम् 9) तया सदृशताम् इयात् (श्रीयमुनाष्टकम् 5) तरङ्गभुजकमण (श्रीयमुनाष्टकम् 3) तरोर्मूलाभिषेचनम् (साधनदीपिका 21) तल्लीलाप्रेमपूरित: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 29) तव चरित्रमत्यद्भुतम् (श्रीयमुनाष्टकम् 6) तव हरेर्यथा गोपिका: (श्रीयमुनाष्टकम् 6) तवाष्टकमिदं मुदा (श्रीयमुनाष्टकम् 9) तवैव भुवि कीर्तिता (श्रीयमुनाष्टकम् 7) तस्माच् छ्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनात् (श्रीवल्लभाष्टकम् 3) तस्माज् जीवा: पुष्टिमार्गे (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 12) तस्मात् ज्ञाने न संन्यसेत् (संन्यासनिर्णय: 16) तस्मात् श्रीकृष्णमार्गस्थ: (सिद्धान्तमुक्तावली 15) तस्मात् सर्वं परित्यज्य (निरोधलक्षणम् 9) तस्मात् सर्वात्मना नित्यम् (नवरत्नम् 9) तस्मात् स्थानाच्च नश्यति (सिद्धान्तमुक्तावली 20) तस्माद् आदौ सर्वकार्ये (सिद्धान्तरहस्यम् 6) तस्माद् उक्तप्रकारेण (संन्यासनिर्णय: 21) तस्माद् भारत सर्वात्मा (साधनदीपिका 6) तस्माद् वर्जनम् आचरेत् (सिद्धान्तरहस्यम् 4) तस्मान् मच्छरणोक्तितः (साधनदीपिका 43) तस्मै श्रीगुरवे नम: (मङ्गलाचरणम् 3) तस्य भावनयाखिले (साधनदीपिका 29) तस्य सर्वम् अशक्यं स्यान् (साधनप्रकरणम् 226) तस्यापि स्याद् दृढा रति: (भक्तिवर्धिनी 11) तस्याश्रयो भवेत् कृष्ण: (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 11) तस्यैवात्मानुभावप्रकटनहृदय (श्रीवल्लभाष्टकम् 1) ता न: श्रीतात-पत् पद्म- (साधनदीपिका 1) तादृशस्याऽपि सततम्

(भक्तिवर्धिनी 6) तादृशाः सत्यलोकादौ (संन्यासनिर्णयः 11) तादृशानां क्वचिद्वाक्यम् (जलभेदः 18) तानहं द्विषतो वाक्यात् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 11) तानि सर्वाणि हरये (साधनदीपिका 32) तापमप्यत्र कुर्वन् (श्रीवल्लभाष्टकम् 5) तापदाहो भवाम्बुधौ (साधनदीपिका 58) तारतम्यं न स्वरूपे (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 13) तारतम्यं भजन्ति हि (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 20) तारतम्यं विचारयन् (साधनप्रकरणम् 239) तावत् तस्य करोति हि (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 14) तावद् आनन्दसन्दोहः (निरोधलक्षणम् 4) तावन्तस्तेऽपि सम्मताः (जलभेदः 3) तिरोहिताधिदैवेषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 3) तिरोहितार्थदेवेषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम्. 5) तिलकं लिङ्गमेव तत् (साधनप्रकरणम् 244) तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु (सिद्धान्तमुक्तावली 17) तिष्ठक्त्येव न संशयः (संन्यासनिर्णयः 11) तीतो नयविशारदः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 30) तीर्थं नातः परात्परम् (निरोधलक्षणम् 20) तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठम् (साधनप्रकरणम् 247) तीर्थेषु तीर्थदेवानाम् (साधनदीपिका 68) तुलसी-काष्ठजापि स्रक् (साधनदीपिका 38) तुलसीकाष्ठजा माला (साधनप्रकरणम् 244) तृणमिवेह तुच्छीकृतः (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 6) तृतीये बाधकं गृहम् (सेवाफलम् 6) तृतीयो लोकगोचरः (अन्तःकरणप्रबोधः 6) ते 'समुद्राः' प्रकीर्तिताः (जलभेदः 15) ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 24) ते दुर्लभतराः कलौ (साधनप्रकरणम् 214) ते मग्ना भवसागरे (निरोधलक्षणम् 11) ते मुख्याः श्रवणोत्सुकाः (पञ्चपद्यानि 1) ते सर्वार्था न चाद्येन (बालबोधः 11) ते सर्वे सर्ववर्त्मसु (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 22) ते हि द्विधा शुद्धमिश्र- (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 14) तेजोराशीं दयार्णवम् (मङ्गलाचरणम् 10) तेनासक्तिश्च व्यसनम् (साधनदीपिका 42) तेषां का परिदेवना (नवरत्नम् 4) तेषां क्रियाऽनुसारेण (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 23) तेऽमृतोदाः समाख्याताः (जलभेदः 17) त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले (साधनप्रकरणम् 224) त्यजेत् सर्वम् अवैष्णवम् (साधनदीपिका 25) त्यद्धा तद् गोपिकेशः स्ववदनकमले (श्रीवल्लभाष्टकम् 4) त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु (भक्तिवर्धिनी 6) त्यागात्यागविभागेन (बालबोधः 6) त्यागात् श्रवणकीर्तनात् (भक्तिवर्धिनी 1) त्यागे बाधकभूयस्त्वम् (भक्तिवर्धिनी 7) त्यागोऽपि मनसैव हि (बालबोधः 9) त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे (नवरत्नम् 5) त्याज्या संसारनिश्चयात् (सेवाफलम् 5) त्येव तच्चित्रमेतत् (श्रीवल्लभाष्टकम् 7) त्रयाणां येन केनापि (साधनप्रकरणम् 254) त्रिकालं वापि पूजयेत् (साधनप्रकरणम् 237)

त्रिजगद्व्यापिसत्कीर्ति- (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 20) त्रिदुःखसहनं धैर्यम् (विवेकधैर्याश्रयः 6) त्रिलोकीभूषणं भूमि (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 32) त्रिवर्गसाधकानीति (बालबोधः 5)

त्रैवर्ग्यविषया यतः (साधनदीपिका 22) त्वदीयं तं गृहाणाशु (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 30) त्वां श्रीश्रीवल्लभे मे निखिलबुधजना: (श्रीवल्लभाष्टकम् 8) द
दत्तापहारवचनम् (सिद्धान्तरहस्यम् 6) दमनाद् इन्द्रियाणां च (साधनदीपिका 41) दम्भादिरहितं नरम् (साधनदीपिका 10) दम्भादिरहितं नरम् (साधनप्रकरणम् 227) दयया निजमाहात्म्यम् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 3) दययैव प्रसीदति (साधनदीपिका 45) दया दानं च विज्ञानम् (साधनदीपिका 39) दयालुर्न विरुद्ध्यते (संन्यासनिर्णय: 13) दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टम् (निरोधलक्षणम् 17) दर्शनीयतमो वाग्मी (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 18) दर्शनैकफलो विधिः (साधनदीपिका 5) दलायतविलोचनः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 13) दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् (साधनदीपिका 59) दासदासीप्रियः पतिः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 14) दासदासीप्सितप्रदः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 21) दास्यं तदेकशरणम् (साधनदीपिका 30) दिक्चक्रवर्तिसत्कीर्ति: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 14) दीनानाथैकसंश्रयः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 5) दीयते क्वचिदेव हि (बालबोध: 15) दु:संसर्गात् तथाऽन्नत: (भक्तिवर्धिनी 7) दुःखहानौ तथा पापे (विवेकधैर्याश्रय: 10) दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 25) दुर्दृश्यो भक्तसन्दृश्य: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 4) दुर्लभांघ्रिसरोरुहः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 15) दुर्लभोऽयं परित्यागः (संन्यासनिर्णय: 14) दुष्टान्याप्यरुणोदयात् (साधनदीपिका 31) दुष्टैरेवावृतेष्विह (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 3) दुष्प्रापं प्रकटीचकार करुणा- (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 3) दुस्साध्या इति मे मतिः (विवेकधैर्याश्रय: 17) दूतानामिव वर्णितम् (जलभेद: 18) दृढं कृत्वा मनः स्थिरम् (साधनप्रकरणम् 235) दृढं यन् नाऽपि नश्यति (भक्तिवर्धिनी 4) दृढविश्वासतो युक्त्या (साधनप्रकरणम् 235) दृष्टान्तस्याप्यभावतः (संन्यासनिर्णय: 18) दृष्टित्वाद् विदुषामपि (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 2) दृष्टेऽप्यस्मिन् मुखेन्दौ प्रचुरतरमुदे (श्रीवल्लभाष्टकम् 7) दृष्ट्वा हृष्येत्(/हर्षं) समानयेत् (साधनदीपिका 48) देव! वैश्वानरैषा (श्रीवल्लभाष्टकम् 2) देवः श्रीवल्लभात्मजः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 2) देवतां तत्र पश्यति (सिद्धान्तमुक्तावली 13) देवतारूपवत्प्रोक्ता (सिद्धान्तमुक्तावली 10) देवाद्युपासनोद्भूताः (जलभेद: 10) देशकालद्रव्यकर्तृ (पञ्चपद्यानि 5) देहः संशोधनीयो हि (साधनदीपिका 18) देहचित्तादयोऽप्युत (शिक्षाश्लोकी 1) देहदेशपरित्यागः (अन्त:करणप्रबोध: 6) देहद्रोण्यायियासूनाम् (साधनदीपिका 11) देहपातनपर्यन्तम् (साधनप्रकरणम् 250) देहशुद्धिः सदा कार्या (साधनदीपिका 63) देहे वा तत्क्रियासु वा (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 13) दैवसर्गेऽपि जाता: (श्रीवल्लभाष्टकम् 2) दैवात्मसम्पदः पुंसः (साधनदीपिका 40) दैवी ह्येषा गुणमयी (साधनदीपिका 51) दैवोद्धारप्रयत्नात्मा (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 7) दोषदृष्ट्या विभावयेत् (साधनदीपिका 41) दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः (सिद्धान्तरहस्यम्

2) दोषान् गच्छेत् परं पदम् (साधनदीपिका 61) दोषान् सम्परिवर्जयेत् (साधनदीपिका 45) दोषाभावाय सर्वदा (बालबोध: 16) दोषेषु न गतिस्तस्मात् (साधनदीपिका 45) द्युक्तमानैर् अवेत्य (श्रीवल्लभाष्टकम् 8) द्रवता चेतसा विना (साधनदीपिका 50) द्वयोरपि निषेधत: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 7) द्विजैर्मौञ्ज्यन्तसम्भवैः (साधनदीपिका 18) द्वितीयार्थे महान् श्रम: (बालबोध: 16) द्वितीये सर्वथा चिन्ता (सेवाफलम् 5) द्विधा ते हि विचारिता: (बालबोध: 2) द्विधा द्वेद्वे स्वतस् तत्र (बालबोध: 6) द्विधा सोऽपि निरूप्यते (बालबोध: 10) द्विमुखं शुचि पात्रं तु (साधनदीपिका 66) द्विरूपं चापि गङ्गावत् (सिद्धान्तमुक्तावली 5) द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यात् (सिद्धान्तमुक्तावली 3) द्विविधोऽपि विचारितः (संन्यासनिर्णय: 14) द्वौ भूतसर्गाविति्युक्ते: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 3) ध

धनं सर्वात्मना त्याज्यम् (साधनप्रकरणम् 252) धर्मशास्त्राणि नीतिश्च (बालबोध: 4) धर्मसेतुर् भक्तिसेतुः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 6) धर्मादीनां तथा चास्य (साधनप्रकरणम् 239) धर्माधर्माऽग्रदर्शनम् (विवेकधैर्याश्रय: 5) धर्मार्थकाममोक्षाख्या: (बालबोध: 2) धवलीकृतमेचकः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 20) धारयेत् तिलकं मालाम् (साधनदीपिका 24) धृतः सर्वात्मना हृदि (चतु:श्लोकी 3) धैर्यं तु विनिरूप्यते (विवेकधैर्याश्रय: 5) ध्यात्वा तदेकशरण: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 28) ध्येयं सदा वल्लभम् (मङ्गलाचरणम् 9) ध्रुवपराशराभीष्टदे (श्रीयमुनाष्टकम् 4) ध्वान्तराशिः प्रशाम्यति (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 1) न

न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् (नवरत्नम् 1) न कालोऽत्र नियामकः (सेवाफलम् 2) न कृतं तद्वयं मया (अन्त:करणप्रबोध: 6) न क्वाऽपीति मतिर्मम (भक्तिवर्धिनी 9) न गार्हस्थ्यं विना देह- (साधनदीपिका 72) न ग्राह्यम् इति वाक्यं हि (सिद्धान्तरहस्यम् 7) न च रोगाद्युपद्रवा: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 19) न जातु यमयातना (श्रीयमुनाष्टकम् 6) न तथा लौकिकानां तु (निरोधलक्षणम् 5) न तद् युक्तं सूत्रतो हि (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 6) न तन्निर्णय उच्यते (बालबोध: 5) न तु कदापि पुष्टिस्थितै: (श्रीयमुनाष्टकम् 7) न ते पाषण्डतां यान्ति (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 19) न तैः संसर्गमाचरेत् (साधनदीपिका 62) न त्याज्यम् इति मे मतिः (चतु:श्लोकी 4) न दुःखं भाति कर्हिचित् (निरोधलक्षणम् 15) न दुर्लभतमा रति: (श्रीयमुनाष्टकम् 7) न द्रष्टव्य: कदाचन (अन्त:करणप्रबोध: 7) न निगमगतिः सापि यदि न (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 4) न निवृत्ति: कथञ्चन (सिद्धान्तरहस्यम् 4) न पापं स करोत्येव (साधनदीपिका 44) न प्रत्येकमिति स्थितिः (नवरत्नम् 3) न भक्तं मोहयिष्यति (संन्यासनिर्णय: 20) न भविष्यति यस्य हि (साधनप्रकरणम् 226) न भविष्यन्ति यत् श्रुते: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 2) न मतं देवदेवस्य (सिद्धान्तरहस्यम् 5) न मन्तव्याः कथञ्चन (सिद्धान्तरहस्यम् 3) न लौकिक:

प्रभु: कृष्ण: (शिक्षाश्लोकी 2) न सर्वोऽत: प्रवाहाद्धि (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 5) न स्तन्यैः पुपुषुः क्वचित् (संन्यासनिर्णय: 19) न स्यातां हरिवत् सुखम् (निरोधलक्षणम् 13) न ह्यन्यो वागधीशाच् छ्रुतिगणवचसाम् (श्रीवल्लभाष्टकम् 3) नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि (सिद्धान्तमुक्तावली 1) नत्वा हरिं सदानन्दम् (बालबोध: 1) नत्वाद्ये दातृता नास्ति (सेवाफलम् 6) नद्यस्ते परिकीर्तिताः (जलभेद: 13) न धिया न बहुश्रुतैः (साधनदीपिका 57) नन्दसन्दोहरूप (श्रीवल्लभाष्टकम् 1) नन्दादीनां च गोकुले (निरोधलक्षणम् 1) नमत कृष्णतुर्यप्रियाम् (श्रीयमुनाष्टकम् 3) नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये (जलभेद: 1) नमामि यमुनामहम् (श्रीयमुनाष्टकम् 1) नमामि हृदये शेषे (मङ्गलाचरणम् 4) नमोऽस्तु यमुने सदा (श्रीयमुनाष्टकम् 6) नरके न भवेत् पातः (साधनप्रकरणम् 216) नवकौसुम्भयुक् शुचि: (साधनदीपिका 67) नवधा भक्तिमार्गतः (जलभेद: 10) नहि देहभृता शक्यम् (साधनदीपिका 15) नाकस्य तरवोऽन्येषाम् (साधनदीपिका 1) नातः परतरः स्तवः (निरोधलक्षणम् 20) नातः परतरा विद्या (निरोधलक्षणम् 20) नातः परतरो मन्त्र: (निरोधलक्षणम् 20) नाथं रघूणांस्तथा (मङ्गलाचरणम् 7) नानाभावं गता भुवि (जलभेद: 21) नानाभ्रमनिराकर्ता (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 18) नानावाक्यनिरूपकः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 20) नानावादविनष्टेषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 6) नान्यः क्वापि कदाचन (चतु:श्लोकी 1) नान्यथा तु करिष्यति (अन्त:करणप्रबोध: 4) नान्यदेवं व्रजेद् नैव (साधनदीपिका 68) नान्या साधनपद्धतिः (साधनदीपिका 53) नामरत्नाभिधमिदम् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 29) नामानि च कृतानि च (साधनप्रकरणम् 249) नामोच्चारणमेव वा (साधनप्रकरणम् 242) नाम्नां छन्दो जगत्यसौ (सर्वो.स्तो. 5) नाम्नाम् अष्टोत्तरं शतम् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 33) नायमात्मा प्रवचनै: (साधनदीपिका 57) नारायणपरो मायाम् (साधनदीपिका 60) नाविर्भूयाद् भवांश्चेद् अधिधरणितलम् (श्रीवल्लभाष्टकम् 2) नावैष्णवैः सह वसेत् (साधनदीपिका 62) नाशकं चासुराग्ने: (श्रीवल्लभाष्टकम् 5) नाशकोऽनुभवे स्थितः (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 7) नाषमेति न चान्यथा (संन्यासनिर्णय: 12) नास्येन्दुराजोद्गत (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 5) नाहं वेदैरितीरणात् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 5) नाऽत्र बाधक इष्यते (संन्यासनिर्णय: 13) नाऽऽवेशः सर्वदा हरेः (संन्यासनिर्णय: 6) निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वम् (पञ्चपद्यानि 3) निगमप्रतिपाद्यम् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 1) निगूढहृदयोऽनन्य (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 23) निजदासस्य सौभाग्यम् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 2) निजेच्छात: करिष्यति (विवेकधैर्याश्रय: 1) निजेच्छातः करिष्यति (नवरत्नम् 2) नितम्बतटसुन्दरीम् (श्रीयमुनाष्टकम् 3) नित्यं श्रीमथुराधिपम् सुखकरम् (मङ्गलाचरणम् 6) नित्यकर्मकृतिर्वरा (साधनदीपिका 22) नियतार्थप्रदानेन (बालबोध: 15) नियामक इति स्थिति: (सिद्धान्तमुक्तावली 18) निरन्तरोद्गमयुता: (जलभेद: 13) निरुद्धानां तु

रोधाय (निरोधलक्षणम् 10) निरुद्धैः सर्वदा गुणाः (निरोधलक्षणम् 9) निरोधं वर्णयामि ते (निरोधलक्षणम् 10) निरोधपदवीं गतः (निरोधलक्षणम् 10) निरोधाद् वा न चाऽन्यथा (पञ्चपद्यानि 3) निर्दोषपूर्णगुणता (बालबोधः 13) निर्भयो निःस्पृहस् ततः (साधनप्रकरणम् 242) निर्हेतुकम् अदम्भतः (साधनप्रकरणम् 243) निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् (सिद्धान्तमुक्तावली 2) निवेदनं तु स्मर्तव्यम् (नवरत्नम् 2)

निवेदितात्माभिः कदाऽपीति (नवरत्नम् 1) निवेदिभक्तसर्वस्वम् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 27) निवेदिभिः समर्प्यैव (सिद्धान्तरहस्यम् 5) निष्प्रत्यूहं महान् भोगः (सेवाफलम् 4) नीचा गानोपजीविनः (जलभेदः 5) नीराजितपदाम्बुजम् (साधनदीपिका 2) नुगृहीतस्य चेशितुः (साधनदीपिका 43) नैकान्ते वास इष्यते (भक्तिवर्धिनी 10) नैतज्ज्ञाने भ्रमः पुनः (बालबोधः 20) नैव त्यागः सुखावहः (संन्यासनिर्णयः 6) नैवात्मनि कुतोऽन्यतः (निरोधलक्षणम् 6) न्यासाश्रमात् पतन् मर्त्यः (साधनदीपिका 70) प

पञ्चधा हृदये मम (मङ्गलाचरणम् 5) पठति सूरसूते सदा (श्रीयमुनाष्टकम् 9) पठत्यनुदिनं जनः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 34) पठनीयं प्रयत्नेन (साधनप्रकरणम् 243) पठनीयं प्रयत्नेन (साधनप्रकरणम् 253) पठेच्च नियमं कृत्वा (साधनप्रकरणम् 232) पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः (जलभेदः 9) पतदमन्दपूरोज्ज्वला (श्रीयमुनाष्टकम् 2) पतितमस्वधर्मे रतम् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 7) पतितोदकवत् तथा (जलभेदः 20) पतिव्रतापतिः पर- (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 23) परं पारं भवाम्बुधेः (साधनदीपिका 11) परं ब्रह्म तु कृष्णो हि (सिद्धान्तमुक्तावली 3) परपीडादिसम्भवे (साधनप्रकरणम् 247) परमानन्दरूपे तु (सिद्धान्तमुक्तावली 11) परलोकश्च तेनायम् (शिक्षाश्लोकी 3) परा सिद्धिः स्वयं भवेत् (साधनदीपिका 40) पराश्रयेण मोक्षस्तु (बालबोधः 10) परिचर्यां सदा कुर्यात् (साधनप्रकरणम् 227) परिचर्याविधिहरेः (साधनदीपिका 21) परित्यज्य विशुद्धितः (साधनदीपिका 26) परित्यागः प्रशस्यते (संन्यासनिर्णयः 7) परित्यागो विचार्यते (संन्यासनिर्णयः 1) परित्यागो विधीयताम् (संन्यासनिर्णयः 21) परिनिष्ठा विवर्धते (साधनप्रकरणम् 240) पर्यटेत् कृष्णतत्परः (साधनप्रकरणम् 249) पश्चात्तापः कथं तत्र (अन्तःकरणप्रबोधः 7) पश्चात्तापनिवृत्त्यर्थम् (संन्यासनिर्णयः 1) पश्चात्तापाय नान्यथा (संन्यासनिर्णयः 16) पश्चात्तापो यतो भवेत् (अन्तःकरणप्रबोधः 3) पाकसेवां हरेरपि (साधनदीपिका 64) पाके स्वीयान् सतीर्थ्यांश्च (साधनदीपिका 65) पात्रैर्व्यवहरेत् परैः (साधनदीपिका 65) पादसेवा हरेः कार्या (साधनदीपिका 28) पापासक्तस्य दीनस्य (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 9) पापैकनिलयेषु च (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 2) पायोर्मलांशत्यागेन (निरोधलक्षणम् 18) पारम्पर्ययुता भुवि (जलभेदः 3) पाषण्डप्रचुरे लोके (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 1) पाषण्डित्वं भवेत् चापि (संन्यासनिर्णयः

16) पाषण्डी स्यात्तु कालतः (संन्यासनिर्णय: 5) पाषण्डैकप्रयत्नेषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 6) पितृप्रवर्तितपथ (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 12) पितृवंशोदधिविधुः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 14) पुञ्जपीयूषवृष्टी: (श्रीवल्लभाष्टकम् 5) पुत्रे कृष्णाप्रिये रतिः (निरोधलक्षणम् 18) पुराणेऽपि निरूपिता (बालबोध: 8) पुरुष: सर्वसंशयात् (सिद्धान्तमुक्तावली 21) पुरुषस्याविशेषेण (साधनदीपिका 7) पुष्करं भूतरूपम् (श्रीवल्लभाष्टकम् 6) पुष्टिं कायेन निश्चय: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 9) पुष्टिप्रवाहमर्यादा (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 1) पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् (नवरत्नम् 6) पुष्टिमार्गो निरूपित: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 8) पुष्टिरस्तीति निश्चय: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 2) पुष्टिरस्तीति निश्चय: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 4) पुष्टिस्थस्तैर्न युज्यते (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 25) पुष्टौ नैव विलम्बयेत् (सेवाफलम् 7) पुष्ट्या विमिश्रा: सर्वज्ञा: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 15) पुंरूपञ्च पुनस्तदन्तर्गतम् (मङ्गलाचरणम् 9) पूजया श्रवणादिभिः (भक्तिवर्धिनी 2) पूज्यो दीनो दयास्पदः (साधनदीपिका 35) पूरयन् गोपवृन्दै: (मङ्गलाचरणम् 8) पूरिताशेषसेवकः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 15) पूर्णः प्लावयते जनान् (निरोधलक्षणम् 8) पूर्णभावेन पूर्णार्थाः (पञ्चपद्यानि 4) पूर्णा भगवदीया ये (जलभेद: 14) पूर्णानन्दः पूर्णकामो (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 19) पूर्णानन्दो हरिस्तस्मात् (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 8) पूर्वभाण्डादिकं सर्वम् (साधनदीपिका 26) पूर्वमुत्तमम् ईरितम् (साधनप्रकरणम् 250) पूर्वविद्धं परित्याज्यम् (साधनदीपिका 31) पूर्वसंस्कारतस्तत्र (साधनप्रकरणम् 217) पूर्वोक्तैव फलिष्यति (सिद्धान्तमुक्तावली 19) पृथक्शरणमार्गोपदेष्टा (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 25) पृष्वा भूमेरिवोद्गताः (जलभेद: 10) पोष्यपोषणरक्षणे (विवेकधैर्याश्रय: 12) पोष्यातिक्रमणे चैव (विवेकधैर्याश्रय: 12) प्रकट मोद पुष्पाम्बुना (श्रीयमुनाष्टकम् 1) प्रकटगण्डशैलोन्नता (श्रीयमुनाष्टकम् 2) प्रकटमुक्तिकावालुका (श्रीयमुनाष्टकम् 3) प्रकाशनपरायण: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 8) प्रकृतिः प्रकृतं नहि (संन्यासनिर्णय: 9) प्रक्रिया न विरुध्यते (साधनप्रकरणम् 225) प्रचारसुविचारकः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 12) प्रणमामि मुहुर्मुहु: (मङ्गलाचरणम् 1) प्रतिकूलस्य वर्जनम् (पञ्चश्लोकी 4) प्रतिकूले गृहं त्यजेत् (पञ्चश्लोकी 3) प्रतिकूले गृहं त्यजेत् (साधनप्रकरणम् 231) प्रतिक्षणनिकुञ्जस्थ (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 25) प्रतिपक्षक्षयंकरः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 26) प्रतिबन्धविनाशने (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 6) प्रतिबन्धादपि क्वचित् (साधनप्रकरणम् 247) प्रतीकारो यदृच्छात: (विवेकधैर्याश्रय: 7) प्रतीत्यापि विशिष्यते (सिद्धान्तमुक्तावली 8) प्रत्यक्षा सा न सर्वेषाम् (सिद्धान्तमुक्तावली 8) प्रत्येकं साधनं चैतत् (बालबोध: 16) प्रथमे विशते सदा (सेवाफलम् 4) प्रथावत्यस्माकम् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 1) प्रपञ्चास्फुरणं भवेत् (साधनदीपिका 42) प्रपत्तिः प्रेमकारणम् (साधनदीपिका 14) प्रपत्त्यादेशङ्का दितः (साधनदीपिका

13) प्रपन्नः परिभावयेत् (साधनदीपिका 47) प्रपन्नाधिकृता भवेत् (साधनदीपिका 30) प्रबलत्वाद् इति स्थितिः (संन्यासनिर्णयः 17) प्रभुः सर्वसमर्थो हि (चतुःश्लोकी 2) प्रभृतिमृग्यपादाम्बुजः (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 6) प्रमाणभेदाद् भिन्नो हि (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 8) प्रमादे त्वाशु निष्कृतिः (साधनदीपिका 44) प्रवक्ष्याम्यखिलाघहृत् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 4) प्रवाहं सृष्टवान् हरिः (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 9) प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 23) प्रवाहस्थास्तथाऽपरे (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 21) प्रवाहादिविभेदेन (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 15) प्रवाहाभेदबुद्धये (सिद्धान्तमुक्तावली 7) प्रवाहेण क्रियारताः (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 15) प्रवाहेण फलेन च (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 1) प्रवाहेऽपि समागत्य (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 25) प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 3) प्रवृत्तिं चेति वर्णिताः (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 24) प्रसंगेषु हरिं ध्यायेत् (साधनदीपिका 62) प्रसक्तौ ह्यपमानयेत् (साधनदीपिका 68) प्रसादेन व्यवस्थितम् (साधनदीपिका 48) प्रसादोऽपि बलिः कार्यः (साधनदीपिका 34) प्रसृतवारिपीयूषयुग् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 6) प्राकट्यं यत् कृतं ते तदुत निजकृते (श्रीवल्लभाष्टकम् 4) प्राकाम्यं स्यात् तया जले (सिद्धान्तमुक्तावली 8) प्राकृतधर्मानाश्रयम् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 1) प्राकृताः सकला देवाः (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 8) प्राकृतानुकृतिव्याज (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 11) प्राणप्रेष्ठव्रजाधीश्वरवदनदिद- (श्रीवल्लभाष्टकम् 7) प्राणानायम्य नासापुटनिहितकरम् (मङ्गलाचरणम् 11) प्राणान् वित्तमिमं परम् (साधनप्रकरणम् 219) प्राणैः कण्ठगतैरपि (साधनप्रकरणम् 254) प्रादुभूतेन भूमौ व्रजपति चरणाम् (श्रीवल्लभाष्टकम् 4) प्रादुर्भूतं चकार हि (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 3) प्रादुर्भूतो भवान् इत्यनुभवनिगमा- (श्रीवल्लभाष्टकम् 8) प्राप्तं सेवेत निर्मम (विवेकधैर्याश्रयः 15) प्राप्नुयुर् नैव दैवी- (श्रीवल्लभाष्टकम् 2) प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि (विवेकधैर्याश्रयः 14) प्रार्थनीयपदाम्बुजः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 27) प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् (विवेकधैर्याश्रयः 2) प्रार्थ्यम् एतन् मम प्रभो (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 30) प्राविशद् गीतकीर्तिः (मङ्गलाचरणम् 8) प्रावीविशत् स्वप्रिये (मङ्गलाचरणम् 9) प्रियवृन्दावनाचलः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 10) प्रियव्रजस्थितिः पुष्टि (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 26) प्रियश्रुतिपथः शश्वन् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 16) प्रियस् तादृशवेष्टितः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 21) प्रिया गोपीभर्तुः (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 1) प्रियाभिरिवसेविताम् (श्रीयमुनाष्टकम् 3) प्रियो भवति सेवनात् (श्रीयमुनाष्टकम् 6) प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः (जलभेदः 11) प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः (जलभेदः 6) प्रेमार्द्रदृग्विशालाक्षः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 20) प्रेम्णा सिद्ध्यति नान्यथा (संन्यासनिर्णयः 14) प्रेम्णोपदेशश्रवणात् (साधनदीपिका 14)

प्रेम्णोपदेशैरपि (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 5) प्रौढापि दुहिता यद्वत् (अन्त:करणप्रबोध: 8) प्लावितान्यरस: पर: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 28) फ
फलं चाऽपि तथा ततः (जलभेद: 20) फलं चाऽपि तथा भवेत् (संन्यासनिर्णय: 10) फलं त्वत्र निरूप्यते (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 16) फलं प्रेम च साधनम् (साधनप्रकरणम् 220) फलं वा ह्यधिकारो वा (सेवाफलम् 2) फलम् एकम् अबाह्यत: (बालबोध: 8) ब
बर्हापीडं नटवरवपु: (मङ्गलाचरणम् 8) बलाद् एतौ सदा मतौ (सेवाफलम् 5) बहिश्चेत् प्रकटः स्वात्मा (संन्यासनिर्णय: 11) बाधः केनाऽस्य सम्भवेत् (संन्यासनिर्णय: 18) बाधकानां परित्याग: (सेवाफलम् 4) बाधनं वा हरीच्छया (नवरत्नम् 7) बाधशंकाऽपि नास्त्यत्र (निरोधलक्षणम् 14) बाधसम्भावनायां तु (भक्तिवर्धिनी 10) बालप्रबोधनार्थाय (बालबोध: 1) बाललीलादिसुप्रीतो (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 13) बाह्यांकान्यान्तराणि स्युः (साधनदीपिका 38) बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् (जलभेद: 18) बिभ्रद्वास: कनककपिशम् (मङ्गलाचरणम् 8) बीजं कारुणिक: प्रभु: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 5) बीजं तद् उच्यते शास्त्रे (भक्तिवर्धिनी 4) बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु (भक्तिवर्धिनी 2) बीजभावे दृढे तु स्यात् (भक्तिवर्धिनी 1) बुद्धिमानादरं तस्मिन् (साधनप्रकरणम् 224) बुद्ध्यै किञ्चित् समाचरेत् (बालबोध: 19) ब्रह्मणीत्थं हरिर्मत: (सिद्धान्तमुक्तावली 10) ब्रह्मवादनिरूपक: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 31) ब्रह्मविष्णुशिवास्तत: (सिद्धान्तमुक्तावली 10) ब्रह्मसम्बन्धकरणात् (सिद्धान्तरहस्यम् 2) ब्रह्मा ब्राह्मणतां यात: (बालबोध: 10) ब्रह्मात्मत्वावबोधने (सिद्धान्तमुक्तावली 13) ब्रह्मादिभ्यो न चान्यथा (सिद्धान्तमुक्तावली 11) ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ (विवेकधैर्याश्रय: 15) ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् (बालबोध: 12) भ
भक्तक्लेशासहः सर्व (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 22) भक्तचिन्तामणिः भक्ति (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 9) भक्तद्रोहे भक्त्यभावे (विवेकधैर्याश्रय: 11) भक्तद्विट् भक्तसेवितः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 14) भक्तनेत्रसुधाकरः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 8) भक्तरक्षैकदक्षः श्री (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 7) भक्तरत्नपरीक्षकः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 7) भक्तवश्योऽतिसुन्दरः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 3) भक्तवृन्दान् नमेद् अर्चेत् (साधनदीपिका 48) भक्तशोकापहः शान्तः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 6) भक्तसंप्रार्थितकर: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 21) भक्ताज्ञानभिदुत्तमः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 18) भक्तिकृन् निखिलेष्टद: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 12) भक्तिगम्यो भयापहः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 4) भक्तिमार्ग-वितानाय (साधनदीपिका 3) भक्तिमार्गस्य कथनात् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 2) भक्तिमार्गाब्जमार्तण्ड: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 9) भक्तिमार्गेण यो यजेत् (साधनदीपिका 61) भक्तिमार्गे समाविशेत् (साधनप्रकरणम् 224) भक्तिमार्गे सर्वमार्ग

(श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 24) भक्तिमार्गेऽपि चेद् दोषः (संन्यासनिर्णय: 17) भक्तिर्भवति नैष्ठिकी (साधनदीपिका 40) भक्तिशास्त्रानुकूल्येन (साधनदीपिका 17) भक्तिशास्त्रानुसारेण (साधनदीपिका 4) भक्तिस् तत्प्रतिपादिका (साधनप्रकरणम् 220) भक्ते: शान्ति-विरक्तयः (साधनदीपिका 38) भक्तेच्छापूरक: सर्वा (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 27) भक्तेषु ज्ञापिताशयः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 23) भक्तेष्वेवं हरिं साक्षात् (साधनदीपिका 48) भक्तैश्चातिक्रमे कृते (विवेकधैर्याश्रय: 11) भक्तो निश्चिन्ततां व्रजेत् (अन्त:करणप्रबोध: 11) भक्तौ ज्ञाने विशेषतः (संन्यासनिर्णय: 1) भक्त्यभावे तु तीरस्थो (सिद्धान्तमुक्तावली 20) भक्त्या या दृश्यते क्वचित् (सिद्धान्तमुक्तावली 7) भक्त्याचारोपदेशार्थ (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 20) भक्त्याचारोपदेष्टा च (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 18) भगवच्छास्त्रतत्पराः (जलभेद: 5) भगवत्कार्यसिद्धये (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 15) भगवत्येव सततम् (द्वितीया चतु:श्लोकी 4) भगवत्स्मृतिविह्वला: (पञ्चपद्यानि 2) भगवत्तारतम्येन (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 20) भगवद्रूपसेवार्थम् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 12) भगवद्धर्मसामर्थ्यात् (निरोधलक्षणम् 15) भगवद्भजनैः कार्याः (साधनदीपिका 46) भगवानपि पुष्टिस्थो (नवरत्नम् 1) भगवानेव हि फलम् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 17) भगवान् किं विधास्यति (निरोधलक्षणम् 2) भगवान् दययिष्यति (निरोधलक्षणम् 4) भगवान् फलरूपत्वात् (संन्यासनिर्णय: 13) भगवान् हरिरीश्वरः (साधनदीपिका 6) भगवानात्मभावितः (साधनदीपिका 54) भजनानन्दलब्धये (साधनदीपिका 53) भजनीयो व्रजाधिपः (चतु:श्लोकी 1) भजनीयो व्रजाधिपः (द्वितीया चतु:श्लोकी 1) भजन् कृष्णमवाप्नुयात् (साधनप्रकरणम् 254) भजन् मुच्यते जन्मभिः (साधनप्रकरणम् 217) भजेत् जिज्ञासुरादरात् (साधनदीपिका 10) भजेत् जिज्ञासुरादरात् (साधनप्रकरणम् 227) भये कामाद्यपूरणे (विवेकधैर्याश्रय: 10) भर्तृत्वे वरणम् तथा (पञ्चश्लोकी 5) भवति ते पय:पानत: (श्रीयमुनाष्टकम् 6) भवति वै मुकुन्दे रति: (श्रीयमुनाष्टकम् 9) भवति सौख्यमामोक्षत: (श्रीयमुनाष्टकम् 8) भवतीति श्रुतेर्मतम् (सिद्धान्तमुक्तावली 5) भविष्यथ कथञ्चन (शिक्षाश्लोकी 1) भाग्यं सहजसुन्दर: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 32) भारद्वैगुण्यम् अन्यथा (बालबोध: 19) भारद्वैगुण्यम् अन्यथा (साधनदीपिका 15) भार्यादिरनुकूलश्चेत् (साधनप्रकरणम् 231) भार्यादीनां तथाऽन्येषाम् (विवेकधैर्याश्रय: 7) भावना साधनं यत्र (संन्यासनिर्णय: 10) भावपूरितविग्रहः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 16) भावमाज्ञातुमीष्टे (श्रीवल्लभाष्टकम् 3) भावस्तत्राऽप्यस्मदीय: (शिक्षाश्लोकी 3) भावांशुभूषिता मूर्तिः (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 2) भावान् विंशतिधा भिन्नान् (जलभेद: 1) भावी न भूतोऽस्त्यपि (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 5) भावेन स्थेयमादरात् (द्वितीया चतु:श्लोकी 3) भावेनैके हरेर्गुणान् (जलभेद: 15) भावो

भावनया सिद्धः (संन्यासनिर्णय: 8) भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् (विवेकधैर्याश्रय: 4) भिन्नत्वं नित्यता श्रुते: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 7) भिन्नमार्गपरं मतम् (सिद्धान्तरहस्यम् 7) भिन्ना जीवा: प्रवाहिण: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 11) भिन्नाएव न संशय: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 12) भि**ननने** च्छातोऽपि नैकधा (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 10) भिन्नो वेदाच्च भेदत: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 5) भिन्नौ युक्त्या हि वैदिक: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 6) भुवं भुवनपावनीम् (श्रीयमुनाष्टकम् 3) भुवि भक्तिप्रचारैक (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 22) भूतदेवत्वमेतत् (श्रीवल्लभाष्टकम् 5) भूतनाथोदितासन्- (श्रीवल्लभाष्टकम् 2) भूदेवाग्निप्रपूजकः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 15) भूदेवानां समर्चनम् (साधनदीपिका 68) भूमौ य: सन्मनुष्याकृतिरतिकरुणस् (श्रीवल्लभाष्टकम् 1) भूम्न ईशस्य योजयेत् (निरोधलक्षणम् 12) भूषित: सहजस्मित: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 32) भेदान् मिश्रास् त्रिधा पुन: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 14) भोग: शिवेन मोक्षस्तु (बालबोध: 14) भोगमोक्षफले दातुम् (बालबोध: 13) भोगश्च शिवतस् तथा (बालबोध: 17) भोगेप्येकं तथा परम् (सेवाफलम् 4) भोगो वा स्यात्तु बाधकः (सेवाफलम् 2) भोजसेवाख्यवर्त्म (श्रीवल्लभाष्टकम् 4) भ्रान्ता ये ते निसर्गत्रिदशरिपुतया (श्रीवल्लभाष्टकम् 3) म

मकरन्दजुषोऽनिशम् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 30) मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् (नवरत्नम् 8) मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः (पञ्चपद्यानि 2) मनसि मे सदा स्थीयताम् (श्रीयमुनाष्टकम् 5) मनस्याविशते निजे (साधनप्रकरणम् 240) मनुते नैव लौकिकम् (शिक्षाश्लोकी 2) मन्त्रकर्मप्रकारतः (पञ्चपद्यानि 5) मन्त्रस्यापि विधानतः (साधनप्रकरणम् 229) मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 5) मम मन: सुखं भावय (श्रीयमुनाष्टकम् 4) मम माया दुरत्यया (साधनदीपिका 51) ममाऽस्तु तव सन्निधौ (श्रीयमुनाष्टकम् 7) मया गुप्तं निरूपितम् (सिद्धान्तमुक्तावली 21) मर्यादया गुणज्ञास्ते (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 16) मर्यादापि व्यवस्थिता (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 3) मर्यादामार्गविधिना (सिद्धान्तमुक्तावली 6) मर्यादास्थस्तु गङ्गायाम् (सिद्धान्तमुक्तावली 18) मर्यादैकप्रतिष्ठिताः (जलभेद: 12) महतां कृपया यद्वत् (निरोधलक्षणम् 5) महतां कृपया यावत् (निरोधलक्षणम् 4) महतां समयो मानम् (साधनदीपिका 55) महाकारुणिको विभु: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 10) महानुभावा: प्रायेण (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 19) महान्तोऽत्र हरेः प्रियाः (साधनदीपिका 55) महापतितपावनः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 17) महापुरुषविग्रहः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 18) महापुरुषसत्ख्याति: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 18) महामखकरः प्रभुः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 16) महालक्ष्मीगर्भरत्नम् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 9) महासुरतिरस्कर्ता (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 8) महेन्द्रमदभित्प्रियः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम्

11) महोज्वलचरित्रवान् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 14) महोदारचरित्रवान् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 11) मानसा रतिवर्जिताः (पञ्चपद्यानि 1) मानसी सा परा मता (सिद्धान्तमुक्तावली 1) मानापेक्षां विवर्जयेत् (साधनप्रकरणम् 241) मामेकं शरणं व्रज (साधनदीपिका 13) मामेव ये प्रपद्यन्ते (साधनदीपिका 51) मायामेतां तरन्ति ते (साधनदीपिका 51) मायावादतमो निरस्य मधुभित् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 3) मायावादनिराकर्ता (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 9) मायावादनिरासकृत् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 19) मायावादाख्यतूलाग्निः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 31) मायावादिकरीन्द्रदर्पदलने- (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 5) मायिकं सगुणं कार्यम् (सिद्धान्तमुक्तावली 4) मार्गध्वान्तान्धतुल्या निगमपथगतः (श्रीवल्लभाष्टकम् 2) मार्गेऽस्मिन् मुरवैरिणः (साधनप्रकरणम् 217) मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि (साधनप्रकरणम् 226) मार्गैकत्वेऽपि चेदक्त्यौ (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 6) मार्गोऽयं सर्वमार्गाणाम् (साधनप्रकरणम् 222) माहात्म्यं समभूद् भुवि (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 2) माहात्म्यज्ञानपूर्वो हि (साधनदीपिका 8) माहात्म्यज्ञापनायैव (साधनदीपिका 9) माहात्म्यसंयुता नृणाम् (सिद्धान्तमुक्तावली 6) मुकुन्दरतिवर्द्धिनी (श्रीयमुनाष्टकम् 2) मुख्ये नष्टे छलेन तु (साधनप्रकरणम् 223) मुग्धमोहनिवारकः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 24) मुग्धस्मितमुखाम्बुजः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 19) मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये (साधनदीपिका 12) मुररिपुश्च सन्तुष्यति (श्रीयमुनाष्टकम् 9) मुररिपोः प्रियम्भावुका (श्रीयमुनाष्टकम् 5) मुररिपौ मुकुन्दप्रिये (श्रीयमुनाष्टकम् 7) मुरारिपदपंकज (श्रीयमुनाष्टकम् 1) मुहूर्तघटिकालवाः (साधनदीपिका 46) मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् (साधनप्रकरणम् 227) मूर्धासक्त पदाम्बुजः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 15) मूलतः का क्षतिर् भवेत् (अन्तःकरणप्रबोधः 2) मूलेच्छातः फलं लोके (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 10) मृतरसभरेणातिभरिता (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 1) मृदा पूजांगमेव तत् (साधनप्रकरणम् 244) मोक्षस्तु सुलभो विष्णोः (बालबोधः 17) मोक्षे चत्वारि शास्त्राणि (बालबोधः 5) मोचकः सर्वथा यतः (साधनप्रकरणम् 222) मोदमायात्यहर्निशम् (निरोधलक्षणम् 11) मोहं मागाः कथञ्चन (अन्तःकरणप्रबोधः 10) मोहितासुरमानुषः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 11) म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 2) य

य एतत् समधीयीत (भक्तिवर्धिनी 11) यः पठेत् कृष्णसन्निधौ (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 11) यः पठेत् स हरिं लभेत् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 28) यच्च दुःखं यशोदायाः (निरोधलक्षणम् 1) यच्चातिप्रियमात्मनः (साधनप्रकरणम् 236) यज्ञभोक्ता यज्ञकर्ता (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 30) यज्ञादिश्रवणान् मतम् (संन्यासनिर्णयः 15) यज्ञास्तीर्थानि च पुनः (साधनप्रकरणम् 248) यतः कृष्णबहिर्मुखाः (पञ्चश्लोकी 4) यतेः पर्यटनं वरम् (साधनप्रकरणम् 246) यतो विष्णुपराङ्मुखाः (साधनप्रकरणम् 231) यत्किञ्चित्

सिद्धि-सम्भवः (साधनदीपिका 72) यत्तु पश्चाद् अपीत्थम् (श्रीवल्लभाष्टकम् 7) यत् परस्मै निवेदनम् (साधनदीपिका 59) यत्पादाम्बुजरेणवः (मङ्गलाचरणम् 1) यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् (साधनदीपिका 36) यत्र पूजाप्रवाहः स्यात् (साधनप्रकरणम् 255) यत् तत् शुद्धं साकृति स्तौमि (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 1) यत् प्रादुर्भावमाप्नोत्युचिततरमिदम् (श्रीवल्लभाष्टकम् 7) यत् सुखं समभूत् तन् मे (निरोधलक्षणम् 2) यथा चित्तं न दुष्यति (भक्तिवर्धिनी 8) यथा चित्तं न दुष्यति (साधनदीपिका 37) यथा जलं तथा सर्वम् (सिद्धान्तमुक्तावली 9) यथा तथा शुकादीनाम् (निरोधलक्षणम् 6) यथा तद्वत् पुष्टिमार्गे (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 7) यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः (सिद्धान्तमुक्तावली 20) यथा देवी तथा कृष्णः (सिद्धान्तमुक्तावली 9) यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् (भक्तिवर्धिनी 1) यथा यथा हरिः कृष्णो (साधनप्रकरणम् 240) यथा वा तत्त्वनिर्धारः (सेवाफलम् 3) यथा शक्ता तथा बृहत् (सिद्धान्तमुक्तावली 9) यथा सिद्धयेत् तथाचरेत् (साधनप्रकरणम् 235) यथा सुन्दरतां याति (साधनप्रकरणम् 230) यथा हि स्कन्धशाखानाम् (साधनदीपिका 21) यथाकथञ्चित् कार्याणि (विवेकधैर्याश्रयः 16) यथालब्धोपचारकैः (साधनप्रकरणम् 229) यदंघ्रिनखमण्डल- (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 6) यदनुग्रहतो जन्तुः (मङ्गलाचरणम् 2) यदा बहिर्मुखाः यूयम् (शिक्षाश्लोकी 1) यदा यस्येति वचनात् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 5) यदा स्पष्टं न दृश्यते (निरोधलक्षणम् 19) यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे (भक्तिवर्धिनी 5) यदि न हरिमार्गे परिचयः (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 4) यदि नित्यं च लौकिकम् (साधनदीपिका 25) यदि श्रीगोकुलाधीशो (चतुःश्लोकी 3) यदि स्यात् सोपि श्री- (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 4) यदीक्षणसुधानिधिः (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 7) यद्यद् इष्टतमं लोके (साधनप्रकरणम् 236) यद्यन् मनस्यभिध्यायेत् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 29) यद्यप्येवं हि गार्हस्थ्यम् (साधनदीपिका 71) यन्नामार्कोदयात् पाप (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 1) यमादयस्तु कर्तव्याः (बालबोधः 9) यमोऽपि भगिनीसुतान् (श्रीयमुनाष्टकम् 6) यया 'सर्वात्मभावा'ख्या (साधनदीपिका 40) यया चरणपद्मजा (श्रीयमुनाष्टकम् 5) यशःपीयूषलहरी (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 28) यशोदोत्संगललितम् (साधनदीपिका 2) यस्मात् साध्वी स्वभावं प्रकटयति वधूः (श्रीवल्लभाष्टकम् 3) यस्मादस्मिन् स्थितो यत्किमपि कथमपि (श्रीवल्लभाष्टकम् 4) यस्माद् आनन्ददं श्रीव्रजजननिचये (श्रीवल्लभाष्टकम् 5) यस्मिन् पातभयं नास्ति (साधनप्रकरणम् 222) यस्य वा भगवत्कार्यम् (निरोधलक्षणम् 19) यस्यायमनुगृह्णाति (साधनदीपिका 54) यस्याऽऽसक्तिर्दृढा भवेत् (भक्तिवर्धिनी 9) यागादौ भक्तिमार्गैक (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 19) यात्राधर्मोऽपि सिध्यति (साधनदीपिका 72) यादृशाः तादृशाः प्रोक्ताः (जलभेदः 11) यादृशी सेवना प्रोक्ता (सेवाफलम् 1) यावज्जीवं तस्य नाशो (भक्तिवर्धिनी 9)

यावन्तोहि जले मताः (जलभेदः 2) याऽपि पश्चात् मधुवने (अन्तःकरणप्रबोधः 6) युष्मान् इति मतिर्मम (शिक्षाश्लोकी 2) ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः (जलभेदः 9) ये निरुद्धास् तएवात्र (निरोधलक्षणम् 11) येन स्यान् निर्वृतिश्चित्ते (साधनप्रकरणम् 236) यैः कृष्णसात्कृतप्राणैः (नवरत्नम् 4) यो दारागारपुत्राप्तान् (साधनप्रकरणम् 219) यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् (साधनदीपिका 12) यो मद्भक्त इतीरणात् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 4) यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै (साधनदीपिका 12) योगध्यानादिसंयुक्ताः (जलभेदः 8) योऽवतीर्णो हुताशनः (साधनदीपिका 3) र
रक्षणीये तथाऽश्रयः (विवेकधैर्याश्रयः 1) रतिरासो यथा भवेत् (साधनदीपिका 56) रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया (मङ्गलाचरणम् 8) रहितस्य विशेषतः (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 9) रागः स्याद् नन्दनन्दने (साधनदीपिका 42) रागाज्ञानादिभावानाम् (जलभेदः 19)

रागातिसम्मोहनः (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 3) राजद्यज्ञोपवीतं परितनुवसनम् (मङ्गलाचरणम् 11) राजीवलोचनो रास (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 5) राधावल्लभसेवया तदुचित- (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 5) रासलीलैकतात्पर्यः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 17) रुक्मिणीरमणः श्रीशो (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 7) रुचिस्तेषां न कुत्रचित् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 22) रूपं तत् त्रितयात्मकं परमभि- (मङ्गलाचरणम् 9) रूपतः फलतश्चैव (जलभेदः 21) रेणवः कामधेनवः (साधनदीपिका 1) रोषदृक्पातसम्प्लुष्ट (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 14) ल
लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः (मङ्गलाचरणम् 4) लब्ध्वानुग्रहमाचार्यात् (साधनदीपिका 24) लभते सुदृढां भक्तिम् (भक्तिवर्धिनी 7) लभ्यते वरणं हित्वा (साधनदीपिका 57) लाभपूजार्थयत्नेषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 4) लिंगेन च गुणेन च (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 13) लीलाकर्ता रहःप्रियः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 26) लीलाक्षीराब्धिशायिनम् (मङ्गलाचरणम् 4) लीलाधामानि संस्मरेत् (साधनदीपिका 28) लीलाप्रवेशोऽपीष्टश्च (साधनदीपिका 43) लीलामृतरसार्द्रार्द्री (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 29) लीलारसमहोदधिः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 5) लीलारससुपूरितः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 25) लीलासृष्टिरनुत्तमा (साधनदीपिका 52) लोकवत् चेत् स्थितिर्मे स्यात् (अन्तःकरणप्रबोधः 9) लोकवेदगुणैर्मिश्र (जलभेदः 15) लोकवेदनिरूपिताः (सिद्धान्तरहस्यम् 3) लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णम् (सिद्धान्तमुक्तावली 16) लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे (नवरत्नम् 6) लोकेऽपि यत् प्रभुर्भुंक्ते (बालबोधः 14) लोको नश्यति सर्वथा (सिद्धान्तमुक्तावली 17) लौकिकप्रभुवत् कृष्णो (अन्तःकरणप्रबोधः 7) लौकिका ऋषिभिः प्रोक्ताः (बालबोधः

3) लौकिकांस्तु प्रवक्ष्यामि (बालबोध: 4) लौकिके परत: स्वत: (बालबोध: 5) लौकिकैर्वैदिकैरपि (चतु:श्लोकी 3) लौकिकैहिकदानकृत् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 23) व वक्ष्यामि सर्वसन्देहा (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 2) वक्ता भक्तपरायणः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 20) वक्ता स्वयमभूद् हरिः (साधनप्रकरणम् 221) वचसा वेदमार्गो हि (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 9) वदति वल्लभ: श्रीहरे: (श्रीयमुनाष्टकम् 9) वदन्द्विरेवं सततम् (नवरत्नम् 9) वदामि सुविनिश्चितम् (बालबोध: 1) वन्दनं चरणाम्भोजे (साधनदीपिका 29) वन्दे श्रीनन्दनन्दनम् (साधनदीपिका 2) वन्देऽर्धोन्मीलिताक्षं मृगमदतिलकम् (मङ्गलाचरणम् 11) वरस्तुष्यति नान्यथा (अन्त:करणप्रबोध: 9) वराङ्गहृदयैः कलि: (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 6) वर्णधर्मेण दुष्करम् (साधनदीपिका 71) वर्णनीयाः सदा गुणाः (निरोधलक्षणम् 16) वर्णयन्ति विचक्षणाः (जलभेद: 17) वर्णयन्ति समुद्रास्ते (जलभेद: 16) वर्णाश्रमवतां धर्मे (साधनप्रकरणम् 223) वर्तमानस्य बाधकाः (संन्यासनिर्णय: 9) वर्षाश्रितान्युत्सवानि (साधनदीपिका 32) वर्षेण वेदोक्तिभिः (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 5) वल्लभस्य हितं वच: (अन्त:करणप्रबोध: 10) वल्लभीकृतमानव: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 10) वल्लभेन विनिश्चितम् (संन्यासनिर्णय: 22) वस्तुत: कष्णएव (श्रीवल्लभाष्टकम् 8) वस्तुतो दोषवर्जितम् (अन्त:करणप्रबोध: 1) वस्तुन: स्थितिसंहारौ (बालबोध: 12) वस्त्रप्रक्षालनादिभिः (साधनप्रकरणम् 237) वस्त्रै: आभरणैरपि (साधनप्रकरणम् 230) वह्निवत् प्रविशेद् यदि (संन्यासनिर्णय: 11) वाक्पतिर् विबुधेश्वरः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 19) वाक्सुधाकृष्टभक्तान्तः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 21) वाचा च परिकीर्तयेत् (विवेकधैर्याश्रय: 13) वाण्या यदा तदा स्वास्यम् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 3) वादिनो बहुधा जगु: (सिद्धान्तमुक्तावली 4) वामांशसम्भवानान्तु (साधनदीपिका 53) विकलत्वं तथाऽस्वास्थ्यम् (संन्यासनिर्णय: 9) विकसन्ति हृदब्जानि (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 1) विक्षिप्तमनसो भ्रान्ता: (साधनप्रकरणम् 213) विक्षेपाद् अथवा शक्त्या (साधनप्रकरणम् 247) विक्लिन्नमनसो ये तु (पञ्चपद्यानि 2) विट्ठलेशं सुकेशम् (मङ्गलाचरणम् 11) विद्वान् स्मार्ताग्निधारणम् (साधनदीपिका 70) विधर्मात् च निवर्तनम् (साधनप्रकरणम् 238) विधाय स्थीयतां सुखम् (नवरत्नम् 7) विधास्यत्यखिलं हि न: (शिक्षाश्लोकी 4) विधिना नियमेन च (साधनदीपिका 29) विधिहीनं प्रकुर्वते (साधनप्रकरणम् 213) विना गद्गदकण्ठेन (साधनदीपिका 50) विना नृत्येन गानेन (साधनदीपिका 50) विना भक्तिः कथं भवेत् (साधनदीपिका 49) विना भक्तप्रसंगेन (साधनदीपिका 49) विनियोगः समस्तेष्ट (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 3) विनियोगेऽपि सा त्याज्या (नवरत्नम् 5) विनियोगो भक्तियोग- (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 6) विप्रदारिद्र्यदावाग्निः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 15) विप्रा गावो हरेर्भक्ताः (साधनदीपिका 35) विप्रैर्व्यवहृतं

तीर्थम् (साधनदीपिका 67) विमुक्तः सर्वलोकतः (सिद्धान्तमुक्तावली 15) विरहानुभवार्थं तु (संन्यासनिर्णयः 7) विरहानुभवैकार्थ (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 18) विरागो विषये स्थिरः (निरोधलक्षणम् 15) विरुद्धकरणं नास्ति (साधनप्रकरणम् 225) विरुद्धाचारतत्पराः (साधनप्रकरणम् 212) विलसति विना वल्लभवरम् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 4) विलासगमनोल्लसत् (श्रीयमुनाष्टकम् 2) विवेकः साधनं मतम् (सेवाफलम् 3) विवेकधैर्यभक्त्यादि (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 9) विवेकधैर्ये सततम् (विवेकधैर्याश्रयः 1) विवेकस्तु हरिः सर्वम् (विवेकधैर्याश्रयः 1) विवेकोऽयं समाख्यातो (विवेकधैर्याश्रयः 5) विशिष्टरूपं वेदार्थः (साधनप्रकरणम् 220) विशुद्धमथुरातटे (श्रीयमुनाष्टकम् 4) विशेषतश्चेद् आज्ञा स्यात् (विवेकधैर्याश्रयः 3) विशेषेण पृथक्-पृथक् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 1) विषयाक्रान्तदेहानाम् (संन्यासनिर्णयः 6) विष्णुनेति विनिश्चयः (बालबोधः 14) विष्णोः कार्याणि कारयेत् (पञ्चश्लोकी 3) विसृष्टानां ततोऽन्येषाम् (साधनदीपिका 53) विस्मयास्पदविग्रहः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 22) विस्मृतान्यो व्रजप्रियः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 26) विहारान् कुर्वाणा (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 1) विहिताच्च फलात् तद् हि (सिद्धान्तमुक्तावली 8) वृतं यच्चात्मनः प्रियम् (साधनदीपिका 59) वृतं संवृणुते श्रुतेः (साधनदीपिका 57) वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत (साधनप्रकरणम् 254) वृथालापक्रियाध्यानम् (साधनप्रकरणम् 235) वृद्धिक्षययुता भुवि (जलभेदः 13) वृद्धिक्षयविवर्जिताः (जलभेदः 11) वृन्दारण्यं स्वपदरमणम् (मङ्गलाचरणम् 8) वृन्दावने गोकुले वा (निरोधलक्षणम् 3) वेदत्रयीशिरोभाग (साधनदीपिका 4) वेदस्य विद्यमानत्वात् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 3) वेदाद् आद्या यतः स्थिताः (बालबोधः 4) वेदे च परिनिष्ठिताम् (साधनदीपिका 54) वेदोक्तं वैदिकेऽपि च (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 10) वेशन्ताः परिकीर्तिताः (जलभेदः 7) वेश्यादिसहिता मत्ताः (जलभेदः 4) वेषः सोऽत्र न चान्यथा (संन्यासनिर्णयः 7) वैजयन्तीञ्च मालाम् (मङ्गलाचरणम् 8) वैदिकत्वं लौकिकत्वम् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 20) वैराग्यं परितोषं च (साधनप्रकरणम् 233) वैलक्षण्यानुभूतिकृत् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 24) वैश्वदेवं च दैवकम् (साधनदीपिका 33) वैश्वदेवकदेवार्चा (साधनदीपिका 20) वैश्वानरो वल्लभाख्यः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 12) वैष्णवत्वं हि सहजम् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 21) वैष्णवाचारतत्परः (साधनदीपिका 24) वैष्णवोऽधिकृतस्ततः (साधनदीपिका 73) व्यवहारः प्रसिद्ध्यति (सिद्धान्तरहस्यम् 7) व्यसनं च यदा भवेत् (भक्तिवर्धिनी 3) व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तम् (भक्तिवर्धिनी 3) व्यासः समाधिना सर्वम् (साधनप्रकरणम् 221) व्रजपतिरतिर्नेति निखिलैः (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 4) व्रजपतिविहाराब्धिषु सदा (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 1) व्रजाधिपतिरिन्दिरा- (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम्

6) व्रजेश्वरप्रीतिकर्ता (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 12) व्रतं तद्विष्णुपञ्चकम् (साधनदीपिका 31) व्रात्यप्रायाः स्वतो दुष्टा: (साधनप्रकरणम् 214) श
शंखचक्रादिकं धार्यम् (साधनप्रकरणम् 244) शक्तौ द्वावपि यद्यपि (बालबोध: 13) शमो दमस्तपः शौचम् (साधनदीपिका 39) शरणं भावयेद् हरिम् (विवेकधैर्याश्रय: 16) शरणस्थसमुद्धारम् (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 10) शरणाध्वप्रदर्शकः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 27) शापं दापयति क्वचित् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 18) शास्त्रं किञ्चिद् उदीरितम् (बालबोध: 11) शास्त्रं शुद्धत्वहेतवे (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 19) शास्त्राणाम् उपयोगोऽत्र (साधनदीपिका 9) शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया (साधनदीपिका 60) शिवविरञ्चिदेवस्तुते (श्रीयमुनाष्टकम् 4) शीघ्रमेव ध्रुवं फलम् (साधनप्रकरणम् 218) शुकमयूरहंसादिभि: (श्रीयमुनाष्टकम् 3) शुद्धा: प्रेम्णाऽतिदुर्लभा: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 16) शुद्ध्यशुद्धी स्ववैष्णवैः (साधनदीपिका 64) शेषभागं तनौ नयेत् (निरोधलक्षणम् 18) शेषमस्य प्रमान्तरम् (साधनदीपिका 3) शेषव्यासाग्निमारुताः (जलभेद: 14) शौचाचारविहीनस्य (साधनदीपिका 19) श्यामं च तद्वंशजान् (मङ्गलाचरणम् 7) श्रद्धा दैवात्मसम्पदः (साधनदीपिका 39) श्रद्धाविशुद्धबुद्धिर् य: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 34) श्रवणं कीर्तनं स्पष्टम् (निरोधलक्षणम् 18) श्रवणं गुणकर्मणाम् (साधनदीपिका 9) श्रवणादि तत: प्रेम्णा (बालबोध: 17) श्रवणादिपरो नित्यम् (साधनदीपिका 26) श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थम् (संन्यासनिर्णय: 3) श्रवणादौ यतेत् सदा (भक्तिवर्धिनी 3) श्रवणाद्यैः प्रतिज्ञातः (साधनदीपिका 5) श्रवणाद्यैः भजेद् एवम् (साधनदीपिका 37) श्राद्धानि चोत्तमान्येव (साधनदीपिका 33) श्रावणस्याऽमले पक्षे (सिद्धान्तरहस्यम् 1) श्रीकृष्णं पूयेद् भक्त्या (साधनप्रकरणम् 229) श्रीकृष्णः शरणं मम (नवरत्नम् 9) श्रीकृष्णज्ञानदो गुरुः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 13) श्रीकृष्णरसविक्षिप्त- (पञ्चपद्यानि 1) श्रीकृष्णशरणं जनः (साधनदीपिका 24) श्रीकृष्णहार्दवित् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 25) श्रीकृष्णानुगृहीतैक (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 27) श्रीकृष्णास्यं कृपानिधि: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 7) श्रीकृष्णास्यं देवता च (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 5) श्रीगोकुलकृतावासः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 10) श्रीगोकुलेन्दुं विभुम् (मङ्गलाचरणम् 6) श्रीगोपालमनुं श्रयेत् (साधनदीपिका 58) श्रीगोपालमहामनोः (साधनदीपिका 56) श्रीगोपीनाथमाश्रये (मङ्गलाचरणम् 10) श्रीगोवर्धननाथपादयुगलम् (मङ्गलाचरणम् 6) श्रीबालकृष्णं भजे (मङ्गलाचरणम् 6) श्रीभागवतगूढार्थ- (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 8) श्रीभागवततत्त्वज्ञम् (साधनदीपिका 10) श्रीभागवततत्त्वज्ञम् (साधनप्रकरणम् 227) श्रीभागवततत्परः (साधनदीपिका 37) श्रीभागवतत्पर: (सिद्धान्तमुक्तावली 18) श्रीभागवतपीयूष (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 16) श्रीभागवतप्रतिपदमणिवर- (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 2) श्रीभागवतभाववित्

(श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 11) श्रीभागवतमादरात् (साधनप्रकरणम् 232) श्रीभागवतमादरात् (साधनप्रकरणम् 243) श्रीभागवतमार्गेण (साधनप्रकरणम् 215) श्रीभागवतम् आदरात् (साधनप्रकरणम् 253) श्रीभागवतशास्त्रेण (साधनदीपिका 49) श्रीमदाचार्यसम्मतः (साधनदीपिका 17) श्रीमद्गोकुलनाथसङ्गमसुधा- (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 3) श्रीमद्द्वारवतीशगोकुलपति- (मङ्गलाचरणम् 6) श्रीमद्बालककृष्णगोकुलपती (मङ्गलाचरणम् 7) श्रीमद्भागवताख्यदुर्लभसुधा- (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 5) श्रीमद्वल्लभ'नामधेयसदृशो (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 5) श्रीमद्वल्लभनन्दनम् (मङ्गलाचरणम् 2) श्रीमद्वल्लभविट्ठलौ गिरिधरम् (मङ्गलाचरणम् 7) श्रीमद्वृन्दावनेन्दुप्रकटितरसिका (श्रीवल्लभाष्टकम् 1) श्रीमन्मन्मथमोहनं नटवरम् (मङ्गलाचरणम् 6) श्रीमान् वल्लभनन्दनः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 4) श्रीरंगे वेंकटे तथा (साधनप्रकरणम् 255) श्रीरंगे व्रजमण्डले (साधनदीपिका 36) श्रीवल्लभप्रतिनिधिम् (मङ्गलाचरणम् 10) श्रीवल्लभाभिधानस्तनोतु (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 2) श्रीवल्लवीशान्तरः (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 3) श्रीविट्ठलः कृपासिन्धुर (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 3) श्रीविट्ठलपदाम्बुजम् (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 28) श्रीविट्ठलपदाम्भोज (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 30) श्रीविट्ठलेशं मुदा (मङ्गलाचरणम् 6) श्रीहुताशेति मन्ये (श्रीवल्लभाष्टकम् 4) श्रुतिस्मृतिशिरोरत्न (साधनदीपिका 2) श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च (साधनदीपिका 6) ष

षड्भिर् विराजते योऽसौ (मङ्गलाचरणम् 5) षड्भिः सम्पद्यते धर्मः (साधनप्रकरणम् 214) षड्विधा शरणागतिः (पञ्चश्लोकी 5) स

स कथञ्चित् तरिष्यति (साधनप्रकरणम् 215) स चेत् त्यक्तुं न शक्यते (पञ्चश्लोकी 2) स तदेकमना सिद्धिम् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 34) स दूरस्थो यथा तथा (सिद्धान्तमुक्तावली 14) स मार्गद्वितये प्रोक्तो (संन्यासनिर्णयः 1) स यथाविर्भवेद् भुवि (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 17) स श्रीवल्लभभानुरुल्लसति यः (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 3) स सद्भिः सह कर्तव्यः (पञ्चश्लोकी 2) संकल्पादपि तत्र हि (निरोधलक्षणम् 17) संगः सर्वात्मना त्याज्यः (पञ्चश्लोकी 2) संगादिगुणदोषाभ्याम् (जलभेदः 13) संगो भवति नान्यथा (संन्यासनिर्णयः 5) संग्रहः श्रुतिसम्मतः (साधनदीपिका 55) संयोगजाः स्पर्शजाश्च (सिद्धान्तरहस्यम् 3) संश्लिष्टावुभयौ बभौ रसमयः (मङ्गलाचरणम् 9) संसारं प्रजिहासतः (साधनदीपिका 7) संसारविरहक्लेशौ (निरोधलक्षणम् 13) संसारावेशदुष्टानाम् (निरोधलक्षणम् 12) संसारासक्तिरन्यथा (साधनदीपिका 46) संसारी यस्तु भजते (सिद्धान्तमुक्तावली 14) संसारे न भवेत् तदा (साधनप्रकरणम् 217) संसारोत्पत्तिहेतवः (जलभेदः 4) सएव नः

परं मानम् (साधनदीपिका 3) सएवातीत्य कलिजान् (साधनदीपिका 61) सकलगात्रजै: संगम: (श्रीयमुनाष्टकम् 8) सकलगोपगोपीवृते (श्रीयमुनाष्टकम् 4) सकलगोपिकासंगम (श्रीयमुनाष्टकम् 8) सकलसिद्धिदा सेवताम् (श्रीयमुनाष्टकम् 5) सकलसिद्धिहेतुं मुदा (श्रीयमुनाष्टकम् 1) सक्त: पतितपावन: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 27) सघोषगतिदन्तुरा (श्रीयमुनाष्टकम् 2) सच्चिदानन्दकं बृहत् (सिद्धान्तमुक्तावली 3) सच्चिदानन्दता तत: (निरोधलक्षणम् 9) सच्चिदानन्दरूपिण: (जलभेद: 16) स जहाति मतिं लोके (साधनदीपिका 54) सत्पीड़ाव्यग्रलोकेषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 2) सत्यपरायण: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 16) सत्यप्रतिज्ञ: त्रिगुणा (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 30) सत्यलोके स्थितिर्ज्ञानात् (संन्यासनिर्णय: 10) सत्यसंकल्पतो विष्णु: (अन्त:करणप्रबोध: 4) सत्सु पापानुवर्तिषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 4) सदा कृष्णकथाप्रिय: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 25) सदा पूज्या हरे: प्रिया: (साधनदीपिका 35) सदा प्रसन्नवदन: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 19) सदाचारोऽस्य संश्रयात् (साधनदीपिका 23) सदानन्दपरैर् गेया: (निरोधलक्षणम् 9) सदा सर्वात्मना सेव्य: (द्वितीया चतु:श्लोकी) सदा सर्वात्मभावेन (द्वितीया चतु:श्लोकी) सद्गुरो: कृपया विना (साधनदीपिका 49) सद्रूपो हितकृत् सताम् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 12) सन्त: संगस्य भेषजम् (पञ्चश्लोकी 2) सन्तुष्ट्यापि च सिध्यति (साधनदीपिका 41) सन्दिग्धधर्मसेवापि (साधनदीपिका 69) सन्देहच्छेददक्षिण: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 25) सन्देहवारकास्तत्र (जलभेद: 6) सन्निधाने कृपात: (श्रीवल्लभाष्टकम् 7) संन्यासवरणं भक्तौ (संन्यासनिर्णय: 22) संन्यासश्चाग्निहोत्रं च (साधनदीपिका 69) संन्यासेन विशेषितात् (संन्यासनिर्णय: 10) सप्तमी वेधवर्जिता (साधनप्रकरणम् 245) सभायामपि कुर्वीत (साधनप्रकरणम् 242) समधिरूढदोलोत्तमा (श्रीयमुनाष्टकम् 2) समर्थस्तु तयो: कुर्यात् (साधनदीपिका 70) समर्थो हि हरि: स्वत: (नवरत्नम् 5) समर्पणाद् अहं पूर्वम् (अन्त:करणप्रबोध: 3) समर्पणेन आनात्मनो हि (बालबोध: 18) समर्प्यैव शुचि: पूर्वम् (साधनदीपिका 66) समस्तदुरितक्षय: (श्रीयमुनाष्टकम् 9) समागमनतोऽभवत् (श्रीयमुनाष्टकम् 5) समानि हरिणा कृता: (साधनप्रकरणम् 248) समुदितोऽनुकम्पामृतात् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 7) समुद्रमथनक्षम: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 16) सम्प्रत्यविषयस् तस्य (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 2) सम्प्रापकं तत्क्षणात् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 3) सम्बन्धिनस्तु ये जीवा: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 21) सर:कमलसम्पूर्णा: (जलभेद: 6) सर्गभेदं प्रवक्ष्यामि (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 8) सर्गादौ भूतरूपाद् अभवद् अनलत: (श्रीवल्लभाष्टकम् 6) सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति (बालबोध: 17) सर्वं कुर्याद् इति स्थिति: (सिद्धान्तरहस्यम् 5) सर्वं समर्पितं भक्त्या (अन्त:करणप्रबोध: 8) सर्वं सहेत पुरुषम् (साधनप्रकरणम् 233) सर्वकर्मव्रतादिषु

(श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 6) सर्वज्ञः सर्वकामदः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 6) सर्वतोऽप्यधिकां पराम् (भक्तिवर्धिनी 7) सर्वत्यागेऽनन्यभावे (साधनप्रकरणम् 218) सर्वत्यागोपदेशकः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 18) सर्वत्र तस्य सर्वं हि (विवेकधैर्याश्रय: 2) सर्वत्र सकलं फलम् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 23) सर्वत्रैव विरक्तस्य (साधनदीपिका 42) सर्वत्रैवाखिलार्थकृत् (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 10) सर्वत्रोत्कर्षकथनात् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 4) सर्वथा चेद् गतिर्न हि (सेवाफलम् 3) सर्वथा चेद् हरिकृपा (साधनप्रकरणम् 226) सर्वथा तद्गुणालापम् (साधनप्रकरणम् 242) सर्वथा तादृशैर्जनैः (नवरत्नम् 2) सर्वथा दीनभावना (साधनप्रकरणम् 241) सर्वथा न त्यजेत् त्रयम् (साधनदीपिका 16) सर्वथा न त्यजेत् त्रयम् (साधनप्रकरणम् 238) सर्वथा न परित्यजेत् (साधनप्रकरणम् 233) सर्वथा नाशनं यदा (जलभेद: 19) सर्वथा निरहंकृतौ (बालबोध: 7) सर्वथा बाधकस्तु सः (विवेकधैर्याश्रय: 15) सर्वथा बाधकस्तु स: (द्वितीया चतु:श्लोकी 2) सर्वथा भक्षयिष्यन्ति (शिक्षाश्लोकी 2) सर्वथा वृत्तिहीनश्चेत् (साधनप्रकरणम् 232) सर्वथा शरणं हरिः (विवेकधैर्याश्रय: 10) सर्वथा शरणं हरिः (विवेकधैर्याश्रय: 11) सर्वथैव परित्यजेत् (साधनप्रकरणम् 235) सर्वदा मुरवैरिणः (निरोधलक्षणम् 13) सर्वदा सर्वभावेन (चतु:श्लोकी 1) सर्वदु:खातिगो भवेत् (मङ्गलाचरणम् 2) सर्वदोषनिवृत्तिर् हि (सिद्धान्तरहस्यम् 2) सर्वधर्मान् परित्यज्य (साधनदीपिका 13) सर्वनिर्णयपूर्वकम् (साधनप्रकरणम् 221) सर्वभावेन ये विदुः (पञ्चपद्यानि 3) सर्वभावेन सर्वथा (शिक्षाश्लोकी 3) सर्वमार्गेषु नष्टेषु (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 1) सर्वम् अन्यत् मनोभ्रमः (सेवाफलम् 6) सर्वम् आश्रयतो भवेत् (विवेकधैर्याश्रय: 9) सर्वलक्षणसम्पन्नः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 13) सर्ववस्तुषु वैराग्यम् (साधनदीपिका 41) सर्ववस्तुसमर्पणम् (सिद्धान्तरहस्यम् 6) सर्ववादिनिरासकृत् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 9) सर्वशक्तिसमायुक्तो (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 2) सर्वशास्त्रविदग्रणीः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 8) सर्वसन्देहवारकान् (जलभेद: 1) सर्वसम्पन्निकेतनैः (साधनदीपिका 28) सर्वसामर्थ्यमेव च (विवेकधैर्याश्रय: 2) सर्वसामर्थ्यसहितः (श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्रम् 10) सर्वसिद्धान्तसंग्रहम् (बालबोध: 1) सर्वस्वं हरिसात्कार्यम् (साधनदीपिका 25) सर्वस्वदानकुशल: (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 23) सर्वस्वश्चैहिकश्च स: (शिक्षाश्लोकी 3) सर्वहेतुविवर्जितम् (साधनप्रकरणम् 253) सर्वात्मकतयोदितौ (बालबोध: 12) सर्वानन्दमयस्याऽपि (निरोधलक्षणम् 8) सर्वानेव गुणान् विष्णो: (जलभेद: 17) सर्वापेक्षां परित्यज्य (साधनप्रकरणम् 235) सर्वार्थे शरणं हरिः (विवेकधैर्याश्रय: 13) सर्वासक्तो भक्तमात्रा (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 27) सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा (नवरत्नम् 2) सर्वेषां देहजीवयो: (सिद्धान्तरहस्यम् 2) सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो (नवरत्नम् 3) सर्वेषां ब्रह्मता तत: (सिद्धान्तरहस्यम् 8) सर्वेषां वर्णिनां तथा (साधनप्रकरणम् 247) सर्वेषां

व्रजवासिनाम् (निरोधलक्षणम् 2) सर्वेषां सर्वदा हितम् (विवेकधैर्याश्रय: 17) सर्वेषाम् कृष्ण भावनात् (साधनप्रकरणम् 233) सवर्णान् सन्नियोजयेत् (साधनदीपिका 65) सविघ्नोऽल्पो घातकः स्यात् (सेवाफलम् 5) सहजाः देशकालोत्थाः (सिद्धान्तरहस्यम् 3) सहायसंगसाध्यत्वात् (संन्यासनिर्णय: 3) सहो भक्तकृते वशः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 22) सांख्ययोगौ प्रकीर्तितौ (बालबोध: 6) सांख्ये त्याग: प्रकीर्तित: (बालबोध: 6) साकारब्रह्मवादैक (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 8) साकारव्यापकत्वाच्च (साधनप्रकरणम् 229) साक्षाद् भगवता प्रोक्तम् (सिद्धान्तरहस्यम् 1) साक्षिणो भवताऽखिलाः (नवरत्नम् 6) साधनं नान्यदिष्यते (संन्यासनिर्णय: 8) साधनं परमेतद्धि (साधनप्रकरणम् 243) साधनः सर्वशक्तिधृक् (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 21) साधनत्वोपदेशकः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 19) साधनादिप्रकारेण (जलभेद: 10) साधनानां च रक्षणात् (संन्यासनिर्णय: 3) साधनार्थं तथा यदि (संन्यासनिर्णय: 4) साध्यसाधनसंयुता: (बालबोध: 3) सान्तौ मोक्षप्रवेशत: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 11) सान्निध्यमात्रदत्तश्री (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 17) सामिभुक्तसमर्पणम् (सिद्धान्तरहस्यम् 5) सायं कुञ्जालयस्थासनमुपविलसत् (मङ्गलाचरणम् 11) सायुज्यं कृष्णदेवेन (साधनप्रकरणम् 218) सावधानतया शृणु (अन्त:करणप्रबोध: 1) सिद्धाश्चेन् नाग्रही भवेत् (विवेकधैर्याश्रय: 7) सिद्धिरत्र न संशय: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 6) सिद्धिर्जन्मशतैः परम् (संन्यासनिर्णय: 15) सिद्धे योगे कृतार्थता (बालबोध: 9) सिद्ध्यर्थे विनिरूपितः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 3) सिध्येत् कारणमुच्यते (साधनप्रकरणम् 226) सिन्धवः परिकीर्तिताः (जलभेद: 14) सुखसेव्यो दुराराध्यो (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 15) सुखसेव्यो व्रजेश्वरः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 6) सुखोदर्ककृतिः सर्व (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 25) सुतरां कलिकालतः (संन्यासनिर्णय: 2) सुतरां कलिदोषाणाम् (संन्यासनिर्णय: 17) सुदृढः सर्वतोऽधिकः (साधनदीपिका 8) सुबोधं स्याद् यथा तथा (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 4) सुरधुनी परं संगमात् (श्रीयमुनाष्टकम् 7) सुरासुरसुपूजित (श्रीयमुनाष्टकम् 1) सूत्रभाष्यप्रदर्शक: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 31) सूत्रव्याख्यानसम्मतम् (साधनदीपिका 4) सूदा गम्भीरमानसाः (जलभेद: 6) सृष्टिर्व्यर्था च भूयान् निजफलरहिता (श्रीवल्लभाष्टकम् 2) सेवकस्य तु धर्मोऽयम् (अन्त:करणप्रबोध: 5) सेवकानां यथा लोके (सिद्धान्तरहस्यम् 7) सेवकोऽहं नचान्यथा (अन्त:करणप्रबोध: 7) सेवतां भुक्तिमुक्तिदा (सिद्धान्तमुक्तावली 6) सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा (नवरत्नम् 7) सेवाख्यवर्त्माद्भुतम् (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 3) सेवायां वा कथायां वा (भक्तिवर्धिनी 9) सेव्य: सएव गोपीश: (शिक्षाश्लोकी 4) सेव्यमानं कलानिधिम् (मङ्गलाचरणम् 4) सोऽपि तैस्तत्कुले जात: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 26) सौन्दर्यं निजहृद्गतं प्रकटितम् (मङ्गलाचरणम् 9) सौवर्णैः राजतैस्ताम्रैः (साधनदीपिका 65) स्तुतिं तव करोति क: (श्रीयमुनाष्टकम् 8) स्तोत्रं यः प्रपठेत् सुधीः

(श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 29) स्त्रीगूढभावात्मकम् (मङ्गलाचरणम् 9) स्त्रीशूद्राद्युद्धृतिक्षमः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 9) स्थापको वेदपारगः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 8) स्थापनीयं मनः स्वयम् (द्वितीया चतुःश्लोकी 4) स्थावरास्ते समाख्याताः (जलभेदः 12) स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा (साधनप्रकरणम् 215) स्थेयमित्येव मे मतिः (नवरत्नम् 9) स्नानपात्रं न मेलयेत् (साधनदीपिका 63) स्नानं सक्ध्याजपोहोमः (साधनदीपिका 20) स्नायात् कर्मणि मन्त्रतः (साधनदीपिका 62) स्निग्धभोजनरूक्षवत् (निरोधलक्षणम् 5) स्नेहात् न प्रेष्यत वरे (अन्तःकरणप्रबोधः 8) स्नेहाद् रागविनाशः स्यात् (भक्तिवर्धिनी 4) स्नेहो 'भक्ति'रिति प्रोक्तः (साधनदीपिका 8) स्फुरतु सततं 'वल्लभ' इति (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 1) स्फुरत्कृष्णप्रेमा- (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 1) स्फुरदमन्दरेणूत्कटाम् (श्रीयमुनाष्टकम् 1) स्फूर्जद्रासादिलीलामृतजलधिभरा (श्रीवल्लभाष्टकम् 1) स्मरणं भजनं चाऽपि (चतुःश्लोकी 4) स्मरपितुः श्रियं बिभ्रतीम् (श्रीयमुनाष्टकम् 2) स्मरश्रमजलाणुभिः (श्रीयमुनाष्टकम् 8) स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् (साधनदीपिका 6) स्मृतिमात्रार्तिनाशनः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 7) स्मृत्वा स्वीयवियोगाग्निम् (साधनदीपिका 58) स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः (जलभेदः 11) स्याज्ञया प्रादुरासीत् (श्रीवल्लभाष्टकम् 1) स्युः कल्पतरवो यथा (साधनदीपिका 1) स्वकीर्तिवर्धनस्तत्त्व (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 31) स्वतन्त्रं चेति नैकधा (सिद्धान्तमुक्तावली 4) स्वतोगमनमेव च (विवेकधैर्याश्रयः 14) स्वदासार्थकृताशेष (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 21) स्वधर्ममनुतिष्ठन् वै (बालबोधः 19) स्वधर्माचरणं भवेत् (साधनदीपिका 17) स्वधर्माचरणं शक्त्या (साधनदीपिका 16) स्वधर्माचरणं शक्त्या (साधनप्रकरणम् 238) स्वपक्षरक्षणे दक्षः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 26) स्वपात्रं भगवत्पात्रम् (साधनदीपिका 63) स्वभावविजयो भवेत् (श्रीयमुनाष्टकम् 9) स्वमाहात्म्यः स्मयापहः (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 22) स्वयं च विषयाक्रान्तः (संन्यासनिर्णयः 5) स्वयं परिचरेद् भक्त्या (साधनप्रकरणम् 237) स्वयमेव करिष्यति (चतुःश्लोकी 2) स्वयम् इन्द्रियकार्याणि (विवेकधैर्याश्रयः 8) स्वयशोगानसंहृष्ट (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 28) स्वरूपस्थो यदा जीवः (बालबोधः 7) स्वरूपांगक्रियायुतान् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 23) स्वरूपाङ्गक्रियायुतम् (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 8) स्वरूपेणावतारेण (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः 13) स्वर्णपात्रं सुधौतम् (मङ्गलाचरणम् 11) स्ववंशे स्थापिताशेष (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 22) स्वशाखोक्तैर्द्विजो युतः (साधनदीपिका 23) स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् (सिद्धान्तमुक्तावली 1) स्वस्मिन्कृष्णास्यतांत्वंप्रकटयसिचनो (श्रीवल्लभाष्टकम् 5) स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति (सिद्धान्तमुक्तावली 14) स्वस्यायऽमेव धर्मो हि (चतुःश्लोकी 1) स्वस्यासामर्थ्यभावनात् (विवेकधैर्याश्रयः 8) स्वात्मसंस्कारएव सः (साधनदीपिका 34) स्वात्मना स्वात्मकं जगत् (साधनदीपिका 52) स्वाध्यायपितृतर्पणम्

(साधनदीपिका 20) स्वाध्यायादिक्रियाहीना: (साधनप्रकरणम् 212) स्वानन्दतुन्दिलः पद्म (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 13) स्वानन्दोद्गमकारणम् (जलभेद: 19) स्वानुरूपसुतप्रसूः (श्रीनामरत्नाख्यस्तोत्रम् 14) स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् (अन्त:करणप्रबोध: 4) स्वामिन् श्रीवल्लभाग्ने! क्षणमपि भवत: (श्रीवल्लभाष्टकम् 7) स्वामी स्वस्य करिष्यति (अन्त:करणप्रबोध: 5) स्वाम्यधीनत्वभावनात् (विवेकधैर्याश्रय: 3) स्वाम्यभिप्रायसंशयात् (विवेकधैर्याश्रय: 2) स्वार्थोज्झिताऽखिलप्राण (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 21) स्वाश्रितान्यपि यान्युत (साधनदीपिका 32) स्वास्थ्यवाक्यं न कर्तव्यम् (संन्यासनिर्णय: 13) स्वास्थ्यहेतोः परित्यागात् (संन्यासनिर्णय: 18) स्वीयप्रभूंश्च स्मरेत् (मङ्गलाचरणम् 7) स्वीयबन्धनिवृत्यर्थम् (संन्यासनिर्णय: 7) स्वीयानां तान् निजाचार्यान् (मङ्गलाचरणम् 1) स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः (जलभेद: 8) ह

हठस्त्याज्यश्च सर्वथा (विवेकधैर्याश्रय: 4) हतत्रपः पठन् नित्यम् (साधनप्रकरणम् 249) हरयेऽन्यत्र योजयेत् (साधनदीपिका 66) हरिणा ये विनिर्मुक्ता: (निरोधलक्षणम् 11) हरिप्रियकलिन्दया (श्रीयमुनाष्टकम् 5) हरिप्रीतिः कथं भवेत् (साधनदीपिका 50) हरिभावो न चान्यथा (साधनदीपिका 18) हरिमूर्तिः सदा ध्येया (निरोधलक्षणम् 17) हरिरत्र न शक्नोति (संन्यासनिर्णय: 19) हरिरेव परा गतिः (साधनदीपिका 44) हरिर्भक्तापराधेषु (साधनदीपिका 45) हरिर्यद्यत् करिष्यति (नवरत्नम् 8) हरिस्तु न करिष्यति (नवरत्नम् 6) हरिस्तु सर्वतो रक्षाम् (भक्तिवर्धिनी 10) हरेः प्रसादतः कुर्यात् (साधनदीपिका 33) हरेः प्रेमास्पदो भवेत् (साधनदीपिका 26) हरेराराधने मुक्तिः (साधनदीपिका 7) हरेर्गुणानां श्रवणम् (साधनदीपिका 27) हरेर्यदनुसेवया (श्रीयमुनाष्टकम् 8) हिंस्रकाम्याऽन्यदेवार्चा (साधनदीपिका 25) हित्वा कृष्णे परं भावम् (साधनप्रकरणम् 219) हृदयाम्भोजविष्टर: (श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् 28) हृदास्तु पण्डिता: प्रोक्ता (जलभेद: 5) हृदि सुभगमूर्तिः सकरुणा (श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतस्तोत्रम् 1) हृदिस्थं निर्गतं बहिः (निरोधलक्षणम् 7) हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा (निरोधलक्षणम् 8) हेतुसाम्यं हि कार्ये (श्रीवल्लभाष्टकम् 6) हैयङ्गवीनप्रियम् (मङ्गलाचरणम् 6) ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदत: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 24) ह्यज्ञास्ताननु ये पुन: (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: 25) ह्यधर्मात्तु निवर्तनम् (साधनदीपिका 16) ह्यनुकूलानि चार्पयेत् (साधनदीपिका 32) ह्युत्तार्या स्वोपदेशतः (साधनदीपिका 11) ह्यंशुकं लोमजं शुचि: (साधनदीपिका 66)